संस्कार-चन्द्रिका

[संस्कार-विधि की वैज्ञानिक व्याख्या]

THE SCIENCE OF MAKING OF A BETTER MAN

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार की रचनाएँ

१. धारावाही हिन्दी में सचित्र एकादशोपनिषद् (मूल-सहित)
दो भागों में—भूमिका : राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन
२. धारावाही हिन्दी में गीता-भाष्य (मूल-सहित)
भूमिका : प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री
३. वैदिक-संस्कृति के मूल-तत्त्व
४. ब्रह्मचर्य-सन्देश
५. वैदिक-विचारधारा का वैज्ञानिक आधार
[गंगाप्रसाद उपाध्याय पारितोषिक-प्राप्त-ग्रन्थ]
६. संस्कार-चन्द्रिका (संस्कार-विधि की वैज्ञानिक व्याख्या)
७. Heritage of Vedic Culture
८. Confidential Talks to Youngmen
९. बुढ़ापे से जवानी की ओर
१०. सामाजिक मानव-शास्त्र
११. समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व
[मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त-ग्रन्थ]
१२. सामाजिक विचारों का इतिहास
१३. समाज-कल्याण तथा सुरक्षा
१४. भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ
१५. प्रारम्भिक समाज-शास्त्र
१६. भारतीय सामाजिक सङ्गठन
१७. समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण
१८. शिक्षा-शास्त्र
१९. होम्योपैथिक औषधियों का सजीव-चित्रण
[अपने विषय का सर्वोत्तम ग्रन्थ घोषित तथा पुरस्कृत]
२०. रोग तथा उनकी होम्योपैथिक चिकित्सा
[राष्ट्रपति वी०वी० गिरि द्वारा विमोचित]
२१. वायोकैमिस्ट्री की औषधियों का तुलनात्मक चार्ट
२२. Scientific Basis of Vedic Thought

॥ ओ३म् ॥

संस्कार-चन्द्रिका

[संस्कार-विधि की वैज्ञानिक व्याख्या]

THE SCIENCE OF MAKING OF A BETTER MAN

व्याख्याकार

विद्यामार्तण्ड डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार

अखिल भारतीय-मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-विजेता

(भूतपूर्व संसद्—सदस्य तथा उपकुलपति—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय)

प्रकाशक

विजयकृष्ण लखनपाल

डब्ल्यू-७७/ए, ग्रेटर कैलाश-१, नई दिल्ली-४८

प्रकाशक : **विजयकृष्ण लखनपाल**
डब्ल्यू-७७/ए, ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली-११००४८
दूरभाष : ०११-२९२३७७९०, २९२३५००२

पुस्तक प्राप्ति स्थान :
१. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६
२. **अमर स्वामी प्रकाशन विभाग**
१०५८, विवेकानन्द नगर, गाजियाबाद-२०१००१
३. **जवाहर बुक डिपो**
आर्यसमाज, स्वामीपारा, मेरठ (उ०प्र०)
४. **आर्यन होम्यो लेबोरेटरी**
२०, सुभाष मार्केट, बरेली-२४६००१
५. **आर्यसमाज**
महर्षि दयानन्द मार्ग, अहमदाबाद, गुजरात
६. **आर्यसमाज**
सान्ताक्रुज, वेस्ट मुम्बई-५४ (महाराष्ट्र)

संस्करण : २०११
मूल्य : २०० रुपये
शब्द संयोजक : **भगवती लेज़र प्रिंट्स**
ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-११००६५
दूरभाष : ०११-२६४१४३५९
मुद्रक : **स्पीडो ग्राफिक्स**
६२, साउथ अनार कली एक्सटेंशन, दिल्ली-११००५१

भूमिका

ऋषि दयानन्द का जन्म १८२४ तथा स्वर्गवास १८८३ ईस्वी में हुआ। उनका जीवनकाल ५९ वर्ष का रहा। उन्होंने ३६ वर्ष की आयु में १८६० में गुरु विरजानन्द के पास विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। ऋषि ने जो कुछ ठोस कार्य किया उसके पश्चात् किया। इस प्रकार उन्हें ठोस कार्य करने का समय कुल २२-२३ वर्ष मिला, जिसमें उन्होंने कुछ वर्ष तपस्या में बिताये और बचे हुए समय में देश के कोने-कोने में जाकर वैदिक-धर्म का प्रचार किया, वेदों का भाष्य किया, अनेक लघु-पुस्तिकाएँ लिखीं, सत्यार्थ-प्रकाश, संस्कार-विधि तथा ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका जैसे विशाल-काय एवं मौलिक ग्रन्थों की रचना की। इनमें से एक-एक ग्रन्थ सब काम छोड़कर जीवन खपा देने के लिये काफी था, फिर इतने थोड़े समय में इतना काम कर जाना ऋषि दयानन्द जैसे आदित्य ब्रह्मचारी के लिये ही सम्भव था। वैदिक-संस्कृति के उपासकों के लिये जो कुछ उपयोगी था वह सब कुछ समेट कर ऋषि ने अपने ग्रन्थों के रूप में हमें दे दिया।

मानव-जीवन के दो पक्ष हैं—सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक। ऋषि दयानन्द ने अपने समय के चिन्तकों के मस्तिष्क में मौलिक तथा रचनात्मक विचारों से हल-चल मचा दी। उन्होंने जहाँ रूढ़िवाद तथा मतवाद पर कुठाराघात किया वहाँ पश्चिम से उफन रहे भौतिकवाद को भी ठण्डा कर दिया। इन दोनों के स्थान में उन्होंने भारत के ऋषि-मुनियों की प्राचीन वैदिक-संस्कृति की प्राण-प्रतिष्ठा की जिसे स्थिर तथा मूर्त रूप देने के लिए 'सत्यार्थ-प्रकाश' ग्रन्थ लिखा। यह उनका सैद्धान्तिक कार्य था। परन्तु सिद्धान्त व्यवहार के बिना, विचार क्रिया के बिना अनकुरित रह जाता है। जिस प्रकार के मानव की ऋषि कल्पना कर रहे थे, उसे क्रिया में उतारे बिना उनका सारा लिखा-लिखाया 'वाचो विग्लापनम् हि तत्' रह जाता। बीज अङ्कुरित हो तभी वृक्ष बनता है। ऋषि दयानन्द ने अपने समय के मानव के मस्तिष्क में जो हलचल मचा दी थी, उसका लक्ष्य नव-मानव का निर्माण था। वे कूड़े-कर्कट को भस्म कर उसकी जगह समाज के नवीन-भवन की नींव रखना चाहते थे, जिससे नव-मानव तथा नव-समाज उठ खड़ा हो। मानव के इस नव-निर्माण के विचार को क्रियात्मक रूप देने के लिये उन्होंने 'संस्कार-विधि' ग्रन्थ की रचना की। 'सत्यार्थप्रकाश' उनकी विचारधारा का सैद्धांतिक अर्थात् विचारात्मक पक्ष है, 'संस्कार-विधि' उसी विचारधाराका व्यावहारिक अर्थात् क्रियात्मक पक्ष है। इस सूत्र को लेकर हमने इस ग्रन्थ में संस्कार-विधि की व्याख्या की है।

संस्कार-विधि के सम्बन्ध में विद्वानों ने बहुत शोध तथा खोज-बीन की है।

मूल-संस्कारविधि की फोटोस्टेट प्रति आर्य-साहित्य-प्रचार ट्रस्ट ने प्रकाशित की है। रामलाल कपूर ट्रस्ट के तत्त्वावधान में आर्यसमाज शताब्दी संस्करण अनेक टिप्पणियों सहित प्रकाशित हुआ है। वैदिक यन्त्रालय ने अनेक बार संशोधन करके इसके संस्करण प्रकाशित किये हैं। हमने यथा-सम्भव इन सबके मत को यथास्थान दिया है, परन्तु यथा-सम्भव ऋषि दयानन्द के कथन तथा उनकी भाषा को ज्यों-का-त्यों रखने का प्रयत्न किया है। इन सबको टीका-टिप्पणियों से विधि-भाग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। एक शब्द घट गया या बढ़ गया—इससे विधिभाग पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? असल बात संस्कार की आत्मा तक पहुँचना है।

हमारा ग्रन्थ शोध-ग्रन्थ नहीं है, इस व्याख्या-ग्रन्थ का लक्ष्य संस्कार-विधि की आत्मा को समझने का प्रयत्न करना है, इसीलिये इसे संस्कार-विधि की वैज्ञानिक-व्याख्या कहा है। इस दिशा में कार्य आज से ५०-६० वर्ष पहले श्री पं० आत्माराम जी ने पं० भीमसेन जी शर्मा के सहयोग से 'संस्कार-चन्द्रिका' नाम से प्रकाशित अपने ग्रन्थ में किया था, परन्तु उस ग्रन्थ तथा इस ग्रन्थ में नाम की थोड़ी-सी समानता होते हुए भी वस्तुगत महान् भेद है। यह भेद पुस्तक का अध्ययन करते हुए स्पष्ट हो जायेगा।

हमने प्रत्येक संस्कार को दो भागों में बाँटा है—'विवेचनात्मक-भाग' तथा 'मन्त्रार्थसहित विधि-भाग'। विवेचनात्मक भाग में उस संस्कार के सम्बन्ध में वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टि से विचार किया गया है, विधि-भाग में संस्कार की विधि को भिन्न-भिन्न शीर्षक देकर स्पष्ट तथा सरल रूप में लिखा गया है ताकि संस्कार कराते हुए कोई कठिनाई न आये।

मन्त्रों के अर्थ करते हुए संस्कृत-शब्दों को कोष्ठक में काले टाइप में दिया गया है, शब्दों के अर्थ को कोष्ठक के बाहर सफेद टाइप में दिया गया है। लक्ष्य यह रहा है कि अगर केवल संस्कृत-शब्दावली पढ़ते जायें, तो मन्त्र का अन्वयसहित अर्थ समझ में आ जाए, अगर संस्कृत-शब्दावली को छोड़कर केवल हिन्दी अर्थ पढ़ते जायें तो मन्त्रार्थ का एक हृदयङ्गम पूरा सार्थक वाक्य बने। प्राय: देखा जाता है कि मन्त्रार्थ करते हुए व्याख्याकार केवल शब्दों का अर्थ दे जाते हैं, जिन्हें एक-साथ पढ़ने से पूरा सार्थक वाक्य भी नहीं बन पाता। 'शब्दार्थ' के बाद मन्त्र का 'भावार्थ' भी दिया गया है, जिससे मन्त्र के अन्तर्निहित गूढ़-भाव पर प्रकाश पड़े।

प्रूफ़ कितने भी ध्यान से पढ़ें कुछ-न-कुछ ग़लतियाँ रह ही जाती हैं, इसलिये जो महानुभाव किसी प्रकार की ग़लती पर ध्यान खींचेंगे उनका धन्यवाद होगा।

W-७७/ए, ग्रेटर कैलाश-१, **—सत्यव्रत सिद्धालन्तालङ्कार**
नई दिल्ली-४८

विषय-सूची

संस्कार-चन्द्रिका

[संस्कार-विधि की वैज्ञानिक व्याख्या]

अग्निहोत्र के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण

वैदिक विचारधारा में अग्निहोत्र का बड़ा महत्त्व है। इसे हवन भी कहा जाता है। प्रत्येक शुभ-कार्य का प्रारम्भ हवन से होता है। जिन १६ संस्कारों का हम इस पुस्तक में वर्णन करने जा रहे हैं, उनमें से हर संस्कार की आत्मा अग्निहोत्र—हवन—है। बिना अग्निहोत्र के कोई संस्कार नहीं हो सकता। प्रत्येक शुभ-कार्य के लिये अग्निहोत्र इतना ही आवश्यक है, जितना आटे-दाल से भोजन बनाने के लिये जल आवश्यक है। जल के बिना सूका आटा-दाल किसी काम का नहीं, ठीक इसी तरह अग्निहोत्र के बिना संस्कार की कोई भी विधि बेकार है। इसलिये संस्कारों पर लिखना प्रारम्भ करने से पूर्व अग्निहोत्र की वैज्ञानिकता पर लिखना आवश्यक है, नहीं तो हर कोई इस मँहगाई के युग में घी-सामग्री को अग्निहोत्र में डालना धन का अपव्यय कहेगा। अग्निहोत्र का वैज्ञानिक आधार क्या है, ऋषियों ने इसे जीवन में इतना महत्त्व क्यों दिया था कि प्रात: सायं दो समय अग्निहोत्र का करना वैदिक-युग के व्यक्ति के जीवन का अभिन्न अंग था—इन सब बातों पर विचार किये बिना आगे बढ़ना कठिन है। अग्निहोत्र की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में निम्न बातों को समझ लेना होगा।

१. अग्निहोत्र के सम्बन्ध में आधारभूत वैज्ञानिक विचार

(१) अग्नि में डाला हुआ पदार्थ नष्ट नहीं होता, फैल जाता है—सबसे पहले समझ लेने की बात यह है कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ नष्ट नहीं होता। अग्नि का काम स्थूल पदार्थ को सूक्ष्म रूप में परिवर्तित कर देना है। यज्ञ करते हुए अग्नि में घी डालते हैं, वह नष्ट नहीं होता, स्थूल घी घी के परमाणुओं में बदल जाता है, जो घी एक कटोरी में था, परमाणुओं के रूप में वह सारे घर में फैल जाता है। सामग्री में गुग्गल, जायफल, जावित्री, मुनक्का आदि जो कुछ डाला गया था वह परमाणुओं में टूट-टूटकर सारे वायु-मण्डल में व्याप्त हो जाता है। किसी बात का पता चलता है, किसी का नहीं। उदाहरणार्थ, स्थूल मिर्च को आप जेब में डालकर फिरते रहें, कुछ नहीं होगा, उसी को हमामदस्ते में कूटें तो उसकी धमक से छींकें आने लगेंगी, उसीको आग में डाल दें तो सारे घर के लोग दूर-दूर बैठे हुए भी परेशान हो जायेंगे। क्यों परेशान हो जायेंगे? क्योंकि आग का काम स्थूल वस्तु को तोड़कर सूक्ष्म कर देना है और वस्तु सूक्ष्म होकर परिमित स्थान में कैद न रहकर

दूर-दूर असर करती है। मनु ने ठीक कहा है—आग में डालने से हवि सूक्ष्म होकर सूर्य तक फैल जाती है—**'अग्नौ हुतं हविः सम्यक् आदित्यं उपतिष्ठति।'**

(२) अग्नि में डालने से पदार्थ का गुण भी बढ़ जाता है—अग्निहोत्र के विषय में जानने की दूसरी बात यह है कि किसी वस्तु को अग्नि में डालने से उसका दायरा, उसका क्षेत्र ही नहीं बढ़ जाता, उसका विस्तार ही नहीं हो जाता, उसका गुण भी कई गुणा बढ़ जाता है। जैसा हमने ऊपर कहा, अग्नि में मिर्च डालने से इतना ही नहीं कि धुएँ के रूप में सूक्ष्म होकर वह दूर-दूर फैल जाती है, उसका गुण भी बहुत बढ़ जाता है। अग्नि का काम स्थूल वस्तु को सूक्ष्म बनाकर 'परिमाणात्मक' (Quantitative) परिवर्तन कर देना ही नहीं है, 'गुणात्मक' (Qualitative) परिवर्तन कर देना भी है। तभी आग में पड़ी मिर्च सिर्फ घर भर में ही नहीं फैल जाती साथ ही उसकी तेजी भी कई गुणा बढ़ जाती है।

(३) स्थूल पदार्थों के अग्नि द्वारा सूक्ष्म हो जाने पर उनका स्वास्थ्य पर प्रभाव—स्थूल पदार्थ जब अग्नि में पड़कर सूक्ष्म हो जाते हैं, तब उनका प्रभाव का क्षेत्र और प्रभाव की गहराई बढ़ जाती है—यह हमने देखा। उदाहरणार्थ, अगर अग्नि में गुग्गुल आदि सुगन्धित द्रव्यों को डालें तो उनकी गन्ध सारे मकान को महका देती है। अगर अग्नि में गन्धक को डालें तो सारा मकान गन्धकित हो जाता है। अग्नि के दो काम हैं। या तो यह शुद्ध करती है, या अगर वस्तु का अपना कोई गुण है, तो उसे फैला देती है, फैलाने के साथ-साथ गाढ़ा कर देती है। कल्पना कीजिए कि मुर्दा पड़ा-पड़ा सड़ रहा है, मकान में सीलन के कारण बीमारी फैल रही है। मुर्दे की सड़ांद मुर्दे तक ही सीमित नहीं, दूर-दूर तक फैल रही है, सीलन की गन्ध भी मकान में घुसने से पहले ही दूर से अनुभव होने लगती है। मुर्दे की सड़ांद और सीलन की गन्ध शरीर का यह मकान का स्वाभाविक गुण नहीं है, अग्नि इन्हें समाप्त कर वातावरण को शुद्ध कर देगी। गुग्गुल तथा गन्धक का गुण अपना स्वाभाविक गुण है, अग्नि स्थूल गुग्गुल तथा गन्धक को सूक्ष्म करके परमाणुओं में विभक्त करके इनके गुणों को विस्तृत क्षेत्र में फैला देती है, साथ ही उन गुणों को कई गुण बढ़ा देती है। इसका स्वास्थ्य पर बहुत भारी प्रभाव है। डॉक्टर लोग खांसी-जुकाम में रोगी को युकेलिपृस ऑयल की भाप देते हैं। भाप क्यों देते हैं ? इसलिए भाप देते हैं, क्योंकि इस तेल को आग द्वारा उबलते पानी में डाल देने से जो भाप निकलती है, उसका क्षेत्र शीशी में पड़े युकेलिप्टस ऑयल से कई गुणा बढ़ जाता है, प्रभाव भी साधारण पड़े तेल से कई गुणा बढ़ जाता है। सूक्ष्म परमाणुओं में विभक्त हो जाने से औषधि का गुण बढ़ जाता है—अग्निहोत्र का यह आधारभूत सिद्धान्त है, इस सिद्धान्त को आयुर्वेद, ऐलोपैथी, होम्योपैथी आदि सब चिकित्सा-पद्धतियाँ स्वीकार करती हैं। ऐलोपैथी में खाँसी, जुकाम, यक्ष्मा आदि में

भाप देना हमारे उक्त कथन को सिद्ध करता ही है, आयुर्वेद तथा होम्योपैथी में भी इस सिद्धान्त को माना जाता है।

(क) आयुर्वेद की भस्में इस सिद्धान्त को पुष्ट करती हैं—आयुर्वेद में लोह, अभ्रक, मुक्ता, रजत, सुवर्ण आदि को अग्नि का ताप देकर उनकी भस्में बनायी जाती हैं और आयुर्वेद का सिद्धान्त यह है कि भस्मों को जितना अग्नि-ताप दिया जाय उतनी ही उनकी रोग-निवारण की शक्ति बढ़ जाती है। लोह, अभ्रक, रजत, सुवर्ण अपने सूक्ष्मरूप में पड़े रहें, तो उनसे कुछ नहीं होता, अगर अग्नि के माध्यम से उन्हें भस्म कर दिया जाय, तो वे जीवनप्रद हो जाते हैं। अग्नि का सम्पर्क होने से इन धातुओं की भस्में शतपुटी, सहस्रपुटी कहलाती हैं। शतपुटी की अपेक्षा सहस्रपुटी भस्म का रोग-निवारण के लिए प्रभाव ज्यादा है। सहस्रपुटी की जगह शत-सहस्रपुटी का प्रभाव और ज्यादा है। धातुओं में अग्नि के सम्पर्क से रोग-निवारण की यह शक्ति कहाँ से आ जाती है? प्रत्येक वस्तु में रोग-निवारण की शक्ति है, परन्तु वह तभी प्रकट होती है, जब वह अपने स्थूल रूप को छोड़कर सूक्ष्मरूप में आती है। स्थूल वस्तु के घटक परमाणु जब विरल हो जाते हैं तब उनके भीतर निहित शक्ति प्रकट हो जाती है। आयुर्वेद में यह समझा जाता है कि धातु-चिकित्सा कठिन-से-कठिन रोगों को दूर कर देती है। धातुओं से भस्म बनाकर उन्हें रोग के निवारण के लिये प्रयुक्त करना एक प्रकार का अग्निहोत्र ही है, सिर्फ भेद इतना है कि अग्निहोत्र में मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, धातुओं की भस्म बनाने में मन्त्रों का उच्चारण नहीं किया जाता, सिर्फ अग्नि द्वारा स्थूल को सूक्ष्म का रूप देकर उसकी शक्ति का विकास किया जाता है।

(ख) होम्योपैथी की पोटेन्सी भी इस सिद्धान्त को पुष्ट करती है—हम कह चुके हैं कि स्थूल पदार्थ में निहित परमाणु जब विरल हो जाते हैं, तब उनमें शक्ति का विस्फोट होता है। यज्ञ द्वारा स्थूल पदार्थों के परमाणुओं की विरलता अग्नि के माध्यम से की जाती है, जिसे अग्निहोत्र या यज्ञ कहते हैं। आयुर्वेद में औषधियों के परमाणुओं की विरलता उपलों की अग्नि द्वारा की जाती है, जिससे रोगनिवारक भस्मों का निर्माण होता है। होम्योपैथी में यह कार्य 'विचूर्णीकरण' (Trituration) तथा 'आलोड़न' (Succussion) द्वारा किया जाता है। 'विचूर्णीकरण' का क्या अर्थ है? औषधि को खरल में डालकर उसे एक निश्चित अनुपात में पीसा जाता है, जिससे स्थूल-पदार्थ के परमाणु विरल हो जाते हैं और जो शक्ति स्थूल-पदार्थ में तिरोहित थी, वह प्रकट हो जाती है। इसे 'शक्तिकरण' (Potentization) कहते हैं। 'आलोड़न' का क्या अर्थ है? औषधि को स्पिरिट में डाल दिया जाताहै, उसका पूर्ण घोल (Saturated solution) बन जाने पर उसे नितार लिया जाता है, उसके बाद उसका अत्यन्त सूक्ष्म अंश स्पिरिट में डालकर उसे झटके दिये जाते हैं। यह झटके

देना एक तरह से द्रव-पदार्थ का पीसना है, जिससे औषधि के परमाणु विरल हो जाते हैं। जैसे 'विचूर्णीकरण' से स्थूल-पदार्थ में तिरोहित शक्ति प्रकट हो जाती है, वैसे ही 'आलोड़न' से भी स्थूल-पदार्थ की रोग-निवारण करनेवाली शक्ति प्रकट हो जाती है। होम्योपैथी में स्थूल-पदार्थों के अणु-परमाणुओं विरल कर उनमें निहित रोग-निवारक शक्ति को आविर्भूत कर लेना भी एक प्रकार का यज्ञ है, जिसमें मन्त्रोच्चारण तो नहीं होता, परन्तु यज्ञ का जो काम है वह सब हो जाता है।

(ग) सूक्ष्म-पदार्थों का स्वास्थ्य पर प्रभाव कैसे पड़ता है—मनुष्य का स्वास्थ्य उसके भीतर विद्यमान शुद्ध रुधिर पर आश्रित है। रुधिर जितना शुद्ध होगा उतना ही व्यक्ति स्वस्थ होगा। रुधिर जितना अशुद्ध होगा उतना ही व्यक्ति अस्वस्थ होगा। शरीर में रुधिर का सञ्चार तो हृदय से होता है, परन्तु अशुद्ध-रक्त को शुद्ध करने का कारखाना फेफड़े हैं। जैसे पेट से खाना हज़्म होकर, रुधिर बनकर, शरीर में खपता है, वैसे यह रुधिर जिसपर स्वास्थ्य तथा जीवन निर्भर हैं, फेफड़ों द्वारा शुद्ध होकर शरीर में संचार करता तथा हमें जीवनी-शक्ति प्रदान करता है। अगर फेफड़ों में शुद्ध तथा पौष्टिक वायु पहुँचेगी तो व्यक्ति स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल होगा, अगर फेफड़ों में अशुद्ध कीटाणु-मिश्रित अपौष्टिक हवा पहुँचेगी, तो व्यक्ति अस्वस्थ, कुरूप तथा बेडौल होगा।

अन्वेषणों से यह पाया गया है कि साधारण रूप में एक युवा व्यक्ति के फेफड़ों में २३० वर्ग ईंच वायु रहती है। इसमें से २० से लेकर ३० वर्ग ईंच वायु श्वास बाहर छोड़ने—प्रश्वास—में बाहर चली जाती है, २०० वर्ग ईंच तक फेफड़ों में जमा रहती है। अगर गहरा प्रश्वास लिया जाय तो १३० वर्ग ईंच तक वायु बाहर निकाली जा सकती है। ऐसा प्राणायाम से किया जा सकता है। शुद्ध वायु का पूर्ण लाभ लेने के लिये प्राणायाम करते हुए भरपूर वेग से फेफड़ों को वायु को बाहर फेंकना चाहिए ताकि फेफड़े १३० वर्ग ईंच तक वायु से खाली हो जायें। जब इस प्रकार फेफड़े वायु से खाली हो जायेंगे, तब उनमें रिक्तता (Vaccum) उत्पन्न हो जायेगी। भौतिकी का यह नियम है कि रिक्तता को भरने के लिए वायु अपने आप उस तरफ वेग से आती है ताकि खाली स्थान भर जाए। इस रिक्तता को शुद्ध वायु तथा यज्ञाग्नि द्वारा औषधियों से भावित—औषधि-अनुप्राणित—अग्निहोत्र की वायु अपने-आप भर देती है। जब हम पहाड़ों अथवा समुद्र तट पर होते हैं तब खाली फेफड़े ओषजन तथा ओजोन से भरकर रक्त को जीवनप्रद शुद्ध-वायु देते हैं। इसी तरह जब हम यज्ञ करते हैं तब घृत तथा सामग्री में जो औषधियाँ डाली जाती हैं, उनका अग्नि द्वारा सूक्ष्म-तत्त्व इन खाली फेफड़ों को भरकर हमें घृत तथा सामग्री की औषधियों का लाभ पहुँचाता है। अग्निहोत्र का यह प्रत्यक्ष लाभ है, जिससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

(४) क्या अग्निहोत्र से स्वास्थ्य-नाशक कार्बन डाय-ऑक्साइड गैस नहीं पैदा होती—अग्निहोत्र के विषय में प्राय: दो आक्षेप किये जाते हैं। एक तो यह कि लकड़ियों को जलाने से कार्बन डाय-ऑक्साइड गैस पैदा होती है, जो स्वास्थ्य के लिये घातक है, दूसरा यह कि इस मँहगाई के जमाने में जब शुद्ध घी खाने को नहीं मिलता तब उसे आग में फूँक देना बुद्धिमानी नहीं है। दूसरे आक्षेप का उत्तर हम पीछे देंगे, पहले विज्ञान के आधार पर किये गये आक्षेप का उत्तर देंगे—यह आक्षेप कि लकड़ियों को जलाने से कार्बन डाय-ऑक्साइड गैस पैदा होती है।

(क) कार्बन डाय-ऑक्साइड गैस—इसमें सन्देह नहीं कि लकड़ियों को जलाने से कार्बन डाय-ऑक्साइड गैस पैदा होता है, परन्तु प्रश्न यह है कि कार्बन डाय-ऑक्साइड कहाँ उत्पन्न नहीं होता। सृष्टि में इस गैस की भी आवश्यकता है। वनस्पतियों का आहार ही यह गैस है। आज जब वन-महोत्सव मनाये जा रहे हैं, जंगल बढ़ाने का प्रोग्राम चल रहा है, तब वृक्षों के भोजन को बढ़ाने की भी उतनी ही आवश्यकता बढ़ रही है, जिस कमी को पूरा करने के लिए यज्ञों की भी आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त इस गैस का उत्पन्न होना मात्र स्वास्थ्य के लिए घातक नहीं है। कार्बन डाय-ऑक्साइड गैस तो वायु में हर जगह घुला-मिला रहता है, कहीं इसकी मात्रा अधिक होती है, कहीं कम। पहाड़ों में ऑक्सीजन तथा ओजोन की मात्रा अधिक होती है, शहरों में जहां मनुष्यों की बस्ती घनी होती है, वहाँ कार्बन डाय-ऑक्साइड की मात्रा अधिक होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि पहाड़ों में कार्बन डाय-ऑक्साइड नहीं होता, या शहरों में ऑक्सीजन नहीं होता। कार्बन डाय-ऑक्साइड की सीमा से अधिक मात्रा स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। अग्निहोत्र करते हुए जो कार्बन डाय-ऑक्साइड पैदा होता है वह निरा कार्बन डाय-ऑक्साइड नहीं होता, उसमें घृत तथा सामग्री में पड़ी अनेक रोगनाशक स्थूल औषधियों के अग्नि द्वारा सूक्ष्मीकृत परमाणु भी मिले होते हैं। क्योंकि रोगनाशक स्थूल औषधियों का सूक्ष्मीकरण—ऐसा सूक्ष्मीकरण जिससे वे वायु-मण्डल में फैल जायें—बिना अग्नि को जलाये नहीं हो सकता और अग्नि को जलाने से कार्बन डाय-ऑक्साइड भी पैदा हो जाता है, इसलिये इस दुविधा में से निकलने के लिये और कार्बन डाय-ऑक्साइड की हानि को दूर करने के लिए रोगनाशक औषधियों की प्रभूत-मात्रा सामग्री में डाली जाती है। यह तो स्पष्ट है कि औषधियों के विरल परमाणु ही रोगों को नष्ट करते हैं—इस बात को ऐलोपैथी, होम्योपैथी, आयुर्वेद—सब स्वीकार करते हैं। फिर प्रश्न यह रह जाता है कि वायुमण्डल में इन परमाणुओं को पहुँचाने का अग्निके अतिरिक्त दूसरा कौन-सा साधन है? अग्नि के साधन से अगर कार्बन डाय-ऑक्साइड पैदा हो जाती है, तो उसके प्रभाव को कम तो किया जा सकता है, उसे पैदा होने से रोका नहीं जा सकता। उसके प्रभाव को कम करने

के लिए ही अग्निहोत्र में कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री, तुलसी, कपूरकचरी, जटामांसी (बालछड़), गुग्गल, काश्मीरी धूप, छलपुड़ी, लौंग, नागरमोथा आदि सुगन्धित पदार्थ डाले जाते हैं। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव से जाना जा सकता है कि जहाँ सिर्फ कार्बन डाय-ऑक्साइड होगा वहाँ सिर में चक्कर आ जायेगा, बेहोशी आ जायेगी, परन्तु अग्निहोत्र में जहाँ उससे भी ज्यादा कार्बन डाय-ऑक्साइड पैदा हो रहा होगा, वहाँ अगर सामग्री में उक्त औषधियाँ पड़ी होंगी तो उस सुगन्धित वायु में साँस लेने से आराम आयेगा। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अग्निहोत्र से कार्बन डाय-ऑक्साइड पैदा होता है, परन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि अग्निहोत्र से जितना कार्बन डाय-ऑक्साइड पैदा होता है उसकी अपेक्षा उसके विनाशकारी अंश को नष्ट करके औषधियों के स्वास्थ्यकारी अंश को प्रभूत मात्रा में बढ़ा दिया जाता है।

(ख) मँहगाई—अब प्रश्न यह रह जाता है कि वर्त्तमान युग के आर्थिक संकट में जब लोगों को खाने के लिये ही घी तथा मिष्टान्न नहीं मिलता, तब इन पदार्थों को हवन द्वारा अग्नि में फूँक देना कहाँ तक युक्ति-संगत कहा जा सकता है? इस शंका का उत्तर समझने के लिये अग्निहोत्र के मुख्य उद्देश्यों को जान लेना जरूरी है। अग्निहोत्र के मुख्य तौर पर ये चार उद्देश्य कहे जाते हैं—(क) वैयक्तिक तथा सामाजिक वायुमण्डल को शुद्ध करना, (ख) वैयक्तिक तथा सामाजिक रोगों को दूर करना, (ग) रोग के कीटाणुओं को नष्ट करना, (घ) वृष्टि की कमी को दूर करना। हम यहाँ इन चारों पर संक्षिप्त विचार करेंगे।

(क) हवन द्वारा वैयक्तिक तथा सामाजिक वायु-मण्डल को शुद्ध करना—प्रत्येक व्यक्ति का निज घर दूषित वायु से भरा रहता है। इतना ही नहीं कि उसमें कार्बन डाय-ऑक्साइड भरी रहती है, इसके अलावा अनेक प्रकार के कीटाणु हर घर में मौजूद रहते हैं। अनेक घरों में सीलन से घर में बदबू भरी रहती है। सीलन के कारण खाँसी, जुकाम, गठिया, अंगों में अनेक प्रकार के दर्द बने रहते हैं। इन सब रोगों का इलाज करने के लिये जिन औषधियों का हम सेवन करते हैं, वे मुफ्त में नहीं मिलतीं। उनका हिसाब लगाया जाय तो अमीर घरों में तो वे प्रत्येक महीने में सैकड़ों में बैठती हैं, गरीब घरों में अगर यह भी समझ लिया जाय कि सरकारी दवाखानों से उन्हें दवाएँ मुफ्त में मिलती हैं, तो भी दूषित तथा कीटाणुमय घर के वायुमण्डल में लोगों को जो कष्ट उठाना पड़ता है, उसके मुकाबिले में अग्निहोत्र द्वारा वायु शुद्ध करते रहना क्या मँहगा पड़ता है? अग्निहोत्र का काम सिर्फ अपने घर की वायु को शुद्ध कर लेना ही नहीं है, इससे पास-पड़ोस की वायु भी शुद्ध हो जाती है, क्योंकि वायु किसी कमरे में बन्द रहने वाली वस्तु नहीं है, वायु का काम तो

संचरण करना है। इस समय हमारे घर की दूषित तथा कीटाणुमय वायु केवल हमें ही रुग्ण नहीं करती, हमारे पास-पड़ोस के लोगों में भी रोग के कीटाणुओं को पहुँचाती रहती है। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति का अपने घर में अग्निहोत्र करना केवल उसे ही वैयक्तिक लाभ नहीं पहुँचाता, यह सम्पूर्ण समाज के वायु-मण्डल को शुद्ध करता है। जब घर-घर में यज्ञ होगा, अग्नि जलेगी, दूषित कीटाणु नष्ट होंगे, तब सारे समाज का वायु-मण्डल शुद्ध हो जायेगा और कीटाणुओं के नष्ट हो जाने से हर व्यक्ति रुग्ण नहीं दिखलाई देगा। वायु-मण्डल का शुद्ध हो जाना व्यक्ति तथा समाज के आर्थिक बोझ को हल्का करता है।

(ख) हवन द्वारा वैयक्तिक तथा सामाजिक रोगों को दूर करना—यह तो हम देख ही चुके हैं कि हवन से वायुमण्डल शुद्ध होता है। जो थोड़ा-बहुत कार्बन डाय-ऑक्साइड पैदा होता है, उसका सुगन्धित द्रव्यों के जलने से भरपूर प्रतिकार हो जाता है। इसके अतिरिक्त अग्निहोत्र का दूसरा लाभ यह है कि अग्नि के जलने तथा औषधियों के अग्नि द्वारा परमाणुओं में विभक्त हो जाने से उनके रोगों के नाशक तत्त्व हमारे घर के छोटे-से-छोटे छिद्रों में जाकर रोगजनक-कीटाणुओं का नाश कर देते हैं। सामग्री में जितनी औषधियाँ पड़ती हैं सब कीटाणुनाशक हैं। शंका करनेवाला कह सकता कि कीटाणुओं के नाश के लिये फिनाइल का प्रयोग क्यों न कर लिया जाय? ठीक है, अगर फिनाइल तथा एण्टी-सेप्टिक पदार्थ मुफ्त में बँटते हों, तब बात दूसरी है, उनका खर्च तो काष्ठौषधियों से ज्यादा पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त अग्निहोत्र तो एक धार्मिक संस्कार है, जो प्रतिदिन वैदिकधर्मी को धार्मिक तौर पर प्रातः-सायं करना होता है। मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि धर्म के साथ जो बात जुड़ जाती है, उसे वह नैत्यिक-कर्म के रूप में करने लगता है, अन्यथा उसे करने में तर्क-वितर्क में उलझा रहता है। अगर फिनाइल ही डालनी है, तो रोज क्यों डाली जाए, जब जरूरत हो तब ही उसका प्रयोग क्यों न किया जाय। ऐसी हालत में जब घर में रोग आ ही बैठता है तब फिनाइल की सूझती है। अगर फिनाइल को रोज-रोज ही डालना है, अगर फिनाइल का यज्ञ ही करना है, तो इस बदबूदार वस्तु की अपेक्षा उन औषधियों का अग्निहोत्र के रूप में प्रयोग क्यों न किया जाय तो कीटाणुओं को भी नष्ट कर देती हैं और साथ ही घर भर को सुगन्धि से भर देती हैं?

जैसे अग्निहोत्र द्वारा व्यक्ति अपने घर के रोगों को दूर कर सकता है, वैसे इससे समाज में पनप रहे अन्य रोग भी नष्ट हो जाते हैं। रोग के कीटाणु सिर्फ वे नहीं हैं जो हमारे घर में मौजूद हैं या आ गये हैं। हमारी तरह अन्य लोगों के घरों में अपनी-अपनी तरह के रोग, अपनी-अपनी तरह के कीटाणु हैं। अगर हर घर में कीटाणुनाशक औषधियोंसे हवन होंगे, तो हमारे ही नहीं, समाज भर के सभी प्रकार के कीटाणु नष्ट हो जायेंगे। इस प्रकार हमारा ही भला नहीं होगा, समाज-भर का भला होगा।

(ग) हवन द्वारा रोग के कीटाणुओं के नष्ट होने के परीक्षण—डॉ० फुन्दन लाल एम०डी० ने 'यज्ञ-चिकित्सा'-नामक एक ग्रन्थ १९४९ में जबलपुर से प्रकाशित किया था। वे ऐलोपैथिक डॉक्टर थे, परन्तु सब कुछ छोड़कर क्षय-रोग की यज्ञ द्वारा चिकित्सा करने में जुट गये थे। उन्होंने जबलपुर में एक टी०बी० सैनिटोरियम भी खोला था। उन्होंने यज्ञ की गैस के सम्बन्ध में कुछ परीक्षण किये थे। 'यज्ञ-चिकित्सा'-नामक ग्रन्थ १९३ पृष्ठ पर वे लिखते हैं—"काँच की १२ शीशियाँ ली गईं और वैज्ञानिक रीति से उन्हें नितान्त शुद्ध कर लिया गया तथा उनके कृमि इत्यादि सब निकाल दिये गये। उसके पश्चात् दो-दो शीशियों में दूध, मांस इत्यादि ६ वस्तुएँ भरी गईं। अब ६ शीशियों को एक ओर और ६ शीशियों को दूसरी ओर रख दिया गया। उनमें से एक ओर वाली शीशियों में हवन-गैस पहुँचाई गई और दूसरी ओर की शीशियों में उद्यान की शुद्ध वायु भर दी गई। शीशियाँ बन्द करके रख दी गईं और नित्यप्रति उनका निरीक्षण करते रहे। परिणाम यह निकला कि जिन शीशियों में उद्यान की वायु थी उनमें सडांद शीघ्र प्रारम्भ हुआ और शीघ्रतापूर्वक बढ़ रहा था। इसके विपरीत जिन शीशियों में हवन-गैस पहुँचायी गई थी, उनमें सड़ांद देर-से प्रारम्भ हुआ और शनैः-शनैः बढ़ता रहा, जिसका मतलब साफ है कि हवन-गैस ओषजन-युक्त उद्यान की शुद्ध वायु से भी सड़ांद को अधिक रोकती है। यह परीक्षण हवन की साधारण सामग्री से किया गया था। जब क्षय-नाशक विशेष सामग्री बनाई जाय, तो उसका प्रभाव उन सड़े हुए फेफड़ों पर और अच्छा होगा जो क्षय रोग के कीटाणुओं के कारण सड़ने लगते हैं। साथ ही यह परीक्षण यह भी सिद्ध करता है कि जो लोग नित्यप्रति हवन करते हैं, उनके शरीर में इस प्रकार के रोग उत्पन्न ही नहीं हो सकते, जिनमें किसी भीतरी स्थान में पीप उत्पन्न हो और यदि कहीं उत्पन्न हो तो नित्यप्रति हवन-गैस पहुँचाने से मवाद तुरन्त सूख जायेगा और क्षत अच्छा हो जायेगा।"

"इसके अतिरिक्त एक और परीक्षण किया गया। हवन-गैस को पानी में मिलाकर उससे बाहर के सड़े-गले क्षत धोये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि पहले किसी-किसी क्षत से पीप अधिक निकली, फिर क्षत बहुत शीघ्र भर कर सूख गया। पहले बहुत अधिक पीप आने का कारण यह था कि भीतर का गहराई तक का पीप बाहर निकल आया और फिर क्षत भर गया।"

(घ) हवन द्वारा वृष्टि की कमी को दूर करना—हवन द्वारा वायु शुद्ध होती है, रोग के कीटाणुओं का नाश होता है—हवन के इन दो लाभों के अलावा इसका तीसरा लाभ अनावृष्टि के समय वृष्टि की कमी को दूर करना है। यज्ञ में घी का प्रयोग वर्षा लाने में कैसे सहायक बनता है—इस सम्बन्ध में श्रीयुत् आत्मारामजी ने १९२४ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'संस्कार-चन्द्रिका' में लिखा है—"घी के अणु

वर्षा बरसाने में अपूर्व साधन हैं। पानी और घी दो ऐसे पदार्थ हैं, जो सर्दी में जम जाते हैं और गर्मी से पिघल जाते हैं। जिस सर्दी में पानी नहीं जमता, उसमें घी जम जाता है। हवन में जब घी के अणु सूक्ष्म होकर ऊपर चढ़ते हैं, तो वायु में डोलनेवाले बादलों के तल के पास ही पहुँचकर स्वयं जम जाने से उनको भी जमाने और बरसाने का काम देते हैं। पश्चिमीय सायंसदां कहते हैं कि बादलों के नीचे के भाग, अर्थात् तल—में यदि कृत्रिम रीति से सर्दी पहुँचायी जा सके, तो बादल बरस सकता है।''

इसका अभिप्राय यह हुआ कि घी के परमाणु जब आसमान में चढ़कर बादलों के तले में पहुँचते हैं तब वहाँ की ठण्ड के कारण वे जम जाते हैं। घी के परमाणुओं के जमने के कारण उनके साथ सम्पर्क में आनेवाले बादलों के वाष्प के कण भी घी के ठण्डे परमाणुओं की वजह से भाप की जगह पानी बन जाते हैं और बरस पड़ते हैं। आसमान में हर समय भाप के रूप में पानी रहता ही है, यज्ञ द्वारा आसमान में चढ़ने वाले घी के परमाणु घी होने के कारण वहाँ की ठण्ड से जम जाते हैं और साथ लगी सारी वाष्प को ठण्डा कर देते हैं। वाष्प के ठण्डा होने का अर्थ है—पानी का बरस पड़ना, इस प्रकार हवन वर्षा लाने में सहायक है।

ऊपर हमने अग्निहोत्र के जिन चार उद्देश्यों का जिक्र किया उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर अग्निहोत्र से ये चार लक्ष्य पूर्ण हो जाते हैं, तो इस पर व्यक्ति तथा समाज का जो आर्थिक व्यय होगा उसकी तुलना में व्यक्ति तथा समाज को स्वास्थ्य तथा अन्य दृष्टियों से आर्थिक लाभ बहुत अधिक होगा।

२. अग्निहोत्र की सामग्री के सम्बन्ध में विचार

ऋषि दयानन्द ने तीसरे समुल्लास में हवन की वैज्ञानिकता पर विचार करते हुए प्रश्नकर्त्ता को उत्तर दिया है—''जो तुम पदार्थ-विद्या जानते तो कभी ऐसी बात न कहते, क्योंकि किसी द्रव्य का अभाव नहीं होता। देखो, जहाँ होम होता है वहाँ से दूर देश में स्थित पुरुष के नासिका से सुगन्ध का ग्रहण होता है, वैसे दुर्गन्ध का भी। इतने से ही समझ लो कि अग्नि में डाला हुआ पदार्थ सूक्ष्म होकर, फैल कर वायु के साथ दूर देश में जाकर दुर्गन्ध की निवृत्ति करता है। केशर, कस्तूरी, सुगन्धित पुष्प और इतर आदि सुगन्ध का वह सामर्थ्य नहीं है कि गृहस्थ वायु को बाहर निकाल कर शुद्ध वायु का प्रवेश करा सकें, क्योंकि उनमें भेदक-शक्ति नहीं है, और अग्नि का सामर्थ्य है कि उस वायु और दुर्गन्धयुक्त पदार्थों को छिन्न-भिन्न और हल्का करके बाहर निकाल कर पवित्र वायु का प्रवेश कर देता है।'' इससे आगे चल कर लिखा है—''इसीलिये आर्यवर शिरोमणि, महाशय, ऋषि, महर्षि, राजे, महाराजे लोग बहुत-सा होम करते और कराते थे। जबतक इस होम करने का प्रचार रहा, तबतक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था, अब भी प्रचार हो तो वैसा हो जाए।''

ऋषि दयानन्द ने प्रत्येक आर्य के लिये सिर्फ अपने घर में ही यज्ञ करने की बात नहीं कही, सार्वजनिक-यज्ञ करने की भी बात कही है। जब घर-घर में नित्य यज्ञ हो और सामूहिक रूप में बड़े-बड़े यज्ञ हों, तब आध्यात्मिक वातावरण ही पवित्र नहीं होता, सम्पूर्ण देश का भौतिक वातावरण भी शुद्ध, पवित्र वायु से भर जाता है। अग्निहोत्र में जो पदार्थ डाले जाते हैं उनपर विचार करने से स्पष्ट हो जाएगा कि वे सूक्ष्म रूप धारण कर किस तरह देश के सम्पूर्ण वायु-मण्डल को स्वस्थ बना देते हैं—

(१) सुगन्धित द्रव्य—कस्तूरी, केसर, अगर, तगर, चन्दन, जटामांसी, इलायची, तुलसी, जायफल, जावित्री, कपूर व कपूरकचरी, गुग्गुल, नागरमोथा, बालछड़, नर कचूरा, सुगन्धवाला, लवंग, दालचीनी आदि।

(२) उत्तम पदार्थ—शुध्ध घी, दूध, फल, कन्द, चावल, जौं, गेहूँ आदि।

(३) मधुर पदार्थ—खांड, शहद, किशमिश, छुआरा आदि।

(४) रोगनाशक औषधियाँ—गिलोय आदि।

(५) समिधा—आम, बबूल, बरगद, गूलर, नीम, अशोक, पीपल, पलाश, चन्दन, देवदार आदि।

सुगन्धित द्रव्यों के सम्बन्ध में विचार

केसर के विषय में पं० आत्माराम जी अमृतसरी अपनी पुस्तक 'संस्कारचन्द्रिका' में लिखते हैं—''जब मद्रास में प्लेग फैल रहा था तब डॉ० किंग आई०एम०एस० ने हिन्दू विद्यार्थियों को उपदेश दिया था कि यदि तुम घी और केसर से हवन करो, तो महामारी (प्लेग) का नाश हो सकता है।'' आगे वे लिखते हैं—''श्वेत चन्दन का तेल निकाल कर सुजाक तथा आतशक जैसे भयङ्कर रोगों में उनके विष का निवारण करने के लिये अमरीका के कई डॉक्टर तथा भारत के वैद्य उसका उपयोग करते हैं। तुलसी के लिये प्रसिद्ध ही है कि यह मलेरिया-दोष को दूर करता है। पंढरपुर में विठोवा के मन्दिर के आस-पास इतनी तुलसी लगी है कि वहाँ मलेरिया नहीं होता।''

उत्तम पदार्थों—घी, दूध, फल आदि द्रव्यों के सम्बन्ध में विचार

श्री आत्माराम जी आगे लिखते हैं—''घृत, दूध, फल, कन्द आदि पुष्टिकारक पदार्थ हैं। सुगन्धित तथा पुष्टिकारक पदार्थ यदि बिना घृत मिलाये अग्नि में जलाये जायें, तो उनकी सुगन्धि तथा पुष्टि में तीव्रता और सूखापन होने से जुकाम आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु जिस समय उनमें घृत मिलाया जाता है, उस समय जुकाम आदि किसी प्रकार के रोग का भय नहीं रहता और सुगन्धि की तीव्रता मर्यादा में आ जाती है। घी का दूसरा अपूर्व गुण यह है कि यह विषनाशक पदार्थ है। इसके अतिरिक्त यह अग्नि प्रदीप्त करता है। दूध, बादाम, केला, नासपाती, सेव, नारियल का तेल आदि पुष्टिकारक वस्तुएँ हैं, जिनके जलाने से मिष्ट के अणु वायु में फैल कर

जहाँ अनेक रोगों को दूर करते हैं वहाँ पुष्टि भी करते हैं।''

मधुर पदार्थों के सम्बन्ध में विचार

''गुड़, शक्कर, शहद, छुहारे, दाख आदि मधुर पदार्थ हैं। सगुन्धित पदार्थों के साथ सृष्टि में मिठास भी रहता है। सुगन्धित पुष्पों पर मधुमक्खी फूलों की मिठास को लेने आती है। गुड़, खांड, मिश्री के जलने से मन्द-मन्द मीठी सुगन्धि आती है। जब सुगन्धित, मीठे पदार्थों के साथ घी भी जलता है, तब तो सुगन्धि और भी रोचक हो जाती है। एक विद्वान् ने लिखा था कि आग में शक्कर जलाने से 'हे फीवर' नहीं होता।''

रोगनाशक औषधियों तथा समिधाओं के सम्बन्ध में विचार

''रोगनाशक औषधियों को आग में डालकर रोगी के रोग-नाशतथा रोगाविष्ट वातावरण को शुद्ध करने की प्रथा संसार भर में पायी जाती है। प्लुटार्क का कहना है कि आग से वायु शुद्ध होती है। प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं कि बड़े पैमाने में आग जलाने की परिपाटी शताब्दी पूर्व स्काटलैंड में पायी जाती थी। महामारी को दूर करने के लिये आयरलैंड और दक्षिणी अमरीका में अग्नि जलाने की प्रथा भी। जापान में होम को धोम कहते हैं और मन्दिरों में सुगन्धित द्रव्य जलाते हैं। जर्मनी में लेवेण्डर की बत्ती जलाई जाती है। पारसियों के धर्म-मन्दिरों में से हवन की सुगन्ध हर समय उठा करती है। संसार भर में सुगन्धित पदार्थों को अग्नि में डालना उन लोगों के अनुभव पर ही आश्रित है।''

डॉ० सत्यप्रकाश डी० एस-सी० ने अग्निहोत्र पर विज्ञान की दृष्टि से अंग्रेजी में एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम है—'दठ्ठद्बद्धशह्लह्न्ड्ड' आप अलाहाबाद विश्व-विद्यालय के केमिस्ट्री-विभाग के अध्यक्ष थे, अब आप संन्यासी होकर स्वामी सत्यप्रकाशानन्द हो गये हैं। आपने सामग्री का विश्लेषण करते हुए यह पाया कि उसमें ऐसे तत्त्व हैं जिनसे फौरमैल्डीहाइड (Formaldehyde) गैस उत्पन्न होता है। यह गैस बिना परिवर्तित हुए वायु-मण्डल में फैल जाता है। कुछ अंश तक कार्बन डॉय-ऑक्साइड भी फौरमैल्डीहाइड में तबदील हो जाती है। वे लिखते हैं—''To some extent, even carbon dioxide is also reduced to formaldehyde.''

आगे चलकर उक्त पुस्तक के पृष्ट १५३ पर आप लिखते हैं कि १८८६ में ल्यू तथा फिशर (Loew and Fischer) ने यह मालूम किया कि फौर्मैल्डीहाइड एक शक्तिशाली कीटाणुनाशक तत्त्व है। अनेक पदार्थों को यह सड़ने से बचा लेता है। केम्बीयर तथा ब्राचेट (Cambier and Brochet) ने परीक्षणों से सिद्ध किया कि इस गैस से घर के गर्दे में से भी कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। स्लेटर तथा रायडिल (Slater and Rideal) ने इसका ४० प्रतिशत घोल बनाकर परीक्षण किया तो पता चला कि टाइफस, बी० कोलाई तथा कोलन के कीटाणु इससे १० मिनट से भी कम समय में

नष्ट हो गये और अन्य रोगों के कीटाणु २० या ३० मिनट में नष्ट हो गये। कुछ ऐसे भी परीक्षण किये गये, जिनमें धागों को भिन्न-भिन्न रोगों के कीटाणुओं में सिक्त करके उन्हें कुछ दूरी पर रखकर उनपर फौर्मेल्डीहाइड का वाष्प डाला गया। परिणाम आशातीत तथा आश्चर्यजनक पाया गया। इन धागों पर टाइफस तथा बी० कोलाई के कीटाणुओं का कुछ असर ही नहीं हो सका, क्योंकि इन पर फोर्मेल्डीहाइड का वाष्प अपना प्रभाव कर चुका था।

यह बात विशेषरूप से ध्यान देने की है कि फोर्मेल्डीहाइड का प्रभाव तभी होता है जब पानी के वाष्पों का साथ हो, अन्यथा इसका कीटाणुनाशक प्रभाव नहीं होता। यही कारण है कि अग्निहोत्र करते हुए पानी का भरपूर प्रयोग होता है। कभी आचमन किया जाता है, कभी यज्ञ-वेदी के चारों तरफ जल-सेचन किया जाता है, कभी शरीर पर जल से छींटे दिये जाते हैं—इस सबका परिणाम यह होता है कि रोगाणुनाशक फोर्मेल्डीहाइड पूर्णरूप से अपना प्रभाव करती है।

यह बात ठीक है कि हवन में केवल फोर्मेल्डीहाइड ही नहीं पैदा होता, परन्तु प्रतिदिन के अग्निहोत्र में जिन पदार्थों से यह गैस पैदा होती है और जितनी भी होती है, वह वायुमण्डल को शुद्ध करने तथा उसे कीटाणुरहित करने में पर्याप्त होती है।

फोर्मेल्डीहाइड के अलावा सामग्री में विद्यमान पदार्थों से अन्य भी अनेक तत्त्व उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, नारियल आदि के डालने से कुछ तेल वाष्प रूप में निकलते हैं, जिनके विषय में परीक्षणों से सिद्ध हुआ है कि उनके कारण जूएँ नहीं पड़तीं, अगर देर तक तेल की वाष्प में रहें तो मर जाती हैं।

एस० रिडील एण्ड ई० रिडील ने १९२१ में एक ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसका नाम था—Chemical Disinfection and Sterilization. इस ग्रन्थ में वे लिखते हैं कि लड़ाई के समय सिपाहियों को देर तक खन्दकों में रहना पड़ता है। वहाँ रहते हुए उन्हें कई कीटाणु आ घेरते हैं। उनसे बचने के लिये ऐसी पेटियों का निर्माण किया गया है, जिनमें तीव्र गन्ध होती है। वे इन पेटियों को अपने-अपने जिस्म से सटाकर बाँध लेते हैं। इनकी गन्ध से खन्दकों के कीटाणु उन पर प्रभाव नहीं करते।

इसमें सन्देह नहीं कि हर प्रकार की सामग्री हर रोग का निवारण नहीं कर सकती, परन्तु अगर अग्नि में औषधियाँ डालने से रोग का प्रतिकार हो सकता है, तो इस बात की गवेषणा करनी होगी कि किस रोग के लिये किन पदार्थों की सामग्री उपयोगी होगी।

कहा जाता है कि हवन से फोर्मेल्डीहाइड पैदा होता होगा, गंधवाली गैसें भी पैदा होती होंगी जो कीटाणुनाशक हैं, परन्तु साथ ही कार्बन डाय-ऑक्साइड भी तो पैदा होता है, जो मनुष्य के लिए घातक है। शायद बेचारे कार्बन डायऑक्साइड पर बेकार की बौछार की जाती है। यद्यपि इससे जीवनी-शक्ति को लाभ नहीं पहुँचता, तो भी यह कोई भयानक विष नहीं है। हम रोज सोडा, कोको, लिमका आदि पीते हैं,

इनमें कार्बन डाय-ऑक्साइड की गैस ही तो होती है। रसोईघर में हम चूल्हा जलाते हैं, घण्टों वहाँ काम करते हैं। क्या सब लोग रसोईघर में मर जाते हैं?

सचाई तो यह है कि आग जलने के समय जो रोगनाशक गैसें उत्पन्न होती हैं, उन्हें उठाकर दूर-दूर तक तथा आसमान में उठाकर चढ़ा देने का काम कार्बन डाय-ऑक्साइड ही करता है। अग्नि से उत्पन्न होकर यह इतनी उड़ान भरता है कि प्रायः देखा जाता है कि जब बड़े-बड़े यज्ञ कई दिन तक होते रहते हैं तब यज्ञ-जनित तत्त्वों को यह इतनी ऊँचे उठा ले जाता है कि यज्ञ करते-करते आसमान बादलों से घिर जाता है और वर्षा होने लगती है। यह तो हर किसी के अनुभव की बात है कि जब प्रचण्ड आग लगती है, जंगल-के-जंगल धधक उठते हैं, टनों कार्बन डाय-ऑक्साइड उत्पन्न होता है, तब वर्षा अवश्य आ जाती है।

अग्निहोत्र के विषय में एक प्रश्न रह जाता है—वह यह कि अग्निहोत्र के साथ मन्त्रोच्चारण को क्यों जोड़ दिया गया है, अग्निहोत्र का रोगनाशक प्रभाव हो सकता है, मन्त्रों का रोग के नाश से क्या सम्बन्ध है? इस बात को समझने के लिये वर्त्तमान चिकित्सा के उस पहलू को समझना होगा जिसे 'विकलांग-चिकित्सा' (Orthopaedic treatment) कहा जाता है। इस चिकित्सा में शरीर के विकारों को व्यायाम आदि से ठीक किया जाता है। इस चिकित्सा का एक अंग है—ltrasonic या Supersonic wave treatment। यह चिकित्सा क्या है? कल्पना कीजिए कि आपको कन्धे में, गर्दन में या पीठ में दर्द है। एक यन्त्र है जिसमें Sound waves को केन्द्रित किया जाता है। इन Sound waves या शब्द-लहरियों में इतना बल होता है कि शब्द लहरियों को केन्द्रित करने वाले इन यन्त्रों से जब पीड़ा वाले स्थानों को कई दिन तक ५-७ मिनट के लिए छुआ जाता है तब ये दर्द चले जाते हैं। किसी भी बड़े चिकित्सालय में जाकर इस बात का पता तथा अनुभव प्राप्त किया जा सकता है। वेद-मन्त्रों का उच्चारण क्या है? यह स्वर-लहरियों (Sound waves)का ही तो वायु-मण्डल में प्रसारण है। अगर यन्त्र द्वारा ltrasonic waves से रोग दूर किया जा सकता है, तो वेद-मन्त्रों के एक खास प्रकार के उच्चारण से ऐसी लहरें उत्पन्न कर देना जिनसे रोग का निवारण हो, कोई आश्चर्य की बात नहीं। कोई समय रहा होगा, जब वेदपाठी इस विधि को जानते थे, अब इसे भूल गए हैं, परन्तु वेद-मन्त्रों द्वारा वायु-मण्डल को तथा मानव को प्रभावित कर देना आजकल के ltrasonic waves द्वारा उपचार के ही समान है।

हमने इस पुस्तक का आरम्भ करते हुए हवन के प्रति इतने पृष्ठ इसलिए अर्पित किये क्योंकि जिन सोलह संस्कारों पर हम लिखने चले हैं उन सबका मूलाधार तो यज्ञ ही है, अगर यज्ञ पर ही आस्था न हो, तो आगे गाड़ी कैसे चल सकती है?

संस्कार-पद्धति का दार्शनिक विवेचन

१. संस्कार का अर्थ

संस्कार का अर्थ है किसी वस्तु के रूप को बदल देना, उसे नया रूप दे देना। वैदिक-संस्कृति में मानव-जीवन के लिए सोलह संस्कारों का विधान है। इसका अर्थ यह है कि जीवन में सोलह बार मानव को बदलने का, उसके नव-निर्माण का प्रयत्न किया जाता है। जैसे सुनार अशुद्ध सोने को अग्नि में डालकर उसका संस्कार करता है, उसी प्रकार बालक के उत्पन्न होते ही उसे संस्कारों की भट्टी में डालकर उसके दुर्गुणों को निकालकर उसमें सद्‌गुण डालने के प्रयत्न को वैदिक विचारधारा में 'संस्कार' कहा गया है। चरक ऋषि ने कहा है—**'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते'**—अर्थात् संस्कार पहले से विद्यमान दुर्गुणों को हटाकर उनकी जगह सद्‌गुणों का आधान कर देने का नाम है।

इस दृष्टि से संस्कार मानव के नव-निर्माण की योजना है। बालक का जब जन्म होता है तब वह दो प्रकार के संस्कार अपने साथ लेकर आता है। एक प्रकार के संस्कार तो वे हैं, जिन्हें वह जन्म-जन्मान्तरों से अपने साथ लाता है, दूसरे प्रकार के संस्कार वे हैं, जिन्हें वह अपने माता-पिता के संस्कारों के रूप में वंश-परम्परा से प्राप्त करता है। ये अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी हो सकते हैं। संस्कारों द्वारा मानव के नव-निर्माण की योजना वह योजना है, जिसमें बालक को ऐसे पर्यावरण से घेर दिया जाए, जिसमें अच्छे संस्कारों को पनपने का अवसर प्राप्त हुए हों, बुरे संस्कार चाहे पिछले जन्मों के हों, चाहे माता-पिता से प्राप्त हुए हों, चाहे इस जन्म में पड़ने वाले हों—उन्हें निर्बीज कर दिया जाये। हमारी योजनाएँ भौतिक योजनाएँ हैं, संस्कारों की योजना आध्यात्मिक योजना है, हम बाँध बाँधते हैं, नहरें खोदते हैं, वैदिक-संस्कृति का ध्येय उस मानव का निर्माण करना है, जिसके लिये बाँध बाँधे जाते हैं, नहरें खोदी जाती हैं।

२. मानव के नव-निर्माण की योजना

जो देश उन्नति करने लगता है वह योजनाओं का तांता-सा बाँध देता है। कोई पञ्चवर्षीय योजनाएँ बनाता है, कोई दसवर्षीय, परन्तु क्योंकि हमारी दृष्टि आधिभौतिक-जगत् तक सीमित है, इसलिये हमारी योजनाओं का उद्देश्य बाँध बाँधना, नहरें खोदना, सड़कें बनाना तथा रेलें बिछा देना मात्र रह जाता है। हम भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण समझे बैठे हैं कि मानव का सबसे बड़ा प्रश्न रोटी का प्रश्न है। रोटी का प्रश्न हल हो गया, तो दुनियाँ के सब प्रश्न हल हो गये, बाँधों-नहरों से उत्पादन बढ़ गया, तो दूसरी कोई समस्या नहीं रही। हमारी समझ में मानव भूख-प्यास का पुतला है, इसके सिवाय कुछ नहीं। वैदिक विचारधारा मानव को शरीर-

मात्र नहीं मानती। इसमें सन्देह नहीं कि बाँध बाँधने, नहरें खोदने, सड़कें बनाने तथा रेलें बिछाने की योजनाएँ भी चलनी चाहियें, परन्तु आध्यात्मिक-दृष्टि से ये योजनाएँ अत्यन्त प्रारम्भिक योजनाएँ हैं, मानव के नव-निर्माण की वैदिक-दृष्टि से आधारभूत योजना का श्रीगणेश भी नहीं। वैदिक-संस्कृति की असली योजना, वह योजना जिसके लिये इस संस्कृति ने जन्म लिया, संस्कारों द्वारा मानव का नव-निर्माण करना है। हम बाँध बाँधते हैं, नहरें खोदते हैं, सड़कें बनाते तथा रेलें बिछाते हैं, परन्तु वह मानव जिसके लिये यह सब कुछ करते हैं, वह कहाँ है, उसके लिये हमने पञ्चवर्षीय या दसवर्षीय कौन-सी योजना बनाई है? रेलों का तांता बिछ जाय, मोटरें घर-घर पहुँच जायें, जमीन के चप्पे-चप्पे पर नहरों का पानी चला जाय, उत्पादन असीम हो जाय, परन्तु इन सबका उपभोग करने वाला मानव अगर सच्चा न हो, ईमानदार न हो, दूसरे के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होने वाला न हो, दुराचारी हो, भ्रष्टाचारी हो, व्यभिचारी हो, तो ये रेल-मोटर, ये नहरें और ये बाँध किस काम आयेंगे? और क्या, ऐसा हो नहीं रहा? क्या चारों तरफ चकाचौंध कर देनेवाले वैभव की बढ़ती के साथ-साथ मानव का—उस मानव का जिसके लिये यह सम्पूर्ण वैभव खड़ा किया जा रहा है—दिनोंदिन पतन नहीं हो रहा? मानव कहाँ है? कहाँ है वह मानव जिसमें मानवीयता हो? वह मानव जो प्रलोभनों के प्रचण्ड बबण्डर उठ खड़े होने पर उसे तिनकों की तरह परे फेंक दे? वैदिक-संस्कृति की सबसे बड़ी योजना और उस योजना का केन्द्र-बिन्दु, संस्कारों द्वारा मानव का नव-निर्माण था।

३. मानव के नव-निर्माण का आधार संस्कार-पद्धति है

अगर यह बात ठीक है कि बालक जन्म-जन्मान्तर के और माता-पिता के संस्कारों को लेकर आता है, तो प्रश्न उठ खड़ा होता है कि संस्कार-पद्धति द्वारा इस एक छोटे से जन्म में जो हम संस्कारों की प्रक्रिया करते हैं, उनसे जन्म-जन्मान्तरों के जमा हुए संस्कार कैसे धुल सकते हैं। हमने गत जन्मों में न-जाने कितने कर्म किये, अच्छे किये, बुरे किये, उन सबको एक-एक करके भोगे बिना केवल इस जन्म के संस्कारों से कैसे बदला जा सकता है? क्या ये एक जन्म के संस्कार पिछले इकट्ठे हुए अनन्त जन्मों के कर्मों के बोझ को, उन कर्मों से पड़े हुए संस्कारों को मिटा सकते हैं?

यहाँ 'संस्कार' का प्रश्न 'कर्म' का प्रश्न बन जाता है। क्या पिछले जन्म के कर्म-जन्य संस्कार को इस जन्म के 'संस्कार' से मिटाया जा सकता है? 'कर्म' के विषय में धर्म के चिन्तकों ने भिन्न-भिन्न विचारों को जन्म दिया है। कोई धर्म कहता है, मनुष्य की पीठ पर दो फरिश्ते हर समय हर काम को दो बहियों में लिखते रहते हैं। कोई धर्म यह कहता है कि चित्रगुप्त की बही में एक-एक काम, अच्छा हो, बुरा हो, दर्ज किया जाता है। हर काम की पड़ताल होती है, हर कर्म का फल मिलता है,

जब तक एक-एक कर्म का फल नहीं मिल जाता तब तक कर्म बैठा रहता है, मिटता नहीं। इन सब विचारों का आधारभूत विचार एक ही है। आधारभूत विचार यह है कि संसार का शासन कारण-कार्य के नियम से हो रहा है। कोई कार्य बिना कारण के नहीं होगा और हर कारण का कार्य अवश्य होगा। जिसे हम ''कारण' कहते हैं वह पिछले जन्म का 'कार्य' होता है, जिसे हम 'कार्य' कहते हैं वह अगले जन्म का 'कारण' बन सकता है। इस प्रकार कारण-कार्य की व्यवस्था से कर्मों की शृङ्खला चलती चली जाती है। कर्मों की इस कारण-कार्य की शृङ्खला का क्या रूप है? क्या हर कर्म तब तक बैठा रहता है जब तक उसका फल नहीं मिल जाता? अगर हमारे जीवन का नियन्त्रण जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों के संस्कारों से होता है और उनके साथ माता-पिता के संस्कार भी मिल जाते हैं, जिन्हें भोगना पड़ता है, तब एक-एक कर्म का भुगतान करने के लिये इस जन्म के थोड़े-से कर्म कैसे बस हो सकते हैं?'

४. कर्म-जन्य संस्कारों का भुगतान कैसे होता है?

कर्म-जन्य संस्कारों का भुगतान समझने के लिये यह समझ लेना होगा कि कर्म किसी रजिस्टर में नहीं लिखे जाते, न वे चित्रगुप्त के बहीखाते में दर्ज होते हैं। कर्म तो अपनी निशानी लगाते जाते हैं, लकीर छोड़ते जाते हैं, रेखा खींचते जाते हैं। यह निशानी, यह लकीर, यह रेखा मस्तिष्क पर पड़ती है। मस्तिष्क में इन रेखाओं के पड़ जाने के लिये मनोवैज्ञानिक पर्सी नन ने 'नेमे' (Mneme)-शब्द का प्रयोग किया है। 'नेमे' का अर्थ है—मस्तिष्क में उसपर पड़ी रेखाओं के सञ्चय की शक्ति। उदाहरणार्थ, जब हम पुस्तक पढ़ रहे हैं, तब एक-एक अक्षर को स्मरण नहीं कर रहे होते, फिर भी अपने पिछले अनुभवों और संस्कारों के कारण दनादन पढ़ते चले जाते हैं। बाजार में चलते हुए हम अपने एक मित्र को देखते हैं। उस समय हम यह नहीं कहते कि हमें उसका चेहरा स्मरण हो आया। हम उसे पिछले संचित-संस्कारों के कारण ही एकदम पहचान जाते हैं। एक व्यक्ति को कुछ शब्द याद करने को कहा जाय, अगले दिन वह सब भूल जाता है, परन्तु दोबारा याद करने को कहा जाए, तो पहले की अपेक्षा जल्दी याद कर लेता है। यद्यपि वह सब-कुछ भूल गया था, तो भी मस्तिष्क पर जो रेखाएँ धुंधली पड़ गई थीं, वे चमक उठती हैं, उनके कारण अब वह जल्दी याद कर लेता है। ये सब 'स्मृति' के नहीं, 'नेमे' के दृष्टान्त हैं। 'स्मृति' संकुचित शब्द है, 'नेमे' विस्तृत शब्द है। 'स्मृति' के लिये कह सकते हैं कि यह 'नेमे' का ही एक रूप है। प्रत्येक अनुभव अपने पीछे मस्तिष्क में एक 'संस्कार' छोड़ जाता है। ये संस्कार हमारे आगे आनेवाले अनुभवों को बदलते रहते हैं। मस्तिष्क में पड़ रहे इन 'संस्कारों' के लिये पर्सी नन ने 'एनग्राम' (Engram)-शब्द का प्रयोग किया है। प्राणी के मन की 'संचय-शक्ति' ही 'नेमे' है, और अनुभव से मस्तिष्क के 'ग्रे-मैटर' पर जो 'संस्कार' मानो लिखे जाते हैं, वे 'एनग्राम' हैं। यन्त्र

तथा प्राणी में यही भेद है। यन्त्र में संचय-शक्ति नहीं होती और 'संस्कार' नहीं पड़ते; प्राणी में 'संचय-शक्ति' (Mneme) होती है और 'संस्कार'—'आलेखन' (Engrams)—पड़ते हैं, शुद्ध अर्थों में लिखे जाते हैं। लिखे जाते हैं का यह अर्थ नहीं है कि किसी भाषा में लिखे जाते हैं, इसका इतना ही अर्थ है कि वे मस्तिष्क के तत्त्व को भौतिकरूप में प्रभावित करते हैं, उसे बदल देते हैं। हम जो कर्म करते हैं वह एक-एक—व्यक्ति रूप में—हमारे भीतर नहीं बैठा रहता, वह हमारे मस्तिष्क पर एक प्रभाव छोड़ जाता है, मस्तिष्क पर एक-एक कर्म नहीं लिखा जाता, उन कर्मों के कारण मस्तिष्क की 'संचय-शक्ति' संस्कारों का रूप धारण करती जाती है, मस्तिष्क में एक रुचि, एक प्रवृत्ति, उसकी एक दिशा, उसका अगले काम करने का एक रास्ता बनता जाता है—इसी प्रकार के संस्कारों का बनते जाना कर्मों का लिखा जाना है। जैसे हम भोजन खाते हैं, यह भोजन शरीर में अलग-अलग तत्त्वों के रूप में बैठा नहीं रहता, यह पचकर शरीर बन जाता है, अच्छे भोजन से स्वस्थ शरीर, बुरे भोजन से अस्वस्थ शरीर, वैसे ही जब हम कर्म करते हैं, तब वे कर्म उनका फल भोगे जाने के समय तक बैठे नहीं रहते, उन कर्मों से तत्काल, उसी समय, उनका फल—'संस्कार'—बन जाते हैं, उनका मस्तिष्क पर 'आलेखन' (Engram) हो जाता है, वे मस्तिष्क की 'नेमे'-शक्ति के द्वारा संस्कारों के रूप में संचित हो जाते हैं। जैसे भोजन के फलस्वरूप शरीर बन जाता है, भोजन का एक-एक अंश बैठा न रहकर शरीर के तत्त्वों में बदल जाता है, वैसे 'कर्म' जो मानसिक भोजन हैं, उनके फलस्वरूप संस्कार बन जाते हैं। शरीर बन जाने के बाद उस भोजन से हमें नहीं उलझना पड़ता जो हमने खाया था, शरीर से उलझना पड़ता है, इसी प्रकार संस्कार बन जाने के बाद उन भिन्न-भिन्न कर्मों से हमें नहीं उलझना पड़ता जो कर्म हमने किये थे, हमें संस्कारों से ही उलझना पड़ता है। ये संस्कार ही कर्मों का लेखा है। इन सब कर्मों को एक-एक करके भोगना नहीं पड़ता। ये संस्कार ही कर्मों के भोग हैं, एक-एक कर्म के भोग, क्योंकि कोई कर्म संस्कार छोड़े बगैर नहीं रहता। अच्छे कर्मों का या तो तुरन्त अच्छा फल मिल जाता है, या अच्छे कर्मों से मस्तिष्क पर अच्छा संस्कार लिखा गया, अच्छे संस्कार के मस्तिष्क पर लिखे जाने से अच्छी रुचि बन गई, अच्छी दिशा की तरफ मनुष्य चल पड़ा। यह शुभ संस्कार, शुभ रुचि, शुभ प्रवृत्ति ही अच्छे कर्मों का भोग है, फल है, परिणाम है—अब सब कर्मों को अपनी-अपनी बारी तक बैठे रहने की जरूरत नहीं रहती। बुरे कर्मों का भी या तो तुरन्त फल मिल जाता है, या उनसे मस्तिष्क पर बुरा संस्कार लिखा गया, बुरी रुचि बन गई, मनुष्य बुरी दिशा की तरफ चल पड़ा। संस्कारों का रूप धारण कर लेने के बाद कर्म की अलग-से सत्ता नहीं रहती, इन संस्कारों का बन जाना ही कर्मों का भुगतान है।

आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में जाता हुआ, या इस जन्म में ही अपना जीवन

बिताता हुआ, भिन्न-भिन्न कर्मों की गठड़ी को अपने ऊपर लादे नहीं फिरता। जैसे वृक्ष बीज में समा जाता है, वृक्ष बीज का ही फैलाव है, विस्तार है, वैसे कर्म—अनन्त कर्म—बीज रूप में संस्कार में समा जाते हैं, कर्म, संस्कार का ही फैलाव है/विस्तार है, अनन्त कर्म सिमिटकर संस्कार में आ बैठते हैं। 'बाह्य-संवेदनों' (External impressions) का या कर्मों की निशानी, उनकी रेखा, उनका 'आलेखन' (Engram) मस्तिष्क पर पड़ता है—इस बात को वर्त्तमान मनोविज्ञान कहता है। ये निशानियाँ अपने मौलिकरूप में मस्तिष्क में नहीं बनी रहतीं, मस्तिष्क की 'संचय-शक्ति' (Mneme) के कारण इन सबका मानो एक घोल बनकर मस्तिष्क का वर्त्तमान बन जाता है—यह बात भी आज का मनोविज्ञान मानता है। इसमें हम सिर्फ इतना जोड़ देते हैं कि मस्तिष्क पर बाह्य-संवेदनों या कर्मों के आलेखन के बाद जो रचना बन गई वह संस्कारों का फल है। संस्कार इस जन्म या जन्म-जन्मान्तरों में आत्मा के साथ रहते हैं, उसे छोड़ते नहीं। वे किस प्रकार आत्मा के साथ बने रहते हैं—इसकी हम आगे चर्चा करेंगे। जब संस्कार आत्मा के साथ आ गये, तब इस बात को जानने की जरूरत नहीं रहती कि अमुक कर्म हमने किया था, उसका क्या हुआ, क्या नहीं हुआ। जिन कर्मों का तत्काल फल मिल गया वह तो मिल गया, जिनका नहीं मिला वे कर्म मस्तिष्क पर अपना 'आलेखन' (Engram)—संस्कार—छोड़ जाते हैं, वैसे-के-वैसे नहीं बने रहते। संस्कारों का सिद्धान्त ही यह है कि हमें एक-एक कर्म से वास्ता नहीं पड़ता, हमारा वास्ता संस्कारों से, मनुष्य की रुचि से, प्रवृत्ति से रह जाता है, कर्मों का प्रश्न संस्कारों के बन जाने पर समाप्त हो जाता है और इसके बाद हमारी असली समस्या भिन्न-भिन्न कर्म नहीं रहते, संस्कार हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, हम एक कटोरी में केसर डालते हैं। वह कुछ दिन उसमें पड़ा रहता है, बाद को उसे फेंक देते हैं। केसर के फेंक देने के बाद भी कटोरी में केसर की बास बनी रहती है। यह बास क्यों बनी रहती है जब केसर का एक-एक बाल फेंक दिया गया? यह केसर का संस्कार है। इसी प्रकार हमारे भिन्न-भिन्न कर्म—अच्छे हों, बुरे हों—मस्तिष्क पर अपनी बास छोड़कर चले जाते हैं। कर्मों की यह बास ही संस्कार कहलाते हैं। इसे एक दूसरे उदाहरण से समझें। फर्श पर हमने पानी बहा दिया। पानी एक दिशा में बहकर निकल गया, सूख गया। अब जब हम वहाँ दोबारा पानी बहाते हैं तब वह उसी दिशा में बहता है। क्यों? इसलिये क्योंकि पहले बहाव ने एक दिशा बना दी थी, एक रास्ता खींच दिया था, अब दूसरे बहाव को वह बना-बनाया रास्ता मिल गया। इसी को संस्कार कहते हैं। इस दृष्टि से हमारी समस्या यह नहीं रहती कि इस जन्म के और जन्म-जन्मान्तरों के करोड़ों कर्मों को सिर्फ इस जन्म के संस्कारों से कैसे हल किया जाये, हमारी समस्या भिन्न-भिन्न जन्मों के करोड़ों कर्म नहीं रह जाते, असली समस्या संस्कारों की रह जाती है।

प्रत्येक वस्तु कम-से-कम बाधा—'न्यूनतम प्रतिरोध'—के नियम (Law of least resistance) को चुनती है, इसलिये एक बार कर्म जिस मार्ग पर चल चुका हो, जिसका हल्का-सा भी संस्कार पड़ गया हो, अगली बार उस मार्ग से चलना आसान हो जाता है, होते-होते वह मार्ग स्वाभाविक हो जाता है। यह स्वभाव क्या है? स्वभाव प्रत्येक कर्म का योग-फल है। इस योग-फल का क्या नतीजा निकलता है? उदाहरणार्थ, पहली बार चोर ने डरते-डरते चोरी की थी, चोरी के मार्ग पर पहली बार चला था इसलिये भय तो लगा था, परन्तु चोरी कर डाली थी, पकड़ा नहीं गया था, इसलिये चोरी करने का संस्कार पड़ गया। दूसरी बार कम भय लगा तीसरी बार दिलेरी से चोरी की, चौथी बार पकड़ा गया और संस्कारों के जमा होते-होते यह नतीजा हुआ कि जेल की काल-कोठरी में जा पहुँचा। पहली बार चोरी कर चुकने के बाद न पकड़े जाने पर यह समझना कि चोरी कर ली, फल से बच गये, गलत धारणा है, क्योंकि अन्त में जाकर जो काल-कोठरी में जा बैठे वह शुरु में की गई चोरी का ही संस्कार-पर-संस्कार पड़ते रहने पर जो जोड़ जमा हो गया उसीका यह प्रत्यक्ष फल है।

तो फिर ये संस्कार रहते कहाँ हैं? हम ऊपर कह आये हैं कि भौतिकवाद के अनुसार 'बाह्य-संवेदनों' (External impressions) या हमारे कर्मों की निशानी, उनकी रेखा, उनका 'आलेखन' (Engrams) मस्तिष्क पर पड़ता रहता है, जिससे मस्तिष्क के 'ग्रे-मैटर' में 'परिवर्तन' (Modification) होता रहता है, परन्तु जो लोग पुनर्जन्म को माननेवाले हैं, उनसे प्रश्न हो सकता है कि मरने के बाद 'ग्रे-मैटर' या मस्तिष्क तो भस्म हो जाता है, फिर उन संस्कारों का निवास कहाँ रहता है, जिन्हें हम कहते हैं कि आत्मा उन्हें जन्म-जन्मान्तर तक लिये फिरता है?

५. संस्कार सूक्ष्म-शरीर में रहते हैं

भारतीय-दर्शन ने इस स्थूल-शरीर के भीतर एक सूक्ष्म-शरीर को माना है। आत्मा अभौतिक है, उसका भौतिक स्थूल-शरीर से सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता। माध्यम के तौर पर अभौतिक आत्मा तथा भौतिक-शरीर के बीच में 'सूक्ष्म-शरीर' आता है। यह इतना सूक्ष्म है कि अभौतिक के समान है और क्योंकि यह प्रकृति के सूक्ष्म-तत्त्वों से बना है, इसलिये यह भौतिक के समान भी है। अभौतिक होने के कारण इसका आत्मा से सीधा सम्बन्ध है, भौतिक होने के कारण इसका स्थूल-शरीर से, मस्तिष्क से, मस्तिष्क पर पड़े 'आलखनों' (Engrams) से भी सीधा सम्बन्ध है। यही कारण है कि मस्तिष्क पर जो भौतिकरूप से संस्कार पड़ते हैं, रेखाएँ खिंचती हैं, जिनका जोड़ होकर मनुष्य का 'स्वभाव' बन जाता है, वह सब मस्तिष्क से चलकर सूक्ष्म-शरीर में आ पहुँचाता है। अब हमारे संस्कारों का क्षेत्र मस्तिष्क न रहकर सूक्ष्म-शरीर हो जाता है जो भौतिक-देह के मर जाने पर भी नहीं मरता, जो

संस्कारों के निचोड़ को, हमारे स्वभाव को जन्म-जन्मान्तर में अपने-साथ लिये फिरता है। सूक्ष्म-शरीर का स्थूल-शरीर के साथ सम्बन्ध नाभि-प्रदेश से होता है। तभी जब कोई दुर्घटना अचानक होने लगती है तब पहले एकदम नाभि-स्थल पर घबराहट मालूम होती है। योग में जिन सात चक्रों का वर्णन आता है वे चक्र सूक्ष्म-शरीर तथा स्थूल-शरीर के सम्बन्ध के स्थल हैं। सूक्ष्म-शरीर, आत्मा का, शरीर को इस्तेमाल करने का साधन है। जैसे मोटर को चलाने के लिये पैट्रोल की टंकी को चाबी दी जाती है, वैसे शरीर की गाड़ी को चलाने के लिये आत्मा सूक्ष्म-शरीर को 'कंपन' (Vibration) देता है। मृत्यु स्थूल-शरीर की होती है, सूक्ष्म-शरीर की नहीं। सूक्ष्म-शरीर सदा आत्मा के साथ बना रहता है, तब तक आत्मा के साथ बना रहता है जब तक मुक्ति नहीं हो जाती। हमारे विचार, हमारे अनुभव, हमारे संस्कार—इन सबका संगृहीत रूप, सिमटा हुआ रूप, बीज रूप में इस सूक्ष्म-शरीर में रहता है। कर्मों के फल की जो समस्या थी—यह समस्या कि एक-एक कर्म का फल कैसे मिलता है, वे कर्म जब तक उनका फल नहीं मिलता किस बहीखाते में लिखे पड़े रहते हैं, इस समस्या का उत्तर सूक्ष्म-शरीर है। बीज में वृक्ष की तरह इसी सूक्ष्म-शरीर में सब कुछ समाया रहता है और कर्मों के ढेर को मानो एक घोल में हल करके संस्कारों की शक्ल में लेकर आत्मा का यह सेवक—सूक्ष्म-शरीर—जन्म-जन्मान्तरों तक आत्मा के लिये ढोये फिरता है।

सूक्ष्म-शरीर की सत्ता का शास्त्रों में जो प्रमाण मिलता है, उसके अलावा यह हम सबके अनुभव में भी आता है। जब हम सो जाते हैं तब स्वप्न में बिना इस स्थूल-शरीर की आँखों के हम देखते हैं, बिना स्थूल-शरीर के कानों के हम सुनते हैं, बिना स्थूल-शरीर के पाँवों को हिलाये हम भागते हैं। यह बिना आँख के देखनेवाला, बिना कान के सुननेवाला, बिन पाँवों के भागनेवाला अगर सूक्ष्म-शरीर नहीं तो कौन है? जाग्रत-अवस्था में भी कभी-कभी आँखों के खुले रहने पर भी हम नहीं देखते, कानों में शब्द के चोट करने पर भी हम नहीं सुनते—क्यों नहीं देखते जब आँखें खुली हैं, क्यों नहीं सुनते जब कान खुले हैं? यह सब इसलिये क्योंकि सूक्ष्म-शरीर कहीं और लगा है। यह तो अनिच्छापूर्वक सूक्ष्म-शरीर का अन्यत्र लगना है, इच्छापूर्वक भी हम सूक्ष्म-शरीर का स्थूल-शरीर से सम्बन्ध तोड़ सकते हैं। उदाहरणार्थ, नाक के सामने फूल लाया जाए और हम सूँघने की इन्द्रिय का प्रतिरोध करके न सूँघें, कानों के सामने विषय लाया जाए और हम सुनने की इन्द्रिय का प्रतिरोध करके न सुनें, आँख के पास आँख का विषय लाया जाए और हम इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर आँख खुली रहने पर भी विषय को न देखें—ऐसा हो सकता है। योगी लोग सूक्ष्म-शरीर को स्थूल-शरीर से जुदा कर अन्यत्र जा सकते हैं। शङ्कराचार्य ने इस सूक्ष्म-शरीर से ही परकाया-प्रवेश किया था।

हमारे यह सब लिखने का उद्देश्य इतना ही है कि कर्मों का फल मिलने के लिये अलग-अलग कर्म का फल मिलने की जरूरत नहीं पड़ती, सब कर्म मिलकर एक जोड़ में शामिल हो जाते हैं, यह जोड़ मनुष्य का स्वभाव, उसके जीवन की दिशा का रूप धारण कर लेता है, पहले इन कर्मों का स्थान मनुष्य का भौतिक मस्तिष्क होता है, जिसपर संस्कारों के रूप में कर्मों का 'आलेखन' (Engram) होता रहता है, उसके बाद कर्म या संस्कार अलग-अलग न रहकर बीजरूप में मनुष्य के सूक्ष्म-शरीर में चले जाते हैं, यह सूक्ष्म-शरीर अलग-अलग कर्मों का बहीखाता ढोने के बजाय सब कर्मों को संस्कारों के रूप में जन्म-जन्मान्तर तक लिये रहता है। इस सूक्ष्म-शरीर को शास्त्रों में 'कारण-शरीर' भी कहा है। 'कारण-शरीर' इसलिये कहा है, क्योंकि आगे जो कुछ बनना है उसका ये संस्कार ही कारण हैं।

वैदिक-संस्कृति का कहना है कि आत्मा के इस 'सूक्ष्म-शरीर' या 'कारण-शरीर' में—अर्थात् संस्कारों के शरीर में, जन्म धारण कर लेने के बाद तो संस्कार डलते ही हैं, जन्म लेने से पहले भी—जब वह माता के पेट में होता है—तब भी नये संस्कार डाले जा सकते हैं। 'सूक्ष्म-शरीर' या 'कारण-शरीर' में नये संस्कारों का पड़ जाना—यही संस्कारों की पद्धति का रहस्य है। 'कारण-शरीर' में जो संस्कार पड़ जायेंगे, चाहे पुराने चले आ रहे हों, चाहे नये पड़े हों? वे एक तरह के बीज होंगे, जो इस जन्म में फूटेंगे। नये संस्कारों द्वारा ही पुराने संस्कारों को बदला जा सकता है, तब आत्मा के एक-एक कर्म के पड़ताल की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जन्म-जन्मान्तर के कर्मों का निचोड़ ही तो संस्कार हैं, संस्कार में एक कर्म नहीं, अनेक कर्मों का जोड़ मिला रहता है, उस जोड़ के भुगतने में ही सब कर्म भुगत जाते हैं। वृक्ष की टहनियों तक रस पहुँचाने के लिये एक-एक टहनी में रस डालने की आवश्यकता नहीं होती, उसकी जड़ में रस डालने से टहनी-टहनी में, पत्ते-पत्ते में रस पहुँच जाता है। संस्कारों को पकड़ने से कर्मरूपी वृक्ष की एक-एक टहनी, उसका एक-एक पत्ता, रेशा-रेशा हाथ आ जाता है। एक-एक कर्म से उलझने की आवश्यकता नहीं रहती, एक-एक टहनी को पकड़ने की आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार कर्मों की जटिल समस्या को संस्कारों द्वारा हल करने का वैदिक संस्कृति ने प्रयत्न किया था और मानव के नव-निर्माण के विचार को जन्म दिया था। वैदिक-संस्कृति के सोलह संस्कार मानव के नव-निर्माण का सतत प्रयत्न है।

६. नये संस्कारों द्वारा पुराने संस्कारों को बदला जा सकता है

जो आत्मा नया शरीर धारण करनेवाला है, वह कुछ पुराने संस्कारों को लेकर आता है। ये संस्कार उसके 'कारण-शरीर' का अंग हैं। 'कारण-शरीर' या 'सूक्ष्म-शरीर' वह शरीर है जो आत्मा के इस जन्म के मन तथा स्थूल-शरीर को बनाता है।

अगर इस 'कारण' या 'सूक्ष्म' शरीर में पिछले जन्मों से बुरे संस्कार चले आ रहे हैं और हम आत्मा के स्थूल-शरीर का रूप धारण करने से पहले उन सूक्ष्म बुरे संस्कारों पर चोट या प्रहार नहीं करते, उन्हें बदलने का यत्न नहीं करते, तो ये संस्कार जैसे हैं वैसा ही तो मानव जन्म लेगा। वैदिक विचारधारा के अनुसार नव-मानव का निर्माण करने के लिये, मानव के जन्म लेने से पूर्व, उस समय जब वह अभी माता के गर्भ में है, उसके संस्कारों के शरीर में—जो शरीर इस जन्म का कारण है, जिसे 'सूक्ष्म-शरीर' के नाम से पुकारा जाता है—नव-मानव को जन्म देनेवाले स्त्री-पुरुष अपने विचारों के वेग से, बल से, उनकी उग्रता से नवीन संस्कार डालने का यत्न करते हैं। नव-मानव की उत्पत्ति माता-पिता के रज-वीर्य से ही तो होती है। यह रज-वीर्य ही नव-मानव के 'सूक्ष्म-शरीर'-'कारण-शरीर' का आधार बननेवाला है। माता-पिता के जैसे विचार होंगे, उनका रज-वीर्य वैसे विचार तथा स्वभाव वाले सूक्ष्म-शरीर वाले आत्मा को अपनी तरफ खींचेगा। शुद्ध विचारों वाले माता-पिता के रज-वीर्य की तरफ जो संस्कारों का शरीर—'सूक्ष्म-शरीर' या 'कारण-शरीर'—खिंचेगा, उसमें जन्म लेने से पूर्व ही उसके पुराने संस्कारों, रुचियों, स्वभाव तथा प्रवृत्तियों पर माता-पिता द्वारा अपने रज-वीर्य के माध्यम से दिये हुए संस्कारों की एक ऐसी चोट लग जायेगी, जिससे जन्म लेने के बाद मानव के जीवन की दिशा सुपथगामी रहेगी, वह थोड़े-बहुत पुराने संस्कारों के होते हुए भी माता-पिता के शुद्ध संस्कारों के कारण, नई दिशा की तरफ खिंचेगा। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या विचारों में इतना बल है कि वह सीधा रज-वीर्य पर इस प्रकार पड़ सके, जिससे नया जीवन धारण करनेवाले जीव के पुराने संस्कारों को बदला जा सके? वैदिक-संस्कृति के विचारक तो ऐसा ही मानते थे और इसीलिए उन्होंने नया जीवन लेनेवाले जीव को संस्कारों के घेरे में बन्द कर दिया था। वे मानते थे कि जैसे बीज के भीतर, उसकी रचना में ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है, जिससे उत्कृष्टतर पौधा उत्पन्न हो, वैसे आत्मा के जन्म लेने से पूर्व उसके 'सूक्ष्म-शरीर', 'कारण-शरीर', 'संस्कारों के शरीर' में माता-पिता सशक्त, वेगवान् विचारों द्वारा रज-वीर्य के माध्यम से, जिस माता के पेट में उसने ९ मास रहना है, जिसके अंग-अंग से उसने जीवन लेना, जिसके हृदय से उसका हृदय, जिसके मस्तिष्क से उसका मस्तिष्क बनना है, उस माता के माध्यम से ऐसा परिवर्तन किया जा सकता है, जिससे पुराने संस्कारों को बिलकुल बदला जा सके, बुरे विचार हों तो उन्हें सामर्थ्यहीन बनाया जा सके और एक नव-मानव का निर्माण किया जा सके। तभी तो जो संस्कृति चारों तरफ से कर्मों के जाल से जकड़ी हुई थी, उसी संस्कृति का कथन था कि संस्कारों द्वारा गर्भस्थ-शिशु को बिलकुल बदला जा सकता है, उसे नये संस्कारों से प्रभावित किया जा सकता है, संसार में एक नई पीढ़ी को उत्पन्न किया जा सकता

है। मानव के नव-निर्माण में वैदिक-संस्कृति ने दो तरफ से उद्योग किया था। बच्चों को जन्म लेने से पहले हम जो चाहे बना सकते हैं—इसका उपाय माता-पिता का गर्भस्थ-शिशु का आवाहन करने से पहले अपने निजी संस्कारों को सबल बनाना था। जिस प्रकार के उनके विचार होंगे उसी स्वभाव वाला 'कारण-शरीर'-'सूक्ष्म-शरीर' उनकी तरफ खिंचेगा। नव-मानव के निर्माण करने के लिये यह पहला उद्योग था। इसका आधार 'वंश' (Heredity) था। दूसरा उद्योग बालक को ऐसे 'पर्यावरण' (Environment) से घेर देना था जिससे उसका सम-विकास होता जाये। इसके लिये अन्य सब संस्कारों की रचना की गई थी। यह समझना कि वैदिक-संस्कति कर्मों के लेखे को ऐसा दुर्भेद्य दुर्ग समझती थी जिसमें कैद होकर व्यक्ति बाहर नहीं निकल सकता था, जन्म-जन्मान्तर तक वह माथे की लकीर को पीटता रहता था, उस संस्कृति की आत्मा को भूल जाना है। अगर कर्मों की दीवार को वैदिक-संस्कृति एक दुर्भेद्य दीवार समझती, यह समझती कि एक-एक कर्म को जब तक भोग नहीं लिया जाता तब तक आगे कदम नहीं रखा जा सकता, तो संस्कारों की पद्धति को कभी जन्म न देती। कर्म भोगे जाते हैं परन्तु संस्कारों के रूप में और इसलिये संस्कारों द्वारा उन्हें बदला भी जा सकता है। जिन संस्कारों को हम बदलते हैं वे उस आत्मा के होते हैं जिसे जन्म लेना है या जिसने जन्म ले लिया है, जिन संस्कारों द्वारा पुराने संस्कारों को हम बदलते हैं वे माता-पिता के होते हैं, उन आत्माओं के होते हैं, जिन्होंने जन्म देना है, या जिन्होंने किसी आत्मा को जन्म देने के बाद उसे ऐसे 'पर्यावरण' से घेर देना है, जिसमें नये प्राणी का नव-निर्माण हो सके। माता-पिता के संस्कार भी कर्मों के एक लम्बे-चौड़े चक्र में पड़कर बने होते हैं। उन्होंने अनेक कर्म किये, अच्छे किये, बुरे किये, उन सबसे उनके संस्कार बने, उनकी रुचि बनी, प्रवृत्ति बनी, जीवन की दिशा बनी। संस्कार पद्धति के द्वारा माता-पिता से यह आशा की जाती है कि जब वे किसी नवीन जीव का आवाहन करें, तो अपने संस्कार ऐसे प्रबल और सशक्त बनायें जिससे वे अपनी सन्तति को अपने संस्कारों द्वारा प्रभावित कर सकें। एक व्यक्ति अपनी प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति को, अपनी रुचि से दूसरे की रुचि को, अपनी दिशा से दूसरे की दिशा को, अपने संस्कारों से दूसरे के संस्कारों को बदल सकता है। इसी में संस्कार-पद्धति द्वारा मानव के नव-निर्माण का रहस्य छिपा हुआ है।

ऊपर हमने इतने विस्तार से जो कुछ लिखा वह लिखने की आवश्यकता इसलिये हुई क्योंकि हम पुनर्जन्म को मानते हैं, आत्मा जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों का बोझा उठाये फिरता है—यह मानते हैं। इससे जन्मों के कर्मों को इस एक जन्म के संस्कारों से कैसे प्रभावित किया जा सकता है—इस शंका का समाधान चाहिए—इसलिये यह सब कुछ लिखने की आवश्यकता हुई। इसके अतिरिक्त जन्म-जन्मान्तर

के इतने कर्म, उन सब कर्मों के फलों का भोग कैसे होता है—यह भी समस्या है, इसका भी समाधान चाहिए। फिर, कर्म का सिद्धान्त तो मनुष्य को बाँध देता है, उसे स्वतन्त्र नहीं रहने देता। संस्कारों का सिद्धान्त मनुष्य को स्वतन्त्र बना देता है, संस्कारों से मनुष्य जन्म-जन्मान्तरों के संचित संस्कारों को बदल सकता है—इन सब समस्याओं का समाधान आवश्यक है। यही सब सामने रखकर संस्कारों के सम्बन्ध में दार्शनिक विचार करना पड़ा। परन्तु जो लोग आत्मा के जन्म-जन्मान्तर नहीं मानते, कर्मों का बखेड़ा नहीं मानते, यह जन्म है, दूसरा कोई जन्म नहीं, इसी जन्म से हम शुरु करते हैं, इसी में समाप्त कर देते हैं—यह मानते हैं, उनके लिए यह सारी समस्या बड़ी सरल है। उनके लिये समस्या सिर्फ माता-पिता के संस्कारों तथा सामाजिक पर्यावरण की रह जाती है। बच्चा अपने ही माता-पिता के संस्कार 'वंश' (Heredity) से ग्रहण करता है और जन्म लेकर जिस सामाजिक-पर्यावरण (Social environment) में रहता है, उससे भी संस्कार ग्रहण करता है। माता-पिता के जैसे संस्कार होंगे और जैसी परिस्थिति में बच्चे रखे जायेंगे, वे वैसे बनते जायेंगे। इन लोगों के लिये समस्या इतनी सरल है कि इस सरलता के कारण ही इनका नव-मानव के निर्माण की तरफ कोई ध्यान नहीं गया, गया भी है तो अभी वे भौतिक-परिस्थिति के सुधार पर ही डटे हुए हैं। कर्म तथा जन्म-जन्मान्तर मानने वाली वैदिक-संस्कृति के लिये तो एक विकट समस्या है। कर्म एक इतनी बड़ी रुकावट है, जिससे मानव-समाज एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। इस रुकावट को देखकर वैदिक-संस्कृति की चेतना ने मानव के नव-निर्माण के एक बिलकुल नवीन विचार को जन्म दिया और संस्कारों की एक ऐसी पद्धति को प्रचलित किया जिसका उद्देश्य ही मानव-समाज को लगातार बदलते-बदलते ऊँचे स्तर पर ले जाना था। समाज के नव-निर्माण के लिये नये समाज को बनाना होगा, समाज तब बदलेगा जब एक-एक मनुष्य बदलेगा, एक-एक मनुष्य तब बदलेगा जब उसके निर्माण के समय पहले नक्शा खींच लिया जायेगा, नक्शा सामने रखकर उसका निर्माण होगा। जैसे मकान बनाया जाता है, मकान बनाने से पहले उसकी रूप-रेखा बना ली जाती है, एक-एक ईंट, एक-एक पत्थर उस रूप-रेखा के अनुसार चिना जाता है, ऐसे ही जब पहले मानव के निर्माण की रूप-रेखा बनेगी, उस रूप-रेखा के अनुसार ही जब उसकी रचना होगी, तब यह संसार एक नया संसार होगा, इस योजना के अनुसार जन्म लेने वाले मनुष्य नये मनुष्य होंगे। अब तक संसार में जितनी भी संस्कृतियाँ हुई हैं, उनमें वैदिक-संस्कृति के कर्णधारों ने ही मानव के रूपान्तरण का स्वप्न लिया था और उस रूपान्तरण का रूप संस्कार-पद्धति को जन्म देना था।

१९वीं शताब्दी में इस देश में कई ऐसे महामानव हुए जिन्होंने सदियों से अन्धकार में पड़े इस देश के भाग्य को पलटा दिया। उन्हीं में मूर्धन्य-स्थान पर ऋषि

दयानन्द का नाम लिया जा सकता है। ऋषि दयानन्द ने जिस विचारधारा को जन्म दिया उसे वैदिक-संस्कृति का पुनरुद्धार कहा जा सकता है। इसी सिलसिले में उन्होंने 'संस्कार-विधि' की रचना की जिसका उद्देश्य नव-मानव के निर्माण की योजना को प्रस्तुत करना था। इस ग्रन्थ में मानव के नव-निर्माण के लिए सोलह संस्कारों का विधिवत् वर्णन है। ये संस्कार ऋषि दयानन्द के अपने चलाये हुए नहीं हैं। वैदिक ग्रन्थों के आधार पर ही उन्होंने 'संस्कार-विधि' ग्रन्थ की रचना की। इन संस्कारों से मानव का नव-निर्माण कैसे सम्भव है—यह स्पष्ट करना ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य है।

संस्कार-पद्धति का स्वप्न मानव का ही रूपान्तरण नहीं था, मानव के रूपान्तरण द्वारा हर दो दशक के बाद युग को ही बदल देना था। आज जो बच्चे जन्म लेते हैं, बीस बरस बाद वे युवा हो जानेवाले हैं। पुरानी पीढ़ी का स्थान वही लेंगे। वे जैसे होंगे वैसा युग होगा। माता-पिता तथा समाज के मस्तिष्क को बदलकर हिटलर ने बीस बरस में एक अनहोनी युवा-पीढ़ी का निर्माण कर दिया था। यह नई पीढ़ी उन विचारों, संस्कारों का मूर्त्त-रूप थी जो जर्मनी के एक कोने से दूसरे कोने तक एक लहर के तौर पर बहने लगी थी। जिस प्रकार के युवकों का हम आज निर्माण कर रहे हैं, बीस साल के बाद वे ही समाज के कर्त्ता-धर्त्ता होंगे। अगर संस्कार-पद्धति के रहस्य को समझकर हर माता-पिता प्रण कर ले कि वे सन्तान में ऐसे संस्कारों का आधान करेंगे, जिससे वे उनसे उत्कृष्ट-कोटि के हों, तो हर बीस-पच्चीस साल के बाद एक नई पीढ़ी का, एक नये युग का आगमन होगा। आज माता-पिता के पतनोन्मुखी संस्कारों में पली हुई सन्तान के कारण हर बीस साल के बाद समाज में विषय-लोलुपता, स्वार्थ तथा भ्रष्टाचार की लहर वेग से उठ खड़ी होती है, इन्हीं संस्कारों की दिशा को अगर भावी पीढ़ी के निर्माता ऊर्ध्वगामी दिशा दे दें तो हर बीसवें साल समाज का धरातल ऊपर-ऊपर चढ़ता चला जाए।

मनुष्य को बिलकुल बदल देने, उसमें आमूलचूल परिवर्तन कर देने का जो प्रयास वैदिक-संस्कृति में किया गया था, उसमें दो चार नहीं, सोलह संस्कार हैं। संस्कार आत्मा के जन्म धारण करने के पहले से शुरु हो जाते हैं, कुछ जन्म ग्रहण करने के बाद किये जाते हैं। जन्म ग्रहण करने से पहले जो संस्कार किये जाते थे, उनमें सबसे पहला संस्कार 'गर्भाधान' संस्कार है, वह संस्कार जिसे आज का जड़वादी जगत् विषय-तृप्ति का साधनमात्र समझता है। इस संस्कार को वैदिक-संस्कृति नवीन आत्मा के आवाहन का एक पवित्र-यज्ञ मानती थी। संस्कार-विधि में ऋषि दयानन्द ने गर्भाधान-संस्कार के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है और इस संस्कार को सामने रखकर जो विधि-विधान किये जाते हैं, उनकी सार्थकता के सम्बन्ध में

आगे के एक अध्याय में चर्चा की जायेगी।

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना:

सब संस्कारों के आदि में निम्नलिखित मन्त्रों का अर्थ द्वारा पाठ एक विद्वान् वा बुद्धिमान् पुरुष करे। ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना स्थिर-चित्त होकर परमात्मा में ध्यान लगाकर करे और सब लोग उसमें ध्यान लगाकर सुनें और विचारें।

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आ सुव॥ १॥ —[यजुः० ३०।३]

शब्दार्थ—हे **(सवितः)** सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्ययुक्त **(देव)** शुद्धस्वरूप, सब सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके **(नः)** हमारे **(विश्वानि)** सम्पूर्ण **(दुरितानि)** दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को **(परा, सुव)** हमसे दूर कर दीजिये और **(यत्)** जो **(भद्रम्)** कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव, पदार्थ और प्राणी हैं, **(तत्)** वे सब **(नः)** हमको **(आ, सुव)** प्राप्त कराये॥ १॥

तू सर्वेश, सकल सुखदाता, शुद्ध-स्वरूप विधाता है,
उसके कष्ट नष्ट हो जाते जो तेरे ढिग आता है।
सारे दुर्गुण दुर्व्यसनों से हमको नाथ! बचा लीजे,
मंगलमय गुण-कर्म-पदार्थ प्रेम-सिन्धु हमको दीजै॥

ओं हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥
—[यजुः० १३।४]

शब्दार्थ—जो **(हिरण्यगर्भः)** स्वप्रकाशस्वरूप और जिसने प्रकाश करनेहारे सूर्य-चन्द्रादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं, जो **(भूतस्य)** उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत् का **(जातः)** प्रसिद्ध **(पतिः)** स्वामी **(एकः)** एक ही चेतनस्वरूप **(आसीत्)** था, जो **(अग्रे)** सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व **(समवर्तत)** वर्तमान था, **(सः)** सो [=वह] **(इमाम्)** इस **(पृथिवीम्)** भूमि **(उत)** और **(द्याम्)** सूर्यादि को **(दाधार)** धारण कर रहा है, हम लोग उस **(कस्मै)** सुखस्वरूप **(देवाय)** शुद्ध परमात्मा के लिये **(हविषा)** ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से **(विधेम)** विशेष भक्ति किया करें।

तू ही स्वयं-प्रकाश, सुचेतन, सुख-स्वरूप त्राता है,
सूर्य-चन्द्र लोकादिक को तू रचता और टिकाता है।
पहले था, अब भी तू ही है घट-घट में व्यापक स्वामी,
योग, भक्ति, तप द्वारा तुझको पावें हम अन्तर्यामी॥

ओं य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

—[यजुः० २५।१३]

शब्दार्थ—(**यः**) जो (**आत्मदाः**) आत्मज्ञान का दाता (**बलदाः**) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देनेहारा (**यस्य**) जिसकी (**विश्वे**) सब (**देवाः**) विद्वान् लोग (**उपासते**) उपासना करते हैं और (**यस्य**) जिसका (**प्रशिषम्**) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन, न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं, (**यस्य**) जिसका (**छाया**) आश्रय ही (**अमृतम्**) मोक्ष सुखदायक है, (**यस्य**) जिसका न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (**मृत्युः**) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है, हमलोग उस (**कस्मै**) सुखस्वरूप (**देवाय**) सकल ज्ञान के देनेहारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (**हविषा**) आत्मा और अन्तःकरण से (**विधेम**) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञा पालन करने में तत्पर रहें।

तू ही आत्मज्ञान बल-दाता, सुयश विज्ञजन गाते हैं,
तेरी चरण-शरण में आकर, भव-सागर तर जाते हैं।
तुझ को ही जपना जीवन है, मरण तुझे बिसराने में,
मेरी सारी शक्ति लगे प्रभु! तुझ से लगन लगाने में॥

ओं यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

—[यजुः० २३।३]

शब्दार्थ—(**यः**) जो (**प्राणतः**) प्राणवाले और (**निमिषतः**) अप्राणिरूप (**जगतः**) जगत् का (**महित्वा**) अपने अनन्त महिमा से (**एक इत्**) एक ही (**राजा**) राजा (**बभूव**) विराजमान है (**यः**) जो (**अस्य**) इस (**द्विपदः**) मनुष्यादि और (**चतुष्पदः**) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (**ईशे**) रचना करता है, हम लोग उस (**कस्मै**) सुखस्वरूप (**देवाय**) सकलैश्वर्य के देनेहारे परमात्मा की उपासना के लिये (**हविषा**) अपनी सकल उत्तम सामग्री को उसकी आज्ञा पालन में समर्पित करके (**विधेम**) विशेष भक्ति करें।

तूने अपनी अनुपम माया से जग-ज्योति जगाई है,
मनुज और पशुओं को रचकर निज महिमा प्रगटाई है।
अपने हिय-सिंहासन पर श्रद्धा से तुझे बिठाते हैं,
भक्ति-भाव की भेंटे लेकर तब चरणों में आते हैं॥

ओं येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

—[यजुः० ३२।६]

शब्दार्थ—(**येन**) जिस परमात्मा ने (**उग्रा**) तीक्ष्ण स्वभाववाले (**द्यौः**) सूर्य आदि (**च**) और (**पृथिवी**) भूमि को (**दृढा**) धारण (**येन**) जिस जगदीश्वर ने (**स्वः**) सुख को (**स्तभितम्**) धारण और (**येन**) जिस ईश्वर ने (**नाकः**) दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है। (**यः**) जो (**अन्तरिक्षे**) आकाश में (**रजसः**) सब लोक-लोकान्तरों को (**विमानः**) विशेष मानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं, वैसे सबलोकों को निर्माण करता और भ्रमण करता है, हम लोग उस (**कस्मै**) सुखदायक (**देवाय**) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (**हविषा**) सब सामर्थ्य से (**विधेम**) विशेष भक्ति करें।

तारे, रवि, चन्द्रादिक रचकर निज प्रकाश चमकाया है,
धरणी को धारणकर तूने कौशल अलख लखाया है।
तू ही विश्व-विधाता, पोषक, तेरा ही हम ध्यान धरें,
शुभ भाव से भगवन्! तेरे भजनामृत का पान करें॥

ओं प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

—[ऋ० १०।१२१।१०]

शब्दार्थ—हे (**प्रजापते**) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा (**त्वत्**) आपसे (**अन्यः**) भिन्न दूसरा कोई (**ता**) उन (**एतानि**) इन (**विश्वा**) सब (**जातानि**) उत्पन्न हुए जड़ चेतनादिकों को (**न**) नहीं (**परि, बभूव**) तिरस्कार करता है, अर्थात् आप सर्वोपरि हैं। (**यत्कामाः**) जिस-जिस पदार्थ की कामना वाले हम लोग (**ते**) आपका (**जुहुमः**) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें (**तत्**) वह कामना (**नः**) हमारी सिद्ध (**अस्तु**) होवे, जिससे (**वयम्**) हम लोग (**रयीणाम्**) धनैश्वर्यों के (**पतयः**) स्वामी (**स्याम**) होवें।

तुझसे भिन्न न कोई जग में, सब में तुही समाया है,
जड़-चेतन सब तेरी रचना, तुझमें आश्रय पाया है।
हे सर्वोपरि विभो! विश्व का तूने साज सजाया है,
हेतु रहित अनुराग दीजिये यही भक्त को भाया है॥

ओं स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ ७॥

—[यजुः० ३२।१०]

शब्दार्थ—हे मनुष्यो (**सः**) वह परमात्मा (**नः**) अपने लोगों का (**बन्धुः**) भ्राता के समान सुखदायक, (**जनिता**) सकल जगत् का उत्पादक, (**सः**) वह (**विधाता**) सब कामों का पूर्ण करनेहारा, (**विश्वा**) सम्पूर्ण (**भुवनानि**) लोकमात्र और (**धामानि**) नाम, स्थान, जन्मों को (**वेद**) जानता है और (**यत्र**) जिस

(तृतीये) सांसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त **(धामन्)** मोक्षस्वरूप धारण करनेहारे परमात्मा में **(अमृतम्)** मोक्ष को **(आनशानाः)** प्राप्त होके **(देवाः)** विद्वान् लोग **(अध्यैरयन्त)** स्वेच्छापूर्वक विचरते हैं, वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है, अपने लोग मिल के सदा उसकी भक्ति किया करें।

तू गुरु है, प्रजेश भी तू है, पाप-पुण्य फल-दाता है,
तू ही सखा, बन्धु मम तू ही, तुझसे ही सब नाता है।
भक्तों को इस भव-बन्धन से, तू ही मुक्त कराता है,
तू है अज, अद्वैत, महाप्रभु, सर्वकाल का ज्ञाता है॥

ओं अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम॥ ८॥

—[यजुः० ४०।१६]

शब्दार्थ—हे **(अग्ने)** स्वप्रकाशक ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करनेहारे **(देव)** सकल सुखदाता परमेश्वर! आप जिससे **(विद्वान्)** सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं, कृपा करके **(अस्मान्)** हम लोगों को **(राये)** विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **(सुपथा)** अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से **(विश्वानि)** सम्पूर्ण **(वयुनानि)** प्रज्ञान और उत्तम कर्म **(नय)** प्राप्त कराइये और **(अस्मत्)** हमसे **(जुहुराणम्)** कुटिलतायुक्त **(एनः)** पापरूप कर्म को **(युयोधि)** दूर कीजिये, इस कारण हम लोग **(ते)** आपकी **(भूयिष्ठाम्)** बहुत प्रकार की स्तुतिरूप **(नम उक्तिम्)** नम्रतापूर्वक प्रशंसा **(विधेम)** सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें।

तू है स्वयं प्रकाशरूप प्रभु, सबका सिरजनहार तुही,
रसना निशि-दिन रटे तुम्हीं को, मन में बसना सदा तुही।
अघ-अनर्थ से हमें बचाते रहना, हरदम दयानिधान!
अपने भक्त-जनों को भगवन्! दीजे यही विशद वरदान॥[1]

इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम्॥

---

१. ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना के आठों मन्त्रों का अर्थ ऋषि दयानन्द ने स्वयं संस्कारविधि में दिया है। वे अर्थ हमने दे दिये हैं। उनके नीचे हिन्दी के छन्द सत्य प्रकाश, मथुरा द्वारा प्रकाशित 'नित्य-कर्म-विधि' से लिये गये हैं।

अथ स्वस्तिवाचनम् *

ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ १॥ —[ऋ० १।१।१]

शब्दार्थ—(**पुरोहितम्**) जो सृष्टि रचना से पूर्व ही '**हित**' अर्थात् विद्यमान था, उसकी (**यज्ञस्य**) सृष्टि-रचना-रूप यज्ञ का (**देवम्**) जो प्रकाशक है उस देव की (**ऋत्विजं**) ऋतु अर्थात् सर्गकाल प्राप्त होने पर सृष्टि-यज्ञ का जो विधाता अर्थात् ऋत्विज् है, उसकी (**होतारम्**) सृष्टि-यज्ञ के होता, अर्थात् सृष्टि के निमित्त-कारण की (**रत्नधातमम्**) रमणीय ग्रह-उपग्रहयुक्त ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले की (**अग्निम्**) सबके प्रेरक सृष्टि-यज्ञ के नेता की (**ईडे**) मैं स्तुति करता हूँ।

भावार्थ—मैं यज्ञ के आरम्भ में इस महान् सृष्टि-यज्ञ के नेता, विधाता और उसके धारण करनेवाले प्रकाश-स्वरूप प्रभु की स्तुति करता हूँ।

ओं स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ २॥ —[ऋ० १।१।९]

शब्दार्थ—(**सः**) वह, अर्थात् आप (**अग्ने**) हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! (**नः**) हमारे लिये (**सूपायनः=सु+उप+अयनः**) उत्तम भोग्य पदार्थों को देनेवाले (**भवः** हूजिये (**पिता इव**) पिता के समान (**सूनवे**) पुत्र के लिये (**नः**) हमको (**स्वस्तये**) कल्याण की प्राप्ति के लिये (**सचस्व**) योग्य पदार्थों से युक्त कीजिये।

भावार्थ—आप हमारे लिये उसी प्रकार '**सूपायन**'—अर्थात्, सुगमता से जिसके पास जाया जा सके—ऐसे हूजिये, जैसे पिता के पास पुत्र अपनी प्रार्थना लेकर झट से बिना झिझक के चला जाता है। हम आपके द्वारा दिये गये पदार्थों से—'**स्वस्तये**'—कल्याण को प्राप्त हों, उनका अपनी भलाई के लिये उपयोग करें।

ओं स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना॥ ३॥
—[ऋ० ५।५१।११]

---

* स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण आदि में मन्त्रों का अन्वय हमने किया है, परन्तु शब्दार्थ तथा भावार्थ अधिकांश रूप में हमने श्री युधिष्ठिर मीमांसक कृत 'वैदिक-नित्यकर्म-विधि' से लिये हैं। कहीं-कहीं हमने भिन्न अर्थ भी किये हैं। ऋषि दयानन्द की मूल संस्कारविधि में इन मन्त्रों के अर्थ नहीं दिये गये, मूल-मन्त्र ही दिये गये हैं। संस्कारविधि के अजमेर यन्त्रालय में छपे २५वें संस्करण में इनके अर्थ दिये गये हैं, परन्तु ऋषि की मूल संस्कारविधि में अर्थ नहीं हैं।

शब्दार्थ—(**भगः**) सेवा के योग्य भगवान् तथा (**अश्विनौ**) सृष्टि में सूर्य और चन्द्र तथा समाज में अध्यापक तथा उपदेशक (**नः**) हमारा (**स्वस्ति**) कल्याण (**मिमीताम्—माङ् माने**)—मापकर करें—उतना करें जितने के हम योग्य हों। (**देवी**) दिव्य गुणवाली (**अदितिः**) पृथिवी तथा (**अनर्वणः—ऋ गतौ=अर्वणः= गतिमान्; अनर्वणः=गतिरहित**) पर्वत (**स्वस्ति**) हमारा कल्याण करें; (**असुरः**) जीवनदाता (**पूषा**) मेघ (**नः**) हमें (**स्वस्ति दधातु**) कल्याण देवे (**द्यावापृथिवी**) प्रकाशक तथा प्रकाश्यलोक (**सुचेतुना**) उत्तमज्ञान से (**स्वस्ति**) हमारा कल्याण करें।

भावार्थ—हे प्रभो! सूर्य-चन्द्र, धन-सम्पत्ति, देवी-पृथिवी, अचल-पर्वत, पुष्टिकर्ता-जीवनदाता मेघ और प्रकाशक-प्रकाश्यलोक—ये सभी हमारे लिये कल्याणकारी हों।

ओं स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥ ४॥

—[ऋ० ५।५१।१२]

शब्दार्थ—(**स्वस्तये**) कल्याण के लिये (**वायुम्**) वायु को (**सोमम्**) सोम को (**यः भुवनस्य पतिः**) भुवनों का जो पति सूर्य है, इन्हें (**स्वस्ति उपब्रवामहे**) हम अपने समीप बुलाते हैं, अर्थात् इनके गुणों का ज्ञान कर उनका सम्यक् उपयोग लेते हैं; (**सर्वगणं बृहस्पतिं स्वस्तये उपब्रवामहे**) गण-समुदाय अर्थात् शिष्यों-प्रशिष्यों सहित बृहस्पति—महती विद्या के पालक आचार्य को भी अपने कल्याण के लिये हम पुकारते हैं। (**आदित्यासः**) आदित्य के समान ज्ञान-ज्योतिमय व्यक्ति (**नः स्वस्तये भवन्तु**) हमारे कल्याण के लिये हों।

भावार्थ—हे प्रभो! हम कल्याण के लिये वायु, सोम और भुवन के पति सूर्य का आह्वान करते हैं, अर्थात् इनके गुण-ज्ञान द्वारा इनसे सदुपयोग लेते हैं। वेद-ज्ञान के रक्षक आचार्य को भी शिष्य-प्रशिष्यों सहित कल्याण के लिये हम पुकारते हैं। श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष हमारे लिये कल्याणकारी हों।

ओं विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः॥ ५॥

—[ऋ० ५।५१।१३]

शब्दार्थ—(**अद्य**) आज (**विश्वे देवाः**) सम्पूर्ण देव—ज्ञानी-जन (**नः**) हमारे (**स्वस्तये**) कल्याण के लिये हों, (**वैश्वानरः**) अध्यात्म-अर्थ में सब नरों का हितकारी, आधिभौतिक-अर्थ में सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों को गति देने वाला, (**वसुः अग्निः**) अध्यात्म-अर्थ में सबको बसानेवाला ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, आधिभौतिक-अर्थ में अपने स्वरूप में स्थिर रहनेवाला आहार का पाचक अग्नि (**स्वस्ति**) हमारे कल्याण के लिये हो; (**ऋभवः देवाः**) स्वरूप से प्रकाश-धर्मवाले

दिव्य पदार्थ—सूर्य, विद्युत्, अग्नि **(स्वस्तये अवन्तु)** कल्याण के लिये हमारी रक्षा करें, **(स्वस्ति रुद्रः)** विश्व के कल्याण के लिये पापियों को रुलानेवाला रुद्र **(नः)** हमारी **(अंहसः)** पाप से **(पातु)** रक्षा करे।

भावार्थ—हे प्रभो! सब ज्ञानी-जन हमें कल्याण का उपदेश दें। वैश्वानर, वसु, आहार का पाचक अग्नि हमारे लिये कल्याणकारी हो। स्वरूप से प्रकाश-धर्मवाले अग्नि, विद्युत्, सूर्यरूपी दिव्य-शक्तियाँ कल्याण के लिये हमारी रक्षा करें और परमात्मा का रुद्र **(कठोर)** रूप भी कल्याण के लिये हमारी रक्षा करे।

ओं स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति।
स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि॥ ६॥

—[ऋ० ५।५१।१४]

शब्दार्थ—(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान हमारे लिए **(स्वस्ति)** कल्याणकारी हो **(पथ्ये)** मार्गों पर निष्कण्टक विचरनेवाली **(रेवती)** ऐश्वर्यों से पूर्ण गौएँ **(स्वस्ति)** हमारे लिये कल्याणकारी हों, **(इन्द्रश्च अग्निश्च)** सूर्य और अग्निरूप विद्युत् **(स्वस्ति)** हमारे लिये कल्याणकारी हो, **(अदिते)** हे पृथिवी! **(स्वस्ति नः कृधि)** हमारे लिये कल्याण कर।

भावार्थ—हे प्रभो! प्राण-अपान, मार्गों पर निष्कण्टक विचरनेवाली गौएँ, सूर्य, विद्युत् और पृथिवी हमारे लिये कल्याणकारी हों।

ओं स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥ ७॥ —[ऋ० ५।५१।१५]

शब्दार्थ—(सूर्याचन्द्रमसौ इव) सूर्य और चन्द्र के समान **(स्वस्ति पन्थां)** कल्याणकारी मार्ग का **(अनुचरेम)** हम अनुसरण करें। **(पुनः)** और उक्त बात के साथ हम **(ददता)** देनेवाले दाता के साथ **(अघ्नता)** हनन न करनेवाले के साथ **(जानता)** ज्ञानपूर्वक कार्य करनेवाले के साथ **(संगमेमहि)** संगति करें।

भावार्थ—इस मन्त्र में प्रभु से दो प्रार्थनाएँ की गई हैं। पहली यह कि जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र संसार के कल्याण के लिये अटल मार्ग पर दिन-रात चले जा रहे हैं, वैसा ही उनके अनुरूप हमारा जीवन हो। दूसरी प्रार्थना पहली प्रार्थना के परिणामस्वरूप की गई है कि हमारा संग उन लोगों के साथ हो जो सूर्य-चन्द्र के समान देनेवाले हैं, सूर्य-चन्द्र के समान किसी को नुकसान नहीं पहुँचाते, जिनका कार्य सूर्य-चन्द्र के समान अनजाने भी जाने के समान है। इस प्रकार हमारा जीवन प्रकृति की महान् शक्तियों—सूर्य-चन्द्र के साथ एकतान हो, सूर्य-चन्द्र हमारे मित्र-समान हों। जैसा किसी कवि ने कहा है—**पापान्निवारयति योजयते हिताय, गुह्यानि गूहति गुणान् प्रकटी करोति। आपद्गतं रक्षति, ददाति काले, सन्मित्रलक्षणमिवं प्रवदन्ति सन्तः॥**

ओं ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ८॥

—[ऋ० ७। ३५। १५]

शब्दार्थ—(**ये**) जो (**यज्ञियानाम् देवानाम् यज्ञियाः**) महानुभाव पूजनीय दिव्य गुणों के व्यक्तियों में से भी अधिक पूजनीय हैं (**मनोः**) मनुष्य मात्र के (**यजत्राः**) आदरणीय हैं (**अमृताः**) अमर यशवाले हैं (**ऋतज्ञाः**) सत्य के जानेवाले विद्वान् हैं (**ते नः**) वे हमें (**अद्य**) आज (**उरुगायम्**) प्रशंसा के योग्य महान् यश को (**रासन्ताम्**) प्रदान करें और (**यूयम्**) ऐसे आप लोग आज ही नहीं (**सदा**) हर काल में (**नः स्वस्तिभिः पात**) हमारी अपने कल्याणकारी उपदेशों के द्वारा रक्षा करें।

भावार्थ—संगति करने योग्य मानवों के मध्य भी जो संगति के योग्य उत्कृष्ट पुरुष, मनुष्यमात्र के आदरणीय, अमर यशस्वी और सत्य के जानेवाले विद्वान् हैं, वे हमें महान् यश प्रदान करें और अपने कल्याणकारी उपदेशों द्वारा हमारे मार्ग-भ्रष्ट होने पर मार्गदर्शन द्वारा सदा हमारी रक्षा करें।

ओं येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः।
उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनु मदा स्वस्तये॥ ९॥

—[ऋ० १०। ६३। ३]

शब्दार्थ—(**येभ्यः**) जिनके लिये (**माता**) पृथिवी माता (**मधुमत् पयः**) मिठासयुक्त रस को (**पिन्वते**) प्रदान करती है। (**येभ्यः द्यौः पीयूषम्**) और जिनके लिये द्युलोक अमृत को प्रदान करता है (**येभ्यः अदितिः**) जिनके लिये अखण्डनीय अन्तरिक्ष (**अद्रिबर्हाः पिन्वते**) मेघों से भरपूर रस को प्रदान करता है (**तान्**) उन (**उक्थशुष्मान्**) प्रशंसनीय बलवालों (**वृषभरान्**) सुखों की वर्षा करनेवालों (**स्वप्नसः**) शुभ कर्म करनेवालों—अप् इति कर्म नामधेयम्—(**आदित्यान्**) अदिति—अखण्डनीय, देवमाता, जगज्जननी के पुत्रों के (**स्वस्तये**) कल्याण के लिये हे प्रभो! (**अनुमद**) आप हर्ष का आमोदन कीजिये।

भावार्थ—हे प्रभो! प्रशंसनीय बलवाले, सुखों की वर्षा करनेवाले और शुभ कर्म करनेवाले जिन मानव-श्रेष्ठों के लिए यह पृथिवी, यह द्युलोक और मेघों से भरपूर यह अन्तरिक्ष लोक मधुर रस प्रदान करते हैं, उन 'अदिति'=देवमाता जगज्जननी के श्रेष्ठ पुत्रों के कल्याण के लिये आप मुदित—हर्षित—प्रसन्न—हूजिये।

ओं नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥ १०॥

—[ऋ० १०। ६३। ४]

शब्दार्थ—(**नृचक्षसः**) जिनकी आँख हर मानव की भलाई पर लगी हुई है

(अनिमिषन्तः) बिना निमेष के—पलक के झपकने के बिना जो मानव की भलाई पर टकटकी लगाये हैं **(अर्हणः)** ऐसे जो पूजा के योग्य **(बृहत् देवासः)** महान् विद्वान् लोग हैं, वे **(अमृतत्वं)** अमरता को **(आनशुः)** प्राप्त होते हैं। ऐसे **(ज्योतिरथाः)** प्रकाश-पथ में रमण करनेवाले **(अहिमायाः)** अहिंसनीय मायावाले **(अनागसः)** पापरहित पुरुष **(स्वस्तये)** जगत् के कल्याण के लिये **(दिवः)** द्युलोक से भी **(वर्ष्माणम्)** और अधिक ऊँचे पद पर **(वसते)** प्रतिष्ठित होते हैं।

भावार्थ—जो मानव की भलाई पर लगातार दृष्टि रखते हैं ऐसे सदा सावधान प्रकाश-पथ में विचरनेवाले, अहिंसा व्रतवाले, पापरहित विद्वान्-पुरुष जीवन में सर्वोच्च पद प्राप्त कर मरकर भी अमर हो जाते हैं। ऐसे पुरुष जगत् के कल्याण के लिए ही उत्पन्न होते हैं।

ओं सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिवि क्षयम्।
ताँ आ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये॥ ११॥

—[ऋ० १०।६३।५]

शब्दार्थ—**(ये)** जो **(सम्राजः)** प्रकाशमान, यशस्वी तथा **(सुवृधः)** बढ़ती वाले उन्नतिशील व्यक्ति **(यज्ञम्)** शुभ-कर्म में **(आययुः)** आये हैं और **(ये अपरिहवृताः)** जो वीर-जन बिना हार माने **(दिवि)** स्वर्ग लोक में **(क्षयम् दधिरे)** निवास बना बैठे हैं **(तान्)** अर्थात् जो जीवित हैं और जो मृत हो गये—उन सब **(महः आदित्यान्)** आदित्य के समान महान् यशस्वियों का **(नमसा)** नमस्कार द्वारा तथा **(सुवृक्तिभिः)** प्रशंसनीय वचनों द्वारा **(आविवास)** भलीभाँति सम्मान करो और **(अदितिम्)** भू-माता के **(स्वस्तये)** कल्याण के लिये जीवित तथा मृत यशस्वी व्यक्तियों को नमस्कार करो और उनका यश गान करो।

भावार्थ—हे मानवो! जो शुभ गुणों से प्रकाशमान—यशस्वी, दूसरों की उन्नति चाहनेवाले, शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, भले ही वे इस यज्ञ में पधारे हैं या वीर-गति प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे जगज्जननी के श्रेष्ठ पुत्रों को धरती माता का यश निरन्तर बनाये रखने के लिये नमस्कार करो और उनकी यश-गाथाओं को गाओ।

ओं को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यतिष्ठन।
को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये॥ १२॥

—[ऋ० १०।६३।६]

शब्दार्थ—**(विश्वे देवासः मनुषः)** हे सकल विद्वान् पुरुषो! **(यतिष्ठन)** जितने भी तुम हो, वे सब सोचो कि **(यं जुजोषथ)** जिसकी तुम स्तुति करते हो वह **(कः)** कौन है **(वः)** जो तुम लोगों के **(स्तोमं)** स्तुति वाक्यों को, प्रार्थनाओं को **(राधति)** सिद्ध करता है, सफल बनाता है, वह कौन है **(तुविजाता)** हे अपरिमित ज्ञानवालो या अनेक जन्म धारण करनेवालो! **(वः)** तुम लोगों के **(अध्वरम्)** यज्ञ

को **(कः अरं करत्)** कौन देव अलंकृत करता या पूर्ण करता है ? इस प्रश्न को उठाकर मन्त्र में ही उत्तर दिया है—**(यः)** जो **(नः)** हमारे **(अंहः)** पाप को **(अति पर्षत्)** दूर करता है।

भावार्थ—हे विद्वानो ! आप लोग जिसकी स्तुतियाँ करते हैं उन्हें कौन सुनता है, किसके सुनने से प्रार्थनाएँ फलीभूत होती हैं ? तुमने अनेक जन्म लिये, हर जन्म में नया-नया ज्ञान प्राप्त किया, अनेक यज्ञ-रूप कर्मों को तुम इस जन्म में करते हो, जन्म-जन्मान्तर से भी करते आ रहे हो—यह सब किसके लिये करते हो। मन्त्र में ही इस प्रश्न का उत्तर निहित करते हुए कहा है—तुम्हारे पापों को वही दूर कर तुम्हारी प्रार्थनाओं को सफल बनाता है।

ओं येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः।
त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥ १३॥

—[ऋ० १०।६३।७]

शब्दार्थ—**(मनुः)** मनस्वी ने **(मनसा सप्तहोतृभिः)** मन तथा सातों इन्द्रियों के रूप में 'होता' बनकर **(येभ्यो)** जिन शुद्ध पदार्थों को प्राप्त करने के लिये **(प्रथमाम् होत्राम्)** सर्वश्रेष्ठ यज्ञकर्म को **(आयेजे)** आयोजित किया **(ते आदित्याः)** वे यज्ञ तथा सूर्य की रश्मियों से शुद्ध हुए पदार्थ **(अभयं शर्म)** भयरहित आश्रय वा सुख को **(यच्छत)** प्रदान करें तथा **(नः)** हमारा **(सुगा सुपथा)** जीवन का सुगम मार्ग **(स्वस्तये कर्त)** कल्याण साधने के लिये करें।

भावार्थ—हे प्रभो ! जिन मनस्वियों ने दो आँख, दो कान, दो नासिका तथा एक मुख—इन सात इन्द्रियों को तथा मन को होता बनाकर संसार के पदार्थों को अग्नि से शुद्ध करने के लिये जो यज्ञ रचा उससे तथा आदित्य की रश्मियों से शुद्ध हुए पदार्थों का सेवन कर हम सुखी हों और हमारा जीवन का मार्ग कल्याणमय हो। इस मन्त्र का यह भी अभिप्राय है कि यज्ञाग्नि से भोग्य-पदार्थों की शुद्धि होती है, उनके कीटाणुओं का नाश होकर वे सेवन-योग्य हो जाते हैं।

ओं य ईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः।
ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्या देवासः पिपृता स्वस्तये॥ १४॥

—ऋ० १०।६३।८

शब्दार्थ—**(ये मन्तवः)** जो मननशील ज्ञानी पुरुष **(प्रचेतसः)** उत्कृष्ट ज्ञानवाले **(स्थातुः)** स्थावर तथा **(जगतश्च भुवनस्य)** जंगम विश्व के **(ईशिरे)** स्वामी हैं **(ते)** वे **(देवासः)** देव **(नः)** हमारे **(कृतात्)** किये हुए तथा **(अकृतात्)** न किये हुए **(एनसः)** पाप से **(अद्य)** आज **(स्वस्तये)** हमारे कल्याण के लिये **(परि पिपृत)** सब ओर से हमें बचायें।

भावार्थ—हे प्रभो ! जो मननशील ज्ञानी पुरुष इस स्थावर तथा जंगम जगत् के

स्वामी हैं वा उसपर शासन करते हैं ऐसे उत्कृष्ट मेधावी लोग हमारे किये हुए या न किये हुए पाप-कर्मों से हमें बचायें। इस मन्त्र में किये हुए और न किये हुए पाप-कर्मों से रक्षा की याचना की गई है। न किये हुए कर्मों से ज्ञान द्वारा या उत्तम कर्मों के आचरण द्वारा रक्षा सम्भव है। किये हुए पाप कर्मों का फल तो अवश्य भोगना होगा, उस भोग से कोई बच नहीं सकता, तब क्या यह प्रार्थना निष्फल है? श्री मीमांसक जी का कथन है कि धर्मशास्त्रकारों ने किये गये पाप-कर्मों के फलों से बचने का उपाय प्रायश्चित्त बताया है। प्रायश्चित्त के दो फल होते हैं—एक भविष्य में उन पाप-कर्मों से बचना, दूसरा प्रायश्चित्त करने से शारीरिक, मानसिक वा अध्यात्मिक संताप जो फल रूप में प्राप्त होता है, स्वयं सहकर उतने अंश में उसके फल से बचना। यदि प्रायश्चित्त से स्वयं प्राप्त कष्ट उस कर्म के फल में कुछ कमी न करे और सर्वज्ञ प्रभु स्वयंभुक्त दण्ड की उपेक्षा करके पूरा दण्ड देवें तो सम्पूर्ण प्रायश्चित्त-विधान व्यर्थ हो जाता है। हमारी सम्मति में श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक का यह समाधान सर्वथा युक्तिसंगत है, इसलिये वेद का यह कहना कि हमें किये हुए पाप-कर्मों से बचाओ क्योंकि हम प्रायश्चित्त कर रहे हैं असंगत कथन नहीं है।

ओं भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्।
अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये॥ १५॥

—ऋ० १०।६३।९

शब्दार्थ—(**भरेषु**) सांसारिक संग्रामों, संघर्षों में (**इन्द्रम्**) महाबलवान् को (**सुहवम्**) सहज में पुकार सुननेहारे को (**अंहोमुचम्**) पापों या कठिनाइयों से छुड़ानेहारे को (**सुकृतम्**) सुकर्मी को (**दैव्यम् जनम्**) विद्वान् जनों के हितकारी जन को (**अग्निम्**) अग्नि समान तेजस्वी (**मित्रम्**) हितकारी (**वरुणम्**) श्रेष्ठ (**भगम्**) ऐश्वर्यवाले (**द्यावापृथिवी**) द्युलोक और पृथिवीलोक (**मरुतः**) अन्तरिक्ष स्थानीय दिव्य शक्तियों को (**सातये**) लाभ के लिये और (**स्वस्तये**) हमारे कल्याण के लिये (**हवामहे**) हम पुकारते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! जीवन में संघर्ष तथा कठिनाइयों के सामने आ पड़ने पर महाबलवान्, परदुःखहर्ता, पापों से बचानेवाले, उत्तम कर्म करने वाले, तेजस्वी, सबके मित्र, अभिलषित वस्तु की प्राप्ति के लिये हम वरणीय पुरुषों को पुकारते हैं, बुलाते हैं, उनका साहाय्य चाहते हैं। ऐसे पुरुषों द्वारा मार्ग-दर्शन होने पर पृथिवी, द्यु-लोक और अन्तरिक्षस्थ दिव्य-शक्तियाँ हमारे कल्याण के लिये हों।

ओं सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥ १६॥

—[ऋ० १०।६३।१०]

शब्दार्थ—(**सुत्रामाणम्**) अच्छी प्रकार रक्षा करनेवाली को (**पृथिवीम्**)

फैली हुई अर्थात् विस्तीर्ण को **(द्याम्)** प्रकाशयुक्त को **(अनेहसम्)** त्रुटिरहित, अटूट को **(सुशर्माणम्)** अत्यन्त सुख देनेवाली को **(सुप्रणीतिम्)** अच्छे प्रकार बनाई हुई को या—**'सु-प्र-नीतिम्'**—उच्चकोटि के आचार-शास्त्रवाली को **(अदितिम्)** अकस्मात् नष्ट न होने वाली को या अदीन वेद-विद्या रूप को **(देवीं नावम्)** विद्वानों से निर्मित की हुई नौका या दिव्य उपदेशों से पूर्ण वेद-विद्या को **(अस्त्रवन्तीम्)** न चूनेवाली नौका या सनातन सदाचार का उपदेश देनेवाली वेद-विद्या को **(स्वस्तये आरुहेम)** अपने कल्याण के लिये हम उस पर आरूढ़ हों।

भावार्थ—इस मन्त्र में 'नाव' शब्द का तीन अर्थों में प्रयोग किया गया है। स्थूल अर्थ में हम ऐसी नौका पर बैठें जो छिद्र रहित हो, चूनेवाली न हो, त्रुटिरहित हो, ठीक-से बनी हुई हो—यह पहला अर्थ है, नाव का प्रयोग यहाँ अपने शरीर के लिये भी किया गया है—हमारे शरीर की नौका सुदृढ़ हो, त्रुटि रहित हो, भवसागर से पार तरा ले जानेवाली हो—यह दूसरा अर्थ है, नाव का प्रयोग यहाँ वेद-विद्या के लिये भी किया गया है—वेद का ज्ञान हमारे कल्याण के लिये हो, हमारी तरफ से उसके पालन में कोई त्रुटि न हो ताकि उससे हम भवसागर को पार करें।

ओं विश्वे॑ यजत्रा॒ अधि॑ वोचतो॒तये॒ त्राय॑ध्वं नो दु॒रेवा॑या अ॒भिह्रुत॑ः।
स॒त्यया॑ वो दे॒वहू॑त्या हुवेम शृण्व॒तो दे॑वा॒ अव॑से स्व॒स्तये॑॥ १७॥

—[ऋ० १०।६३।११]

शब्दार्थ—**(विश्वे)** सब **(यजत्राः)** पूजनीय श्रेष्ठ पुरुषो! **(ऊतये)** रक्षा के लिये **(अधि)** अधिकारपूर्वक **(वोचन)** उपदेश—वचन—दो **(अभिह्रुतः)** दुःख देनेवाली से **(दुरेवायाः)** दुर्गति से **(नः त्रायध्वम्)** हमारा त्राण करो **(देवाः)** हे विद्वान् जनो! **(सत्यया देवहूत्या शृण्वन्तः वः)** सच्ची टेर सुनने वालों को **(अवसे)** रक्षा के लिये **(स्वस्तये)** कुशल-कल्याण के लिये **(हुवेम)** हम पुकारते हैं।

भावार्थ—हे श्रेष्ठ पुरुषो! आप हमें दुःखों से बचाने के लिये अधिकारपूर्वक उत्तम उपदेश सुनाओ, आपदाओं से हमें बचाओ। हे विद्वानो! हम दुःख अथवा दुर्गति में जब पड़ें तब आप दुखियों की सच्ची टेर सुननेवाले हमारा दुःख सुनकर हमारा त्राण करो। अपनी रक्षा और कल्याण के लिये हम दुःखीजन आपको पुकारते हैं।

ओं अपामी॑वा॒मप॒ विश्वा॒मना॑हुति॒मपारा॑तिं दु॒र्वि॒दत्रा॑मघाय॒तः।
आ॒रे दे॑वा॒ द्वेषो॑ अ॒स्मद्यु॑योतनो॒रु ण॒ः शर्म॑ यच्छता स्व॒स्तये॑॥ १८॥

—[ऋ० १०।६३।१२]

शब्दार्थ—**(विश्वाम् अमीवाम् अप)** हमारे सब रोगों को दूर कर **(अनाहुतिं अप)** हमारी यज्ञ न करने की भावना को दूर कर **(अरातिं अप)** दान न देने की भावना को दूर कर **(अधायतः)** पाप करने की इच्छा को तथा **(दुर्विदत्रां अप)**

दुष्ट बुद्धि को दूर कर। **(देवाः)** हे देवो! **(द्वेषः)** द्वेष-बुद्धि **(अस्मत्)** हमसे **(आरे युयोतन)** हमारे भीतर आन्तरिक युद्ध उत्पन्न करके दूर हटाओ **(नः)** हमें **(उरु शर्म)** महान् सुख **(स्वस्तये यच्छत)** हमारे कल्याण के लिये दो।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमें ऐसी बुद्धि दें जिससे हमारे सब रोग दूर हो, हमारी यज्ञ न करने की, दान न देने की भावना दूर हो, पापी के हृदय में पाप करने की जो भावना उठती है वह दूर हो। हमारे भीतर दूसरों के प्रति जो द्वेष-भावना जाग उठती है वह हमारे अन्त:करण में ऐसा द्वन्द्व उत्पन्न कर दे कि हम किसी से द्वेष न करें—ये सब याचनाएँ हम आपके द्वार पर सिर नवा कर इसीलिये करते हैं, क्योंकि इसी में हमारा सुख और इसी में हमारा कल्याण है।

ओं अरिष्टः स मर्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि।
यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये॥ १९॥

—[ऋ० १०।६३।१३]

शब्दार्थ—(आदित्यासः) हे अदिति=ईश्वर के पुत्रो, श्रेष्ठजनो! **(यम्)** जिस व्यक्ति को तुम **(सुनीतिभिः)** उत्तम नीति=न्याय पथों से **(नयथ)** चलाते हो और उनके **(विश्वानि)** सब **(दुरिता)** दुर्गुणों, व्यसनों को **(नयथ)** दूर करते हो, ऐसा **(सः मर्तः)** वह मनुष्य **(अरिष्टः)** हिंसित न होता हुआ, हार न मानता हुआ, स्वस्थ रूप में **(विश्वा)** विश्व में **(एधते)** उन्नति करता है और **(धर्मणः परि)** धर्मपूर्वक कर्त्तव्य करने के बाद **(प्रजाभिः)** पुत्र-पौत्र रूपी प्रजाओं के साथ **(प्रजायते)** फिर-फिर जन्म लेता है या इस जन्म में वृद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—श्रेष्ठ व्यक्ति मानव-समाज को न्यायोचित मार्ग पर चलने की प्रेरणा करते हैं। न्यायोचित मार्ग पर चलने से कष्ट उठाने पड़ते हैं, परन्तु जो व्यक्ति मार्ग के कष्टों का सामना करता हुआ, हार न मानता हुआ उन्नति करता जाता है वह पुत्र-पौत्रों के साथ संसार में आगे-आगे बढ़ता जाता है।

ओं यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने।
प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा स्वस्तये॥ २०॥

—[ऋ० १०।६३।१४]

शब्दार्थ—(यम् रथम्) जिस शरीर रूपी रथ की, या पहियों वाले रथ की **(देवासः)** विद्वज्जन **(वाजसातौ)** अन्नादि भोग्य पदार्थों की प्राप्ति तथा उपभोग के लिए **(अवथ)** रक्षा करते हैं **(यम् रथं)** जिस शरीररूपी रथ की या रथ की **(मरुतः)** शूरवीर लोग **(शूरसातौ)** युद्ध में वीर योद्धाओं की प्राप्ति तथा **(धने हिते)** धन पाने के लिए **(अवथ)** रक्षा करते हैं, हे **(इन्द्र)** परमात्मन्! ऐसे **(प्रातर्यावाणम् रथम्)** प्रात:काल उठते ही काम में जुट जानेवाले शरीररूपी रथ या पहियों वाले रथ पर **(स्वस्तये आरुहेम)** हम अपने कल्याण के लिये सवार हो

जायें। रथ कैसा है? **(सानसिम्)** जिससे भोग्य-पदार्थ प्राप्त किये जाते हैं और **(आरिष्यन्तम्)** जो नष्ट नहीं होता। पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने **'इन्द्रसानसिम्'** को एक पद मानकर इसका अर्थ किया है—'परम ऐश्वर्यवालों से सेवनीय'।

भावार्थ—इस मन्त्र में 'रथ'-शब्द का प्रयोग द्व्यर्थक है—शरीररूपी रथ को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये अन्न की आवश्यकता होती है, दो पहियोंवाले रथ से अन्न ढोया जाता है, इसलिये यहाँ 'रथ'-शब्द का प्रयोग शरीर तथा रथ दोनों के लिए है। इसी प्रकार युद्ध में शूरवीरों का संग्रह अपने शरीररूपी रथ की रक्षा के लिए तथा दो पहियों के रथ का प्रयोग सैनिकों के संग्रह के लिये किया जाता है। **'वाजसातौ'** तथा **'सूरसातौ'**—इन दोनों शब्दों में **'सातौ'**-शब्द आया है, जिसका अर्थ है—'वाजसातौ' अर्थात् अन्न-संग्रह में, 'शूरसातौ' अर्थात् शूरवीरों, योद्धाओं के संग्रह में जिस रथ की उपयोगिता है, ऐसे शरीर की और ऐसे रथ की रक्षा करो।

ओं स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्य१प्सु वृजने स्वर्वति।
स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन॥ २१॥

—[ऋ० १०।६३।१५]

शब्दार्थ—**(नः)** हमारे लिये **(पथ्यासु)** पथ-युक्त उत्तम प्रदेशों में **(धन्वसु)** पथ रहित प्रदेशों में **(स्वस्ति)** कुशल हो **(अप्सुः)** जल-बहुल प्रदेशों में **(वृजने)** निर्जन प्रदेशों में **(स्वर्वति)** सुखी-प्रदेशों में **(स्वस्ति)** कुशल हो **(पुत्रकृथेषु योनिषु)** पुत्रों को उत्पन्न करनेवाली नारियों में **(नः स्वस्ति)** हमारा कल्याण हो **(मरुतः—आ-रुतः)** हे मनुष्यो! दुखी होकर मत रोओ **(राये)** ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये **(स्वस्ति दधातन)** कल्याण भावना को अपने अन्तःकरण में धारण करो।

भावार्थ—इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि संसार की गली-वीथियों में, जंगल के बीहड़ मार्गों में, जलाप्लावित प्रदेशों में, निर्जन स्थानों में और सुख-सम्पदा से समृद्ध शहरों में जहाँ-कहीं भी हम हों, हे प्रभु! हमारा कल्याण करो। हमारी देवियाँ जो हमारी सन्तानों को जन्म देती हैं, उनका सहवास हमारे लिये कल्याणकारी हो! धन-ऐश्वर्य का हमारे पास अभाव न हो और अभाव के कारण हम में से किसी को दुःख के आँसू न बहाने पड़ें।

ओं स्वस्तिरिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति।
सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा॥ २२॥

—[ऋ० १०।६३।१६]

शब्दार्थ—**(प्रपथे)** जीवनरूपी पथ में **(इत् हि)** निश्चयपूर्वक **(स्वस्तिः)** हमारा कुशल हो! **(रेक्णस्वती)** जी धन-धान्य से पूर्ण हमारा घर है अगर वह **(वामम् एति)** 'वाम' अर्थात् उलट जाता है तब भी वह **(श्रेष्ठा)** श्रेष्ठ हो जाए, अर्थात् अगर हमारे बुरे दिन आ जायें तो वे भी पलट जायें अथवा **(या रेक्णस्वति या**

श्रेष्ठा) धन-धान्य से पूर्ण हमारा जो सौभाग्य है वह **(वामम् एति)** और अधिक सुन्दर हो! **(सा)** वह हमारा सौभाग्य **(न अमा)** हमें घर में तथा **(सा उ)** वह **(अरणे)** निर्जन वन में **(निपातु)** हमारी रक्षा करे! हमारा घर **(स्वावेश=सु+आवेश)** सुन्दर निवास देने वाला **(देवगोपा)** विद्वज्जनों की रक्षा का स्थान **(भवतु)** हो।

भावार्थ—परमात्मा से प्रार्थना है कि हमारे जीवन का मार्ग कुशलता से निबट जाए। धन-धान्य से पूर्ण हमारे घर में अगर कोई विपत्ति आ पड़े तो वह आपकी कृपा से टल जाए और अगर हमारा घर हर तरह से सम्पन्न हो तो भी उसके सौन्दर्य में दिनों-दिन वृद्धि हो। हम चाहे घर में हों या निर्जन वन में हों, प्रभु का रक्षा का हाथ हमारे सिर पर हो, हमारा घर रहने का सुन्दर स्थान हो जहाँ विद्वज्जनों का सत्संग होता रहे।

ओं इषे त्वोर्जे त्वा वायवं स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा वः स्तेनऽईशत माघशंसो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥ २३॥ —[यजुः० १।१]

शब्दार्थ—हे परमात्मन्! **(वायवः)** गतिशील, जीवन-मार्ग में आगे बढ़नेवाले प्राणी **(इषे त्वा)** अन्न आदि भोग्य पदार्थों के लिये आपको **(ऊर्जे त्वा)** आत्मिक-बल प्राप्त करने के लिये भी आपको [शारीरिक बल अन्न से, आत्मिक-बल जिसे ओज—ऊर्जा—कहते हैं, आध्यात्मिक उन्नति से प्राप्त होता है] **(स्थः)** प्राप्त होवें, भजें या प्राप्त होकर स्थिर रहें। **(देवः सविता)** शुभ-कर्मों में प्रेरणा देनेवाला सविता देव **(वः)** हममें **(श्रेष्ठतमाय कर्मणे)** अत्युत्तम कर्म के लिये **(प्रार्पयतु)** उमङ्ग पैदा करे। हमारे घरों में **(अयक्ष्माः)** क्षय सदृश बड़े रोगों से रहित **(अनमीवाः)** क्षुद्र रोगों से भी रहित **(प्रजावतीः)** बछड़े-बछड़ियों सहित **(इन्द्राय)** राष्ट्र की उन्नति के लिये **(अघ्न्याः)** न मारने योग्य गौएँ **(भागम् आप्यायध्वम्)** भजनीय, सेवनीय दूध से भरी हों। **(वः)** उनका **(स्तेनः)** चोर **(मा ईशत)** स्वामी न होवे **(मा अघशंसः ईशत)** पाप की इच्छा करनेवाला भी उनका स्वामी न होवे **(अस्मिन् गोपतौ)** मैं जो गौओं का पालन करनेवाला हूँ उसके पास में गौएँ **(ध्रुवाः स्यात्)** स्थिर हों **(बह्वीः स्यात्)** थोड़ी नहीं, बहुत हों **(यजमानस्य)** हे प्रभो! आप शुभ कर्म करनेवाले यजमान के **(पशून् पाहि)** पशुओं की पालना करो, उनकी रक्षा करो।

भावार्थ—हे सर्वरक्षक तथा सर्वव्यापक प्रभो! हम भोग्य-पदार्थों की प्राप्ति एवं उनके सदुपयोग से बल तथा ओज प्राप्ति के लिये आपका आश्रय लेते हैं, आपसे याचना करते हैं। हम सदा गतिशील, आगे बढ़नेवाले, उन्नति करने वाले हों। आप ही सकल ऐश्वर्यों के दाता एवं शुद्ध कर्मों के प्रेरक हो, इसलिये आप ही हमें अत्युत्तम

कर्म करने के लिए समस्त वाँछित पदार्थ प्राप्त कराओ। हमारी दुधारी गौएँ हृष्ट-पुष्ट हों और राष्ट्र को दूध-घृत आदि समस्त सेवनीय पदार्थ प्राप्त करायें। हमारी गौएँ उत्तम बछड़े-बछड़ी जननेवाली हों, क्षय जैसे बड़े तथा अन्य छोटे रोगों से रहित हों, उनपर कोई चोर या पापी पुरुष शासन न करे, उनका स्वामी न हो। हम जो गौओं का पालन करनेहारे हैं, उनके पास गौएँ स्थिर रूप में रहे और हे प्रभु! आपका इस प्रकार के गोपालकों पर सदा आशीर्वाद बना रहे।

ओं आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽअपरीतासऽउद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिदवृधेऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥ २४॥

—[यजुः० २५।१४]

शब्दार्थ—(**भद्राः**) उत्तम, श्रेष्ठ (**अदब्धासः—दभि क्षेपे**) जिनपर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता (**अपरीतासः**) जिनका कोई विपरीत परिणाम नहीं हो सकता (**उद्भिदः—उद्+भिदिर् वितारणे=उद्भेदक**) जो मानों भीतर से प्रतिभा के रूप में फूटकर निकले हों (**क्रतवः**) ऐसे कर्म या प्रज्ञा (**नः आ यन्तु**) हमें प्राप्त हों। (**यथा**) जैसे (**देवाः**) विद्वान् लोग (**सदम्**) सदैव (**नः**) हमारी (**वृधे इत्**) वृद्धि अर्थात् उन्नति के लिये ही (**असन्**) सहायक होते हैं वैसे वे (**दिवेदिवे**) प्रतिदिन (**रक्षितारः**) हमारी रक्षा करने वाले तथा (**अप्रायुवः**) अप्रमादी एवं सावधान होकर हमारी सहायता करें।

भावार्थ—हम में से श्रेष्ठ कर्म तथा प्रज्ञा ऐसे फटे जैसे कोई कर्मिष्ट व्यक्ति एकदम कोई श्रेष्ठ कर्म करने लगता है या किसी प्राज्ञ के मस्तिष्क से कोई प्रतिभा का विचार फूट पड़ता है। हमारे कर्म ऐसे हों जिनपर कोई आक्षेप न हो सके, जिनका कोई उल्टा परिणाम भी न निकल सके। देव लोग जैसे सदा शुभ कार्यों में हमारी सहायता करते रहे हैं वैसे प्रतिदिन वे हमारी सहायता करते रहें।

ओं देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाᳬं रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवानाᳬंसख्यमुपसेदिमा वयं देवा नऽआयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥ २५॥

—[यजुः० २५।१५]

शब्दार्थ—(**ऋजूयताम्**) ऋजु, सरल स्वभाव वाले (**देवानाम्**) विद्वानों की (**सुमतिः**) उत्तम बुद्धि हमें प्राप्त हो और (**देवानाम्**) विद्वानों की (**रातिः**) उदारता (**नः अभि**) हमारी तरफ (**निवर्तताम्**) चली आये (**देवानाम् सख्यम्**) विद्वानों की मित्रता (**वयम्**) हम (**उपसेदिम**) प्राप्त करें (**देवाः**) विद्वान् (**नः**) हमारी (**आयुः**) आयु को (**जीवसे**) स्वस्थ जीवन के लिये (**प्रतिरन्तु**) बढ़ावे।

भावार्थ—सरलता से व्यवहार करनेवाले विद्वानों की कल्याणकारी शुभ मति हमें प्राप्त हो, विद्वानों की उदारता हमें प्राप्त हो, विद्वानों की मित्रता हमें प्राप्त हो और आयुर्विज्ञान के वेत्ता विद्वान् लोग रसायन आदि के सेवन कराने से हमारी आयु को

स्वस्थ दीर्घजीवन के लिये बढ़ायें।

ओं तमीशा॑नं॒ जग॑तस्त॒स्थुष॒स्पतिं॑ धियञ्जि॒न्वमव॑से हूमहे व॒यम्।
पू॒षा नो॒ यथा॒ वेद॑सा॒मस॑द्वृ॒धे र॑क्षि॒ता पा॒युरद॑ब्धः स्व॒स्तये॑॥ २६ ॥

—[यजुः० २५।१८]

शब्दार्थ—(**जगतः**) 'जंगम'—जैसे मनुष्य, गौ आदि (**तस्थुषः**) 'स्थावर'—जैसे घर, भूमि आदि (**पतिम्**) इन सबके स्वामी (**धियं जिन्वम्—धीः=कर्मनाम; प्रज्ञानाम**) कर्मों तथा बुद्धियों को जीवन प्रदान करने वाले (**तं ईशानम्**) उस सकल ऐश्वर्यों के स्वामी को (**वयम्**) हम (**अवसे**) रक्षा केलिये (**हूमहे**) पुकारते हैं, उससे याचना करते हैं (**यथा**) जिससे कि (**पूषा**) पोषक परमात्मा (**नः**) हमारे (**वेदसाम्**) ज्ञानों और धनों की (**वृधे**) वृद्धि केलिये (**असत्**) होवे। साथ ही वह (**स्वस्तये**) हमारे कल्याण के लये (**रक्षिता**) हमारा रक्षक (**पायुः**) पालक तथा (**अदब्धः**) अविनाशक होवे।

भावार्थ—चराचर तथा स्थावर जगत् के पालक, कर्म तथा प्रज्ञा के प्रेरक उस ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु को हम रक्षा के लिये पुकारते हैं जो हमारे ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ हमारे कल्याण के लिये हमारी रक्षा तथा हमारा पालना करे।

ओं स्व॒स्ति न॑ऽ इन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वाः स्व॒स्ति नः॑ पू॒षा वि॒श्ववे॑दाः।
स्व॒स्ति न॒स्तार्क्ष्यो॒ऽअरि॑ष्टनेमिः स्व॒स्ति नो॒ बृह॒स्पति॑र्दधातु॥ २७ ॥

—[यजुः० २५।१९]

शब्दार्थ—(**वृद्धश्रवाः**) बढ़ा हुआ है 'श्रव'—ख्याति—जिसकी (**इन्द्रः**) ऐसा परमैश्वर्ययुक्त परमेश्वर (**नः**) हमारे लिये (**स्वस्ति दधातु**) कल्याण धारण करे; (**विश्ववेदाः**) महान् ज्ञानवाला (**पूषा**) सबका पोषण करनेवाला परमेश्वर (**नः स्वस्ति दधातु**) हमारे लिये कल्याण धारण करे; (**अरिष्टनेमिः**) जिसकी 'नेमि' नहीं टूट सकती ऐसा (**तार्क्ष्यः**) भव-सागर से पार लगानेवाला (**नः स्वस्तिः दधातु**) हमारे लिये कल्याण धारण करे; (**बृहस्पतिः नः स्वस्ति दधातु**) बड़े-से-बड़ों का रक्षक परमेश्वर हमारे लिये कल्याण धारण करे।

भावार्थ—इस मन्त्र के मानव-समाज-परक तथा आधिदैविक दो अर्थ हो सकते हैं जो भाव की दृष्टि से निम्न प्रकार हैं—

(क) सामाजिक अर्थ—'**वृद्धश्रवाः इन्द्रः**' का अर्थ हुआ बलशाली '**क्षत्रिय**'; '**पूषा**' का अर्थ हुआ प्रजा का धन-धान्य से पोषण करनेवाला '**वैश्य**'; भवसागर की नौका को खेनेवाले '**तार्क्ष्य**' का अर्थ हुआ '**शूद्र**'; '**बृहस्पति**' का अर्थ हुआ '**ब्राह्मण**'। सामाजिक अर्थ यह हुआ कि समाज के चारों वर्ण हमारा कल्याण करें।

(ख) आधिदैविक अर्थ—'वृद्धश्रवाः' का अर्थ हुआ गड़गड़ाहट करने वाली '**विद्युत्**'; '**पोषा**' का अर्थ हुआ सृष्टि का पोषण करने वाला '**सूर्य**'; '**तार्क्ष्य**'

का अर्थ हुआ समुद्र में वर्तमान '**बड़वानल**'; '**बृहस्पति**' का अर्थ हुआ ब्रह्माण्ड का '**पालक**' आधिदैविक अर्थ हुआ कि संसार की ये सब आधिदैविक-शक्तियाँ हमारा कल्याण करें।

ओं भ॒द्रं कर्णे॑भिः शृणुयाम देवा भ॒द्रं प॑श्येमा॒क्षभि॒र्यजत्राः।
स्थि॒रैरङ्गै॑स्तुष्टु॒वाꣳस॑स्त॒नूभि॒र्व्य॑शेमहि दे॒वहि॑तं॒ यदायु॑ः॥ २८॥

—[यजुः० २५।२१]

शब्दार्थ—(**देवाः**) हे दिव्य-गुण-युक्त प्रभु की शक्तियो! (**कर्णेभिः**) कानों से हम (**भद्रम्**) कल्याण को (**शृणुयाम**) सुनें (**यजत्राः**) हे सृष्टि-यज्ञ की विधातृ शक्तियो (**अक्षभिः**) आँखों से (**भद्रम्**) कल्याण को (**पश्येम्**) हम देखें (**तनूभि-**) शरीरों से (**स्थिरैः अंगैः**) सुदृढ़ अंगों से (**तुष्टुवांसः**) स्तुति करते हुए (**देवहितम्**) प्रभु या कर्मों के द्वारा नियत (**यत् आयुः**) जो आयु है उसे (**व्येशमहि**) प्राप्त हों।

भावार्थ—हे दिव्य-गुण-युक्त सृष्टि के विधाता प्रभो! हम आपकी कृपा से कानों से उत्तम शब्द ही सुनें, आँखों से अच्छा ही देखें, स्थिर-सुदृढ़ अंगों और शरीरों से आपकी ही स्तुति करते हुए आपके द्वारा हमारे कर्मानुसार नियत आयु को पूर्ण रूप से प्राप्त हों, अकाल मृत्यु के ग्रास न बनें।

ओं अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥ २९॥ —[साम०पू० १।१।१(१)]

शब्दार्थ—(**अग्ने**) हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! (**वीतये=वि+इण् गतौ**) दुःखों को विगत करने के लिये (**हव्यदातये**) तथा भोग्य पदार्थों को देने के लिये (**गृणानः**) हमसे स्तुति किया हुआ या हमसे स्तुति को प्राप्त होकर (**आयाहि**) सब दिशाओं से हमें आप प्राप्त हों (**निः**) निश्चय से (**होता**) मनःकामनाओं को देनेवाले, पूर्ण करने वाले आप (**बर्हिषि**) 'बर्ह' अर्थात् यज्ञस्वरूप हमारे हृदय में (**सत्सि**) विराजमान हों।

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! हमारे द्वारा स्तुति किये हुए आप हमें दुःखों से बचाने के लिये तथा जीवन-यज्ञ के हव्यरूप भोग्य-पदार्थों को देने के लिये सब ओर से प्राप्त हूजिये और प्राप्त होकर हमारे हृदय-मन्दिर में निश्चय से विराजमान हो जाइये और पुनः हमसे दूर मत हूजिये।

ओं त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः।
देवेभिर्मानुषे जने॥ ३०॥ —[साम० पू० १।१।२(२)]

शब्दार्थ—(**अग्ने**) हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! (**त्वम्**) तू (**यज्ञानाम्**) श्रेष्ठ

कर्मों का **(होता)** प्रेरक है **(विश्वेषाम्)** सबका **(हितः)** हितकारी है **(देवेभिः)** अपने दिव्य गुणों से **(मानुषे जने)** मनुष्य के बीच—उसके मन में—आ विराज।

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! आप ही श्रेष्ठ कर्मों के प्रेरक हो, आप ही समस्त जगत् के धारण करने वाले तथा हित करने वाले हो। प्रभो! आप अपने दिव्य गुणों के द्वारा हम उपासकों के मन के बीच स्थित होकर हमें प्रेरणा करो कि हम सुपथ के राही रहें, कुपथ का अनुगमन न करें।

ओं ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥ ३१॥

—[अथर्व० १।१।१]

शब्दार्थ—**(ये)** जो विश्व के पदार्थ **(त्रिषप्ताः)** ३×७=२१ **(विश्वा रूपाणि)** सब रूपों को **(बिभ्रतः)** धारण करते हुए **(परियन्ति)** सब ओर से भ्रमण कर रहे हैं **(वाचस्पतिः)** वाणी का स्वामी **(तेषां तन्वः बला)** उन नानारूपों के बलों को **(अद्य)** आज **(मे)** मुझे—मेरे भीतर—**(दधातु)** धारण कराये।

भावार्थ—इस मन्त्र के अनेक अर्थ किये जाते हैं, जिनमें से कुछ निम्न है—

(क) 'त्रि-सप्ताः' का एक अर्थ है—**'सप्ताः'**, अर्थात् संसार को तारनेवाले **'त्रिः'** अर्थात् तीन पदार्थ। वे तीन पदार्थ क्या हैं? काल के सम्बन्ध में भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्—ये तीन काल हैं जो संसार में भ्रमण कर रहे हैं, वे मेरे भीतर भी संचरण कर मुझे तीनों कालों में सँभाले रहें। लोकों के सम्बन्ध में स्वर्ग, मध्य, भूलोक हैं—इन तीनों लोकों में मेरे तनु का कल्याण रहे। गुणों के सम्बन्ध में तीन गुण हैं—सत्व, रज, तम—ये तीनों गुण मुझे संसार-सागर से तारें। सत्ताओं के संबंध में तीन अनादि सत्ताएँ है—ईश्वर, जीव, प्रकृति—उन तीनों के सहारे मैं मुक्ति को प्राप्त करूँ।

(ख) 'त्रि-सप्ताः' का एक दूसरा अर्थ है—३+७=१०—इस दृष्टि से १० दिशाएँ, ५ ज्ञानेन्द्रिय तथा ५ कर्मेन्द्रिय मिलाकर १०—इस प्रकार इन दस दिशाओं तथा दस इन्द्रियों से भक्त अपने कल्याण की प्रार्थना करता है।

(ग) 'त्रि-सप्ताः' का एक तीसरा अर्थ है—३×७=२१—हमने ऊपर इस २१ अर्थ को ही लिया है। इक्कीस के अर्थ के सम्बन्ध में दो अर्थ विशेषरूप से किये जाते हैं—बाणीपरक तथा सृष्टिपरक।

वाणीपरक अर्थ—एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन—ये ३ वचन होते हैं और ७ विभक्तियाँ होती हैं। वाणी का इन २१ में विविध रूपों को धारण करती हुई विचरती है। वाणी का स्वामी परमात्मा हमें वाणी के इन त्रिगुणित सात=२१ वचनों के अर्थ प्रकाशन-सामर्थ्य को मेरे भीतर धारण करावे, अर्थात् मैं इनके अर्थ प्रकाशन-सामर्थ्य का जानकार होकर वाग्व्यवहार में कुशल होऊँ।

सृष्टिपरक अर्थ—प्रकृति के सत्व-रज-तम—ये तीनों प्रकृति की सात विकृतियों (१ महान्, १ अहंकार तथा ५ तन्मात्राओं) के साथ गुणित होकर ३×७=२१ संख्यक बनकर सम्पूर्ण सृष्टि के विविध रूपों वाले पदार्थों को उत्पन्न करते हैं। वाचस्पति=प्रजापति उनके बलों को=सामर्थ्यों को मेरे भीतर धारण करावे। मेरा 'तनु' भी उन्हीं २१ तत्त्वों से निष्पन्न हुआ है, अतः वह उनके सामर्थ्य से युक्त हो।

॥ इति स्वस्तिवाचनम् ॥

अथ शान्तिकरणम्

ओ३म् शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥ १॥

—[ऋ० ७।३५।१]

शब्दार्थ—(**इन्द्राग्नी**) विद्युत् और अग्नि (**अवोभिः**) रक्षा कर्मों के द्वारा (**नः**) हमारे लिये (**शम्**) सुखकारी (**भवताम्**) हों (**रातहव्यौ**) भोग्य पदार्थों को देनेवाले (**इन्द्रावरुणौ**) बिजली और जल (**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी हों (**इन्द्रासोमौ**) सूर्य और चन्द्र (**सुविताय**) भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति के लिये (**शम्**) हमारे लिये सुखकारी हों (**इन्द्रापूषणौ**) विद्युत् और पुष्टि करनेवाला मेघ (**वाजसातौ**) धन और ऐश्वर्य की प्राप्ति जिस कर्म में हो उस कृष्यादि कर्म में तथा (**शंयोः=शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्**) रोगों से शमन एवं भयों को दूर करने में (**नः**) हमारे लिये (**शम्**) सुखकारी हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से विद्युत् और अग्नि अपने रक्षा रूप कर्मों के द्वारा हमारे लिये सुखकारी हों, भोग्य-पदार्थों को देनेवाले बिजली और जल हमारे लिये सुखकारी हों, भोग्य-पदार्थों को उत्पन्न करनेवाले सूर्य और चन्द्र हमारे लिये सुखकारी हों, धन और ऐश्वर्य देने वाले विद्युत् और मेघ हमारे लिये सुखकारी हों। हे भगवन्! आप हमारे रोगों का शमन कर और भयों को दूर कर हमारे लिये सुखकारी हों।

ओं शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु॥ २॥

—[ऋ० ७।३५।२]

शब्दार्थ—(**भगः**) सेवन करने योग्य सूर्य (**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी हो (**उ**) निश्चय से (**शंसः**) प्रशंसा (**नः शम्**) हमारे लिए सुखकारी (**अस्तु**) हो (**पुरन्धिः**) बसतियों में पायी जानेवाली बुद्धि (**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी हो (**उ**) और (**रायः**) अनेक-विध ऐश्वर्य (**शम् सन्तु**) हमारे लिये सुखकारी हों (**सुयमस्य सत्यस्य शंसः**) नियमानुकूल सच्ची प्रशंसा—खुशामद नहीं—(**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी हो (**पुरुजातः**) अनेक स्थानों में प्रसिद्ध—सर्व-विख्यात (**अर्यमा**) न्यायाधीश (**नः शं अस्तु**) हमारे लिये सुखकारी हो।

भावार्थ—प्रातःकाल सूर्य की रश्मियों का सेवन आरोग्यकारी होता है, ग्रामों में जन-साधारण के पास सहज-बुद्धि होती है—ये हमारे लिये सुखद हों। धन-ऐश्वर्य से मनुष्य कुपथगामी हो जाता है, परन्तु यहाँ प्रार्थना है कि धन-ऐश्वर्य

कुमार्ग में न ले जाकर हमें सुख दें। प्रायः खुशामद से मनुष्य फूल जाता है और सत्यासत्य का विवेक नहीं कर सकता, इसिलए कहा कि प्रशंसा हमें न्याय-मार्ग से विचलित न करे। न्याय की कसौटी पर कभी-कभी हम ठीक नहीं उतरते, इसलिये कहा कि न्याय की दृष्टि से हम ठीक उतरें ताकि देश का न्याय-विधान हमारे लिये दण्ड देने के स्थान में सुख देनेवाला हो।

ओं शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु॥ ३॥

—[ऋ० ७।३५।३]

शब्दार्थ—(**धाता नः शम्**) सबको उत्पन्न करनेवाला हमारे लिये सुखकारी हो (**धर्ता उ नः शम् अस्तु**) सबको धारण करनेवाला हमारे लिये सुखकारी हो (**उरूची नः शम् भवतु**) चारों दिशाओं में जो फैला हुआ है वह हमारे लिये सुखकारी हो (**बृहती रोदसी स्वधाभिः शम्**) महान् द्यु और पृथ्वी अपने भीतर जो कुछ धारे हुए हैं वह सब हमारे लिये सुखकारी हो (**अद्रिः नः शम्**) पर्वत हमारे लिये सुखकारी हों (**देवानाम् सुहवानि नः शम् सन्तु**) विद्वानों के सुन्दर उपदेश हमारे लिये सुखकारी हों।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस शक्ति ने विश्व को उत्पन्न किया, जो इसे धारण कर रही है, इन चारों विस्तृत दिशाओं में जो समाया हुआ है। द्यु-लोक और पृथिवी-लोक में जो सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र-अग्नि-वायु नाना पदार्थ समाये हुए हैं, वन-पर्वत जो तुम्हारी महिमा गा रहे हैं। विद्वानों के सुन्दर-सुन्दर उपदेश—ये सब हमारे लिए सुखकारी हों।

ओं शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः॥ ४॥

—[ऋ० ७।३५।४]

शब्दार्थ—(**ज्योतिरनीकः**) प्रकाश ही जिसका बल है ऐसा (**अग्निः नः शम् अस्तु**) अग्नि हमारे लिये सुखकारी हो (**मित्रावरुणौ नः शम्**) प्राण और अपान हमारे लिये सुखकारी हों (**अश्विनौ शम्**) सूर्य और चन्द्र—प्रकाशक और प्रकाश्य—सुखकारी हों (**सुकृताम्**) उत्तम कर्म करनेवालों के (**सुकृतानि**) उत्तम-कर्म (**नः शम् सन्तु**) हमारे लिये सुखकारी हों (**इषिरः**) गतिशील (**वातः**) वायु (**नः शम् अभिवातु**) हमारे लिये सुख को चारों तरफ से बहा लाये।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से प्रकाश ही जिसका बल है ऐसा पार्थिव अग्नि, प्राण-अपान, सूर्य-चन्द्र, उत्तम कर्म करनेवालों के उत्तम आचरण हमारे लिये सुखकारी हों और गतिशील वायु हमारे लिये चारों तरफ से सुख को बहा लाये।

ओं शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः॥ ५॥

—[ऋ० ७।३५।५]

शब्दार्थ—(**नः पूर्वहूतौ**) प्रात:काल उठकर हमारे प्रथम आह्वान—पुकार—में (**द्यावापृथिवी**) द्युलोक और पृथिवीलोक (**शम्**) सुखकारी हों (**नः दृशये अन्तरिक्षम् शम् अस्तु**) प्रात:काल उठकर जब हम अन्तरिक्ष की तरफ आँखें उठाकर देखें तो जो कुछ देखें वह सुखकारी हो (**वनिनः ओषधीः नः शम् भवन्तु**) वनों में लहलहाती औषधियाँ हमारे लिये सुखकारी हों (**रजसस्पतिः**) लोक-लोकान्तर की रज-रज का पति (**जिष्णुः**) जयशील—जिसकी जय का डंका सब जगह बज रहा है वह (**नः शम् अस्तु**) हमारे लिये सुखकारी हो।

भावार्थ—हे प्रभो! प्रात:काल आँख खुलते ही हमारी पहली पुकार यह हो कि द्युलोक और पृथिवीलोक हमारे लिए सुखकारी हों, आँख खुलते ही जब हम अन्तरिक्ष की तरफ देखें तो पहली पुकार यही हो कि हमें अन्तरिक्ष में सुख-ही-सुख दीखे, औषधियाँ हमारे लिये सुखकारी हों, हे विश्व के रज-रज में, कण-कण में व्यापक विश्व के पति, विश्व के विजेता प्रभु! आपकी कृपा से हमारे चारों तरफ सुख की वर्षा होती रहे।

ओं शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु॥ ६॥

—[ऋ० ७।३५।६]

शब्दार्थ—(**देवः**) प्रकाशमय (**इन्द्रः**) सूर्य (वसुभिः—वस् निवासे) निवास—जीवन—की कारणभूत अपनी जीवनदायिनी रश्मियों के साथ (**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी हो (**सुशंसः**) उत्तम स्तुति के योग्य (**वरुणः**) संवत्सर (**आदित्येभिः**) बारहों मासों में विभक्त आदित्य के साथ (**नः शम् अस्तु**) हमारे लिये सुखकारी हो (**जलाषः**) अभिलाषा पूर्ण करनेवाला (**इन्द्रः**) जीव (**रुद्रेभिः**) प्राणों के साथ (**नः शम्**) हमारे लिए सुखकारी हो (**त्वष्टा**) विश्व का रचनेहारा ईश्वर (**ग्नाभिः**) हमारी बाणियों के द्वारा (**इह**) यहाँ (**नः**) हमारी प्रार्थना को (**शृणोतु**) सुने।

भावार्थ—हे प्रभो! सूर्य की जीवनदायिनी किरणें हमारे लिये सुखकारी हों, बारहों मासों से युक्त स्तुतियोग्य संवत्सर, अभिलाषा पूर्ण करनेवाला जीवात्मा प्राणों के साथ सुखकारी हो। संसार के रचनहारे को हम अपनी तोतली बाणी से पुकारते हैं, उससे करबद्ध याचना करते हैं, वह हमारी प्रार्थना को सुने।

ओं शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्व१ः शम्वस्तु वेदिः॥ ७॥

—[ऋ० ७।३५।७]

शब्दार्थ—(**सोमः नः शम् भवतु**) यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाला सोम-रस हमारे लिये सुखकारी हो (**ब्रह्म नः शम्**) यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाले वेद-मन्त्र हमारे लिये सुखकारी हों (**ग्रावाणः नः शम् सन्तु**) सोम-रस निकालने के लिये प्रयुक्त होने वाले पत्थर हमारे लिये सुखकारी हों (**यज्ञाः उ शम् सन्तु**) जिन यज्ञों को हम करते हैं वे हमारे लिये सुखकारी हों (**स्वरूणाम्**) यज्ञीय-स्तम्भों के (**मितयः**) नाम (**नः शम् भवन्तु**) हमारे लिये सुखकारी हों (**प्रस्वः**) औषधियाँ (**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी हों (**उ वेदिः न शम् अस्तु**) और यज्ञीय-वेदी हमारे लिये सुखकारी हो।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से औषधियों के राजा सोम का रस, वेद के मन्त्र, सोम-रस निकालने के प्रस्तर, यह यज्ञ, यज्ञ में खड़े किये गये यज्ञीय-स्तम्भ, औषधियाँ, यज्ञ की वेदी—ये सब हमारे लिये सुखकारी हों।

ओं शं न सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥ ८॥

—[ऋ० ७।३५।८]

शब्दार्थ—(**उरुचक्षाः**) यह जो मानो संसार की महान् चक्षु (**सूर्यः**) सूर्य है (**नः शम् उदेतु**) हमारे लिये उसका उदय सुखकारी हो (**चतस्रः प्रदिशः न शम् भवन्तु**) चारों दिशाएँ हमारे लिये सुखकारी हों (**ध्रुवयः पर्वताः नः शम् भवन्तु**) स्थिरता के कारणभूत पर्वत हमारे लिये सुखकारी हों (**सिन्धवः उ आपः नः शम् सन्तु**) नदियाँ तथा जल हमारे लिये सुखकारी हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से संसार की यह महान् चक्षु—सूर्य—चारों दिशाएँ, स्थिरता के मानो मूर्तरूप पर्वत, समुद्र के समान उमड़ती नदियाँ और जल हमें सुख देने वाले हों।

ओं शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः॥ ९॥

—[ऋ० ७।३५।९]

शब्दार्थ—(**व्रतेभिः**) अपने निश्चित किये हुए व्रतों—अन्न आदि भोग्य पदार्थों को उत्पन्न करने के द्वारा (**अदितिः**) पृथिवी (**नः शम् भवतु**) हमारे लिये सुखकारी हो (**स्वर्काः**) स्तुति-योग्य (**मरुतः**) प्राण (**नः शं भवन्तु**) हमारे लिये सुखकारी हों (**विष्णुः**) सूर्य (**उ**) और (**पूषा**) मेघ (**नः शम् अस्तु**) हमारे लिये सुखकारी हो (**नः भवित्रम् शम् अस्तु**) हमारा भविष्य सुखकारी हो (**उ वायुः शम् अस्तु**) और वायु भी हमारे लिये सुखकारी हो।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से पृथिवी अन्नादि भोग्य पदार्थों को उत्पन्न करनेवाले अपने व्रतों का पालन करती हुई, स्तुति-योग्य प्राण-शक्ति, सूर्य, मेघ तथा वायु हमारे लिये सुखकारी हों, हमारा भविष्य भी हमारे लिये सुखकारी हो, अर्थात्

हम ऐसे कर्म करें जिनसे पीछे न पछताना या दुःखी होना पड़े।

ओं शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः॥ १०॥

—[ऋ० ७।३५।१०]

शब्दार्थ—(त्रायमाणः) अन्धकार तथा कृमि आदि से रक्षा करनेवाला **(सविता देवः)** उदय होता हुआ दिव्य-शक्ति वाला सूर्य **(नः शम्)** हमारे लिये सुखकारी हो **(प्रभातीः उषसः)** प्रचुर प्रकाशवाली प्रभात वेलाएँ **(नः शं भवन्तु)** हमारे लिये सुखकारी हो **(प्रजाभ्यः)** प्रजाओं के लिये **(पर्जन्यः)** बरसनेवाला मेघ **(शम् भवतु)** सुखकारी हो—न ऐसा हो कि सूका पड़े, न ऐसा हो कि जल-विप्लव ही आ जाय **(क्षेत्रस्य पतिः)** खेतों का मालिक किसान जिसपर हमारी आजीविका निर्भर है वह भी **(शंभुः!)** हे सुख देने वाले प्रभु! **(नः शम् अस्तु)** हमारे लिये सुखकारी हो।

भावार्थ—हे प्रभु! आपकी कृपा से अन्धकार तथा कृमियों से रक्षा करने-वाला, दिव्य शक्तिवाला, उदय होता हुआ सूर्य, प्रचुर प्रकाशवाली प्रभातवेलाएँ, बरसनेवाला मेघ और लहलहाते खेतों का मालिक किसान—ये सब प्रजाओं के लिये सुखकारी हों।

ओं शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः॥ ११॥

—[ऋ० ७।३५।११]

शब्दार्थ—(देवाः) दिव्य गुण-कर्म-स्वभाववाले **(विश्वदेवाः)** सब विद्वज्जन **(नः शम् भवन्तु)** हमारे लिये सुखकारी हों **(सरस्वती=सरस्वती वाङ् नाम;** निघण्टु, १, ११ **)** वाणी **(धीभिः)** बुद्धि के साथ **(शम् अस्तु)** सुखकारी हो **(अभिषाचः)** सब ओर से सम्बन्ध रखने वाले मिलनसार लोग **(उ)** और **(रातिषाचः)** देने-लेने, आदान-प्रदान के कारण सम्बन्ध रखने वाले लोग **(नः शम्)** हमारे लिये सुखकारी हों। **(दिव्याः)** द्यु-लोक के **(पार्थिवाः)** पृथिवी-लोक के **(अप्याः)** जल-लोक के जो भी प्राणी या पदार्थ हों, वे **(नः शम्)** हमारे लिए सुखकारी हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से दिव्य गुण-कर्म-स्वभाव वाला समस्त विद्वत्समाज, बुद्धिपूर्वक वाणी का प्रयोग करने वाले मिलनसार लोग, आदान-प्रदान से जिनके साथ हमारा सम्बन्ध जुड़ गया है—ये सब सुखकारी हों। द्यु-लोक में विचरण करने वाले हवाई जहाज, मेघ, उड़नशील पक्षी, पृथिवी पर विचरण करने वाले मनुष्य-जीव-जन्तु-रथ-मोटर-रेल आदि तथा जल में विचरण करनेवाले मत्स्य-मगर-नाव-जहाज-मोती-मूंगा—ये सब हमारे लिये सुखकारी हों।

ओं शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु॥ १२॥

—[ऋ० ७।३५।१२]

शब्दार्थ—(**सत्यस्य**) सत्य की (**पतयः**) रक्षा करनेवाले (**नः शम् भवन्तु**) हम सब में शान्ति स्थापित करें, (**अर्वन्तः**) शीघ्रगामी—किसी बात को झट समझ जानेवाले विचारशील लोग (**नः शम् सन्तु**) हमारे लिये शान्ति का सन्देश लानेवाले हों (**गावः उ—गौ=ज्ञान**) और ज्ञानी लोग (**नः शम् सन्तु**) हमारे लिये शान्ति देनेवाले हों, (**ऋभवः**) शिल्पी लोग (**सुकृतः**) चतुर लोग (**सुहस्ताः**) उत्तम हाथ वाले अर्थात् कारीगर लोग (**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी हों (**हवेषु**) जब हम आह्वान करें, उनके सामने समस्याएँ रखें तब (**पितरः**) बड़े-बूढ़े लोग (**नः शम् भवन्तु**) हमारे लिये सुखकारी हों, ऐसी सलाह दें, जिससे घर में शान्ति विराजे।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से हमारे समाज में ऐसे व्यक्ति हों जो सत्य की रक्षा कर समाज में शान्ति स्थापित करें, ऐसे व्यक्ति हों जो हमारी समस्याओं को तुरन्त समझ कर ज्ञानपूर्वक उनका ऐसा समाधान निकालें, जिससे हमारी बेचैनी मिट जाये, हमारे भीतर चतुर शिल्पी और कारीगर हों जो हमारे उपयोग में आनेवाले नानाविध उपकरणों का अपने हस्त-कौशल से निर्माण कर सकें और जब किसी समस्या का हल हमारे बूते का न हो, तो हमारे बड़े-बूढ़े हमारी बात सुनकर हमें ऐसी मति दें जिससे हमारा चित्त शान्त हो जाए।

ओं शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः।
शं नो अपां नपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा॥ १३॥

—[ऋ० ७।३५।१३]

शब्दार्थ—(**देवः**) दिव्य गुणोंवाला (**अजः**) अजन्मा (**एकपाद्**) एक ही प्रकार की गतिवाला—एक डग वाला, एक-रस परमेश्वर या सूर्य [**तं सूर्यं अजमेकपादम्**—३,१,१२,८] (**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी (**अस्तु**) हो; (**अहिर्बुध्न्यः—अहिः**=अहिंसक; **बुध्न्यः**=सबके बोध-योग्य) परमेश्वर या मेघ (**नः शम्**) हमारे लिए सुखकारी हों; (**समुद्रः शम्**) समुद्र हमारे लिए सुखकारी हों; (**अपाम्**) आकाशस्थ जलों को (**नपात्**) न गिरने देनेवाला—आकाश में हर समय जल रहता है, परन्तु वर्षा-काल को छोड़कर गिरता नहीं—(**पेरुः**) पालन करनेवाला या दुखों से पार लगानेवाला परमात्मा (**नः**) हमें (**शम्**) शान्तिदायक (**अस्तु**) हो; (**पृश्निः**) व्यापक होने के कारण हर वस्तु को स्पर्श करनेवाला (**देवगोपाः**) दिव्य गुणों का रक्षक परमात्मा (**नः शम् भवतु**) हमें शान्तिदायक हो।

भावार्थ—हे प्रभो! आप अजन्मा, एकरस, अहिंसक, सबके बोध-योग्य हो, आप हमें शान्ति प्रदान करो, अथवा सूर्य तथा मेघ हमें शान्ति प्रदान करें, समुद्र तथा

आकाश में ठहरे हुए जल, हे पालनहार प्रभु! हमारे लिये सुखकारी हों। प्रभु! आप व्यापक होने से रज-रज को स्पर्श कर रहे हो, कोई वस्तु आपसे अछूती नहीं है, आप दिव्यगुणों के रक्षक हो, हमें शान्ति तथा सुख प्रदान करो।

ओं इन्द्रो विश्वस्य राजति। शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ १४॥

—[यजुः० ३६।८]

शब्दार्थ—(**इन्द्रः**) प्रदीप्त सूर्य (**विश्वस्य**) जो विश्व का (**राजति**) प्रकाश करता है (**शं नः अस्तु**) वह हमारे लिये सुखकारी हो और वह (**द्विपदे**) दो पैरवालों के लिये तथा (**चतुष्पदे**) चार पैरवालों के लिये सुखकारी हो।

भावार्थ—हे प्रभो! जो प्रदीप्त सूर्य संसार को प्रकाश दे रहा हैवह दोपायों तथा चौपायों के लिये सुख का देने वाला हो।

ओं शन्नो वातः पवताᳬं शन्नस्तपतु सूर्य्यः।
शन्नः कनिक्रदद् देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु॥ १५॥

—[यजुः० ३६।१०]

शब्दार्थ—(**वातः**) वायु (**नः**) हमारे लिये (**शम्**) सुखकारी (**पवताम्**) बहे; (**सूर्यः**) सूर्य (**नः**) हमारे लिए (**शम्**) सुखकारी (**तपतु**) तपे; (**कनिक्रदत्**) गड़गड़ाता हुआ (**देवः**) दिव्य (**पर्जन्यः**) बरसनेवाला मेघ (**नः**) हमारे लिए (**शम्**) शान्ति को (**अभिवर्षतु**) चारों तरफ से बरसे।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से वायु हमारे लिये सुख को बहा लाये, सूर्य हमारे लिए सुख का ताप दे, गड़गड़ाता हुआ दिव्य मेघ हमारे लिये सुख बरसाये।

ओं अहानि शम्भवन्तु नः शᳪ रात्रीः प्रति धीयताम्। शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्नऽइन्द्रावरुणा रातहव्या। शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रा-सोमा सुविताय शँयोः॥ १६॥

—[यजुः० ३६।११]

शब्दार्थ—(**अहानि**) दिन (**नः**) हमारे लिये (**शम् भवन्तु**) सुखकारी हों; (**रात्रीः**) रात्रियाँ (**नः**) हमारे लिये (**शम्**) सुख को (**प्रतिधीयताम्**) धारण कर हुआ करें; (**इन्द्राग्नी**) बिजली और अग्नि (**अवोभिः**) रक्षा द्वारा (**नः**) हमारे लिये (**शम् भवताम्**) सुखकारी हों; (**रातहव्यौ**) 'हव्य'—अर्थात्, ग्राह्य-पदार्थों को देनेवाले (**इन्द्रावरुणौ**) प्राण और अपान (**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी हों; (**वाजसातौ**) अन्नों की प्राप्ति में (**इन्द्रापूषणौ**) विद्युत् और मेघ (**नः शम्**) हमारे लिये सुखकारी हों; (**सुविताय=सु+इताय**) सन्मार्ग में जाने के लिये या (**सु+वित्ताय**) उत्तम फल लाभ के लिये (**इन्द्रासोमा**) सूर्य और चन्द्र (**शंयोः**) हमें सुख प्रदान करें।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी असीम कृपा से हमारे दिन सुख से बीतें, रातें भी सुख से बीतें; विद्युत् और अग्नि (**इन्द्राग्नी**), प्राण और अपान (**इन्द्रावरुणौ**),

विद्युत् और मेघ **(इन्द्रापूषणौ)** तथा सूर्य और चन्द्र **(इन्द्रासोमा)** हमारे लिये शान्तिदायक हों। यहाँ चार पद हैं—**'इन्द्राग्नी'**—**'इन्द्रावरुणौ'**—**'इन्द्राग्नी'**—**'इन्द्रासोमा'**—जिन सब में **'इन्द्र'** सर्वनिष्ठ है। इससे स्पष्ट है कि वेद में **'इन्द्र'**-शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

ओं शन्नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑।
शँयोर॒भिस्त्र॑वन्तु नः॥ १७॥ —[यजुः० ३६।१२]

शब्दार्थ—वह **(आपः)** सब कामनाओं को प्राप्त करानेवाली **(देवीः)** प्रभु की दिव्य-शक्तियाँ **(नः)** हम सबके लिये **(अभीष्टये)** अभीष्ट फल-प्राप्ति के लिये **(पीतये)** प्रभु-प्रेम का परम-रस-पान करने के लिये **(शम्)** शान्तिदायक **(भवन्तु)** हों और **(शंयोः)** सुख को **(अभिस्त्रवन्तु)** सब दिशाओं से बरसायें।

भावार्थ—हे प्रभु! जिस प्रकार जल शरीर के मलों को दूर करता तथा शरीर को शान्ति पहुँचाता है, इसी प्रकार हम आपके प्रेम का रस-पान करके अपने अन्त:करण में स्थित मल को दूर कर शारीरिक शान्ति की तरह आत्मिक शान्ति प्राप्त करें।

ओं द्यौः शान्ति॑र॒न्तरि॑क्ष॒ꣳ शान्तिः॑ पृथि॒वी शान्ति॒राप॒ः शान्ति॒रोष॑धयः शान्तिः॑। वन॒स्पत॑यः शान्ति॒र्विश्वे॑ दे॒वाः शान्ति॒र्ब्रह्म॒ शान्ति॒ः सर्व॒ꣳ शान्ति॒ः शान्ति॑रे॒व शान्ति॒ः सा मा॒ शान्ति॑रेधि॥ १८॥ —[यजुः० ३६।१७]

शब्दार्थ—**(द्यौः शान्तिः)** द्युलोक शान्तिदायक हो, **(अन्तरिक्षं शान्तिः)** मध्यवर्ती आकाशलोक शान्तिदायक हो, **(पृथिवी शान्तिः)** पृथिवी शान्तिदायक हो, **(आपः शान्तिः)** जल शान्तिदायक हों, **(ओषधयः शान्तिः)** भूमि पर उगनेवाली ओषधियाँ शान्तिदायक हों, **(वनस्पतयः शान्तिः)** वन में होनेवाली वृक्ष-वनस्पतियाँ शान्तिदायक हों, **(ब्रह्म शान्तिः)** यह बृहत् जगत् शान्तिदायक हो, **(सर्वं शान्तिः)** संसार का सब कुछ शान्तिदायक हो, **(शान्तिः एव शान्तिः)** हमें सृष्टि के कोने-कोने में शान्ति ही शान्ति मिले **(सा मा शान्तिः)** वह मेरी शान्ति **(एधि)** बढ़ती ही जाए, घटे नहीं।

भावार्थ—हे प्रभु! आपकी कृपा से द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवीलोक, जल, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, यह विशाल विश्व, संसार का सब कुछ, उसका कोना-कोना शान्ति का ही स्वर अलापे। मुझे सब जगह से शान्ति ही शान्ति प्राप्त हो, जो लगातार बढ़ती ही रहे, बढ़ती ही रहे।

तच्चक्षु॑र्दे॒वहि॑तम्पु॒रस्ता॑च्छु॒क्रमु॒च्चर॑त्। पश्ये॑म श॒रद॑ः श॒तं जीवे॑म श॒रद॑ः श॒तꣳ शृणु॑याम श॒रद॑ः श॒तं प्रब्र॑वाम श॒रद॑ः श॒तमदी॑नाः स्याम श॒रद॑ः श॒तं भूय॑श्च श॒रद॑ः श॒तात्॥ १९॥ —[यजुः० ३६।२४]

शब्दार्थ—**(तत्)** वह ब्रह्म **(चक्षुः)** सबका मार्गदर्शक है **(देवहितम्)**

विद्वानों का परमहितकारक है। **(पुरस्तात्)** वह सबसे प्रथम **(उच्चरत्)** सबसे ऊपर विद्यमान **(शुक्रम्)** तेजोमय शक्ति है। हम उसे **(शतम्)** सौ **(शरदः)** वर्षों तक **(पश्येम)** ज्ञान-चक्षु से देखें। उसकी कृपा से **(शतम्)** सौ **(शरदः)** वर्षों तक **(जीवेम)** जीवित रहें। उसके गुण **(शतम्)** सौ **(शरदः)** वर्षों तक **(शृणुयाम)** सुनते रहें, तथा उन्हीं गुणों को **(शतम्)** सौ **(शरदः)** वर्षों तक **(प्रब्रवाम)** दूसरों को सुनाते रहें, जिससे हम **(शतम्)** सौ **(शरदः)** वर्षों तक **(अदीनाः)** अदीन **(स्याम)** हों, और **(शतात्)** सौ से **(भूयः)** अधिक **(शरदः)** वर्षों तक **(च)** भी अदीन होकर रहें।

इस मन्त्र का सूर्य के सम्बन्ध में भी अर्थ किया जाता है—**(तत्)** वह **(पुरस्तात्)** सामने **(उच्चरत्)** उदय होता हुआ **(शुक्रम्)** ज्योतिर्मय **(देवहितम्)** परमेश्वर की ओर से निहित—निश्चित **(चक्षुः)** संसार का मार्गदर्शक है। हे प्रभु, ऐसी कृपा कीजिये कि उसके मार्गदर्शन को हम **(शतम् शरदः पश्येम)** सौ बरस तक ऐसे ही देखते रहें जैसे अब देख रहे हैं, **(शतम् शरदः शृणुयाम)** सौ बरस तक ऐसे ही उसके उपदेश को सुनते रहें जैसे आज सुन रहे हैं—इत्यादि।

भावार्थ—हे प्रभो! आप सबके मार्गदर्शक हैं, विद्वानों के परमहितकारक हैं, आप तेजोमय शक्ति हैं—हम सौ बरस तक आपको ज्ञान-चक्षु से देखते रहें, सौ बरत तक आपके उपदेश को सुनते रहें, सौ बरस तक आपकी कृपा से हम स्वस्थ-जीवन बितायें और जन्म-जन्मान्तर तक बार-बार जीवन पाकर हम आपका यश देखते-सुनते रहें।

ओं यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २०॥

—[यजुः० ३४।१]

शब्दार्थ—**(यत् देवम्)** जो दिव्य शक्तिवाला **(जाग्रतः)** जागते हुए **(दूरम्)** दूर तक **(उदैति)** उड़ान भरता है **(तत् उ)** वही **(सुप्तस्य)** सोते हुए **(तथा एव)** वैसे ही **(एति)** गति करता है **(तत्)** वह **(दूरम् गमम्)** दूर तक जानेवाला **(ज्योतिषाम्)** प्रकाशकों—अर्थात् ज्ञान करानेवाली इन्द्रियों का **(ज्योतिः)** प्रकाशक अर्थात् ज्ञान-साधक **(एकं)** एक ही है **(तत् मे मनः)** वह मेरा मन **(शिव संकल्पम्)** शुभ विचारोंवाला **(अस्तु)** हो।

भावार्थ—हे प्रभो! दिव्य शक्तिवाला जो मन जागते और सोते हुए विचार करता-करता दूर-दूर तक चला जाता है, जो ज्ञान देनेवाली इन्द्रियों को ज्ञान लाकर देता है, जिसके बिना इन्द्रियाँ ज्ञान ग्रहण नहीं कर सकतीं, वह मेरा मन आपकी कृपा से शुभ विचारोंवाला हो।

ओं येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २१॥

—[यजुः० ३४।३]

शब्दार्थ—(**येन**) जिसके द्वारा (**धीराः**) धीर पुरुष (**मनीषिणः**) मनस्वी लोग (**यज्ञे**) देवपूजा, संगतिकरण तथा दान आदि में (**विदथेषु=विद् ज्ञाने+अथ=प्रारम्भ**) प्रारम्भ से ही ज्ञानपूर्वक (**कर्माणि**) करने योग्य (**अपसः**) कर्मों को (**कृण्वन्ति**) करते हैं, (**यत्**) जो (**प्रजानाम्**) उत्पन्न हुए पदार्थों में या हम प्राणियों में (**अपूर्वम्**) अपूर्व है, विलक्षण है (**यक्षम्**) पूजनीय है (**तत्**) वह (**मे**) मेरा (**मनः**) मन (**शिवसंकल्पम् अस्तु**) शुभ विचारोंवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस मन के द्वारा शरीर से धीर तथा मन से मनस्वी लोग ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते हैं, जो हम प्राणियों को आपकी अपूर्व, विलक्षण देन है—इसलिये जो हमारे लिये पूजा के योग्य है, वह हमारा मन शुभ विचारोंवाला हो। यह मन हमारे पास आपकी दी हुई एक ऐसी देन है, जिसका अगर हम सदुपयोग करें तो जीवन को सफल बना सकते हैं और अगर उसका दुरुपयोग करें तो जीवन को निरर्थक भी बना सकते हैं।

ओं यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्जोतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २२॥

—[यजुः० ३४।३]

शब्दार्थ—(**यत्**) जो (**प्रज्ञानम्**) ज्ञान का देनेहारा है (**उत्**) और जो (**चेतः**) चेतन है और जो (**धृतिः**) धैर्य देनेवाला है (**च**) और (**यत्**) जो (**प्रजासु**) मनुष्यों के (**अन्तः**) भीतर (**अमृतम् ज्योतिः**) अमर-ज्योति के रूप में विद्यमान है (**यस्मात्**) जिसके (**ऋते**) बिना (**किंचन**) कोई भी (**कर्म**) काम (**न**) नहीं (**क्रियते**) किया जाता (**तन्मे मनः शिव संकल्पम् अस्तु**) वह मेरा मन शुभ विचारोंवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! जो मेरा मन ज्ञान का साधन और चेतन है, जो विकट परिस्थितियों में मुझे धैर्य देता है, जो अमर-ज्योति के रूप में हमारे अन्तःकरण में बैठा हुआ है, जिसके बिना हम अंगुली तक नहीं हिला सकते, वह मेरा मन शुभ विचारों वाला हो।

यहाँ मन को ज्ञान देनेवाला होने के साथ-साथ चेतन कहा है। वर्तमान विज्ञान के अनुसार मन केवल 'तंत्रिका-तन्त्र' (Nervous system) का नाम है जो जड़ है। मन्त्र कहता है कि मेरा मन तो जड़ नहीं चेतन है, अर्थात् यह केवल 'तंत्रिका-तंत्र' (ह्दृह्1श्ह्ह्य ह्य4ह्यह्दृद्ब) नहीं, उससे बहुत अधिक है, चेतन है।

ओं येनेदम्भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २३॥

—[यजुः० ३४।४]

शब्दार्थ—(**येन अमृतेन**) जिस अमर मन ने (**इदम्**) यह (**सर्वम्**) सब (**भूतम्**) भूतकाल को (**भुवनम्**) वर्तमान-काल को (**भविष्यत्**) भविष्यत्-काल को (**परिगृहीतम्**) अपनी चिन्तन-शक्ति से चारों तरफ से मानो मुट्ठी में पकड़ा हुआ है, (**येन**) जिसके द्वारा (**सप्त होता**) सात होताओं—२ आँखें, २ नाक, २ कान तथा १ मुख—से (**यज्ञः**) जीवन-यज्ञ (**विततः**) विस्तृत हो रहा है (**तन्मे मनः शिव संकल्पम् अस्तु**) वह मेरा मन शुभ विचारोंवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस मन ने अपनी चिन्तन-शक्ति से भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् को मानो मुट्ठी में पकड़ रखा है, अर्थात् जो तीनों कालों का चिन्तन कर सकता है और जिस मन की सहायता से शरीररूपी यज्ञ में आँखें, नाक, कान तथा मुख 'होता' बनकर जीवन-यज्ञ चला रहे हैं, वह मेरा मन शुभ विचारोंवाला हो।

ओं यस्मिन्नृचः साम यजूंꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २४॥

—[यजुः० ३४।५]

शब्दार्थ—(**यस्मिन्**) जिस मन में (**ऋचः साम यजूंषि**) ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद (**रथनाभौ**) रथ की नाभि में (**आराः इव**) आरों की तरह (**प्रतिष्ठिताः**) ठहरे हुए, जुड़े हुए हैं, (**यस्मिन्**) जिस मन में (**सर्वम्**) सब (**प्रजानाम्**) प्राणियों का (**चित्तम्**) चिन्तन (**ओतम्**) पिरोया हुआ है, (**तन्मे मनः शिव संकल्पम् अस्तु**) वह मेरा मन शुभ विचारोंवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस मन में रथ-नाभि में आरों की तरह ऋक्, साम, यजु पिरोये हुए हैं, जिसमें हर प्राणी का चिन्तन समाया हुआ है, वह मेरा मन आपकी कृपा से शुभ विचारोंवाला हो।

ओं सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २५॥

—[यजुः० ३४।६]

शब्दार्थ—(**अभीशुभिः**) लगामों से (**सुसारथिः**) अच्छा सारथि (**वाजिनः**) बलवान् (**अश्वान्**) घोड़ों को (**इव**) जैसे (**नेनीयते**) इधर-उधर घुमाता है, इस प्रकार जो (**मनुष्यान् नेनीयते**) मनुष्यों को घुमाता-फिरता है, (**हृत् प्रतिष्ठम्**) हृदय में बैठा हुआ (**यत्**) जो (**अजिरम्**) गतिशील, चञ्चल तथा (**जविष्ठम्**) शीघ्रगामी मन है (**तन्मे मनः शिव संकल्पम् अस्तु**) वह मेरा मन शुभ विचारोंवाला हो।

भावार्थ—हे प्रभो! जैसे उत्तम कुशल सारथि घोड़ों को लगामों की सहायता से जिधर चाहता है घुमा ले जाता है, इसी प्रकार हृदय में बैठा यह गतिशील, चञ्चल, शक्तिमान् मन हमें भरमाये फिरता है। कृपा करो भगवन्! ताकि यह मन शुभ-संकल्पोंवाला हो जिससे यह हमें कुपथ में बरबस भटकाने के स्थान में सुपथ में ले जाये।

ओं स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते।
शं राजन्नोषधीभ्यः॥ २६॥ —[साम० उत्तरा० १।१।३]

शब्दार्थ—(**सः**) वह आप (**नः**) हमें (**पवस्व**) पवित्र करें, (**गवे**) गौ आदि भोग्य-पदार्थ देनेवाले पशुओं के लिये आप (**शम्**) कल्याण करें, (**जनाय**) जन-साधारण के लिये (**शम्**) कल्याण करें, (**अर्वते**) घोड़े आदि वाहन के योग्य पशुओं के लिये (**शम्**) कल्याण करें, (**राजन्**) हे दीप्तियुक्त प्रभु! (**वनस्पतिभ्यः**) वृक्ष-वनस्पति के लिये भी आप (**शम्**) कल्याण करें।

भावार्थ—प्रभु से प्रार्थना है कि आप हमारे मन को पवित्र करें ताकि हमारे मन में सबके कल्याण की याचना की भावना का उदय हो। हम इतने पवित्र मन के हो जायें ताकि हम हृदय से जन-साधारण की, पशु-मात्र तथा वनस्पति-मात्र के कल्याण की याचना करें। हे प्रभो! हमारी आपसे बार-बार यही प्रार्थना है कि आप सबका कल्याण करें।

ओं अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥ २७॥
—[अथर्व० १९।१५।५]

शब्दार्थ—(**नः**) हमारे लिये (**अन्तरिक्षं**) अन्तरिक्ष को (**अभयम्**) अभय देनेवाला (**करत्**) करो, (**पश्चात्**) पीछे से, अदृश्य स्थान से (**अभयम्**) अभय प्राप्त हो, (**पुरस्तात्**) सामने से, प्रत्यक्ष स्थान से (**अभयम्**) अभय प्राप्त हो, (**उत्तरात्**) अति ऊँचे स्थान से (**अधरात्**) नीचे अर्थात् छिपे हुए स्थान से (**अभयम्**) अभय (**नः**) हमें (**अस्तु**) हो।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपा से अन्तरिक्ष आदि लोकों में हमें किसी प्रकार का भय न हो, हमें सामने से, पीछे से, नीचे से—चारों दिशाओं से—कहीं से भी किसी प्रकार का भय न हो।

ओं अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ २८॥
—[अथर्व० १९।१५।६]

शब्दार्थ—(**नः**) हमें (**मित्रात्**) मित्र से (**अभयम्**) अभय हो, (**अमित्रात्**)

शत्रु से **(अभयम्)** अभय हो, **(ज्ञातात्)** जिसे हम जानते हैं, उससे **(अभयम्)** अभय हो, **(परोक्षात्)** जो परोक्ष है, जिसे हम नहीं जानते उससे **(अभयम्)** अभय हो, **(नक्तम् अभयम्)** रात या अन्धकार में भय न हो, **(दिवा अभयम्)** दिन को, प्रकाश में भी भय न हो, **(सर्वाः)** सब **(आशाः)** दिशाएँ **(मम)** मेरी—हमारी **(मित्रम्)** मित्र **(भवन्तु)** हों।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी दया से हमें मित्र-अमित्र, ज्ञात-अज्ञात, दिन-रात किसी तरफ से अकल्याण प्राप्त न हो। सब दिशाओं में हमें कल्याणकारी ही कल्याणकारी दिखलाई दें, हम सबका कल्याण करें, सब हमारा कल्याण करें। मित्र से अभय, ज्ञात से अभय, दिन से अभय का विशेष अर्थ है। अमित्र से तो मनुष्य सावधान रहता ही है, मित्र से चौकन्ना नहीं रहता, वह विश्वासघात करके पेट में छुरी खुभो देता है, अज्ञात से तो मनुष्य सावधान रहने का प्रबन्ध करता ही है, ज्ञात-व्यक्ति ही ज्यादा नुकसान पहुँचाने का प्रयत्न करता है, रात के लिये तो पहरेदार रखे ही जाते हैं दिन में मनुष्य असावधान हो जाता है—इसीलिये इस वेद-मन्त्र में मित्र, ज्ञात, दिन से जो अनजाना भय आ सकता है, उसके लिये प्रभु से अभय की याचना की गई है।

॥ इति शान्तिकरणम् ॥

अथ सामान्यप्रकरणम्

[प्रारम्भिक निर्देश—संस्कारविधि के शब्दों में]

नीचे लिखी हुई क्रिया सब संस्कारों में करनी चाहिये। परन्तु जहाँ-कहीं विशेष होगा वहाँ सूचना कर दी जाएगी कि यहाँ पूर्वोक्त अमुक कर्म न करना और इतना अधिक करना, यह स्थान-स्थान में जाना दिया जाएगा।

यज्ञदेश—यज्ञ का देश पवित्र अर्थात् जहाँ स्थल, वायु शुद्ध हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो।

यज्ञशाला—इसी को 'यज्ञमण्डप' भी कहते हैं। यह अधिक-से-अधिक सोलह हाथ, सम-चौरस, चौकोण और न्यून-से-न्यून आठ हाथ की हो। यदि जहाँ भूमि अशुद्ध हो तो दो-दो हाथ यज्ञशाला की और जितनी गहरी वेदी बनानी हो उतनी पृथिवी खोद अशुद्ध निकाल कर उसमें शुद्ध मट्टी भरें। यदि सोलह हाथ की सम-चौरस हो तो चारों ओर बीस खम्भे और जो आठ हाथ की हो तो बारह खम्भे लगाकर उनपर छाया करें। वह छाया की छत्त वेदी की मेखला से दस हाथ ऊँची अवश्य हो और यज्ञशाला के चारों दिशा में चार द्वार रक्खें और यज्ञशाला के चारों ओर ध्वजा, पताका, पल्लव आदि बाँधें। नित्य मार्जन तथा गोमय से लेपन करें और कुमकुम, हल्दी, मैदा की रेखाओं से सुशोभित किया करें। मनुष्यों को योग्य है कि सब मंगलकार्यों में अपने और पराये कल्याण के लिये यज्ञ द्वारा ईश्वरोपासना करें। इसीलिये निम्नलिखित सुगन्धित आदि द्रव्यों की आहुति यज्ञकुण्ड में देवें।

यज्ञकुण्ड का परिमाण—जो लक्ष आहुति करनी हो तो चार-चार हाथ का चारों ओर सम-चौरस चौकोण कुण्ड ऊपर और उतना ही गहरा और चतुर्थांश नीचे, अर्थात् तले में एक-एक हाथ चौकोण लम्बा चौड़ा रहे। इसी प्रकार जितनी आहुति करनी हों उतना ही गहरा चौड़ा कुण्ड बनाना, परन्तु अधिक आहुतियों में दो-दो हाथ अधिक अर्थात् दो लक्ष आहुतियों में छह हस्त परिमाण का चौड़ा और सम-चौरस कुण्ड बनाना। जो पचास हजार आहुति देनी हों तो एक हाथ घटाव, अर्थात् तीन हाथ गहरा-चौड़ा सम-चौरस और पौन हाथ नीचे। तथा २५ हजार आहुति देनी हों तो दो हाथ चौड़ा-गहरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे। दश हजार आहुति तक इतना ही, अर्थात् दो हाथ चौड़ा-गहरा सम-चौरस और आध हाथ नीचे रखना। पाँच हजार आहुति तक डेढ़ हाथ चौड़ा गहरा सम-चौरस और साढ़े ८ अंगुल नीचे रहे।

यह कुण्ड का परिमाण विशेष घृताहुति का है। यदि इसमें ढाई हजार आहुति मोहनभोग, खीर और ढाई हजार घृत की देवे तो दो ही हाथ का चौड़ा-गहरा सम-

चौरस और आध हाथ नीचे कुण्ड रखे। चाहे घृत की हजार आहुति देनी हों, तथापि सवा हाथ से न्यून चौड़ा-गहरा सम-चौरस और चतुर्थांश नीचे न बनावे। और इन कुण्डों में पन्द्रह अंगुल की मेखला अर्थात् पाँच-पाँच अंगुल की ऊँची तीन बनावे और ये तीन मेखला यज्ञशाला की भूमि के तले से ऊपर करनी। प्रथम पाँच अंगुल ऊँची और पाँच अंगुल चौड़ी, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी मेखला बनावे।

यज्ञ-समिधा—पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आंब [=आम], बिल्व आदि की समिधा वेदी के प्रमाणे छोटी-बड़ी कटवा लेवें। परन्तु ये समिधा कीड़ा लगीं, मलिन देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों। अच्छी प्रकार देख लेवें और चारों ओर बराबर और बीच में चुनें।

होम के द्रव्य चार प्रकार—(**प्रथम**—सुगन्धित) कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेत चन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री आदि। (द्वितीय—**पुष्टिकारक**) घृत, दूध, फल, कन्द, अन्न, चावल, गेहूँ, उड़ आदि। (तीसरे—**मिष्ट**) शक्कर, सहत (=शहद), छुहारे, दाख आदि। (चौथे—**रोगनाशक**) सोमलता अर्थात् गिलोय आदि औषधियाँ।

स्थालीपाक—नीचे लिखे विधि से भात, खिचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ बनावे।

सबको यथावत् शोध छान देखभाल सुधार कर करें। इन द्रव्यों को यथायोग्य मिला के पाक करना। जैसे कि सेर भर घी के मोहनभोग में रत्ती भर कस्तूरी, मासे भर केशर, दो मासे जयफल, जावित्री, सेर भर मीठा, सब डालकर मोहनभोग बनाना। इसी प्रकार अन्य मीठा भात, खीर, खीचड़ी [लवण रहित] मोदक आदि होम आदि के लिये बनावें।

चरु अर्थात् होम के लिए पाक बनाने की विधि—(ओम् अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि) अर्थात् जितनी आहुति देनी हो प्रत्येक आहुति के लिए चार-चार मुट्ठी चावल आदि लेके **(ओं अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि)** अर्थात् अच्छे प्रकार जल से धोके पाकस्थाली में डाल अग्नि से पका लेवे। जब होम के लिये दूसरे पात्र में लेना हो तभी आज्यस्थाली वा शाकल्यस्थाली में निकाल के यथावत् सुरक्षित रक्खें और उसपर घृत सेचन करें।

यज्ञपात्र—विशेषकर चाँदी, सोना अथवा काष्ठ के पात्र होने चाहिये।

[यज्ञ के लिये जो सामान जुटाकर रखना चाहिये]

(१) यज्ञ-कुण्ड, (२) चार छोटी थालियाँ सामग्री के लिये, (३) चार साधारण कटोरियाँ, (४) घी के लिये एक बड़ी कटोरी, (५) चार छोटे चम्मच, (६) एक बड़ा चम्मच या स्रोता, (७) डेढ़ पाव या आध सेर घी, (८) धूप एक तथा दो पैकेट सामग्री, (९) चन्दन, पलाश या आम आदि की समिधाएँ, (१०) चार मट्टी के दीये, (११) थोड़ी-सी रुई बत्ती बनाने के लिये, (१२) कपूर, (१३)

दीया सलाई की दो डब्बी, (१४) हाथ से झलने का पंखा, (१५) जलभरा लोटा, (१६) चार यज्ञोपवीत, (१७) यज्ञ-वेदी को सजाने के लिये आटा, पिसी हुई हल्दी, रोली, (१८) छह आसन, (१९) दो पुष्प मालाएँ, (२०) कुछ मिष्टान्न।

यज्ञ छोटा हो, बड़ा हो—इन बातों को ध्यान में रखकर उक्त सामान में हेर-फेर किया जा सकता है। प्रतिदिन के होम में इतने सामान, घी, सामग्री की आवश्यकता नहीं, सत्संगों के साप्ताहिक होम में कुछ अधिक सामान चाहिये और बाकायदा के संस्कारों के होम में लगभग ऊपर लिखा सामान जुटा लेना सुविधाजनक रहता है।

प्रत्येक संस्कार में उक्त सामग्री के अतिरिक्त जो सामग्री अपेक्षित होगी उसका उस संस्कार में निर्देश कर दिया जायेगा।

[ऋत्विजों के कार्य तथा उनका आसन]

ऋत्विज् का अर्थ है वे व्यक्ति जो यज्ञ को यथाविधि करते हैं। ऋत्विजों की संख्या १६ तक पहुँच सकती है, परन्तु प्राय: आम यज्ञों में चार से काम चल जाता है। ये चार हैं—होता, अध्वर्यु, उद्‌गाता तथा ब्रह्मा। साधारण यज्ञों में जहाँ पति-पत्नी तथा ऋत्विज् हों ६ आसन होने चाहिएँ। यजमान का आसन पश्चिम में होने के कारण वह पूर्वाभिमुख बैठता है, यजमान के दाहिनी ओर उसकी पत्नी बैठती है अथवा यजमान का आसन दक्षिण में भी हो सकता है, तब वह उत्तराभिमुख बैठेगा। होता वेदी से पश्चिमासन तथा पूर्व-मुख, अध्वर्यु वेदी से उत्तरासन तथा दक्षिण-मुख, उद्‌गाता वेदी से पूर्वासन तथा पश्चिम-मुख और ब्रह्मा वेदी से दक्षिणासन तथा उत्तर-मुख बैठते हैं। यजमान और होता या यजमान और ब्रह्मा एक ही दिशा में बैठ सकते हैं।

'यजमान' का आसन सङ्कल्प का आसन है। किसी सङ्कल्प या प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर वह यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है। 'होता' का काम यज्ञ की रूप-रेखा तैयार करना है, उसे यह देखना है कि इस सारे उपक्रम में कोई त्रुटि न हो। 'अध्वर्यु' का अर्थ है—'ध्वर', अर्थात् हिंसा न होने देना। होता ने तो कार्यप्रणाली बना दी, अब उसको क्रिया का रूप देना अध्वर्यु का काम है, उसे यह देखना है कि होता की बनाई रूप-रेखा पूरी हो जाए, कहीं त्रुटि न रहे। कहीं कार्य में भूल देखी गई तो होता से अध्वर्यु कहेगे कि इस भूल को सुधारो। अध्वर्यु को बड़ा सजग रहना पड़ता है, विधि में कहीं कमी न आ जाए—यह देखना इनका काम है। होता ने जो कार्यक्रम बनाया है, उसमें कमी दीखे तो होता के सामने उपस्थित करना और उस त्रुटि को दूर कराना इनके सुपुर्द है। 'उद्‌गाता' का काम सुस्वर वेद-मन्त्रों का गान करना है। इन्हें 'उद्‌गाता' इसलिये कहते हैं ताकि सब लोग मिलकर इनके साथ उच्च-स्वर से मन्त्रों का गान करें। 'ब्रह्मा' का काम मौन बैठे रहकर सारी विधि का निरीक्षण करते रहना है। अगर सारी विधि ठीक-ठीक से होगी तो ब्रह्मा चुपचाप सब

देखते रहेंगे, अगर उन्हें त्रुटि दिखलाई देगी तो गाड़ी को रोककर ठीक करा देंगे। सबके यथा-स्थान बैठने पर—

[ऋत्विग्वरण][१]

विशेष द्रष्टव्य—ऋत्विग्वरण-विधि 'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना' से पहले भी की जा सकती है। उस हालत में यहां करने की जरूरत नहीं रहती।

यजमान बोले—'ओमावसोः सदने सीद'—हे भगवन्! **(वसोः)** यज्ञ के **(सदने)** आसन पर **(आ-सीद)** आकर बैठिये।

ऋत्विज् उत्तर दें—**'ओं सोदामि'**—जी हाँ, मैं बैठता हूँ।

यजमान बोले—**'अहम् अद्य उक्त-कर्म-करणाय भवन्तं वृणे'**—मैं आज इस कर्म के लिये आपको स्वीकार करता हूँ। **'उक्त-कर्म'** की जगह जो कर्म करना हो उसे बोले।

ऋत्विज् उत्तर दे—**'वृतोऽस्मि'**—मुझे स्वीकार है।

[तीन मन्त्रों से आचमन-विधि][२]

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा॥ १॥

शब्दार्थ—हे **(ओम्)** रक्षक **(अमृत)** अमृतस्वरूप भगवन्! आप हमारे **(उपस्तरणं)** बिछौने के समान **(असि)** हैं, **(स्वाहा)** यह मैं यथार्थ रूप से जानता हूँ।

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा॥ २॥

शब्दार्थ—हे **(ओम्)** रक्षक **(अमृत)** अमृतस्वरूप भगवन्! आप हमारे **(अपिधान)** ओढ़ने के समान **(असि)** हैं, **(स्वाहा)** यह मैं यथार्थरूप से जानता हूँ।

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम् स्वाहा॥ ३॥

हे **(ओम्)** रक्षक भगवन्! **(सत्यं यशः)** सचाई से प्राप्त किया हुआ यश तथा

---

१. सभ्यता की दृष्टि से यह उचित है कि जिसे हम ऋत्विज् वरण कर रहे हैं उससे प्रार्थना करें कि आप इस कृत्य के प्रधान के तौर पर आकर आसन पर विराजिये। प्रत्येक सभा-सोसाइटी में यह सभ्य शैली है।

२. आचमन की विधि का भावार्थ यह है कि यजमान, ऋत्विज् तथा संस्कार में उपस्थित सब लोग इस भावना से बैठे हैं मानो अमृतस्वरूप भगवान् की गोद में वे बैठे हैं—उनका बिछौना भी वह है, ओढ़ना भी वह है। इस प्रकार अमृत की गोद में बैठे हुए वे प्रतिज्ञा करते हैं कि अगर वे यश प्राप्त करना चाहेगे तो झूठा यश नहीं चाहें, सचाई, ईमानदारी से जो यश मिलेगा उसी यश को वे चाहेंगे, इसी प्रकार वे प्रतिज्ञा करते हैं कि जो धन वे चाहेंगे वह सचाई और ईमानदारी से कमाया हुआ धन होगा, बेईमानी से, धोखेधड़ी से कमाया हुआ धन नहीं होगा।

(सत्यं श्रीः) सचाई से प्राप्त किया हुआ धन **(मयि)** मुझमें **(श्रीः)** धन के रूप में **(श्रयताम्—श्री श्रये)** आश्रय ग्रहण करें।

[अंग-स्पर्श के मन्त्र]

उक्त तीन आचमन करने के बाद बायीं हथेली में थोड़ा-सा जल डालकर उसमें से दाहिने हाथ की मध्यमा तथा अनामिका अंगुलियों से जल-स्पर्श करके प्रथम दायें फिर बायें भाग का निम्न मन्त्रों से अर्थ-विचारपूर्वक इन अंगों के दोषों को दूर करने के लिये प्रभु से प्रार्थना करते हुए स्पर्श करें—

ओं वाङ्मऽय आस्येऽस्तु ॥ १ ॥ —इस मन्त्र से मुख को स्पर्श करें

शब्दार्थ—**(ओम्)** हे ज्ञान के रक्षक प्रभो! **(मे आस्ये)** मेरे मुख में **(वाक्)** वाक्-शक्ति **(अस्तु)** विद्यमान रहे।

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥ २ ॥ —इस मन्त्र से नासिका के दोनों छिद्रों को स्पर्श करें।

शब्दार्थ—**(ओम्)** हे जीवन देनेहारे प्रभो! **(मे नसोः)** मेरी दोनों नासिकाओं में **(प्राणः)** प्राण-शक्ति **(अस्तु)** विद्यमान रहे।

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥ ३ ॥ —इस मन्त्र से दोनों आँखों का स्पर्श करें

शब्दार्थ—**(ओम्)** हे मार्गदर्शक प्रभो! **(मे अक्ष्णोः)** मेरी दोनों आँखों की **(चक्षुः)** देखने की शक्ति **(अस्तु)** विद्यमान रहे।

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥ ४ ॥ —इस मन्त्र से दोनों कानों का स्पर्श करें

शब्दार्थ—**(ओम्)** हे भक्तों की प्रार्थना सुननेहारे प्रभो! **(मे कर्णयोः)** मेरे दोनों कानों में **(श्रोत्रम्)** सुनने की शक्ति **(अस्तु)** विद्यमान रहे।

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥ ५ ॥ —इस मन्त्र से दोनों भुजाओं का स्पर्श करें

शब्दार्थ—**(ओम्)** हे बल देनेहारे प्रभो! **(मे बाह्वोः)** मेरी भुजाओं में **(बलम्)** बल **(अस्तु)** विद्यमान रहे।

ओम् ऊर्वोर्म ओजोस्तु ॥ ६ ॥ —इस मन्त्र से दोनों जङ्घाओं का स्पर्श करें

शब्दार्थ—**(ओम्)** हे पराक्रम देनेहारे! **(मे ऊर्वोः)** मेरी जङ्घाओं में **(ओजः)** पराक्रम **(अस्तु)** रहे।

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु ॥ ७ ॥

—इस मन्त्र से शरीर के सब अंगों पर जल के छींटे दे

शब्दार्थ—**(ओम्)** रोगों को दूर करनेवाले प्रभो! **(मे अंगानि)** मेरे अंग **(अरिष्टानि)** रोग रहित और **(मे तनूः)** मेरा शरीर—शरीर के सब अंग—**(तन्वा)** विस्तार के **(सह)** साथ **(सन्तु)** विद्यमान रहें—बढ़ें, फैलें, सुदृढ़ हों।

[अग्न्याधान का मन्त्र]

नीचे लिखे मन्त्र से दीये की लौ या दीयासलाई से कपूर को या घी में डुबोई

रुई की बत्ती को आग लगाकर हवन-कुण्ड में चिनी समिधाओं में अग्नि का आधान करें—

ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥

—[यजुः० ३।५]

शब्दार्थ—(**ओ३म्**) हे सर्वरक्षक प्रभो! आप (**भूः**) सबकी सत्ता को बनानेवाले (**भुवः**) सत्ता का विस्तार करनेवाले (**स्वः**) विस्तार का उद्देश्य सुख है—उसे देनेवाले हो। हे (**ओं**) ओंकार स्वरूप प्रभु! आप भूः-भुवः-स्वः हो। (**द्यौः**) आकाश (**इव**) जिस प्रकार (**भूम्ना**) बहुतायत से सुशोभित है, इसी प्रकार (**पृथिवी**) यह भूमि (**व**) भी (**वरिम्णा**) श्रेष्ठता से भरपूर हो जाए, इस उद्देश्य से मैं (**तस्याः**) उस (**ते**) तेरे (**पृथिवी**) हे पृथिवी! (**देवयजनि**) देवों का यजन जिसमें किया जाता है, उसके (**पृष्ठे**) पीठ पर (**अग्निम्**) अग्नि को (**अन्नादम्**) हवि का भक्षण करनेवाली को (**अन्नाद्याय**) हवि-भक्षण के लिये (**आदधे**) स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! जिस प्रकार आकाश बहुतायत से, विस्तीर्ण होकर शोभायमान है, इसी प्रकार यह भूमि श्रेष्ठता से विस्तीर्ण रूप में शोभायमान हो जाए, इस उद्देश्य से हवि का भक्षण कर उसे सूक्ष्म रूप में पृथिवी में सर्वत्र फैला देने, विस्तीर्ण कर देने के लिए अग्नि की स्थापना करता हूँ, क्योंकि अग्नि का काम उसमें जो डाला जाता है उसे सूक्ष्म करके जगत् के कोने-कोने में विस्तीर्ण कर देना, फैला देना है।

[अग्नि को प्रदीप्त करने का मन्त्र]

ऊपर का मन्त्र पढ़कर अग्नि को हवन कुण्ड में रख लेने के बाद निम्न मन्त्र से उसको प्रदीप्त करे और जरूरत हो, तो पंखे से उसे झले ताकि सब समिधाओं को अग्नि पकड़ ले—

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳ सृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥

—यजुः० १५।५४

शब्दार्थ—(**अग्ने**) हे अग्ने! (**त्वम्**) तू (**उद्बुध्यस्व**) उठ जाग और (**प्रतिजागृहि**) सदा जागती रह (**त्वम्**) तू अग्नि (**अयम् च**) और यह यजमान (**इष्टापूर्ते**—इष्ट=अभिलषित—जिन्हें हम चाह रहे हैं; (**आपूर्त**=जो हमारे काम पूरे हो चुके हैं) जिन कामों को तुम करना चाहते हो या जिन्हें तुम पूरा कर चुके हो उनका (**संसृजेथाम्**) सर्जन करो—वैसे नये-नये काम परस्पर सहयोग से करते हो (**अस्मिन्**) इस (**सधस्थे**) सामूहिक-स्थान या यज्ञ में (**अधि**) तथा (**उत्तरस्मिन्**) इससे भी अच्छे सामूहिक-स्थान या यज्ञ में (**विश्वे देवाः**) सब विद्वान् लोग

(यजमानश्च) और यजमान **(सीदत)** आकर बैठें।

भावार्थ—हे प्रभो! यह यज्ञाग्नि प्रदीप्त हो और यजमान तथा यज्ञाग्नि दोनों पारस्परिक-सहयोग से नाना प्रकार के कार्यों को यज्ञ की भावना से करते रहें। जिन 'इष्ट' कार्यों को ये करना चाहते हैं या जिन्हें **'आपूर्त'**—अर्थात् पूरा कर चुके हैं, ऐसे नये-नये कार्यों का ये सर्जन कर उन्हें यज्ञ की भावना से पूरा करें। प्रत्येक महान् कार्य का प्रारम्भ करते हुए यज्ञाग्नि प्रदीप्त की जाती है। यह यज्ञाग्नि एक प्रकार का प्रतीक (Symbol) है, उस भावना का जिस भावना से किसी कार्य को करना चाहिए। उस कार्य में 'अग्नि' का आधान उस उत्साह, जोश, तीव्र भावना का सूचक है, जिससे मनुष्य को काम में लगना चाहिये, उस काम को पूरा करने के लिये दिल में आग होनी चाहिए; 'यज्ञ' करने का अर्थ है कि उस काम को 'यज्ञ'—अर्थात्, निःस्वार्थ—की भावना से परन्तु अग्नि के समान जोश से करना चाहिये।

[समिदाधान के चार मन्त्रों से तीन समिदाधान]

जब हवन-कुण्ड की समिधाओं में अग्नि प्रविष्ट होने लगे तब चन्दन, आम अथवा पलाशादि की आठ-आठ अंगुल की तीन समिधाएँ घी में डुबोकर उनमें से एक-एक निकालकर नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक समिधा को अग्नि में चढ़ाये।

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्द्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥ १ ॥*
—[आ०गृह्य० १।१०।१२]

इस मन्त्र से एक समिधा अग्नि के अर्पण करे—

---

* 'इदं—इदं न मम'...यह अंश सर्वत्र मन्त्र से बहिर्भूत होता है। यह यज्ञ में स्वत्वनिवृत्तिपूर्वक देवतास्वत्वापादन के लिये यजमान द्वारा बोला जाता है। —श्री युधिष्ठिर मीमांसक।
मीमांसक जी के उक्त कथन पर टिप्पणी करते हुए श्री सुदर्शन आचार्य लिखते हैं—'स्वाहा' और 'इदं न मम' यजमान द्वारा स्वस्वत्वनिराकरण के लिये उच्चारण किये जाते हैं, मन्त्रांश नहीं होते, फिर निरर्थक टिप्पणी क्यों?
'इदं न मम' का अर्थ—प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'इदं न मम' का प्रयोग किया गया है। इसे वैदिक संस्कृति की जान कहा जा सकता है। 'यज्ञ' का सम्पूर्ण विचार त्याग का विचार है। यज्ञ में आहुति देना एक त्याग का सूचक है। जब हम कहते हैं, परतन्त्र देश के लोग अपने देश की आजादी के लिये जीवन की आहुति देते हैं—इसका यही अर्थ है कि वे देश-भक्ति को एक यज्ञ समझते हैं। अग्नि आदि को सम्बोधित करते हुए एक तो यजमान अपने पास रखी हुई सामग्री तथा घृत की अग्नि में आहुति देता, फिर जो-कुछ बूँद स्रुवे में लगे रहते हैं, उन्हें भी जल में डालकर कहता है—इदं न मम—यह भी मेरा नहीं है। जो कुछ शेष बचा है, वह भी मेरा नहीं, समाज का है—यह भावना 'इदं

शब्दार्थ—(**हे जातवेदस्**) सब पदार्थों में विद्यमान या उत्पन्न हुए पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली अग्नि! (**अयम्**) यह (**इध्म**) समिधा (**ते**) तेरा (**आत्मा**) शरीर है या तुझे सदा गतिशील रखने का साधन है (**तेन**) उससे (**इध्यस्व**) प्रदीप्त हो (**वर्धस्व**) स्वयं बढ़ (**च**) और (**वर्धय**) हमें बढ़ा। (**इत्**) अवश्य (**ह**) ही (**अस्मान्**) हमें (**प्रजया**) प्रजा से (**पशुभिः**) पशुओं से (**ब्रह्मवर्चसेन**) ब्रह्म-तेज से (**अन्नाद्येन**) अन्न से तथा 'आदि' अर्थात् पहले जो कुछ गिनाया है, उसके अतिरिक्त जो और हमारी कामनाएँ हैं, उनसे (**समेधय**) समृद्ध कर (**इदम्**) यह आहुति (**अग्नये**) अग्नि के लिये है (**जातवेदसे**) जातवेदा के लिये है, (**इदं**) यह (**न मम**) मेरे लिये नहीं।

भावार्थ—भौतिक-दृष्टि से अग्नि जो प्रज्वलित होकर सब पदार्थों को प्रकाश में लाती है, उसका आत्मा—शरीर—समिधा है। समिधा से अग्नि प्रदीप्त होती है, घृत की आहुति से बढ़ती है। यज्ञ करते हुए यह प्रार्थना की जाती है कि जैसे यह भौतिक अग्नि प्रदीप्त होकर लपटें धारण कर लेती है, वैसे ही हमअग्नि जैसे समिधाओं के द्वारा, वैसे ही हम भौतिक-साधनों के द्वारा जीवन में प्रदीप्त हों, बढ़ें, फूलें-फलें, अग्नि की लपटों के समान हमारा विस्तार इतना फैले कि हमारे धन-प्रजा-पशु अग्नि की लपटों के समान फैलते चले जाएँ। यहाँ दो शब्द बड़े महत्त्व के हैं—'**वर्धस्व**' तथा '**वर्धय**'—तू बढ़ और हमें बढ़ा।

आध्यात्मिक-दृष्टि से हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! जैसे आप द्वारा उत्पन्न की हुई भौतिक अग्नि अपने भक्ष्य अर्थात् समिधा को पाकर बढ़ती है, वैसे हम भी आपके द्वारा दिये हुए भोग्य पदार्थों को पाकर, उनका उचित रूप में सेवन कर सब प्रकार से आध्यात्मिक-जीवन में बढ़ें।

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ २॥*

—[यजुः० ३।१]

न मम'—में अन्तर्निहित है। 'इदं न मम' की भावना निःस्वार्थ की पराकाष्ठा है, यही वैदिक-संस्कृति का महान् आदर्श है जो नव-मानव के निर्माण की योजना में हर व्यक्ति के सामने रखा जाता है। आज का मानव स्वार्थ का पुतला है, वैदिक-संस्कृति का मानव, जिसके निर्णय के लिये संस्कार किये जाते हैं, निःस्वार्थ का जीता-जागता नमूना है।

* क्योंकि इस मन्त्र से अग्नि में समिधा नहीं छोड़ी जाती इसलिये अनेक आर्य-विद्वानों का मत है कि इस मन्त्र का 'स्वाहा। इदमग्नये—इदं न मम'—यह अंश नहीं बोलना चाहिये। श्री युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि 'ओं समिधाग्निं०'—इस मन्त्र का जाप-मात्र इष्ट जानना चाहिये।

शब्दार्थ—(**अग्निम्**) अग्नि को (**समिधा**) समिधा के द्वारा (**दुवस्यत**) बढ़ाओ (**अतिथिम्**) इस अतिथि के समान अग्नि को (**घृतैः**) घृत या घृत के समान उद्दीपक सामग्री आदि पदार्थों से (**बोधयत**) प्रबुद्ध करो, जागृत करो (**आ+अस्मिन्**) चारों ओर से इसमें (**हव्या**) हवनीय पदार्थों का (**जुहोतन**) हवन करो। (**इदम्**) यह (**अग्नये**) अग्नि के लिये है (**इदम्**) यह (**न मम**) मेरे लिये नहीं है।

भावार्थ—अग्नि समिधा, घृत तथा सामग्री से उद्दीप्त था प्रबुद्ध होती है, जैसे अतिथि को घृतादियुक्त भोजन देने से वह प्रसन्न होता है। जैसे अतिथि को भोजन देकर गृहस्थ प्रसन्न होता है, उस भोजन में गृहस्थ की '**मम**' भावना नहीं होती, उसी प्रकार अग्नि में आहुति डालते हुए यजमान प्रभु से प्रार्थना करता है कि भगवन्! जो कुछ मेरे पास है, वह सब आपका है—मेरा कुछ नहीं है—'**इदं न मम**'। मनुष्य को संसार एक यज्ञ समझना चाहिये जिसमें जो कुछ है, उसका है, मेरा कुछ नहीं है—'**इदं न मम**' यह भावना लेकर जीवनयापन करना चाहिये।

ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥
इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥ ३॥ —[यजुः० ३।२]

उक्त दोनों मन्त्रों से दूसरी समिधा अग्नि के अर्पण करें।

शब्दार्थ—(**सुसमिद्धाय—सु-सम्+इद्धाय**) अच्छे प्रकार प्रदीप्त हुए (**शोचिषे**) जगमगाते हुए (**जातवेदसे**) सब पदार्थों में वर्त्तमान (**अग्नये**) अग्नि के लिये (**तीव्रम्**) तपाया हुआ (**घृतम्**) घृत (**जुहोतन**) हवन करो। (**इदम्**) यह आहुति (**अग्नये**) अग्नि के लिये है (**जातवेदसे**) जातवेदा के लिये है (**इदं**) यह (**न मम**) मेरे लिये नहीं है।

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा॥
इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदन्न मम॥ ४॥ —[यजुः० ३।३]

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की अग्नि में आहुति दे।

शब्दार्थ—(**अंगिरः—अगि गतौ**) हे सर्वत्र गतिमान् अग्नि! (**तं त्वाम्**) उस तुझको (**समिद्भिः**) समिधाओं से और (**घृतेन**) घृत से (**वर्धयामसि= वर्धयामः**) बढ़ाते हैं। हे (**यविष्ठ्य—यु मिश्रणे अमिश्रणे**) वस्तुओं के बनाने और तोड़ने वालों में मूर्धन्य तू (**बृहत्**) बहुत (**शोचा**) दीप्तिमान् है। (**इदम्**) यह (**अग्नये**) अग्नि के लिये है (**इदम्**) यह (**न मम**) मेरे लिये नहीं है।

विशेष ज्ञातव्य—उक्त चारों मन्त्रों में दो बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' और 'इदं न मम' आते हैं। आगे भी जो मन्त्र आयेंगे उनमें इन दोनों का प्रयोग होगा। 'स्वाहा' का निरुक्त (१८।२०) में अर्थ दिया है—'**स्वाहेत्येतत् सु आहेति**'—अर्थात् जो सुन्दर कथन हो उसे

'स्वाहा' कहते हैं। इस दृष्टि से 'स्वाहा' का अर्थ है—'सूक्ति'—सुन्दर वचन। प्रत्येक मन्त्र एक सूक्ति हैं, सुन्दर वचन है—इसलिये उस मन्त्र के साथ 'स्वाहा'-शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे 'स्वाहा'-शब्द भावपूर्ण है, वैसे 'इदं न मम' भी अग्निहोत्र में प्रायः प्रत्येक मन्त्र के साथ प्रयुक्त होता है। 'इदं न मम' का अर्थ है—यह मेरा नहीं है। भारतीय-संस्कृति के प्रत्येक व्यक्ति से दिन में बीसियों बार यह कहलवाया जाता था कि 'यह मेरा नहीं है', 'मेरा नहीं है'। आज जब हर व्यक्ति 'मेरा'-'मेरा' की उलझन में फँसा हुआ है और हर समस्या 'मेरा' के कारण ही बनी हुई है, तब 'मेरा नहीं है' का सन्देश मानव-समाज के लिये एक अद्‌भुत तथा अपूर्व सन्देश है जो कहने को तो सब कहते हैं, परन्तु वैदिक-संस्कृति के एक-एक मन्त्र में ओत-प्रोत है।

['अयं त इध्म आत्मा' से घृत की ५ आहुतियाँ]

अग्नि प्रदीप्त करके 'समिदाधान' के ४ मन्त्रों से ३ आहुतियाँ देने के बाद घृत में से चमसा जो ऐसा बना हो कि उसमें छह माशा घृत आवे भर के नीचे लिखे मन्त्र से ५ आहुतियाँ दें। पाँच आहुतियाँ देने का विशेष कारण है। इस मन्त्र में प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस्, अन्न तथा इनके अतिरिक्त हमारी जो इच्छाएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिये प्रार्थना की गई है। इनकी संख्या ५ है, इसलिए यह मन्त्र ५ बार पढ़ा जाता है—

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम॥ १॥ —[आ०गृह्य० १।१०।१२]

[जल-सिंचन]*

तत्पश्चात्, अञ्जलि में जल लेकर वेदी के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं में चारों ओर जल सिंचन करें। इसके निम्न मन्त्र हैं—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व॥ १॥ —इस मन्त्र से पूर्व में

शब्दार्थ—हे **(अदिते)** अदिति! **(अनुमन्यस्व)** तू अनुमोदन कर।

---

* जल-सिंचन का उद्देश्य—जल-सिंचन के दो उद्देश्य हैं। पहला साधारण-सा उद्देश्य तो यह है कि यज्ञ-कुण्ड की प्रज्वलित अग्नि में कीटादि प्राणी अचानक-से न आ घुसें और जल न जायें, इसलिये हवन-कुण्ड के चारों तरफ नाली बनाकर उसे जल से भर दिया जाता है। दूसरा उद्देश्य कुछ गहरा है—प्रतीकात्मक! यज्ञ-कुण्ड को पृथिवी का प्रतिनिधि मानकर उसे चारों तरफ से जल से घेर दिया जाता है, जो पृथिवी के चारों तरफ से समुद्र-जल से घिरे होने का प्रतीक है।

जल-सिंचन से पहले पाँच बार 'अयं त इध्म आत्मा'—इस मन्त्र से प्रार्थना की गई है कि जैसे समिधाओं तथा घृत से अग्नि प्रदीप्त होती है वैसे ही धन-पशु-प्रजा से यजमान

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥ २॥ —इस मन्त्र से पश्चिम में

शब्दार्थ—**(अनुमते)** हे अनुमति! **(अनुमन्यस्व)** तू भी अनुमोदन कर।

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व॥ ३॥ —इस मन्त्र से उत्तर में

शब्दार्थ—हे सरस्वति! तू अनुमोदन का अनुमोदन कर।

ओं देव॑ सवितः प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य।
दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु॥ ४॥

—[यजुः० ३०।१]

शब्दार्थ—हे **(देव)** दिव्यगुणोंवाले **(सवितः)** सबके उत्पादक **(यज्ञम्)** यज्ञ को **(प्रसुव)** उत्पन्न करके बढ़ा **(यज्ञपतिम्)** यजमान को **(भगाय)** ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये **(प्रसुव)** बढ़ा **(दिव्यः गन्धर्वः—गां पृथिवीं धारयतीति गन्धर्वः)** जिसके सहारे पृथिवी टिकी हुई है वह **(केतपूः)** ज्ञान को पवित्र करनेवाला **(नः)** हमारे **(केतम्)** ज्ञान को **(पुनातु)** पवित्र करे और **(वाचस्पतिः)** वाणी का पति **(वाचम्)** वाणी को **(स्वदतु)** मधुर करे।

आधारवाज्यभागाहुति-मन्त्राः *

ओम् अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥**

—इससे वेदी के उत्तर-भाग में आहुति दे : [यजुः १०।५; २२]

की बढ़ती हो; इस प्रार्थना का जल-सिंचन के मन्त्रों द्वारा अदिति, अनुमति, सरस्वती, सविता, गन्धर्व—इन पाँच शक्तियों से अनुमोदन कराया गया है।

'दिति'-शब्द 'दो अवखंडने' धातु से बना है, जो खण्डित हो जाए। 'अदिति' का अर्थ है—जो खण्डित न हो। जिस बात का आगे अनुमोदन कराया जा रहा है वह ऐसी बात है जो सबको स्वीकृत है, वह सर्वसम्मति से (Unanimously) स्वीकृत होनेवाली है—अर्थात्, यजमान की समृद्धि हो—यह बात। इसलिए कहा—'अदिति' अर्थात्, सर्वसम्मति इस प्रस्ताव को स्वीकार करे; 'अनुमति'—अर्थात्, सर्व-साधारण इसका अनुमोदन करें, 'सरस्वती'—अर्थात्, विद्वज्जन इसका अनुमोदन करें; 'सविता', 'गन्धर्व', 'वाचस्पति'—सब मधुर वाणी से इसका अनुमोदन करें।

* 'आघारावाज्याहुति' की जगह 'आघाराहुति' होना चाहिये—श्री युधिष्ठिर मीमांसक। श्री सुदर्शन आचार्य इस बात से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि 'आघारौ'+'आज्याहुति' मिलकर यह शब्द बना है, अतः 'आघारावाज्याहुति' पाठ शुद्ध है।

'आघाराहुति' प्रधान होम के आदि में तथा 'आज्यभागाहुति' प्रधान होम के अन्त में दी जाती है—श्री युधिष्ठिर मीमांसक।

** कर्मकाण्ड के प्राचीन ग्रंथों में ओं प्रजापतये स्वाहा, ओम् इन्द्राय स्वाहा, ओम् अग्नये स्वाहा, ओं सोमाय स्वाहा—ऐसा क्रम है—श्री युधिष्ठिर मीमांसक। ऋषि दयानन्द द्वारा संशोधित संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण के फोटो प्रिंट का प्राक्कथन लिखते हुए श्री सुदर्शन आचार्य ने इस बात का खण्डन करते हुए ऋषि दयानन्द के क्रम को ही ठीक माना है।

ओं सोमाय स्वाहा॥ इदं सोमाय—इदन्न मम॥ २॥

—इससे वेदी के दक्षिण भाग में आहुति दे : [गोभिल १।८।५]

[२ आज्यभागाहुतियाँ]

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम॥

—इससे वेदी के मध्य-भाग में आहुति दें : [यजुः २२।३२]

ओम् इन्द्राय स्वाहा॥ इदमिन्द्राय—इदं न मम॥

—इससे भी वेदी के मध्य-भाग में आहुति दें : [यजुः २२।६; २७]

शब्दार्थ तथा भावार्थ—अग्नि, सोम, प्रजापति तथा इन्द्र के लिये आहुतियों का अर्थ—ये चार आहुतियाँ अग्नि से प्रारम्भ होकर इन्द्र तक पहुँचती हैं। अग्नि प्रारम्भ है, इन्द्र अन्त है। इन्द्र का अर्थ है—सूर्य। यजमान का ध्येय 'अग्नि' के रूप से शुरु होकर 'सूर्य' के रूप तक पहुँचना है। 'अग्नि' को सीमा में बाँधे रखने के लिए 'सोम' (शान्त जल) का होना जरूरी है, इसीलिये यज्ञ में अग्नि के चारों तरफ जल छिड़का जाता है। 'अग्नि' रूप यजमान के साथ शान्ति रूप 'सोम' को जोड़ दिया है जो 'प्रजापति'—निर्माण के स्वामी भगवान् के आशीर्वाद से—'सूर्य' रूप बनने का ध्येय लेकर बैठा है।

[४ व्याहृति आहुतियाँ]*

दो आघारावाज्याहुतियाँ तथा दो आज्यभागाहुतियाँ देने के पश्चात् ४ व्याहृति आहुतियाँ दें, जो निम्न हैं—

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ २॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय—इदन्न मम॥ ३॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा॥
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदन्न मम॥ ४॥

—[गोभिल गृह्यसूत्र, प्र० १, खं० ८, सू० १४]

चारों व्याहृतियों का शब्दार्थ—(**भूः**) पृथिवी-स्थानीय (**अग्नये**) अग्नि के लिये (**स्वाहा**) यह आहुति देता हूँ; (**भवः**) अन्तरिक्ष-स्थानीय (**वायवे**) वायु

* ४ व्याहृतियों से पहले संस्कारविधि का जो स्थल है, उसका भाव यह प्रतीत होता है कि कोई भी संस्कार करना हो, तब पहले सामान्य-प्रकरण की विधि 'आघारावाज्यभागाहुति' (ओम् अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा) तक करें; फिर जो संस्कार करना हो उस संस्कार-सम्बन्धी मन्त्रों से संस्कार शुरु कर दें। उस संस्कार के सम्बन्ध में पढ़े जानेवाले मन्त्रों को ही यहाँ 'प्रधान होम' कहा गया है। संस्कार-संबंधी मन्त्र पढ़े जाने के पश्चात् फिर 'आघारावाज्यभागाहुति' के मन्त्र पढ़कर पूर्णाहुति देवें ताकि संस्कार के प्रधान-होम की सामान्य-प्रकरण तथा पूर्णाहुति से एकसूत्रता बनी रहे।

के लिये **(स्वाहा)** यह आहुति देता हूँ; **(स्वः)** द्यु-स्थानीय **(आदित्याय)** सूर्य के लिये **(स्वाहा)** यह आहुति देता हूँ—**(न मम)** मेरे लिये कुछ नहीं।

[स्विष्टकृत् होमाहुति]*

उक्त ४ घृताहुतियों के पश्चात् निम्न मन्त्र से घी अथवा भात की आहुति देनी चाहिए—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद् विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम॥

—[आश्व० १।१०।२२]

शब्दार्थ—(अस्य कर्मणः) इस कर्म का **(यत्)** जो **(अति अरीरिचम्)** अज्ञान से अधिक किया है, **(यत् वा)** अथवा **(इह)** यहाँ **(न्यूनम् अकरम्)** न्यून किया है, **(तत्)** उसको **(सु-इष्ट-कृत्)** इष्ट अर्थात् भावना द्वारा उचित रूप से किया हुआ **(अग्निः)** आगे ले जानेवाले प्रभु! **(विद्यात्)** आप जानिये अर्थात् मानिये। वह प्रभु **(मे)** मेरे **(सर्वम्)** सब **(सु+इष्टम्)** उत्तम मनोरथ को **(सुहुतम्)** यथोचित रूप से आहुति किया हुआ **(करोतु)** करे। हे **(सु+इष्ट+कृते)** उत्तम मनोरथ को सिद्ध करनेहारे! **(सु+हुत+हुते)** यज्ञ की आहुतियों को सुहुत करनेहारे! **(सर्वप्रायश्चित्त-आहुतीनाम्)** सब प्रायश्चित्तों के लिये आहुतियाँ दी जाती हैं, जिसके लिये ऐसे **(कामान् अग्नये समर्धयित्रे)** कामनाओं को आगे-ही-आगे पूर्ण करनेहारे प्रभो! **(नः)** हमारी **(सर्वान्)** सब **(कामान्)** कामनाओं को **(समर्धय)** पूर्ण करो **(स्वाहा)** इसी सुन्दर भावना से यह पुकार करता हूँ। **(इदम्)** यह आत्म-समर्पण **(सु-इष्ट-कृते)** मनोरथों को पूर्ण करनेहारे **(अग्नये)** प्रभु के लिये है **(इदं न मम)** इसमें मेरा कुछ नहीं है, जो कामना सिद्ध होगी वह भी प्रभु के चरणों में समर्पित है। कई विचारक इस मन्त्र को यज्ञ-समाप्ति पर पढ़ने का परामर्श देते हैं, परन्तु हमने इसे वहीं दिया है जहाँ संस्कारविधि में इसे दिया गया है।

[मौन रहकर मन में प्राजापत्याहुति]

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥

—[पार०, गृह्य० १।९।३]

मौन प्राजापत्याहुति का अर्थ—इस आहुति को मौन देने का अभिप्राय यह है कि अब तक मन्त्रोच्चारणपूर्वक जो कुछ विधान किया गया, उसे मन में विशेष तौर

* स्विष्टकृत् आहुति के मन्त्र में 'अत्यरीरिचम्' (अधिक किया है) वा 'न्यूनमिहाकरम्' (न्यून किया है) आदि का निर्देश करके 'सु+इष्ट' (स्विष्ट) करने की प्रार्थना होने से इस मन्त्र का स्थान कर्म के अन्त में है, यह मन्त्रार्थ से स्पष्ट है। —श्री युधिष्ठिर मीमांसक।

पर मन्थन किया जाए।

[४ पवमानी आहुतियाँ]

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥ १॥

—[ऋ० ९।६६।१९]

शब्दार्थ—(**भूः**) भूः सत्तायाम्—सत्ता का स्वरूप—Being—हो रहा है ऐसा जो सत्तास्वरूप है वह; (**भुवः**) सत्तामात्र में न रहकर जो—'भवतीति भुवः'—क्रिया—Becoming—में आ रहा है वह; (**स्वः**) क्रिया में आने के बाद जिसकी क्रिया का लक्ष्य या अन्त—'स्वः'—सुखस्वरूप—Bliss—होने में है वह। ऐसे (**अग्ने**) प्रकाशस्वरूप प्रभो! (**नः**) हमारे (**पवसे**) पवित्र जीवन के लिये (**आयूंषि**) दीर्घ-आयु (**ऊर्जम्**) बल तथा (**इषम्**) अन्नादि भोग्य पदार्थों को (**आसुव**) उत्पन्न करो और (**दुच्छूनाम्—दुः+शु गतौ**) दुर्विचारों को (**आरे**) दूर (**बाधस्व**) हटा दो, उनमें बाधा डाल दो।

भावार्थ—हे सत्-चित्-आनन्द स्वरूप प्रभो! हमारा जीवन पवित्र हो, आयु दीर्घ हो, हमें शारीरिक तथा मानसिक बल प्राप्त हो, संसार के सभी भोग्य-पदार्थ हमें प्राप्त हों, हमारे जीवन में आनेवाली सभी बाधाएँ दूर हों।

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥ २॥

—[ऋ० ९।६६।२०]

शब्दार्थ—(**भूः भुवः स्वः**) पूर्ववत्। (**अग्निः**) आप सबके प्रकाशक, मार्गदर्शक हो (**ऋषिः**) ज्ञान देनेवाले हो (**पवमानः**) पवित्र करनेवाले हो (**पाञ्जन्यः**) पञ्चों के लिये हितकारी हो—पाञ्चजन्य से ही पञ्चायत बना है, जिसमें समाज के पाँचों वर्ग—ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य, शूद्र तथा अन्य—सम्मिलित होते हैं (**पुरोहितः**) सृष्टि के पहले विद्यमान हो (**तम्**) इस प्रकार के (**महागयम्**) महती स्तुति वाले आपको (**ईमहे**) हम हृदय से चाहते हैं।

भावार्थ—हे सबके प्रकाशक, मार्गदर्शक, ज्ञान देनेहारे, पवित्र करनेवाले प्रभो! आप समाज के हर वर्ग के हितकारी हो, सृष्टि के पूर्व से विद्यमान हो, इस प्रकार के स्तुति के योग्य आपको हम हृदय से चाहते हैं।

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्।
दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥ ३॥

—[ऋ० ९।६६।२१]

शब्दार्थ—(**भूः भुवः स्वः**) पूर्ववत्। हे (**अग्ने**) प्रकाशस्वरूप प्रभो! (**स्वपाः=सु अपाः, अप=कर्म**) उत्तम कार्य करनेवाले लोगों को (**पवस्व**) पवित्र

करो—लोग अच्छे कार्य पवित्र धारणा से करें **(अस्मे)** मुझे **(वर्चः)** वर्चस्व तथा **(सुवीर्यम्)** पराक्रम प्रदान करो। **(मयि)** मुझमें **(रयिं)** ऐश्वर्य तथा **(पोषम)** पुष्टि को **(दधत्)** धारण कराओ।

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! इतना ही नहीं कि हम उत्तम काम करें, उत्तम काम करते हुए हमारी भावना भी पवित्रहो। आप हमें वर्चस्व दीजिये, आध्यात्मिक तथा मानसिक बल दीजिये, साथ ही पराक्रम अर्थात् शारीरिक बल भी दीजिये। इनके साथ प्रभो! मुझे ऐश्वर्य दीजिये, परन्तु ऐश्र्व में मैं डूब न जाऊँ इसलिये ऐसा ऐश्वर्य दीजिये जो ह्रास की तरफ मुझे न ले जाए, पुष्टि की तरफ, उन्नति की तरफ ले जाए।

ओं भूर्भुवः स्वः। प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥ ४॥ —[ऋ० १०।१२१।१०]

इसका ऋषि दयानन्द का किया अर्थ 'ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना-उपासना' के ७वें मन्त्र में दिया जा चुका है।

[अष्टाज्याहुतियाँ]

उक्त ४ मन्त्रों से घृत की चार आहुतियाँ करके, 'अष्टाज्याहुति' के निम्नलिखित मन्त्रों से सर्वत्र मङ्गल कार्यों में ८ आहुतियाँ देवें। परन्तु किस-किस संस्कार में कहाँ-कहाँ देनी चाहियें, यह विशेष बात उस-उस संस्कार में लिखेंगे। उन आठ आहुतियों के मन्त्र निम्न हैं—

ओं त्वं नोऽअग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळोऽव यासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदन्न मम॥ १॥ —[ऋ० ४।१।४]

शब्दार्थ—**(हे अग्ने)** प्रकाशस्वरूप प्रभो! **(त्वम्)** तू **(वरुणस्य—वृञ् वरणे, जो चुना गया है)** चुने हुए **(देवस्य)** दिव्यगुणों वाले राजा के **(हेलः)** अवहेलना अर्थात् अनादर को **(विद्वान्)** जानता है, उससे **(नः)** हमें **(अवयासिसीष्ठाः)** पृथक् रख, अर्थात् हमें ऐसी मति दे जिससे हम जनता द्वारा चुने हुए राजा के संविधान का अनादर न करें। मैं **(यजिष्ठः)** शुभ कर्म करनेवालों में श्रेष्ठ **(वह्नितमः)** अग्निहोत्र करनेवालों में श्रेष्ठतम **(शोशुचानः)** दीप्तिमान्, कीर्तिमान् होऊँ **(अस्मत्)** हमसे **(विश्वा द्वेषांसि)** सब द्वेष **(प्रमुमुग्धि—मुचिर् मोचे)** मुक्त करो, हटाओ। **(स्वाहा)** इसी भावना से यह आहुति है। यह अग्नि तथा वरुण के लिये समर्पण है, इसमें मेरा कोई अधिकार नहीं।

भावार्थ—हे प्रभो! देश का जो संविधान हो, राज्य-व्यवस्था हो, उसका मैं अनादर कर राज्य-शक्ति के कोप का भाजन न बनूँ, मुझे ऐसी मति दो जिससे मैं

संविधान का आदर करूँ, यज्ञ करनेवालों में श्रेष्ठतम होऊँ, कीर्तिमान् होऊँ, मेरे हृदय में किसी के प्रति द्वेष-भावना न हो—इसी नम्र-प्रार्थना को लेकर ये उद्गार प्रकट कर रहा हूँ।

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठोऽअस्या उषसो व्युष्टौ। अव यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृळीकं सुहवो न एधि स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदन्न मम॥ २॥ —[ऋ० ४।१।५]

शब्दार्थ—(**अग्ने**) हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! (**सः**) वह (**त्वम्**) तू (**नः**) हमारा (**अवमः**) रक्षक (**भव**) हो (**अस्याः**) इस (**उषसः**) उषा काल के (**व्युष्टौ**) प्रकाश में (**ऊती**) रक्षा के द्वारा (**नेदिष्टः**) समीपतम (**भव**) हो जा। (**रराणः**) पुकार हुआ तू (**नः**) हमारे (**वरुणम्—वृञ् वरणे**) सब तरफ से आवरण की तरह घेरनेवाले दुःखों को (**अवयक्ष्व**) दूर कर (**मृडीकम्**) सुख को (**वीहि**) प्राप्त कराओ (**सुहवः**) सुगमता से जिसे पुकारा जा सके ऐसा तू (**नः**) हमारे लिये (**एधि**) हो (**स्वाहा**) इस भावना से मैं पुकार रहा हूँ। यह आहुति अग्नि तथा वरुण को समर्पित है, इसमें मेरा कुछ नहीं।

भावार्थ—हे प्रकाशस्वरूप प्रभो! आप हमारे रक्षक हूजिये। इस उषःकाल की प्रथम किरणों के फूटते ही हम आपके समीपतम होकर आपके रक्षा के हाथ की याचना करते हैं। हम चारों तरफ से दुःखों द्वारा ऐसे घिरे पड़े हैं, जैसे कोई घटाटोप अन्धकार में पड़ा हो, आप अपनी करुणामय दृष्टि से इन दुःखों को दूर करो। आपका द्वार सबके लिये एक-समान खुला है—इसीलिये हम सब आपको पुकार रहे हैं। हमारा जो कुछ है वह आपके चरणों की भेंट है, हमारा कुछ नहीं, सब आपका है।

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय। त्वामवस्युरा चके स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम॥ ३॥ —[ऋ० १।२५।१९]

शब्दार्थ—हे (**वरुण**) सबको वरनेवाले,सबकी पुकार सुननेवाले प्रभो! (**अद्य**) आज, अभी (**मे**) मेरी (**हवम्**) पुकार को (**श्रुधि**) सुनो (**च**) और (**मृडय**) मेरा दुःख दूर करो, मुझे सुखी करो। (**अवस्युः—अव रक्षणे**) रक्षा की याचना करता हुआ मैं (**त्वाम्**) तुझे (**आ चके**) निहारता हूँ।

भावार्थ—हे सब पर समान कृपा करनेवाले, सबको वर लेनेवाले वरुण प्रभो! मैं दीन-दुखिया अपनी पुकार लेकर आया हूँ, आप सबकी पुकार सुनते हो, मेरी पुकार भी सुनो, मेरा दुःख दूर करो, मैं आपकी रक्षा के हाथ के नीचे खड़ा आपकी कृपा दृष्टि के लिये आपकी तरफ निहार रहा हूँ। प्रभो! मेरा कुछ नहीं है, जो कुछ मैं अपना समझता रहा हूँ वह सब आपका है, आपके चरणों में सब समर्पित है।

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदन्न मम॥ ४॥ —[ऋ० १।२४।११]

शब्दार्थ—(**ब्रह्मणा**) यज्ञ द्वारा (**वन्दमानः**) आपकी स्तुति करता हुआ (**तत्**) उस (**त्वा**) आपको (**यामि**) प्राप्त होता हूँ। (**यजमानः**) यजमान (**हविर्भिः**) आहुतियों से (**आशास्ते**) आशा करता है कि आप उसे अपनाओगे। (**वरुण**) हे वरुण! (**इह**) इस शुभ यज्ञ में (**अहेडमानः**) मेरी अवहेलना न करते हुए (**बोधि**) मुझे बोध कराओ जिससे मैं आपका हो सकूँ। हे (**उरुशंस**) महान् कीर्तिवाले प्रभो (**नः**) हमारी (**आयुः**) जीवन (**मा**) मत (**प्रमोषीः**) असमय में नष्ट कर। यह प्रार्थना वरुण के लिये हैं, इसमें मेरा कुछ नहीं।

भावार्थ—हे वरुण देव! मैं यज्ञ द्वारा आपकी स्तुति करता हुआ आपकी शरण में आ रहा हूँ। मैं यज्ञ में जो आहुतियाँ डाल रहा हूँ वे इस बात का प्रतीक हैं कि मैं अबतक जो कुछ अपना समझे हुए था उसे आग की भेंट करता जा रहा हूँ, मैं अपने 'मैं-पन' को आहुति के रूप में यज्ञ की अग्नि में भस्म कर आपके पास इस आशा से आ रहा हूँ कि आप मुझे अपनाकर अपना बना लोगे। हे भगवन्! आपकी कीर्ति दिग्दिगंत में व्याप रही है, मैं अपना जीवन आपको अर्पित कर रहा हूँ, जिससे मुझे मृत्यु का भय ही न रहे।

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्त्रं यज्ञिया पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नोऽअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदन्न मम॥ ५॥

—[कात्या०श्रौत० २५।१।११]

शब्दार्थ—हे (**वरुण**) वरणीय प्रभो! (**ये**) जो (**ते**) तेरे (**शतम्**) सैकड़ों और (**सहस्त्रं**) हजारों (**यज्ञियाः**) सृष्टि-सम्बन्धी (**महान्तः**) बड़े (**पाशाः**) बन्धन अर्थात् नियम (**वितताः**) सर्वत्र फैले हुए हैं (**तेभिः**) उनसे (**नः**) हमको (**अद्य**) आज (**सविता**) शुभ कर्मों की प्रेरणा करनेवाले गुरु लोग (**उत्**) और (**विष्णुः**) कर्मों में व्यापक—कर्मों के धर्माधर्म को जाननेवाले न्यायाधीश (**विश्वे मरुतः**) वे सब मित्र जो दिलासा देने के लिये कहते हैं—'मत रोओ'—(**स्वर्काः=सु+अर्क तपने**) तपस्वी लोग (**मुञ्चन्तु**) मुक्त करें।

भावार्थ—हे प्रभो! आपके संसार में सैंकड़ों और हजारों नियम हैं, जिनके पाश से मनुष्य बंधा हुआ है। हमारे गुरु-जन जो शुभ-कर्मों की प्रेरणा देनेवाले हैं, न्याय-शास्त्र को जाननेवाले शास्त्रवेत्ता जो क्या ठीक है क्या गलत है—इसका निर्णय करते हैं, हमारे मित्र-गण जो विपत्ति के समय हमें ढाढस बँधाते हैं, तपस्वी लोग जो तपस्या का जीवन व्यतीत करते हैं—ये सब हमें कर्म के बन्धन से छुड़ाकर भवसागर को पार करने में सहायता दें।

ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमया असि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये अयसे—इदन्न मम॥ ६॥

—[कात्यायनश्रौत० २५।१।११]

शब्दार्थ—हे **(अग्ने)** अग्निरूप भगवन्! आप **(अयाः—अय गतौ)** गतिशील हैं, सर्वत्र पहुँचे हुए **(असि)** हैं **(च)** और **(अनभिशस्ति+पाः)** अभिशस्ति=प्रशंसा, अनभिशस्ति=अप्रशंसनीय कार्य, उससे रक्षा करनेवाले हैं। **(सत्यम् इत्)** यह सत्य है कि **(त्वम्)** आप **(अयाः असि)** अप्रशंसनीय, निन्दनीय कार्यों से हमारी रक्षा करनेवाले हैं। **(अयाः)** सब जगह पहुँचे होने के कारण **(नः)** हमारे **(यज्ञम्)** शुभ कार्यों को **(वहासि)** वहन करते हैं **(अयाः)** सर्वगामी होने के कारण **(नः)** हमें **(भेषजम्)** प्रशंसनीय कर्मों के निवारण की औषधि **(धेहि)** दीजिये। **(स्वाहा)** इसी कामना से मैं यह आहुति दे रहा हूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी गति सब जगह है। आप हमारे हृदय के भावों को भी जानते हैं। हमारे भीतर अनेक अप्रशंसनीय, कुत्सित, निन्दित विचार आते रहते हैं। भगवन्! यह सत्य है कि आप हमारी इन कुत्सित, गर्हित विचारों से रक्षा कर सकते हो। अपनी उस औषधि का चमत्कारदिखलाओ जिससे हमारे विचार पवित्र रहें और हम निन्दनीय विचारों के जाल में न फँसे।

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा॥ इदं वरुणायऽऽदित्यायाऽदितये च—इदन्न मम॥ ७॥ —[ऋ० १।२४।१५]

शब्दार्थ—**(वरुण)** हे वरणीय प्रभो! तू **(अस्मत्)** हमसे **(उत्तमं)** सबसे ऊपर के **(पाशम्)** जाल को **(उत्)** उतार दे; **(अधमं)** नीचे के जाल को **(अव)** हटा दे; **(मध्यमं)** बीच के जाल को **(विश्रथाय)** शिथिल कर दे। **(अथ)** और अब इन जालों से मुक्त होकर **(वयम्)** हम **(तव)** तेरे **(आदित्यव्रतें)** अतिति=अखण्डित, व्रत=नियम, अखण्डित नियमों में **(अदितये)** नाश रहित मोक्ष के लिये **(अनागसः)** निष्पाप होकर **(स्याम)** योग्य अर्थात् मोक्ष के अधिकारी हों।

भावार्थ—हे प्रभो! हम ऊपर से, नीचे से, बीच में से पापों के जाल में फँसे पड़े हैं। आप कृपा करो कि पाप के ये जाल कटकर छिन्न-भिन्न हो जायें। हम इन जालों में इसलिये बधे हैं, क्योंकि हम आपके अखण्ड नियमों का पालन नहीं कर रहे। आप कृपा करो कि हम आपके बनाये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि महाव्रतों का पालन करें और निष्पाप होकर अखण्ड मोक्ष-पथ के राही बनें।

ओं भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदन्न मम्॥ ८॥
—[यजुः० ५।३]

शब्दार्थ—यज्ञ में एकत्रित समाज के लोग यजमान तथा यजमान पत्नी को लक्ष्य में रखकर कहते हैं कि **(नः)** हमारे लिये यजमान पत्नी और यजमान—ये दोनों **(समनसौ)** समान 'मन' (Thoughts) वाले, **(सचेतसौ)** समान 'भावों'

(श्वद्वश्रहृद्वश्रठुह्य) वाले, **(अरेपसौ)** पाप-रहित, शुद्ध 'स्वभाव' (Character) वाले **(भवतम्)** हों। **(यज्ञम्)** शुभ कार्यों को तथा **(यज्ञपतिम्)** शुभ कर्मों के करनेवाले को **(मा)** मत **(हिंसिष्टम्)** नष्ट करें **(जातवेदसौ)** ये दोनों जिन्हें ज्ञान हो गया है **(अद्य)** आज से **(नः)** हमारे लिये **(शिवौ)** कल्याणप्रद **(भवतम्)** हों। **(स्वाहा)** इसी भावना से यह आहुति हम दे रहे हैं।

श्री मदनमोहन विद्यासागर लिखते हैं—'**अरेपस्**'-शब्द में '**रेप**'-पद विचारणीय है। अंग्रेजी में '**टु रेप**' (To rape) का अर्थ शील भङ्ग करना है। अगर संस्कृत के '**रेप**'-शब्द से अंग्रेजी का '**रेप**'-शब्द निकला है, तो '**अरेपसौ**' का अर्थ होगा—पति-पत्नी को एक-दूसरे के शील की रक्षा करनेवाला होना चाहिये।

सब संस्कारों में मधुर स्वर से मन्त्रोच्चारण यजमान ही करे। न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारण करे, किन्तु मध्य-भाग जैसा कि जिस वेद का उच्चारण है, करे। यदि यजमान न पढ़ा हो तो इतने मन्त्र तो अवश्य पढ़ लेवे। यदि कोई कार्यकर्त्ता जड़, मंदमति, काला अक्षर भैंस बराबर जानता हो, तो वह शूद्र है, अर्थात् शूद्र मन्त्रोच्चारण में असमर्थ हो, तो पुरोहित और ऋत्विज् मन्त्रोच्चारण करें और कर्म उसी मूढ़ यजमान के हाथ से करावें।

[पूर्णाहुति]

पुनः निम्नलिखित मन्त्र से पूर्णाहुति करे। स्रुवा को घृत से भरके

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा।

सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा का अर्थ—**(सर्वम्)** सब **(वै)** निश्चय रूप से **(पूर्णम्)** पूर्ण हो **(स्वाहा)** जो प्रार्थनाएँ हमने भिन्न-भिन्न मन्त्रों से ऊपर की हैं वे सच्चे हृदय की पुकार हैं, भगवन्! हमारी पुकार सुनो, सुनो, सुनो—इसलिये यह वाक्य तीन बार दोहराया जाता है।

इस मन्त्र से एक आहुति देवे। ऐसे दूसरी और तीसरी आहुति देके, जिसको दक्षिणा देनी हो देवे, वा जिसको जिमाना हो जिमा, दक्षिणा देके सबको विदा कर स्त्री-पुरुष हुतशेष घृत, भात वा मोहनभोग को प्रथम जीम के, पश्चात् रुचिपूर्वक उत्तमान्न का भोजन करें।*

(मङ्गलकार्य—महावामदेव्यगान)

गर्भाधानादि संन्यास संस्कार पर्यन्त पूर्वोक्त कार्य और निम्नलिखित सामवेदोक्त वामदेव्यगान अवश्य करें। वे मन्त्र महादेव्यगान के अर्थों के आगे दिये जा रहे हैं।

* 'दक्षिणा देना, जिमाना, विदा करना और स्वयं भोजन करना'—ये कार्य आगे लिखे 'महावामदेव्यगान' के पश्चात् किया जाता है, ऐसा समझना चाहिए। 'पाठ्यक्रमादर्थक्रमो बलीयान्'—यह मीमांसकों का न्याय है—श्री युधिष्ठिर मीमांसक।

महावामदेव्यगान का अर्थ—इस गान में तीन मन्त्र हैं। पहले तीन मन्त्र दिये गये हैं, उसके बाद उनका वामदेव्यगान दिया गया है, मन्त्र वही तीनों हैं, इसलिये यहाँ पहले तीन मन्त्रों का ही अर्थ दिया जा रहा है, अतः आगे इन्हीं तीनों का अर्थ नहीं दिया गया।

ओं भूर्भुवः स्वः। कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥ १॥

शब्दार्थ—(**सदावृधः**) सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाला (**चित्रः**) पूजनीय (**सखा**) मित्रभूत परमात्मा (**कया**) किस (**ऊती=ऊत्या**) रक्षा से (**नः**) हमें (**आभुवत्**) प्राप्त होता है। इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में ही दिया है—(**कया**) सुख देनेवाले (**शचिष्ठया**) उत्तम बुद्धियुक्त (**वृता**) बर्ताव से।

भावार्थ—उक्त मन्त्र में 'क' का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है। 'कया'—अर्थात् किस से; 'क' का अर्थ सुख भी है, इसलिये दूसरी जगह 'कया' का अर्थ है—सुख देनेवाली से। मन्त्र में प्रश्न उठाया गया है कि सदा वृद्धि को प्राप्त होनेवाला पूजनीय मित्रभूत परमात्मा हमारी रक्षा किस प्रकार करता है। उत्तर में कहा गया हैकि वह अपने सुख देने वाले बुद्धियुक्त व्यवहार से हमारी रक्षा करता है।

ओं भूर्भुवः स्वः। कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥ २॥

शब्दार्थ—(**कः**) कौन (**सत्यः**) सत्यस्वरूप (**मदानां**) अनेक आनन्दों में (**मंहिष्ठः**) उत्युत्तम आनन्दमय (**त्वा**) तुझे (**अन्धसः**) अन्धकार में से निकालकर (**मत्सत्**) आनन्द प्रदान करता है? इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में ही दिया है—(**दृढ़ा चित्**) दृढ़ (**वसु**) धनों को जो (**आरुजे**) रोग-ग्रस्त के लिये प्रदान करता है।

भावार्थ—हे प्रभो! हम जो अन्धकार में डूबे हुए हैं उन्हें आप जो सत्यस्वरूप तथा आनन्दों के आनन्द हैं वे अन्धकार में से निकाल लाते हैं। हम संसार के ताप ज्वर से पीड़ित हैं, हमें आप ही स्वास्थ्यरूपी औषध देकर स्वस्थ बनाते हैं। आपकी औषध दृढ़ है, पक्की है, उसमें रोग के बने रहने या हटकर फिर लौट आने की गुंजाइश नहीं है।

ओं भूर्भुवः स्वः। अभी षु णः सखीनामविता जरितृणाम्। शतं भवास्यूतये॥ ३॥

शब्दार्थ—हे प्रभो! (**नः**) हमारे (**अभीषुणाम्**) जिन्हें हम चाहते हैं (**सखीनाम्**) समान आयुवालों तथा (**जरितृणाम्**) वृद्धावस्था वालों की (**ऊतये**) रक्षा के लिये आप (**शतम्**) सैकड़ों प्रकार से (**अविता**) रक्षक (**भवासि**) होते हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमारे अनेक सम-वयस्क हैं, अनेक हमारे भीतर वृद्ध

हैं—इन सबके प्रति हमारे भीतर प्रेम की भावना है। इन सबको सैकड़ों प्रकार के कष्टों में से गुजरना पड़ता है। आप इन सबकी हर प्रकार से रक्षा करते हैं।

महावामदेव्यम्—काऽ५या। नश्चा३ यित्रा३ आभुवात्। ऊ। ती सदावृधः स। खा। औ३होहायि। कया२३ शचायि। ष्ठयौहो३। हुंमा२। वा२र्तो३ऽ५हायि॥ १॥

काऽ५स्त्वा। सत्यो३मा३दानाम्। मा। हिष्ठोमात्सादन्ध। सा। औ३होहायि। दृढ़ा २३ चिदा। रुजौहो३। हुंमा२। वाऽ२सो३ऽ५ हायि॥ २॥

आऽ५भी। षु णा३ः सा३खीनाम्। आ। विता जरायितृ। णाम्। औ२३ हो हायि। शता २३ म्भवा। सियौहो३। हुंमा२। ताऽ२ यो३ऽ५हायि॥ ३॥

यहाँ इन मन्त्रों का अर्थ इसलिये नहीं दिया जा रहा, क्योंकि ये तीनों मन्त्र गान की भिन्न रीति के अनुसार वही हैं जो इनसे पहले तीन मन्त्र हैं।

[दक्षिणा, दान, अभ्यागत-सत्कार]

महावामदेव्यगान होने के पश्चात् गृहस्थ स्त्री-पुरुष, कार्यकर्त्ता सद्धर्मी लोकप्रिय परोपकारी सज्जन विद्वान् वा त्यागी पक्षपातरहित संन्यासी जो सदा विद्या की वृद्धि और सबके कल्याणार्थ वर्त्तनेवालेहों उनको नमस्कार, आसन, अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, धन, दान आदि के दान से उत्तम प्रकार से यथासामर्थ्य सत्कार करें।

पश्चात् जो कोई देखने ही के लिये आये हों उनको भी सत्कारपूर्वक विदा कर दें। अथ च जो संस्कार क्रिया को देखना चाहें वे पृथक्-पृथक् मौन करके बैठे रहें, कोई बातचीत हल्ला-गुल्ला न करने पावें। सब लोग ध्यानावस्थित प्रसन्नवदन रहें। विशेष कर्मकर्त्ता और कर्म करानेवाले शान्ति, धीरज और विचारपूर्वक, क्रम से कर्म करें और करावें। यह सामान्यविधि अर्थात् सब संस्कारों में कर्त्तव्य है।

इति सामान्यप्रकरणम्

गर्भाधान संस्कार का वैज्ञानिक आधार

[विवेचनात्मक भाग]

१. मानव के नव-निर्माण की आधार-शिला

जैसा हम पहले कह आये हैं, संस्कार-प्रणाली का मुख्य आधार नव-मानव का निर्माण करना है। परन्तु यहाँ प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या नव-मानव का निर्माण हो भी सकता है? मानव का निर्माण कैसे होता है? मानव का निर्माण होता है 'रज'-'वीर्य' से—जिन संस्कारों के माता-पिता का 'रज'-'वीर्य' होगा, उन संस्कारों की सन्तान होगी, फिर उसे बदला कैसे जा सकता है? इस समस्या पर विचारकों ने गहराई से सोचा है और वे जिन परिणामों पर पहुँचे हैं, उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक कोटि के विचारक तो वे हैं जो कहते हैं कि प्राणी जो कुछ है वह 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का ही परिणाम है, दूसरी कोटि के विचारक वे हैं जो कहते हैं कि 'वंशानुसंक्रमण' को भी 'इच्छित-पर्यावरण' (Environment) द्वारा बदला जा सकता है। संस्कार-प्रणाली इन दोनों विचारों का समन्वय है। संस्कार-प्रणाली इस बात से इन्कार नहीं करती कि माता-पिता के रज-वीर्य से सन्तान का निर्माण होता है, वह इस बात से भी इन्कार नहीं करती कि 'पर्यावरण' का सन्तान के निर्माण में बड़ा भारी हाथ है। यही कारण है कि इस प्रणाली में संस्कारों को दो भागों में बाँटा गया है। प्रथम-कोटि में वे संस्कार हैं जो सन्तान के निर्माण में तब किये जाते हैं जब वह माता के पेट में होती है—इन्हें 'गर्भस्थ-संस्कार' (Pre-natal) कहा जा सकता है, द्वितीय-कोटि में वे संस्कार आ जाते हैं जो सन्तान के जन्म लेने के बाद किये जाते हैं—इन्हें 'जन्मस्थ-संस्कार' (Post-natal) कहा जाता सकता है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन गर्भावस्था के संस्कार हैं, उपनयन, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ आदि जन्म लेने के बाद के संस्कार हैं। इससे पहले कि हम इस विषय में आगे बढ़ें यह जान लेना आवश्यक है कि संस्कारों द्वारा नव-मानव के निर्माण के सम्बन्ध में 'वंशपरम्परावादियों' के तथा 'पर्यावरणवादियों' के क्या विचार हैं।

२. वंशानुसंक्रमणवादियों की विचारधारा

(१) गाल्टन (१८२२-१९११) का मत—गाल्टन का मत था कि माता-पिता के रज-वीर्य में एक ऐसा तत्त्व रहता है जो उनके शरीर तथा मन के गुणों को लेकर सन्तान में पहुँचता है, जिससे माता-पिता के शारीरिक तथा मानसिक गुण सन्तान में संक्रान्त हो जाते हैं। इसे उसने 'उत्पादक-कोष्ठों का तत्त्व' (Germ

plasm)—यह नाम दिया। उनका कहना था कि यह तत्त्व अगली-से-अगली सन्तति में ज्यों-का-त्यों बना रहता है। तभी तो यह सम्भव है कि कभी-कभी एक व्यक्ति अपने पिता से इतना नहीं मिलता जितना अपने दादा से मिलता है। कोई ऐसा उत्पादक-तत्त्व होना चाहिये जो दादा से पोते या पड़पोते में चला आता है। अगर सन्तान में परिवर्तन सम्भव है तो वह तभी हो सकता है जब परिवर्तनवाले गुण का बीज 'उत्पादक-कोष्ठ' में पड़ जाए।

(२) विजमैन (१८३४-१९१४) का मत—गाल्टन के इस विचार को लेकर विजमैन ने आगे बढ़ाया। उनका कथन था कि रज-वीर्य में वर्त्तमान 'उत्पादक-तत्त्व' (Germ plasm) क्योंकि माता-पिता से सन्तान के बाद सन्तान में निरन्तर चलता चला जाता है, इसलिये इस सिद्धान्त को 'उत्पादक-तत्त्व की निरन्तरता' (Continuity of germ plasm) का नाम दिया जाना चाहिये। यद्यपि इस सिद्धान्त का सूत्रपात गाल्टन ने किया था, तो भी 'उत्पादक-तत्त्व की निरन्तरता' का सिद्धान्त विजमैन के नाम से प्रसिद्ध है।

'उत्पादक-तत्त्व की निरन्तरता' के सिद्धान्त का क्या अर्थ है? विजमैन का कहना था कि प्रत्येक प्राणी का शरीर दो प्रकार के 'कोष्ठों' (Cells) से बना हुआ है। पहले प्रकार के 'कोष्ठों' को 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) कहते हैं; दूसरे प्रकार के कोष्ठों को 'शारीर-कोष्ठ' (Somatic cells) कहते हैं।

'शारीर-कोष्ठों' को 'शरीर-कोष्ठ' इसलिये कहते हैं, क्योंकि इन कोष्ठों से शरीर के अंगों-प्रत्यंगों का निर्माण होता है, इन कोष्ठों से शरीर की रचना होती है। ये कोष्ठ शरीर की रचना करने के बाद जब जीर्ण हो जाते हैं तब मर जाते हैं, ये अन्त तक बने नहीं रहते। यही नष्ट होनेवाले कोष्ठ 'Somatic cells' कहलाते हैं।

परन्तु इन नश्वर 'शारीर-कोष्ठों' से बने शरीर के भीतर अविनश्वर-कोष्ठ रहते हैं। ये 'अविनश्वर-कोष्ठ' ही 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) हैं। 'शारीर-कोष्ठों' से बने इस शरीर का काम इन अविनश्वर 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा करना है ताकि प्राणी इन उत्पादक-कोष्ठों के द्वारा सन्तान को उत्पन्न कर सके और वे उत्पादक-कोष्ठ, रज तथा वीर्य के रूप में सन्तान-से-सन्तान में प्राणी के मर जाने पर भी निरन्तर बने रहें। नर के 'उत्पादक-कोष्ठों' को 'वीर्य-कण' (Sperms) तथा स्त्री के उत्पादक-कोष्ठों को 'रज:-कण' (Ova) कहते हैं। नर के 'उत्पादक-कोष्ठ'—वीर्य-कण—उसके शरीर में से निकलकर मादा के गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसके 'उत्पादक-कोष्ठ'—रज:कण—से मिल जाते हैं और इस प्रक्रिया से प्राणी का जन्म होता है। इस प्रकार हमने देखा कि 'शारीर-कोष्ठ' तो नष्ट होते रहते हैं, 'उत्पादक-कोष्ठ' नष्ट होने के स्थान में जनन की प्रक्रिया द्वारा सन्तान-से-सन्तान में बने रहते हैं, ताकि संसार का चक्र चलता रहे। ये नष्ट होने के बजाय पिता से पुत्र,

पुत्र से पौत्र, पौत्र से प्रपौत्र—इस प्रकार मानो धरोहर के रूप में प्राणी की सम्पत्ति बन जाते हैं। ये प्राणी में सुरक्षित बने रहते हैं। जिस प्रकार बैंक में रुपया जमा रहता है, इसी प्रकार ये मानो शरीर में जमा रहते हैं। 'उत्पादक-कोष्ठों'—रज तथा वीर्य—के इसी सन्तान-से-सन्तान में प्रवाह को विजमैन ने 'उत्पादक-कोष्ठों की निरन्तरता' (Continuity of germ plasm) कहा है।

हमने ऊपर दो शब्दों का प्रयोग किया है जो इस विषय को समझने के लिये आवश्यक है। वे शब्द हैं—'उत्पादक-कोष्ठों का तत्त्व' (Germ plasm) तथा 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells)। इन दोनों में भेद है। ये देनों अलग-अलग पदार्थों के सूचक हैं। 'उत्पादक-कोष्ठ का तत्त्व' (Germ plasm) वह पदार्थ है जो 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) में रहता है। 'उत्पादक-कोष्ठों' में जो 'उत्पादक-तत्त्व' रहता है वही माता-पिता के गुणों के सन्तति में संक्रान्त होने का भौतिक आधार है। 'उत्पादक-कोष्ठ' में जो 'उत्पादक-तत्त्व' रहता है, उसमें एक कठोर-सी गाँठ होती है, जिसे 'न्यूक्लिअस' (Nucleus) कहते हैं। इस 'न्यूक्लिअस' में भी छोटे-छोटे रेशे-से होते हैं, जिन्हें आसानी से प्रयोगशाला में रंगा जा सकता है। इन रेशों को 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) कहते हैं। ये रंग पकड़ सकते हैं, इसलिये इन्हें 'वर्ण' (Chromos), तथा क्योंकि ये रेशे या सूत्र की तरह होते हैं, इसलिए इन्हें 'सूत्र'—अर्थात्, 'वर्ण-सूत्र' कहते हैं। विजमैन का कहना था कि 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) ही पैत्रिक गुणों के वाहक होते हैं। पीछे जाकर दूर-वीक्षण-यन्त्र के अधिक उन्नत होने पर नये अनुसन्धान से पता चला कि 'वर्ण-सूत्रों' (Chromosomes) की रचना भी छोटे-छोटे सूक्ष्म कणों से होती है, जिन्हें 'वाहकाणु'—'जीन्स'—Genes—कहते हैं। यही 'वाहकाणु'—'जीन्स'—ऊँचाई, लम्बाई, गोरापन, कालापन, नीली आँख, भूरी आँख आदि भिन्न-भिन्न गुणों के 'वाहक' (Carriers, factors) होते हैं। एक 'वाहकाणु' (Gene) में एक ही गुण रह सकता है, दो नहीं। मनुष्य के एक 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) के 'उत्पादक-तत्त्व' (Germ plasm) के भीतर वर्तमान 'न्यूक्लिअस' में २४ 'वर्ण-सूत्र'—क्रोमोजोम्स—होते हैं। पता लगाया गया है कि इन २४ वर्ण-सूत्रों में से एक-एक 'वर्ण-सूत्र'—क्रमोजोम—में कई सौ 'वाहकाणु'—'जीन्स'—Genes—रहते हैं और एक-एक 'जीन'—Gene—वंशानुक्रम में आनेवाले अनेक गुणों में से सिर्फ एक गुण का वाहक होता है।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि माता-पिता के रज-वीर्य से जो अनेकानेक 'वाहकाणु'—जीन्स—सन्तान को प्राप्त होते हैं, वे ही प्राणी की शारीरिक तथा मानसिक रचना का आधारभूत कारण हैं।

जब हम संस्कारों द्वारा मानव के नव-निर्माण की बात करते हैं तब वैज्ञानिक

परिभाषा में हमारा प्रश्न यह हो जाता है कि संस्कार-प्रक्रिया द्वारा क्या हम 'वाहकाणुओं'—Genes—को बदल सकते हैं? इस प्रश्न का हम 'पर्यावरणवादियों की विचारधारा' का वर्णन करते हुए उत्तर देंगे।

(३) वंशानुसंक्रमण के प्रभाव को जानने के लिये किये गये प्रयोग—वंशानु-संक्रमणवादियों का कहना है कि उन्होंने कई परिवारों का अध्ययन किया है, जिससे सिद्ध होता है कि एक परिवार में नीचे-ही-नीचे के गुणों के व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं, दूसरे परिवार में वंश-वंश के बाद ऊँचे-ही-ऊँचे गुणों के लोग उत्पन्न हुए हैं। इससे यह बात पुष्ट होती है कि माता-पिता के जैसे संस्कार होते हैं, वैसी ही सन्तान होती है, इन संस्कारों को बदला नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, जुक-वंश के सम्बन्ध में कहा जाता है कि १७२० में न्यूयार्क में कोई जूक (Juke) नामी व्यक्ति हुआ। १८७७ में उसके वंश में १२०० व्यक्तियों का पता लगाया गया, जिनमें से ४४० व्यक्ति किसी-न-किसी शारीरिक रोग से पीड़ित थे, ३१० भिकमंगे थे, ३०० अपाहिज-घरों में मरे थे, १३० ने कोई-न-कोई अपराध किया था, जिनमें से ७ ने कत्ल किये थे और इनमें जितनी स्त्रियाँ थीं, उनमें से आधी वेश्याएँ थीं। १९१५ में फिर इस वंश के लोगों की पड़ताल की गई जिसमें से २८२० व्यक्तियों का पता चला। इनमें से ५०० पागल थे। इसी प्रकार काल्लीकाक (Kallikak) नामक वंश के वंशधरों का पता लगाने से ज्ञात हुआ कि अमरीकन रेवोलूशन के समय मार्टिन काल्लीकाक नाम का एक व्यक्ति हुआ जिसका दो स्त्रियों के साथ सम्बन्ध होने से दो प्रकार के वंशधर उत्पन्न हुए। एक स्त्रीहीन बुद्धि थी। काल्लीकाक का उससे अवैध सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसके सभी वंशधर हीन-बुद्धि तथा नीच प्रकृति के हुए। दूसरी स्त्री उसकी विवाहिता पत्नी थी और उसके सभी वंशधर स्वस्थ प्रकृति के थे। इसके विपरीत जोनाथन एडवर्डस (Jonathan Edwards) के वंशधरों का १९०० में पता चलाया गया। इनमें से १३९४ का पता चला जिनमें से २९५ कॉलेजों के ग्रेजुएट थे और अधिक संख्या उच्चकोटि के व्यापारियों तथा अन्य व्यवसायों में कार्य करनेवालों की थी। इनमें से १३ व्यक्ति कॉलेजों के प्रेजीडेंट हुए, एक अमरीका का वाइस-प्रेजीडेंट हुआ और जहाँ तक पता चल सका इस वंश का कोई भी व्यक्ति किसी अपराध में सजावार नहीं हुआ।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर वंशानुसंक्रमणवादी यह कहते हैं कि मानव के निर्माण में वंश का, माता-पिता के रज-वीर्य का इतना बड़ा योगदान है कि उसे मिटाया नहीं जा सकता। अगर यह बात ठीक है, तो स्वाभाविक तौर पर यह शङ्का उठ जाती है कि फिर संस्कारों का क्या लाभ है? इसलिये संस्कारों पर जोर देनेवालों के लिये यह जानना आवश्यक है कि क्या रज-वीर्य के संस्कार

अमिट हैं या पर्यावरण को बदल देने से उनमें हेर-फेर किया जा सकता है। इस दृष्टि से संस्कार-पद्धति का प्रश्न 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का इतना नहीं है, जितना 'पर्यावरण' (Environment) का है, क्योंकि संस्कार प्रक्रिया का अभिप्राय पर्यावरण तथा परिस्थिति को बदल देने से व्यक्ति को बदल देना, उसका मानो नव-निर्माण करना है। संस्कार क्या है? संस्कार एक तरह का पर्यावरण है, परिस्थिति है। हम व्यक्ति के आचार-विचार, उसकी प्रकृति को अभीष्ट रूप देने के लिये उसे ऐसे संस्कारों से घेर देते हैं, जिनसे वह सदाचारी हो सके, बुद्धिमान् हो सके, माता-पिता तथा समाज जैसे उसे बनाना चाहते हैं, वैसा वह बन सके। अगर 'वंशानुसंक्रमण' का सिद्धान्त अडिग है, अमिट है, अगर हम वंश की रस्सी से ऐसे बंधे हुए हैं जैसे जुक, काल्लीकाक तथा जोनाथन एडवर्डस के वंशधर बंधे हुए दीख पड़ते हैं, तब कितने ही उच्चकोटि के संस्कारों से बच्चे को क्यों न घेर दिया जाय, सब निष्फल रहेगा, अगर 'पर्यावरण तथा परिस्थिति' को बदल देने से बच्चे का अभीष्ट विकास हो सकता है तभी संस्कारों की पद्धति का कोई प्रयोजन हो सकता है, इसलिये 'पर्यावरणवादियों की विचारधारा' पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

३. पर्यावरणवादियों की विचारधारा

(१) गाल्टन तथा विजमैन के जीन्स-सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में नवीन खोज*—गाल्टन तथा विजमैन का कहना था कि 'उत्पादक-कोष्ठ' में जो 'उत्पादक-तत्त्व' होता है उसमें एक कठोर गाँठ-सी होती है, जिसे 'न्यूक्लिअस' कहते हैं। इस 'न्यूक्लिअस' में २४ 'वर्ण-सूत्र' (क्रोमोसोम्स) होते हैं, जिनमें से एक-एक 'वर्ण-सूत्र' में कई-सौ 'वाहकाणु' (जीन्स) होते हैं। ये जीन्स ही व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक गुणों के भौतिक आधार हैं। क्योंकि ये 'जीन्स' सन्तान-से-सन्तान तक निरन्तर चले आते हैं, इसलिए व्यक्ति जो कुछ है वंश-परम्परा का ही रूप है, उसे बदला नहीं जा सकता, संस्कारों द्वारा उसका नव-निर्माण नहीं हो सकता। परन्तु युरोप, अमरीका तथा एशिया में परमाणु-जीवविज्ञान (Molecular Biology) पर की गई गवेषणाओं के आधार पर वहाँ के वैज्ञानिक कहने लगे हैं कि 'वाहकाणुओं' (Genes) के दोषों को विज्ञान द्वारा दूर किया जा सकता है, 'वाहकाणुओं को बदला जा सकता है, दूषित वाहकाणुओं को निकाल कर उनकी

---

* इस पैराग्राफ़ में जो कुछ लिखा गया है वह Statesman अखबार के ११ दिसम्बर १९६९ के उस लेख से लिया गया है जो Victor Zorza ने Spectre of a Genetic Arms Race के नाम से उक्त पत्र में प्रकाशित किया है। हमने उस लेख का उतना ही सारांश दिया है, जिससे संस्कारों के विषय पर प्रकाश पड़ता है।

जगह दोषरहित वाहकाणुओं का आधान किया जा सकता है। इसे वे 'वाहकाणु-सम्बन्धी निर्माण-कला' (Genetic human engineering) का नाम देते हैं। हार्वार्ड विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों का दावा है कि वाहकाणु-सम्बन्धी जो अनुसन्धान उन्होंने किये हैं उनके आधार पर वे कह सकते हैं कि 'अति-मानवों' (Supermen) का निर्माण कर सकना मनुष्य के अपने हाथ में है। एशिया के डॉ० नेफ़ाख़ (A. Nefakh) का जो सोविएट एकेडेमी ऑफ़ साइंसेज के जीव-विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष हैं, कहना है कि जीव-विज्ञान-सम्बन्धी अनुसन्धानों के द्वारा 'मानवीय-निर्माण-कला' (Human engineering) की आधार-शिला रखी जा चुकी है, जिसके आधार पर उत्कृष्टकोटि के मानव का निर्माण क्रियात्मकता के क्षेत्र में आ गया है। डॉ० नेफ़ाख़ का विश्वास है कि वह दिन दूर नहीं है जब हम 'वाहकाणु-सम्बन्धी मानवीय निर्माण-कला' (Genetic human engineering) के सहारे उच्चकोटि के दार्शनिक, वैज्ञानिक, कवि, लेखक तथा कलाकार अपनी इच्छानुसार उत्पन्न कर सकेंगे, अनगिनित शेक्सपीयरों, न्यूटनों, आइन्स्टीनों को उत्पन्न कर हम मानव-समाज को कहीं-का-कहीं पहुंचा सकेंगे। इन वैज्ञानिकों का इतनी ऊँची उड़ान भरने का आधार क्या है?

इन वैज्ञानिकों का कहना है कि 'उत्पादक-कोष्ठ' में वर्तमान 'उत्पादक-तत्त्व' में से 'न्यूक्लिअस' (Nucleum) को, जिसमें जीन्स—Genes—रहते हैं, निकाल कर उसमें दूसरे 'न्यूक्लिअस' (Nucleus) की पैबंद लगाई जा सकती है, जिसमें अन्य व्यक्ति के जीन्स हों। जिस प्रकार पौधों तथा पशुओं के निर्माण-तत्त्वों में दूसरे पौधे तथा पशु का बीज आरोपित किया जा सकता है, जिससे उसका आकार-प्रकार, रंग-रूप, गुण सब बदला जा सकता है, इसी प्रकार ऐसा कोई तरीका निकल सकता है, जिससे वनस्पति तथा पशु जगत् में घटाये जा रहे इस नियम को मानव के उत्पादक-कोष्ठों पर भी घटित किया जा सके। डॉ० नेफ़ाख़ का विश्वास है कि अगर किसी उच्चकोटि के मानव के वीर्यकोष के न्यूक्लिअस को किसी स्त्री के 'रज:कण' (Ovum) में आरोपित किया जा सके, तो जिस मानवका न्यूक्लिअस होगा उसी मानव के गुणों की सन्तान होगी, भेद इतना ही होगा कि वह मानव बड़ी उम्र का होगा और उसके वीर्य के न्यूक्लिअस से पैदा होनेवाली सन्तान बच्चा होगी, गुण दोनों के एक-समान होंगे, क्योंकि उनके जीन्स में भेद नहीं होगा। डॉ० नेफ़ाख़ का कहना है कि इस समय उत्कृष्टकोटि की मेधावी सन्तान अचानक हो जाती है। अगर अचानक, भाग्यवश किन्हीं ऐसे जीन्स—Genes—का आपस में ऐसा सम्मिश्रण हो जाता है, जिससे मेधावी सन्तान हो सके, तब तो उत्कृष्टकोटि की सन्तान हो जाती है, परन्तु इसमें अपने हाथ की कोई बात नहीं। परन्तु अगर उच्चकोटि के मेधावी व्यक्तियों के उत्पादक-कोष्ठों को सुरक्षित तौर पर सँभाल कर रखा जा सके और

उनके जीन्स को स्त्री के 'रज:कण' (Ovum) में आरोपित किया जा सके, तो मानव-समाज के उच्चकोटि के पुरुषों की अनगिनत संख्या बनायी तथा बढ़ाई जा सकती है।

जीन्स के सम्बन्ध में उक्त प्रकार के अनुसन्धान यूरोप, अमरीका तथा एशिया में किये जा रहे हैं। भारत के लब्ध-प्रतिष्ठ वैज्ञानिक डॉ० हरगोविन्द खोराना, जिन्हें नोबल प्राइज मिला था जीन्स के सम्बन्ध में इसी प्रकार के अनुसन्धान में लगे हुए हैं। २८ अगस्त १९७६ के कैम्ब्रिज (मैसेच्युसेट) से प्राप्त समाचार के आधार पर हिन्दुस्तान टाइम्स २९ अगस्त के पत्र में प्रकाशित हुआ है कि डॉ० हरगोविन्द खोराना कृत्रिम तौर पर 'जीन' (Gene) का निर्माण करने में सफल हो गये हैं। डॉ० खोराना Massachusetts Institute of Technology में काम कर रहे हैं और वैज्ञानिकों का कहना है कि 'जीन' के कृत्रिम तौर पर निर्माण से 'जीव-विज्ञान' (Biology) में एक नवीन अध्याय का श्रीगणेश होगा। इन अनुसंधानों का परिणाम यह है कि नव-मानव के निर्माण में 'वंशानु-संक्रमण' (Heredity) किसी भी प्रकार बाधक नहीं है। 'पर्यावरण' (Environment) से नव-मानव के निर्माण का अभिप्राय ही यह है कि हम माता-पिता के रज-वीर्य से अडिग तथा अमिट रूप में बँधे हुए नहीं हैं, मनुष्य इन बन्धनों को तोड़ सकता है और जीवन को अभीष्ट दिशा दे सकता है। जो काम आज का जीव-विज्ञान भौतिक रूप में जीवन को बदल कर करने का स्वप्न ले रहा है, वह काम भारतीय संस्कार-पद्धति गर्भाधान के समय मनोबल द्वारा करने की बात कहती थी। जीन्स (Genes) द्वारा नव-निर्माण का यह अर्थ है कि एक प्रकार के गुण के जीन्स को 'प्रजनन-तत्त्व' में से निकालकर दूसरे प्रकार के गुण के जीन्स को आरोपित (Implant) कर देना। यह विज्ञान का चमत्कार तो कहा जा सकता है, परन्तु जीवन में यह कहाँ तक सम्भव है—यह सन्देहास्पद है। संस्कार-पद्धति ऐसा कुछ दावा नहीं करती। संस्कार-पद्धति का यह दावा नहीं है कि मनोबल के संस्कारों द्वारा काले को गोरा या गोरे को काला बनाया जा सकता है। यह दावा तो 'जीन्स' पर परीक्षण करनेवाले ही कर रहे हैं। संस्कार-पद्धति का दावा यह है कि मोबल के संस्कारों द्वारा सन्तान की प्रकृति, रुचि, रुझान, जीवन की दिशा, बुद्धि, मनोभाव—इन सबको प्रभावित किया जा सकता है। आवश्यकता भी इसी बात की है क्योंकि समाज की दृष्टि से काले भी अगर शुभ-संकल्प के हों तो अभीष्ट हैं और गोरे भी अगर अशुभ-संकल्प के हों तो त्याज्य हैं। हर हालत में आज का विज्ञान तथा संस्कार-पद्धति—इन दोनों का अभीष्ट एक ही है और वह है मानव के विकास की दिशा को बदल देना। मनोबल से जीन्स को बदला जा सके—यह तो कोई असाधारण व्यक्ति ही कर सकता हो तो करे, परन्तु संस्कार-पद्धति द्वारा मानव का नव-निर्माण करने का स्वप्न उन लोगों का अवश्य था, जिन्होंने 'गर्भाधान' को

एक संस्कार-विशेष बना देने का साहस किया।

(२) जुक, काल्लीकाक तथा जोनाथन एडवर्डस के वंशजों के प्रयोग से भी पर्यावरण के प्रभाव में रुकावट नहीं पड़ती—वंशानुसंक्रमण का प्रभाव अमिट है, हम संस्कार-पद्धति द्वारा नव-मानव का निर्माण नहीं कर सकते—इस दिशा में वंशानुसंक्रमणवादी जिन दृष्टान्तों का उल्लेख करते हैं, उनका विवरण हम पहले दे आये हैं। इन दृष्टान्तों के अलावा हम सबके अनुभव में भी ऐसे दृष्टान्तों की कमी नहीं है, जिनसे सिद्ध होता है कि माता-पिता के रज-वीर्य का सन्तान की शारीरिक तथा मानसिक रचना पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या इन दृष्टान्तों के आधार पर हम कह सकते हैं कि पर्यावरण तथा परिस्थिति बदल देने से वंशानुसंक्रमण के प्रभाव को मिटाया नहीं जा सकता? प्रश्न यह नहीं है कि 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का प्रभाव सन्तान पर कितना गहरा पड़ता है। ऊपर हम देख आये हैं कि माता-पिता के रज-वीर्य में जो हजारों 'जीन्स' होते हैं वे सन्तान-से-सन्तान में निरन्तर चलते चले आते हैं, जिससे स्पष्ट है कि वंशानुसंक्रमण का सन्तान पर प्रबल प्रभाव होता है, प्रश्न तो यह है कि क्या अपने प्रयत्न से, इच्छापूर्वक, संस्कारों के माध्यम के द्वारा पुराने गुणों तथा संस्कारों के स्थान में सन्तान में नये संस्कार आरोपित कर सकते हैं, या नहीं। संस्कार-पद्धति तभी उपयोगी हो सकती है अगर हम पूर्व जन्म के द्वारा आये हुए या माता-पिता द्वारा प्राप्त किये हुए दूषित संस्कारों के स्थान में सन्तान में उत्तम संस्कारों का आधान कर सकें। इस दिशा में समाजशास्त्रियों ने कुछ परीक्षण किये हैं, जिनसे इस प्रश्न पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' में से सन्तान के निर्माण में किसका अधिक प्रभाव है—यह जानने के लिये ऐसे परीक्षण करने होंगे जिनमें या तो 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) एक ही रहे, 'पर्यावरण' (Environment) बदलता रहे, या 'पर्यावण' एक ही रहे, 'वंशानुसंक्रमण' बदलता रहे। तब पता चल सकता है कि जो प्रभाव बदलता नहीं रहा उसका व्यक्ति के निर्माण पर कैसा प्रभाव पड़ा है। ऐसे परीक्षणों को 'वशीकृत या नियन्त्रित परीक्षण' (Controlled experiments) कहते हैं। इन्हें वशीकृत या नियन्त्रित इसलिये कहते हैं, क्योंकि इनमें 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' में से एक प्रभाव हमारे वंश में, हमारे नियन्त्रण में, हमारे हाथ में होता है। ऐसे परीक्षण निम्नलिखित हुए हैं।

(क) जुड़वां बच्चे एक ही पर्यावरण में (Twins in identical environment **)**—एक माँ-बाप के अलग-अलग बच्चों में कहा जा सकता है कि उनका 'वंशानुसंक्रमण' भिन्न-भिन्न होता है, क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न समय के रज-वीर्य से उनका जन्म हुआ होता है, परन्तु जुड़वां सन्तान तो एक ही समय के

रज-वीर्य से उनका जन्म हुआ होता है, परन्तु जुड़वां सन्तान तो एक ही समय के रज-वीर्य से जन्मी होती है। जुड़वां बच्चों के भी दो प्रकार हैं। एक तो जुड़वां बच्चे वे होते हैं जो एक ही समय में स्त्री के दो 'रज:कणों' (Ova) के गर्भित होने से जन्मते हैं—इन्हें 'डाई-जाइगोट्स' (Dizygotes) कहते हैं, दूसरे जुड़वां बच्चे वे होते हैं जो स्त्री के एक ही 'रज:कण' (Ovum) के दो भाग हो जाने के कारण होते हैं—इन्हें, 'मोनो-जाइगोट्स' (Monozygotes) कहते हैं। दो पृथक्-पृथक् रज:कणों से उत्पन्न होनेवाले बच्चों के विषय में कहा जा सकता है कि क्योंकि ये दोनों रज:कण अलग-अलग हैं, इसलिये इनका 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) भी अलग-अलग हो सकता है, परन्तु एक ही रज:कण के दो भाग हो जाने से जो सन्तानें उत्पन्न हो जाती हैं उनके विषय में तो अलग-अलग 'वंशानुसंक्रमण' की बात नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार की ५ बहनों के दृष्टान्त का उल्लेख मनोविज्ञान की पुस्तकों में पाया जाता है। श्री विलियम ई० ब्लेट्ज ने १९३८ में 'पाँच-बहनें' (The Five Sisters) नाम की एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें इन पाँच बहनों का वर्णन है। ये पाँचों बहनें एक ही रज:कण के पाँच भाग हो जाने से पाँच उत्पन्न हुई थीं, इसलिये इनके 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के एक ही होने में कोई सन्देह नहीं था। ये पाँचों बहनें डायोनी वंश की थीं, इसलिये इन्हें 'डायोनी-पंचक' कहा जाता है। जब ये तीन वर्ष की थीं, तब मनोवैज्ञानिकों ने इनकी 'सामाजिक-सफलता' (Social success), 'सामाजिक-लोकप्रियता' (Social popularity) तथा 'सामाजिक-रुचि' (Social interest)—इन तीन गुणों की परीक्षा ली। यह परीक्षा यह देखने के लिये ली गई थी कि 'वंशानुसंक्रमण' के बिलकुल एक तथा 'पर्यावरण' के भी लगभग एक से रहने पर भी उनमें क्या भिन्नता थी। इन परीक्षणों से निम्न परिणाम निकला—

डायोनी-बहनों की परीक्षा का परिणाम

बहनों का नाम	*सामाजिक-सफलता*	*सामाजिक-लोकप्रियता*	*सामाजिक रुचि*
एनेट	१३०%	८०%	२७०%
सेसिल	१२०%	१२०%	१८०%
एमिली	९०%	१००%	६०%
मेरी	९०%	७०%	४०%
यूनी	१८०%	१६०%	१००%

इस परिणाम से स्पष्ट है कि 'सामाजिक-सफलता' में अगर 'मध्य-मान'

(Average) १०० माना जाए, तो जहाँ एमिली और मेरी को ९० अंक मिले, वहाँ यूनी को उससे दुगुने १८० अंक प्राप्त हुए, 'सामाजिक-लोकप्रियता' में जहाँ एनेट को ८० अंक मिले, वहाँ यूनी को १६० अंक मिले, 'सामाजिक-रुचि' में जहाँ मेरी को ४० अंक मिले, वहाँ एनेट को २७० अंक प्राप्त हुए। इन बहनों का ध्यान से अध्ययन करनेवाले विशेषज्ञ का कहना है कि इन बहनों में से एमिली को गुस्सा बिलकुल नहीं आता था, एनेट और मेरी गुस्से की पुतली थीं, एमिली को उन बातों से डर नहीं लगता था, जिनसी दूसरी बहनें डरती थीं। एमिली दूसरी बहनों के प्रति किसी प्रकार का राग-द्वेष नहीं प्रकट करती थी। इन सब कारणों के कारण विशेषज्ञ ने एमिली को आत्म-निर्भर तथा स्वतन्त्र-व्यक्तित्ववाली कन्या का नाम दिया। इन सब बहनों में मेरी में सबसे अधिक बचपन दिखलाई देता था, यूनी ऐसा बरतती थी मानो सबसे बड़ी बहन हो। बिलकुल एक 'वंशानुसंक्रमण' तथा लगभग एक से 'पर्यावरण' में रहते हुए इन बहनों में इतनी विषमता का पाया जाना क्या सिद्ध करता है? समाजशास्त्री लोग तो इस विषमता का कोई उपयुक्त समाधान नहीं दे सकते, परन्तु संस्कारों की दार्शनिक विचारधारा के आधार पर कहा जा सकता है कि इस विषमता का कारण पिछले जन्म के संस्कार है। जब इस जन्म में इस विषमता का कोई समाधान नहीं मिलता, तो पिछले जन्म के संस्कार कारण नहीं तो अन्य कोई क्या कारण हो सकता है? संस्कारों का कितना महत्त्व है—यह उक्त दृष्टान्त से समझ में आ जाता है। माता-पिता के संस्कार ही नहीं, अपने पिछले जन्म के कुसंस्कारों, माता-पिता द्वारा प्राप्त कुसंस्कारों तथा सामाजिक परिस्थिति एवं पर्यावरण से प्राप्त होनेवाले कुसंस्कारों के साथ युद्ध करना है ताकि इन्हें मिटाकर स्वस्थ, सच्चरित्र मानव का निर्माण किया जा सके।

(ख) जुड़वां बच्चे भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में (Twins in different environments)—एक ही से पर्यावरण में जुड़वां बच्चों के परीक्षण से तो पिछले जन्म के संस्कारों के विषय में कुछ जानकारी मिलती है, परन्तु भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में जुड़वां बच्चों के परीक्षण से हम यह पता लगा सकते हैं कि जब 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) एक-सी हो, तब भिन्न-भिन्न 'पर्यावरण' (Environment) का व्यक्ति के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। जीव-विज्ञान के विशेषज्ञ न्यूमैन, मनोविज्ञान के विशेषज्ञ फ्रीमैन तथा गणितशास्त्र के विशेषज्ञ हौलजिंगर ने जुड़वां बच्चों के १९ जोड़ों का अध्ययन करके कुछ परिणाम निकाले। इन जोड़ों को भिन्न-भिन्न पर्यावरणों के भिन्न-भिन्न घरों में रखा गया। यह देखा गया कि इनकी मानसिक-योग्यताओं में बहुत कुछ समानता थी, परन्तु इनमें से पाँच, जिनके पर्यावरण में बहुत भिन्नता थी, भिन्न-भिन्न मानसिक-स्तर के थे। इस परीक्षण से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि 'वंशानुसंक्रमण' का सन्तान के मानसिक-स्तर के निर्माण में

बहुत कुछ प्रभाव पड़ता है, परन्तु अगर पर्यावरण की बदलाहट पर विशेष बल दिया जाए, तो उसका प्रभाव भी कम नहीं है।

(ग) भिन्न-भिन्न वंश के बच्चे एक-से पर्यावरण में (Children of different heredity in identical environment **)**—ऊपर हमने जिन दो परीक्षणों का वर्णन किया उनमें 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) को वश में, नियन्त्रण में रखकर परीक्षण किये गये हैं, परन्तु 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' के प्रभाव को निश्चित रूप में जानने के लिये ऐसे परीक्षणों पर भी ध्यान जाना चाहिये जिनमें 'पर्यावरण' को वश में रखकर, उसे बिना बदले, 'वंशानुसंक्रमण' को बदल कर देखा जाए कि ऐसे दृष्टान्तों में बच्चे के मानसिक-निर्माण में 'पर्यावरण' का क्या प्रभाव पड़ता है। ऐसे परीक्षणों से पता चलेगा कि अगर रज-वीर्य अलग-अलग हैं और पर्यावरण एक ही है, तो क्या अलग-अलग माता-पिता की सन्तान होने परन्तु पर्यावरण एक-सा होने से व्यक्ति अलग-अलग तौर पर ही विकसित होता है, या अलग-अलग माता-पिता होने पर भी एक-से पर्यावरण होने के कारण उनका विकास एक-सा ही हो जाता है। ऐसे परीक्षण 'अन्य द्वारा पोषित बच्चों' (Foster Children) पर किये जाते हैं—ऐसे बच्चों पर जो सन्तान तो किसी और माता-पिता की होती है, परन्तु जिन्हें पालन-पोषण के लिये किन्हीं अन्य 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में दे दिया जाता है। ऐसे परीक्षण कुछ मिस बी०एस० वर्क्स ने किये हैं, कुछ श्री एफ०एन० फ्रीमैन ने किये हैं, जिनका हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं।

मिस बर्क्स के परीक्षण—मिस बर्क्स ने पोषण-गृहों में पाले जानेवाले बच्चों पर जो परीक्षण किये, उनसे उसने यह परिणाम निकाला कि व्यक्ति के विकास में ८० प्रतिशत 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का तथा १७ से २० प्रतिशत 'पर्यावरण' (Environment) का असर होता है। मिस बर्क्स का कहना है कि अच्छे-से-अच्छे घर का वातावरण बालक की 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence quotient) में ज्यादा-से-ज्यादा २० अंक बढ़ा सकता है या बुरे-से-बुरा वातावरण २० अंक घटा सकता है। 'पर्यावरण' का इससे अधिक असर नहीं होता। मिस बर्क्स 'पोषित-बच्चों' (Foster Children) के अपने परीक्षणों के आधार पर 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) को बहुत अधिक महत्त्व देती हैं।

फ्रीमैन तथा आयोवा विश्वविद्यालय के परीक्षण—फ्रीमैन का कहना है कि जो 'पोषित-बच्चे' (Foster Children) छोटी आयु में 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में भर्ती किये जाते हैं, उनका विकास उन बच्चों की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है जिन्हें देर में ऐसे गृहों में भर्ती किया जाता है, इसके अतिरिक्त जिन 'पोषित-बच्चों' (Foster children) को ऊँचे घरों में भर्ती किया जाता है उनका अधिक विकास होता है, जिन्हें निम्न-स्तर के घरों में भर्ती किया जाता है उनका विकास

नहीं हो पाता, वे निम्न-स्तर में ही रह जाते हैं।

आयोवा के विश्वविद्यालय की तरफ से १५० नाजायज बच्चों पर परीक्षण किया गया। ये बच्चे ६ महीने की अवस्था में 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में भर्ती कर दिये गये। इनकी बुद्धि की समय-समय पर जाँच होती रही और उनके मानसिक-विकास की इनके माता-पिता के मानसिक-विकास के साथ तुलना की जाती रही। इस तुलना से यह परिणाम निकला कि मानसिक-विकास पर 'पर्यावरण' का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, इतना प्रभाव जिसे अभी तक समझा नहीं जा रहा था। लोग यही समझते हैं कि सन्तान के विकास पर माता-पिता का, उनके रज-वीर्य का ही प्रभाव पड़ता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है, 'पर्यावरण' का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। आयोवा विश्वविद्यालय के परीक्षणों से यह पता चला कि १६ बच्चे ऐसे थे जिनकी माताएँ बुद्धि-हीन (Feeble-minded) थीं, उनकी 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) ७१ थी, परन्तु उनके बच्चे 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में दो साल रहने के बाद ११६ 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) तक पहुँच गये।

४. वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण का समन्वय

वंशानुसंक्रमणवादियों का कहना है कि पर्यावरण को बदल देने से व्यक्ति की माता-पिता के रज-वीर्य से चली आ रही प्रकृति को मूलतः नहीं बदला जा सकता, पर्यावरणवादियों का कहना है कि अगर बच्चे को अनुकूल परिस्थितियों से घेर दिया जाए, तो हर व्यक्ति में उन्नत होने की अभूतपूर्व क्षमता है। वंशानुसंक्रमणवादियों का दृष्टिकोण निराशावादी है पर्यावरणवादियों का दृष्टिकोण अत्यन्त आशावादी है। ऊपर जिन दृष्टान्तों का हम उल्लेख कर आये हैं, उनसे वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण—इन दोनों का प्रभावशाली महत्त्व सूचित होता है। जुड़वाँ बच्चों को जब एक-ही-से पर्यावरण में रखा गया, तब भी उनमें एक-दूसरे से भेद पाया गया, जुड़वाँ बच्चों को जब भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में रखा गया, तब उनमें समानता पायी गई; भिन्न-भिन्न वंश के बच्चों को जब 'पोषित-गृहों' (Foster homes) में रखा गया, तब मिस बर्क्स के अनुसार वे अपने माता-पिता के वंशानुसंक्रमण से बहुत ऊपर नहीं उठ सके किन्तु फ्रीमैन के कथनानुसार उनमें पर्यावरण के द्वारा आशातीत परिवर्तन हुआ। इन सब बातों को ध्यान में रखकर अब मनोवैज्ञानिकों ने 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment) के एक-दूसरे की अपेक्षा कम या अधिक प्रभाव होने की बहस में पड़ना छोड़ दिया है, वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इन दोनों का उपयोग सन्तान में 'उन्नति' (Improvement) करने के लिये किया जाना चाहिये, उसमें 'एक-रूपण' (Uniformity) लाने के लिये नहीं। हम 'पर्यावरण' को बदलकर व्यक्ति को उन्नत कर सकते हैं, वंश की रस्सी जो उसे बाँधकर पीछे को खींचती है उसे ढीला कर सकते हैं—यह पर्यावरणवादियों को समझ लेना चाहिये, हम वंशानुगत

संस्कारों के साथ सदा के लिये व्यक्ति को वंशगत संस्कारों की कोठरी में बन्द ही नहीं रख सकते—यह वंशानुसंक्रमणवादियों को भी समझ लेना चाहिये।

संस्कारों पर लिखते हुए हमें 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' हर इतना लम्बा-चौड़ा लिखने की आवश्यकता क्यों हुई? इसका कारण यह है कि 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) को हमने एक भूत-सा बना रखा है, जिसके विषय में हम यह सोचते हैं कि जब यह चिपटा तब इससे छुटकारा नहीं हो सकता। हम समझते हैं कि संसार में जो कुछ है, सब 'वंशानुसंक्रमण' ही है। इस सम्बन्ध में संस्कार-प्रणाली एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करती है। माता-पिता द्वारा आये संस्कार प्रबल हैं—इसमें सन्देह नहीं, परन्तु नवीन संस्कारों से पुराने-संस्कारों को बदला जा सकता है, पुराने मानव की जगह नये मानव का संस्कारों द्वारा ही निर्माण किया जा सकता है। इस दृष्टि से जिस बिन्दु पर आज का समाजशास्त्र (Sociology) आ खड़ा हुआ है वहां से संस्कारों की वैदिक-पद्धति ने सहस्रों वर्ष पहले से यात्रा शुरु की थी और मानव के नव-निर्माण की योजना को सोलह संस्कारों के रूप में समाज में जारी किया था। जहाँ से ये सोलह संस्कार शुरु होते थे वहाँ का आदि-संस्कार 'गर्भाधान' संस्कार था। सन्तान को उत्पन्न करने में गर्भाधान तो करना ही पड़ता है, परन्तु इसे एक पवित्र संस्कार का रूप वैदिक विचारधारा में ही दिया गया था।

बृहदारण्यकोपनिषद् में गर्भाधान-संस्कार का वर्णन है। मैक्समूलर ने जब इस उपनिषद् का भाष्य किया तब इस स्थल को अश्लील कहकर इसका अंग्रेजी में अनुवाद करने के स्थान में लैटिन में अनुवाद किया ताकि सर्वसाधारण पढ़ते हुए इस स्थल को छोड़ जायें। परन्तु अगर यह बात समझ ली जाय कि जिन ऋषियों ने ये स्थल लिखे थे वे इसे नये प्राणी के आवाहन का एक पवित्र संस्कार समझते थे, नव-मानव के निर्माण की एक योजना समझते थे, तब इस बात का रहस्य खुल जाता है कि इस भाग को उपनिषद् जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ का हिस्सा क्यों बनाया गया।

५. संस्कार-विधि के गर्भाधान-सम्बन्धी मुख्य-स्थल

ऋषि दयानन्द ने संस्कार-विधि में गर्भाधान प्रकरण में जिन बातों पर विशेष तौर पर बल दिया है वे हैं (क) आयु, (ख) 'ऋतु-क्षेत्र'-'अम्बु'-'बीज' (ग) पुत्र अथवा कन्या की उत्पत्ति। (घ) गर्भाधान संस्कार का महत्व। हम इन चारों पर क्रमशः विचार करेंगे—

(क) गर्भाधान के योग्य आयु—विवाह तथा गर्भाधान का पारस्परिक सम्बन्ध है। गर्भाधान किस आयु में होना चाहिये—इस प्रश्न को विचारने के लिये यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि विवाह किस आयु में होना चाहिये। विवाह करने की आयु को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—'बाल-विवाह', 'किशोर विवाह' तथा 'युवा

विवाह'। 'बाल विवाह' का अभिप्राय 'किशोरावस्था' से पहले का विवाह है। 'किशोरावस्था' से हमारा क्या अभिप्राय है ? बालक में 'किशोरावस्था' तब शुरु होती है जब उसमें वीर्य बनना शुरु हो जाता है, जब उसके वीर्य से सन्तान उत्पन्न हो सकती है। बालिका में 'किशोरी-अवस्था' तब शुरु होती है जब उसे मासिक-धर्म होने लगता है। इस दृष्टि से 'बाल विवाह' की वह अवस्था है जब 'जीव-विज्ञान' (Biology) की दृष्टि से प्रजनन—सन्तानोत्पत्ति—नहीं हो सकती, 'किशोर-विवाह' की वह अवस्था है जिसमें 'जीव-विज्ञान' की दृष्टि से प्रजनन हो सकता है। किशोरावस्था एक तरह से 'जीव-वैज्ञानिक-अवस्था' (Biological age) है, 'बाल्यावस्था' इस प्रकार की 'जीव-वैज्ञानिक-अवस्था' नहीं है। इस 'किशोरावस्था' के बाद एक तीसरी अवस्था आती है जिसे 'युवावस्था' (Adult age) कह सकते हैं। बालक-बालिका के संयोग से सन्तान नहीं होगी, क्योंकि उस समय रज-वीर्य का निर्माण नहीं होता, किशोर-किशोरी के संयोग से सन्तान तो उत्पन्न होगी परन्तु कमजोर होगी, हृष्ट-पुष्ट नहीं होगी, क्योंकि उनका अभी शारीरिक-विकास हुआ है, वह विकास भी अभी प्रारम्भ ही हुआ है, अभी उनकी परिपक्वावस्था नहीं आयी, मानसिक-विकास होना तो अभी बाकी है। ऐसी अवस्था में किशोर-किशोरी का विवाह करना क्या उचित है ? 'किशोरावस्था' तो 'जीव-वैज्ञानिक-अवस्था' (Biological age) है, इस अवस्था में न तो शरीर का, न मन का अभीष्ट परिपाक हुआ होता है। यह अवस्था जब शरीर का परिपाक हो जाता है, विचार बन चुके होते हैं—'युवावस्था' (Adult age) कहलाती है। इस दृष्टि से 'युवावस्था' को 'जीव-वैज्ञानिक' (Biological) तथा 'सांस्कृतिक' (Cultural)—दोनों अवस्थाओं का समन्वय कहा जा सकता है—ऐसी अवस्था जिसमें शरीर तथा मन दोनों का परिपाक हो जाता है। बाल्यावस्था के गर्भाधान से सन्तान या तो होगी नहीं या अत्यन्त दुर्बल होगी, किशोरावस्था के गर्भाधान से सन्तान शारीरिक गुणों से ठीक होगी परन्तु मानसिक गुणों से दुर्बल होगी, युवावस्था के गर्भाधान से सन्तान शरीर तथा मन—इन दोनों दृष्टियों से सर्वगुण सम्पन्न होगी। इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

यथा मुकुलपुष्पस्य सुगन्धो नोपलभ्यते लभ्यते तद् विकासात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम्। नर्ते वै षोडशाद् वर्षात् सप्तत्याः परतो न च आयुष्कामः नरः स्त्रीभिः संयोगो कर्त्तुमर्हति। अतिबालोह्य-सम्पूर्णः सर्वधातुः स्त्रियो व्रजन् उपतप्यते सहसो तडागमिव काजलम्। शुष्कं रुक्षं यथा काष्ठं जन्तुदग्धं विजर्जरम् स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन्।

जिस प्रकार फूल की कली में सुगन्ध नहीं मिलता, उसके खिलने पर सुगन्ध का पता चलता है, इसी प्रकार शरीरधारी प्राणियों में बालपन में शुक्र का पता नहीं चलता, किशोरावस्था में पता चलता है। जो व्यक्ति दीर्घ आयु की कामना करते हों

उन्हें सोलह वर्ष की आयु से पूर्व और सत्तर वर्ष की आयु के बाद स्त्री-संयोग नहीं करना चाहिये। बाल्यावस्था में शरीर धातुओं से पूर्ण—पुष्ट—नहीं होता, इसलिये उस अवस्था में स्त्री-संग करने से थोड़े पानी के तालाब के कड़ी धूप से सूक जाने के समान वह भी सूक जाता है, इसी प्रकार सत्तर वर्ष की आयु के बाद भी स्त्री-संयोग नहीं करना चाहिये, अ गर करे तो जैसे रूखा, सूखा, कीड़ों से खाया हुआ, जर्जरित वृक्ष छूने मात्र से गिर पड़ता है, ऐसे ही सत्तर वर्ष के बाद स्त्री-संग करनेवाला वृद्ध नष्ट हो जाता है।

इसीलिये गर्भाधान के लिये शास्त्रों ने पुरुष के लिये २५ तथा स्त्री के लिये १६ वर्ष की आयु का विधान किया है। ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में सुश्रुत का उद्धरण देते हुए लिखा है—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे
समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥ १॥

—सूत्रस्थान, अध्याय ३५

ऊनषोडशवर्षायाम् अप्राप्तः पञ्चविंशतिम्
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ २॥
जातो वा न चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः
तदस्मादत्यन्त बालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥ ३॥

—शारीरस्थान, अध्याय १०

सुश्रुत के उक्त श्लोकों में विवाह और गर्भाधान का समय पुरुष के लिये कम-से-कम २५ वर्ष तथा स्त्री के लिये कम-से-कम १६ वर्ष का कहा है। उससे पहले गर्भाधान होगा तो या तो सन्तान नष्ट हो जायेगी, या अल्पजीवी होगी, या दुर्बल होगी। यह तो स्पष्ट है कि जब माता-पिता का शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से पूर्ण-विकास होगा, तब उनके विकसित गुण सन्तान में आयेंगे, जब उनमें शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अपरिपक्वावस्था होगी, तब वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त के कारण सन्तान भी इन दोनों पहलुओं में अपरिपक्व होगी।

(ख) ऋतु-क्षेत्र-अम्बु-बीज पर विचार—सुश्रुत का कहना है—'**ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्यात् गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः। ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां संयोगात् अंकुरो यथा**'—जैसे 'ऋतु', 'क्षेत्र', 'अम्बु' और 'बीज'—इन चार के विधिपूर्वक मिलने से अंकुर पैदा होता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष के ऋतु, क्षेत्र अम्बु और बीज के विधिपूर्वक संयोग से सन्तान का जन्म होता है। इसलिये सन्तान के उत्पन्न होने के लिये 'ऋतु' आदि शब्दों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

(i) ऋतु क्या है ?—प्रकृति में जैसे ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, वसन्त आदि ऋतुएँ बनायी गई हैं, प्रत्येक ऋतु की अपनी विशेषता है, इस विशेषता के कारण हर ऋतु दूसरी ऋतु से भिन्न है, प्रत्येक ऋतु का वनस्पति, पशु, पक्षी तथा मनुष्य पर अपना-अपना प्रभाव है, इसी प्रकार प्राणी के शरीर में भी गर्भाधान की ऋतु होती है। वसन्त में पेड़ों पर फूल खिलते हैं, ग्रीष्म में नहीं, इसी प्रकार पशुओं में गर्भाधान का अपना-अपना समय है, हर समय गर्भाधान का नहीं है। उत्तर-प्रदेश में साधारण तौर पर गायों का गर्भाधान का समय माघ, फाल्गुन तथा चैत्र है, भैंसों का कार्तिक, मार्गशीर्ष तथा पौष है। वनस्पति, पशु, पक्षी का नियन्त्रण प्रकृति द्वारा होता है, इसलिये इनके गर्भधारण करने का समय निश्चित है, परन्तु मनुष्य क्योंकि प्रकृति द्वारा नियन्त्रित न होकर अपने को बुद्धि द्वारा नियन्त्रित करता है, इसलिये उसके गर्भाधान की ऋतु का अर्थ प्राकृतिक-ऋतु न होकर शरीर की ऋतु से होता है। शरीर की 'ऋतु' क्या है ? मानव-जाति के भीतर शरीर की 'ऋतु' का अर्थ है—स्त्री के शरीर में जो स्वाभाविक परिवर्तन आ जाता है, वह।

साधारण तौर पर कन्या जब १३-१४ साल की होने को आती है, तब उसके गर्भाशय से रक्त निकलने लगता है। यह रक्त प्राय: ३ या ४ दिन रहता है—पहले दिन कम, दूसरे-तीसरे दिन ज्यादा, चौथे दिन समाप्त हो जाता है। इस प्रकार रक्त का आना तब होता है जब गर्भाधान का समय आ जाता है। इसी समय को 'ऋतु' कहते हैं, इस रक्त को 'ऋतु-स्राव' कहते हैं।

इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार गर्भाशय से योनि द्वारा रक्त का आना यह तो सिद्ध करता है कि गर्भाशय की गर्भ-धारण करने की ऋतु आ गई है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि गर्भाशय में गर्भ को ठीक तरह से सँभालने, उसके पोषण की योग्यता, उसका सामर्थ्य भी आ गया है। 'गर्भाशय' में से रक्त-स्राव का होना 'किशोरावस्था' का सूचक है, 'जीव-वैज्ञानिक-अवस्था' (Biological age) का सूचक है, युवावस्था में आनेवाली 'सांस्कृतिक-अवस्था' (Cultural age) का सूचक नहीं है। हम पहले कह चुके हैं, गर्भ-धारण 'सांस्कृतिक-अवस्था' में होना चाहिए, 'जीव-वैज्ञानिक अवस्था' में नहीं। 'सांस्कृतिक-अवस्था' तब आती है जब पुरुष एवं स्त्री का शारीरिक तथा मानसिक—दोनों प्रकार का विकास हो जाता है, सिर्फ शारीरिक-विकास होने पर गर्भ-धारण तो हो सकता है, परन्तु पूर्णतया पुष्ट शारीरिक तथा मानसिक गुणों का आगमन नहीं हो सकता। संस्कार-पद्धति क्योंकि मानव के नव-निर्माण के उद्देश्य से बनी है, इसलिये गर्भाधान तभी होना चाहिये जब माता-पिता शारीरिक तथा सांस्कृतिक गुणों का सन्तान में संक्रमण कर सकें।

स्त्री के गर्भाशय से जो रक्त निकलता है वह गर्भाशय की दीवारों के स्राव से

आता है ताकि गर्भ को गर्भाशय की दीवार में चिपक जाने का सहारा मिल सके। जब युवावस्था में पुरुष के साथ सम्पर्क होने से गर्भ धारण हो जाता है, तब यह रक्त बहना बन्द हो जाता है, यह रक्त शिशु के पालन-पोषण, उसकी बढ़ती में काम आता है। जब सन्तान पैदा हो जाती है, तब भी रक्त नहीं बहता, तब वह स्तनों में दूध के रूप में शिशु का पालन करता है। जब तक बच्चा स्तन-पान करता है तब तक रक्त नहीं आता, जब वह दूध पीना छोड़ देता है, तब से फिर रक्त-स्राव होने लगता है। यह रक्त-स्राव ४५-५० वर्ष की आयु तक चलता है, उसके बाद गर्भधारण की योग्यता नहीं रहती, इसलिये रक्त-स्राव भी समाप्त हो जाता है। रक्त-स्राव का काल स्त्री का 'ऋतु-काल' है—इसी से समझ लेना उपयुक्त है कि मानव को किस आयु में विवाह करना चाहिए, ***क्योंकि विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है***। क्योंकि शुरु-शुरु में पुरुष तथा स्त्री के जीवाणु निर्बल होते हैं, इसलिये गर्भ-धारण की अवस्था आ जाने पर भी गर्भ धारण की योग्यता २-३ बरस बाद आती है। यही कारण है कि १३-१४ वर्ष में ऋतु-स्राव हो जाने पर भी शास्त्रों ने गर्भ धारण की योग्यता २-३ बरस बाद मानकर कन्या के विवाह की आयु १६ वर्ष या उसके बाद मानी है। भारतीय-विधान में बड़ी समझदारी से अब कन्या के विवाह की आयु को १८ वर्ष कर दिया गया है।

बाकी रही पुरुष की बात। पशुओं में नर तथा मादा के मेल का सिर्फ 'जीव-वैज्ञानिक' (Biological) उद्देश्य ही होता है, सन्तति बनी रहे—इसके अतिरिक्त इसका दूसरा कोई उद्देश्य नहीं होता, मानव में स्त्री-पुरुष के संयोग के उद्देश्य दो होते हैं—'जीव-वैज्ञानिक' (Biological) तथा 'सांस्कृतिक' (Cultural)। स्त्री में तो उसका ऋतु-स्राव ही उसकी गर्भ-धारण तथा गर्भ-योग्यता की आयु का निश्चय कर देता है, पुरुष में ऐसी कोई बात नहीं है। पुरुष में यह देखना होगा कि उसके शारीरिक के साथ उसका मानसिक विकास किस आयु में अपने यौवन को प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए सुश्रुत में कहा है—

चतस्त्रोऽवस्था शरीरस्य वृद्धिर्यौ वनं संपूर्णता किञ्चित् परिहाणिश्चेति आषोडशात् वृद्धिः आचतुर्विंशतेयैविनं आचत्वारिंशतः संपूर्णता ततः किञ्चित् परिहाणिश्चेति।

अर्थात्, पुरुष के शरीर के १६वें वर्ष से आगे सब धातुओं की वृद्धि और २५वें वर्ष से युवावस्था का प्रारम्भ, ४०वें वर्ष में युवावस्था की पूर्णता अर्थात् सब धातुओं की पुष्टि और उससे आगे किञ्चित्-किञ्चित् धातु—वीर्य—की हानि होती है। अर्थात्, ४०वें वर्ष सब अवयव पूर्ण हो जाते हैं, पुनः खान-पान से जो उत्पन्न वीर्य—धातु—होता है, वह कुछ-कुछ क्षीण होने लगता है। विज्ञान की पारिभाषिक-भाषा में शरीर में धातु की पुष्टि तथा ह्रास—इन दोनों को 'चयापचय' (Metabolism)

कहा जाता है, सिर्फ शरीर के पोषण को 'चय' (Anabolism) तथा क्षय को 'अपचय' (Catabolism) कहते हैं। सुश्रुत के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि २५ वर्ष की आयु से ४० वर्ष की आयु तक मानव-शरीर की चयावस्था (Anabolic stage) है, उसके बाद अपचयावस्था (Catabolic stage) शुरु हो जाती है। इसलिए गर्भाधान का उपयुक्त समय पुरुष के लिए २५ वर्ष की आयु से ४० वर्ष की आयु तक का है, उससे पहले और बाद को वीर्य का उपयोग करने से शरीर को हानि होने की संभावना रहती है। इस समय क्योंकि शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ उच्च-स्तर पर होती हैं इसलिये इस अवस्था में सन्तानोत्पत्ति करने से माता-पिता के श्रेष्ठतम गुण सन्तान में आने की संभावना है। शास्त्रों में गृहस्थी के लिये इस आयु में उपयुक्त समय में संयमपूर्वक पत्नी-संग करने को गृहस्थी के ब्रह्मचर्य का नाम दिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जब शरीर की 'चयावस्था' (Anabolic stage) हो, तभी स्त्री-संग करना उचित है, पहले या बाद को नहीं, ऐसा करना ब्रह्मचारी रहने सरीखा है। तभी मनु ने कहा है—

निन्द्याष्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ब्रह्मचार्यैव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्।

वीर्य-रक्षा को शास्त्रों में इतना महत्त्वपूर्ण माना गया है कि शरीर की 'चयावस्था' (Anabolic stage) के पहले या बाद को स्त्री-संग करने का निषेध है—पहले की अवस्था ब्रह्मचर्य की अवस्था है, बाद की अवस्था वानप्रस्थ की अवस्था है। ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ का आशय यही है कि वीर्य का उपयोग सिर्फ २५ तथा ४० वर्ष के भीतर करने की शास्त्रों ने आज्ञा दी है, इसे ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में ही मान लिया है, इसके पहले या बाद को वीर्य का इस्तेमाल करने को अब्रह्मचर्य कहा है। ब्रह्मचर्य के विषय में सुश्रुत का कथन है—**'ब्रह्मचर्यमायुष्यकारणम्'**। आगे कहा है—**'त्रयो उपस्तम्भाः शरीरस्य आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति'**—अर्थात्, दीर्घ-जीवन, आयु-वृद्धि का कारण ब्रह्मचर्यपूर्वक वीर्य रक्षा है, दीर्घ-जीवनरूपी भवन के तीन आधार-स्तम्भ हैं—उत्तम आहार, आनन्दमयी निद्रा तथा ब्रह्मचर्य का पालन। इस वैदिक विचारधारा को ध्यान में रखते हुए किस आयु में विवाह करना चाहिये, कब गर्भाधान करना चाहिए, कब इन सबसे छुट्टी लेनी चाहिये—इन सब बातों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। पिछले दिनों पार्लियामेंट में एक कानून बना है, जिसके अनुसार विवाह के लिये लड़कों की आयु २१ वर्ष तथा लड़कियों की १८ वर्ष कर दी गई है। विचार करने की यह दिशा जीव-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के अनुकूल है, परन्तु शास्त्रों के अनुसार इसमें और अधिक सुधार होना आवश्यक है।

(ii) ऋतुदान—संस्कारविधि में ऋतु-दान का शीर्षक देकर मनुस्मृति के तीसरे

अध्याय के ४५ से ५० तक श्लोकों का उद्धरण दिया गया है, जिनमें कहा है—

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा पर्ववर्जं व्रजेत् चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया। —इत्यादि

अर्थात्, मनु आदि महर्षियों ने ऋतुदान के समय का निश्चय इस प्रकार से किया है कि सदा पुरुष ऋतु-काल में स्त्री का समागम करे और अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री का सर्वदा त्याग रखे। ऋतु का अर्थ है—समय, मौसम। पुरुष-स्त्री के संगम की ऋतु वही है जब स्त्री का रक्तस्राव शुरु होता है, जब रक्त-स्राव बन्द हो जाए, तब पुरुष-स्त्री का संग शास्त्र-विरुद्ध है—अर्थात्, शास्त्रों के अनुसार तब स्त्री-पुरुष के समागम की मौसम समाप्त समझनी चाहिये, तब ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना चाहिये—इसी से आयु बढ़ती है, अन्यथा आयु घटती है। ऋतु में भी ऋतु-दान का समय शास्त्रों ने बाँध दिया है। इस समय के बन्धन की चर्चा करते हुए मनुस्मृति के आधार पर संस्कार-विधि में लिखा है—'स्त्रियों का स्वाभाविक ऋतु-काल १६ रात्रि का है, अर्थात् रजोदर्शन दिन से लेकर १६वें दिन तक ऋतु का समय है। उनमें प्रथम की ४ रात्रि, अर्थात् जिस दिन रजस्वला हो, उस दिन से लेकर चार दिन निन्दित हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ रात्रि में पुरुष स्त्री का स्पर्श और स्त्री पुरुष का सम्बन्ध कभी न करें।'

संस्कारविधि में जो यह बन्धन डाला गया है, उसका आधार जीव-विज्ञान (Biology) तथा मनोविज्ञान (Psychology) ये दोनों हैं।

जीव-विज्ञान की दृष्टि से स्त्री में पुरुष से समागम की प्रेरणा हर समय न होकर किसी निश्चित समय में होती है। जिस समय में स्त्री में यह प्रेरणा हो जीव-विज्ञान की दृष्टि से पुरुष तथा स्त्री के समागम के लिये वही उपयुक्त समय है। उदाहरणार्थ, जीव-विज्ञान की दृष्टि से जिस समय भूख हो उसी समय भोजन खाना चाहिये, जिस समय प्यास हो उसी समय पानी पीना चाहिये, जिस समय नींद आती हो उसी समय सोना चाहिये। ये अवस्थाएँ हर समय नहीं रहतीं, शरीर की आवश्यकतानुसार आती-जाती रहती हैं। जब भूख न हो तब खाना, जब प्यास न हो तब पीना, जब नींद न आ रही हो तब सोना, शरीर के लिये अहितकर है। इसी प्रकार ऋतु-स्राव के दिनों में शारीरिक-प्रतिक्रिया के आधार पर जब स्त्री में स्वयं समागमेच्छा उद्दीप्त हो, तभी स्त्री-पुरुष का सहवास होना चाहिए। पुरुष में समागमेच्छा का कोई नियम नहीं है, परन्तु स्त्री में ऋतु-स्राव के कारण उसमें समागमेच्छा का एक निश्चित नियम है। पुरुष को उसी नियम के आधार पर समागम का पालन करना चाहिये।

जीव-विज्ञान की दृष्टि से स्त्री के शरीर में समागम का जो समय हो उसे जानकर ही स्त्री-पुरुष का समागम में प्रवृत्त होना मनोविज्ञान की दृष्टि है। यह

समझना भूल है कि मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से स्त्री-पुरुष हर समय समागम में प्रवृत्त हो सकते हैं। जो पुरुष स्त्री की शारीरिक-रचना का ध्यान किये बगैर जब चाहें समागम में प्रवृत्त होने लगते हैं, वे स्त्री को अनेक स्नायु-सम्बन्धी रोगों (Nervous diseases) का शिकार बना देते हैं।

तो क्या यह बात ठीक है कि स्त्री के शरीर में समागम का कोई जीव-वैज्ञानिक नियम (Biological law) काम करता है और उस समय समागम करना और अन्य समय ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना ही मनोवैज्ञानिक-नियम (Psychological law) है?

इस सम्बन्ध में श्रीमती मेरी कारमाइकेल स्टोप्स ने अपने ग्रन्थ 'Married Love' में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। अनेक स्त्रियों के ऋतु-सम्बन्धी जीवन की जाँच करने के अनन्तर वे जिस परिणाम पर पहुँची हैं वह यह है कि स्त्री के शरीर की भौतिक-रचना इस प्रकार की है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि उसमें समागम की प्रेरणा १५ दिन में दो बार उदय होती है—एक प्रेरणा ऋतु-स्राव प्रारम्भ होने के एक-दो दिन पहले, दूसरी प्रेरणा ऋतु-स्राव प्रारम्भ होने के दिन से १५-१६ दिन बाद। इन दोनों में से पहली प्रेरणा गर्भाधान के लिये निरर्थक है, दूसरी प्रेरणा ही सार्थक कही जा सकती है।

ऋतु-स्राव प्रारम्भ होने के एक-दो दिन पहले गर्भाशय रक्त-स्राव के लिये तय्यार हो रहा होता है, उसके भीतर की दीवार कुछ सूजने-सी लगती है ताकि भीतर के रुधिर के बाहर बह जाने से गर्भाशय शुद्ध हो जाये। इस समय गर्भाधान करना निरर्थक होता है, क्योंकि इस समय जो वीर्य गर्भाशय में जाता है वह ऋतु-स्राव के रुधिर के साथ बह जाता है, उससे गर्भ-स्थापना नहीं हो सकती। इसके बाद ऋतु-स्राव चार दिन तक बहता रहता है जिस बहाव के कारण गर्भ-स्थापना नहीं हो सकती। इतना ही नहीं कि ऋतु-स्राव के चार दिनों में रक्त के बहाव के कारण गर्भ-स्थापना नहीं हो सकती, उन दिनों में सहवास करने से पुरुष तथा स्त्री—दोनों को अनेक रोग भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, जननांगों में खाज-खुजली आदि का हो सकना सम्भव है। रक्त-स्राव के दिनों में जीव-वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों दृष्टियों से समागम की इच्छा भी नहीं होती—यह श्रीमती मेरी स्टोप्स का अनेक स्त्रियों पर जाँच किया हुआ नियम है।

ऋतु-स्राव शुरु होने के १-२ दिन पहले से १५ दिन बाद समागम की प्रेरणा होती है, जिसे मेरी स्टोप्स के कथनानुसार स्त्री के शरीर की भौतिक-रचना की स्वाभाविक प्रेरणा कहा जा सकता है। पहली प्रेरणा ऋतु-स्राव शुरु होने के एक-दो दिन पहले होती है जो गर्भाधान के लिये निरर्थक है, क्योंकि इसका उद्देश्य गर्भाशय में से रक्त बहाकर उसे प्रजनन के लिये तय्यार करना है, दूसरी प्रेरणा ऋतु-स्राव शुरु

होने के २ दिन पहले से गिनकर १५ दिन बाद होती है, जब गर्भाशय में स्त्री-बीज (Ovum) पुरुष-बीज (Sperm) को लेने के लिये तय्यार होता है। क्योंकि ऋतु-स्राव साधारण तौर पर ४ दिन रहता है, इसलिये हम कह सकते हैं कि ऋतु बन्द होने के १२ दिन बाद स्त्री में समागमेच्छा उत्पन्न होती है। इन १२ दिनों को भी तीन भागों में बाँटा जा सकता है—पहले ४ दिन, उसके बाद के ४ दिन, उसके बाद के ४ दिन। इन दिनों में गर्भाशय को शुक्र-बीज मिल जाए, तो गर्भ-धारण हो सकता है। इन दिनों के सम्बन्ध में भी आयुर्वेद का कथन है—

'ताषु उत्तरोत्तरम् आयुः आरोग्यैश्वर्यसौभाग्यबलवर्णेन्द्रियसम्पत् अपत्यस्य भवति अतः परम् तु उत्तरोत्तरम् एव आयुरादीनाम् ह्रासः।'

अर्थात्, ऋतु-स्राव बन्द हो जाने के बाद के १२ दिनों में सन्तान में आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, सौभाग्य, बल, वर्ण और इन्द्रियों की उत्तरोत्तर प्रशस्तता रहती है। इसके पीछे—अर्थात्, बारहवें दिन के बाद—आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, सौभाग्य, बल, वर्ण आदि गुण उत्तरोत्तर कम हो जाते हैं। इस दृष्टि से रक्त-स्राव बन्द होने के बाद १२वें दिन को जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा सन्तति-विज्ञान की दृष्टि से गर्भाधान के लिये उत्तम बतलाया गया है।

(iii) क्षेत्र क्या है?—जिस प्रकार प्रकृति में उत्पादन के लिये ऋतु—मौसम—का विचार करना महत्त्वपूर्ण है, हर मौसम में हर वनस्पति नहीं उत्पन्न हो सकती, इसलिये सन्तानोत्पत्ति के लिये भी ऋतु-सम्बन्धी विचार किया जाना आवश्यक है, इसी प्रकार उत्पत्ति के लिये क्षेत्र का विचार भी आवश्यक है। कोई खेत बहुत उपजाऊ होता है, किसी खेत में कुछ भी उग नहीं सकता, किसी खेत में खाद देने से भूमि उपजाऊ हो जाती है। इसी प्रकार स्त्री के गर्भाशय को खेत से उपमा दी गई है। कई स्त्रियाँ इतनी उत्पादनशील होती हैं कि एक प्रसव के बाद ४-५ महीने में ही दूसरा गर्भ ठहर जाता है—एक बच्चा चलना सीख रहा है, दूसरा स्तनों का दूध पी रहा है, तीसरा गर्भ में मौजूद है। कई स्त्रियाँ बाँझ होती हैं, लाख कोशिश करने पर भी उनके सन्तान नहीं होती। कई स्त्रियाँ एक-दो सन्तान को ही उत्पन्न कर सकती हैं। इस सबका कारण ऋतु-काल का स्वस्थ अथवा अस्वस्थ होना है।

ऋतु का काम गर्भाशय को धोकर, उसके अशुद्ध मल को निकालकर, शुद्ध रक्त का उसमें सञ्चार करके उसे इस योग्य बना देना है, जिससे वह पुरुष के बीज को ग्रहण करके गर्भाशय की भित्ति में उसे चिपका सके। इस बात को प्रकट करते हुए कहा है—

निपातात् एव गृह्णाति रागं वासो यथा मलम्
ध्रुवं गर्भं तथा बीजं क्षेत्र-बीजम् उपस्कृतम्।

जैसे मल-रहित वस्त्र पर पड़े हुए रंग को वस्त्र झट-से ग्रहण कर लेता है, वैसे

उपस्कृत—शुद्ध हुआ—गर्भाशय पुरुष-बीज को झट-से ग्रहण कर लेता है। ऋतु का ठीक समय पर आना ही क्षेत्र का सन्तानोत्पन्न करने के लिये तय्यार होना है। अगर ऋतु-काल में गड़बड़ी हो, तो सन्तान उत्पन्न होने में बाधा पड़ सकती है। तभी जब कोई स्त्री सन्तानोत्पन्न नहीं कर सकती तब वैद्य, डॉक्टर उसके ऋतु-सम्बन्धी दोषों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। गर्भाशय को गर्भ-धारण के योग्य बनाना ही 'क्षेत्रीयकरण' कहलाता है।

(iv) क्षेत्रीकरण—प्राकृतिक क्षेत्रीकरण—गर्भाशय को गर्भ-धारण के योग्य बना देना गर्भाशय का क्षेत्रीकरण है। स्वर्गगत भिषग्रत्न श्री अत्रिदेव विद्यालंकार अपने ग्रन्थ 'संस्कार-विधि-विमर्श' में प्राकृतिक क्षेत्रीकरण के सम्बन्ध में लिखते हैं—''यह क्षेत्रीकरण स्वस्थ-अवस्था में प्रकृति स्वयं करती है। इसके लिये ऋतु-काल में ऋतु का प्रवृत्त होना ही गर्भाशय का क्षेत्रीकरण करना है। जिस प्रकार वर्षा-ऋतु प्रारम्भ होने से पूर्व समुद्र के पानी के अन्दर चहल-पहल होने लगती है, वायुमण्डल में परिवर्तन आरम्भ हो जाता है, इसी प्रकार ऋतु प्रारम्भ होने से पूर्व गर्भाशय के अन्दर की त्वचा में कुछ आवश्यक परिवर्तन होते हैं। प्रकृति में होनेवाले परिवर्तनों को मनुष्य भले ही न पहचाने, परन्तु पक्षी, चिऊँटी जैसे सूक्ष्म-प्राणी इन्हें बहुत पहले से जान लेते हैं। इसी प्रकार ऋतु आने से आठ-दस दिन पहले गर्भाशय में परिवर्तन शुरु हो जाता है। इस परिवर्तन के कारण गर्भाशय की भित्ति अन्दर से मोटी बनने लगती है, रक्त का संचार बढ़ जाता है, भित्ती के मोटा होने के कारण इसमें नई-रक्तवाहनियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस परिवर्तन के कारण पुरानी निर्बल झिल्ली (मांस-स्तर) झड़ने या गिरने लगती है, रक्त-प्रवाह होने लगता है, जिसमें गन्दगी या मृत-तन्तु बहकर बाहर आ जाते हैं, इनके साथ हानिकारक अन्य पदार्थ भी बाहर वह आते हैं। यह एक प्रकार का प्रकृति द्वारा किया गया गर्भाशय का शोधन अथवा क्षेत्रीकरण है जिससे गर्भाशय गर्भ धारण के लिये तय्यार हो जाता है। यह शुद्धि गर्भाशय की ही हो—यह बात नहीं है, यह शुद्धि सम्पूर्ण शरीर की होती है। इसी लिये कहा है—

'रजः प्रसेकात् नारीणां मासि मासि विशुध्यति .... तस्मान्न प्रमेहन्ति स्त्रिया।'

स्त्रियों में प्रति मास रजःस्राव होने से उनके सारे शरीर का शोधन हो जाता है—इसीलिये स्त्रियों को प्रमेह (मूत्रजन्य विकार) नहीं होता। बात भी ठीक है। जिन स्त्रियों की ऋतु नियमित और ठीक रहती है, उनमें मधुमेह या दूसरे मूत्र-विकार नहीं मिलते। इसके प्रतिकूल जिन स्त्रियों में मासिक-धर्म शुद्ध नहीं होता, या जब यह बन्द हो जाता है, तब शरीर में मधुमेह, प्रमेह आदि रोग होते हैं। वास्तव में ऋतु-काल का ठीक प्रकार से नियमित रूप में आना ही स्त्री के स्वास्थ्य और

नीरोगता की परीक्षा है।''

औषधिजन्य क्षेत्रीकरण—जिन स्त्रियों का ऋतु-धर्म ठीक न होने के कारण उन्हें सन्तान नहीं होती उनके ऋतु को ठीक करने के लिये औषधियों का उपचार किया जाता है, इसे 'औषधिजन्य क्षेत्रीकरण' कह सकते हैं। श्रीयुत् अत्रिदेव ने अपने ग्रन्थ में चरक का निम्न उद्धरण दिया है—

''पुरुषस्य अनुपहतरेतसः स्त्रियाश्च अप्रदुष्टयोनि-शोणित-गर्भाशयायाः यदा भवति संसर्गः ऋतुकाले, यदा च अनयोः तथायुक्ते संसर्गे शुक्र- शोणित-संसर्गमन्तगर्भाशयगतं जीवः अवक्रामति सत्वसंप्रयोगात् तदा गर्भोऽभिनिवर्तते। सः सात्म्यरसोपयोगात् अरोगो भवति अभिवर्धते सम्यक् उपचारश्चोपचार्यमाणः।''

अर्थात्, दोष-रहित वीर्यवाला पुरुष जब दोष-रहित योनि और गर्भाशयवाली स्त्री के साथ समागम करता है और जब ऋतुकाल में इनके संसर्ग से शुक्र गर्भाशय में जाकर स्त्री-बीज से मिलता है, तब जीव इनमें आ जाता है—इसी का नाम गर्भ है। यह गर्भ सात्म्य-रस के उपयोग से तथा भलीप्रकार के उपचारों से उपचरित होने पर नीरोग होता है।

प्रश्न यह है कि अगर स्त्री में रोग हो, तो किन औषधियों से उसे दूर किया जा सकता है, अगर पुरुष में कोई रोग हो तो किन औषधियों से उसे दूर किया जा सकता है ?

ऋषि दयानन्द ने संस्कार-विधि में स्त्री-पुरुष के लिये कुछ औषधियों का उल्लेख किया है। हम यहाँ वैद्य अत्रिदेव के ग्रन्थ के आधार पर कुछ अन्य औषधियों का उल्लेख कर रहे हैं। पहले शुद्ध-अशुद्ध शुक्र तथा ऋतु का, फिर औषधियों का वर्णन होगा—

शुद्ध-शुक्र की परीक्षा—स्निग्धं धनं पिच्छलं च मधुरं च अविदाहि च रेतः शुद्धं विजानीयात् श्वेतं स्फटिकसंनिभम्। —चरक

अर्थात्, जो वीर्य चिकना, घट्ट, पिच्छल, मधुर (जिसकी प्रतिक्रिया अम्ल न हो, कुछ क्षार हो), अविदाहि (जिसके निकलने में मूत्र-मार्ग में जलन—दाह—न हो) तथा जो स्फटिक के समान श्वेत हो, वह शुद्ध है।

अशुद्ध-शुक्र की परीक्षा—फेनिलं तनुरुक्षं च विवर्णं पूति अपिच्छलम् अन्यधातूपसंसृष्टम् अवसादि तथाष्टमम्। —चरक

अर्थात्, जिस शुक्र में झाग हो, जो शुक्र पतला हो, रूक्ष हो, विकृत वर्ण हो, पिच्छल न हो, रक्त आदि से मिला हो (जैसाकि शुक्र की कमी में शुक्र के साथ थोड़ा-सा रक्त आ जाता है) तथा अवसादि (शिथिल, जिसमें शुक्र-कीट—Sperm—न हों)—ऐसा शुक्र अशुद्ध, दूषित होता है।

दूषित-शुक्र के अतिरिक्त शुक्र की कमी होना भी रोग है, जिसके लक्षण हैं—

अण्डकोशों में दर्द, अशक्ति, उत्साह का अभाव, समागम में दुर्बलता, देर से वीर्य का निकलना, निकलने पर थोड़ी मात्रा में आना या रक्त का मिला होना। इस प्रकार के लक्षणों के व्यक्ति को समागम में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये क्षय के लक्षण हैं और ऐसे व्यक्ति की सन्तान स्वस्थ नहीं हो सकती।

अशुद्ध-शुक्र की चिकित्सा—शुक्र-वधन तथा शुक्र-शोधन के लिये दूध, घी, शालि चावल और जौं उत्तम हैं। चीनी मिले दूध या धारोष्ण दूध के साथ घी मिलाकर पीने से शुक्र बढ़ता तथा शुद्ध होता है।

चरक ऋषि ने जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीर काकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, वृद्ध दारु और कुलिंग—ये दस शुक्र-वर्धक औषधियाँ बतलाई हैं जो च्यवनप्राशन में पड़ती हैं।

कुष्ठ, ऐलवालुक, कटफल, समुद्रफेन, कदम्ब निर्यास, इक्षुकाण्ड, ईक्षु, ईक्षुरक (तालमखाना), वसुक, खस—ये दस औषधियाँ शुक्र-शोधक हैं।

इनके अतिरिक्त शिलाजीत शुक्र को शुद्ध करनेवाली उत्तम औषधि है, इसलिये अकेली शिलाजीत या इसके साथ चन्द्रप्रभा वटी शुक्र-शोधन के लिये लेनी चाहिये।

चक्रदत्त ने दूर्वा, शैवाल, पल्व, हठ, करंज, कसेरु—इनका कषाय मधु डाल कर देना उत्तम कहा है। वैद्य अत्रिदेव के मत में चक्रदत्त का योग सबसे उत्तम शुक्रशोधक योग है। विशेषतः जब इसे कुशावलेह अथवा वसन्तकुसुमाकर रस के साथ लिया जाय।

आँवला या हल्दी का रस मधु के साथ लेने से भी लाभ होता है। वैद्यजीवन का रसायन चूर्ण (आँवला, गोखरू, गिलोय) भी उत्तम है। आँवले का स्वरस, भाँगरे का स्वरस—इन दोनों को भी शुक्र-शुद्धि के लिये लिया जा सकता है।

अगर वीर्य में शुद्ध-कीटों (Sperms) की कमी हो, तो विटेमिन 'ए' तथा 'ई' को बहुत उपयोगी कहा गया है। विटेमिन 'बी' की कमी से पुरुष में 'शुक्राणु' (Sperm) तथा स्त्री में 'अण्डाणु' (Ovum) की कमी हो जाती है। इन तीनों को लेने से यह कमी दूर हो जाती है। अंकुरित (Germinated) गेहूँ या अन्य अन्नों में ये बिटामिन बहुतायत से पाये जाते हैं।

शुद्ध-ऋतु की परीक्षा—गुंजाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसन्निभम् इन्द्रगोपसंकाशम् आर्तवं शुद्धमेव तत्। मासन्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च नैवातिबहु नात्यल्पं तदार्तवं शुद्धमादिशेत्। —चरक

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरज्जयेत्॥ —सुश्रुत

अर्थात्, जो ऋतु रत्ती, लाल कमल या वीर बहूटी के समान चमकता लाल हो वह शुद्ध होता है। जो ऋतु एक मास के पीछे, बिना दाह या पीड़ा के प्रवृत्त होता है,

पाँच रात रहता है, मात्रा में न बहुत, न अत्यन्त कम हो, वह शुद्ध समझना चाहिये। जो ऋतु रक्त के समान या लाख के रस के समान लाल हो, कपड़े पर पड़ने से जिसका दाग साफ हो जाये, वह शुद्ध समझना चाहिये।

अशुद्ध-ऋतु की चिकित्सा—ऋतु-सम्बन्धी मुख्य शिकायतें चार हैं—ऋतु का अधिक रक्त-स्राव, न्यून रक्त-स्राव, कष्ट से होना तथा प्रदर का होना। इन शिकायतें के लिये निम्न औषधिजन्य क्षेत्रीकरण उपयोगी हैं—

अधिक ऋतु-स्राव—अधिक ऋतु-स्राव होने पर स्तम्भक औषधि का प्रयोग करना चाहिये। इसके लिये अशोकारिष्ट उपयोगी है। होम्योपैथी में आमोनिया कार्ब 200 (Ammonia carb 200) शक्ति की एक मात्रा लेकर देखना चाहिये। ऋतु सम्बन्धी विकारों में होम्योपैथी की औषधियाँ उपयोगी पाई गई हैं।

न्यून रक्त-स्राव या कष्ट से रक्त-स्राव—न्यून रक्तस्राव में कुमारिका वटी दी जा सकती है। होम्योपैथी में पल्सेटिला २०० (Pulsatilla 200) शक्ति की एक मात्रा लेकर देखना चाहिए। न्यून रक्तस्राव या कष्ट से रक्तस्राव—इन दोनों के लिये एक-सा उपचार लाभप्रद है। अगर रक्त की कमी से ये कष्ट हों तो रक्तवर्धक औषधियों का प्रयोग हितकर है। साधारणतः रस्सी से कूदने से लाभ होता है, इस प्रकार रस्सी के दोनों सिरों को पकड़कर लड़कियाँ प्रायः कूदा करती हैं। यह व्यायाम ऋतु ठीक रखने में उपयोगी है।

प्रदर—प्रदर के सम्बन्ध में भिषग्रत्न अत्रिदेव लिखते हैं—गर्भ के आधान के लिये योनि की शुद्धि आवश्यक है। योनि एक रास्ता, पथ या मार्ग है, जिसकी लम्बाई ६ से ८ इंच है। इसी मार्ग से 'शुक्र-कीट' (Sperm) को जाना है। मार्ग के खराब होने से जानेवाला शुद्ध कीट भी खराब या नष्ट हो सकता है। साधारणतः योनि-मार्ग चिकना, स्निग्ध और लाल रहता है। यह मार्ग साफ, सुथरा, चिकना रहे तथा समागम के कारण इसकी भित्तियों में किसी प्रकार की हानि न आये, इसके लिये प्रकृति ने इसकी दीवारों में एक प्रकार की ग्रन्थियाँ बना दी हैं, जिनमें से निकलता रस इसे सदा साफ और चिकना रखता है। यह रस हल्का 'क्षारीय' (Alkaline) होता है। इसी रस को कुछ आचार्यों ने स्त्रियों का शुक्र कहा है। यह रस गर्भ बनाने में कोई भाग नहीं लेता। सम्भोग के समय यह रस विशेष परिमाण में पैदा होता है ताकि योनि-पथ को चोट न लगे।

कई बार यह रस अधिक मात्रा में पैदा होने लगता है। जिस प्रकार मुख की लाला-ग्रन्थियाँ (Salivary glands) भोजन के मुख में आने पर रस को उत्पन्न करती हैं, यह उनका स्वाभाविक कार्य है, परन्तु कई बार भोजन के बिना भी मुख में थूक बहुत परिमाण में स्वयं आने लगता है, यह इसकी विकृत अवस्था है, इसी प्रकार योनि-मार्ग की ग्रन्थियाँ जब बिना समय जरूरत से ज्यादा स्राव पैदा करने

लगती हैं तब इनकी विकृत अवस्था हो जाती है, उसी अवस्था को 'प्रदर' **(प्रकर्षेण दीर्यते)** कहते हैं।

प्रदर-रोग में योनि के अन्दर रस की मात्रा अधिक उत्पन्न होने से योनि सदा लिसलिसी, दुर्गन्धयुक्त, चिकनी रहती है, जिस प्रकार मुख में ज्यादा लार बहने से मुख लिसलिसा बेस्वाद रहने लगता है। साथ ही या तो योनि का क्षारीय अंश नष्ट हो जाता है या बढ़ जाता है—ये दोनों अवस्थाएँ शुक्र-कीट को नष्ट कर देनेवाली हैं। प्रदर-रस के अधिक उत्पन्न होने से शरीर में निर्बलता आ जाती है, कमर टूटना, सिर में दर्द, आँखों की निर्बलता, स्वभाव में चिड़चिड़ाहट आ जाती है। इसी को श्वेत प्रदर कहते हैं।

प्रदर की चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा के लिये स्त्री का ब्रह्मचर्य से रहना आवश्यक है। जबतक रोग ठीक न हो, सहवास से बचे रहना चाहिये। चाय का सेवन त्याज्य है। चिकित्सा में औषधि-सेवन तथा योनि-प्रक्षालन करना चाहिये। औषधियों में चन्द्रप्रभा सर्वोत्तम औषधि है। दूसरी वस्तु हेमनाथ रस को गूलर के फलों के चूर्ण या पत्तों के रस में मधु मिला कर देना चाहिये। शास्त्रों में पुष्यानुग चूर्ण को चावल के धोवन के साथ देने की सलाह दी गई है। होम्योपैथी में प्रायः सीपिया 30 या 200 (Sepia 30 or 200) देना उपयोगी पाया गया है। प्रदर में प्रक्षालन भी जरूरी है। फिटकरी आदि का उपयोग क्षणिक होता है। इसके लिये गूलर, पीपल, बरगद, पिलखन, जामुन—इन वृक्षों की छालों का क्वाथ बनाकर उससे योनि-मार्ग का ठीक प्रकार से प्रक्षालन करें। पीछे अंग को सुखाकर तिल के तेल से पिचकारी दें। यदि बला-तेल की पिचकारी दी जाए, तो चमत्कार करती है। इसमें कष्ट तो है, परन्तु लाभ हजार गुणा है।

सन्तानोत्पत्ति के लिये गर्भाशय के शोधन के लिये जिन चिकित्साओं का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, उनके अतिरिक्त निम्न आयुर्वेदिक योग भी गर्भाशय की शुद्धि के लिये उपयोगी है—

सुवर्णस्य रूप्यकस्य च ताम्रस्य चाज्यसम्मिश्रे पीते शुद्धे क्षेत्रे भेषजयोगात् भवेद् गर्भः।

अर्थात्, स्वर्णभस्म २ चावल, रौप्यभस्म ४ चावल, ताम्रभस्म २ चावल—इनमें से किसी एक को घी में मिलाकर ऋतुस्नान के पीछे खायें। इससे गर्भाशय का शोधन हो जाता है और गर्भ ठहर जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि इस औषधि के सेवन से गर्भाशय के उक्त सब रोग जाते रहते हैं और सन्तानोत्पत्ति में बाधा नहीं रहती।

(1) अम्बु—ऊपर सुश्रुत का उद्धरण देकर हम लिख आये हैं कि जैसे अङ्कुर के उत्पन्न होने में ऋतु, क्षेत्र, अम्बु तथा बीज का मिलना आवश्यक है, वैसे ही सन्तान के उत्पन्न होने में भी इन चार का मेल आवश्यक है। इन चार में से ऋतु तथा

क्षेत्र का वर्णन हम कर आये हैं। अम्बु तथा बीज का वर्णन शेष है। 'अम्बु' का अर्थ है—जल। जिस प्रकार अङ्कुर के बढ़ने में खेत में पानी देना पड़ता है, उसी प्रकार गर्भगत-बीज को बढ़ने के लिये किसी जल की आवश्यकता है। वह जल ऋतुस्राव में होनेवाला रक्त ही है। जब गर्भ ठहर जाता है, तब रक्त-स्राव भी बन्द हो जाता है। अबतक गर्भाशय को शुद्ध करने के लिये, उसे गर्भधारण के योग्य बनाने के लिये रक्त-स्राव होता था, अब गर्भाशय के शुद्ध होने के कारण गर्भ स्थित हो गया, इसलिये अब वह रक्त बन्द होकर गर्भगत सन्तान के लिये 'अम्बु' का—वनस्पति को जैसे जल का-सा—काम करता है। इस रक्त से बच्चे की पुष्टि होती है। जब बच्चा जन्म ले लेता है, तब यही रक्त स्तनों में जाकर दूध के रूप में उसका पोषण करता है। इसीलिये गर्भवती को दो का आहार लेना चाहिये—अपना तथा बच्चे का। माता को सात्विक भोजन खाना चाहिये, जिससे बच्चे का शरीर तथा मन सात्विक गुणों से युक्त हो। जैसा भोजन होगा मन भी वैसा होगा, तभी उपनिषद् में कहा है—**'अन्नमयो हि सोम्य मनः'**—हो सोम्य, मन वैसा ही बनता है जैसा अन्न होता है, क्योंकि अन्न द्वारा ही मन का निर्माण होता है।

(vi) बीज—सन्तान के उत्पन्न होने में चौथी वस्तु बीज है। पुरुष का बीज अण्डकोशों (Testicles) से उत्पन्न होता है—इसे शुक्र या वीर्य कहते हैं, स्त्री का बीज डिम्ब ग्रन्थियों (Ovaries) से उत्पन्न होता है—इसे रज कहते हैं। एक बार के वीर्य-स्राव में ४००,०००,००० (चालीस करोड़) के लगभग जीवाणु (Sperms) तैर रहे होते हैं, जिनमें से सिर्फ एक 'जीवाणु' (Sperm) का 'अंडाणु' (Ovum) से सम्बन्ध होने से सन्तान हो जाती है। डिम्ब-कोश स्त्री के पेट में होते हैं, अण्डकोश भी गर्भावस्था के आठवें मास तक नर-बच्चे के पेट में होते हैं, नवें मास या जन्म लेने के बाद वे अण्डकोशों की थैली में उतरते हैं।

अण्डकोश एक प्रकार की ग्रन्थियाँ हैं जो शुक्र को उत्पन्न करती हैं। ये ग्रन्थियाँ दो प्रकार के स्राव को उत्पन्न करती हैं। एक स्राव 'बहि:स्राव' (External secretion) कहलाता है जो जीवाणुओं के रूप में स्त्री के गर्भाशय में जाकर सन्तान को उत्पन्न करता है, दूसरा स्राव 'अन्तःस्राव' (Internal secretion) कहलाता है जो शरीर में सीधा रिसता रहता है, जिससे शरीर में तेज, ओज, कान्ति प्रकट होती है। इसे वर्तमान-विज्ञान की परिभाषा में हॉरमोन (Hormone) कहते हैं। प्राणी का जीवन मुख्य तौर पर हॉरमोन्स पर आधारित है। अगर स्त्री-प्रसंग द्वारा बहि:-स्राव की मात्रा अधिक होगी, तो अन्तःस्राव—हॉरमोन—कम हो जायेगा, अन्तःस्राव के कम होने से शरीर में तेज, ओज, कान्ति की कमी होने लगेगी। इसीलिये जो लोग अति विषय-संग करते हैं वे कान्तिहीन हो जाते हैं, बल खो देते हैं। 'अन्तःस्राव' में बाधा न पड़ने देना ही ब्रह्मचर्य है। अन्तःस्राव तो बचपन से ही प्रारम्भ हो जाता है,

बहिःस्राव युवावस्था में प्रकट होता है।

जिस प्रकार स्त्री में ऋतु तेरह-चौदह वर्ष की आयु में प्रारम्भ होकर लगभग पचास वर्ष की आयु तक रहती है, इसी प्रकार पुरुष में बहिःस्राव की उत्पत्ति चौदह वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर लगभग पैंसठ-सत्तर वर्ष की आयु तक रहती है। युवावस्था से पूर्व बालकों में श्वेत-लिसलिसा स्राव निकलता दिखलाई पड़ता है। यह वीर्य नहीं होता—अर्थात्, इसमें जीवाणु नहीं होते। यह स्राव कुछ प्रोस्टेट ग्रन्थि से, कुछ जननेन्द्रिय की अन्य ग्रन्थियों से आता है। प्रोस्टेट-ग्रन्थि मूत्राशय तथा मूत्र-नली के जोड़ के स्थान पर होती है, इसका काम अण्डकोशों से आये स्राव में अपना स्राव मिलाकर उसे बढ़ा देना है ताकि वह रास्ते में सूक ही न जाये। जीवाणु युवक की परिपक्वावस्था में आने लगते हैं, पहले नहीं। यह अवस्था वैसे तो २१ वर्ष से शुरु होकर पचपन-साठ वर्ष तक रहती है, परन्तु चरक के अनुसार उत्तम तथा बलिष्ठ सन्तान उत्पन्न करने के लिये जीवाणुओं में बल पच्चीस वर्ष की आयु से लेकर चालीस वर्ष की आयु तक रहता है, इसीलिये युवक के लिये २५ वर्ष में विवाह और ५० वर्ष में वानप्रस्थ लेने का आदेश है। ४० वर्ष की अवस्था से स्त्री-संग समाप्त कर अपने को वानप्रस्थ के लिये तय्यार करने में लग जाना उचित है।

(ग) पुत्र अथवा कन्या की उत्पत्ति

(i) पति के अधिक वीर्य से पुत्र तथा पत्नी के अधिक आर्तव से कन्या—पति-पत्नी के समागम के परिणामस्वरूप पुत्र होगा या पुत्री होगी—यह जानने की जिज्ञासा हर-किसी को बनी रहती है। इसके अतिरिक्त कोई दम्पत्ति पुत्र चाहते हैं, कोई कन्या चाहते हैं—इसका भी कोई नियम है या यह सब दैवाधीन है? इस सम्बन्ध में निश्चित तौर पर तो अभी तक कोई निर्णय नहीं हुआ, परन्तु संस्कार-विधि में मनुस्मृति के इस अध्याय का ४८वाँ श्लोक दिया गया है, जिसका आशय है कि जिनको पुत्र की इच्छा हो, वे ६वीं, ८वीं, १०वीं, १२वीं, १४वीं, १६वीं—ये छह रात्रि ऋतुदान में उत्तम जानें, परन्तु इनमें भी उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं और जिनको कन्या की इच्छा हो, वे ५वीं, ७वीं, ९वीं और १५वीं—ये चार रात्रि उत्तम समझें। इससे पुत्रार्थी युग्म रात्रियों में ऋतुदान देवे। इसके अतिरिक्त ४९वें श्लोक में लिखा है कि पुरुष के अधिक वीर्य से पुत्र और स्त्री के आर्तव अधिक होने से कन्या, तुल्य होने से नपुंसक पुरुष वा वन्ध्या स्त्री, क्षीण और अल्प-वीर्य से गर्भ का न रहना वा रहकर गिर जाना होता है। उक्त आशय के मनुस्मृति के श्लोक निम्न हैं—

युग्मासु पुत्राः जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु तस्माद् युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवेस्त्रियम्। पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः समे पुमान् पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे विपर्ययः।

युग्म रात्रियों में गर्भाधान से पुत्र, अयुग्म रात्रियों में गर्भाधान से कन्या होती है,

या अधिक वीर्य होने से पुत्र और अधिक रज के होने से कन्या होती है—ये दो पक्ष मनुस्मृति में कहे गये हैं, परन्तु इन पक्षों को किसी ने जाँचा हो—यह हम नहीं कह सकते। पश्चिमी-जगत् में भी कुछ-कुछ इसी आशय के कई विचारक हुए हैं, जिनका यहाँ उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा।

दिवंगत मास्टर आत्माराम जी ने अपनी पुस्तक संस्कार-चन्द्रिका में १८९७ में प्रकाशित डॉ० ट्राल एम०डी० की पुस्तक का उद्धरण दिया है। डॉ० ट्राल लिखते हैं—''क्यों कभी लड़का और कभी लड़की उत्पन्न होती है? मेरी सम्मति में जो दोनों में अधिक बलवान् है, सन्तान उसके अनुसार होगी। यदि स्त्री का आर्तव अधिक बलवान् है और उसमें बल अधिक है, तो कन्या उत्पन्न होगी, यह केवल बल का प्रश्न है। यह वही नियम है जो सृष्टि में सर्वत्र पाया जाता है। यदि दो विरुद्ध शक्तियाँ परस्पर मिलें तो इनमें से जो अधिक बलवान् होगी वह अधिक प्रभाव उत्पन्न करेगी...यदि पुरुष आयु और बल में स्त्री से अधिक है, तो सन्तान अधिकतर नर होगी, यदि स्त्री बल में पुरुष से अधिक है तो कन्याएँ उत्पन्न होंगी।'' इसके आगे डॉ० ट्राल एक अन्य स्थान पर लिखते हैं—''बहुतायत से साक्षियां इस बात की मिलती हैं कि पहले दिनों में गर्भाधान करने से लड़कियाँ और पिछले दिनों में समागम करने से लड़के होते हैं।'' (पृष्ठ ३२५)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पति-पत्नी में से जो अधिक बलवान् होगा उसके अनुसार पुत्र या पुत्री होगी—यह मनस्मृति का विचार डॉ० ट्राल के इस विचार से कि यदि पुरुष आयु और बल में स्त्री से अधिक है, तो सन्तान अधिकतर नर होगी मिलता है।

क्योंकि प्राचीन-काल में पुत्र का होना आवश्यक समझा जाता था इसलिये सन्तानोत्पत्ति के उक्त विचार को सम्मुख रहते हुए स्त्री को कृशांगी—कमजोर—तथा पुरुष को पुष्टिकारक औषधियाँ देकर बलवान् बनाने का प्रयत्न किया जाता था। वैसे आयुर्वेद के अनुसार यह प्रचलित धारणा है कि 'कर्शितांगी'—अर्थात् कृश, कमजोर शरीर की स्त्री—गर्भ धारण कर सकती है, मोटे शरीर की स्त्री गर्भ धारण नहीं कर सकती। तभी 'कर्शितांगी' की व्याख्या करते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा है—

''**एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां**''—'क्षामां' की व्याख्या करते हुए लिखा है—''**क्षमता च तस्मिन् काले रजस्वलां व्रतेन भवति। अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्यर्थ अल्पस्निग्ध भोजनादिना।**''

अर्थात्, पुत्र की उत्पत्ति के लिये स्त्री को 'क्षमा'—'कृश'—बना देना चाहिये। अगर किसी अन्य उपाय से वह कृश न हो, तो उसे ऐसा भोजन देना चाहिये, जिसमें घी जैसे मोटा करने के पदार्थ न हों। वर्तमान भोजन-विशेषज्ञों का कथन है कि जब

स्त्री को या किसी को कृश करना या उसे बनना हो, तो उसे कार्बोहाइड्रेट्स (Carbohydrates) तथा वसायुक्त पदार्थ (Fats) नहीं खाने चाहियें, प्रोटीन (Proteins) ही खाने चाहियें, इससे मोटापा छट जाता है और प्रोटीन खाने से कमजोरी भी नहीं आती। इस प्रकार पुत्र उत्पन्न करने के लिये मनु, याज्ञवल्क्य तथा डॉ० ट्राल के अनुसार स्त्री को कमजोर तो नहीं होना चाहिये परन्तु कृश हो जाना चाहिये।

पत्नी तो कृश हो—कमजोर नहीं परन्तु पतली—और पुरुष पुष्ट हो तब पुत्र होता है। स्त्री के कृश होने के लिये जहाँ उसे कार्बोहाइड्रेट्स तथा वसायुक्त—घी आदि—भोजन छोड़ देना चाहिये, वहाँ गेहूं की जगह जौं का सेवन करना चाहिये। जौं के विषय में आयुर्वेद में लिखा है—

''पर्णशराव करतलान्यतमे च यावकं पयसा सिद्धमल्पं कर्शनार्थं अश्नीयात्''—अर्थात्, कृश बनाने के लिये 'यावकं'—जौं—के खाद्य पदार्थों को दूध में डालकर थोड़ा-थोड़ा खाने को देवे। इसके अतिरिक्त घी के स्थान में तेल का सेवन करना चाहिये, क्योंकि घी मुटापा लाता है, तेल पतले को मोटा, मोटे को पतला करता है—ऐसा अनेक चिकित्सकों का मत है। तेलों में भी नरियल का तेल सर्वोत्तम है, दूसरे दर्जे में तिल का और तीसरे दर्जे में सरसों का तेल कृशता के लिये लाभदायक है।

स्त्री में कृशता गर्भ धारण के लिये उपयोगी है—इस सिद्धान्त को ग्वाले लोग पशुओं में चरितार्थ करते हैं। उदाहरणार्थ, भिषग्रत्न श्री अत्रिदेव लिखते हैं कि जो भैंसे या गायें चर्बी से अधिक मोटी होती हैं वे गर्भवती नहीं होतीं और यदि हो भी जाती हैं तो बार-बार फिर जाती हैं (अर्थात् गर्भ नहीं रहता)। इसीलिये ऐसे पशुओं में होशियार मालिक इनकी खुराक कम कर देता है, खासकर गर्भ के दिनों में। साथ ही गर्भवती होने के पीछे तुरन्त ही इनको ठण्डा कर देता है, इसके लिये पानी में बैठाता है, खल का पानी पिलाता है, पीठ पर मट्टी गीली करके लगाता है और आठ-दस दिन सूखी घास सिर्फ पेट भरने के लिये ही देता है, कोई पौष्टिक खुराक नहीं देता—अर्थात्, पशुओं को गर्भ धारण से पूर्व कृश बनाता है, पीछे भी कुछ समय तक कृश रखता है, जब गर्भ स्थिर हो जाता है तब पौष्टिक खुराक देता है।

पुत्रोत्पत्ति के लिये या गर्भ धारण करने के लिये स्त्री का कृश होना आयुर्वेद में उपयोगी कहा गया है। जहाँ पुत्रोत्पत्ति के लिये स्त्री का कृश होना उपयोगी है, वहाँ पुरुष के लिये पुष्ट होना उपयोगी है। पुरुष की बल-वृद्धि कैसे हो—इसके लिये अनेक उपचारों का विधान है। उदाहरणार्थ, दूध, घी, शालि के चावल, धारोष्ण दूध में थोड़ा-सा घी मिलाकर पीना शुक्रवर्धक माना गया है। जीवक, ऋषभक,

काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्‌गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, वृद्धदारु, जटिला और कुलिंग—ये दश शुक्रवर्धक औषधियाँ हैं जो च्यवनप्राश में भी डाली जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुष्ठ, ऐलवालुक, कटफल, समुद्रफेन, कदम्ब निर्यास, ईक्षु काण्ड, ईक्षु ईक्षुरक, तालमखाना, वसुक, खस—ये दस औषधियाँ शुक्रशोधक हैं।

अशुद्ध शुक्र-चिकित्सा के प्रकरण में इसी अध्याय में हम इन सबका उल्लेख कर आये हैं।

(ii) पुरुष के दायें अण्ड से पुत्र तथा बायें अण्ड से कन्या—जर्मनी के डॉक्टर सिक्स्ट का कथन था कि जो वीर्य पुरुष के दायें अण्डकोश से बनता है उससे लड़के की उत्पत्ति तथा बायें में जो वीर्य बनता है उससे लड़की की उत्पत्ति होती है। इस सिद्धान्त की परीक्षा करने के लिये पशुओं के एक अण्डकोश को निकम्मा बना दिया गया, परन्तु उनके वीर्य से नर तथा मादा दोनों उत्पन्न हुए—इसलिये इस सिद्धान्त को गलत पाया गया।

(iii) स्त्री के दायें डिम्ब-कोश से पुत्र तथा बायें से कन्या—गिडिंग्स महोदय ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है—'Causation of Sex'। उनका कहना है कि यदि एक मास में स्त्री के दायें डिम्ब-कोश में से 'रज:कण' (Ovum) निकलता है, तो दूसरे मास में बायें डिम्ब-कोश में से 'रज:कण' निकलता है। अगर दायाँ रज:कण गर्भित हो जाता है तो लड़का, अगर बायाँ रज:कण गर्भित हो जाता है तो लड़की पैदा होती है। शुरु-शुरु में तो इसका पता नहीं चल सकता, परन्तु जब पहली सन्तान जन्म ले ले, तब आगे आनेवाली सन्तानों के सेक्स को नियन्त्रित किया जा सकता है। अगर विवाहोपरान्त पहली सन्तान कन्या हुई, तो समझना चाहिये कि जिस महीने में इस सन्तान ने गर्भ में प्रवेश किया था उस महीने में बायें डिम्ब-कोश में से रज:कण निकला था। अब आगे महीनेवार इस बात की गणना की जा सकती है कि किस मास में किस डिम्ब में से रज:कण के निकलने की वारी थी। क्योंकि बच्चा ९वें महीने में पैदा होता है, इसलिये पैदा हो चुकने के बाद भी यह गणना की जा सकती है कि उसके पैदा होने के बाद अगले महीने में किस डिम्ब में से रज:कण निकलेगा। जिस सेक्स का बच्चा पैदा होता है, उससे अगले में उससे उल्टी सेक्स का रज:कण निकलेगा, क्योंकि डिम्ब के जिस पार्श्व के रज:कण से गर्भ स्थित हुआ था, सन्तान की उत्पत्ति के समय भी उसी पार्श्व से रज:कण के निकलने की वारी होती है। इस सिद्धान्त को गिडिंग्स ने कई व्यक्तियों पर घटाकर देखा है और वे लिखते हैं कि किसी दृष्टान्त में भी इसका अपवाद उन्हें नहीं मिला।

इस सिद्धान्त को मान लेने का अभिप्राय यह है कि सन्तान की उत्पत्ति पुरुष के 'वीर्य-कण' (Sperm) पर आधारित न होकर स्त्री के 'रज:कण' (Ovum) पर

आधारित है। मुख्य तत्त्व स्त्री का रज:कण है, पुरुष का वीर्य-कण नहीं। प्रकृति में यह बात नहीं दिखलाई देती। प्रकृति में स्त्री-पुरुष के प्रतिनिधि खेत तथा बींज हैं। खेत पर वृक्ष की प्रकृति निश्चित नहीं होती, बीज पर इस बात का निश्चय होता है कि किस जाति का वृक्ष होगा। परन्तु इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जैसे पुरुष का अपना 'वीर्य-कण' है वैसे स्त्री का भी अपना 'रज:कण' है, खेत में इस प्रकार की कोई बात नहीं होती। परन्तु इसके उत्तर में भी कह सकते हैं कि 'वीर्य:कण' (Sperm) तो गतिशील होता है, 'रज:कण' (Ovum) गतिशील नहीं होता, रज:कण एक प्रकार की भूमि है जिसमें वीर्य-कण उपजता है। परन्तु ये सब बातें कल्पना पर आधारित है।

(घ) गर्भाधान-संस्कार का महत्त्व

गर्भाधान एक धार्मिक-संस्कार है—यह घोषणा वैदिक-संस्कृति में ही पायी जाती है। आम धारणा यह है कि गर्भाधान एक घृणित-कृत्य है, जिसका परिणाम सन्तान का उत्पन्न हो जाना है। पाश्चात्य देशों में कहीं-कहीं अब कहा जाने लगा है कि यह कोई जघन्य-कृत्य नहीं है, इस पर वैज्ञानिक-दृष्टि से विचार करना चाहिये। अपने देश में इसे धार्मिक-कृत्य इसलिये समझा जाता था, क्योंकि यह नवीन आत्मा के प्रवेश का द्वार था। जिन लोगों का आधारभूत विचार यह था कि वे समाज का नव-निर्माण कर सकते हैं, समाज को जैसा चाहें वैसा बना सकते हैं, उनका सबसे पहले ध्यान वहाँ गया था जहाँ से मानव का बीज उगना शुरु होता है। जैसे अच्छे वृक्ष के लिये अच्छे बीज, खाद, आबोहवा, वातावरण की तरफ ध्यान जाता है, अच्छी नस्ल के पशु के लिये ऊँची नस्ल के जानवर, उसकी प्रकृति, आहार आदि की तरफ ध्यान जाता है, वैसे ही बलिष्ठ शरीर तथा उच्च आत्माओं के आवाहन के लिये उस क्रिया की तरफ ध्यान जाना आवश्यक है, जिसके शुद्ध तथा पवित्र होने पर शालीन आत्माओं का इस संसार में आगमन होता है।

संस्कारविधि के गर्भाधान प्रकरण के एक-एक अक्षर को पढ़ जायें, कहीं जधन्यता की बू नहीं आती। शुरु से अन्त तक यही जान पड़ता है कि हम किसी धार्मिक तथा पवित्र कार्यक्रम के विषय में पढ़ रहे हैं। इस कार्य में पति-पत्नी यज्ञ करते हैं, अपने बड़ों को निमन्त्रित करते हैं, मानो किसी प्रकार की काम-क्रीड़ा में रत न होकर एक पवित्र यज्ञ करने जा रहे हैं। इसे पवित्र यज्ञ क्यों न कहा जाय जबकि इसका परिणाम पति-पत्नी के लिये ही नहीं, सारे समाज, सारे देश के लिये होने वाला है। अगर इसका परिणाम कुछ न होता, तो यह एक खेलमात्र या काम-क्रीड़ा-मात्र होकर रह जाता, परन्तु जिन लोगों ने इस क्रिया को एक संस्कार का नाम दिया था, उनका लक्ष्य बहुत ऊँचा था, वे इसे एक निजी स्वार्थमयी क्रिया ही

नहीं समझते थे, वे इसे एक सामाजिक-क्रिया समझते थे क्योंकि इसके परिणामस्वरूप अगर उच्च आत्मा इस संसार में आती थी तो संसार का रंग बदल सकता था, अगर नीच आत्मा आती थी तो संसार की समस्याएँ बढ़ जाती थीं। यही कारण था कि सन्तान के जन्म लेने के बाद जिन समस्याओं का उन्हें सामना करना पड़ना अवंश्यभावी था, उनका बीज पड़ने के समय ही वे उन्हें हल कर लेना चाहते थे। यही कारण था कि उन्होंने गर्भाधान को वैयक्तिक संस्कार न रखकर सामाजिक तथा धार्मिक पवित्र संस्कार बना दिया था।

गर्भाधान के समय शरीर तथा मन की अवस्था का सन्तान पर गहरा प्रभाव पड़ता है—इस बात को ध्यान में रखकर चरक में तो यहाँ तक कहा गया है कि जो स्त्री यह चाहे कि उसका पुत्र निर्मल चरित्र का, प्रतिभाशाली, पराक्रमी हो, वह प्रातः-सायं निरन्तर् च्छी नस्ल के श्वेत बैल का दर्शन करे—'सायं प्रातश्च शश्वत् श्वेतं महान्तं वृषभभाजनेयं वा हरिचन्दनाङ्गदं पश्येत्'। अच्छी नस्ल का घोड़ा पैदा करनेवाले रंग की कीमत को जानते हैं। पशुओं की कीमत पड़ने में रंग का बड़ा महत्त्व है, इसलिये पशु का गर्भाधान होते समय वे जानवर के सामने उसी रंग को रखते हैं जिस रंग का बच्चा वे चाहते हैं। सन्तानोत्पत्ति में आधारभूत विचार यह था—

'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम्।' —निरुक्त, ३।४

अर्थात्, सन्तान माता-पिता के अंग-अंग का निचोड़ होती है, एक तरह से उनकी ही आत्मा होती है। इसलिये सन्तानोत्पत्ति के समय अपना जो उत्कृष्टतम रूप हो वही वर्तमान होना चाहिये। एक अन्य जगह पर कहा है—

''यस्य यस्य हि अंगावयवस्य बीजे बीजभागः उपतप्तो भवति तस्य तस्य हि अंगावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्, तस्मात् उपयोपपत्तिः।''—अर्थात्, माता-पिता के जिस-जिस अंग के बीज में बीज का जो भाग विकृत अर्थात् उपतप्त होता है सन्तान में उस-उस अंग के भीतर विकार आ जाता है, विकार न हो तो सन्तान में भी विकार नहीं आता, इसलिये माता-पिता के अंग में विकार होने से सन्तान में विकार हो सकता है, न होने से विकार नहीं भी हो सकता। तभी कहा है कि गर्भाधान के समय स्त्री को चाहिये कि जैसी सन्तान वह चाहती है उस विचार में रंग जाय, तन्मय हो जाय—**'तन्मना बीजं गृह्णीयात्'**—तन्मय हो बीज ग्रहण करे।

हम इस अध्याय के प्रारम्भ में 'पर्यावरणवादियों की विचारधारा' के सिलसिले में लिख आये हैं कि 'पर्यावरणवादी' (Environmentalists) यहाँ तक सोच रहे हैं कि वे रज:कण (Ovum) में 'जीन्स' (Genes) के आरोपण द्वारा नव-मानव का

निर्माण कर सकें। जिन लोगों ने गर्भाधान-संस्कार को धार्मिक रूप दिया था, उनका रज:कण के न्यूक्लिअस में जीन्स के आरोपण का स्वप्न तो नहीं था, परन्तु उनकी विचारधारा लगभग इसी दिशा में चल रही थी। वे गर्भाधान की प्रयोगशाला के माध्यम से बिलकुल नवीन-मानव को जन्म देने की बात कहते थे। उनका कहना था कि गर्भाधान के समय मन में जो विचार प्रबल होंगे सन्तान में वे विचार या विचारों का वह भौतिक रूप ऐसे उतर आयेगा जैसे दर्पण में हमारी आकृति उतर आती है। इतिहास में विचार की इस शक्ति के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। इन उदाहरणों में जीन्स में परिवर्तन हुआ या नहीं हुआ—यह हम नहीं कह सकते, परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि जब बच्चा माँ के पेट में होता है तब की माँ की मनोवृत्ति का सन्तान के निर्माण पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

महाभारत के पढ़नेवाले जानते हैं कि जब अभिमन्यु सुभद्रा के पेट में था तब अर्जुन ने उसे चक्रव्यूह के भेदन की कथा कही थी, इसी का प्रभाव था कि अभिमन्यु चक्रव्यूह को तोड़ता हुआ भीतर घुस गया था। कहते हैं अर्जुन ने सुभद्रा को कथा सुनाते हुए उस व्यूह में से निकल आने का हिस्सा नहीं कहा था, इसलिये वह व्यूह में से बाहर नहीं आ सका। जिन लोगों ने यह बात लिखी उनके सम्मुख गर्भस्थ सन्तान पर माता के संस्कारों का चित्रित हो जाना—यह विचार प्रबल था। कहा जाता है कि अष्टावक्र ने गर्भवस्था में ही वेदान्त सीख लिया था। मदालसा गर्भावस्था में गाया करती थी—'**शुद्धोसि बुद्धोसि निरंजनोसि संसारमाया-परिवर्जितोसि**'—ऐ मेरे बेटे, तू शुद्ध है, बुद्ध है, संसार की माया से निर्लिप्त है—इन संस्कारों के कारण उसकी आठों सन्तान ब्रह्मर्षि बन गईं। उसके पति ने जब कहा कि इस प्रकार वंश कैसे चलेगा तब नवें पुत्र के उत्पन्न होने के समय उसने अपने संस्कारों की परिस्थिति को बदल दिया और नवां पुत्र सर्वगुणसम्पन्न क्षत्रिय हुआ। कहते हैं कि अमरीका के प्रेजीडेंट गारफील्ड का हत्यारा गीटू जब माता के गर्भ में था, तब उसकी माता ने गर्भपात कर उसकी हत्या कर डालने का प्रयत्न किया था, वह गर्भपात नहीं कर सकी, परन्तु माता के गर्भ में स्थित उस सन्तान पर जो संस्कार पड़ चुके थे, उन्होंने गीटू को हत्यारा बना दिया। नैपोलियन के विषय में भी कहा जाता है कि जब वह माता के पेट में था तब उसकी माता सेनाओं की पैरेड देखने में लगी रहती थी। जब वह सैनिकों को पैरेड करते और सैनिक गीत गाते सुनती थी, तब उसका रोम-रोम हर्ष से प्रफुल्लित हो उठता था। गर्भावस्था में पड़े इन संस्कारों ने नैपोलियन को एक महान् योद्धा बना दिया। प्रिंस बिस्मार्क जब माँ के गर्भ में था तब उसकी माँ अपने घर के उन भागों को बड़े मानसिक कष्ट से देखा करती थी, जिन्हें नैपोलियन की फ्रेंच सेनाओं ने अपने उन्माद में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। इन तीव्र संस्कारों का

परिणाम यह हुआ कि बिस्मार्क के हृदय में फ्रांस से बदला लेने की तड़प जाग उठी।

हमने देखा कि गर्भाधान को एक धार्मिक-संस्कार का रूप देकर वैदिक-संस्कृति ने मानव के नव-निर्माण की दिशा में एक चामत्कारिक विचार को जन्म दिया था। आज जो हम समाज-सुधार के नारे लगा रहे हैं, उन्हें क्रियात्मक रूप देने का उपाय इस संस्कार के महत्व को समझना है।

गर्भाधान संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

जब स्त्री रजस्वला होकर चौथे दिन के उपरान्त पाँचवे दिन स्नान कर रज-रोग-रहित हो, उसी दिन जिस रात्रि में गर्भ-स्थापन करने की इच्छा हो, उससे पूर्व दिन में निम्न सामान जुटा लेना चाहिये—

(१) जो सामान जुटाकर रखना चाहिये। (देखो पृ० ६९-७०)

(२) इस संस्कार के लिये विशेष सामान—चाँदी वा कांसे के पात्र में भात रख के, उसमें घी, दूध और शक्कर मिला के, थोड़ी देर रखके एक-रस हो जाये, कांसे का एक उदक-पात्र, केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलाइची डालकर शीतल दूध, यदि दो ऋतुकाल व्यर्थ जायें तब प्रथम प्रसूता गाय का दही दो माशे और यव के दानों को सेक कर पीस कर दो माशे को मिलाकर पत्नी द्वारा प्राशन के लिये, संखाहूली व भटकटई औषधि को जल में महीन पीसकर उसका रस कपड़े में छानकर पत्नी के दाहिने नाक के छिद्र में सिंचन के लिये—यह सब सामान तैयार रखें।

(ऋत्विग्वरण, पृ० ७०)

संस्कार प्रारम्भ करते हुए पहले ऋत्विग्वरण-विधि के अनुसार यज्ञ कराने वाले ऋत्विज् का वरण करें। सुविधानुसार एक, दो, तीन, चार का वरण कर सकते हैं। जो एक हो तो उसको पुरोहित, दो हों तो उन्हें ऋत्विक् तथा पुरोहित, तीन हों तो उन्हें ऋत्विक्, पुरोहित तथा अध्यक्ष और जो चार हों तो वे होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा—इस प्रकार कहे जाते हैं।

इनका आसन वेदी के चारों ओर होना चाहिये। होता (पुरोहित) वेदी से पश्चिमासन एवं पूर्वाभिमुख बैठे, अध्वर्यु वेदी से उत्तरासन एवं दक्षिणाभिमुख बैठे, उद्गाता वेदी से पूर्वासन एवं पश्चिमाभिमुख बैठे, ब्रह्मा वेदी से दक्षिणासन एवं उत्तराभिमुख बैठे।

पति वेदी से पश्चिमाभिमुख पूर्व, दक्षिण वा उत्तर दिशा में यथाभीष्ट मुख करके बैठे तथा पत्नी पति के वाम भाग में बैठे।*

---

* यज्ञ में पत्नी का स्थान—यज्ञ-कर्म में पत्नी का स्थान पति के दक्षिण-भाग में नियत है, परन्तु उसके अपवाद रूप में गर्भाधान, नामकरण और निष्क्रमण में पत्नी को वाम-भाग में बैठने का विशेष विधान है।

विवाह-संस्कार में पत्नी पति के दक्षिण भाग में बैठती है। विवाह-संस्कार के अन्तिम

(ऋत्विग्वरण के बाद यज्ञारम्भ)

ऋत्विग्वरण के बाद **'आचमन-मन्त्र'** (पृष्ठ ७१) पढ़कर आचमन करें, फिर **'अंग-स्पर्श-मन्त्र'** (पृष्ठ ७२) पढ़कर अङ्गों का स्पर्श करें, फिर **'ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना'** (ओ३म् विश्वानि देव सवितः आदि, पृष्ठ ३५), **'स्वस्तिवाचन'** (अग्निमीळे पुरोहितम् आदि, पृष्ठ ३९) तथा **'शान्तिकरण'** (शं न इन्द्राग्नी आदि, पृष्ठ ५५) का पाठ करें।*

इसके अनन्तर यजमान वा पुरोहित यज्ञ-कुण्ड में **'सामान्यप्रकरण'** (पृष्ठ ६८-८८) के मन्त्रों से समिधाचयन कर **'अग्न्याधान'** (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिवभूम्ना आदि, पृष्ठ ७२-७३) करें—अर्थात्, यज्ञ की अग्नि का आधान करें, फिर अग्नि का **'प्रदीपन'** (ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने, पृष्ठ ७३) करें। इसके अनन्तर जब **'समिदाधान'** (ओम् अयं त इध्म आत्मा+समिधाग्निं दुवस्यत+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वासमिद्भिः, पृष्ठ ७४) से लेकर सामान्यप्रकरण की ४ **'आधारावाज्यभागाहुतियाँ'** (ओम् अग्नये स्वाहा से ओं इन्द्राय स्वाहा, पृष्ठ ७८-७९) तक पहुँच जायें, तब निम्न २० मन्त्रों से यज्ञ में आहुतियाँ दें। इन २० आहुतियों को देते समय पत्नी दक्षिण हाथ से पति के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श करे।

(आधारावाज्यभागाहुतियों के बाद २० आहुतियाँ)

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥

भाग में वर-वधू के रथ में बैठने का उल्लेख करते हुए लिखा है—'वर अपने साथ दक्षिण-बाजू वधू को बैठावे, आगे भी 'ओम् इह गावः प्रजायध्वम्'—यह मन्त्र-पाठ करते हुए लिखा है—'तृणासन पर वधू को अपने दक्षिण-भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे।' यज्ञ में पति का या यजमान का स्थान—सामान्य-प्रकरण में यजमान के लिये लिखा है—''यजमान का आसन पश्चिम में और वह पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिण में''। यहाँ यजमान के लिये विकल्प दिया गया है। इस विकल्प का समाधान देते हुए श्री युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं—'इस विकल्प की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—ग्रन्थकार के मतानुसार यदि यजमान आहुति दे, तो वह पश्चिम में बैठे। प्राचीन मतानुसार यदि यजमान केवल त्यागमात्र करे ('इदं....न मम' बोले) तो वह दक्षिण में बैठे।'
उक्त प्रकरण में 'पति वेदी से पश्चिमाभिमुख' आदि जो लिखा है उसके सम्बन्ध में श्री युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं—'यजमान के लिये सामान्य-प्रकरण में भी पश्चिम या दक्षिण में बैठने का विधान है (पृ० ६८), यहाँ उपरि-मुद्रित पाठ निश्चय ही मुद्रण-काल में भ्रष्ट हुआ है।'

* संस्कारविधि में सिर्फ इतना लिखा है—''सामान्यप्रकरण के लिखित प्रमाणे हवन करके''। कई लोग 'शान्तिकरण' तक की विधि को 'सामान्यप्रकरण' के अन्तर्गत नहीं मानते हैं।

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे-इदन्न मम॥ २॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम॥ ३॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय-इदन्न मम॥ ४॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः-इदन्न मम॥ ५॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये-इदन्न मम॥ ६॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे-इदन्न मम॥ ७॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय-इदन्न मम॥ ८॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय-इदन्न मम॥ ९॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्याः पतिघ्नी तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः-इदन्न मम॥ १०॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये-इदन्न मम॥ ११॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे-इदन्न मम॥ १२॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ १३ ॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ १४ ॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपुत्र्या तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम॥ १५ ॥

ओम् अग्ने प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १६ ॥

ओं वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ १७ ॥

ओं चन्द्र प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ १८ ॥

ओं सूर्य प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि ब्राह्मणस्त्वा नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपजहि स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ १९ ॥

ओम् अग्निवायुचन्द्रसूर्याः प्रायश्चित्तयो यूयं देवानां प्रायश्चित्तयः स्थ ब्राह्मणो वो नाथकाम उपधावामि यास्या अपसव्या तनूस्तामस्या अपहत स्वाहा॥ इदमग्निवायुचन्द्रसूर्येभ्यः—इदन्न मम॥ २० ॥

उक्त २० मन्त्रों का शब्दार्थ तथा भावार्थ—

इन बीस मन्त्रों में पाँच-पाँच मन्त्रों का एक-एक पञ्चक है। मन्त्रों के पहले पञ्चक में '**यास्याः पापी लक्ष्मीस्तनूः**'—यह पद आया है, दूसरे पञ्चक में '**यास्याः पतिघ्नी तनूः**'—यह पद आया है, तीसरे पञ्चक में '**यास्याः अपुत्र्या तनूः**'—यह पद आया है, चौथे पञ्चक में '**यास्याः अपसव्या तनूः**'—यह पद आया है। मन्त्रों का शेष भाग सबमें समान है।

शब्दार्थ—हे **(प्रायश्चित्ते अग्ने)** प्रायश्चित्त का काम चित्त की शुद्धि है, इसलिये 'प्रायश्चिते अग्ने' का अर्थ हुआ चित्त को शुद्ध करनेवाले अग्निस्वरूप परमेश्वर! **(त्वं)** तू **(देवानाम्)** देवताओं के बीच में ऐसा देवता है जो **(प्रायश्चित्तिः**

असि) हम लोगों के चित्त को ऐसे शुद्ध कर देता है, जैसे आग किसी भी वस्तु के मल को दूर करके शुद्ध कर देती है। **(ब्राह्मणः नाथकामः)** ऐश्वर्य की कामना करने के साथ-साथ आत्म-ज्ञान के—ब्रह्म के—ज्ञान का पिपासु मैं **(त्वा उपधावामि)** भागकर तेरी शरण में आ रहा हूँ, जिससे **(या अस्याः पापी लक्ष्मी तनूः)** इस मेरी स्त्री के शरीर पर अगर कोई अधर्माचरण से प्राप्त हुई धन-सम्पत्ति हो तो **(ताम्)** उसे **(अपजहि)** दूर करो।

पहले पाँच मन्त्रों में अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य तथा इन सबको एक-साथ सम्बोधित करके उन देवों से प्रार्थना की गई है कि हमारे पास धर्मानुकूल प्राप्त लक्ष्मी—धनदौलत रहे—अधर्मानुकूल पापी लक्ष्मी न रहे।

अगले पाँच मंत्रों में स्त्री का **'पतिघ्नी तनूः'** न रहे—अर्थात् पत्नी विधवा न हो—यह प्रार्थना की गई है। तीसरे पञ्चक में स्त्री का **'अपुत्र्याः तनूः'** न रहे—अर्थात् स्त्री संतानहीन न हो—यह प्रार्थना की गई है। चौथे पञ्चक में स्त्री का **'अपसव्या तनूः'** न रहे—अर्थात् स्त्री पति के प्रतिकूल न चले—यह प्रार्थना की गई है।

भावार्थ—इन बीस मन्त्रों के पाँच-पाँच का एक पञ्चक है, इसलिये इन्हें ४ भागों में बाँटा गया है। एक-एक पञ्चक में सम्बोधन क्रमशः अग्नि, वायु, चन्द्र तथा सूर्य को किया गया है, हर पञ्चक के पाँचवें मन्त्र में अग्नि, वायु, चन्द्र तथा सूर्य को इकट्ठा सम्बोधित किया गया है। प्रत्येक पञ्चक का आशय यह है कि पत्नी के शरीर में जो दोष हैं, उनका निवारण हो। पत्नी के किस दोष का निवारण किस देवता से हो उसका विवरण निम्न प्रकार है—

देवता का नाम	**प्रथम पंचक**	**द्वितीय पंचक**	**तृतीय पंचक**	**चतुर्थ पंचक**
अग्नि	पापी लक्ष्मी तनूः	पतिघ्नी तनूः	अपुत्र्या तनूः	अपसव्या तनूः
वायु	पापी लक्ष्मी तनूः	पतिघ्नी तनूः	अपुत्र्या तनूः	अपसव्या तनूः
चन्द्र	पापी लक्ष्मी तनूः	पतिघ्नी तनूः	अपुत्र्या तनूः	अपसव्या तनूः
सूर्य	पापी लक्ष्मी तनूः	पतिघ्नी तनूः	अपुत्र्या तनूः	अपसव्या तनूः
(सब देवताओं का समूह)	पापी लक्ष्मी तनूः	पतिघ्नी तनूः	अपुत्र्या तनूः	अपसव्या तनूः

अग्नि इस पृथिवी का देवता है, क्योंकि पृथिवी पर आग होती है, वायु अन्तरिक्ष का देवता है, क्योंकि वायु पृथिवीलोक तथा द्युलोक के बीच में विचरता है, चन्द्र और सूर्य द्युलोक के देवता हैं। अग्नि, वायु, चन्द्र तथा सूर्य के नाम लेने से पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यु—ये तीनों लोक आ गये। इस प्रकार इस सम्पूर्ण विश्व को लक्ष्य में रखकर इन मन्त्रों में कहा गया है कि पत्नी में जो चार दोष सम्भव हैं, उनका निराकरण हो जाय, और इसमें सम्पूर्ण सृष्टि—अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु—ये सब सन्तानोत्पत्ति के इस कार्य में सहायक हों। हमने शुरु में ही

कहा है कि संस्कारों का उद्देश्य सन्तान के नव-निर्माण की एक अद्‌भुत योजना है। सन्तान का पिता संसार की सब संशोधक शक्तियों को सम्बोधन करता हुआ प्रार्थना करता है कि ये सब शक्तियाँ समाज को एक उत्कृष्ट सन्तान देने में सहायक हों। सन्तान तो सब उत्पन्न करते हैं, और हो रही हैं, परन्तु संस्कार-पद्धति विश्व को वैदिक-संस्कृति की एक ऐसी देन है, जिसका घोषित लक्ष्य नव-मानव का निर्माण करना है, संसार जहाँ खड़ा है, उसे आगे ले जाने का प्रयत्न करना है।

इस लक्ष्य को प्राप्त करने में सन्तान का पिता इन मन्त्रों से अग्नि आदि देवताओं को ही सम्बोधन नहीं करता, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक की सब शक्तियों का ही आह्वान नहीं करता, अपने लक्ष्य की पूर्ति में पत्नी की तरफ से जो बाधाएँ सम्भव हैं उनका भी परिगणन करता हुआ संसार की शक्तियों से प्रार्थना करता है कि वे सब बाधाएँ उनकी कृपा से निरसित हो जायें।

सबसे पहली बाधा है—स्त्री का धन का मोह जिसे मन्त्र में '**पापी लक्ष्मी तनूः**' कहा है। सन्तान पर पिता की अपेक्षा माता के संस्कार अधिक प्रबल पड़ते हैं। गर्भावस्था में पिता सिर्फ 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का जिम्मेवार है, परन्तु माता 'वंशानुसंक्रमण' के साथ-साथ 'पर्यावरण' (Environment) की भी जिम्मेवार है, क्योंकि उसने ९ मास तक सन्तान को अपने भीतर रखना है। माता के संस्कार अगर संसार के भोग-ऐश्वर्य को पाने मात्र के होंगे, तो सन्तान उन्हीं संस्कारों को लेकर जन्मेगी, इसीलिये मन्त्र में कहा कि माता का दृष्टिकोण भौतिक तो होता ही है, वह निराभौतिक न होकर आध्यात्मिक भी हो। '**पापी लक्ष्मी तनूः अपजहि**' का यही अभिप्राय है।

स्त्री की तरफ से दूसरी बाधा है—पति के मनोभावों का हनन। अगर पति-पत्नी में प्रेम-भाव होगा, तो वे सन्तान के हित में परस्पर सहयोग से काम लेंगे। इसीलिये मन्त्र में कहा है कि पत्नी '**पतिघ्नी**' न हो। '**पतिघ्नी**' का अर्थ है—पति का हनन करनेवाली। '**हनन**' बड़ा व्यापक शब्द है। '**हन्**'-धातु का अर्थ है—'**हिंसा**'। अगर पति को पत्नी से और पत्नी को पति से प्रेम नहीं मिलता, तो प्रेम के क्षेत्र में यह हिंसा के समान है।

'**पतिघ्नी**' का यह भी अर्थ है कि स्त्री विधवा न हो जाय, क्योंकि जबतक पति जीवित रहेगा, वह सन्तान के पालन-पोषण में लगा रहेगा, पति के मर जाने से सन्तान के पालन-पोषण में बाधा पड़ जायेगी, जिससे सन्तान उन्नति नहीं कर सकेगी।

स्त्री की तरफ से तीसरी बाधा है—उसका '**अपुत्र्या तनूः**' होना—सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य होना, बाँझ होना। जो स्त्री सन्तान उत्पन्न ही नहीं कर सकती उसके लिये नव-मानव के निर्माण करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

स्त्री की तरफ से चौथी बाधा है—उसका '**अपसव्या**' होना—पति एक तरफ

जाये, तो स्त्री दूसरी तरफ जाये, उनका पारस्परिक सहयोग न हो सके। '**पतिघ्नी**' तथा '**अपसव्या**' में भेद है। '**पतिघ्नी**'-स्त्री तो जाहिरा तौर पर पति से घृणा करेगी, '**अपसव्या**'-स्त्री पति से घृणा तो नहीं करेगी, परन्तु पति के साथ सहयोग नहीं करेगी। '**पतिघ्नी**' पति से घृणा कर सकती है, '**अपसव्या**' प्रेम करती हुई भी पति की रुचि तथा प्रवृत्तियों से उल्टी चल सकती है।

इन २० मन्त्रों में पति की तरफ से सब देवताओं को, सब लोकों को लक्ष्य में रखकर प्रार्थना की गई है कि उसकी पत्नी '**पापी लक्ष्मी तनूः**' न हो, '**पतिघ्नी**' न हो, '**पुत्र्या**' न हो, '**अपसव्या**' न हो, तभी वह नव-मानव के निर्माण में सफल होगा।

[घी, दूध, शक्कर को भात में मिलाकर ६ आहुतियाँ दें]

उक्त बीस मन्त्रों से बीस आहुतियाँ देने से जो घी बचे उसे कांसे के पात्र में ढककर रख देवें। इसके पश्चात् भात की आहुतियाँ देने के लिये निम्नलिखित विधि करें। एक चाँदी वा कांसे के पात्र में भात रखकर उसमें घी, दूध और शक्कर मिलाकर कुछ थोड़ी देर रखकर जब घृत आदि भात में एकरस हो जायें, तब नीचे लिखे एक-एक मन्त्र से एक-एक आहुति अग्नि में दें और स्रुवा में का शेष घृत आगे धरे हुए कांसे के उदक-पात्र में छोड़ते जाएँ। ये ६ आहुतियाँ निम्न हैं—

ओम् अग्नये पवमानाय स्वाहा। इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम॥ १ ॥

—आप० श्रौत, ५,२१,५

हे 'पवमान'—शुद्धस्वरूप अग्नि! तेरे लिए मैं 'स्वाहा'—प्रशंसा-वाक्य—बोलता हूँ।

ओम् अग्नये पावकाय स्वाहा। इदमग्नये पावकाय—इदन्न मम॥ २ ॥

—आप० श्रौत, ५,२१,५

हे 'पावक'—दूसरों को शुद्ध करनेवाली अग्नि! तेरे लिये मैं 'स्वाहा'—प्रशंसा-वाक्य—बोलता हूँ।

ओम् अग्नये शुचये स्वाहा। इदमग्नये शुचये—इदन्न मम॥ ३ ॥

—ऐ० ब्रा०, ७,७,३

हे 'शुचि'-स्वरूप अन्तरिक्षलोकस्थ विद्युत्रूप अग्नि! मैं तेरे लिये 'स्वाहा' प्रशंसा-वाक्य—बोलता हूँ।

ओम् आदित्यै स्वाहा॥ इदमादित्यै—इदन्न मम॥ ४॥

—यजु० २२,२०; पार०गृह्य० १,२

हे 'अदिति'-स्वरूप भूलोकस्थ पृथिवीरूप अग्नि! मैं तेरे लिये 'स्वाहा'—प्रशंसा-वाक्य—बोलता हूँ।

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥ ५ ॥

—पार० गृह्य० १,११,३

हे 'प्रजापति'—प्रजाओं के स्वामी! मैं आपके लिये 'स्वाहा'—प्रशंसा-वाक्य—बोलता हूँ।

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम्०॥ (देखो पृ०....)

इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम॥ ६॥*

[भात की ६ आहुतियों के बाद ८ अष्टाज्याहुतियाँ]*

'ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्' से लेकर 'ओं भवतन्नः समनसौ' (पृ०..........) तक ८ मन्त्रों से आठ आज्याहुतियाँ दें।

[अष्टाज्याहुतियों के बाद ९ मन्त्रों से आज्य और मोहनभोग की आहुतियाँ दें।]

अष्टाज्याहुतियों के बाद निम्नलिखित ९ मन्त्रों से आज्य और मोहनभोग की आहुतियाँ दें। ये ९ मन्त्र निम्नलिखित हैं।

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते स्वाहा॥ १॥

शब्दार्थ—(**विष्णुः**) धारण करनेवाली परमात्मा-शक्ति (**ते योनिम्**) तेरे गर्भस्थान को (**कल्पयतु**) कल्प का अर्थ है—सुदृढ़ बनाना, जैसे 'कायाकल्प'—तेरे गर्भाशय को सुदृढ़ बनाये, (**त्वष्टा**) रचनेहारा—'त्वष्टा' बढ़ई को भी कहते हैं—(**रूपाणि**) गर्भ के रूपों को—रंग, रूप, पुल्लिंग या स्त्रीलिंग आदि को—(**पिंशतु**) बारीकी से घड़े (**प्रजापतिः**) उत्पन्न प्राणियों का स्वामी (**आ सिंचतु**) गर्भ को ऐसे सींचे जैसे खेत को किसान सींचता है। (**धाता ते गर्भं दधातु**) विश्व के हर पदार्थ को धारण करनेवाला तेरे गर्भ को धारण करे, डिगने न दे।

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्रजा स्वाहा॥ २॥

शब्दार्थ—हे (**सिनीवालि**) निरुक्त के अनुसार 'सिन' का अर्थ है—अन्न, 'वाल' का अर्थ है—पर्व (निरुक्त ११,१३) अर्थात् जिसमें अन्न ग्रहण किया जाए। इस मन्त्र में पत्नी को भौतिक-दृष्टि से अन्नपूर्णा तथा मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से सरस्वती कहा गया है। हे सिनीवाली तथा सरस्वती! (**गर्भं धेहि**) गर्भ धारण करके (**पुष्करस्रजौ अश्विनौ देवौ**) जिन्होंने पुष्कल—अनेक—सर्जन—उत्पादन—सफलता से किये हैं ऐसे अश्विनी देव (**ते गर्भम् आधत्ताम्**) तेरे गर्भ का पोषण करें। वेद में अश्विनीदेवों का काम चिकित्सा है—यह बात ध्यान रखने की है। कई लोग अश्विनी देव का अर्थ प्राण तथा अपान भी करते हैं।

---

* 'यदस्य कर्मणो' से लेकर 'अष्टाज्याहुतियों' तक के अर्थ 'सामान्यप्रकरण' (पृ० ६८) में देखें।

हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना।
तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे स्वाहा॥ ३॥

—ऋ०मं० १०, सू० १८४, मं० १-३; गोभि०गृ० २,५,९-१०

शब्दार्थ—(**अश्विना**) अश्विनी देवता (**यं**) जिस अग्नि रूप गर्भ को (**अरणी**) अरणियों द्वारा (**हिरण्ययी निर्मन्थतः**) मन्थन करके सुवर्ण के समान शुद्ध उत्पन्न कर देते हैं—अरणियों के मन्थन या रगड़ने से जैसे सोने के समान शुद्ध अग्नि उत्पन्न हो जाती है—ऐसे ही (**तं ते गर्भं**) तेरे उस रज-वीर्य के मन्थन से उत्पन्न होनेवाले गर्भ का (**दशमे मासि सूतवे**) दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिये (**हवामहे**) हम आह्वान करते हैं।

रेतो मूत्रं वि जहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम्। गर्भो जरायुणावृतऽउल्बं जहाति जन्मना। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु स्वाहा॥ ४॥

—यजु०अ० १९, मं० १६

शब्दार्थ—(**इन्द्रियम्**) गर्भोत्पत्ति के लिये पुरुषेन्द्रिय (**योनिं प्रविशत्**) योनि में प्रविष्ट होता हुआ (**रेतः**) वीर्य को (**वि जहाति**) पृथक् छोड़ता है और (**मूत्रम्**) मूत्र को पृथक् छोड़ता है। इन दोनों का यद्यपि निकलने का मार्ग एक है तथापि ये दोनों अलग-अलग हैं। (**जरायुणा**) जेर से (**आवृतः गर्भः**) ढका हुआ गर्भ (**जन्मना उल्वम् जहाति**) जन्म लेने पर गर्भ को लपेटने वाले खोल को छोड़ देता है। इसके आगे 'इन्द्रिय' तथा 'शुक्र' का वर्णन करते हुए कहा है—'इन्द्रिय' जिसमें से सन्तानोत्पन्न करनेवाला वीर्य निकला है कैसी है? (**ऋतेन सत्यम् इन्द्रियम्**) उसकी जननेन्द्रिय ज्ञानपूर्वक सच्ची है, अर्थात् गर्भाधान करनेवाला व्यक्ति जानता है कि उसने इन्द्रिय से कोई कुकर्म नहीं किया, उसे प्रजनन-सम्बन्धी कोई रोग नहीं है, उसकी जननेन्द्रिय (**इन्द्रस्य इन्द्रियम्**) परमैश्वर्यवाले व्यक्ति की जननेन्द्रिय है और उसका 'शुक्र'—वीर्य—कैसा है? (**अन्धसः विपानं शुक्रम्**) अन्धकार से छूट कर पवित्र हुआ उसका वीर्य है, (**इदम्**) और यह वीर्य (**पयः अमृतम् मधु**) दूध अमृत और मधु के समान है।

यत्ते सुसीमे हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात्॥ पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् स्वाहा॥ ५॥

—पार०गृ०कां० १, कं० ११, सू० ९; यजु० अ० ३६, मं० २४

शब्दार्थ—हे (**सुसीमे**) सुकेशा! (**यत् ते हृदयम्**) जो तेरा हृदय (**दिवि चन्द्रमसि श्रितम्**) द्यु-लोक के चन्द्र में स्थित है—चन्द्रमा के समान आल्हादमय है (**तत् अहम् वेद**) इस बात को मैं जानता हूँ। (**तत् मां विद्यात्**) वह तेरा मन मुझे भी वैसा ही जाने—अर्थात्, जैसे मैं यह अनुभव करता हूँ कि तू चन्द्रमा के समान

आनन्द से भरी है वैसे तू भी जान कि मैं भी वैसे ही आनन्द से भरा हूँ।

इस प्रकार हम दोनों **(पश्येम शरदः शतम्)** सौ बरस तक एक-दूसरे को देखे, **(जीवेम शरदः शतम्)** सौ बरस तक एक-साथ जीवनयापन करें, **(शृणुयाम शरदः शतम्)** सौ बरस तक एक-दूसरे की बात सुनें, **(प्रब्रवाम शरदः शतम्)** सौ बरस तक एक-दूसरे के साथ वार्तालाप करें, **(अदीनाः स्याम शरदः शतम्)** सौ बरस तक अदीनभाव से रहें, **(भूयश्च शरदः शतात्)** बार-बार हम एक-दूसरे से आशा करें कि हमारी यह आकांक्षा पूर्ण हो।

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा॥ ६॥

शब्दार्थ—(यथा इयं मही पृथिवी) जिस प्रकार यह बड़ी विस्तृत पृथिवी **(भूतानां गर्भं आदधे)** समस्त प्राणियों को मानो अपने गर्भ में धारण कर रही है **(एवा)** इसी प्रकार **(ते गर्भो अनुध्रियताम्)** तेरा गर्भ धारण हो **(सवितवे सूतुम्)** वह गर्भ सविता के लिये—सूर्य के लिये—प्रसूत हो, अर्थात् वह पुत्र सूर्य के समान हो, सूर्य जैसा तेजस्वी हो।

यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान् वनस्पतीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा॥ ७॥

शब्दार्थ—(यथा इयं मही पृथिवी इमान् वनस्पतीन् दाधार) जैसे यह महान् पृथिवी वनस्पतियों को अपने गर्भ में सुरक्षित धारण कर रही है **(एवा ते गर्भः ध्रियतां)** इसी प्रकार तेरा गर्भ सुरक्षित हो, **(सवितवे अनुसूतुम्)** मानो सविता अर्थात् भगवान् के लिये यह सन्तान उत्पन्न हुई है।

यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान् गिरीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा॥ ८॥

इस मन्त्र में पृथिवी आदि महाभूतों या वनस्पतियों की जगह पर्वतों का वर्णन है। बाकी अर्थ पूर्व समान है।

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे स्वाहा॥ ९॥

—अथर्व० कां० ६, सू० १७, मं० १-४

इस मन्त्र में पृथिवी आदि महाभूतों की जगह '**विष्टितं जगत्**' कहा है—विष्टित जगत्—अर्थात्, विस्तृत—यह चारों तरफ फैला हुआ—जगत्।

[आज्य और मोहनभोग की आहुतियों के बाद निम्न ६ आहुतियाँ दें]

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ २॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय-इदन्न मम॥ ३॥
ओम् अग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदन्न मम॥ ४॥
ओम् अयास्यग्नेर्वषट्कृतं यत्कर्मणोऽत्यरीरिचं देवा गातुविदः स्वाहा॥
इदं देवेभ्यो गातुविद्भ्यः—इदन्न मम॥ ५॥ —पार०गृह्य० १,२,११
ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥ ६॥
—पार०गृह्य० १,११,३

[उक्त ६ आहुतियों के बाद घृत की स्विष्टकृताहुति दें]

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम॥

[स्रुवा में शेष रहे घृत से वधू स्नान करे]

जो मन्त्रों से आहुति देते समय प्रत्येक आहुति के स्रुवा में शेष रहे घृत को आगे घरे हुए कांसे के उदक-पात्र में इकट्ठा करते गये हों, जब आहुति हो चुके तब उन आहुतियों के शेष-घृत को वधू लेकर स्नान घर में जाकर उस घी का पग के नख से लेकर शिर पर्यन्त सब अंगों पर मर्दन करके स्नान करे। तत्पश्चात्, शुद्ध वस्त्र धारण करके कुण्ड के समीप आकर उसकी प्रदक्षिणा करके वर-वधू (उस समय वधू वर के वाम भाग में रहे) सूर्य का दर्शन करें और इन मन्त्रों को बोलें—

[दोनों कुण्ड की प्रदक्षिणा करके निम्न ६ मन्त्रों से सूर्य का दर्शन करें]

ओम् आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
परिवृङ्ग्धि हरसा माभिमंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः॥ १॥
—यजु०अ० १३, मं० ४१

शब्दार्थ—हे ईश्वर! **(सहस्रस्य प्रतिमाम्)** हजारों व्यक्तियों में प्रतिमा रूप आप **(विश्वरूपम्)** नाना प्रकार के रूपों—गुणों वाली **(आदित्यम्)** सूर्य के समान तेजस्वी **(गर्भं पयसा समङ्ग्धि)** गर्भस्थ सन्तान को दुग्धादि से समृद्ध कीजिये। **(हरसा परिवृङ्ग्धि)** जीवनी-शक्ति का हरण करनेवाले प्रभावों से बचाइये। **(मा अभिमंस्थाः)** इसका तिरस्कार मत कीजिये। **(चीयमानः)** प्रतिदिन बढ़ते हुए इसको **(शतायुषम् कृणुहि)** सौ वर्षपर्यन्त जीनेवाला बनाइये।

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात्। अग्निर्नः पार्थिवेभ्यः॥ २॥

शब्दार्थ—हे ईश्वर! **(सूर्यः)** सूर्य **(नः)** हमारे इस गर्भ की **(दिवः पातु)** द्युलोकस्थ-उपाधियों से रक्षा करे; **(वातः)** वायु **(नः अन्तरिक्षात्)** हमारे इस गर्भ

की अन्तरिक्ष-लोकस्थ-उपाधियों से रक्षा करे; **(अग्निः नः पार्थिवेभ्यः)** अग्नि हमारे इस गर्भ की पृथिवी-लोकस्थ-उपाधियों—उपद्रवों—से रक्षा करे।

जोषा सवितर्यस्य ते हरः शतं सवाँ अर्हति। पाहि नो दिद्युतः पतन्त्याः॥ ३॥

शब्दार्थ—**(सवितः)** हे ईश्वर! **(जोषा)** हमारे प्रति प्रीति दर्शा—**जुष् प्रीति सेवनयोः**; **(यस्य ते हरः)** जो तेरा तेज है वह **(शतं सवान् अर्हति)** सौ यज्ञों के समान है। **(पतन्त्याः दिद्युतः)** गिरती हुई बिजली से **(नः पाहि)** हमारी रक्षा कर।

चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः। चक्षुर्धाता दधातु नः॥ ४॥

शब्दार्थ—**(सविता देवः)** सर्वोत्पादक देव **(नः चक्षुः)** हमारे लिये चक्षु के समान है, **(उत)** और **(पर्वतः नः चक्षुः)** पर्वत के समान महान् परमेश्वर हमारे लिये चक्षु के समान है, **(धाता नः चक्षुः दधातु)** संसार का धारण करनेवाला परमात्मा हमें वह आँख दे जिससे सूर्य, पर्वत आदि विश्व के सब पदार्थों में हम भगवान् के दर्शन कर सकें।

चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः। सं चेदं वि च पश्येम॥ ५॥

शब्दार्थ—**(नः चक्षुषे)** हमारे नेत्रों के लिये **(चक्षुः धेहि)** प्रकाश दीजिये **(नः तनूभ्यः)** हमारे शरीरों के लिये **(विख्यै चक्षुः)** विशेष आख्यान करनेवाली चक्षु दीजिये जिससे **(इदम् सं च पश्येम वि च पश्येम)** हम इस सम्पूर्ण जगत् को उलट-पुलट कर—हर पहलू से—देख सकें।

सुसंदृशं त्वा वयं प्रति पश्येम सूर्य। वि पश्येम नृचक्षसः॥ ६॥

—ऋ०मं० १०, सू० १५८, मं० १-५

शब्दार्थ—हे **(सूर्य)** सूर्य! **(वयम् नृचक्षसः)** हम मानव-जगत् के हित को देखनेवाले **(त्वा सुसंदृशं पश्येम)** तेरे उस सुन्दर रूप को देखें जिससे तू हर वस्तु को सुन्दर रूप देता है, **(वयं त्वा विसुसंदृशं पश्येम)** हम तेरे उस रूप को भी देखें जिससे तू हर वस्तु को ध्वंसकर उसका रूप बिगाड़ भी देता है। सूर्य के ताप से वस्तु बनती भी है, बिगड़ती भी है।

उक्त छः मन्त्रों का भावार्थ

उक्त छः मन्त्रों में जो बातें कही गई हैं, उनका अलग-अलग विवरण देने के बजाय एक ही जगह सबका विवरण देना उपयुक्त है। इन मन्त्रों में जो बातें कही गई हैं, वे हैं—(क) सन्तान ऐसी हो जो हजारों में एक कही जा सके, (ख) सन्तान प्रतिदिन बढ़ती-बढ़ती सौ वर्ष तक जीनेवाली हो, (ग) उसकी द्यु-लोक, अन्तरिक्ष-लोक तथा पृथिवीलोक के उपद्रवों से रक्षा हो, (घ) परमात्म-देव, बन-पर्वत, सृष्टि के सब पदार्थ हमारी सन्तान के लिये चक्षु के समान हों ताकि सृष्टि के हर पदार्थ में हम भगवान् के दर्शन कर सकें, (ङ) हमारी आँखें ऐसी हों जिनसे हम सृष्टि को उलट-पुलट कर, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे—सब तरफ से सृष्टि के एक ही रूप को

नहीं, सृष्टि के हर रूप को, उसके भिन्न-भिन्न रूपों को—सृष्टि की वास्तविकता को देख सकें। सृष्टि का दीखने वाला सुन्दर रूप भी उसका किया है, कुरूप भी उसका किया है। शुभ-कर्मों से सृष्टि सुन्दर बन जाती है, अशुभ-कर्मों से इसका रूप विकृत हो जाता है। शुभ और अशुभ कर्म जिनसे सृष्टि का सुन्दर या विकृत रूप बनता है, हमारे कर्मों के कारण है, परन्तु उन कर्मों का ठीक-ठीक फल देनेवाला वही है। कर्म करनेवाले हम हैं, इसलिये सृष्टि को सुन्दर या कुरूप बनानेवाले भी हम हैं—उसका काम तो सिर्फ जैसा कर्म हो वैसा फल दे देना है।

[प्रदक्षिणा तथा सूर्य-दर्शन के बाद वधू का गोत्र-परिवर्तन, पति-नमस्कार]

कुण्ड-प्रदक्षिणा तथा सूर्य-दर्शन के बाद वधू निम्न वाक्य बोलकर अपने पति को नमस्कार करे। अमुक गोत्र के स्थान में पति के गोत्र अथवा वर के कुल का उच्चारण करे, अमुकनाम्नी की जगह अपना नाम बोले—

ओम् अमुकगोत्रा शुभदा अमुकनाम्नी अहं भो भवन्तमभिवादयामि।*

—गोभिल गृह्य २,४,११

तत्पश्चात्, स्व-पति के पिता, पितामहादि और जो वहाँ अन्य माननीय पुरुष तथा पति की माता तथा अन्य कुटुम्बी सम्बन्धियों की वृद्ध स्त्रियाँ हों, उनको भी इसी प्रकार वन्दन करे।

[वामदेव्यगान]

इस प्रकार वधू वर के गोत्र की हुई—अर्थात्, वधू पत्नीत्व और वर पतित्व को प्राप्त हुए। पश्चात्, दोनों पति-पत्नी शुभासन पर पूर्वाभिमुख वेदी के पश्चिम भाग में बैठकर वामदेव्यगान करें (वामदेव्यगान का उल्लेख सामान्य-प्रकरण में '**मंगलकार्य**'—इस शीर्षक के नीचे '**ओं भूर्भुवः स्वः। कन्या नश्चित्र आ भवदूती सदावृधः**' आदि के रूप में दिया जा चुका है, देखो पृ० ....

[सबको विदाई]

तत्पश्चात् यथोक्त** भोजन दोनों जने करें और पुरोहितादि सब मंडली को सन्मानार्थ यथाशक्ति भोजन कराके आदर सत्कारपूर्वक विदा करें।

---

* मूल संस्कारविधि में 'ओम् अमुकगोत्रा शुभदा अमुक दा अहं भो अभिवादयामि'—यह उल्लेख है। यहाँ 'अमुक दा' से अभिप्राय 'यशोदा'-'सुखदा' आदि नामों से है, जिनके अन्त में 'दा' आता है। हमने 'अमुक दा' के स्थान में 'अमुकनाम्नी'—यह कर दिया है।

** संस्कारविधि में पति-पत्नी के बल वृद्धि के लिये निम्न सर्व-औषधि का उल्लेख है—दो खण्ड आंबाहल्दी, दूसरी खाने की हल्दी, चन्दन, मुरा (यह नाम दक्षिण में प्रसिद्ध है), कुष्ठ, जटामांसी, मोरबेल (यह नाम भी दक्षिण में प्रसिद्ध है), शिलाजीत, कपूर,

इसके पश्चात् रात्रि में नियत समय पर जब दोनों का शरीर आरोग्य, अत्यन्त प्रसन्न और दोनों में अत्यन्त प्रेम बढ़ा हो, उस समय गर्भाधान क्रिया करनी। गर्भाधान क्रिया का समय प्रहर रात्रि के गये पश्चात् प्रहर रात्रि रहे तक है।

तत्पश्चात्, थोड़ा ठहर के स्नान करें। यदि शीतकाल हो तो प्रथम केशर, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, छोटी इलायची डाल, गर्म कर रक्खे हुए शीतल दूध का यथेष्ट पान करके, पश्चात् पृथक्-पृथक् शयन करें। यदि स्त्री-पुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाए कि गर्भ स्थिर हो गया, तो उसके दूसरे दिन और जो गर्भ रहे का दृढ़ निश्चय न हो तो एक महीने के पश्चात् रजस्वला होने के समय स्त्री रजस्वला न हो तो निश्चित जानना कि गर्भ स्थित हो गया है। अर्थात् दूसरे दिन वा दूसरे महीने के प्रारम्भ में निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें—

यथा वातः पुष्करिणीं समिङ्गयति सर्वतः।
एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः स्वाहा॥ १॥

शब्दार्थ—हे वधू (**यथा वातः**) जैसे वायु (**पुष्करिणीं सर्वतः**) तालाब को सब ओर से (**समिंगयति**) चला देती है, (**एवा**) इसी प्रकार (**ते गर्भः एजतु**) तेरा गर्भ हिले-जुले और (**दशमास्यः**) दस मास पूरे करके (**निः एजतु**) बाहर आवे।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा स्वाहा॥ २॥

शब्दार्थ—(**यथा वातः एजति**) जैसे वायु चलता है (**यथा वनं एजति**) जैसे वायु के झोंकों से वन के वृक्ष-वनस्पति हिलते-जुलते हैं (**यथा समुद्रः एजति**) जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं (**एवा**) इसी तरह हे (**दशमास्यः**) दस महीनों में उत्पन्न होनेवाले गर्भस्थ सन्तान! (**त्वं जरायुणा सह एहि**) तूने सहज-भाव से जरायु—जेर—के साथ बाहर चले आना जिससे माता को कष्ट न हो।

मुस्ता, भद्रमोथ। इन सब औषधियों का चूर्ण करके समभाग लेकर उदुम्बर के काष्ठपात्र में गाय के दूध के साथ मिला उनका दही जमा और उदुम्बर की लकड़ी की मंथनी से मन्थन करके उनमें से मक्खन निकाल, उसको ताय, घृत करके उसमें सुगन्धित द्रव्य केशर, कस्तूरी, इलाइची, जावित्री मिला के अर्थात् एक सेर दूध में छटाँक भर सर्व-औषधि मिला सिद्ध कर घी हुए पश्चात् एक सेर में एक रत्ती कस्तूरी और एक माशा केसर और एक माशा जायफलादि भी मिला के नित्य प्रात:काल उस घी को दोनों जने खीर अथवा भात के साथ मिलाके यथा रुचि भोजन करें। इस प्रकार गर्भ-स्थापन से सुशील, विद्वान्, दीर्घायु, तेजस्वी, सुदृढ़ और नीरोग पुत्र उत्पन्न होवे। यदि कन्या की इच्छा हो तो जल में चावल पका पूर्वोक्त प्रकार घृत, गूलर के एक पात्र में जमाये हुए दही के साथ भोजन करने से उत्तम गुणयुक्त कन्या भी होवे।

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि स्वाहा॥ ३॥

—ऋ० म० ५। सू० ७८। मं० ७-९॥

शब्दार्थ—(**अधि मातरि**) माता के भीतर (**दश मासान् शयानः कुमारः**) दस मास तक सोने वाला जीव (**अक्षतः जीवः**) बिना अंग-भंग हुए, बिना चोट के जीव (**निरैतु जीवः**) यह जीव बाहर आ जाए (**अधि जीवन्त्या**) जिसकी माता भी जीवित रहे, उसे भी कोई कष्ट न हो।

एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। यथायं वायुरेजति यथा समुद्रऽ एजति। एवायं दशमास्योऽ अस्त्रज्जरायुणा सह स्वाहा॥ १॥

शब्दार्थ—(**दशमास्योः गर्भ**) दस महीने का गर्भ (**जरायुणा सह**) जरायु के साथ (**एजतु**) गर्भ में कंपित हो और (**यथा अयं वायुः एजति**) जैसे वह वायु चलता है (**यथा समुद्रः एजति**) जैसे समुद्र लहरें मारता है, (**एवा अयं दशमास्यः**) इसी प्रकार यह दस मास में उत्पन्न होनेवाली गर्भस्थ सन्तान (**जरायुणा सह**) जरायु के साथ (**अस्त्रत्**) बाहर सरक आये।

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी।
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमꣳ स्वाहा॥ २॥

—यजुः० अ० ८। मं० २८, २९॥

शब्दार्थ—हे वधु! (**यस्य**) जिस सन्तान के लिये (**ते गर्भः**) तेरा गर्भ (**यज्ञियः**) यज्ञमय हुआ—सन्तान यज्ञ की सन्तान है; (**यस्यै**) जिस सन्तान के लिये तेरी (**योनिः**) योनि (**हिरण्ययी**) सुवर्ण के समान शुद्ध की गई (**यस्य**) जिस सन्तान के (**अंगानि**) अंग-प्रत्यंग यज्ञानुष्ठान के कारण (**अह्रुता**) ह्रुत नहीं हैं—कटे-फटे नहीं हैं (**तं**) उस सन्तान को (**मात्रा सह**) माता के साथ (**सम् अजीगमम्**) ईश्वर करे कि उन दोनों को मैं जीवित प्राप्त करूँ।

पुमाꣳसौ मित्रावरुणौ पुमाꣳसावश्विनावुभौ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे स्वाहा॥ १॥

शब्दार्थ—(**मित्रावरुणौ**) मित्र और वरुण (**अश्विनौ**) अश्वि देवता—इन दोनों का युगल पुमान् है—ये पुंस्त्व-शक्ति-सम्पन्न हैं (**अग्निः वायुः च पुमान्**) अग्नि और वायु भी पुंस्त्व-शक्ति-सम्पन्न हैं (**तव उदरे गर्भः पुमान्**) तेरे उदर में जो गर्भ है वह भी इन्हीं की तरह पुंस्त्व-शक्ति-सम्पन्न हो।

पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः।
पुमाꣳसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननु जायताꣳ स्वाहा॥ २॥ —सामवेदे॥

शब्दार्थ—(**अग्निः पुमान्**) अग्नि पुंस्त्व-शक्ति-सम्पन्न है (**इन्द्रः पुमान्**) इन्द्र पुंस्त्व-शक्ति-सम्पन्न है (**देवः बृहस्पतिः पुमान्**) बृहस्पति देवता भी पुंस्त्व-

शक्ति-सम्पन्न है। हे वधू! **(पुमांसं पुत्रं विन्दस्व)** तेरा पुत्र भी पुंस्त्व-शक्ति-सम्पन्न हो **(तं अनु पुमान् जायताम्)** इस पुत्र के बाद जो सन्तान हो वह भी पुंस्त्व-शक्ति-सम्पन्न हो।

उक्त ७ मन्त्रों का भावार्थ

उक्त सात मन्त्रों में जीव-शास्त्रीय-अनुभव (Biological experience) को अनेक बार दोहराया गया है। जब गर्भस्थ सन्तान हिलने-डुलने लगती है तब समझा जाता है कि गर्भ ठहर गया। उस समय गर्भिणी को उदर में कम्पन अनुभव होता है। उस कम्पन को लक्ष्य में रखकर इन मन्त्रों में कहा गया है कि जैसे वायु का झोंका उठता है, समुद्र में लहर उठती है, वन में वृक्ष-वनस्पतियाँ झूलने लगती हैं, कुछ इसी प्रकार का अनुभव गर्भिणी को होता है। इस अनुभव को इन मन्त्रों में **'एजतु'** कहा है। **'एजतु'**-शब्द **'एजृ कंपने'** धातु से बना है। गर्भ कंपन करता है, लहर उठती है—यही गर्भिणी का जीव-शास्त्रीय-अनुभव है। इन मन्त्रों में प्रार्थना की गई है कि इस कंपन के उठने के बाद गर्भ दस चांद्र-मास तक अक्षत रहे और अपना समय पूरा करके वह अविकलांग उत्पन्न हो। उत्पत्ति कभी-कभी कष्टप्र होती है, कभी-कभी प्रसूता सन्तान उत्पन्न करने की प्रक्रिया में ही मर जाती है। इन मन्त्रों में प्रार्थना की गई है कि सन्तान अक्षत हो, जरायु के साथ उसकी उत्पत्ति हो और वह माता के साथ अपना जीवन बिताये। सन्तान के अंग-प्रत्यंग **'अह्रुता'** हों, ह्रुत न हों, 'कटे-फटे न हों, प्रसव जरायुसहित हो, कभी-कभी जेर पीछे रह जाता है—ऐसा न हो। प्रसव के लिये 'अस्रत्'-शब्द का प्रयोग किया गया है—गर्भ सरक आये, ऐसे निकल आये जैसे कोई वस्तु सरक पड़ती है, कष्ट नहीं देती। प्रसव-शास्त्र के अनुसार सन्तानोत्पत्ति के लिये जो स्थिति आवश्यक है वह सब इन मन्त्रों में बता दी गई है।

किन्तु सहज रूप में सन्तान का उत्पन्न हो जाना ही संस्कार-पद्धति का लक्ष्य नहीं है। जैसा हम बार-बार लिख आये हैं, संस्कारों का उद्देश्य उत्कृष्टतर सन्तान का उत्पन्न करना है। इसी उद्देश्य से संस्कारों की रचना की गई है। इसी कारण ६टे और ७वें मन्त्रों में अनेक बार दोहराया गया है कि सन्तान को 'पुंस्त्व-शक्ति-सम्पन्न' होना है। उसके सामने पुंस्त्व के लिये आदर्श हैं—मित्र, वरुण, अश्वि देवता, अग्नि, वायु, इन्द्र, बृहस्पति—इन देवों में जितना पराक्रम है उस पराक्रम को लक्ष्य में रखकर सन्तान ने जीवन के ध्येय को पूरा करना है। इसके अतिरिक्त एक ही सन्तान के लिये ये लक्ष्य नहीं हैं। हर सन्तान, एक के पीछे आनेवाली हर सन्तान इन्हीं लक्ष्यों को जीवन का ध्येय समझे—तभी कहा **'तं अनु पुमान् जायताम्'**—इस सन्तान के पीछे जो सन्तान हो उसके भी यही लक्ष्य, यही ध्येय हों।

उक्त मन्त्रों से आहुति देकर, पूर्वलिखित सामान्यप्रकरण की शान्त्याहुति* देके पुनः निम्न मन्त्र से तीन बार पूर्णाहुति देवे—

'ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा'

पुनः स्त्री के भोजन-छादन का सुनियम करे। कोई मादक मद्य आदि, रेचक हरीतकी आदि, क्षार अतिलवणादि, अत्यम्ल अर्थात् अधिक खटाई, रूक्ष चणे आदि, तीक्ष्ण अधिक लाल मिर्ची आदि स्त्री कभी न खावे, किन्तु घृत, दुग्ध, मिष्ट, सोमलता अर्थात् गुडूच्यादि ओषधि, चावल, मिष्ट दधि, गेहूँ, उर्द, मूंग, तुअर आदि अन्न और पुष्टिकारक शाक खावें। उसमें ऋतु-ऋतु के मसाले—गर्मी में ठण्डे सफेद इलायची आदि और सर्दी में केशर, कस्तूरी आदि डालकर खाया करें। युक्ताहार-विहार सदा किया करें। दूध में सूँठी और ब्राह्मी औषधि का सेवन स्त्री विशेष किया करे, जिससे सन्तान अति बुद्धिमान् रोगरहित शुभ गुण-कर्म-स्वभाववाली होवे॥

॥ इति गर्भाधानविधिः समाप्तः ॥

---

* अर्थात् शान्तिकरण (पृष्ठ ....) के मन्त्रों से

पुंसवन संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

जब तक सन्तान माँ के गर्भ में रहती है तब तक उसके शरीर तथा मन को अपनी इच्छानुसार ढाला जा सकता है। यह समय ऐसा है, मानो माँ के हाथ में दे दिया गया है कि अपनी सन्तान को जैसा चाहे बना डाले। जो माताएँ सन्तान के जन्म लेने के बाद उसके बिगड़ जाने को देखकर रोया करती हैं, उन्हें समझ लेना चाहिये कि यह कष्ट उन्हें इसीलिये झेलना पड़ता है, क्योंकि जो समय बच्चे को ढालने का था उसे उन्होंने खो दिया। जब कोई वस्तु ढल रही हो, तभी तो उसे पहले से बनी रूप-रेखा के अनुसार ढाला जा सकता है, जब वह ढल गई तब उसे नई दिशा देना कठिन हो जाता है।

माँ के पेट में जो सन्तान है उसका दो दिशाओं में निर्माण होना है। एक दिशा है—उसका शारीरिक विकास; दूसरी दिशा है—उसका मानसिक विकास। शारीरिक-विकास के लिये पुंसवन-संस्कार का विधान है, मानसिक-विकास के लिये सीमन्तोन्नयन-संस्कार का विधान है। हम इस प्रकरण में पुंसवन-संस्कार पर लिख रहे हैं, सीमन्तोन्नयन-संस्कार पर अगले अध्याय में लिखेंगे।

पुंसवन-संस्कार का मुख्य लक्ष्य माता का ध्यान उसके गर्भ में पल रही सन्तान के शारीरिक-विकास की तरफ खींचना है। इसलिये यह संस्कार गर्भाधान के बाद यह निश्चय हो जाने पर कि गर्भ स्थिर हो गया है किया जाता है। यह निश्चय गर्भाधान क्रिया के दूसरे या तीसरे महीने हो जाता है। गर्भस्थित होने के बाद गर्भस्थ सन्तान को दो प्रकार के खतरे हो सकते हैं। एक खतरा तो यह है कि माता की असावधानी से स्थित हुआ गर्भ ही गिर जाए, दूसरा खतरा यह है कि गर्भ तो बना रहे परन्तु स्वास्थ्य के नियमों का पालन न करने से सन्तान का शरीर ठीक तरह से विकसित तथा पुष्ट न हो पाये। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए माता-पिता के लिये यह जानना आवश्यक है कि (१) गर्भस्थित होने के क्या लक्षण हैं, (२) गर्भ-भ्रंश न हो—इसके लिये क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी चाहियें, (३) सन्तान का शारीरिक-विकास ठीक-से हो—इसके लिये माता को क्या-कुछ औषधोपचार करना चाहिये, (४) पुष्टि के लिये क्या-कुछ खाना चाहिये, (५) पुंसवन-संस्कार कब करना चाहिये, तथा (६) गर्भ गिरने को रोकने की क्या औषधियाँ हैं। हम आगे इन छहों विषयों पर संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

१. गर्भ-स्थिति के लक्षण

(१) गर्भ स्थित हो जाने का सबसे पहला लक्षण यह है कि स्त्री का ऋतु-

स्राव बन्द हो जाता है। प्रायः युवावस्था आने पर प्रति मास ऋतु-स्राव हुआ करता है, गर्भावस्था में ऋतुस्राव नहीं होता। जब गर्भाधान होने के एक मास बाद ऋतुस्राव न हो, तो समझ लेना चाहिये कि गर्भावस्था को एक महीना बीत गया है।

(२) गर्भ स्थित होने के एक मास बाद लगभग प्रातःकाल में गर्भिणी को कय होने लगती है। इसका कारण यह है कि गर्भावस्था में शरीर में जो नये-नये परिवर्तन होने लगते हैं, शरीर के लिये वे सब अपरिचित होते हैं। इनके साथ तादात्म्य स्थापित करने में शरीर को कुछ समय लग जाता है। जब तक यह तादात्म्य स्थापित नहीं हो जाता तब तक कुछ बेचैनी, कुछ वमन, कुछ पित्त या खटास का आना अनुभव हुआ करता है। कई अनुभवी दाइयों का कहना है कि अगर इस प्रकार के लक्षण तीव्र हों तब गर्भस्थ सन्तान कन्या होती है, अगर ये लक्षण साधारण हों तो वह पुत्र होता है।

(३) गर्भ स्थित होने के प्रथम मास के पीछे तीसरे मास तक स्तन बढ़ने लगते हैं, क्योंकि प्रकृति भावी सन्तान के भोजन की तैयारी कर रही होती है।

(४) स्तन और उनकी टूटियाँ तीसरे महीने कड़ी पड़ने लगती हैं, उनका रंग भी काला होने लगता है।

(५) प्रायः तीसरे मास से पेट भी बढ़ने लगता है।

(६) चौथे मास के लगभग या पाँचवें मास तक बच्चे का फड़कना अनुभव होने लगता है। इस समय गर्भस्थ सन्तान के हृदय की गति भी प्रकट होने लगती है।

२. गर्भिणी के लिये सावधानियाँ

चरक संहिता, शरीर स्थान में पुंसवन-संस्कार का वर्णन करते हुए उन सावधानियों तथा भोज्य-पदार्थों का उल्लेख है जो गर्भिणी के लिये इसलिये आवश्यक हैं कि गर्भपात न हो जाए और गर्भस्थ सन्तान पुष्ट रहे। उदाहरणार्थ—

(सूत्र ४०) : गर्भवती स्त्री के उटकू बैठने, ऊँचे-नीचे स्थानों में फिरने, कठिन आसन पर बैठने, गैस, मल, मूत्र के वेग को रोकने, कठोर परिश्रम करने, गर्म तथा तेज वस्तुओं का सेवन करने एवं बहुत भूखा रहने से गर्भ सूख जाता है, मर जाता है या उसका स्राव हो जाता है।

(सूत्र ४१) : चोट लगने से, गर्भ के किसी भाँति दबने से, गढ़े, कूएँ, पहाड़ के विकट स्थानों को देखने से गर्भपात हो सकता है। गर्भिणी के शरीर के अत्यधिक हिलने-जुलने या बैल आदि की ऊबड़-खाबड़ सवारी से, भयङ्कर शब्द या अप्रिय बात सुनने से भी अकाल गर्भपात हो सकता है। सदैव सीधी उत्तान पड़ी रहने से नाड़ी गर्भ के गले में लिपट सकती है, जिससे गर्भ मर सकता है।

(सूत्र ४२) : अगर गर्भवती नग्न सोये या इधर-उधर फिरती रहे, तो सन्तान पागल हो सकती है। गर्भवती बहुत लड़ने-झगड़ने वाली होगी तो सन्तान को मृगी हो सकती है। यदि मैथुन में रत रहेगी तो सन्तान कामी उत्पन्न होगी। अगर निरन्तर

शोक में मग्न रहेगी तो सन्तान भयभीत, कमजोर और कम आयु की होगी। यदि पर-धन लेने की इच्छा करेगी तो ईर्ष्यालु, चोर, आलसी, द्रोही, कुकुर्मी सन्तान को जन्म देगी। यदि वह क्रोध करेगी तो सन्तान क्रोधी, छली, चुगलखोर होगी। यदि वह बहुत सोयेगी तो सन्तान आलसी, मूर्ख, मन्दाग्निवाली होगी। यदि शराब पीयेगी तो सन्तान विकल-चित्त होगी। बहुत मीठा खायेगी तो सन्तान प्रमेही, अधिक खट्टा खायेगी तो सन्तान त्वचा के रोग वाली, अधिक नमक खायेगी तो सन्तान के बाल जल्दी सफेद हो जायेंगे, चेहरे पर सलवटें तथा गंजी होगी। अधिक चटपटे भोजन खायेगी तो सन्तान दुर्बल, अल्पवीर्य, बाँझ या नपुंसक होगी। अति कड़वा खायेगी तो सन्तान सूखे शरीर की, कृश होगी।

(सूत्र ४४) : जिस प्रकार माता के क्रियाकलाप से सन्तान में रोग संक्रान्त होते हैं, उसी प्रकार के क्रियाकलाप को करने से पिता का शुक्र दूषित होता है और ऐसे दूषित शुक्र से वैसी ही दूषित सन्तान होगी।

एक अन्य स्थान पर कहा है—''**गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा, शुच्यलंकृता, शुक्लवसना शान्ति मंगल देवता ब्राह्मण गुरुपरा च भवेत्। मलिन हीन-विकृत गात्राणि न स्पृशेत्। दुर्गन्ध दुर्दशानि परिहरेत्। उद्वेजनीयाश्च कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुंजीत। बहिर्निष्क्रमणं शून्यागार चैत्य श्मशान वृक्षाश्रयान् क्रोधं अयशस्करं च भावान् उच्चैः भाष्यादिकं च परिहरेत्। यानि च गर्भं व्यापादयन्ति।**''

अर्थात् गर्भवती स्त्री पहले दिन से ही शुरु करके प्रतिदिन प्रसन्न रहे, पवित्र गहनों को पहने, श्वेत वस्त्र को धारण करे, शान्तमनवाली, सबका भला चाहनेवाली, देवता, ब्राह्मण तथा गुरु की सेवा करनेवाली बने। मलिन, विकृत या हीन अंगों को न छुए। बदबूदार तथा बुरे दृश्यों से दूर रहे। बेचैनी पैदा करनेवाली बातों को न सुने। सूखे, बासी, गले-सड़े अन्न का भोजन न करे। घर से बाहर निकलना, खाली मकान में जाना, चैत्य, श्मशान, वृक्ष के नीचे रहना, क्रोध करना, बुरा बनना, ऊँचे चिल्लाना आदि को छोड़ दे। जिन बातों से गर्भ की हानि की सम्भावना हो उन सब से दूर रहे।

चरक संहिता में कहा है—''**न मदकराणि खाद्यानि अभ्यवहरेत्। न यानं अधिरोहेत्। न मांसं अश्नीयात्। सर्वेन्द्रिय प्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिहरेत्। यच्च अन्यत् अपि किंचित् स्त्रियः विद्युः।**''

अर्थात्, मद करनेवाले खाद्य-पदार्थों का व्यवहार न करे, सवारी पर न चढ़े मांस न खाये, इन्द्रियाँ जिस बात को न चाहें उन्हें दूर से ही छोड़ दे, पास-पड़ोस तथा रिश्तेदास स्त्रियाँ जो कुछ बतलायें वैसा करे।

ऊपर जो-कुछ लिखा है उसका अभिप्राय यह है कि जब सन्तान गर्भ में होती

है तब माता की हर बात का उसके शरीर के निर्माण में भाग होता है, इसलिये माता का कर्त्तव्य है कि सन्तान के शारीरिक-विकास को ध्यान में रखते हुए अपने खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार को इस प्रकार सँभाले रहे, जिससे सन्तान पर किसी प्रकार का कुप्रभाव न पड़े।

माता का प्रभाव सन्तान के निर्माण में इतना गहरा पड़ता है कि सुश्रुत (शारीरस्थान, ३ अध्याय, १६) में तो यहाँ तक लिखा है कि—

दोषाभिघातैः गर्भिण्या यो यो भागः प्रीपड्यते
सः सः भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते।

अर्थात्, किसी भी शारीरिक दोष के कारण गर्भवती स्त्री का जो-जो भी अंग पीड़ित होता है, गर्भ में स्थित शिशु का वही-वही अंग पीड़ित होने लगता है।

३. सन्तान के शारीरिक-विकास के लिये औषधोपचार

पुंसवन-संस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भ-स्थित सन्तान की रक्षा करना है, इसीलिये इस समय ऐसे उपायों के बरतने का आदेश है, जिनके कारण गर्भ का क्षय न हो। संस्कार-विधि में आश्वलायन गृह्यसूत्र का उल्लेख करते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में वट-वृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेकर स्त्री को दक्षिण नासा-पुट में सुँघाये और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गिलोय या ब्राह्मी औषधि खिलाये। यहाँ वट-वृक्ष तथा गिलोय का उल्लेख है जो सुश्रुत संहिता, सूत्र स्थान ३८ अध्याय में भी पाया जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि गर्भ को स्थिर बनाये रखने के औषधोपचार को वट-वृक्ष तथा गिलोय तक सीमित कर दिया गया है। कुशल वैद्य के परामर्श से गर्भ स्थिर रखने के लिये पति-पत्नी को जिस-किसी भी औषधि का उपयोग करना उचित है। अभिप्राय इतना ही है कि जब गर्भ स्थित होने का निश्चय हो जाए, तब उसके भौतिक-शरीर को स्थिर रखने का हर किसी तरह प्रयत्न करना पति-पत्नी का कर्त्तव्य है।

सुश्रुत संहिता में इस उद्देश्य के लिये न्यग्रोध की सिफारिश मिलती है। न्यग्रोध का अर्थ है—'वट-वृक्ष'। वट के लिये लिखा है कि यह व्रण के लिये हितकारी है, टूटे को जोड़ता है, रक्त-पित्तनाशक है, स्त्रियों के योनि के दोषों को दूर करता है, गर्भ को पुष्टि देता है। आगे लिखा है कि गिलोय ज्वर-नाशक है, पित्त, कफ, खाज, अरुचि, वमन, तृषा, दाह को दूर करता है, कब्जकुशा है। जो-जो उपद्रव गर्भावस्था में आते हैं उन सबकी गिलोय एक अव्यर्थ औषधि है। गर्भावस्था में गर्भ को सुरक्षित रखने के लिये निम्न उपायों का वर्णन पाया जाता है, जिनका उल्लेख भिषग्रत्न श्री अत्रिदेव ने अपनी पुस्तक 'संस्कारविधि विमर्श' में किया है—

(१) लक्ष्मणा, बरगद (वट-वृक्ष, न्यग्रोध) की कोपल, सहदेवी (पीले फूल की कंघी) और विश्वदेवा (गंगेरन)—इनमें से किसी एक को दूध में बारीक

पीसकर इनका रस सन्तान चाहनेवाली स्त्री के दाहिने नथुने में तीन-चार बूँद डाले, उन्हें बाहर न आने दे। यह बात सुश्रुत, शारीरस्थान में निम्न प्रकार कही है—

''लब्धगर्भायाश्च एतेषु अहःसु लक्ष्मणा वट शुंगा सहदेवी विश्वदेवा नामान्यतमं क्षीरेण अभिघुट्य त्रींश्चतुरो वा विन्दून् दद्यात् दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै न च तत् निष्ठीवेत्।'' —सुश्रुत शारीरस्थान, २ अध्याय।

(२) इसी प्रकार श्वेत कटेरी की जड़ को पीसकर उसका रस नाक में डाले।

(३) कमल पत्र, नीलकमल पत्र, बरगद के कोपल—इनकी नुस्वार ले।

(१) शाली-धान्य को पीसकर पिंड बनाकर इसे पकाये। पकाते समय जो उष्णिमा निकले उसे नासा से सूँघे और इनको निचोड़कर इनका पानी रुई के फोये से नासा में ग्रहण करे।

गर्भ स्थिर रखने के लिये इन उपायों में से किसी उपाय का भी अवलम्ब करने से पहले किसी योग्य चिकित्सक का परामर्श लेना अत्यन्त उपयोगी है। हमने इन उपायों का उल्लेख सिर्फ इस बात की तरफ ध्यान खींचने के लिये किया है कि पुंसवन-संस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भ स्थित हो जाने के बाद गर्भ को स्थिर रखने के लिये भरपूर प्रयत्न करना है—वह भले ही इन औषधियों से हो, अथवा अन्य किन्हीं औषधियों से हो। ऋषि दयानन्द ने जो-कुछ लिखा है वह गर्भवती स्त्री को पुष्टि के लिये क्या खाना चाहिये—इसपर सुश्रुत का कथन लिखा है।

४. गर्भवती को पुष्टि के लिये क्या-कुछ खाना चाहिये ?

(सूत्र ७०) : प्रथम मास में बिना औषधि का ठण्डा किया हुआ दूध पीये और प्रातः-सायं हितकारी भोजन करे।

(सूत्र ७१) : दूसरे महीने गर्भवती स्त्री को औषधियों से सिद्ध किया हुआ दूध पीने को दे। उदाहरणार्थ, छुआरा, इलायची आदि को दूध में पका कर दे। तीसरे महीने दूध में दो छोटे चम्मच शहद और एक चम्मच घी दूध में डालकर पीये। घी और शहद समभाग नहीं होने चाहिएँ। चौथी महीने में दूध में एक तोला ताजा मक्खन मिलाकर पीये। पाँचवें महीने में दूध में घी डालकर पीये। छठे तथा सातवें महीने किशमिश, छुआरा, इलायची मिश्रित दूध में कुछ घी डालकर पीये।

(सूत्र ७२) : सातवें महीने में खोज होने लगती है, खासकर पेट की त्वचा को फाड़ देनेवाली खाज होती है। इस समय स्त्री के स्तनों तथा पेट पर चन्दन और कमल के काढ़े को मले, अथवा सिरस का छिलका धावे के फूल, सरसों और मुलैठी के चूर्ण से सिद्ध किया हुआ तेल स्तनों और पेट पर मले। नाखून से खाज न करे, जहाँ तक हो सके खुजली को सहे, न सह सके तो जहाँ खुजली होती हो वहाँ धीरे-धीरे हाथ फेरे। उस समय मधुर तथा वात-नाशक आहार को थोड़ी चिकनाई मिलाकर खाये, नमक बहुत थोड़ा खाये तथा जल भी समय-समय पर पीती रहे।

(सूत्र ७३) : आठवें महीने में दूध में सिद्ध की हुई यवागू को घृत-युक्त कर समय-समय पर पीये।

गर्भ की समाप्ति के दिनों में कब्ज न होने दे। कब्ज को दूर करने के लिये दूध के साथ गुलकन्द का इस्तेमाल करे।

५. पति द्वारा पत्नी का हृदय-स्पर्श

हृदय अनुभव का स्थान है। पति-पत्नी में हृदय की एकता होनी चाहिये—इसी भाव को व्यक्त करने के लिये पति-पत्नी के हृदय का स्पर्श करता है। पति द्वारा पत्नी के हृदय का इस प्रकार घर-बार के लोगों, कुटुम्बियों तथा दोस्त-मित्रों के सामने स्पर्श करना उसकी तरफ से इस बात की सार्वजनिक घोषणा है कि वह अपनी पत्नी को हृदय से प्रेम करता है और इस क्रिया को सार्वजनिक संस्कार का रूप देना पति की तरफ से इस बात की घोषणा करना है कि वह अपने जीवन में ऐसा कोई काम नहीं करेगा, जिससे उसकी पत्नी के हृदय को ठेस पहुँचे। जिसके प्रति प्रेम होता है, उसके प्रति त्याग, तपस्या—सभी-कुछ करना पड़ता है, इसलिये गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करते हुए पति जब अपनी पत्नी के हृदय को पुंसवन संस्कार के समय स्पर्श करता है, तब सब लोगों के सामने एक बड़ी भारी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता है।

एक-दूसरे के प्रति प्रेम की सार्वजनिक घोषणा के अतिरिक्त ये दोनों एक-दूसरे के प्रति यह भी प्रतिज्ञा करते हैं कि वे सन्तान की सुख-सुविधा, उसके लालन-पालन के लिये कुछ न उठा रखेंगे। पत्नी कहती है कि वह ऐसा कुछ न करेगी जिससे वह 'पौत्रमघा' कहालये, साथ ही पति भी कहता है कि वह ऐसा-कुछ नहीं करेगा, जिससे वह 'पौत्रमघः' कहलाये। 'पौत्र' का अर्थ है—'पुत्र सम्बन्धी', 'अघः' का अर्थ है—नाश, दुःख। दोनों एक-दूसरे के साथ वायदा करते हैं कि वे एक-दूसरे के प्रति ही नहीं, सन्तान के प्रति भी अपनी जिम्मेदारी निभायेंगे।

६. पुंसवन-संस्कार कब करना चाहिये

पुंसवन-संस्कार के दो अर्थ हो सकते हैं। एक अर्थ तो यह है कि माता-पिता की यह इच्छा है कि जो सन्तान हो वह पुत्र हो, कन्या न हो, दूसरा अर्थ यह कि सन्तान 'पुरुषत्व' युक्त हो—भले ही वह पुत्र हो या पुत्री हो। 'पुरुषत्व' का अर्थ है—पौरुषवाली, हृष्ट-पुष्ट, बलवान्। ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में 'पुंसवन' का अर्थ 'सन्तान पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ प्राप्त करे'—यह किया है। वैदिक-संस्कृति में पुत्र तथा पुत्री की आपस की सामाजिक-स्थिति में कोई भेद नहीं था—इसलिये 'पुंसवन' का अर्थ पौरुषयुक्त सन्तान—यह करना ही उचित है।

चाहे पुंसवन का अर्थ पुत्र करें या पौरुषयुक्त, बलिष्ट सन्तान करें, हर हालत में पुंसवन-संस्कार तब करना चाहिये जब गर्भस्थित होने का निश्चय हो जाए। तभी लिखा है—"**लब्धगर्भां चैनां विदित्वा प्राक् व्यक्तीभावात् गर्भस्य पुष्ये पुंसवनादि**

प्रयुंजीत।''—अर्थात्, जब यह निश्चय हो जाए कि गर्भ स्थिर हो गया है, गर्भ-स्थिति के लक्षण व्यक्त होने लगे हैं तब पुष्य-नक्षत्र में पुंसवन-संस्कार करें। चरक में लिखा है—''**प्रथमे मासि संमूर्छितः सर्वधातुकलनीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्त विग्रहः सदसद् भूतांगावयवः। द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते पिंडः पेशी अर्बुदंवा। तत्र पिंडः पुरुषः स्त्री पेशी अर्बुदं नपुंसकम्। तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च योगमद्येन अभिनिवर्तन्ते**''—अर्थात्, प्रथम मास में स्त्री-बीज और पुरुष-बीज के मिलने पर जो कुछ बनता है वह अस्पष्ट शरीर वाला होता है, इसमें अंग-प्रत्यंग होते हुए भी नहीं दीखते—हैं या नहीं यह भ्रम रहता है—दूसरे महीने में इसका आकार पिंडाकार, 'पेशी' (Muscle) के समान लम्बा या 'अर्बुद' (Tumor) के समान होता है। पिंडाकार हो तो पुरुष, पेशी का आकार हो तो स्त्री, अर्बुद का आकार हो तो नपुंसक सन्तान होती है। तीसरे महीने सब अंग-प्रत्यंग एक-साथ बनते हैं।

गर्भ के स्थित होने तथा अंग-प्रत्यंग के व्यक्त रूप से स्पष्ट बनने का समय दूसरा या तीसरा महीना है, इसलिये ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में पुंसवन संस्कार करने के लिये गर्भ-स्थिति होने के बाद दूसरे या तीसरे महीने का निर्देश दिया है।

जो लोग 'पुंसवन' का यह अर्थ करते हैं कि यह संस्कार पुत्र की उत्पत्ति को ध्यान में रख कर बनाया गया है, वे इस बात को भूल जाते हैं कि सन्तान का पुत्र या पुत्री होना गर्भ स्थित हो जाने के बाद अदला-बदला नहीं जा सकता। पुत्र होगा या पुत्री होगी—यह तो गर्भ ठहर जाने के समय ही निश्चित हो जाता है, गर्भ स्थिर हो जाने पर उसमें बदलाहट नहीं हो सकती, जो कुछ हो सकता है वह गर्भ-स्थिति के पहले ही हो सकता है, बाद को नहीं।

सन्तान पुत्र हो या पुत्री हो—इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि क्या पुत्र अथवा पुत्री होना अपने हाथ में है? गर्भ स्थिर हो जाने के बाद पुंसवन-संस्कार इस उद्देश्य से करना कि हम गर्भस्थ-सन्तान को किसी उपाय से पुत्र बना दें, कन्या न बनने दें—यह सब व्यर्थ की बात है। अगर कुछ हो सकता है, तो वह गर्भाधान की क्रिया के पहले ही हो सकता है, गर्भ स्थित हो जाने के बाद कुछ नहीं हो सकता। गर्भाधान होने के पहले जो-कुछ हो सकता है उसका हम गर्भाधान-संस्कार के प्रकरण में जहाँ 'पुत्र अथवा कन्या की उत्पत्ति' का विचार किया गया है वहाँ जिक्र कर आये हैं। इनमें एक मत है कि स्त्री के आर्तव की अधिकता से कन्या, पुरुष के वीर्य की अधिकता से पुत्र तथा दोनों की समानता से नपुंसक सन्तान होती है—'तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यात् उभयोः नपुंसकमिति'; दूसरा मत है कि पुरुष के दायें अण्डकोश से आये बीज (Sperm) से पुत्र, बायें अण्डकोश से आये बीज से कन्या होती है, तीसरा मत है कि स्त्री के दायें डिंब से आये बीज

(Ovum) से पुत्र, बायें डिम्ब से आये बीज से कन्या होती है। इन सब मतों में अभी तक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा मत ठीक है, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि अगर कभी सन्तान का पुरुष या स्त्री होना अपने हाथ में आ सकेगा, तो यह तभी सम्भव होगा जब गर्भाधान से पहले 'पुरुष-बीज' (Sperm) तथा 'स्त्री-बीज' (Ovum) की आन्तरिक रचना के सेक्स-निर्माण-सम्बन्धी परिवर्तनों को वैज्ञानिक-दृष्टि से हम अपने अधीन कर सकेंगे।

पुंसवन-संस्कार तथा सीमन्तोन्नयन-संस्कार हमारे समाज से लुप्त-प्राय हो गये हैं, परन्तु फिर भी वे विकृत रूप में अब भी पाये जाते हैं। पंजाब में पुंसवन को 'छोटी रीतें चढ़ना' और सीमन्तोन्नयन को 'श्रीमन्तसंस्कार' या 'बड़ी रीतों चढ़ना' कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि किसी समय ये संस्कार अपने देश में आम प्रचलित थे।

७. गर्भ के गिरने की आशंका

गर्भ प्रायः २८० दिन रहकर जन्म लेता है। क्योंकि चान्द्रमास २८ दिन का माना जाता है, इसलिये १० चान्द्रमासों अथवा २८० दिन बाद बच्चा जन्म लेता है। जब सौर-मास से गणना की जाय तब ९ मास बाद जन्म लेने की बात कही जाती है। गर्भ गिरने की सम्भावना तीसरे या सातवें महीने अधिक होती है। गर्भपात में निम्न होम्योपैथिक औषधियाँ उपयोगी हैं—

(१) वाइबरनम (मूल अर्क)—बार-बार और शुरुआत में गर्भपात की आशंका में उपयोगी है। किसी प्रकार के भी गर्भपात की आशंका हो, तो उसे रोक देती है। अनेक होम्योपैथ इस औषधि के मूल-अर्क को गर्भपात के रोकने में स्पेसिफिक समझते हैं। इस औषधि के दस बूंद गुनगुने पानी में दिन में एक बार लेने चाहियें।

(२) सैबाइना, ३०—तीसरे महीने गर्भपात की आशंका में यह दी जाती है। तीसरे महीने गर्भपात की आशंका में सैबाइना तथा बेलाडोना दोनों उपयोगी हैं। तीसरे महीने के गर्भपात में सिकेल कौर भी लाभप्रद है।

(३) सीपिया, ३०—तीसरे, पाँचवें तथा सातवें मास में गर्भपात की आशंका में उपयोगी है।

मूल-अर्क की १० बूंद दिन में तीन बार दी जा सकती हैं, ३० शक्ति की औषधि की गोलियाँ दिन में तीन-चार बार दी जा सकती हैं। एक ही औषधि का एक बार में उपयोग करना चाहिये। औषधि दो-तीन दिन देकर ही देखना चाहिये, लगातार नहीं।

इति पुंसवनसंस्कारविवेचनात्मक भागः

पुंसवन संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

पुंसवन-संस्कार का समय गर्भ स्थिर हो जाने का ज्ञान हो जाने के समय के दूसरे या तीसरे महीने में है। उसी समय पुंसवन-संस्कार करना चाहिये जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे। यावत् बालक के जन्म हुए पश्चात् दो महीने न बीत जावें, तबतक पुरुष ब्रह्मचारी रहकर स्वप्न में भी वीर्य को नष्ट न होने देवे। भोजन, छादन, शयन, जागरणादि व्यवहार उसी प्रकार से करे जिससे वीर्य स्थिर रहे और दूसरी सन्तान भी उत्तम होवे।

इसके आगे संस्कारविधि में लिखा है—''गर्भ के दूसरे वा तीसरे महीने वट-वृक्ष की जटा वा उसकी पत्ती लेकर स्त्री को दक्षिण नासा-पुट में सुँघावे और कुछ अन्य पुष्ट अर्थात् गडुच जो गिलोय या ब्राह्मी औषध है वह खिलावे।''

(१) जो सामान जुटाकर रखना चाहिये। —देखो पृष्ठ ६९-७०

(२) इस संस्कार के लिये विशेष सामान—वट-वृक्ष की कोपलें तथा गिलोय भी होनी चाहिये—स्त्री के दक्षिण नासापुट में सुँघाने के लिये।

[ऋत्विग्वरण तथा यज्ञारम्भ]

संस्कार प्रारम्भ करते हुए पहले '**ऋत्विग्वरण**' (पृष्ठ ७१) की विधि के अनुसार यज्ञ करानेवाले ऋत्विज् का वरण करे। ऋत्विज् (होता या पुरोहित) यज्ञ-वेदी से पश्चिमासन एवं पूर्वाभिमुख बैठे, यजमान दक्षिणासन एवं उत्तराभिमुख बैठे। यजमान पत्नी-पति के दक्षिण पार्श्व में बैठे।

ऋत्विग्वरण के बाद '**आचमन-मन्त्र**' (पृष्ठ ७१) पढ़कर आचमन करें, फिर '**अंग-स्पर्श**' (पृष्ठ ७२) के मन्त्र पढ़कर अंगों का स्पर्श करें, फिर '**ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना**' (ओ३म् विश्वानि देव सवितः आदि, पृष्ठ ३५); 'स्वस्तिवाचन' (अग्निमीडे पुरोहितम् आदि, पृष्ठ ३९); 'शान्तिकरण' (शं न इन्द्राग्नी आदि, पृष्ठ ५५) का पाठ करें।

इसके अनन्तर यजमान या पुरोहित यज्ञ-कुण्ड में समिधाचयन कर '**अग्न्याधान**' (पृष्ठ ७२) '**अग्नि-प्रदीपन**' (पृष्ठ ७३) तथा '**समिदाधान**' (ओम् अयन्त इध्म आत्मा+समिधाग्निं दुवस्यत+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिः, पृष्ठ ७४-७७) के मन्त्रों से यज्ञ प्रारम्भ करें और '**जल-सिंचन**' (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व आदि, ७७) के निम्न ४ मन्त्रों से निम्न प्रकार यज्ञ-वेदी के चारों ओर जल सिंचन (जल छिटकना) करें—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व॥ १ ॥—इस मन्त्र से यज्ञ-वेदी के पूर्व में जल छिटकें

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥ २॥ —इससे पश्चिम में और

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व॥ ३॥ —इससे उत्तर में जल छिटकें

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥ ४॥

—इससे वेदी के चारों ओर।

[जल-सिंचन के बाद निम्न ४ आघारावाज्यभागाहुतियाँ दें]

ओम् अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥
इससे वेदी के उत्तर भाग में अग्नि में आहुति दें,

ओं सोमाय स्वाहा॥ इदं सोमाय—इदन्न मम॥ २॥
इससे वेदी के दक्षिण भाग में आहुति दें,

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥ ३॥
इससे वेदी के मध्य-भाग में आहुति दें,

ओम् इन्द्राय स्वाहा॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम॥ ४॥
इससे वेदी के मध्य-भाग में आहुति दें। मध्य-भाग में दो आहुतियाँ।

[४ आघारावाज्यभागाहुतियों के बाद निम्न ४ व्याहृति आहुतियाँ दें]

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥ १॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदं न मम॥ २॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय—इदं न मम॥ ३॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा॥
इदमग्नि वाय्वादित्येभ्यः इदं न मम॥ ४॥

[४ व्याहृति आहुतियों के बाद १ प्राजापत्य मौन आहुति दें]

ओं प्रजापतये स्वाहा—इदं प्रजापतये इदं न मम॥[१]

[मौन आहुति के बाद १ स्विष्टकृत आहुति दें]

यों यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्ट कृद्विद्यात् सर्व स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम॥

[स्विष्टकृत् आहुति के बाद निम्न दो मन्त्रों से आहुतियाँ दें]

ओम् आ ते गर्भो योनिमेतु पुमान् बाण इवेषुधिम्।
आ वीरो जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः स्वाहा॥ १॥

—अथर्व० का० ३, सू० २३ मं० २; आश्व० गृ० १,१३,६

---

१. सामान्यप्रकरण में यह आहुति 'स्विष्टकृत्'-आहुति के बाद देने को लिखा है।

शब्दार्थ—(**ते योनिं**) तेरी योनि में (**पुमान् गर्भः**) पुरुषत्वयुक्त गर्भ (**बाणः इषुधिं इव आ एतु**) ऐसे प्राप्त हो जैसे बाण तरकस को प्राप्त होता है (**ते**) तुझे (**दशमास्यः वीरः पुत्रः आजायताम्**) गर्भकाल के अपने दस मास पूरे करके वीर पुत्र उत्पन्न हो।

भावार्थ—इस मन्त्र में दो महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं। पहली यह कि बाण जैसे तरकस में सुरक्षित रहता है, ऐसे ही तेरे गर्भ में सन्तान सुरक्षित रहे और दस मास पूरे करके उत्पन्न हो, उससे पहले उत्पन्न होने से सन्तान निर्बल होती है, उसकी सुरक्षा के लिये भी बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। दूसरी बात यह कही है कि तेरा पुत्र वीर हो, कमजोर, दुर्बल न हो। यह वैदिक-विचार कि सन्तान वीर होनी चाहिये, कायर नहीं, वैदिक-संस्कृति में इतना गहरा चला गया था कि पंजाबी भाषा में तो बहिन अपने भाई को 'वीरा' कहकर पुकारती है।

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानां सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्।
तदयं राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयं स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा॥ २॥

—आश्व० गृ० १, १३, ६

शब्दार्थ—(**देवतानाम्**) देवताओं में (**प्रथमः**) सर्वोच्च-स्थानीय (**अग्निः**) अग्नि है, उष्णता है, वह (**एतु**) आये और वह (**अस्यै**) इसकी (**प्रजाम्**) सन्तति को (**मृत्युपाशात् मुञ्चतु**) मौत के पंजे से छुड़ाये (**तत्**) इस बात का (**अयं राजा वरुणः**) इस देश का जनता के मत से वरण किया हुआ, चुना हुआ 'वरुण' राजा (**अनुमन्यताम्**) अनुमोदन करे—अर्थात्, यह उसकी जिम्मेवारी है कि सर्दी से जनता को बचाने के लिये देश भर में पूर्ण प्रबन्ध करे जिससे (**इयं स्त्री**) यह स्त्री जो सन्तान उत्पन्न करनेवाली है (**पौत्रम् अघं**) पुत्र के वियोग रूपी दुःख में (**न रोदात्**) न रोये।

भावार्थ—इस मन्त्र में देश के राजा को 'वरुण' कहा गया है। 'वरुण' का अर्थ है—जिसका वरण किया गया है, जिसे सबने मिलकर मत-दान से चुना है। ऐसे राजा का कर्त्तव्य है कि जनता की सुख-सुविधा के लिये सब तरह का प्रयत्न करे, ऐसा करे कि देश में कोई गर्भ साधनों के अभाव होने के कारण न गिरे, न दस मास से पहले उत्पन्न हो। 'अग्नि'-शब्द के प्रयोग का अर्थ है कि देश में सर्दी से कोई न मरे।

[पति द्वारा पत्नी का हृदय-स्पर्श]

उक्त दो मन्त्रों से आहुति देने के पश्चात् पति एकान्त में पत्नी के हृदय पर हाथ धर कर निम्नलिखित मन्त्र बोले—

ओं यत्ते सुसीमे हृदये हितवन्तः प्रजापतौ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं माहं पौत्रमघं नियाम्॥ —आश्व० गृ० १,१३,७

शब्दार्थ—पिछले मन्त्र में कहा कि राज्य की तरफ से ऐसा कोई कार्य न हो जिससे स्त्री को पुत्र-विनाश के दु:ख से रोना पड़े। इस मन्त्र में पति कहता है कि उसकी तरफ से भी कोई ऐसाकार्य नहीं होगा, जिससे उसे पुत्र के नाश से दु:खित होना पड़े। सन्तान के नाश होने में तीन ही तो कारण हो सकते हैं—स्त्री स्वयं, उसका पति या राज्य की कुव्यवस्था। इस मन्त्र का यह भाव है कि इन तीनों की तरफ से सन्तान के पालन की पूरी-पूरी व्यवस्था होगी, इन तीनों की जिम्मेवारी होगी कि सन्तान को अपने विकास के लिये सब सुख-सुविधा प्राप्त हो।

[यज्ञ-समाप्ति-महावामदेव्यगान]

हृदय-स्पर्श के मन्त्र के पढ़ने के बाद **'सर्वं वै पूर्णं स्वाहा'** से पूर्णाहुति देकर उसके बाद सामवेद का महावामदेव्यगान **(ओं भूर्भुवः स्वः। कया नश्चित्र आ भुवदूती** इत्यादि जो सामान्यप्रकरण के अन्त में मंगलकार्य के शीर्षक से दिया हुआ है, पृष्ठ ....) गावें और जो-जो पुरुष व सभी संस्कार के समय पर आये हों उनका यथायोग्य सत्कार करके उन्हें विदा करें।

[यज्ञ-समाप्ति और सबके विदा होने के बाद की विधि]

पुनः वट-वृक्ष के कोमल कूपल और गिलोय को महीन पीसकर कपड़े से छान गर्भिणी स्त्री के दक्षिण नासा पुट में सुँधावे। तत्पश्चात् पति निम्न दो मन्त्र बोले—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽ आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १ ॥

शब्दार्थ—**(अग्रे)** भौतिक-जगत् की उत्पत्ति होने से पूर्व **(हिरण्यगर्भः समवर्तत)** जो गर्भ के रूप में सृष्टि थी उसका रूप हिरण्मय था, प्रकाशमय था। **(भूतस्य जातः पतिः एकः आसीत्)** उस हिरण्य-गर्भ से जो सृष्टि उत्पन्न हुई उसका उत्पादन तथा पालनहारा पति एक परमेश्वर ही था। सृष्टि जो उत्पन्न हुई उसका रूप था—द्युलोक तथा पृथिवीलोक। **(सः दाधार इमां पृथिवीं उत् द्याम्)** सृष्टि-रूप हिरण्मय-गर्भ से जो यह महान् जमीन और आस्मान में जगमगाहट करनेवाले सूर्य-चन्द्र-तारे उत्पन्न हुए उनका धारण करनेवाला वही था जिसने सृष्टि का गर्भाधान किया था। **(कस्मै)** उस सुख-स्वरूप की **(हविषा विधेम)** हम हवि से स्तुति करते हैं।

भावार्थ—क्योंकि पुंसवन संस्कार उत्पत्ति का संस्कार है, इसलिये भौतिक-जगत् की उत्पत्ति का इस मन्त्र में वर्णन किया गया है। सन्तानोत्पत्ति में पहले गर्भ होता है इसलिये सृष्टि के गर्भ का वर्णन करते हुए कहा है कि कोई समय था जब यह द्यु और पृथिवी गर्भावस्था में थे। क्योंकि सूर्यादि हिरण्मय है, इसलिये सृष्टि का जो आदि गर्भ था वह हिरण्मय था। उत्पादन में पत्नी और पति होते हैं, इसलिये इस गर्भ के पति का उल्लेख करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि वह एक पति परमात्मा

था। उस गर्भ से जो सन्तान हुई उसका रूप पृथ्वी और द्युलोक थे। गर्भ से उत्पन्न सन्तान का पालन किया जाता है, उसका पालनहारा वही पति था—उसको नमस्कार है।

अद्भ्यः संभृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे॥ २॥

—यजु० अ० ३१, मं० १७; पार० गृ० १,१४,२

शब्दार्थ—पहले मन्त्र में जड़-जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है, दूसरे में चेतन-प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है। **(पृथिव्यै)** पार्थिव-जगत् में जीने के लिये **(अद्भ्यः संभृतं)** पानी से चारों तरफ से घिरा हुआ **(विश्वकर्मणः रसाच्च संभृतं)** विश्वकर्मा जिन रसों से गर्भ का पालन करता है उन रसों से भी घिरा हुआ गर्भ **(अग्रे समवर्तत)** पहले था। **(तस्य रूपम्)** उसका विविध रूप **(त्वष्टा)** वह शिल्पकार **(विदधत्)** बनाता है **(तत् मर्त्यस्य)** वह त्वष्टा मरणधर्मा मनुष्य का रूप **(अग्रे)** शुरु में **(देवत्वम् आजानम्)** देव बनने के लिये पैदा करता है।

भावार्थ—चेतन प्राणी की उत्पत्ति कैसे होती है? गर्भावस्था में भ्रूण पानी से तथा शरीर का पोषण करनेवाले रसों से घिरा होता है, उसका कोई निश्चित रूप नहीं होता। विकासवादी कहते हैं कि वह भिन्न-भिन्न आकृतियों में से गुजरता है। यह सब वही 'त्वष्टा'—कारीगर—करता है। पहले-पहले इस मर्त्य को वह गर्भ में मानव-योनि में इसलिये डालता है ताकि वह मनुष्य से देव बने। आगे कर्मों के अनुसार जैसा उसने बनना होता है बन जाता है।

[एकान्त में पत्नी के पेट पर हाथ रखकर पति यह मन्त्र पढ़े]

सुपर्णोऽसि गरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ।
स्तोमऽ आत्मा छन्दाᳪस्यङ्गानि यजूᳪषि नाम।
साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः।
सुपर्णोऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत॥

—यजु० अ० १२, मं० ४; पा० १, १४, ५

शब्दार्थ—गर्भ में स्थित जीव को सम्बोधन करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि हे गर्भस्थ जीव! तू **(सुपर्णः)** सुन्दर पंखोंवाले **(गुरुत्मान् असि)** पक्षी के समान है। **(ते शिरः त्रिवृत्)** तेरा मस्तिष्क तीन प्रकार से बरत सके—ज्ञान, कर्म तथा उपासना द्वारा तू सृष्टि में व्यवहार कर सके। **(गायत्रं ते चक्षुः)** जहाँ तक 'ज्ञान' का सम्बन्ध है तेरे देखने—'ज्ञान'—का दृष्टिकोण गायत्री हो; **(बृहत् रथन्तरे ते पक्षौ)** जहाँ तक 'कर्म' का सम्बन्ध है पक्षी के दो पंखों—कर्म-साधक साधनों—की तरह बड़े-बड़े रथ के पहियों के वेग के समान कर्मशीलता तेरा साथ दे; **(स्तोमः ते आत्म)** जहाँ तक 'उपासना' का सम्बन्ध है परमात्मा का स्तोम—स्तुति—तेरा

आत्मा बने। **(यजूंषि नाम छन्दांसि ते अंगानि)** तेरे अंग-प्रत्यंग यजुर्वेद के छन्द हैं; **(वामदेव्यम् साम ते तनुः)** सामवेद का वाम—सुन्दर—गान तेरा तनुः—शरीर है; **(यज्ञायज्ञियम् पुच्छम्)** यज्ञ में कुछ काम करने योग्य हैं, कुछ त्यागने योग्य हैं, करने योग्य 'यज्ञ' तथा त्यागने योग्य 'अयज्ञ' कहे गये हैं—ये दोनों प्रकार के कर्म पक्षी की पूँछ के समान हैं; **(शफाः धिष्ण्याः)** जैसे पक्षी के खुर होते हैं, उन पर वह ठहरता है, इसी प्रकार तेरी '**धिष्ण्याः**'—घी अर्थात् बुद्धि रूपी तेरे स्थिर आधार तेरे खुर समान हों। **(सुपर्णोऽसि गरुत्मान्)** हे सुन्दर पक्षी के समान सुन्दर सन्तान **(दिवं गच्छ)** जैसे पक्षी भूलोक से आसमान में उड़ता है तू भी दिव्यगुणों को प्राप्त करने के लिये उड़ान भर और **(स्वः पत)** सुख को प्राप्त कर।

भावार्थ—इस मन्त्र में गर्भगत-सन्तान की सर्वांग सुन्दर पक्षी के साथ तुलना की गई है जिसके सिर, पंख, अंग-प्रत्यंग सब सुन्दर तथा स्वस्थ हैं, जो जन्म लेकर अपने यौवन-काल में पृथिवी से उड़ान भर कर आसमान में उड़ा-फिरता है। इसी प्रकार प्रत्येक गृहस्थी ऐसी सन्तान को जन्म दे जो इस भूतल पर उत्पन्न होकर अमर, दिव्य जीवन की उड़ान भरे। भौतिक-जीवन आध्यात्मिक-जीवन की उड़ान लेने के लिये है—यह इस मन्त्र का आशय है। आसमान में उड़नेवाले पक्षी के साथ तुलना करते-करते साथ-साथ यह भी कह दिया है कि जीवन का यापन तीन मार्गों से होता है—ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग तथा उपासनामार्ग। मनोविज्ञान में मन के तीन पक्ष माने जाते हैं—'ज्ञान' (Knowing), 'संवेदन' (Emotion) तथा 'क्रिया' (Will) हमारे हर कार्य में इन तीनों का समावेश होता है। हमें काँटा चुभा—इसमें इस बात का जानना कि काँटा चुभा है, बिच्छू नहीं लड़ा—'ज्ञान' है; काँटा चुभने पर दर्द होना—यह 'संवेदन' है; इसके बाद काँटे को निकाल देने का यत्न करना—यह 'क्रिया' है। संसार में कई लोग सिर्फ ज्ञान-प्रधान रह जाते हैं, जिन्हें पोथापन्थी कहा जा सकता है; कई सिर्फ संवेदन-प्रधान रह जाते हैं, जिन्हें भगतजी कहा जा सकता है; कई सोचना नहीं जानते, करना ही जानते हैं, जिन्हें पहलवानजी कहा जा सकता है। जीवन हमारा एक पहलू नहीं है, ज्ञान, संवेदन तथा क्रिया—तीनों मिलकर जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

इति पुंसवनसंस्कारविधिः समाप्तः

अथ सीमन्तोन्नयनम्

[विवेचनात्मक भाग]

पुंसवन-संस्कार के विषय में हम लिख आये हैं कि यह संस्कार माता का ध्यान सन्तान के शारीरिक-विकास पर केन्द्रित कर देने के लिये है। जब तक सन्तान माता के पेट में बढ़ रही होती है तब तक उसके शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के विकास के लिये माता को ही माध्यम बनाया जा सकता है। सन्तान का शारीरिक-विकास हो—इसलिये पुंसवन-संस्कार और उसका मानसिक-विकास हो—इसलिये सीमन्तोन्नयन-संस्कार—यह योजना थी संस्कार-प्रणाली को प्रचलित करनेवालों की।

१. 'सीमन्त' का अर्थ क्या है?

सुश्रुत, शारीर स्थान, ६ अध्याय में लिखा है—'**पंच संधयः शिरसि विभक्ताः सीमान्ताः, तत्राघाते वा उन्मादभयचेष्टानाशैः मरणम्**'—अर्थात्, सिर पाँच संधियों में बँटा हुआ है, उनमें चोट लगने से, उन्माद होने से, भय से, चेष्टा न कर सकने से मनुष्य मर जाता है। सिर की खोपड़ी की संधियों के कारण उसे 'सीमन्त' कहते हैं। सिर में मस्तिष्क रहता है, जिससे हम सोचते-विचारते हैं। सीमन्तोन्नयन का अर्थ हुआ—मस्तिष्क का उन्नयन, अर्थात् ऊपर को जाना, मस्तिष्क का विकास। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सीमन्तोन्नयन संस्कार' का अर्थ हुआ—ऐसा संस्कार जिसमें माता का ध्यान मस्तिष्क के विकास पर केन्द्रित हो जाता है। पुंसवन-संस्कार शारीरिक-विकास (Physical development) का संस्कार है, सीमन्तोन्नयन-संस्कार मानसिक-विकास (Mental development) का संस्कार है। इन दोनों संस्कारों में गर्भस्थ-सन्तान का शारीरिक तथा मानसिक सब-कुछ आ जाता है।

संस्कारविधि में लिखा है कि सीमन्तोन्नयन-संस्कार में पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्धित तेल डाले, कंघी से सुधारे, पट्टी निकाले, जूड़ा सुन्दर बाँध कर दोनों यज्ञशाला में आयें। इसका अभिप्राय यही है कि इस समय पति तथा पत्नी दोनों का ध्यान अपने तथा सन्तान के मानसिक-विकास पर केन्द्रित हो जाना चाहिये, उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि सन्तान का मानसिक-विकास उनके अपने ऊपर निर्भर करेगा, जैसा मानसिक-जीवन वे व्यतीत करेंगे उसी की छाप उनकी सन्तान पर पड़ेगी। शास्त्रकारों ने माता को एक ऐसा सांचा माना था, जिसमें माता-पिता जैसी सन्तान चाहते उसे वैसा ढाल सकते हैं। इस समय को अगर हाथ से खो दिया, तो सन्तान के जन्म लेने के बाद बाहर की अच्छी या बुरी परिस्थिति का प्रभाव प्रबल रूप धारण कर लेता है।

२. सीमन्तोन्नयन-संस्कार ४थे, ६ठे या ८वें मास क्यों करना चाहिये ?

(१) चौथे महीने का कारण—जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, सीमन्तोन्नयन संस्कार का अभिप्राय माता-पिता के ध्यान को सन्तान के मानसिक-विकास पर केन्द्रित कर देना है। इससे यह स्पष्ट है कि सीमन्तोन्नयन संस्कार का सर्वोत्तम समय वह है जब गर्भस्थ-सन्तान के मस्तिष्क के 'कोशों' (Cells) का निर्माण होने लगता है। सुश्रुत के शारीर-स्थान में लिखा है—

''पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति। षष्ठे बुद्धिः। सप्तमे सर्वाङ्ग प्रत्यंग विभागः प्रव्यक्ततरः। अष्टमेऽस्थिरी भवति ओजः। तत्र जातः चेन्न जीवेत् निरोजस्त्वात्।''

अर्थात् पाँचवें महीने में मन अधिक जागृत हो जाता है, छठे महीने में बुद्धि, सातवें में अंग-प्रत्यंग अधिक व्यक्त होने लगते हैं, आठवें महीने में ओज अस्थिर रहता है, आठवें महीने में उत्पन्न बच्चा ओज न रहने से जीता नहीं। इस कथन से स्पष्ट है कि सुश्रुत के अनुसार पाँचवें महीने में गर्भस्थ सन्तान का मन पहले से अधिक प्रबुद्ध हो जाता है। पहले से अधिक का अर्थ है—चौथे महीने में मन या मस्तिष्क—Nervous system—का निर्माण होने लगता है। यही कारण है कि सीमन्तोन्नयन का समय चौथा महीना निश्चित किया गया है। तभी आश्वलायन गृह्य सूत्र अ० १, कं० १४,१ का उद्धरण देते हुए ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में लिखा है—''**चतुर्थे मासे सीमन्तोन्नयनम्**''।

(२) छठे महीने का कारण—सुश्रुत का ऊपर जो उद्धरण हम दे आये हैं उसमें '**षष्ठे बुद्धिः**' लिखा है—अर्थात् गर्भस्थ-सन्तान की छठे महीने में बुद्धि का सूत्रपात हो जाता है। आयुर्वेद के इस सिद्धान्त को आधार बनाकर छठे महीने भी सीमन्तोन्नयन संस्कार किया जा सकता है। उद्देश्य सिर्फ एक है और वह यह कि माता इस बात को समझ ले कि अब से अपनी सन्तान के मानसिक-विकास की भी जिम्मेबारी उस पर आ पड़ी है। अब से वह जो कुछ करे, यह सोच-समझकर करे कि उसके हर विचार का प्रभाव उसके भीतर प्राण ले रही सन्तान के मस्तिष्क पर अनजाने पड़ रहा है।

(३) आठवें महीने का कारण—आठवाँ महीना आ जाने पर स्त्री को 'दौहृद' कहा जाता है। 'दौहृद' का अर्थ है—जिसके दो हृदय हों, एक हृदय उसका अपना, दूसरा हृदय उसके भीतर की सन्तान का। आठवें महीने तक पहुँचते-पहुँचते सन्तान का शरीर, मस्तिष्क तथा हृदय—ये तीनों तय्यार हो जाते हैं। अगर चौथे महीने सीमन्तोन्नयन नहीं किया, तो छठे महीने कर सकते हैं, अगर छठे महीने नहीं किया तो आठवें महीने कर सकते हैं। इन तीनों महीनों में से किसी एक को चुनकर उसमें यह संस्कार करना चाहिये—चतुर्थ में इसलिये क्योंकि चौथे महीने में मस्तिष्क के 'कोश' (ष्ट्दृद्यद्यह्य) बनने शुरु हो जाते हैं, षष्ठ में इसलिये क्योंकि इसमें बुद्धि का

बीज पड़ जाता है, अष्टम में इसलिये क्योंकि आठवें महीने तक पहुँचते-पहुँचते शरीर-मन-बुद्धि-हृदय—ये चारों तय्यार हो जाते हैं। इस समय स्त्री को 'दौहृद' कहा जाता है—उसके दो हृदय काम करने लगते हैं, यही अवस्था स्त्री के लिये खतरनाक है क्योंकि प्रायः आठवें महीने की सन्तान जीती नहीं, इसलिये आठवें महीने में स्त्री को सन्तान के शरीर-मन-बुद्धि-हृदय—इन सबको स्वस्थ तथा क्रियाशील बनाये रखने की तरफ विशेष ध्यान देना है।

३. 'दौहृद' शब्द का विशेष महत्त्व

(१) माता तथा सन्तान में एक ही रक्त का प्रवाह—जब माता के गर्भ में सन्तान के हृदय की ठक-ठक सुनाई देने लगती है तब उसे दो हृदयोंवाली—**'दौहृदिनी'**—कहा जाता है। उस समय गर्भस्थ-सन्तान की चेतना व्यक्त हो जाती है। इस प्रकरण में लिखा है—

''तदा चास्य चेतना प्रव्यक्ता भवति। ततश्च प्रभृति स्पन्दते, अभिलाषं पञ्चेन्द्रियेषु करोति। मातजं चास्य हृदयं तद्रसहारिणीभिः धमनीभिः मातृहृदयेन अभि संबद्धं भवति। तस्मात् तयोः ताभिः श्रद्धा सम्पद्यते। तथा च दौहृदयां नारीं दौहृदिनी इत्यभिचक्षते।''

अर्थात्, ज्यों-ज्यों गर्भस्थ-सन्तान की बढ़ती होने लगती है, त्यों-त्यों उसमें चेतना अभिव्यक्त होने लगती है। तब से गर्भ में स्पन्दन होने लगता है, पाँचों इन्द्रियों में अभिलाषा—इच्छा—होने लगती है। इसका हृदय माता के बीज से उत्पन्न होता है। यह हृदय रस लाने ले जानेवाली 'धमनियों' (Arteries) द्वारा माता के हृदय से जुड़ा होता है, यही कारण है कि माता तथा सन्तान की एक-समान रुचि, एक-समान इच्छा होती है। इस समय माता को जो इच्छा होती है उसे सन्तान की ही इच्छा समझना चाहिये। माता का अपना हृदय तथा सन्तान का हृदय धमनियों द्वारा सम्पर्क में रहते हैं, इसीलिये गर्भवती स्त्री को 'दौहृदिनी' कहा है। प्रायः देखा जाता है कि गर्भावस्था में तथा उसके बाद भी माताएँ चाक-चूना खाया करती हैं, बच्चे भी चाक-चूना खाया करते हैं। इसका कारण यही है कि बच्चे को वृद्धि के लिये कैलसियम की जरूरत होती है। माता के पेट में वह माता के शरीर से कैलसियम ग्रहण करता है, इस प्रकार कैलसियम की कमी हो जाने के कारण माता को कैलसियम खाने में रुचि होती है, बच्चे को भी इसकी जरूरत होती है, इसलिये वह भी चाक-चूना खाया करता है। इसके लिये सर्वोत्तम औषधि बायोकैमिस्ट्री का कैलकेरिया फॉस, ६3 है। इसकी ४-५ गोली दिन में ४-५ बार लेने से बच्चे की कैलसियम की कमी दूर हो जाती है।

(२) माता तथा सन्तान की इच्छा का पारस्परिक सम्बन्ध—गर्भावस्था में माता को चौथे महीने में भिन्न-भिन्न पदार्थों को खाने की ही नहीं, मानसिक-दृष्टि से

भी उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं का उदय होने लगता है। इसका कारण भी यही है कि चौथे महीने में गर्भस्थ-सन्तान का मन अपने पूर्व-जन्म के संस्कारों के कारण क्रियाशील होने लगता है। पिछले जन्म के संस्कार धुँधले तौर पर सामने आने लगते हैं, वे माता को भी प्रभावित करते हैं और इन्हीं के कारण माता में भिन्न-भिन्न संकल्प-विकल्प उठते हैं। यह समय है, जब सन्तान पर अपने संस्कारों की छाप डाल देना माता के अपने हाथ में है। गर्भ-काल में दो प्राणी अपने-अपने संस्कारों को एक-दूसरे पर डाल रहे होते हैं। सन्तान के पूर्व-जन्म के संस्कार छाया रूप में आये होते हैं—उसके सूक्ष्म-शरीर में होते हैं, माता के इस जन्म के संस्कार प्रबल रूप में होते हैं। इस समय दो हृदय आपस में घुले-मिले होते हैं, इस समय माता के प्रबल संस्कारों द्वारा गर्भस्थ-सन्तान के धुँधले संस्कार मिटाये भी जा सकते हैं, बढ़ाये भी जा सकते हैं। परन्तु अगर माता की तरफ से कोई प्रयत्न नहीं होता, तो सन्तान के अपने पिछले जन्म के संस्कार ही प्रबल रूप धारण कर लेते हैं। सीमन्त-संस्कार माता के गर्भ के उस ढाँचे पर प्रभाव डालने का प्रयत्न है जिसमें पड़ कर दो हृदयों के एक होने के कारण जिन संस्कारों को डालना चाहें डाला जा सकता है। इसी बात को माता-पिता के अन्त:करण में उतार देने के लिये वैदिक-संस्कृति में 'दौहृद'-शब्द का निर्माण किया गया है। गर्भवती स्त्री के हाथ में दो हृदय हैं, एक अपना, दूसरा सन्तान का। अब यह उसके हाथ में है कि अपने हृदय के भावों को वह उस समय जब सब-कुछ उसके बस में है सन्तान के हृदय पर अंकित करती है या नहीं करती। इसी में नव-मानव के निर्माण का रहस्य छिपा है।

४. माता के मानसिक-विचारों का सन्तान पर प्रभाव

मानव का नव-निर्माण हो सकता है—इस विचार को सम्मुख रखकर सोलह संस्कारों का विधान कर देना सिर्फ वैदिक-संस्कृति में पाया जाता है, अन्य किसी संस्कृति में नहीं। अगर कहीं पाया भी जाता है, तो वह वैदिक-संस्कृति से ही गया, क्योंकि नियमित तथा एक पद्धति के रूप में वह कहीं नहीं मिलता, ऐसी पद्धति के रूप में कि जन्म लेने के पहले से पद्धति शुरु हो और मरने के समय तक मनुष्य उस पद्धति में बँधा रहे। क्योंकि संस्कार-पद्धति के निर्माताओं का संस्कारों की प्रबलता पर इतना विश्वास था इसलिये उन्होंने अपने इस विश्वास को भिन्न-भिन्न तौर पर प्रकट किया है। उदाहरणार्थ, सुश्रुत के शारीर स्थान के निम्न श्लोक संस्कार-पद्धति के निर्माताओं के संस्कारों पर दृढ़ विश्वास को प्रकट करते हैं—

येषु येषु इन्द्रियार्थेषु दौहृदे वा विमानना।
प्रजायते सुतस्यार्ति तस्मिन् तस्मिन्तथैन्द्रिये॥

गर्भवती स्त्री की जिस बात में अनिच्छा होती है, उसकी सन्तान की भी उस बात में अनिच्छा हो जाती है और जिस बात में गर्भवती स्त्री की इच्छा रहा करती है

उस बात में उसकी सन्तान की भी इच्छा बन जाती है।

राजः संदर्शने यस्याः दौहृदं जायते स्त्रियाः।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते॥

जिस स्त्री को गर्भावस्था में राजा के दर्शन का दौहृद होता है—दोनों हृदयों में राजा का दर्शन हो जाता है—वह धनवान्, भाग्यवान् पुत्र को जन्म देती है।

दुकूल पट्ट कौशेय भूषणादिषु दौहृदात्।
अलंकारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते।

अच्छे-अच्छे वस्त्र, रेशमी कपड़े, आभूषणादि में जिस गर्भवती का हृदय रहता है, उसकी सन्तान के हृदय में भी इन्हीं वस्तुओं की चाह उठा करती है।

आश्रमे संयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते।
देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम्॥

जिस गर्भवती का मन आश्रमों में संयत रहता है वह धर्मशील सन्तान को जन्म देती है। जिसका मन देवताओं की प्रतिमाओं को चित्रित किया करता है वह वैसी ही सन्तान को जन्म देती है।

अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दौर्हदम्।
शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति॥

इसी प्रकार जो बातें नहीं कही गईं उन पदार्थों पर यदि गर्भवती का मन होगा, तो उसी प्रकार का शरीर, आचार-विचार, रहन-सहन उसकी सन्तान का होगा।

संस्कार-पद्धति के निर्माताओं का यह अटल विश्वास था कि माता के संस्कारों का सन्तान पर चहुँमुखा प्रभाव पड़ता है, इसलिये सीमन्तोन्नयन संस्कार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। मनु (अध्याय ९, श्लोक ९) में कहा है।

यादृशं भजते नारी सुतं सूते तथाविधम्।
तस्मात् प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत् प्रयत्नतः॥

गर्भवती स्त्री जिस प्रकार की तस्वीर अपने मन में खींच लेती है वह उसी प्रकार की सन्तान को जन्म देती है, इसलिये उत्तम सन्तान के लिये स्त्री को ऐसे वातावरण में रखना चाहिये जिससे सन्तान उत्तम तथा शुद्ध संस्कारों की हो।

माता के संस्कारों का प्रभाव सन्तान पर कितना गहरा पड़ता है इसके अनेक दृष्टान्त हम 'गर्भाधान संस्कार का वैज्ञानिक आधार'—इस अध्याय के अन्त में गर्भाधान संस्कार का महत्व के प्रकरण में दे आये हैं। किस प्रकार अभिमन्यु माता के गर्भ में चक्रव्यूह को तोड़ने के संस्कारों को लेकर पैदा हुआ था, किस प्रकार मदालसा ने अपने आठ पुत्रों को गर्भावस्था के संस्कारों से ब्रह्मर्षि बना दिया था, किस प्रकार प्रेजीडेंट गारफील्ड का घातक माँ के पेट में ही घातक संस्कारों को लेकर पैदा हुआ था, किस प्रकार नैपोलियन माँ के सैनिकों की पैरेड को देखने के

संस्कारों के कारण महान् योद्धा बन गया था, किस प्रकार माँ के संस्कारों के कारण बिस्मार्क फ्रांस का शत्रु बन गया था—ये सब दृष्टान्त सिद्ध करते हैं कि गर्भावस्था में माँ के संस्कारों की तरफ ध्यान देना सन्तान के चरित्र का निर्माण कर देना है, उसको पूर्व-निश्चित ढाँचे में ढाल देना है।

५. 'किं पश्यसि'—क्या देखती है ? 'प्रजां पश्यामि'—सन्तान को देखती हूँ!

संस्कारविधि में लिखा है कि आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डालकर गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिबिम्ब उस खिचड़ीमय-घी में देखे। उस समय पति स्त्री से पूछे—'**किं पश्यसि**'—क्या देखती है ? स्त्री उत्तर दे—'**प्रजां पश्यामि**'—सन्तान को देखती हूँ; '**पशून् पश्यामि**'—घर में गाय आदि दूध देनेवाले पशुओं को देख रही है; '**सौभाग्यं पश्यामि**'—घर में सौभाग्य उमड़ा पड़ा है, उसे देख रही हूँ; '**पत्युः दीर्घायुः पश्यामि**'—पति की दीर्घ आयु है, इसे देख रही हूँ। गोभिलीय गृह्यसूत्र के इस वाक्य में सीमन्तोन्नयन संस्कार का सार भर दिया गया है। इस समय जब गर्भस्थ-सन्तान के मस्तिष्क के कोष्ठों का निर्माण हो रहा है, उसकी माता को जिन संस्कारों में डूबा रहना है, वे हैं—सन्तान, घर का सभी तरह का सौभाग्य तथा पति के दीर्घ-जीवन की कामना। माता के सामने उसके जीवन का नक्शा खींचकर रख दिया गया है। इस समय से लेकर जबतक सन्तान का जन्म नहीं हो जाता माता को जो कुछ करना है, उसका केन्द्र-बिन्दु उसकी सन्तान है, घर का सौभाग्य है, पति का दीर्घजीवन है। यह सब वह कहाँ देखती है ? खिचड़ी के कटोरे में खूब-सा घी डालकर। कटोरे में खिचड़ी है, खिचड़ी में चावल और उड़द हैं, उसमें घी डाला गया है। चावल का रंग सफेद होता है, उड़द का रंग काला होता है, इन दोनों में घी डालने से उनमें चमक आ जाती है। चावल और उड़द ठोस हैं, घी तर है। स्त्री कहती है कि ठोस पदार्थों में, तरल पदार्थों में—सभी में मुझे सन्तान-ही-सन्तान, सौभाग्य-ही-सौभाग्य, पति-ही-पति दीख रहा है; ठोस पदार्थों में भी चावल के दाने-दाने में जिनमें सफेदी के कारण घी मिलने से चमक आ गई और उड़द के दाने-दाने में जिनमें कालेपन के होने पर भी घी मिलने के कारण वैसी चमक आ गई है—हर-किसी पदार्थ में—मुझे सन्तान, सौभाग्य और पति के सिवाय कुछ नहीं दीखता। माता का मन जब इस प्रकार सन्तान-सौभाग्य-पति के लिये रंग जाता है, तब उसे इन सबका सुख प्राप्त हो जाता है। सीमन्तोन्नयन संस्कार का उद्देश्य माता के मन को, उसके मस्तिष्क को इन विचारों से भर देना है क्योंकि जिस प्रकार के विचार प्रबल हो जाते हैं उसी प्रकार का उसका जगत् बन जाता है।

सीमन्तोन्नयन संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

गर्भ स्थिर होने का निश्चय हो जाने पर पुंसवन-संस्कार किया जाता है; तदनन्तर ४थे, ६ठे, ८वें महीने सीमन्तोन्नयन-संस्कार करें। सीमन्तोन्नयन-संस्कार की विधि ऋषि दयानन्दकृत संस्कारविधि के अनुसार निम्नलिखित है—

यह ध्यान रहे कि प्रत्येक संस्कार के प्रारम्भ करने से पूर्व निम्न वस्तुएँ तय्यार रखनी चाहिएँ, क्योंकि उनमें से किसी की भी आवश्यकता पड़ सकती है।

(१) जो सामान जुटा कर रखना चाहिये। —देखो पृष्ठ ६९-७०

(२) इस संस्कार के लिये विशेष सामान—सीमन्तोन्नयन-संस्कार में काम आने के लिये चौथाई छटाँक पका हुआ भात तथा चावल, तिल तथा उड़द या मूँग एक-एक छटाँक जिनकी खिचड़ी बन सके या पक सके। वधू के मुख-दर्शन के लिये एक छोटे कटोरे में पिघला हुआ घी। इन सब को तयार रखें।

[ऋत्विग्वरण]

उक्त तय्यारी के बाद 'ऋत्विग्वरण-विधि' (पृष्ठ ७१) के अनुसार यज्ञ करानेवालों का वरण—सुविधानुसार एक, दो, तीन, चार का वरण कर सकते हैं। जो एक हो तो उसको पुरोहित, दो हों तो उन्हें ऋत्विक् तथा पुरोहित, तीन हों तो उन्हें ऋत्विक्, पुरोहित तथा अध्यक्ष और जो चार हों तो होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा—इस प्रकार कहे जाते हैं।

इनका आसन वेदी के चारों ओर होना चाहिये। होता (पुरोहित) वेदी से पश्चिमासन एवं पूर्वाभिमुख बैठे, अध्वर्यु वेदी से उत्तरासन एवं दक्षिणाभिमुख बैठे, उद्गाता वेदी से पूर्वासन एवं पश्चिमाभिमुख बैठे, ब्रह्मा वेदी से दक्षिणासन एवं उत्तराभिमुख बैठे।

यजमान पश्चिमासन एवं पूर्वाभिमुख अथवा दक्षिणासन एवं उत्तराभिमुख बैठे। यजमान-पत्नी के दक्षिण-पार्श्व में बैठे।

[मन्त्र-पाठ तथा यज्ञारम्भ]

ऋत्विग्वरण के बाद '**आचमन-मन्त्र**' (पृष्ठ ७१) पढ़ कर आचमन करें, फिर '**अङ्ग-स्पर्श-मन्त्र**' (पृष्ठ ७२) पढ़कर अंग स्पर्श करें, फिर '**ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना**' (ओ३म् विश्वानि देव सवितः आदि, पृष्ठ ३५), '**स्वस्तिवाचन**' (अग्निमीळे पुरोहितम् आदि, पृष्ठ ३९) तथा '**शान्तिकरण**' (शं न इन्द्राग्नी आदि, पृष्ठ ५५) का पाठ करें।

इसके अनन्तर यजमान या पुरोहित यज्ञ-कुण्ड में 'ओं भूर्भुवः स्वः। ओं

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना' आदि सामान्य-प्रकरण के मन्त्रों से 'समिधाचयन' (पृष्ठ ७२) कर 'अग्न्याधान' (पृष्ठ ७२) करें—अर्थात्, यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित करें और उसके बाद के सामान्य-प्रकरण के मन्त्रों को पढ़ते-पढ़ते 'अदितेऽनुमन्यस्व' का पाठ करते हुए 'जल-सिंचन' (पृष्ठ ७७) करें और निम्न (पृष्ठ ७८) से कुण्ड के चारों ओर जलसिंचन करें—

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदत् स्वाहा॥

[खिचड़ी बनाना]

कुण्ड के चारों तरफ जलसिंचन करने के बाद '**आघारावाज्यभागाहुतियों**' (ओम् अग्नये स्वाहा से ओम् इन्द्राय स्वाहा तक, पृष्ठ ७८-७९) तथा ४ '**व्याहृति आहुतियों**' ('ओं भूरग्नये स्वाहा से ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा' तक, पृष्ठ ७९) कुल मिला कर ८ आहुतियाँ दें। इन ८ आहुतियों को देने के बाद—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं निर्वपामि॥

उपरोक्त वाक्य से पहले से जुटाये हुए चावल, तिल, मूँग या उड़द—इन तीनों को समभाग लेकर और उन्हें धोकर इन तीनों में पुष्कल घी डालकर निम्न मन्त्र से खिचड़ी बनाएँ—

ओं प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥

खिचड़ी बनाकर, उसमें पुष्कल घी डालकर निम्न ८ मन्त्रों से इस खिचड़ी की यज्ञाग्नि में ८ आहुतियाँ दें।

[खिचड़ी की ८ आहुतियाँ देना]

ओं धाता ददातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्। वयं देवस्य धीमहि सुमतिं वाजिनीवति स्वाहा॥ इदं धात्रे—इदन्न मम॥ १॥ —अथर्व० कां० १।१७।२

शब्दार्थ—हे (**वाजिनीवति**) बलशालिनी वधू! (**धाता**) सब प्रकार के बलों का धारण करनेवाला भगवान् (**दाशुषे**) देनेवाले को (**प्राचीं**) आगे-आगे बढ़नेवाली (**अक्षिताम्**) और क्षय न होनेवाली (**जीवातुम्**) जीवनी-शक्ति का (**ददातु**) प्रदान करते हैं। (**वयम्**) हम (**देवस्य**) भगवान् के (**सुमतिम्**) सुमति का (**धीमहि**) ध्यान करते हैं।

भावार्थ—यहाँ सन्तान उत्पन्न करनेवाली माता को 'बलशालिनी' कहा है क्योंकि उसके बल पर भरोसा रखकर बलशालिनी सन्तान की चाह है । वह अपने मनोबल से उत्तम-से-उत्तम संस्कारों की सन्तान को उत्पन्न कर सकती है, इसलिये भी उसे 'बाजिनीवती'—'बलशालिनी' कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि जैसी सन्तान वह चाहे वैसी उत्पन्न करना उसके हाथ में है। फिर कहा है—भगवान्, जो सब प्रकार के बलों को धारण करता है, वह तुझे ऐसा अक्षय बल—जीवनी-

शक्ति—दे जिससे तू भी उस शक्ति को आगे अपनी सन्तान को देनेवाली हो सके। शक्ति के उस अक्षय-भण्डार से जब तुझे शक्ति प्राप्त होगी, तब तू भी शक्तिशालिनी होकर आगे-आगे शक्ति का दान कर सेगी। अन्त में कहा है—हम भगवान् की सुमति का ध्यान करके उससे आराधना करते हैं कि वह अपने मनोबल से तुझे मनोबल दे, क्योंकि तेरे मनोबल पर तेरी सन्तान का मनोबल निर्भर है।

ओं धाता प्रजानामुत राय ईशे धातेदं विश्वं भुवनं जजान।
धाता कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे धात्र इद्धव्यं घृतवज्जुहोत स्वाहा॥
इदं धात्रे—इदन्न मम॥ —आश्व० गृ० १,१४,३

शब्दार्थ—वह **(प्रजानाम्)** प्राणिमात्र का **(धाता)** धारण करनेवाला है और वही **(रायः)** प्रजाओं के जीवन के लिये आवश्यक—'रायः'—भोग्य-सामग्री का **(ईशे)** स्वामी है **(धात्रा)** प्राणिमात्र को धारण करनेवाले ने **(इदम् विश्वम्)** यह संसार **(जजान)** उत्पन्न किया है **(धाता)** वही संसार को धारण करनेवाला **(कृष्टीः)** सम्पूर्ण मानव-समाज को **(अनिमिषा)** बिना पलक झपके **(अभिचष्टे)** देख रहा है **(धात्रे इत्)** धाता को लक्ष्य में रखकर ही **(धृतवत् हव्यम्)** घी से युक्त इस सामग्री का **(जुहोत)** अग्नि में हवन करो।

भावार्थ—संसार में दो ही वस्तुएँ हैं—प्राणी तथा भोग्य-पदार्थ—चेतन तथा जड़। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि जड़-चेतन सभी का धारण करनेहारा, सभी का स्वामी वही भगवान् है। इतना ही नहीं कि वह चराचर जगत् का स्वामी है, वह निर्निमेष हर वस्तु को देख रहा है, एक क्षण को भी उसकी पलक नहीं झुकती। कहने का अभिप्राय यह है कि पलक झुकने के समय जो क्षण-भर को आँख मिचती है उतना समय भी उसके ज्ञान के बाहर नहीं है। ऐसे विश्व-द्रष्टा के सामने हम हवि द्वारा आत्म-समर्पण करते हैं।

ओं राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यं सवाहा॥
इदं राकायै—इदन्न मम॥ ३॥

शब्दार्थ—**(अहम्)** मैं पति **(सुहवाम्)** शिष्टता से वार्त्तालाप करने योग्य **(राकाम्)** पूनम के चाँद की तरह सुन्दर पत्नी को **(सुष्टुती)** प्रशंसनीय भाषा में **(हुवे)** पुकारूँ। वह **(सुभगा)** सौभाग्यवती **(नः शृणोतु)** हमारी बात को ध्यान देकर सुने **(बोधतु त्मना)** और सुनकर अपने आत्मा से हमारे भाव को हृदयंगम करे। **(अच्छिद्यमानया सूच्या)** जैसे बिना छिदनेवाली—अटूट—सूई से मोटे-से-मोटे वस्त्र को सी दिया जाता है वैसे वह **(अपः सीव्यतु)** गृहस्थ के कर्मों को सीती रहे, कठिन-से-कठिन परिस्थिति को देखकर भी न टूटे, न घबराये। ऐसी पत्नी **(शतदायम्)** सौ हाथों से संसार का उपकार करनेवाले **(उक्थ्यम्)** जिसकी जन-

जन की वाणी से सराहना हो ऐसे **(वीरं)** शूरवीर पुत्र को **(ददातु)** समाज की भेंट करे।

भावार्थ—इस मन्त्र में अनेक भाव एक-साथ भर दिये गये हैं। पत्नी के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, उसे भी पति से इशारा पाकर किस प्रकार उसकी तह में पहुँच जाना चाहिये, गृहस्थी की विषम परिस्थितियों का किस प्रकार उसे सामना करना चाहिये, इन सब परिस्थितियों में रहकर उसे किस प्रकार की सन्तान को उत्पन्न कर उसे समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य को निबाहना चाहिये—ये सब बातें इस मन्त्र में संक्षेप में कह दी गई हैं।

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्त्रपोषं सुभगे रराणा स्वाहा॥
इदं राकायै—इदन्न मम॥ ४॥ —ऋ०मं० २, सू० ३२, मं० ४-५

शब्दार्थ—हे **(राके)** चन्द्रवदने **(याः ते)** तेरे जो **(सुपेशसः)** रूप सौन्दर्य हैं, और **(सुमतयः)** सुन्दर मानसिक विचार हैं—शारीरिक तथा मानसिक सौन्दर्य हैं—**(याभिः)** जिन शारीरिक तथा मानसिक सौन्दर्यों से **(दाशुषे)** तुझे अपना सर्वस्व अर्पित करनेवाले अपने पति के प्रति **(वसूनि)** बदले में तू अपना शारीरिक तथा मानसिक सौन्दर्य **(ददासि)** दे रही है, **(ताभिः)** उनसे **(अद्य)** आज तू **(सुमना)** सुन्दर मनवाली **(नः उपागहि)** हमें प्राप्त हो। **(सुभगे)** हे सौभाग्यवती! **(सहस्त्र पोषं रराणा)** हजारों गुणा पुष्टि को देती हुई तू हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—पति कहता है कि ए पत्नी! तेरे पास रूप है, मति है—इनके बदले मैं अपना सर्वस्व तुझे अर्पित कर रहा हूँ, मेरे पास जो कुछ है तुझे दे रहा हूँ—यह दोनों का आदान-प्रदान है, इकतरफा बात नहीं है। हम दोनों के इस प्रकार मिलने से हमारे ये गुण सहस्त्रगुणा हो जायें जैसे एक और एक के मिलने से दो न होकर ग्यारह का काम दे जाते हैं।

नेजमेष परा पत सुपुत्रः पुनरा पत।
अस्यै मे पुत्रकामायै गर्भमा धेहि यः पुमान्त्स्वाहा॥ ५॥

शब्दार्थ—पत्नी की तरफ से वचन है—**(यः पुमान्)** जिस पुरुष ने **(अस्यै मे पुत्रकामायै)** मुझ पुत्र की कामना करनेवाली में **(गर्भं आधेहि)** गर्भ का आधान किया है, **(एषः)** वह यह पुरुष **(नेजम्)** अक्रियाशीलता को—(देखो)—'तदेजति तन्नैजति'—यहाँ 'नेजति' का अर्थ है क्रिया न करना है—**(परापत)** परे फेंक दे, और **(सुपुत्रः)** सुपुत्रवाला होकर **(पुनः आपत)** फिर मेरे पास आये।

भावार्थ—इस मन्त्र में कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने पति बनकर पुत्र उत्पन्न किया है उसे निठल्ला, अक्रियाशील नहीं रहना चाहिये, क्योंकि गृहस्थाश्रम एक जिम्मेवारी का आश्रम है जिसमें मनुष्य को अपना ही पालन नहीं करना होता, पत्नी

तथा सन्तान का भी पालन करना होता है। इस मन्त्र में फिर उस बात को दोहराया गया है जिसमें कहा था कि हम दोनों के मिलने से हमें हजारों गुणा पुष्टि प्राप्त हो।

यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमा दधे।
एवं तं गर्भमा धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा॥ ६॥

शब्दार्थ—(**यथेयम्**) जैसे यह (**उत्ताना, मही, पृथिवी**) ऊँची उठी हुई, बड़ी, पृथिवी (**गर्भम् आदधे**) अपने भीतर अनेकानेक वनस्पतियों को मानो गर्भ में धारण कर रही है, (**एवम्**) इसी प्रकार (**त्वम्**) तू पत्नी (**दशमे मासि सूतवे**) दस महीनों में उत्पन्न होने के लिए (**गर्भं आधेहि**) संतानरूपी गर्भ को संभालकर रख।

भावार्थ—यहाँ पत्नी को पृथिवी से उपमा दी है। जिस प्रकार उत्तम खेती के लिये पृथिवी को ठीक किया जाता है, उत्तम बीज चुना जाता है, बीच-बीच में निलाई होती है, समय-समय पर पानी दिया जाता है, खेत और बीज दोनों की तरफ ध्यान दिया जाता है, उसी प्रकार स्त्री के गर्भाशय को स्वस्थ बनाना, स्वस्थ रखना, गर्भस्थ-सन्तान के शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिये जो कुछ सम्भव हो वह सब-कुछ करना—ये सब भाव इस मन्त्र में निहित हैं।

विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेणास्यां नार्यां गवीन्याम्।
पुमांसं पुत्राना धेहि दशमे मासि सूतवे स्वाहा॥ ७॥ —आश्व०गृ० १,१४,३

शब्दार्थ—यह वचन शास्त्रकार की तरफ से कहा गया है कि हे पुरुष! (**गवि इन्याम्**) सुन्दर नख-शिख तथा इन्द्रियों वाली (**अस्यां नायां**) अपनी इस भार्या में (**विष्णोः श्रेष्ठेन रूपेण**) विष्णु के समान श्रेष्ठ, सुन्दर रूप वाले (**पुमांसं पुत्रान्**) पौरुषयुक्त पुत्रों को (**दशमे मासि सूतवे**) दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिये (**आधेहि**) धारण कर।

भावार्थ—पुत्र कैसा हो, मानो विष्णु का प्रतिविम्ब हो, विष्णु का रूप हो—यह एक बात कही, दूसरी बात यह कही कि गर्भावस्था में वह दस चान्द्रमास रहे, ६ठे, ७वें या ८वें मास में न उत्पन्न हो जाए जिससे उसके पूर्ण-विकास में बाधा पड़े। सन्तानका साधारण तौर पर गर्भावस्था का काल १० चान्द्रमास होता है—इसीलिये '**दशमे मासि सूतवे**' कहा।

***प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा० (पृष्ठ ३७)॥ ८॥**

[नीचे लिखे पहले मन्त्र से भात तथा दूसरे से खिचड़ी की आहुति दें]

उक्त प्रकार खिचड़ी की ८ आहुतियाँ देने के पश्चात् निम्न प्रकार भात तथा खिचड़ी की आहुति दें—

---

* इस मंत्र की व्याख्या 'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना प्रकरण' (पृष्ठ ३५) में शुरु में आ गई है।

ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये इदं न मम॥

इससे भात की आहुति दें।

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम्० (पृष्ठ ...)

इससे खिचड़ी की आहुति दें।

[अष्टाज्याहुतियाँ]

भात की एक तथा खिचड़ी की एक आहुति देने के पश्चात् 'ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्' से लेकर '**ओं भवतन्नः समनसौ**' (पृष्ठ.....) तक के आठ मन्त्रों से घृत की आहुतियाँ दें।

[उक्त ८ के बाद व्याहृति मन्त्रों से ४ आज्याहुतियाँ दें]

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥ १॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदं न मम॥ २॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय—इदं न मम॥ ३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा॥

इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम॥ ४॥

[पूर्णाहुति]*

उक्त सब क्रियाएँ करने के बाद घी तथा सामग्री से निम्न पाठ करते हुए सब लोग पूर्णाहुति दें और उसका ३ वार उच्चारण करें। हर उच्चारण के साथ यज्ञ में आहुति डालें।

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा॥

[पूर्णाहुति के बाद की विधि]

संस्कारविधि के अनुसार इसके बाद पति और पत्नी एकान्त में जाकर उत्तमासन पर बैठ पति पत्नी के पीछे पृष्ठ की ओर बैठकर निम्न मन्त्रों को पढ़े—

ओं सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः॥ १॥ —यजु० अ० ६, मं० २२

शब्दार्थ—(**नः**) हम दोनों पति-पत्नी के लिये (**आपः ओषधयः**) जल और औषधियाँ (**सुमित्रियाः सन्तु**) अच्छे मित्र की तरह हों और (**यः अस्मान् द्वेष्टि**) जो हमें द्वेष करता है या (**यं च वयं द्विष्मः**) जिससे हम द्वेष करते हैं (**तस्मै**) उसके लिये (**दुर्मित्रियाः सन्तु**) बुरे मित्र की तरह हों।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिये जल तथा औषधियाँ सहायक हैं, इसलिये गृहस्थ में प्रवेश करते समय पति-पत्नी इस बात का ध्यान रखें कि अपना आहार-विहार ऐसा बनाएँ जिससे वे नीरोग तथा दीर्घजीवी हों। यह उनके वैयक्तिक जीवन

---

* संस्कारविधि में पूर्णाहुति का उल्लेख नहीं है।

के लिये आवश्यक है। सामाजिक जीवन के लिये उन्हें इस बात के लिये तैयार रहना चाहिये कि दुनिया में कई उनके मित्र होंगे, कई शत्रु होंगे—उनके साथ कैसे बरतना होगा यह भी गृहस्थ की एक समस्या है जो गृहस्थ में प्रवेश करते समय इस वेद मन्त्र द्वारा उनके सामने रख दी गई है। सफल गृहस्थी वही है जो वैयक्तिक तथा सामाजिक समस्याओं के साथ सहज रूप में सुलझ लेता है।

मूर्द्धानं दिवोऽ अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽ आ जातमग्निम्। कविᳬ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥ २॥—यजु०अ० ७, मं० २४

शब्दार्थ—**(दिवो मूर्धानम्)** दिव्य-गुण के व्यक्तियों में जो मूर्धास्थानीय हो **(पृथिव्या अरतिं)** पार्थिव-व्यक्तियों में जो अरति—'रति' का अर्थ है राग, आसक्ति—'अरति' अर्थात् पार्थिव होते हुए भी जो आसक्ति-रहित हो, राग-रहित हो **(ऋते आजातम्) 'ऋते'** का अर्थ है—ऋद्धद्दद्धह्ल, **'सत्य'** का अर्थ है ञ्ह्व्ह्ल्द्ध—'ऋत' में जो धुर तक पहुँचा हुआ हो **(वैश्वानरम्)** जो विश्व का एकमात्र नर हो **(अग्निम्)** हर बात में आगे-आगे रहता हो—**'अग्निः कस्मात् अग्रणीः भवति'**—**(अमृतम्)** जीवनी-शक्ति से लबालब भरपूर हो **(कविम्)** मेधावी हो **(सम्राजम्)** सम्राटों की-सी तबीयत का हो **(जनानाम्पात्रं अतिथिम्)** साधारण जनता का जो अतिथि की तरह सन्मान का पात्र हो **(आ जनयन्त आसन्)** ऐसी सन्तान को हम लोग उत्पन्न किया करते थे—वैसी सन्तान को जन्म दो।

भावार्थ—एक आदर्श-सन्तान का नक्शा खींचकर पति-पत्नी भावमय जगत् में रमते हुए कहते हैं कि हम ऐसी सन्तान को जन्म दें जो दिव्यगुणों की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हो, संसार में रहती हुई अनासक्त—**'अरत'**—हो, ऐसी हो जिसे देखकर दुनियाँ अंगुली उठाकर कहे—सन्तान हो तो ऐसी हो, सर्व-गुण-निधान हो। जब पति-पत्नी इतना ऊँचा आदर्श लेकर सन्तानोत्पत्ति के कार्य में प्रवृत्त होंगे तब घर-घर दिव्य-गुणों के व्यक्ति उत्पन्न होंगे।

ओम् अयमूर्ज्जावतो वृक्ष ऊर्ज्जीव फलिनी भव।
पर्णं वनस्पतेऽनु त्वाऽनु त्वा सूयताᳬ रयिः॥ ३॥ —पार० १,१५,६

शब्दार्थ—पत्नी को सम्बोधित कर पति कहता है—**(अयं ऊर्जावतो वृक्षः)** जैसे ऊर्जा—बल या फल—वाला यह वृक्ष **(ऊर्जी इव)** ऊर्जा से—फलों से—भरपूर है, इसी प्रकार तू **(फलिनी भव)** सन्तानरूपी फलों से युक्त हो **(वनस्पते पर्ण नुत्वा मुत्वा)** वनस्पति के पत्तों को पीस-पीसकर उनमें से जैसे रस निकल आता है वैसे **(रयिः सूयताम्)** हम दोनों संसार के काम-धंधों में मेहनत कर-करके उनमें से धन—ऐश्वर्यरूपी फल को—रस को—निचोड़ लें।

भावार्थ—फलों से लदे वृक्ष से पत्नी की उपमा देकर कहा है कि वह सन्तान-धन-ऐश्वर्यरूपी फलों से सदा लदी रहे। दोनों मिलकर ऐसी मेहनत करें

जैसे वृक्ष के पत्तों को पीसकर उनमें से रस निचोड़ लिया जाता है।

ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय। तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥ ४॥ —मन्त्र ब्राह्मण १,५,१-२

शब्दार्थ—(**प्रजापतिः**) प्रजाओं का पालनहारा परमेश्वर (**येन**) अपने जिस बल से (**महते सौभगाय अदितेः सीमानं नयति**) पृथिवी की सीमा का—उसकी मर्यादा का—इस प्रकार निर्धारण करता है कि उसमें से जगत् का सौभाग्य—कल्याण—बन जाता है (**तेनाहं**) उसी बल से—शक्ति से—(**अस्यै सीमानं नयामि**) मैं तेरी सीमा—मर्यादा—का निर्धारण करता हूँ जिससे (**अस्यै प्रजां जरदष्टिं कृणोमि**) तेरी सन्तान वृद्धावस्था तक जीनेवाली हो।

भावार्थ—परमात्मा ने पृथिवी में ऐसी उत्पादन-शक्ति दी है, जिससे वह सब प्रकार के धन-ऐश्वर्य की खान है, उसमें से जो चाहें प्राप्त हो सकता है, इसी प्रकार पत्नी वह खान है जिसमें से जीवित-धन सन्तान के रूप में प्राप्त होता है, पति का कर्त्तव्य है कि सन्तान रूपी समाज के इस धन को चिरञ्जीवी बनाने के साधन जुटाये।

***ओं राकामहꣳ सुहवाꣳ सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतुत्मना।**
सीव्यत्वपः सूच्याछिद्यमानया ददातु वीरꣳ शतदायमुख्यम्॥ ५॥
ओं यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रपोषꣳ सुभगे रराणा॥ ६॥
किं पश्यसि प्रजां पशून्त्सौभाग्यं मह्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः॥ ७॥

—मन्त्र ब्राह्मण १,६,३-५

शब्दार्थ—पति स्त्री से पूछता है—(**किं पश्यसि**) घृत में क्या देखती है? स्त्री उत्तर देती है, (**मह्यम्**) मुझे अपने लिये (**प्रजाम्, पशून्, सौभाग्यम्**) घृत में उत्तम सन्तान दीख रही है, गाय आदि दूध देनेहारे पशु दीख रहे हैं, अपना सौभाग्य दीख रहा है, और (**पत्युः**) पति के लिये (**दीर्घायुष्ट्वम्**) दीर्घ आयु दीख रही है।

इन मन्त्रों को पढ़कर पति अपने हाथ से स्वपत्नी के केशों में सुगन्धित तैल डाल, कंघे से सुधार, हाथ में उदुम्बर (गूलर) अथवा अर्जुन वृक्ष की शलाका वा कुशा की मृदु छीपी वा शाही-पशु के काँटे से अपनी पत्नी के केशों को स्वच्छ कर पट्टी निकाल और पीछे की ओर जूड़ा सुन्दर बाँधकर यज्ञशाला में आवे। उस समय वीणा आदि बाजे बजवायें। तत्पश्चात्, सामवेद—अर्थात्, महावामदेव्य सामगान—(पृष्ठ 86-88) का निम्न मन्त्र से आरम्भ करके गान करें। सामवेद-गान (पृष्ठ 86-

* ५ तथा ६ मन्त्र कुछ हेर-फेर के साथ यहाँ दोबारा आये हैं। पहला पाठ ऋग्वेद से लिया गया है, दूसरा पाठ मन्त्र ब्राह्मण से लिया गया है, पहले में ꣳ नहीं है, दूसरे मैं है; पहले में 'शतदायमुक्थ्यम्' है, दूसरे में 'शतदायमुख्यम्' है। ऋग्वेद में ꣳ कार नहीं होता। पीछे के मन्त्रों में 'इदन्न मम' भी नहीं है।

४४) से पहले जो मन्त्र पढ़ा जाना है वह निम्न है—

ओं सोम एव नो राजेमा मानुषीः प्रजाः।
अविमुक्तचक्र आसीरंस्तीरे तुभ्यम् असौ*॥ —पार०गृह्य० १,१५,८

शब्दार्थ—**(इमाः मानुषीः प्रजाः)** यह जो मानव-समुदाय है **(नः)** उन हम सबका **(सोम एव राजा)** शान्ति-गुणमय चन्द्रमा ही आदर्श है। क्योंकि हमारा आदर्श अपने को चन्द्र की तरह शान्त रखना है इसलिये **(असौ)** हे नदि! (जहाँ यह संस्कार हो रहा हो वहाँ की नदी का नाम सम्बोधन-विभक्तिपूर्वक यहाँ लो) **(तुभ्यम्)** तेरे **(अविमुक्त चक्रे तीरे)** नहीं छोड़ा है, घुमाव-फिराव के चक्रों को जिस नदी ने उसके तट पर **(आसीरन्)** हम निवास करें।

भावार्थ—यहाँ कहा गया है कि हमारा जीवन चन्द्र की तरह शान्तगुणमय तथा मर्यादा में बँदी नदी की तरह सीमाबद्ध रहे। आस्मान में चाँद की शीतलता तथा जमीन पर नदी के जल की शीतलता हमारे जीवन-पथ का प्रदर्शन करें। चाँद में पूर्णिमा और अमावस आते हैं, जीवन में आशा-निराशा आती है, नदी में बाढ़ और सूका आता है, जीवन में उठान-गिरान आता है, परन्तु चाँद तथा नदी—दोनों में जैसे शीतलता का गुण सदा बना रहता है, वैसे शान्ति का गुण हममें सदा बना रहे।

इस मन्त्र का गान करने के पश्चात् अन्य मन्त्रों का—सामवेदोक्त वामदेव्य मन्त्रों का (पृष्ठ.....)—गान करें। तत्पश्चात्, पूर्व आहुतियों के देने से बची हुई खिचड़ी में पुष्कल घृत डालकर गर्भिणी स्त्री अपना प्रतिविम्ब उस घी में देखे।

उस समय पति स्त्री से पूछे—'**किं पश्यसि**'—घी में क्या देखती है?

स्त्री उत्तर देवे—'**प्रजा पश्यामि**'—प्रजा—सन्तान—को देख रही हूँ।

तत्पश्चात्, एकान्त में वृद्ध, कुलीन, सौभाग्यवती, पुत्रवती, गर्भिणी अपने कुल की और ब्राह्मणों की स्त्रियाँ बैठें, प्रसन्नवदन और प्रसन्नता की बातें करें, और गर्भिणी स्त्री उस खिचड़ी को खावे और वे वृद्ध, समीप बैठी हुई उत्तम स्त्री लोग ऐसा आशीर्वाद देवें।

ओं वीरसूस्त्वं भव, जीवसूस्त्वं भव, जीवपत्नी त्वं भव॥

—गोभिल गृ० २,७,१२

अर्थात्, तू वीर सन्तान को उत्पन्न करनेवाली हो, तू जीवित सन्तान उत्पन्न करनेवाली हो, तू जीवित बने रहनेवाले पति की पत्नी हो।

ऐसे शुभ मांगलिक वचन बोलें। तत्पश्चात्, संस्कार में आये हुए मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करके स्त्रियाँ स्त्रियों और पुरुष पुरुषों को विदा करें।

इति सीमन्तोन्नयनसंस्कारविधिः समाप्तः।

---

* यहाँ '*असौ*' की जगह उस नदी का नाम उच्चारण करें जो संस्कार-स्थल के आसपास हो।

जातकर्म संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन तथा पुंसवन संस्कार तब किये जाते हैं जब सन्तान माता के पेट में होती है, अब आगे हम जिन संस्कारों का वर्णन करेंगे वे तब किये जाते हैं जब सन्तान जन्म लेकर संसार में प्रवेश कर जाती है। पहले तीन संस्कारों को 'जन्म-पूर्व' (Prenatal) कहा जा सकता है, अगले संस्कारों को 'जन्मोत्तर' (Post-natal) संस्कार कहा जा सकता है। 'जन्म-पूर्व-संस्कारों' पर माता तथा आनुवंशिक (Hereditary) संस्कारों का मुख्य प्रभाव पड़ता है, 'जन्मोत्तर-संस्कारों' पर पर्यावरण-सम्बन्धी (Environmental) संस्कारों का मुख्य प्रभाव पड़ता है। क्योंकि संस्कारों का उद्देश्य सन्तान को सुसंस्कृत करना है, जन्म-जन्मान्तर के मल को धो डालकर उसका नव-निर्माण करना है, इसलिये 'जन्म-पूर्व' तथा 'जन्मोत्तर' दोनों दशाओं को संस्कार-पद्धति में सुधारने का प्रयत्न किया जाता है।

सन्तान के उत्पन्न हो जाने के बाद जो कर्म किये जायें, वे जात-कर्म कहलाते हैं। इसे संस्कार का नाम इसलिये दिया गया है, क्योंकि उत्पन्न होने के बाद किये जानेवाले 'कर्मों' के अतिरिक्त इसमें कुछ 'संस्कार' भी किये जाते हैं, जिनका उद्देश्य सन्तान के अनजाने भी उस पर कुछ संस्कार डालने का प्रयत्न किया जाता है। हम पहले उन कर्मों का जिक्र करेंगे जो सन्तान के उत्पन्न होने पर करना आवश्यक हैं, फिर उन संस्कारों का जिक्र करेंगे जो माता-पिता या समाज द्वारा जन्म के प्रारम्भिक दिनों में सन्तान पर डालने का यत्न किया जाता है।

१. सन्तान के जन्म के समय किये जाने वाले 'कर्म'

(१) बच्चे का मुख, नाक आदि साफ करना—उत्पन्न होने से पहले गर्भावस्था में बच्चा-एक अलग ही पर्यावरण में होता है। वह मुख से भोजन नहीं लेता, नाक से सांस नहीं लेता। उसका भोजन नाभि द्वारा माता से सीधा पहुँचाता है। गर्भावस्था में वह एक थैली में बन्द होता है, जिसमें पानी भरा होता है। यह पानी मुख या नाक में न चला जाए, इसलिये प्रकृति ने उनका मुख तथा नाक श्लेष्मा से बन्द कर दिया होता है। वाह्य-जगत् में आने के बाद उसका मुख तथा नाक साफ करना होता है। अब क्योंकि उसका माता से शारीरिक-सम्बन्ध टूट जाता है, इसलिये माता से पोषण-तत्व अनायास नहीं प्राप्त होता। मुख साफ करने के बाद वह दूध पी सकता है, नाक साफ करने के बाद वह साँस ले सकता है। यह सफाई प्राय: सधी हुई दाई नरम, मुलायम, कपड़े से कर देती है। बच्चे के नाक तथा फेफड़ों में भी

श्लेष्मा भरा होता है, इसलिये कय आदि कराकर उसके फेफड़े, नाक आदि साफ करने पड़ते हैं। आयुर्वेद के अनुसार सैंधव नमक घी में मिलाकर देने से नाक और फेफड़े साफ हो जाते हैं। सुश्रुत में लिखा है—**'अथ जातस्य उल्वं मुखे च सैंधव सर्पिषा विशोध्य घृताक्त पिचुं मूर्ध्नि दद्यात्।'**

(२) बच्चे का स्नान—जब बच्चा पानी की थैली में होता है तब उसके शरीर पर एक प्रकार का स्निग्ध लेप चढ़ा होता है जिससे उसकी त्वचा पर थैली में भरा पानी किसी प्रकार का बुरा प्रभाव नहीं करता। थैली में से बाहर आ जाने के बाद इस स्निग्ध-लेप को धो डालने की जरूरत पड़ती है—इसीलिये उसे स्नान कराना आवश्यक है जिससे यह स्निग्ध-पदार्थ घुल जाए। इस कर्म के लिये साबुन का प्रयोग किया जाता है। साबुन को अपने हाथ में मल कर धीरे-से- बच्चे के शरीर पर मलने से यह तेल जैसा लेप उतर जाता है। साबुन का इस्तेमाल न करना हो तो बेसन और दही को मिलाकर उबटन की तरह उसका प्रयोग किया जा सकता है। स्नान के लिये गुनगुने पानी का इस्तेमाल करना चाहिये। कई लोग बच्चे के शरीर को ब्रैंडी या अलकोहल से साफ करते हैं ताकि इनके प्रयोग से उसके शरीर पर चढ़ा स्निग्ध-लेप साफ हो जाए। इन पदार्थों के प्रयोग से त्वचा को नुकसान होता है। इस स्नान-क्रिया में कभी-कभी बच्चे को ठण्ड लगने की सम्भावना रहती है, इसलिये स्नान कराते ही तुरन्त उसे पहले-से तयार किये हुए कपड़े पहना देने चाहियें और माता के पास इस तरह लिटा देना चाहिये ताकि वह आराम से लेट सके और खुली साँस ले सके।

(३) कान के पास पत्थरों का बजाना—जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, जन्म से पहले, बच्चा जब माता के पेट में होता है, तब वह पानी से भरी एक थैली में रहता है। इस थैली का पानी मुँह, नाक तथा कान में न चला जाए इसलिये प्रकृति ने उसके ये सब द्वार श्लेष्मा से बन्द किये होते हैं। मुख तथा नाक आदि के श्लेष्मा को तो नरम कपड़े से साफ कर दिया जाता है, परन्तु कान से वह शब्द सुन सके इसके लिये कान साफ कर फिर कान के पास कुछ शब्द किया जाता है। चरक में लिखा है: 'अश्मनोः संघट्टनं कर्ममूले'—अर्थात्, कान की जड़ में पत्थरों को बजाना चाहिये ताकि कान शब्द सुनने का अपना काम कर सकें। शरीर-रचना-शास्त्रियों का कहना है कि बच्चे में सुनने की शक्ति पहले जागृत होती है, सम्भवतः इसीलिये चरक ने पहले-पहल कान को जागृत करने की सलाह दी है। बच्चे की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को जगाने के लिये जन्मते ही ये सब काम करने पड़ते हैं। आँखें तो खुलते ही वे देखने लगती हैं, जो ज्ञानेन्द्रियाँ माँ के पेट में प्रकृति ने श्लेष्मा से इसलिये बन्द की होती हैं ताकि उनमें भीतर का मलिन जल न चला जाए उनसब इन्द्रियों को सजग करने के लिये प्रयत्न करना जात-कर्म संस्कार का उद्देश्य है।

(४) सिर पर घी में डुबोया फाया रखना—ऊपर हम सुश्रुत का उद्धरण

देकर लिख आये हैं कि **'घृताक्तं पिचुं मूर्ध्नि दद्यात्'**—बच्चे के सिर पर घी में डुबोया हुआ फाया रखना चाहिये। घी के फाये के सिर पर रखने के सम्बन्ध में बैद्य अत्रिदेव जी लिखते हैं—''बच्चे का तालु जहाँ पर सिर की तीन अस्थियाँ—दो पासे की और एक माथे की—मिलती हैं, वहाँ पर जन्म-जात बच्चे में एक पतली झिल्ली होती है जिसे तालु कहते हैं—यह मुख्य वस्तु है। इस तालु से ही उसके स्वास्थ्य की परीक्षा होती है।'' आजकल यह जानने के लिये कि बच्चा स्वस्थ है या नहीं उसे तोला जाता है, आयुर्वेद के अनुसार बच्चे के स्वस्थ या अस्वस्थ होने की परीक्षा उसका तालु है। अगर माथे की उक्त तीनों अस्थियाँ एक-समान हों, तो उसे स्वस्थ समझना चाहिये। इस तालु को दृढ़ बनाने से ही बच्चा स्वस्थ होता है, इसलिये इसकी रक्षा करना, इसे पोषण-तत्त्व पहुँचाना आवश्यक है। इसीलिये सुश्रुत ने बच्चे के तालु पर घी का फाया रखने का परामर्श दिया है। सिर पर घी या तेल का प्रयोग करते रहने से बच्चे को सर्दी, जुकाम आदि नहीं सताते।

(५) सुवर्ण शलाका से घी तथा मधु का चटाना—वेदों में तथा भारतीय संस्कृति में घी तथा शहद के बहुत गुण गाये गये हैं। अथर्ववेद (४-३४) में स्वर्गीयजीवन का वर्णन करते हुए लिखा है—

'घृत ह्रदाः मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना एतास्त्वा धारा उपयन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥'

(क) घी के गुण—इस मन्त्र में स्वर्ग का वर्णन करते हुए समाज की ऐसी व्यवस्था का वर्णन है जिसमें घी, शहद, दूध तथा दही की नदियाँ बह रही हों। घी, दूध, दही के विषय में आधुनिक अनुसंधानों से पता चला है कि ये पदार्थ दीर्घजीवन के लिये बड़े सहायक हैं। आजकल घी के प्रति कुछ अनास्था चल पड़ी है, परन्तु जिन पदार्थों से घीका निर्माण होता है उनके सम्बन्ध में तो यह विचार है कि उनसे उत्तम कोई पोषक-तत्त्व नहीं है। दीर्घजीवन के लिये अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं जिनमें से प्रो० मेटक्नीकौफ की पुस्तक 'The Prolongation of life' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस दिशा में प्रो० मेटक्नीकौफ़ दूध, दही तथा लस्सी के बड़े हामी हैं। उनका कहना है कि जिन लोगों के भोजन का मुख्य आधार दूध, दही अथवा लस्सी होता है उनकी आयु आशातीत रूप में लम्बी पायी गई है। प्रकृति ने बच्चे के पैदा होते ही उसके जीवन के लिये दूध का प्रबन्ध कर दिया है। जिन लोगों को दूध हज्म नहीं होता वे दही तथा लस्सी का प्रयोग कर सकते हैं। इन पदार्थों में सब प्रकार के पोषक-तत्त्व पाये जाते हैं। श्री एम० ग्रिगोरोफ का कथन है कि बलगेरिया में सबसे अधिक आयु के व्यक्ति पाये गये हैं। ये दूध, दही, लस्सी पर निर्भर रहते थे। उनकी आयु सौ वर्ष से भी अधिक थी। वेद में जहाँ 'घी' शब्द का प्रयोग हैं वहाँ घी-दूध-दही आदि सब पदार्थों का ग्रहण समझना चाहिये। बच्चे को घी चटाने का अर्थ है

कि दीर्घजीवन के लिये उसे गौ के दूध, दही, लस्सी, घी पर निर्भर करना होगा।

जो लोग कहते हैं कि घी नहीं खाना चाहिये वे उन लोगों के लिये कहते हैं जिनके शरीर में जरूरत से ज्यादा चर्बी भरी पड़ी है। बच्चा अभी एक हाथ का भी नहीं है, उसने बढ़ना है, वह घी-दूध नहीं खायेगा तो उसकी बढ़न कैसे होगी? इस दृष्टि को सामने रखते हुए भारतीय शास्त्रों में बच्चे की बढ़न के लिये घी की बहुत प्रशंसा की है। कहा है—

शस्तं घी स्मृति मेषाग्नि बलायुः शुक्र चक्षुषाम्।
बाल वृद्ध प्रजा कान्ति सौकुमार्य स्वरार्थिनाम्॥
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनम् परम्।
सहस्त्रवीर्यं विधिभिः घृतम् कर्म सहस्त्रकृत्॥

अर्थात्, घी से बुद्धि बढ़ती है, स्मृति को, मेघा (विषय को ग्रहण करने की शक्ति) को लाभ होता है, जठराग्नि, बल, आयु, शुक्र के लिये हितकर है, आँखों को दीप्ति देता है, बालक, वृद्ध तथा सर्व-साधारण के लिये उत्तम है, कान्ति, कोमलता तथा मधुर स्वर की कामना वाले के लिये उपयोगी है। घी सब स्निग्ध पदार्थों में श्रेष्ठ है, शीत-प्रकृति का है, आयु को स्थिर रखने वाला है, ठीक विधि से इसका सेवन किया जाए, तो इससे हजारों काम निकलते हैं। जो लोग कहते हैं कि घी इसलिये नहीं खाना चाहिये क्योंकि इसमें 'कोलेस्टरोल' (Cholesterol) होता है, वे सिर्फ घी खाने से ही मना नहीं करते, हर प्रकार की चर्बी खाने की मनाही करते हैं क्योंकि 'कोलेस्टेरोल' केवल घी में ही नहीं डालदा तथा हर प्रकार की चर्बी में पाया जाता है। उनका कहना है कि चर्बी में 'कोलेस्टेरोल'-नामक एक तत्त्व होता है जो 'धमनियों' (Arteries) में जम जाता है, जिसकी वजह से धमनियाँ तंग हो जाती हैं। धमनियों के तंग हो जाने से रक्त-चाप (Blood pressure) आदि रोग हो जाते हैं। परन्तु यह सब-कुछ बच्चे के लिये नहीं, बड़ी आयु के व्यक्तियों के लिये या स्वभाव से मोटे व्यक्तियों के लिये कहा जाता है। बच्चे को तो शरीर के पोषण के लिये घृत की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त रशिया के डाक्टरों का कहना है कि युवा या वृद्ध व्यक्तियों में भी अगर आँतें साफ रहें, कब्ज न हो, तो 'कोलेस्टेरोल' जमा नहीं होने पाता। उनका कहना है—'Active bowels help to get rid of cholesterol'—अर्थात्, क्रियाशील आतें हों तो 'कोलेस्टेरोल' निकल जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि घृत से शरीर पुष्ट होता है, आयु बढ़ती है, तभी संसार भर में घी-मक्खन खाने का रिवाज सहस्त्रों वर्षों से चला आ रहा है—जिन लोगों ने इसका चलन किया उनका भी तो कुछ अनुभव था जिसे आज भी हम छोड़ नहीं पा रहे।

(ख) शहद के गुण—जातकर्म में बच्चे को जैसे घी चटाया जाता है, वैसे ही शहद भी चटाया जाता है। शहद का चिकित्सा-शास्त्र में बड़ा महत्त्व है। जिन लोगों को मधुमेह (Diabetes) हो जाती है उन्हें चीनी की जगह शहद खाने की सलाह दी जाती है। यह अत्यन्त सुपाच्य तथा स्वास्थ्यप्रद खाद्य है। कई लोग तो यह कहते हैं कि अगर नियमितरूप से शहद लिया जाए, तो मधुमेह रोग नहीं होता। जिन लोगों ने शहद का विश्लेषण किया है उनका कहना है कि शहद रासायनिक-दृष्टि से 'ग्लुकोज' (Glucose) है। सुश्रुत (४५ अध्याय) में शहद के विषय में लिखा है—

''मधुरं कषायं अनुरसं रुक्षं शीतम् अग्निदीपनं, वर्ण्यम्, स्वयं, लघु, सुकुमारं, लेखनं, हृद्यं, वाजीकरणं, सन्धानं, शोधनं, रोपणं, संग्राही, चाक्षुष्यं, प्रसादनं, सूक्ष्ममार्गानुसारि, पित्त-श्लेष्म-मेद-मेह-हिक्का-श्वास-कास-अतिसार-छर्दि-तृषा-कृमि-विषप्रशमनम् हलादित्रिदोषप्रशमनं च। तत् लघुत्वात् कफघ्नं पैच्छिल्यात् माधुर्यात् कषायभावात् च वात पित्तघ्नम्॥''

अर्थात्, शहद, मधुर, कषाय तथा जो औषध लें उसका गुण बढ़ा देनेवाला है। रुक्ष, शीतल, जठराग्नि को उद्दीप्त करनेवाला, रंग-रूप को सुधारनेवाला, बलकारक, हलका, कोमल, शरीर को मोटा न होने देनेवाला, हृदय को प्रिय, उत्तेजक, जोड़ों को जोड़ने वाला, शोधनकर्त्ता, घावों को भरनेवाला है। यह वाजीकरण, काबिज, नेत्रों को प्रसन्न करनेवाला, निर्मल, रोम-रोम में पहुँचनेवाला है। पित्त-कफ-मेध-प्रमेह-हिचकी-श्वास-खाँसी-अतिसार-उल्टी-तृषा-कृमि-विष—इन दोषों को शान्त करता है, आल्हाद-जनक तथा वात-पित्त-कफ—इस त्रिदोष को दूर करता है।

घी और मधु की इतनी उपयोगिता को देखकर वैदिक-संस्कृति में बच्चे के उत्पन्न होते ही उसका इन दोनों से जातकर्म संस्कार करते हुए परिचय करा दिया जाता था।

घृत और मधु के विषय में कहा जाता है कि इन दोनों को समभाग में नहीं लेना चाहिए। जितना घृत हो उससे तिगुना शहद होना चाहिये। इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

दशाहमुषितं सर्पिः कांस्ये मधुघृतं समम्।
कृतान्तं च कषायं च पुनरुष्णीकृतं त्यजेत्॥

अर्थात्, कांसे के पात्र में १० दिन तक रखा हुआ घी नहीं खाना चाहिये, घी तथा शहद बराबर-बराबर मिले हुए नहीं खाने चाहियें, भोजन तथा काढ़ा ताजा होना चाहिये, दोबारा गर्म किया भोजन तथा काढ़ा नहीं लेना चाहिये।

घी तथा शहद को चाटने का एक और लाभ भी है। बच्चा जब माँ के पेट में होता है तब उसकी आँतों में एक प्रकार का मल जमा रहता है जिसे 'मेकोनियम'

(Meconium) कहते हैं। डॉक्टर लोग प्राय: इस मल को निकालने के लिये अरंडी का तेल (Castor oil) दिया करते हैं, परन्तु उससे आँतें उद्वेलित हो सकती हैं। इस मल को निकालने के लिये घी और शहद अत्युत्तम पदार्थ हैं। अरंडी के तेल की जगह घी तथा शहद को बच्चा आसानी से चाट लेता है, अरंडी का तेल पिलाने के लिये तो उसपर जबर्दस्ती करनी पड़ती है। बच्चे का इस दुनियाँ में कदम रखते ही यह अनुभव करना कि उसके साथ जबर्दस्ती की जा रही है उसके लिये किसी प्रकार मधुर अनुभव नहीं है। 'मेकोनियम' को निकाल देने के लिये प्रकृति ने भी एक उपाय किया हुआ है। सन्तान के उत्पन्न होते ही माता के स्तन भर जाते हैं। यह पहला दूध जिसे 'कोलोस्ट्रम' (Colostrum) कहते हैं बच्चे के पोषण में तो बहुत सहायता नहीं देता, परन्तु इसे पीकर तथा घी एवं शहद चाट कर उसकी आँतें साफ हो जाती हैं।

(ग) सुवर्ण शलाका का प्रयोग—संस्कारविधि में लिखा है कि घी और मधु को सोने की शलाका से बालक को चटाये। घी तथा मधु की विशेषता पर हम लिख चुके हैं, स्वर्ण की विशेषता क्या है। यहाँ तो लिखा है कि सुवर्ण की शलाका से घी तथा मधु को चटाये, परन्तु सुश्रुत में तो यह लिखा है कि दोनों में सुवर्ण का मिश्रण भी कर देना चाहिये। वहाँ लिखा है—

'अथ कुमारं शीताभिः अद्भिः आश्वास्य जातकर्मणि कृते मधु सर्पिः अनन्तचूर्णम् अंगुल्या अनामिकया लेहयेत्'—अर्थात्, अनामिका अंगुली से मधु, घृत तथा सुवर्ण बालक को चटाये। सुवर्ण को चटाने का तरीका यह है कि २-३ बूँद घी ५-६ बूँद शहद में थोड़ा-सा सुवर्ण-पत्र (वरक) डालकर उसे पीस लें और बच्चे को चटा दें। सोने के वरक की जगह सुवर्ण-भस्म का भी प्रयोग किया जा सकता है। सुवर्ण स्वास्थ्य के लिये आयुर्वेद में अत्यन्त उत्तम माना गया है। शलाका द्वारा घी तथा मधु को चटाने से स्वर्ण के सम्पर्क का प्रभाव इस अवलेह में आ जाता होगा—इसीलिये शलाका से चटाने को लिखा गया है, परन्तु जो इतने से संतुष्ट न हों वे सोने के थोड़े-से वरक का प्रयोग कर सकते हैं। सोने के लाभ के विषय में चरक में लिखा है—

'न सज्जति हेमपाङ्गे पद्मपत्रेऽम्बुवद् विषम्'

अर्थात्, 'हेमप'—सुवर्ण खानेवाले के अंग में विष ऐसे ही प्रभाव नहीं करता जैसे पानी में रहते हुए भी कमल के पत्र पर पानी का प्रभाव नहीं होता। सुवर्ण के विषय में यह कथन अत्युक्तियुक्त हो सकता है, परन्तु सुवर्ण की ऐलोपैथी, होम्योपैथी, आयुर्वेद तथा यूनानी—सबमें स्वास्थ्य के सम्बन्ध में प्रशंसा की गई है।

घी, मधु तथा सुवर्ण के अवलेह के सम्बन्ध में वैद्य अत्रिदेव लिखते हैं—"घी, स्वर्ण और मधु—इनके उपयोग में ही चातुर्य है। कैसे देना, कितनी मात्रा में

देना—ये बातें महत्त्व की हैं। स्वर्ण को वरक के रूप में घिसकर देना मैं सबसे श्रेष्ठ मानता हूँ। भस्म का प्रयोग मैं अधिक पसन्द नहीं करता। इसके लिये मैं अति-सूक्ष्म वरक जो कि अंगुलियों की रेखाओं में भर जाते हैं लेकर मधु में मिलाने के लिये खरल में मधु के साथ घिसता हूँ। जब स्वर्ण-पत्र का दीखना बन्द हो जाता है, तब गाय का घी तीन या चार बूँद डालकर चटा देता हूँ। घी सदा गाय का, मधु सदा माक्षिक जाति का मैं पसन्द करता हूँ और यही लेना चाहिये। माक्षिक मधु से श्रेष्ठ दूसरा कोई मधु नहीं। यह मधु लाल वर्ण का होता है।''

२. जन्म के समय के 'कर्मों' के अलावा जन्म के समय के 'संस्कार'-सम्बन्धी कार्य

ऊपर हमने जिन बातों का उल्लेख किया है, वे बच्चे के उत्पन्न होने के बाद स्वास्थ्य की दृष्टि से जो कर्म पिता को करने हैं, उनके सम्बन्ध में हैं। बच्चे का मुख, नाक, कान आदि कैसे साफ किया जाए जिससे उसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक-से काम करने लगें, उसके स्वास्थ्य को सम्मुख रखकर किस प्रकार के भोजन के साथ उसका जन्म लेते ही परिचय करा दिया जाए—इन बातों का वर्णन अभी तक हुआ। इनके अलावा माता-पिता ने बच्चे पर उसके जन्म लेते ही कुछ ऐसे संस्कार डाल देने हैं जिनका उद्देश्य उसके जीवन की दिशा का निर्धारण कर देना है। यद्यपि यह ठीक है कि इस समय उसे जो-कुछ कहा जायेगा उसे न तो वह समझ सकेगा, न उसका उसके जीवन पर कोई प्रभाव होता जान पड़ेगा। संस्कार-सम्बन्धी इन क्रियाओं को करने का उद्देश्य सिर्फ यह है कि जब धीरे-धीरे वह बड़ा होगा, वह दूसरों का ऐसा ही संस्कारहोते देखेगा, उसे बताया जायेगा कि उसका भी ऐसा ही संस्कार हुआ था, तब उसके उस दिशा में सोचने की सम्भावना बढ़ जाएगी और इन यादों के तरोताजा होने से उसे जीवन के लक्ष्य की बातें सोचने में सहायता मिलेगी।

(१) सुवर्ण शलाका द्वारा बालक की जीभ पर 'ओ३म्' लिखना—हम पहले लिख आये हैं कि जातकर्म-संस्कार में बालक को घृत, शहद तथा सुवर्ण का अवलेह बना कर चटाने का प्रयोग आयुर्वेद के ग्रन्थों में पाया जाता है, उसीका निर्देश संस्कारविधि में किया गया है। इस प्रयोग के अलावा सुवर्ण शलाका से बालक की जीभ पर 'ओ३म्' लिखने का विधान संस्कारविधि में किया गया है। यह क्रिया माता-पिता की तरफ से अज्ञात रूप में बालक पर संस्कार डालने के लिये की जाती है। इस क्रिया में दो पक्ष हैं जिन पर इस प्रयोग द्वारा संस्कार डाला जाता है। एक पक्ष तो स्वयं माता-पिता हैं, दूसरा पक्ष सन्तान है। जब माता-पिता नव-जात शिशु की जीभ पर 'ओ३म्' लिखते हैं तब वे अपने ऊपर एक बड़ी भारी जिम्मेवारी लेते हैं। माता-पिता बालक को जिस पर्यावरण में रखेंगे बच्चे पर वैसे ही तो संस्कार पड़ेंगे। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चा जन्म के पहले पाँच वर्षों में जो-कुछ सीख

जाता है वह उसकी जन्म भर की धरोहर होती है। पहले पाँच वर्ष बच्चा माँ-बाप के द्वारा उपस्थित पर्यावरण में रहता है, घर ही उसका पर्यावरण होता है। अगर माता-पिता संयम का, साफ-सुथरा जीवन व्यतीत करेंगे, तो बच्चा वही-कुछ सीखेगा, अगर वे नाच-तमाशों में, राग-रंग में घुले रहेंगे तो बच्चा भी उसी जीवन में रंग जायेगा। एक मनोवैज्ञानिक ने ठीक ही कहा है—''अपने बच्चे को जन्म के पहले पाँच वर्ष तक मेरे पास रखो, फिर वह जन्म भर मेरा रहेगा।'' यही कारण है कि शैशव-काल में बच्चे जिस गुरु से शिक्षा ग्रहण करता है वे भले ही आगे चलकर देश के कर्णधार बन जाएँ, गुरु भले ही जैसा साधारण-सा था वैसा ही रहे, परन्तु जब वे अपने शैशव-काल के गुरु से मिलते हैं उनका मस्तक नत हो जाता है। पिता जब बालक की जीभ पर 'ओ३म्' लिखताहै तब वह अपने ऊपर यह जिम्मेवारी लेता है कि अपने सन्तान को भोगवाद में छोड़ देने के स्थान में वह उसे अध्यात्म के मार्ग का पथिक बनायेगा। यह जिम्मेवारी तो पिता पर आती है, परन्तु इसी समय पिता बच्चे पर भी उसके अनजाने एक जिम्मेवारी डाल देता है। बच्चा जब बड़ा होता है और उसे पता चलता है कि उसके पिता ने भरी समाज के समूह में यह प्रतिज्ञा की थी कि वह उसके लिये अध्यात्म के मार्ग का पथ-प्रदर्शक बनेगा, तब बच्चा भी दिनोंदिन अनुभव करने लगता है कि उसे अपने माता-पिता तथा समाज की आशाओं को पूर्ण करना होगा। इस दृष्टि से बालक की जीभ पर स्वर्ण-शलाका द्वारा सबके सामने 'ओ३म्' लिखना बच्चे के अध्यात्मिक-विकास के लिये अत्यावश्यक है। संस्कार करने का उद्देश्य मानव-समाज को उच्च-से-उच्चतर तथा उच्चतर-से-उच्चतम मानव देना है जिस दिशा में स्वर्ण-शलाका द्वारा बालक की जीभ पर ओंकार लिखना एक कदम है।

(२) बालक के कान में 'वेदोसि' कहना—बालक की जीभ पर ओंकार लिखने का अर्थ है कि उसके मुख से जो-कुछ निकलेगा वह उसे अध्यात्म की तरफ ले जाएगा, परन्तु उसके मुख से अध्यात्म की बात तभी तोनिकलेगी जब उसके भीतर अध्यात्म भरा होगा। इसीलिये बालक के कान में पिता कहता है—**'वेदोसि'**—तू ज्ञानवाला प्राणी है, अज्ञानी नहीं है। कान में मन्त्र देने की प्रथा सब जगह चल रही है, कान में मन्त्र देने का अर्थ है—गुप्त बात, वह बात जो अपने अन्त:करण में संभाल कर रखने की होती है। जब कोई गुरु किसी शिष्य को कान में गुप्त-मन्त्र देता है तब देनेवाला और लेनेवाला दोनों समझते हैं कि अब इसका पालन धर्म के तौर पर करना होगा, इसका कभी भंग नहीं होगा। पिता पुत्र के कान में उसके जन्म लेते ही यह बात फूँक देता है कि उसे संसार में ज्ञानी बनकर रहना होगा, अज्ञानी बनकर नहीं रहना होगा। जिस वैदिक-संस्कृति ने बच्चे के जन्म ग्रहण करते ही जातकर्म-संस्कार के रूप में हर बच्चे के कान में यह फूँक दिया था कि उसे ज्ञानी बनना है,

उस संस्कृति में क्या अनपढ़ लोग रह सकते थे? और फिर, कान में गुप्त-मन्त्र के रूप इस बात को कहना! गुप्त-रूप में जो बात कही जाती है उसका स्पष्ट रूप में कह देनेवाली बात से ज्यादा महत्त्व होता हैं। मुसलमानों में भी बच्चे के पैदा होते ही उसके दोनों कानों में आजान पढ़ी जातीहै, उसके कानों में चार बार 'अल्लाहो अकबर' का नाद सुनाया जाता है—यह सुनाया जाता है कि 'अशहदो अनलाइलाह इल्लला व अशहदो अन अन्नामुहम्मदर्रसूलिल्लाह'! दोनों की शब्दावली अलग-अलग है, परन्तु बच्चे के पैदा होते ही उसके कानों में अपनी भावना के अनुसार आध्यात्मिक शब्दों का उच्चारण करना दोनों में समान है।

जातकर्म-संस्कार में सुवर्ण की शलाका से घी और शहद चाटना और उसी संस्कार में जीभ पर '**ओ३म्**' लिख देना और कान में '**वेदोसि**' का मन्त्र फूँक देना ऐसी संस्कृति का सूचक है जिसमें खाना-पीना, मौज-बहार करना, संसार के सुखों का उपभोग करना और भौतिक-जीवन के साथ-साथ आध्यात्मिक-जीवन बिताना—इन दोनों का संतुलित सम्मिश्रण था। न वह संस्कृति निरी भौतिकवादी ही थी जिसमें पर-लोक को कोई स्थान न था, न वह कोरी अध्यात्मवादी ही थी जिसमें इह-लोक को स्थान न था। वह यथार्थवादी संस्कृति थी, जिसमें इह-लोक तथा पर-लोक दोनों का समन्वय था।

३. 'बालक'-पद का अभिप्राय

संस्कारविधि में **जातकर्म** से लेकर **वेदारम्भ** तक '**बालक**'-शब्द है। यहाँ 'बालक'-शब्द जातिवाचक है, इससे बालक तथा बालिका दोनों का सर्वत्र ग्रहण इष्ट है। 'कर्णवेध'-संस्कार में लिखा है—'बालक के कर्ण वा नासिका के वेध का समय'! तो क्या बालक की नासिका का भी वेध होता है? नासिका-वेध तो बालिकाओं का होता है। इसलिये स्पष्ट है कि संस्कार-विधि में जहाँ-जहाँ 'बालक'-शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ-वहाँ प्रकरणानुसार बालक तथा बालिका दोनों समझना चाहिए। इसीलिये उपनयन-संस्कार के समय जब 'बालक'-शब्द का प्रयोग किया गया है वहां बालिका के उपनयन का अभिप्राय भी 'बालक'-शब्द में अन्तर्निहित है। इसी प्रकार आशीर्वाद देते हुए भी लिंग-परिवर्त्तन करके आशीर्वाद पढ़ना चाहिये।

जातकर्म संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

(१) जो सामान जुटाकर रखना चाहिये—देखो पृष्ठ........

(२) इस संस्कार के लिए विशेष सामान—घृत, मधु तथा सुवर्ण शलाका; नाड़ी को बाँधने के लिए सूत; नाड़ी छेदन का यन्त्र; बच्चे के शुद्ध वस्त्र; चावल और जौं को शुद्ध करके पानी में पीसकर वस्त्र से छानकर एक पात्र में रखें।

(गर्भिणी का सूतिका-गृह में दो वार जल से मार्जन)

यह कार्य प्रसूता-घर से बाहर आने से पहले, घर के भीतर ही, किया जाता है। जब प्रसव होने का समय आवे तब निम्नलिखित मन्त्र से गर्भिणी के शरीर पर जल से मार्जन करें—

***ओम् एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह।**
यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजति।
एवायं दशमास्यो अस्त्रज्जरायुणा सह॥ —यजु० ८।२८

इससे मार्जन करने के पश्चात् निम्न दूसरे मन्त्र का जप करके पुनः मार्जन करें—

ओम् अवैतु पृश्निशेवलꣳशुने जराय्वत्तवे। नैव माꣳसेन पीवरीं न कस्मिंश्चनायतनमव जरायु पद्यताम्॥ —पा०गृ० १, १६, २

शब्दार्थ—तेरा **(जरायु)** गर्भ के ऊपर लिपटा चमड़ा जो कि **(पृश्निी)** अनेक रंग-रूप वाला है तथा **(शेवलं)** गाढ़ा है, वह **(शुने अत्तवे)** श्वान आदि जानवरों के भक्षणार्थ **(अव एतु)** नीचे उतर आये **(पीवरीं)** तेरे गर्भाशय की मोटी थैली को जिसमें शिशु है **(जरायु)** वह चमड़े की थैली **(आयतनम्)** गर्भाशय के और किसी हिस्से को **(मांसेन)** उसके मांस के साथ **(नैव अवपद्यताम्)** नीचे न घसीट लाये।

भावार्थ—इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है कि जिस थैली में शिशु बाहर आ रहा है वह सुरक्षित बाहर आ जाय ताकि प्रसव स्वस्थ हो। ऐसा न हो कि थैली अन्दर रह जाये। साथ ही प्रार्थना है कि इस थैली के साथ गर्भिणी का कोई और अंग बाहर न निकल आये।

जब सन्तान का जन्म होवे तब प्रथम दायी आदि स्त्री लोग सन्तान के शरीर का जरायु पृथक् कर मुख, नासिक, कान, आँख आदि में से मल को शीघ्र दूर कर

* इस मन्त्र का अर्थ 'गर्भाधान प्रकरण' (पृष्ठ १३७-१३८) में देखें

कोमल वस्त्र से पोंछ शुद्ध कर पिता के गोद में सन्तान को देवें।

[नाड़ी छेदन]

पिता जहाँ वायु और शीत का प्रवेश न हो वहाँ बैठ के एक बीता भर नाड़ी को छोड़ ऊपर सूत से बाँध के उस बन्धन के ऊपर से नाड़ी-छेदन करके, किञ्चित् उष्णजल से बालक को स्नान करा, शुद्ध वस्त्र से पूँछ, नवीन शुद्ध-वस्त्र पहना, जो प्रसूता-घर के बाहर कुण्ड रखा हो वहाँ आ जाए।

यजमान अर्थात् बालक का पिता हाथ पग धोके वेदी के पश्चिम भाग में आसन बिछा उसपर उपवस्त्र ओढ़ पूर्वाभिमुख बैठे और पुरोहित उत्तराभिमुख बैठे।

[प्रसूता-गृह के बाहर का कार्यक्रम—यज्ञारम्भ]*

नाड़ी-छेदन के बाद प्रसूता-गृह के बाहर निम्न विधि करें। '**ऋत्विग्वरण**' (पृष्ठ ७१), '**आचमन-मन्त्र**' (पृष्ठ ७१) पढ़कर आचमन करें, फिर '**अंग-स्पर्श-मन्त्र**' (पृष्ठ ७२) पढ़कर अंगों का स्पर्श करें, फिर समिधा-चयन कर '**अग्न्याधान**' (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिवभूम्ना आदि, पृष्ठ ७२) करें—अर्थात्, यज्ञ की अग्नि का आधान करें, फिर अग्नि का '**प्रदीपन**' (ओं उद्‌बुध्यस्वाग्ने, पृष्ठ ७३) करें। इसके अनन्तर ४ मन्त्रों से वेदी में चन्दन की '**समिदाधान**' (ओम् अयन्त इध्म आत्मा+समिधाग्निं दुवस्यत+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिः, पृष्ठ ७४-७७) करें और प्रदीप्त समिधा पर पूर्वोक्त सिद्ध किये हुए घी की ४ '**आधारावाज्यभागाहुतियाँ**' (ओं अग्नये स्वाहा से ओं इन्द्राय स्वाहा तक, पृष्ठ ७८) तथा ४ '**व्याहृति आहुतियाँ**' (ओं भूरग्नये स्वाहा से ओं भूर्भुवः स्वरग्नि० तक, पृष्ठ ७९) दोनों मिलाकर ८ आज्याहुतियाँ दें।

[दो आज्याहुतियाँ]

तत्पश्चात्, निम्न दो मन्त्रों से इस विशेष होम की दो और आज्याहुतियाँ दें—

ओं या तिरश्ची निपद्यते अहं विधारणी इति।
तं त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳ राधनीमहम्।
सꣳराधिन्यै देव्यै देष्ट्र्यै स्वाहा॥ इदं संराधिन्यै—इदं न मम॥ १॥

शब्दार्थ—पति कहता है—**(या)** जो मेरी पत्नी **(अतिरश्ची)** टेढ़े नहीं

---

* इस यज्ञ में अग्न्याधान तथा समिदाधान के बाद 'ओम् आ वसोः सदने सीद'—'ओं सीदामि' का संस्काराविधि में उल्लेख है। इसी प्रकार इस यज्ञ में 'स्वस्तिवाचन', 'शान्तिकरण', 'अयं त इध्म आत्मा' से पंचाज्याहुतियाँ, जल-प्रसेचन, स्विष्टकृताहुति, ४ पवमानाहुति तथा 'त्वं नो अग्ने०' आदि मन्त्रों से अष्टाज्याहुतियों का उल्लेख नहीं है। 'ईश्वरोपासना' का उल्लेख संस्कार के बीच में बालक की जीभ पर सोने की शलाका से घी तथा मधु द्वारा 'ओ३म्' लिखने से पहले मिलता है।

चलती, अनुकूलगामिनी **(निपद्यते)** हैं **(अहम्)** मैं उसके लिये **(विधारणी इति)** धारण करनेवाला हूँ **(तं संराधनीम् त्वा)** उस अच्छे कार्यों को सिद्ध करनेवाली तुझ पत्नी को **(घृतस्य धारया)** घी के भण्डार से **(यजे)** भरपूर करता हूँ। इष्ट कार्यों को सिद्ध करनेवाली तुझ पत्नी के लिये यह मेरा—स्वाहा—मधुर वचन है।

ओं विपश्चित् पुच्छमभरत् तद्धाता पुनराहरत्।
परे हि त्वं विपश्चित् पुमानयं जनिष्यतेऽसौ नाम स्वाहा॥
इदं धात्रे—इदं न मम॥ २॥ —मन्त्र ब्रा० १,५,६-७

शब्दार्थ—पत्नी उत्तर देती है—**(विपश्चित्)** विद्वान् पति ने **(पुच्छम्—पुत्=पुत्र; शम्=गर्भाशय में जो सो रहा है)** गर्भस्थ सन्तान को **(अभरत्)** गर्भाशय में भरा है **(तत्)** उसे **(धाता)** संसार के धारण करनेवाले ने **(आहरत्)** गर्भाशय से बाहर निकाला है **(हे विपश्चित्)** हे विद्वान् पति **(त्वं परेहि)** अब मुझसे दूर रहो—संसर्ग पर्याप्त समय तक मत करो **(असौ नाम)** अमुक नाम का **(अयम्)** यह सन्तान **(पुमान् जनिष्यते)** पुंस्त्व-शक्ति का बन सके। यह कथन मैं धाता की तरफ से कह रही हूँ, यह मेरा कथन नहीं है। इस मन्त्र में प्रथम सन्तान उत्पन्न होने के बाद पर्याप्त समय तक पति-पत्नी को संसर्ग नहीं करना चाहिये ताकि इस सन्तान के निर्माण के लिये पर्याप्त ध्यान दिया जा सके—यह कहा गया है।

[पूर्णाहुति, वामदेव्यगान तथा ईश्वरोपासना]

उक्त दो मन्त्रों से दो आहुतियाँ देने के बाद **'ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा'** से तीन आहुतियाँ देकर, वामदेव्यगान करें, और ईश्वरोपासना के **'विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव'** (पृष्ठ ३४)—इन आठ मन्त्रों से ईश्वरस्तुति करें।*

[पूर्णाहुति आदि के बाद की विधि]

(क) **जीभ पर शहद से 'ओ३म्' लिखना**—इसके बाद सोने की शलाका लेकर उससे बालक की जीभ पर **'ओ३म्'** लिखे।

(ख) **दक्षिण कान में 'वेदोऽसि' कहना**—जीभ पर शहद से **'ओ३म्'** लिखने के बाद उसके कान में **'वेदोऽसि'**—तेरा गुप्त नाम वेद है—यह कहे।

(ग) **सोने की शलाका से घृत तथा मधु चटाये**—कान में **'वेदोऽसि'** कहने के बाद निम्न ७ मन्त्रों से **'मधु प्राशन'** कराये, अर्थात मन्त्र बोलता जाए और सोने की शलाका से सन्तान को घृत मिलाकर मधु चटाता जाय। दो बूँद घी के हों तो छः

---

* जातकर्म संस्कार में 'ईश्वरोपासना' का उल्लेख संस्कार के बीच में इस स्थल पर मिलता है, इस संस्कार में स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण तथा पूर्णाहुति का उल्लेख संस्कारविधि में नहीं है।

बूँद शहद के हों, बराबर-बराबर मिलाने से नुक्सान होता है—ऐसा आयुर्वेदज्ञों का मत है। '**मधु-प्राशन**' के समय जो ७ मन्त्र बोलने हैं वे निम्न हैं—

[मधु-प्राशन के मन्त्र]

ओं प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसूतं मघोनाम्।
आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन्॥ १॥

—आश्व० गृ० १।१५

शब्दार्थ—हे बालक **(ते)** तुझे **(मधुनो घृतस्य)** शहद और घृत की बूँदों को **(प्र ददामि)** अच्छी तरह से देता हूँ। इसे **(मघोनाम्)** धन-सम्पत्तियों के **(सवित्रा)** स्रष्टा ने **(प्रसूतम्)** उत्पन्न किया है **(वेद)** यह जान **(देवताभिः)** देवताओं द्वारा **(गुप्तः)** रक्षित तू **(अस्मिन् लोके)** इस पृथ्वी लोक में **(शतम् शरदः)** सौ बरस तक **(जीव)** जीता रहे।

भावार्थ—घृत और शहद को परमात्मा ने इसलिये उत्पन्न किया है कि तू इन पदार्थों का सेवन करता हुआ सौ बरस की आयु प्राप्त करे। इस मन्त्र से, घृत और शहद द्वारा दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है—यह बात कही है। वर्त्तमान विज्ञान में भी 'कार्बोहाइड्रेट्स' (Carbohydrates) में सर्वोत्तम शहद को ही माना गया है।

ओं भूस्त्वयि दधामि॥ २॥
ओं भुवस्त्वयि दधामि॥ ३॥
ओं स्वस्त्वयि दधामिं॥ ४॥

शब्दार्थ तथा भावार्थ—(त्वयि) तुझमें **(भूः, भुवः, स्वः)** पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष लोक तथा द्युलोक का ज्ञान **(दधामि)** धारण करता हूँ, तुझमें स्थापित करता हूँ। इन सब में जो कुछ है उसका ज्ञान तुझे प्राप्त हो।

ओं भूर्भुवः स्वस्सर्वं त्वयि दधामि॥ ५॥

—पार०गृ०कां० १, कं० १६, सू० ४

शब्दार्थ तथा भावार्थ—ऊपर के तीनों मन्त्रों में जो कुछ कहा उस सबको समेट कर इस एक मन्त्र में वह सब कह दिया गया है।

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥ ६॥ —यजु०अ० ३२, मं० १३

शब्दार्थ—अब पिता बालक की तरफ से कहता है कि मैं **(सनिम् मेधाम्)** विवेचना देनेवाली मेधा—बुद्धि—को **(अयासिषम्)** प्राप्त होऊँ। कैसी मेधा? **(सदसस्पतिम्)** जो समूह की पति अर्थात् स्वामिनी है **(अद्भुतम्)** विलक्षण है, **(प्रियम्)** प्रिय है, **(इन्द्रस्य काम्यम्)** इन्द्र भी जिस बुद्धि की कामना करता है।

भावार्थ—पहले मन्त्र में पिता पुत्र के लिये प्रार्थना कर रहा है, इस मन्त्र में पिता द्वारा पुत्र कह रहा है कि मुझे वह मेधा दे जिसकी इन्द्र भी कामना करता है।

इन प्रत्येक मन्त्रों से छः बार (अर्थात् एक-एक से एक-एक बार करके छः बार) घृत-मधु प्राशन कराके, तत्पश्चात् चावल और जौ को शुद्ध कर पानी से पीस, वस्त्र से छान, एक पात्र में रख के हाथ के अंगूठा और अनामिका से थोड़ा-सा लेके—

ओम् इदमाज्यमिदमन्नमिदमायुरिदममृतम्॥

—मं०ब्रा० १,५,८; गो०गृ० २,७,१८

(इदम्) यह **(आज्यम्)** आज्य है, **(इदम् अन्नम्)** यह अन्न है, **(इदम् आयः)** यह आयु है, **(इदम् अमृतम्)** यह अमृत है—अर्थात् रसायन है। इस मन्त्र में घृत तथा मधु की प्रशंसा है।

इस मन्त्र को बोल के बालक के मुख में एक बिन्दु छोड़ देवे। यह एक गोभिलीय गृह्यसूत्र का मत है, सबका नहीं।

पश्चात् बालक का पिता बालक के दक्षिण कान में मुख लगा के निम्नलिखित मन्त्र बोले—

[पिता द्वारा निम्न ९ मन्त्रों से शिशु के दायें कान में आशीर्वाद]

ओं मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती।
मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ॥ १॥ —आश्व गृ० १,१५,२

(देवः सविता) सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला परमात्म-देव **(सरस्वती देवी)**, और ज्ञान देनेवाली सरस्वती वाग्देवी, और **(अश्विनौ)** अश्वि देवता, और **(पुष्करस्त्रजौ)** पुष्कल उत्पत्ति करके संसार को माला में पिरो देनेवाली पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व नाम की दोनों शक्तियाँ—हे बालक! **(मेधां आधत्ताम्)** तुझे मेधा को दें।

ओम् अग्निरायुष्मान्त्स वनस्पतिभिरायुष्माँस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि॥ २॥

(अग्निः) अग्नि देवता **(आयुष्मान्)** दीर्घ आयु का है, सदा प्रदीप्त रहता है **(सः)** वह अग्निदेव **(औषधीभिः)** औषधियों से, समिधाओं से **(आयुष्मान्)** दीर्घजीवी है; **(तेन)** उस अग्नि से **(त्वा)** तुझे **(आयुष्मन्तं)** दीर्घ आयुवाला **(करोमि)** करता हूँ।

ओं सोम आयुष्मान्त्स ओषधीभिरायुष्माँस्तेन० *॥ ३॥

(सोमः) चन्द्रमा **(आयुष्मान्)** दीर्घजीवी है, **(सः)** वह **(ओषधीभिः)** औषधियों में जीवनी-शक्ति डालने के कारण **(आयुष्मान्)** दीर्घजीवी हैं; मैं उससे तुझे दीर्घजीवनवाला करता हूँ।

---

* यहाँ (पृष्ठ १८३-१८४ के ३ से ८ मन्त्र) पूर्व मन्त्र का शेष भाग (त्वा इत्यादि) उत्तर मन्त्रों के पश्चात् बोले।

ओं ब्रह्माऽऽआयुष्मत् तद् ब्राह्मणैरायुष्मत् तेन० * ॥ ४ ॥

(ब्रह्म) वेद **(आयुष्मत्)** शाश्वत है **(तत्)** वह **(ब्रह्मणै)** ब्राह्मणों के द्वारा वेद का निरन्तर अध्ययन करने के कारण **(आयुष्मान्)** दीर्घजीवी है, मैं उससे तुझे दीर्घ-जीवनवाला करता हूँ।

ओं देवा आयुष्मन्तस्तेऽमृतेनायुष्मन्तस्तेन० * ॥ ५ ॥

(देवाः) विद्वान् लोग **(आयुष्मन्तः)** दीर्घजीवी हैं, **(ते)** वे **(अमृतेन)** विद्यारूपी अमृत से **(आयुष्मन्तः)** दीर्घजीवी हैं, मैं उससे तुझे दीर्घ-जीवनवाला करता हूँ।

ओम् ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन० * ॥ ६ ॥

(ऋषयः) ऋषि लोग **(आयुष्मन्तः)** दीर्घ-जीवी हैं **(ते)** वे **(व्रतैः)** तपस्या आदि व्रतों से **(आयुष्मन्तः)** दीर्घजीवी हैं, मैं उससे तुझे दीर्घजीवनवाला करता हूँ।

ओं पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन० * ॥ ७ ॥

(पितरः) वृद्ध पितर **(आयुष्मन्तः)** दीर्घजीवी हैं **(ते)** वे **(स्वधाभिः)** पौष्टिक भोजनों से **(आयुष्मन्तः)** दीर्घजीवी हैं, मैं उससे तुझे दीर्घजीवनवाला करता हूँ।

ओं यज्ञ आयुष्मान्त्स दक्षिणाभिरायुष्माँस्तेन० ॥ ८ ॥

(यज्ञः) यज्ञ **(आयुष्मान्)** दीर्घजीवी है, निरन्तर होते रहते हैं, **(ते)** वे **(दक्षिणाभिः)** यज्ञों में दी जानेवाली दक्षिणाओं से **(आयुष्मन्तः)** दीर्घजीवी हैं, मैं उससे तुझे दीर्घजीवनवाला करता हूँ।

ओं समुद्र आयुष्मान्त्स स्रवन्तीभिरायुष्मांस्तेन त्वायुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि ॥ ९ ॥
—पा०गृ०कां० १,१६,६

(समुद्रः) समुद्र **(आयुष्मान्)** दीर्घजीवी है **(सः)** वह **(स्रवन्तीभिः)** स्रवण करनेवाली नदियों के निरन्तर समुद्र में पानी डालते रहने के कारण **(आयुष्मान्)** दीर्घजीवी है **(तेन)** उस **(आयुषा)** दीर्घजीवन से **(त्वा)** तुझे **(आयुष्मन्तं)** दीर्घजीवी **(करोमि)** करता हूँ।

भावार्थ—इन मन्त्रों में सविता, अग्नि, सोम, ब्रह्म, देव, ऋषि, पितर, यज्ञ, समुद्र—इन सबको आयुष्मान् कहा गया है, इनके आयुष्मान्—दीर्घजीवी—होने के कारणों को भी बतलाया गया है, पिता पुत्र को कहता है कि इनकी कृपा से मैं तुझे दीर्घजीवी बनाऊँगा। जैसे इनके दीर्घजीवी होने के भिन्न-भिन्न कारण हैं वैसे तेरे दीर्घजीवी होने का कारण मैं बनूँगा, तुझे स्वस्थ रखने की जिम्मेवारी मेरी होगी।

---

* यहाँ (पृष्ठ १८३-१४ के ३ से ८ मन्त्र) पूर्व मन्त्र का शेष भाग (त्वा इत्यादि) उत्तर मन्त्रों के पश्चात् बोले।

[उक्त मन्त्रों द्वारा शिशु के बायें कान में भी उक्त मन्त्र-जाप]

इसी प्रकार बायें कान पर मुख धर ये ही नव मन्त्र पुनः जपे।

इसके पीछे बालक के कन्धों पर कोमल स्पर्श से हाथ धर के, अर्थात् बालक के स्कन्धों पर हाथ का बोझ न पड़े, निम्नलिखित मन्त्र बोले—

[पिता बालक के कन्धे पर हाथ धर कर ये ३ मन्त्र बोले]

ओम् इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे। पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥ १ ॥ —ऋ० २,२१,६

शब्दार्थः—(इन्द्र—इदि परमैश्वर्ये) हे परमैश्वर्ययुक्त भगवन्! **(अस्मे)** हमारे लिये **(श्रेष्ठानि द्रविणाभि)** श्रेष्ठ धनों को **(दक्षस्य चित्तिं)** चतुर मनुष्य का चित्त **(सुभगत्वम्)** सौभाग्य **(रयीणाम् पोषम्)** धनों की पुष्टता—वृद्धि **(तनूनाम् अरिष्टिम्)** शरीरों की आरोग्यता **(वाचः स्वाद्मानम्)** वाणी की मधुरता **(अन्हाम् सुदिनत्वम्)** दिनों की सुदिनता **(धेहि)**—इन सबको हमें दीजिये।

अस्मे प्र यन्धि मधवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।
अस्मे शतं शरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्॥ २ ॥

—ऋ० ३।३६।१०, आ०गृ० १।१५।३

शब्दार्थ—**(ऋजीषन्)** प्रापणीय **(मघवन्)** ऐश्वर्ययुक्त **(इन्द्र)** परमेश्वर **(विश्ववारस्य)** सब आपत्तियों के निवारण करने वाले **(भूरेः रायः)** विपुल धन को **(अस्मे)** हमारे लिये **(प्रयन्धि)** दीजिये—**(अस्मे जीवसे)** हमारे जीवन के लिए **(शतं शरदः)** सौ बरस **(धाः)** दीजिये **(शिप्रिन् इन्द्र)** हे ज्ञानयुक्त भगवन्! **(शश्वतः वीरान् वाः)** हमारे लिये निरन्तर रहने वाले वीर पुरुषों को दीजिये।

ओम् अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। वेदो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ ३ ॥ —मं०ब्रा० १।५।१८, आ०गृ० १।१५।३

शब्दार्थ—हे बालक **(अश्मा भव)** तू पत्थर की तरह दृढ़ शरीरवाला हो **(परशुः भव)** शत्रुओं के लिये कुल्हाड़े की तरह हो **(अस्तृतम् हिरण्यम् भव)** स्वच्छ सोने की तरह हो **(पुत्रनामा)** पुत्र इस नाम से तू **(वै)** निश्चय से (वेदः असि—पहले भी पुत्र को 'वेदोऽसि' कहा है) वेद है, ज्ञानमय हैं **(सः)** वह तू **(शरदः शतम्)** सौ बरस **(जीव)** जीये।

(पिता निम्न मन्त्र का ३ बार जाप करे)

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽ अस्तु त्र्यायूषम्॥ —यजु० ३।६२, पार०गृ० १।१६।७

शब्दार्थ—**(जमदग्नेः त्र्यायुषम्)** प्रतिदिन हवन करने वाले व्यक्ति की तीन आयु (कश्यपस्य त्र्यायुषम्—तृषि मृषि कृषो काश्यपस्य—पाणिनि १।२।२५) कृषि

करने वाले व्यक्ति की तीन आयु **(देवेषु यत् त्र्यायुषम्)** दिव्य-गुण वाले व्यक्तियों की तीन आयु जितनी होती हैं **(तत्)** वह **(त्र्यायुषम्)** उतनी तीन, अर्थात् तीन गुणा आयु **(नः)** हमारी **(अस्तु)** हो—यहाँ यह कामना की गई है कि हमारी बहुत लम्बी आयु हो, जितनी आयु अग्निहोत्रियों की, कृषकों की या दिव्य व्यक्तियों की होती है, उससे तीन गुणा हमारी आयु हो।

(प्रसूतागार में जाकर जप तथा प्रसूता-मार्जन)

तत्पश्चात्, बालक के स्कन्धों पर से हाथ उठाले और जिस जगह पर बालक का जन्म हुआ हो, वहाँ प्रसूतागार में जाकर निम्न मन्त्र का जप करे तथा इसके आगे के मन्त्रों को पढ़ता हुआ सुगन्धित जल से प्रसूता के शरीर का मार्जन करे—

प्रों वेद ते भूमि हृदयं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्। वेदाहं तन्मां तद्विद्यात् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्॥ १॥

—पार० १।१६।१७

शब्दार्थ—हे **(भूमि)** भूमि के समान उत्पादन करनेवाली देवि! **(ते हृदयम्)** तेरा हृदय **(दिवि चन्द्रमसि)** द्युलोक में रहने वाले आल्हाददायक चन्द्र में **(स्थितम्)** रहा है—चाँद को देखकर जितनी प्रसन्नता होती है वह तुझे सन्तानोत्पति के विचार से हो रही है, यह मैं **(वेद)** जानता हूँ **(वेद अहम् तत्)** मैं इस बात को ठीक से जानता हूँ **(तत् मां विद्यात्)** तू भी यह जान कि मुझे भी इस बात से उतना ही आह्लाद हो रहा है **(पश्येम शरदः शतम्)** हम दोनों सौ बरस तक देखते रहें **(जीवेम शरदः शतम्)** हम दोनों सौ बरस तक जीवित रहें **(शुणुयाम शरदः शतम्)** हम दोनों सौ बरस तक सुनते रहें। यहाँ प्रार्थना की गई है कि सौ बरस तक हमारे सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग अपना काम ठीक-ठीक करते रहें।

यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम्॥ २॥

शब्दार्थ—**(सुसीमे)** हे सुन्दर केश-विन्यासवाली **(प्रजापतौ)** सन्तान की पालना में **(यत् ते)** जो तेरा **(हृदयम्)** हृदय **(अन्तः हितम्)** हित करने में लगा हुआ है **(तत् अहम्)** वह मैं **(मन्ये)** मानता हूँ कि वह **(ब्रह्म)** महान् है। तू अपनी सन्तान के लिये इतना हित चाहती है तो **(अहम्)** मैं भी **(पौत्रं अघं)** पुत्र से होनेवाले दुःख को **(मा)** मत **(निगाम्)** प्राप्त होऊँ। अर्थात् जैसे तुझे पुत्र प्यारा है, वैसे ही मुझे भी वह उतना ही प्यारा है।

यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदामृतस्येह नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम्॥ ३॥

शब्दार्थ—**(यत्)** जो **(पृथिव्याः)** पृथिवी का **(अनामृतम्)** मृत्युपन है **(यत्)** जो **(दिवि चन्द्रमसि)** द्युलोक के चन्द्रमा में **(अनामृतम् श्रितम्)** मृत्युपन

है उसे **(वेद)** मैं जानता हूँ—मैं जानता हूँ कि पृथिवीलोक और द्युलोकस्थ चन्द्रमा में जो कुछ है अनामृत है, मरणधर्मा है, परन्तु **(इह)** इस घर में जिसमें हम पति-पत्नी अपने पुत्र के साथ हैं **(अहम् अमृतस्य नाम वेद)** यहाँ तो मैं पारस्परिक-प्रेम के कारण अमरत्व को ही जानता हूँ **(अहं)** मैं **(पौत्रं अघं)** पुत्र के नष्ट होने के पाप को **(मा रिषम्)** मत प्राप्त होऊँ।

भावार्थ—मुझे मालूम है कि पृथ्वीलोक, चन्द्रलोक—सब जगह जो कुछ है नाशवान है, मरणधर्मा है, परन्तु अपने घर में—यहाँ—हम दोनों पति-पत्नी का इतना प्रेम है कि इस मरणधर्मा संसार में मुझे अमरत्व दिखलाई देता है। हम दोनों के इस अमरता के प्रेममय, भावनामय जगत् में हमारी सन्तान का भी हिस्सा है, हम दोनों ऐसा कुछ न करें जिससे सन्तान के कष्ट से हमें अमरता की भावना को खोना पड़े।

इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे प्रजापती।
यथायं न प्रमीयते पुत्रो जनित्र्या अधि॥ ४॥

शब्दार्थ—**(इन्द्राग्नी)** सूर्य और अग्नि **(प्रजापती)** जो सन्तान का पालन करनेहारे हैं वे **(मे प्रजायै)** मेरे पुत्र के लिये **(शर्म)** शरण **(यच्छत)** दें **(यथायं)** ताकि यह **(जनित्र्या पुत्रः)** जननी का पुत्र **(न अधि प्रमीयते)** नष्ट न हो।

यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳश्रितम्। तदहं विद्वाꣳस्तत् पश्यन्माहं पौत्रमघꣳ रुदम्॥ ५॥ —मं०ब्रा० १।५।१०-१३, गोभिल गृ० २।८।४-७

शब्दार्थ—**(यत् मदः)** जो यह **(चन्द्रमसि)** चन्द्रमा में **(पृथिव्याः)** पृथिवी का **(कृष्णम्)** काला **(हृदयम्)** हृदय अर्थात् पृथिवी की छाया **(श्रितम्)** स्थित है **(तत् अहम्)** वह मैं **(विद्वान्)** जानता हूँ **(तत् पश्यन्)** उसे देखता हुआ **(अहम्)** मैं **(पौत्रम्)** पुत्र-सम्बन्धी **(अघम्)** दुःख को **(मा रुदम्)** मत रोऊँ।

भावार्थ—कितना सुन्दर चाँद है, उसमें भी पृथिवी की छाया पड़ जाती है, इसे जानता हुआ मैं समझ जाऊँ कि जीवन में सबसे बड़ा सुख पुत्र का है, परन्तु उसके सम्बन्ध में भी कष्ट आ सकते हैं। इन कष्टों को देखकर मैं रोने न बैठ जाऊँ।

(निम्न मन्त्रों से सन्तान को आशीर्वाद दे)

कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि। आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ॥ ६॥

शब्दार्थ—पुत्र की तरफ देखकर पिता कहता है **(कः असि)** तू कौन है? **(कतमः असि)** तू कौन-सा है? फिर स्वयं उत्तर देता है **(एषः असि अमृतः असि)** तू यह है—तू अमृत है। वेद में कहा भी है—'शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः'। **(असौ)** हे तू बालक! **(आहस्पत्यं)** सूर्य से सम्बन्ध रखनेवाले **(मासं)** महीने में **(प्रविश)** प्रवेश कर—अर्थात् अपना जीवन प्रारम्भ कर। 'असौ' की जगह 'हे बालक'! कहे—

स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वाहोरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ

त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु मासास्त्वर्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददात्वसौ ॥ ७ ॥
—मं०ब्रा० १।५।१४-१५, गोभिल गृ० २।८।१३-१४

शब्दार्थ—ईश्वर करे कि **(सः)** वह सूर्य **(त्वा)** तुझे **(अन्हेः)** दिन को **(परिददातु)** सौंप दे **(अहः)** दिन **(त्वा रात्र्यै परिददातु)** तुझे रात्रि को सौंप दे **(रात्रिः त्वा अहोरात्राभ्याम् परिददातु)** रात्रि तुझे दिन और रात को सौंप दे **(अहोरात्रौ त्वा अर्धमासेभ्यः परिदत्ताम्)** दिन और रात तुझे पक्ष को सौंप दे **(अर्धमासाः त्वा मासेभ्यः परिददतु)** पक्ष तुझे महीनों को सौंप दें **(मासाः त्वा ऋतुभ्यः परिददतु)** महीने तुझे ऋतुओं को सौंप दें **(ऋतवः त्वा संवत्सराय परिददतु)** ऋतु तुझे वर्ष के लिये सौंप दें **(असौ संवत्सरः)** वह वर्ष **(त्वा आयुषे, जरायै)** तुझे आयु वृद्धि तथा वृद्धावस्था को **(परिददातु)** सौंप दें। कहने का अभिप्राय यह है कि तेरी दीर्घ आयु हो जिसमें दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतुएँ, वर्ष आते चले जायें।

(निम्न मन्त्रों को पढ़ कर बालक के शिर का आघ्राण करे, सूँघे)

अङ्गादङ्गात् सꣳस्त्रवसि हृदयादधिजायसे।
प्राणं ते प्राणेन सन्दधामि जीव मे यावदायुषम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—हे पुत्र **(अंगात् अंगात्)** मेरे अङ्ग-अङ्ग से तू **(संस्त्रवसि)** चूआ है **(हृदयात्)** हृदय से **(अधिजायसे)** तू मेरे हृदय से उत्पन्न हुआ है **(ते प्राणम्)** तेरे प्राण को **(प्राणेन)** अपने प्राण से **(सन्दधामि)** संयुक्त करता हूँ **(मे जीव)** ए मेरे बच्चे **(यावत् आयुषम् जीव)** पूरी आयु का भोग कर।

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे।
वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—हे पुत्र तू मेरे अङ्ग-अङ्ग से चूआ है, मेरे हृदय से उत्पन्न हुआ है **(त्वं वेदः वै पुत्रनामा असि)** तू ज्ञानवाला पुत्र नाम से है, सौ वर्ष तक जी। पहले भी कहा है—**'वेदोऽसि'**—उसी को यहाँ दोहराया है।

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव।
आत्माऽसि पुत्र मा मृथाः स जीव शरदः शतम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—इस मन्त्र का पहले अर्थ आ चुका है। हे बालक! तू पत्थर की तरह दृढ़ शरीरवाला हो, शत्रुओं के लिये कुल्हाड़े की तरह हो, स्वच्छ सोने की तरह हो, **(त्वं आत्मा असि)** तू शरीर नहीं, आत्मा है **(मा मृधः)** आत्मा अमर है, मरने की बात मत करना, सौ बरस तक जीना।

पशूनां त्वा हिङ्कारेणाभिजिघ्राम्यसौ ॥ ११ ॥

—मं०ब्रा० १।५।१६-१९, गोभिल गृ० २।८।२१-२२

शब्दार्थ—(**असौ**) हे बालक! (**पशूनाम् हिंकारेण**) हिं-हिं करके जैसे गौ आदि पशु अपने बछड़े को सूँघते हैं वैसे (**त्वा**) तुझे (**अभिजिघ्रामि**) सूँघता हूँ। वर्तमान सभ्यता में चुम्बन लेने से प्रेम जताया जाता है, परन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थों में बच्चे के प्रति प्रेम दर्शाने के लिये सूँघना लिखा है। चुंबन से मुख के कीटाणुओं से अनेक रोग संक्रान्त हो सकते हैं, इसलिये यहाँ चूमने की जगह सूँघने की बात लिखी है।

इसी प्रकार जब-जब परदेश से आवे तब-तब भी इस क्रिया को करे, जिससे पुत्र और पिता-माता में अति प्रेम बढ़े।

(निम्न मन्त्र से प्रसूता की स्तुति करे)

ओम् इडासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनथाः।
सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरत्॥

—पार०गृ०कां० १, कं० १६, सू० १९

शब्दार्थ तथा भावार्थ—(**वीरे**) हे वीरे! तू (**मैत्रावरुणी**) मित्र और वरुण वाली (**इडा असि**) साक्षात् बुद्धिस्वरूपा है (**वीरं**) वीर पुत्र को (**अजीजनद्याः**) तूने जन्म दिया है (**या अस्मान्**) जिस तूने हमें (**वीरवतः अकरोत्**) वीर सन्तानवाला बनाया है (**सा त्वम्**) वह तू (**वीरवती**) वीर पुत्रवाली (**भव**) हो।

यहाँ मित्र और वरुण वाली का अर्थ समझने की आवश्यकता है। हमारे घर में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक जिनके साथ हमारा स्नेह है, वे हमारे 'मित्र' कहलाये, दूसरे जिन्हें हमने वरा है, चुना है—वे हमारे 'वरुण' कहलाये। यह काम घर की देवी का है, जिससे गृहस्थ इकले पति-पत्नी—इन दो का ही न रहे, इसमें पत्नी के व्यवहार से मित्र तथा चुनींदा व्यक्ति भी परिवार में सम्मिलित हों। इसीलिये पत्नी को 'मैत्रावरुणी' कहा है।

इस मन्त्र से ईश्वर की प्रार्थना करके प्रसूता स्त्री को प्रसन्न करके पश्चात् स्त्री के दोनों स्तन किञ्चित् उष्ण सुगन्धित-जल से प्रक्षालन कर पोंछ के—

(शिशु को दायाँ फिर बायाँ स्तन-पान कराना)

ओम् इमꣳ स्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमा विशस्व॥

—यजु० १७।८७, पार०गृ० १।१६।२०

शब्दार्थ तथा भावार्थ—(**अग्ने**) ए अग्नि के समान तेजस्वी बाल! (सरिरस्य=सलिलस्य, मध्ये) चारों तरफ से जहाँ दूध का समुद्र उमड़ा पड़ा है वहाँ (**अपाम् प्रपीनम्**) दूध से स्थूल हो रहे (**उर्जस्वन्तम्**) ऊर्जा अर्थात् बल देनेवाले (**इमम्**) इस (**स्तनम्**) माता के स्तन को (**धय**) मुख में पकड़कर पी (**मधुमन्तं उत्सं जुषस्व**) मधु के समान दूध से उमड़ रहे स्तन का सेवन कर (**मधुमन्तम्**) मधु से (**अर्वन् समुद्रियम्**) समुद्र के समान लहराते हुए (**सदनम्**) सदन में (**आविश**)

प्रवेश कर। अभिप्राय यह है कि माता के स्तनों में जो समुद्र की तरह लहराता हुआ दूध का भण्डार है, उसमें प्रवेश कर। माता के स्तनों में दूध की लहरें उठा करती हैं, उसीको ध्यान में रखकर बच्चे को कहा गया है कि तू इस क्षीर-सागर में आनन्द मना।

आजकल के कृत्रिम जीवन में माता के स्तनों में दूध ही नहीं मिलता। वैदिक विचार यह है कि बच्चे की पुष्टि तथा स्वास्थ्य के लिये माता के दूध के समान दूसरा कोई दूध नहीं।

उक्त मत्र को पढ़ के दक्षिण स्तन प्रथम बालक के मुख में देवे। इसके पश्चात्—

ओं यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः॥

—शत०ब्रा० १४।९।४।२८, पार०गृ० १।१६।२१, ऋ० १।१६४।४९

शब्दार्थ—(**सरस्वति**) हे ज्ञानमयी देवी! (**यः**) जो (**ते**) तेरा (**स्तनः**) स्तन (**शशयः**) बालक को शान्तिप्रद है (**मयोभूः**) सुखदायक है (**रत्नधाः**) दुग्ध रूप रत्न का धारण करनेवाला है (**यः वसुवित्**) जो बच्चे को दुग्ध रूपी धन का देने वाला है (**सुदत्रः**) जो देना ही देना जानता है (**येन**) जिससे तू (**विश्वा**) सब (**वार्याणि—वृञ् वरणे**) वरणयोग्य अङ्गों को (**पुष्यसि**) पुष्ट करती है (**तं**) उस स्तन को (**धातवे**) बालक को धारण करने के लिये (**कः**) प्रस्तुत कर।

उक्त मन्त्र को पढ़ के वाम-स्तन बालक के मुख में देवे। तत्पश्चात्—

(निम्न मन्त्र से प्रसूता के शिर के पास कलश स्थापन करे)

ओं आपो देवेषु जाग्रथ यथा देवेषु जाग्रथ।
एवमस्याᳬ सूतिकायाᳬ सपुत्रिकायां जाग्रथ॥

—पार०गृ०कां० १, क० १६, सू० २२

शब्दार्थ—(**आपः**) हे जलो! तुम (**देवेषु**) दिव्य अन्तरिक्ष में (**जाग्रथ**) जागरूक रहते हो, इसलिये (**यथा**) जैसे (**देवेषु**) दिव्य-अन्तरिक्ष में (**जाग्रथ**) जागरूक रहते हो (**एवम्**) ऐसे ही (**अस्याम्**) इस (**सुपुत्रिकायां**) सुपुत्र जहाँ उत्पन्न हुआ है उस (**सूतिकायां**) सूतिकागार में (**जाग्रथ**) जागरूक रहना।

भावार्थ—संस्कारविधि में लिखा है "प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भरकर दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे तथा प्रसूता स्त्री प्रसूत-स्थान में दश दिन तक रहे।" इस मन्त्र में प्रसूता-स्त्री के निवास स्थान पर जल का कलश हर समय पड़ा रहे, इस बात का विधान किया गया है। प्रसूता स्त्री—क्योंकि बार-बार इधर-उधर नहीं जा सकती, इसलिये यह आवश्यक है कि उसकी आवश्यकताओं के लिये प्रभूत-जल की मात्रा उसके निकट रहे ताकि वह उसका खुलकर उपयोग कर सके। प्रसूत-गृह में स्वास्थ्य की दृष्टि से हर समय सफाई की आवश्यकता है

और सफाई तथा शुद्धता का सबसे उत्तम साधन जल है। इसीलिये जल का एक लोटा रखे रहने के स्थान में जल का भरा मटका—कलश—उसके पास रहना चाहिये—यह कहा है।

उक्त मन्त्र से प्रसूता स्त्री के शिर की ओर एक कलश जल से पूर्ण भर के दश रात्रि तक वहीं धर रक्खे तथा प्रसूता-स्त्री प्रसूत-स्थान में दश दिन तक रहे।

(प्रसूता के गृह में १० दिन तक विशेष होम)

वहाँ नित्य सायं और प्रात:काल सन्धिवेला में निम्नलिखित दो मन्त्रों से भात और सरसों (पीली) मिला के दश दिन तक बराबर आहुतियाँ देवें—

ओं शण्डामर्का उपवीरः शौण्डिकेय उलूखलः। मलिम्लुचो द्रोणासश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा॥ इदं शण्डामर्काभ्यामुपवीराय शौण्डिकेयायोलूखलाय मलिम्लुचाय द्रोणेभ्यश्च्यवनाय—इदन्न मम॥ १॥

इस मन्त्र में अनेक रोगों का नाम लेकर कहा गया है कि ये रोग **(इतः)** यहाँ से अर्थात् बालक से **(नश्यतात्)** नष्ट हो जायें। रोगों के नाम हैं—शण्डामर्काः, उपवीरः, शौण्डिकेयः, उलूखलः, मलिम्लुचः, द्रोणासः, च्यवनः। इन रोगों के विषय में हम कुछ नहीं जानते, अन्य व्याख्याकारों ने इनकी मनचाही व्याख्या कर दी है, जिसका कोई प्रमाण नहीं है।

ओम् आलिखन्ननिमिषः किंवदन्त उपश्रुतिर्हर्यक्षः कुम्भीशत्रुः पात्रपाणिर्नृमणिर्हन्त्रीमुखः सर्षपारुणश्च्यवनो नश्यतादितः स्वाहा।

इदमालिखतेऽनिमिषाय किंवदद्भ्य उपश्रुतये हर्यक्षाय कुम्भीशत्रवे पात्रपाणये नृमणये हन्त्रीमुखाय सर्षपारुणाय च्यवनाय—इदन्न मम॥ २॥

—पार०गृ०कां० १, कं० १६, सू० २६

इस मन्त्र में अनेक बुरे लोगों का नाम लेकर कहा गया है कि ये दुष्ट लोग **(इतः)** यहाँ से, अर्थात् बालक से **(नश्यतात्)** दूर रहें, छोटे बच्चों को ऐसे लोगों से बचना चाहिए। ये दुष्ट कौन-कौन-से हैं? इनका वर्णन इस मन्त्र में इस प्रकार किया गया है **(आलिखन्)** लेख द्वारा दूसरों को नुक्सान पहुँचानेवाले **(अनिमिषः)** दूसरे को कष्ट पहुँचाने में निर्निमेष होकर—दिन-रात जागकर दु:ख देने वाले **(किंवदन्तः)** बुरी बात बोलनेवाले **(उपश्रुतयः)** कान लगाकर दूसरे के रहस्य सुननेवाले चुगलखोर **(हर्यक्षः)** नीले-पीले नेत्र वाले अर्थात् क्रोधी लोग **(कुम्भी)** दूसरों का शोषण कर अपना कुम्भ—घड़ा—भरनेवाले **(शत्रुः)** दुश्मन **(पात्रपाणिः)** हाथ में पात्र लेकर भीख माँगनेवाले **(नृमणिः)** मनुष्य को मारनेवाले **(हन्त्रीमुखः)** मुख से जिनके हिंसा टपकती है वे **(सर्षपारुणः)** सरसों की तरह लाल-पीले, गिरगिट की तरह बात-बात में रंग बदलनेवाले **(च्यवनः)** जिनके संग से मनुष्य अपने धर्म-कर्म से च्युत हो जाये ऐसे पुरुष यहाँ बालक के पास से दूर हो जायें।

(विद्वानों द्वारा अथर्व के आशीर्वचन)

उक्त मन्त्रों से १० दिन तक होम करके, पश्चात् अच्छे-अच्छे विद्वान् धार्मिक वैदिक मतवाले बाहर खड़े रहकर और बालक का पिता भीतर रहकर आशीर्वादरूपी नीचे लिखे मन्त्रों का पाठ आनन्दित होके करें—

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः॥ १॥

—अथर्व० कां० ६। अनु० ४। सू० ४१, मं० ३

शब्दार्थ—(**ये**) जो (**तनूपाः**) शरीर की पालना करनेवाले (**दैव्याः ऋषयः**) दिव्य-गुण-सम्पन्न-ऋषी हैं वे तथा (**ये**) जो (**नः**) हमारे (**तन्वः तनूजाः**) तन से उत्पन्न होनेवाले पुत्र-पौत्रादि हैं वे (**नः**) हमें (**मा**) मत (**हासिषुः**) छोड़ें तथा हे (**अमर्त्याः**) अमर देवो! (**नः**) हम (**मर्त्यान्**) मरण-धर्मा लोगों के साथ (**अभि सचध्वम्**) सम्बन्ध बनाये रखें। (**नः**) हमारे (**जीवसे**) जीवन के लिये (**प्रतरं**) प्रकृष्टतर (**आयुः**) आयु (**धत्त**) दो।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ २॥

—अथर्व० कां० १२। अनु० २। मं० २३॥

शब्दार्थ—परमेश्वर का उपदेश है (**यम्**) यह (**जीवेभ्यः**) मनुष्यों के लिये (**परिधिम्**) सीमा को (**दधामि**) नियत करता हूँ (**अपरः**) कोई दूसरा (**एषाम्**) इस सीमा को (**नु**) निश्चय से (**मा**) मत (**गात्**) गमन करे—इस सीमा का उल्लंघन न करे। (**एतत् अर्थम्**) यह मेरा अभिप्राय है कि मनुष्य सौ वर्ष तक जीये। मनुष्य के जीवन की क्या सीमा है? (**शतम्**) सौ (**शरदः**) वर्ष (**जीवन्तः**) जीओ और (**पुरूचीः**) उससे आगे भी चलो (**मृत्यु**) उससे पहले मृत्यु को (**पर्वतेन**) मानो पहाड़ से (**तिरो दधताम्**) तिरोहित कर दो।

भावार्थ—इस मन्त्र में मनुष्य के जीवन कम-से-कम सीमा सौ वर्ष बाँधी गई है। इसमें कहा गया है कि जब यह सीमा बाँध दी तो कोई दूसरा कारण ऐसा नहीं होना चाहिए, जिससे इस सीमा का उल्लङ्घन हो। सौ वर्ष तक जीओ और उससे आगे अगर मृत्यु उससे पहले आती दीखे तो उसे ऐसे परे धकेल दो, जैसे तुम्हारे और मृत्यु के बीच में पहाड़ खड़ा कर दिया गया, जिसे मृत्यु किसी भी प्रकार लाँघ न सके।

विवस्वान्नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः।
इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदश्ववन्मय्यस्तु पुष्टम्॥ ३॥

—अथर्व० कां० १८। अनु० ३। मं० ६१॥

शब्दार्थ—(**यः**) जो (**सुत्रामा**) रक्षा करनेवाला (**जीरदानुः**) जीवन देनेवाला (**सुदानुः**) सब-कुछ देनेवाला (**विवस्वान्—विवासयति**) अविद्यारूपी अन्धकार को दूर करनेवाला परमात्मा है वह (**नः**) हम सबको (**अभयम्**) अभय (**कृणोतु**) करें (**इह**) इस घर में (**इमे बहवः**) ये बहुत-से (**वीराः**) शूरवीर, पराक्रमी (**भवन्तु**) हों (**मयि**) मुझ में (**गोतम्**) गोमान् होने की (**अश्वमत्**) अश्ववान् होने की (**पुष्टम्**) सामर्थ्य (**अस्तु**) हो—अर्थात्, परमात्मा की कृपा से मैं निर्भय रहूँ, मेरे घर में वीर तथा पराक्रमी पुत्र-पौत्र हों, मेरे घर में पुष्ट गौएँ हों, पुष्ट घोड़े हों।

॥ इति जातकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

नामकरण-संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

जातकर्म-संस्कार के बाद पाँचवाँ संस्कार नामकरण-संस्कार है, जिसमें लड़के या लड़की का नाम रखा जाता है। अन्य संस्कारों को लोग भले ही न करते हों, यह संस्कार इतने महत्त्व का है कि इसे घर-घर किया जाता है। नामकरण-संस्कार का महत्त्व क्यों है—इस सम्बन्ध में कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा।

१. नामकरण-संस्कार का महत्त्व

(१) किसी वस्तु का ज्ञान नाम के बिना नहीं होता—संसार का सब व्यवहार नाम के आधार पर ही चलता है। जबतक किसी वस्तु या प्राणी की संज्ञा नहीं होती तबतक उसके सम्बन्ध में ज्ञान प्रत्ययात्मक (Perceptual) तो हो सकता है, परन्तु क्रियात्मक, व्यवहारात्मक तथा उपयोगात्मक (Conceptual) नहीं हो सकता। हमें गाय का ज्ञान है, घोड़े का ज्ञान है, परन्तु जबतक हम इस ज्ञान को कोई संज्ञा, कोई नाम नहीं दे लेते तबतक यह ज्ञान 'प्रत्ययात्मक' (Perceptual) रहेगा, हमीं तक सीमित रहेगा, हम इस ज्ञान का अपने व्यवहार में, दूसरे के बातचीत में प्रयोग नहीं कर सकेंगे। अगर इस ज्ञान को व्यवहार के लिये उपयोगी बनाना हो, तो इस 'प्रत्यय' (Percept) को कोई ऐसा नाम देना होगा जिसे दूसरा भी ठीक उसी तरह समझ सके जिस तरह हम उसे समझते हैं। दार्शनिक-परिभाषा में कहा जाए, तो हम कह सकते हैं कि बिना नाम या बिना संज्ञा का ज्ञान 'निर्विकल्पक-ज्ञान' है, संज्ञासहित या नामसहित ज्ञान 'सविकल्पक-ज्ञान' है। हमारा व्यवहार निर्विकल्पक-ज्ञान पर नहीं चलता, सविकल्पक-ज्ञान पर चलता है। ज्ञान को सविकल्पक बना देने को ही नामकरण कहते हैं। क्योंकि बच्चे ने अपना सीमित संसार बना कर ही नहीं रहना, ऐसा संसार जिसमें वह इकला रहे, माँ-बाप, भाई-बहिन, समाज किसी के साथ उसका सम्बन्ध न हो, इसीलिये उसे एक संज्ञा, एक नाम देना आवश्यक है। संज्ञा देने के इस कार्य को—नामकरण को—वैदिक-विचारधारा में धार्मिक-संस्कार का रूप दिया गया था।

(२) नामकरण-संस्कार को धार्मिक रूप देने का कारण—किसी वस्तु को पहचानने तथा उसके सम्बन्ध में दूसरों के साथ व्यवहार करने में उसको कोई-न-कोई नाम देना आवश्यक है, परन्तु क्या सिर्फ नाम दे देना ही काफी है। हमने जैसा कई बार लिखा है, संस्कार-पद्धति का उद्देश्य श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठतर, उच्च-से-उच्चतर मानव का निर्माण करना है। इस दृष्टि से देखा जाए, तो हर-एक माता-पिता का कर्त्तव्य है कि सन्तान को ऐसा नाम दे, जो उसे हर समय जीवन के किसी लक्ष्य,

किसी उद्देश्य की याद दिलाता रहे। इस भाव को श्री लाला श्यामसुन्दर द्वारा, श्री मनोहर विद्यालंकार के पुत्र आयुष्मान् विक्रमादित्य के नामकरण-संस्कार के उपलक्ष्य में वितरित तथा श्री हरिशरण सिद्धान्तलंकार द्वारा लिखित एक लघु-पत्रिका में बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है जिसे हम कुछ हेर-फेर के साथ यहाँ दे रहे हैं—

"न-जाने किन-किन उमंगों को लेकर दम्पती ने अपनी सन्तान को उच्च बनाने के लिये अबतक प्रयत्न जारी रखे। स्वयं शक्तिशाली व पवित्र हृदय बनकर परस्पर संगत हुए, दूसरे व तीसरे मास में गर्भ को शक्तिशाली बनाने के लिये उन्होंने बन्धु-बान्धवों के समक्ष फिर-से पुंसवन-संस्कार के समय प्रतिज्ञाएँ लीं, चौथे या छठे मास में माता के पेट में बालक के हृदय के आविर्भाव होते ही उन्होंने उस हृदय में प्रसाद, नैर्माल्य स्थापन के लिये पुनः एकत्र होकर सीमन्तोन्नयन-संस्कार करके श्रेष्ठ सन्तान होने के अपने प्रयत्न को पूर्ण करने का निश्चय किया, बालक के उत्पन्न होते ही जातकर्म-संस्कार करके उसके इर्द-गिर्द सम्पूर्ण वातावरण ऐसा बनाने की कोशिश की कि उस विकास की दिशा ज्ञान की तरफ चल पड़े। इसी उद्देश्य से उसको कान में '**वेदोऽसि**' की ध्वनि गुँजा दी। अब वे उन सब भावों को ध्यान में रखते हुए बालक के नामकरण-संस्कार में प्रवृत्त हुए हैं। वे बालक का एक ऐसा नाम रखना चाहते हैं जो कि उनकी भावनाओं को संक्षेप में व्यक्त करते हुए बालक को भी सदैव वैसा बनने के लिये प्रेरणा देता रहे। आने-जाने वाले सब व्यक्ति उस नवागत बालक को जब उस नाम से सम्बोधित कर उस पर अपना प्रेम व्यक्त करेंगे तब प्रत्येक बार में नाम के वे शब्द उस बालक के हृदय तथा मस्तिष्क को उस नाम के अर्थ के अनुकूल रूप में प्रभावित कर रहे होंगे।" यही कारण है कि नाम के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए वैदिक विचारधारा में इसे धर्म का अंग बना दिया गया। नाम कहने को एक शब्दमात्र है, परन्तु शब्द का बड़ा महत्त्व है। वह महत्त्व क्या है?

(३) शब्द का प्रभाव—शब्द के प्रभाव को स्पष्ट करते हुए उसी लघु-पत्रिका में जो कुछ कहा है उसका सार यह है—'शब्द' या 'वाणी' मन और कर्म के—इन दोनों के मध्य में स्थित है। '**यन्मनसा मनुते तत् वाचा वदति यत् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति**'—जो हम मन से सोचते हैं वही वाणी द्वारा 'शब्द' से बोलते हैं और जो 'शब्द' से बोलते हैं वही 'कर्म' से करते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि शब्द के एक ओर मन बैठा है, दूसरी ओर कर्म बैठा है, शब्द इन दोनों के बीच में बैठा है। यदि इस शृंखला की तीन कड़ियाँ समझी जायें तो इस शृंखला में एक ओर मन की कड़ी है, दूसरी ओर कर्म की कड़ी है और बीच में शब्द की कड़ी है। बीचवाली कड़ी को हिलाने से दोनों ओर की कड़ियाँ हिलने लगती हैं, इसी प्रकार 'शब्द' की कड़ी जो मन तथा कर्म के बीच में पड़ी है उसके हिलने से मन तथा कर्म

दोनों पर प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से सोचा जाए, तो विचार को सूक्ष्म-शब्द या सूक्ष्म-वाणी कहा जा सकता है, वाणी या शब्द को स्थूल-विचार कहा जा सकता है, इसी तरह शब्द या वाणी को सूक्ष्म-कर्म भी कहा जा सकता है, कर्म को स्थूल-वाणी या स्थूल-शब्द कहा जा सकता है। 'विचार'—'शब्द'—'कर्म' को एक-दूसरे से पृथक कर देना सम्भव नहीं है। इमर्सन ने इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहा है—च्ड्ढ्ढशह्स्त्रह्य ड्डह्म्द्ग ड्डद्यह्यश ड्डष्ह्लद्बशठ्ठह्य, ड्डठ्ठस्र ड्डष्ह्लद्बशठ्ठह्य ड्डह्म्द्ग ड्ड म्द्बठ्ठस्र शद्ध 2शह्स्त्रह्यज्—शब्द एक तरह के कर्म या क्रिया है और कर्म या क्रिया एक तरह के शब्द हैं। शब्द का मन और शरीर पर प्रभाव इतना है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अस्पतालों में रोगियों को जप की तरह यह वाक्य रटाया जाता है—च्ष्ठड्ड4 ड्ढ4 स्त्रड्ड4, द्बठ्ठ द्ग1द्गह्म्4 2ड्ड4, ढ्ढ ड्डद्व द्दद्गह्लह्लद्बठ्ठद्द ड्ढद्गह्लह्लद्गह्म् ड्डठ्ठस्र ड्ढद्गह्लह्लद्गह्म्ज्—'मैं प्रतिदिन, सब तरह से, अच्छा और अच्छा होता जा रहा हूँ।' वैदिक-संस्कृति में भी जप पर जो इतना अधिक बल दिया जाता है उसका रहस्य भी इसी बात में निहित है कि शब्द का प्रभाव मन तथा शरीर दोनों पर होता है। शब्द का इतना महत्त्व है कि जो मन्त्र प्रत्येक पुस्तक में लिखे मिलते हैं उन्हें जब हम गुरु के मुख से गुरु-मन्त्र के रूप में शब्दों द्वारा सुनते हैं तब वे हमारे जीवन के साथी हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, उपनिषद् पढ़नेवाले प्रत्येक व्यक्ति ने '**सोऽहम्**'-शब्द पढ़े हैं, परन्तु जब इन्हें गुरु एकान्त में मन्त्र के रूप में देता है तब ये हमारे लिये अपूर्व निधि बन जाते हैं।

शब्द क्या है? शब्द 'नाम' का ही दूसरा नाम है। प्रत्येक शब्द एक नाम है जिससे हम किसी अर्थ को ग्रहण करते हैं। जब हम बालक को कोई नाम देते हैं, तब वस्तुत: उसके लिये एक शब्द चुन लेते हैं, जिसका प्रयोग बालक के लिये आयु-भर किया जाता है। जिस शब्द का नाम के रूप में आयु भर प्रयोग किया जाना है उसके चुनने में कितना सतर्क होना चाहिये—यह स्वत: सिद्ध है।

२. नाम का चुनना

सन्तान का नाम चुनना बड़ा महत्त्वपूर्ण है। हम एक व्यक्ति के लिये ऐसे शब्द का प्रयोग करना चाहते हैं जिसमें हमारी अपनी सन्तान के विषय की सब मनोकामनाएँ समा जाएँ, जिस नाम से उसे सम्बोधित करते हुए हम मानो उसे कह रहे हों कि बेटे! ये हैं हमारी तुमसे आशाएँ! इसके साथ वह नाम ऐसा होना चाहिये जिसे सुनकर हमारे सगे-सम्बन्धी, कुटुम्बी भी जान सकें कि हमारी अपनी सन्तान के प्रति क्या आकांक्षाएँ हैं। हम जानें, हमारे जान-पहचान के लोग जानें, हमारा समाज जाने और हमारी सन्तान स्वयं जाने कि उसके माता-पिता ने उसके प्रति किन आशाओं को अपने हृदय में संजोकर उसका नाम रखा है। अपने नाम को जब बालक बार-बार सुनेगा, तो उसका हृदय तथा मस्तिष्क अवश्य नाम में निहित अर्थ की भावना से प्रभावित होगा। इस दृष्टि से नाम के चयन के विषय में शास्त्रों में जो विधान दिये हैं

वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन विधानों को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है।

(१) जड़ पदार्थों तथा पशु-पक्षी के तथा निरर्थक नाम न रखना—प्राय: देखा जाता है कि अपने यहाँ बालक-बालिकाओं के नाम जड़ पदार्थों या पशु-पक्षियों के नाम पर रखे जाते रहे हैं। उदाहरणार्थ, गंगाराम, जमनादास आदि जड़ नदियों के नाम पर, खोताराम, तोताराम आदि पशु-पक्षियों के नाम पर, अथवा डोरीलाल, छेदीलाल, घसीटामल आदि निरर्थक नाम रखे जाते हैं। कई नाम शहर या देश के नाम पर रख दिये जाते हैं, जिनका कोई आशय नहीं होता। उदाहरणार्थ, विलायतीराम, लाहौरीराम, जर्मनीदास आदि नाम कुछ अर्थ सिद्ध नहीं करते। जयपुर में एक बार हम एक वकील मित्र के यहाँ ठहरे हुए थे, उनके नौकर का नाम था 'शैतानजी'! ऐसे नामों को दूसरों को बतलाते हुए भी संकोच होता है, लज्जा भी आती है। मनुस्मृति (३-९) में कहा है—**'नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्, न पक्ष्यहि प्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्'**—नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पर्वत, पक्षि, साँप आदि नाम वाली कन्या से विवाह न करे। जिसका नाम ही जड़ पदार्थों को सूचित करता है, उसमें उन्नति की प्रेरणा कैसे हो सकती है, इसी प्रकार पशु-पक्षियों से सम्बन्ध नाम से बालक के हृदय में उत्कृष्ट भावना जागृत नहीं हो सकती।

(२) ऊँची भावना जागृत करनेवाला नाम रखना चाहिये—नाम रखने के दो उद्देश्य हैं—एक तो यह कि बालक या बालिका को सम्बोधित किया जा सके, दूसरा यह कि उसके हृदय में उच्च-भावना को जगाया जा सके, उसे अनुभव हो कि उसने जीवन में क्या बनना है। उदाहरणार्थ, वीरसेन का अर्थ है जो युद्ध में वीरता का परिचय दे, वेदव्रत का अर्थ है जो वेदों के स्वाध्याय का व्रत ले, सत्यव्रत का अर्थ है जो जीवन में सचाई से बरते। एसे नामों से कुछ भावना जागृत होती है और जिस भावना को लेकर नाम दिया गया है वह भावना व्यक्ति में न हो तो उसके नाम से उसे जगाया जा सकता है। ऐसे नाम नहीं रखने चाहिएँ जिनके साथ इतिहास में कोई बुरा सम्बन्ध जुड़ गया है। उदाहरणार्थ, दुर्योधन, शकुनि, जयचन्द्र आदि नाम भारतीय इतिहास में बदनाम हो चुके हैं—इन्हें रखने से व्यक्ति में कोई ऊँची भावना नहीं जाग सकती, युधिष्ठिर, विश्वामित्र आदि नाम ऊँची भावनाओं के साथ जुड़े हुए हैं, इन नामों से व्यक्ति ऊँचा उठ सकता है। चरक में लिखा है—**'तत्र आभिप्रायिकं नाम'**—नाम ऐसा होना चाहिये जिसका कोई अभिप्राय हो। यह बात केवल वैदिक संस्कृति में पायी जाती है, अन्य लोगों में निरर्थक नाम रखे जाते हैं। सारे पश्चिमी जगत् में इस बात को समझा ही नहीं गया कि नाम रखने का प्रयोजन सिर्फ सम्बोधन करना ही नहीं है, सन्तान के सामने नाम के द्वारा जीवन का एक लक्ष्य रख देना भी है।

(३) नाम सुगम होने चाहियें, कठिन नहीं—नाम रखते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि नाम ऐसा हो जिसे सुगमता से उच्चारण किया जा सके। उदाहरणार्थ, अगर संयुक्ताक्षर से नाम का प्रारम्भ होगा या बीच में संयुक्ताक्षर आ पड़ेगा, तो बोलने में कठिनाई होगी और बोलनेवाला संयुक्ताक्षर को तोड़ कर बोलेगा। यही कारण है कि जिसका नाम 'प्रताप' होगा उसे सर्व-साधारण लोग 'परताप', 'ब्रह्मानन्द' को 'बरमानन्द', 'श्रद्धानन्द' को 'शरधानन्द' बोल देते हैं। नाम के बीच के अक्षरों को भी लोग तोड़ देते हैं—'सत्यव्रत' को 'सतवरत्', 'नवरत्न' को 'नौरतन' बोल देना साधारण बात है। संयुक्ताक्षरों को तोड़ देने के अलावा कठिन नामों को लोग बिगाड़ कर भी बोलने लगते हैं। इस दृष्टि से नाम रखते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसमें जहाँ तक हो सके आदि तथा मध्य में संयुक्ताक्षर न हो और उसे बिगाड़ कर बोलने की सम्भावना कम-से-कम हो।

(४) कौन-से अक्षर नाम में होने चाहिएँ—संस्कारविधि में लिखा है कि ग, घ, ङ; ज, झ, ञ; ड, ढ, ण; द, ध, न; ब, भ, म—ये स्पर्श और य, र, ल, व—ये चार अन्तःस्थ और ह—यह ऊष्मा इतने अक्षर नाम में होने चाहिएँ और स्वरों—अ, आ, इ, ई इत्यादि—में से कोई-सा स्वर भी हो। कहने का अभिप्राय यह है कि क, ख; च, छ; ट, ठ; त, थ; प, फ—ये अक्षर इस प्रकार के हैं कि इनके उच्चारण में गला अधिक खोलना पड़ता है और श्वास-वायु का प्रचुर प्रयोग करने पर भी उच्चारण इतना मधुर व व्यक्त नहीं होता जितना ग, घ; ज, झ; ड, ढ; द, ध, न; ब, भ, म; य, र, ल, व; ह—इन अक्षरों के प्रयोग में होता है। इन अक्षरों के प्रयोग में न्यून प्रयत्न के प्रयोग से मधुर शब्द निकल आता है अतः नाम का चुनाव करते हुए इन अक्षरों के प्रयोग की तरफ अधिक ध्यान देना चाहिये। क, ख, च, छ आदि से नाम का प्रारम्भ न होकर वर्गों के ३रे या ४थे अक्षर से होना चाहिये, नाम के बीच में य, र, ल, व, ह में से कोई अक्षर होना चाहिये।

इसी प्रकार तद्धितान्त नाम रखना भी उच्चारण तथा अन्य दृष्टियों से उपयोगी नहीं है। तद्धितान्त नाम वे होते हैं जो माता या पिता के नाम या गोत्र को सन्तान के नाम के द्वारा प्रकट करने के लिये रखे जाते हैं। उदाहरणार्थ, अगर किसी का नाम विक्रमार्क है, तो उसके पुत्र का नाम 'वैक्रमार्क' होगा। अगर पिता का नाम 'जमदग्निं' है तो उसका तद्धितान्त रूप 'जामदग्न्य' होगा। तद्धितान्त नाम के उच्चारण में जोर लगाना पड़ेगा जो नाम के चुनाव के नियम के अनुकूल नहीं है। इसमें दूसरी आपत्ति यह है कि अगर किसी पुरुष का नाम 'जनक' है, और उसकी लड़की का तद्धित-नाम रखना हो, तो वह 'जानकी' होगा। अगर उसकी दो लड़कियाँ हैं तो दोनों का तद्धित-नाम 'जानकी' होगा जो व्यावहारिक नहीं है।

जहाँ तक व्यञ्जनों के आदि के दो अक्षर—क, ख, च, छ आदि से नाम न प्रारम्भ करने का प्रश्न है, शास्त्रों में लिखा तो यह है कि इनसे नाम का प्रारम्भ नहीं होना चाहिये, परन्तु प्राचीन ऋषियों आदि के नाम इन अक्षरों से प्रारम्भ होते पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, कपिल, चरक, पुलस्त्य, परशुराम, कुत्स आदि नाम ऐसे हैं जो भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं, परन्तु जिनमें उक्त नियम का खण्डन होता है। अन्ततोगत्वा, इस सम्बन्ध में सरल नियम यह है कि नाम सरल, सुगम, सप्रयोजन तथा सार्थक होना चाहिए, बाकी बातें गौण हैं।

(५) बालक का नाम युग्म, बालिका का अयुग्म अक्षरों से होना चाहिए—आश्वलायन तथा पारस्कर गृह्यसूत्रों में लिखा है कि नाम दो अक्षरों का या चार अक्षरों का होना चाहिये—'द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा'। बालकों का युग्म—अर्थात् दो अक्षरों का होने से प्रतिष्ठा तथा चार अक्षरों का होने से ब्रह्मतेज बढ़ता है। बालिकाओं का अयुग्म अक्षरों अर्थात् तीन अक्षरों का होना चाहिये—**'युग्मानि त्वेव युंसाम् अयुजानि स्त्रीणाम्'।** उदाहरणार्थ, पुरुषों का अत्रि, भृगु आदि द्व्यक्षर तथा युग्म अथवा अत्रिदेव, सत्यकाम आदि चतुरक्षर होना चाहिये, स्त्रियों का माधुरी, सावित्री, अम्बिका आदि अयुग्म अक्षरों का होना चाहिये।

परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित नामों को देखकर यह प्रतीत होता है कि इस आदेश का पालन नियम के तौर पर नहीं किया जाता था। उदाहरणार्थ, पुरुषों के नाम कपिल, चरक, जनक, जीबक, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, अर्जुन आदि तीन अक्षरों के और स्त्रियों के नाम सीता, गार्गी आदि दो अक्षरों के भी पाये जाते हैं। मुख्य नियम यही है कि नाम छोटा होना चाहिये, आसानी से उचारा जा सकना चाहिये, मधुर अक्षरों वाला होना चाहिये।

उक्त सूत्र के रचयिता का नाम 'अश्वल' है, तभी उसके गृह्यसूत्रों को आश्वलायन कहा गया है। जिस व्यक्ति का स्वयं नाम तीन अक्षरों का हो वह जब कहता है कि पुरुषों का नाम अयुग्म अक्षरों का नहीं रखना चाहिये तब समझना चाहिए कि इससे उसका अभिप्राय कुछ और ही है। इस सिलसिले में श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार का कहना है कि सम्भवत: इसका अभिप्राय यह है कि लड़कों का नाम तो पिता के नाम से जुड़ा हुआ रखा जाय, पर लड़की का नहीं—इसी को सूत्रकार ने 'युग्म' कहा है। उदाहरणार्थ, महात्मा गाँधी का निज नाम मोहनदास था उनके पिता का नाम कर्मचन्द था। इस प्रकार महात्मा गाँधी का युग्म नाम 'मोहनदास कर्मचन्द'—इस प्रकार हुआ। इस प्रकार नाम रखने का व्यावहारिक लाभ तो स्पष्ट ही है कि पिता को तो बिरादरी के तथा व्यवहार में सम्पर्क में आनेवाले लोग जानते ही होते हैं, समावर्तन के बाद जब लड़का भी व्यावहारिक-क्षेत्र में प्रवेश करता है तो वे सब

लोग उसे, उसके नाम के पीछे जुड़े हुए (युग्म=जुड़ा हुआ) पिता के नाम से पहचान लेते हैं। लड़कियों ने तो इस प्रकार किसी व्यवहार में आना नहीं, इसलिये उनके लिये इस नियम की आवश्यकता नहीं। यह भी बात है कि लड़की ने तो कुछ वर्षों पश्चात् दूसरे कुल में चले जाना है। उसकी प्रसिद्धि पति के नाम से ही होनी ठीक है, पिता के नाम से नहीं। इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि व्यवहार भी सदा बदलता रहता है, इसलिये इस प्रकार के नियम समय की दृष्टि से बदलते रहते हैं, ये नियम अटल तथा अपरिवर्तनीय नहीं हैं।

नाम दो प्रकार के रखें—इस सम्बन्ध में आश्वलायन तथा चरक का मत—आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है कि बालक का एक नाम तो वह होना चाहिये जो सार्थक हो, दूसरा नाम वह होना चाहिये जो माता-पिता तथा गुरु द्वारा बालक को सम्बोधन के लिये रखा गया हो। सार्थक नाम तो वह है जिसके लिये नामकरण संस्कार किया जाता है, जिसके विषय में हम ऊपर लिख आये हैं कि वह सरल, सुवाच्य, बालकों का युग्म या द्व्यक्षर या चतुरक्षर तथा बालिकाओं का अयुग्माक्षर या तीन अक्षरोंवाला होना चाहिये। यह नाम ऐसा होना चाहिये जिससे बालक के जीवन का उद्देश्य या उसका लक्ष्य-बोध हो जाए।दूसरा नाम वह होना चाहिये जिसके लिये नामकरण-संस्कार तो नहीं किया जाता, परन्तु जिससे माता-पिता, गुरु उसे प्रेमवश सम्बोधित करते हैं। इसे आजकल प्यार का नाम (Nickname) कहा जाता है। इसके लिये आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है—'**अभिवादनीयं च समीक्षेत तन्मातापितरौ विदध्याताम् उपनयनात्**'—माता-पिता कोई प्यारा-सा नाम बालक के लिये रख लें जिसका वे बालक के उपनयन संस्कार तक प्रयोग करें। उदाहरणार्थ, बालिका का नामकरण-संस्कार का नाम 'रिचा' है, माता-पिता का प्यार का नाम 'पुटकन' है, एक दूसरी बालिका का नामकरण-संस्कार का नाम श्रुति है, माता-पिता का रखा हुआ प्यार का नाम 'छोटू' है। नामकरण-संस्कार का नाम आजीवन चलता है, प्यार का नाम बचपन में ही समाप्त हो जाता है।

दो नाम रखने के विषय में चरक की एक दूसरी सम्मति है। उनका कहना है—'**कुमारस्य पिता द्वे नाम्नी कारयेत् नाक्षत्रिकं नाम आभिप्रायिकं च**'—अर्थात्, कुमार का पिता उसके दो नाम रखवाये। एक तो वह नाम जो बालक के उत्पन्न होने के नक्षत्र, मुहूर्त, घटि आदि को सूचित करे, दूसरा उसके जीवन के अभिप्राय को, उसके जीवन के लक्ष्य को सूचित करे।

नामकरण-संस्कार का वर्णन करते हुए संस्कारविधि में लिखा है कि जिस तिथि जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ तो उस तिथि तथा उस नक्षत्र का नाम लेकर उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से ४ आहुतियाँ दी जानी चाहियें।

अर्थात्, एक आहुति तिथि के नाम से, दूसरी आहुति तिथि के देवता के नाम से, तीसरी आहुति बालक के जन्म के नक्षत्र के नाम से और चौथी आहुति उस नक्षत्र के देवता के नाम से दी जानी चाहिये। उदाहरणार्थ, अगर बालक का जन्म प्रतिपदा तिथि को हुआ है, तो क्योंकि प्रतिपदा का देवता ब्रह्म है इसलिये प्रतिपदा के नाम से '**ओं प्रतिपदे स्वाहा**'—यह आहुति दे। प्रतिपदा के देवता के नाम से '**ओं ब्रह्मणे स्वाहा**'—यह आहूति दे। अगर नक्षत्र की दृष्टि से उसका जन्म अश्विनी नक्षत्र में हुआ है, तो नक्षत्र के नाम से '**ओं अश्विन्यै स्वाहा**'—यह आहुति दे, और अश्विनी नक्षत्र के देवता अश्वी के नाम से '**ओं अश्विभ्यां स्वाहा**'—यह आहुति दे। तिथियों के देवताओं तथा नक्षत्रों के देवताओं का नाम विधि-भाग में दिया गया है, वहाँ देख लें।

३. तिथि, नक्षत्र एवं इनके देवताओं के नाम से आहुतियाँ देना

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि ऋषि दयानन्द तो तिथि, नक्षत्र आदि को मानते न थे, फिर उन्होंने नामकरण-संस्कार में तिथि, नक्षत्र आदि के नाम से आहुतियाँ देने के लिये क्यों लिखा है। इस सम्बन्ध में श्री रामगोपाल शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'संस्कार-विधिमंडनम्' में जो कुछ लिखा है वह इस शंका का समाधान करने के लिये पर्याप्त है। इस सम्बन्ध में हम उनके उक्त ग्रन्थ से निम्न उद्धरण दे रहे हैं—

''यहाँ जो तिथि और नक्षत्र का नाम लेकर आहुति दी जाती है वह केवल उस बालक की जन्म-तिथि तथा उसके जन्म-दिन के स्मरण करने के लिये दी जाती है, किसी अन्य भाव से नहीं। जो उनके साथ ही तिथि के देवता तथा नक्षत्रों के देवताओं के नाम लेकर आहुति दी जाती हैं, वहाँ पर कोई पौराणिक भाव नहीं, प्रत्युत् वे देवता तो उस-उस तिथि और नक्षत्र के दूसरे पर्याप्त हैं। उदाहरणार्थ—

''प्रथम या प्रतिपदा तिथि का दूसरा नाम 'ब्रह्म' तिथि है। दूसरी तिथि का नाम 'त्वष्टा' तिथि है। ऐसे ही नक्षत्रों में भी देवता उस-उस नक्षत्र के पर्याय में ही आता है। अश्विनी नक्षत्र का दूसरा नाम अश्वी नक्षत्र है, भरणी नक्षत्र का दूसरा नाम यम है। यहाँ पर उस तिथि तथा उस नक्षत्र को स्मरण रखने के लिए साथ में उनके देवता भी जोड़ दिये हैं, जिससे उस तिथि तथा नक्षत्र का दिन बालक के माता-पिता को कभी न भूले।

''प्रथम या प्रतिपदा तिथि का देवता 'ब्रह्म' है। प्रथम तिथि एक ही है, 'ब्रह्म' भी एक ही है, इसलिये प्रथमा का देवता वही कल्पित किया गया जिसकी संख्या एक हो। द्वितीया तिथि का देवता 'त्वष्टा' है। त्वष्टा का अर्थ तरखनेवाला है, परमात्मा ने सृष्टि को प्रकृति से तरख दिया, घड़ दिया, इसलिये परमात्मा तथा प्रकृति इनके दो होने के कारण त्वष्टा द्वितीय तिथि का देवता है। तृतीया का सम्बन्ध 'विष्णु' देवता

से है। विष्णु का परमात्मा, यज्ञ और सूर्य—इन तीन से सम्बन्ध है, इससे यह कल्पना तृतीया के साथ की गई, अथवा भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ—इन तीन स्थानों में विष्णु—अर्थात् परमात्मा के व्यापक होने से तृतीया का सम्बन्ध विष्णु देवता से जोड़ा गया है। सप्तमी का देवता 'मुनि' माना है। यह भी संख्या के विचार से है क्योंकि आकाश में मरीचि, अग्नि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वसिष्ठ—ये सात मुनियों के नाम के तारे हैं। इस कारण सप्तमी का सम्बन्ध 'मुनियों' से माना गया है। 'वसु' वैदिक साहित्य में पृथिवी, तेज, वायु आदि आठ हैं, अत: वसुओं का सम्बन्ध अष्टमी से किया गया है। धर्म के दश लक्षण मनु ने लिखे हैं—'**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्...... दशकं धर्म लक्षणम्**'—अत: दशमी का 'धर्म' से सम्बन्ध है। दश प्राण और ग्यारहवाँ जीवात्मा से एकादश 'रुद्र' हैं, अत: एकादशी का देवता 'रुद्र' लिखा है। इस हेतु से निश्चय होता है कि गणना के विचार से ही तिथि और नक्षत्रों की देवतागणना की गई है, किसी अन्य भाव से नहीं।

"अलंकार शास्त्र में भी ऐसे ही श्लोकों में गणना के लिये एक-दो आदि अंकों के भिन्न-भिन्न नाम रखे गये हैं। जैसे १ को कविता में ब्रह्म, २ को नेत्र, ३ को राम, ४ को वेद, ५ को तत्त्व, ६ को षडानन, ७ को ऋषि, ८ को वसु, ९ को अंक, १० को दिशा, ११ को रुद्र तथा १२ को आदित्य कहते हैं। जैसे अलंकार-शास्त्र में भिन्न-भिन्न अंकों को व्यक्त करने के लिए ब्रह्म, नेत्र, राम आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही यज्ञ में एक, दो, तीन, चार आदि तिथियों के देवताओं की आहुतियों के लिये ब्रह्म, त्वष्टा, विष्णु, यम आदि का प्रयोग किया जाता है।

"अब यदि इस पर कोई आशंका करे कि केवल तिथि और नक्षत्र की आहुति ही पर्याप्त थी, फिर उनके देवताओं की आहुति का वर्णन क्यों किया गया। इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि '**अधिकस्याधिकम् फलम्**'—जब बालक के जन्म का समय स्मरण रखना आवश्यक है, तब तिथि तथा नक्षत्र को आहुति देने के साथ-साथ इनके देवताओं को भी आहुति दे दी गई—इसमें हानि क्या है?"

४. तिथि और तिथि के देवता के नाम की आहुतियाँ

यज्ञ करनेवालों की सुविधा के लिये नीचे तिथि और उसके देवता एवं नक्षत्र और उनके देवताओं के चतुर्थी-विभक्त्यन्त प्रयोग हम दे रहे हैं जिससे प्रत्येक यज्ञकर्त्ता को आहुतियाँ देने में सरलता मिले।

तिथि	**तिथि-देवता**
(१) ओं प्रतिपदे स्वाहा	(१) ओं ब्रह्मणे स्वाहा
(२) ओं द्वितीयायै स्वाहा	(२) ओं त्वष्ट्रे स्वाहा
(३) ओं तृतीयायै स्वाहा	(३) ओं विष्णवे स्वाहा

(४) ओं चतुर्थ्यै स्वाहा	(४) ओं यमाय स्वाहा
(५) ओं पञ्चम्यै स्वाहा	(५) ओं सोमाय स्वाहा
(६) ओं षष्ठ्यै स्वाहा	(६) ओं कुमाराय स्वाहा
(७) ओं सप्तम्यै स्वाहा	(७) ओं मुनिभ्यः स्वाहा
(८) ओं अष्टम्यै स्वाहा	(८) ओं वसुभ्यः स्वाहा
(९) ओं नवम्यै स्वाहा	(९) ओं शिवाय स्वाहा
(१०) ओं दशम्यै स्वाहा	(१०) ओं धर्माय स्वाहा
(११) ओं एकादश्यै स्वाहा	(११) ओं रुद्रेभ्यः स्वाहा
(१२) ओं द्वादश्यै स्वाहा	(१२) ओं वायवे स्वाहा
(१३) ओं त्रयोदश्यै स्वाहा	(१३) ओं कामाय स्वाहा
(१४) ओं चतुर्दश्यै स्वाहा	(१४) ओं अनन्ताय स्वाहा
(१५) ओं पूर्णमास्यै स्वाहा	(१५) ओं विश्वे देवेभ्यः स्वाहा
(१६) ओं अमावास्यै स्वाहा	(१६) ओं पितृन्यः स्वाहा

नक्षत्र और नक्षत्र के देवता के नाम की आहुतियाँ

नक्षत्र	नक्षत्र-देवता
(१) ओं अश्विन्यै स्वाहा	(१) ओं अश्विभ्यां स्वाहा
(२) ओं भरिण्यै स्वाहा	(२) ओं यमाय स्वाहा
(३) ओं कृत्तिकाभ्यः स्वाहा	(३) ओं अग्नये स्वाहा
(४) ओं रोहिण्यै स्वाहा	(४) ओं प्रजापतये स्वाहा
(५) ओं मृगशिरसे स्वाहा	(५) ओं सोमाय स्वाहा
(६) ओं आर्द्रायै स्वाहा	(६) ओं रुद्राय स्वाहा
(७) ओं पुनर्वसुभ्यः स्वाहा	(७) ओं अदितये स्वाहा
(८) ओं पुष्याय स्वाहा	(८) ओं बृहस्पतये स्वाहा
(९) ओं आश्लेषायै स्वाहा	(९) ओं सर्पेभ्यः स्वाहा
(१०) ओं मधायै स्वाहा	(१०) ओं पितृभ्यः स्वाहा
(११) ओं पूर्वफाल्गुन्यै स्वाहा	(११) ओं भगाय स्वाहा
(१२) ओं उत्तराफाल्गुन्यै स्वाहा	(१२) ओं अर्यम्णे स्वाहा
(१३) ओं हस्ताय स्वाहा	(१३) ओं सवित्रे स्वाहा
(१४) ओं चित्रायै स्वाहा	(१४) ओं त्वष्ट्रे स्वाहा
(१५) ओं स्वातये स्वाहा	(१५) ओं वायवे स्वाहा
(१६) ओं विशाखाभ्यां स्वाहा	(१६) ओं चन्द्राग्निभ्यां स्वाहा
(१७) ओं अनुराधायै स्वाहा	(१७) ओं मित्राय स्वाहा

(१८)	ओं ज्येष्ठायै स्वाहा	(१८)	ओं इन्द्राय स्वाहा
(१९)	ओं मूलाय स्वाहा	(१९)	ओं निर्ऋतये स्वाहा
(२०)	ओं पूर्वाषाणैः स्वाहा	(२०)	ओं अद्भ्यः स्वाहा
(२१)	ओं उत्तराषाणैः स्वाहा	(२१)	ओं विश्वे देवेभ्यः स्वाहा
(२२)	ओं श्रवणाय स्वाहा	(२२)	ओं विष्णवे स्वाहा
(२३)	ओं धनिष्ठायै स्वाहा	(२३)	ओं वसुभ्यः स्वाहा
(२४)	ओं शतभिषजे स्वाहा	(२४)	ओं वरुणाय स्वाहा
(२५)	ओं पूर्वाभाद्रपदायै स्वाहा	(२५)	ओं अजपादे स्वाहा
(२६)	ओं उत्तराभाद्रपदायै स्वाहा	(२६)	ओं अहिर्बूध्न्याय स्वाहा
(२७)	ओं रेवत्यै स्वाहा	(२७)	ओं पूष्णे स्वाहा

बालकों के नाम अकारान्त तथा बालिकाओं के आकारान्त या इकार अथवा ईकारान्त होने चाहिएँ। उदाहरणार्थ, विजय अकारान्त है, रिचा आकारान्त है, श्रुति इकारान्त है, गार्गी ईकारान्त है।

५. नामकरण का दिन निश्चय करना

नामकरण के विषय में संस्कारविधि में लिखा है कि जिस दिन सन्तान का जन्म हो उसी दिन से लेकर १० दिन छोड़ उसका ११वें दिन नामकरण-संस्कार किया जा सकता है, अथवा १०१वें दिन, अथवा दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो उस दिन नामकरण-संस्कार किया जा सकता है।

११वें दिन करने का कारण यह है कि १० दिन तो माता सूतिका-गृह में रहती है, ११वें दिन वह वहाँ से बाहर आती है। ऐसी दशा में ११वें दिन नामकरण कर सकना सम्भव है। अगर माता निर्बल हो, तो तीन महीने का समय छोड़कर १०१वें दिन संस्कार किया जा सकता है। जो लोग यह चाहें कि उनके कुटुम्बी-जन जो तब भी न आ सकते हों वे सम्मिलित हों, तो उनकी सुविधा को देखकर द्वितीय वर्ष के प्रारम्भ में संस्कार करने की सुविधा दी गई है ताकि सबको यथा-समय पहुँचने का निमन्त्रण दिया जा सके।

६. स्विष्टकृत् और व्याहृति-आहुतियों का महत्त्व

नामकरण-संस्कार में एक स्विष्टकृत् तथा चार व्याहृति-आहुतियाँ दी जाती हैं। स्विष्टकृत् मन्त्र है—**'यदस्य कर्मणोऽत्यरीचं यद्वान्यूनमिहाकरम्'**। इसका अर्थ यह है कि सन्तान अपने जीवन में किसी कार्य को न तो अति मात्रा में करे, न न्यून मात्रा में करे, वह मध्य-मार्ग में चले। जीवन की सफलता का यही गुर है। लोग या अति कर देते हैं या कुछ करते ही नहीं—मध्य-मार्ग में चलने की बात नामकरण के समय से ही सन्तान के मन में डालने का प्रयत्न किया जाता है।

स्विष्टकृत् आहुतियों के बाद चार व्याहृतियों की आहुतियाँ दी जाती हैं। पहली व्याहृति है—'**भूः अग्नये स्वाहा**'—अर्थात्, बालक की अग्नि सदा सम रहनी चाहिये। अग्नि का अर्थ शरीर की सब प्रकार की अग्नियों से है। पहली अग्नि शरीर का 'ताप' (Temperature) है। शरीर न अधिक गर्म हो, न अधिक ठण्डा हो—शरीर के मुख्य-रोग गर्मी-सर्दी पर आश्रित हैं। इसके अतिरिक्त जठराग्नि भी एक अग्नि है, पेट ठीक रहे तो सब-कुछ ठीक रहता है। इसलिये बालक के स्वास्थ्य के लिये एक आहुति अग्नि के नाम से दी जाती है। दूसरी आहुति '**भुवः वायवे स्वाहा**'—अर्थात् बालक की वायु सदा सम रहनी चाहिये। शरीर में प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान—ये वायु कहे गये हैं। किसी को डकार आते हैं, किसी को अपान वायु सताती है, किसी को बाय का दर्द होता है। यह दूसरी आहुति वायु को समावस्था में रखने के लिये। तीसरी आहुति '**स्वः आदित्याय स्वाहा**'—अर्थात्, मनुष्य का भौतिक शरीर ही स्वस्थ न रहे, वह मानसिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आदित्य की तरह ज्ञान से चमकता रहे। शरीर की दृष्टि से अग्नि में अति (पित्त) न हो, अग्नि की न्यूनता (कफ) न हो, वायुकृत् दोष (वात) न हो—यह कहने के साथ-साथ मन तथा आत्मा का भी विकास हो, आदित्य की तरह ज्ञान का प्रकाश जीवन में ज्योति जगमगा दे—यह बात इन तीनों व्याहृतियों में कह कर चौथी व्याहृति में तीनों का एक-साथ परिगणन करते हुए चौथी व्याहृति में कहा '**भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा**'। इन तीनों को एक-साथ कह देने का अभिप्राय यह है कि माता-पिता बालक का सम-विकास (Harmonious development) चाहते हैं।

७. बालक की नासिका-द्वार के वायु के स्पर्श का महत्त्व

पाश्चात्य देशों में चुम्बन का प्रचलन है, परन्तु वैदिक-संस्कृति में सूँघने का या स्पर्श का वर्णन आता है। चुम्बन से अनेक प्रकार के रोग संक्रान्त हो जाने का भय रहता है। किसी को जुकाम है, किसी को खाँसी है, किसी को कोई संक्रामक रोग है—इस प्रकार चुम्बन से दूसरे को रोग हो जाने का भय बना रहता है। इसलिये स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से चुम्बन उपयुक्त नहीं है। हस्त-स्पर्श या बच्चों का मस्तक सूँघने से वही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त, जब बच्चे को गोद में लेकर उसकी नासिका-द्वार के वायु का स्पर्श किया जाता है, तब बच्चे का ध्यान अपने-आप वायु को स्पर्श करनेवाले की तरफ खिंच जाता है। यद्यपि बच्चा अभी समझने की स्थिति में नहीं होता, तो भी उस तक भावना पहुँचाने का यही सर्वोत्तम उपाय है। वह नासिका-द्वार से निकल रहे वायु को स्पर्श करनेवाले की तरफ देखने लगता है और भावनात्मक रूप में अगर वह कुछ समझ सकता है तो इतना तो समझ जाता है कि उसका कोई प्रिय उसे गोद में लिये बैठा है।

नामकरण संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

जिस दिन जन्म हो उस दिन से लेकर १० दिन छोड़ ११ वा १०१ (एक सौ एक) वें अथवा दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में जिस दिन जन्म हुआ हो नाम धरे।

(१) जो सामान जुटाकर रखना चाहिये—(पृष्ठ ६९-७०)

(२) इस संस्कार के लिये विशेष सामान—पंचांग

(ऋत्विग्वरण तथा यज्ञारम्भ)

जिस दिन नाम धरना हो, उस दिन अति प्रसन्नता से इष्ट-मित्र, हितैषी लोगों को बुलाकर, यथावत् सत्कार कर यजमान जो बालक का पिता है और ऋत्विज् क्रिया का आरम्भ निम्न प्रकार करें—

'**ऋत्विग्वरण**' (पृ० ७१) के बाद '**आचमन-मन्त्र**' (पृ० ७१) पढ़कर आचमन करें, फिर '**अंगस्पर्शमन्त्र**' (पृ० ७२) पढ़कर अङ्गों का स्पर्श करें, फिर '**ईश्वरोपासना**' (ओ३म् विश्वानि देव सवितः आदि, पृ० ३५) '**स्वस्तिवाचन**' (अग्निमीळे पुरोहितम् आदि, पृ० ३९) तथा '**शान्तिकरण**' (शं न इन्द्राग्नी आदि, पृ० ५५) का पाठ करें।

इसके अनन्तर यजमान वा पुरोहित यज्ञ-कुण्ड में सामान्यप्रकरणस्थ सम्पूर्ण विधि करें—अर्थात्, समिधाचयन कर '**अग्न्याधान**' (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिवभूम्ना आदि, पृ० ७२) करें—अर्थात्, यज्ञ की अग्नि का आधान करें, फिर अग्नि का '**प्रदीपन**' (ओं उद्बुध्यस्वाग्ने, पृ० ७३) करें। इसके अनंतर जब '**समिदाधान**' (ओम् अयं त इध्म आत्मा+समिधाग्निं दुवस्यत+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिः पृ० ७४-७७) से लेकर 'जलसेचन' (पृ० ७७) पर्यन्त सम्पूर्ण विधि कर लें—तब ४ '**आघारावाज्यभागाहुतियाँ**' (ओम् भूरग्नये स्वाहा से ओं इन्द्राय स्वाहा तक, पृ० ७८), ४ '**व्याहृति आहुतियाँ**' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७९), '**अष्टाज्याहुतियाँ**' (ओं त्वन्नो अग्ने० से ओं भवतन्नः समनसौ तक, पृ० ८२-८५)—इस प्रकार ये सब मिलाकर १६ घृताहुतियाँ दें।

(बालक का यज्ञ-वेदि पर आना)

तत्पश्चात्, बालक को शुद्ध (जल से) स्नान कराकर, शुद्ध वस्त्र पहनाकर उसकी माता कुण्ड के समीप बालक के पिता के पीछे से आकर दक्षिण भाग में होकर बालक का मस्तक उत्तर दिशा में रखकर बालक के पिता के हाथ में दे और स्त्री पुनः उसी प्रकार पति के पीछे होकर उत्तर भाग में पूर्वाभिमुख बैठे।

(प्रधान-होम तथा तिथि एवं नक्षत्र के लिये आहुतियाँ)

तत्पश्चात्, पिता उस बालक या बालिका को उत्तर में शिर और दक्षिण[१] में पग करके अपनी पत्नी को दे। पश्चात्, जो उसी संस्कार के लिये कर्त्तव्य हो, प्रथम उस प्रधानहोम को करे (संस्कारविधि के इस वाक्य से जान पड़ता है कि इस संस्कार में आगे जो कुछ विधिभाग दिया गया है वही इस संस्कार का प्रधानहोम है)।

ओं प्रजापतये स्वाहा॥[२]

इस मन्त्र से १ आहुति देकर, पीछे जिस तिथि तथा जिस नक्षत्र में सन्तान का जन्म हुआ हो उस तिथि और उस नक्षत्र का नाम लेकर, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से चार आहुतियाँ दें। अर्थात्, एक तिथि, दूसरी तिथि के देवता, तीसरी और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से अर्थात् तिथि, नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोलके चार घी की आहुतियाँ दें। जैसे किसी का जन्म प्रतिपदा और अश्विनी नक्षत्र में हुआ हो, तो—

ओं प्रतिपदे स्वाहा। ओं ब्रह्मणे स्वाहा। ओम् अश्विन्यै स्वाहा।
ओम् अश्विभ्यां स्वाहा॥[३] —गोभि०प्र० २, खं० ८, सू० ६,१२

---

१. सन्तान का सिर उत्तर दिशा में तथा पाँव दक्षिण दिशा में रखने का अभिप्राय यह है कि सिर उत्तर=उत्कृष्ट ज्ञान-सम्पन्न बने तथा पाँव सदैव दक्षिण अर्थात् सरल-गति से चलें, सन्तान वामपन्थी न हो, दक्षिणपन्थी हो। वाम का अर्थ है—वक्र, कुटिल।

२. पहले माता बच्चे को पिता की गोद में, फिर पिता उसे माता की गोद में देते हुए कहते हैं—'प्रजापतये स्वाहा'। इसका अर्थ यह है कि सन्तान का वास्तविक निर्माण तो परमपिता प्रजापति प्रभु ने किया है, यह उसकी सन्तान है, उसीके सुपुर्द है। इसी भावना को उपस्थित-समाज के सम्मुख व्यक्त करते हुए माता-पिता आहुति देते हुए कहते हैं कि हम तो साधन हैं, इस सन्तान का असली पिता तो वही है जो हर वस्तु और हर प्राणी का, सारी प्रजा का पति है।

इस घोषणा के बाद सन्तान के जन्मदिन से आहुतियाँ दी जाती हैं, उसके जन्म के नक्षत्र से आहुतियाँ दी जाती हैं ताकि जन्म की तिथि सबको स्मरण रहे। हमने 'नामकरण-संस्कार' के प्रारम्भ के भाग में तिथि, तिथि के देवता, नक्षत्र तथा नक्षत्र के देवता के नाम से जिस प्रकार आहुतियाँ दी जानी चाहिएँ उनका तिथि तथा नक्षत्रवार उल्लेख कर दिया है। वहाँ देख लें।

३. तिथि-देवता:—१. ब्रह्मन्। २. त्वष्टृ। ३. विष्णु। ४. यम। ५. सोम। ६. कुमार। ७. मुनि। ८. वसु। ९. शिव। १०. धर्म। ११. रुद्र। १२. वायु। १३. काम। १४. अनन्त। १५. विश्वेदेव। ३०. पितर। गोमिल गृह्यसूत्र में 'शिव' के स्थान में पिशाच और 'अनन्त' के स्थान में यक्ष है।

नक्षत्र-देवता:—अश्विनी-अश्वी। भरणी-यम। कृत्तिका-अग्नि। रोहिणी-प्रजापति। मृगशीर्ष-सोम। आर्द्रा-रुद्र। पुनर्वसु-अदिति। पुष्य-बृहस्पति। आश्लेषा-सर्प। मघा-

(स्विष्टकृताहुति)

तत्पश्चात् निम्न स्विष्टकृत् मन्त्र से एक आहुति घृत की दें—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम॥

(स्विष्टकृत् के बाद ४ व्याहृति आहुतियाँ दें)

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥ १॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदं न मम॥ २॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय—इदं न मम॥ ३॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा॥
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम॥ ४॥

(शिशु की नासिका का श्वास-स्पर्श)

१ स्विष्टकृत् और ४ व्याहृति आहुतियाँ देने के पश्चात् माता बालक को लेकर शुभ आसन पर बैठे और पिता बालक के नासिका-द्वार से बाहर निकलते हुए वायु का स्पर्श करके निम्न मन्त्र बोले।

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम। भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳसुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥
—य०अ० ७, मं० २९

शब्दार्थ—(**यस्य**) जिस (**ते**) तेरा (**नाम**) नामकरण (**आमन्महि**) हमने आज मनाया है (**यं त्वा**) जिस तुझको (**सोमेन**) दूध से (**अतीतृपाम**) हमने तृप्त किया है वह तू (**कः असि**) कौन है (**कतमः असि**) कौन-सा है (**कस्य असि**) किसका है (**कः नामा असि**) क्या नाम है तेरा? (**भूः भुवः स्वः**) हे सृष्टि की सत्ता के कारण, उसके बने रहने के कारण तथा सृष्टि द्वारा सुख देने के कारण रूप भगवन्! हम (**प्रजाभिः**) प्रजाओं से (**सुप्रजाः**) उत्तम सन्तानवाले (**वीरैः**) वीरों से (**सुवीराः**) बलवान् सन्तानवाले (**पोषैः**) पुष्टिकारक पदार्थों से (**सुपोषः**) पुष्टियुक्त (**स्याम्**) हों।

ओं कोऽसि कतमोऽस्येषोऽस्यमृतोऽसि।
आहस्पत्यं मासं प्रविशासौ॥ —मं०ब्रा० १,१५,१४, गो० २,८,१३

पितृ। पूर्वाफाल्गुनी-भग। उत्तराफाल्गुनी-अर्यमन्। हस्त-सवितृ। चित्रा-त्वष्टृ। स्वाति-वायु। विशाखा-इन्द्राग्नी। अनुराधा-मित्र। ज्येष्ठा-इन्द्र। मूल-निर्ऋति। पूर्वाषाढ़ा-अप्। उत्तराषाढ़ा-विश्वेदेव। श्रवण-विष्णु। धनिष्ठा-वसु। शतभिषज्-वरुण। पूर्वाभाद्रपदा-अजैकपाद्। उत्तराभाद्रपदा-अहिर्बुध्न्य। रेवती-पूषन्।

[1]**शब्दार्थ**—ओं **(कः असि)** तू कौन है **(कतमः असि)** अरे तू तो क+तमः= सुखस्वरूप **(एषः)** यह तू **(अमृतः असि)** अ+मृतः अमरणधर्मा है **(असौ)** हे पुत्र—यहाँ पुत्र का नाम ले—**(आहस्पत्यं)** दिन के स्वामी सूर्य के **(मासं)** प्रत्येक महीने में **(प्रविश)** प्रविष्ट हो—अर्थात्, दीर्घ आयुवाला हो।

जो यह ''असौ'' पद है, इसके पीछे (स्थान में) बालक का ठहराया हुआ नाम, अर्थात् जो पुत्र हो तो नीचे लिखे प्रमाणे दो वा चार अक्षर का, घोषसंज्ञक और अन्तःस्थ वर्ण अर्थात् पाँचों वर्गों के (अर्थात् प्रारम्भ के) दो-दो अक्षर छोड़ के तीसरा, चौथा, पाँचवा और य, र, ल, व ये चार वर्ण नाम में अवश्य आवें।

जैसे—देव अथवा जयदेव। ब्राह्मण हो तो देवशर्मा, क्षत्रिय हो तो देववर्मा, वैश्य हो तो देवगुप्त और शूद्र हो तो देवदास इत्यादि। और जो स्त्री हो तो एक, तीन वा पाँच अक्षर का नाम रक्खे—श्री, ह्री, यशोदा, सुखदा, सौभाग्यप्रदा इत्यादि प्रसिद्ध नामों को बोलके, पुनः ''असौ'' पद (अगर बालक का नाम दो बार बोलना हो तो ऊपर हमने कोष्ठक में जो 'स्थान में'—यह लिखा है वह नहीं चाहिये) के स्थान में बालक का नाम धर के पुनः ''ओं कोऽसि०'' ऊपर लिखित मन्त्र बोलना।

(पिता द्वारा आशीर्वाद)

पुनः जैसा जातकर्म में लिख आये हैं वैसे निम्न मन्त्र से बालक को आशीर्वाद देवें—

[2]**ओं स त्वाह्ने परिददात्वहस्त्वा रात्र्यै परिददातु रात्रिस्त्वा-होरात्राभ्यां परिददात्वहोरात्रौ त्वार्द्धमासेभ्यः परिदत्तामर्द्धमासास्त्वा मासेभ्यः परिददतु**

---

१. ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न ब, भ, म, ये स्पर्श और य, र, ल, व, ये चार अन्तःस्थ और ह एक ऊष्मा, इतने अक्षर नाम में होने चाहिएँ और स्वरों में से कोई भी स्वर हो। जैसे भद्रः, भद्रसेनः, देवदत्तः, भवः, भवनाथः, नागदेवः, रुद्रदत्तः, हरिदेवः, इत्यादि। पुरुषों का समाक्षर नाम रखना चाहिये तथा स्त्रियों का विषमाक्षर नाम रक्खें। अन्त्य में दीर्घ स्वर और तद्धितान्त भी होवे—जैसे श्रीः, ह्रीः, यशोदा, सुखदा, गान्धारी, सौभाग्यवती, कल्याणक्रोडा इत्यादि। परन्तु स्त्रियों के इस प्रकार के नाम कभी न रक्खें, उसमें (मनु० ३, ९) प्रमाण निम्न है—
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्। न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥
(ऋक्ष) रोहिणी, रेवती इत्यादि **(वृक्ष)** चम्पा, तुलसी इत्यादि **(नदी)** गङ्गा, यमुना, सरस्वती इत्यादि **(अन्त्य)** चाण्डाली इत्यादि **(पर्वत)** विन्ध्याचला, इत्यादि **(पक्षी)** कोकिला, हंसा इत्यादि **(अहि)** सर्पिण, नागी इत्यादि **(प्रेष्य)** दासी, किङ्करी इत्यादि **(भयङ्कर)** भीमा, भयंकरी, चण्डिका इत्यादि नाम निषिद्ध हैं।
इस सम्बन्ध में हम इस संस्कार के 'विवेचनात्मक-भाग' में विशेषरूप से लिख आये हैं।

२. उक्त दोनों मन्त्र जात-कर्म (पृष्ठ १८७-१८८) में भी आये हैं। वहाँ भी अर्थ देखें।

मासास्त्वर्त्तुभ्यः परिददत्वृतवस्त्वा संवत्सराय परिददतु संवत्सरस्त्वायुषे जरायै परिददातु, असौ॥[१] —मं०ब्रा० १,५,१४-१५, गो०गृ० २,८,१३-१४

(पूर्णाहुति)

उक्त विधि के अनुसार बालक का नाम रखकर संस्कार में आये हुए मनुष्यों को वह नाम सुना कर तीन पूर्णाहुति दें—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा।

(महावामदेव्य गान)

पूर्णाहुति देने के बाद महावामदेव्य गान (ओं भूर्भुवः स्वः। कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता आदि पृ० ....) करें।

(समाज द्वारा आशीर्वाद)

तत्पश्चात्, कार्यार्थ आये हुए मनुष्यों को आदर-सत्कार करके विदा करें और सब लोग जाते समय निम्न कार्य करें—

(१) पहले परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना के ८ मन्त्र (विश्वानि देव सवितर्दुरितानि० से लेकर अग्नये नय सुपथा राये अस्मान्० तक, पृ० ३४) बोलें, फिर—

(२) निम्न प्रकार सन्तान को आशीर्वाद दें—

''हे बालक! त्वम् आयुष्मान् वर्च्चस्वी तेजस्वी श्रीमान् भूयाः''

हे बालक! तू आयुष्मान्, विद्यावान्, धर्मात्मा, यशस्वी, पुरुषार्थी, प्रतापी, परोपकारी, श्रीमान् हो!

इति नामकरणसंस्कारविधिः समाप्तः

---

१. 'स त्वान्हे परिददातु' इस मन्त्र के अन्त में जो 'असौ' पद है यहाँ अगर बालक का नाम भवभूति है, तो 'भवभूति नामकः योऽस्त्यसौ'—इस प्रकार का प्रयोग पुरुष का नाम रखते समय तथा अगर बालिका का नाम यशोदा है तो 'यशोदा नामिका याऽस्त्यसौ' इस प्रकार का प्रयोग होगा। इस मन्त्र का अर्थ जातकर्म-संस्कार (पृष्ठ १८८) में दिया जा चुका है। अभिप्राय यह है कि तू दिन से रात्रि में, फिर दिन-रात में, फिर अर्धमास में, फिर मास में, फिर ऋतु में, फिर संवत्सर में आगे-आगे बढ़ता चल, पूर्ण आयु का उपभोग कर।

निष्क्रमण संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

निष्क्रमण-संस्कार छठा संस्कार है। 'निष्क्रमण' का अर्थ है—बाहर निकलना। अबतक बच्चा घर की चार दीवारी में बन्द था, परन्तु घर के बन्द वातावरण में ही उसे नहीं पड़े रहना है, उससे बाहर निकलना है। शरीर तथा मन के विकास के लिये ठण्डी हवा तथा सूर्य की रोशनी की जितनी आवश्यकता है उतना दूसरी किसी वस्तु की नहीं। इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर बच्चे के लिये एक धार्मिक-संस्कार का विधान कर दिया गया है ताकि वह ठण्डी ताजी हवा तथा सूर्य की प्राणप्रद किरणों का सेवन कर सके। अभी वह इस योग्य तो हुआ नहीं होता कि स्वयं दौड़ता-धूपता फिरे, इसलिये इस बात को माता-पिता के धार्मिक कर्त्तव्य में जोड़ दिया गया है कि वे उसे घर की चार दीवारी में से निकालें और उसे शुद्ध वायु तथा धूप का सेवन करायें।

१. सूर्य की रोशनी तथा ताजी हवा का महत्त्व

संसार में जितनी भी 'शक्ति' (Energy) है उसका उद्‌गम सूर्य से है। अगर सूर्य के प्रकाश, उसकी किरणों का विश्व में प्रसार न हो, तो स्वस्थ रहना असम्भव है। सूर्य ही जीवनी-शक्ति का भण्डार है, उसका स्थान अन्य कोई वस्तु नहीं ले सकती, क्योंकि सूर्य ही वह स्रोत है जहाँ से विश्व के कण-कण में शक्ति प्रवाहित हो रही है। इसलिये अगर हमें सन्तान के जीवन को बनाये रखना या उसे दीर्घजीवी बनाना है, तो हमें उसे ज्यादा-से-ज्यादा समय के लिये सूर्य के प्रकाश में उतनी देर तक रखना चाहिये जितना रख सकें। सूर्य की जीवनदायिनी किरणों से ताजी हवा में जीवनी-शक्ति का संचार हो जाता है, इसलिये स्वास्थ्य तथा दीर्घजीवन के लिये शुद्ध, स्वच्छ हवा में माता तथा बच्चे का जितनी देर तक हो सके साँस लेना उपयोगी है।

इस बात को कभी नहीं भुलाना चाहिये कि सब प्रकार का जीवन 'सौर-शक्ति' (Solar energy) पर आश्रित है। सूर्य ही वह डायनेमो है जिससे जीवनी-शक्ति उत्पन्न होती है। वनस्पति तथा प्राणी का जीवन सौर-शक्ति से बना रहता है। अगर वनस्पति को या प्राणी को सूर्य से शक्ति प्राप्त न हो, तो जीवन नहीं रह सकता। तो भी हम लोग इस प्रकार का कृत्रिम-जीवन बिता रहे हैं, जिसमें असंख्य व्यक्ति सूर्य के प्रकाश से वंचित रहते हैं, मानो सूर्य की जीवनीदायिनी शक्ति जो वनस्पति, पशु पक्षी के जीवन के लिये अत्यावश्यक है, उसकी मनुष्य के लिये कोई आवश्यकता

नहीं। लोग बन्द कमरों में रहते हैं, तहखानों में बरसों बिता देते हैं, दरवाजे-खिड़कियाँ बन्द कर बिजली की रोशनी तथा बिजली के पंखे में सारा जीवन गुजार देते हैं। नतीजा यह है कि ऐसे लोगों के चेहरे पीले, बदन कमजोर, आँखों पर चश्मा और अन्त में ये लोग किसी-न-किसी बीमारी के मरीज बनकर आधी आयु ही भुगत कर परलोक सिधार जाते हैं। इन लोगों के चेहरों को देखो और उन किसानों के चेहरों को देखो जो दिन भर खुली हवा में साँस लेते और सुबह से ही घर से निकलकर सूर्य की धूप में दिन गुजार देते हैं। कहाँ किसानों के लाल-लाल चमकते चेहरे और कहाँ शहरी लोगों के रक्तहीन पीले चेहरे!

खुले वातावरण में दिन काटना और बन्द कमरे में दिन बिताना—इन दोनों में क्या भेद है? जो व्यक्ति खुले वातावरण में जिन्दगी बिताता है, उसे साँस लेने के लिये वह ताजी हवा मिलती है जो सूर्य की जीवन-प्रद किरणों से आविष्ट है। सूर्य के सान्निध्य के बिना इस हवा को अन्य किसी प्रकार जीवनप्रद नहीं बनाया जा सकता। विज्ञान के कितने ही प्रयोग किये जायें, हवा में जो जीवनी-शक्ति सूर्य की किरणें डाल सकती हैं, वह अन्य किसी उपाय से नहीं डाली जा सकती। हमारे स्वास्थ्य तथा दीर्घजीवन की मुख्य आधार सूर्य की किरणों से भावित शुद्ध वायु है। कहने को यह बात कितनी सरल मालूम पड़ती है। हर-कोई कहेगा कि यह कोई नई बात नहीं है। इसे सब लोग जानते हैं, परन्तु उपहासास्पद बात यही है कि इस साधारण-सी बात को जानते हुए भी सभी अपना जीवन इस प्रकार बिता देते हैं, मानो वे इसे न जानते हों। हम लोग तहखानों में पड़े रहते हैं, खुले कमरे हों तो उनके दरवाजे-खिड़कियाँ भी बन्द कर देते हैं, खुली ताजी हवा में साँस लेने के स्थान में पंखों की हवा पसन्द करते हैं। इस प्रकार का जीवन बिताते हुए हम दीर्घजीवन की आशा कैसे कर सकते हैं।

मनुष्य का जीवन श्वास पर निर्भर करता है। शुद्ध वायु में साँस लेने से बहुत लाभ होता है। सूर्य की रश्मियों से भावित शुद्ध वायु का गहरा साँस सौर-शक्ति से भरा होता है। जब सौर-शक्ति से अनुभावित शुद्ध वायु को हम फेफड़ों में भरते हैं, तब हमारे अंग-प्रत्यंग में वैद्युतिक-शक्ति दौड़ जाती है। यह शक्ति शरीर को ही प्रभावित नहीं करती मन को भी प्रभावित करती है। यह शक्ति शरीर का नव-निर्माण करती है और शरीररूपी यन्त्र-व्यवस्था का नवीकरण कर देती है। वह वायु जिस पर सूर्य के प्रकाश का प्रभाव पड़ चुका है जीवनी-शक्ति से भर जाता है, इसी को भारतीय शास्त्रों में प्राण-शक्ति कहा गया है, इसमें उस वायु की अपेक्षा जिसमें 'सौर-शक्ति' का प्रभाव नहीं हुआ जीवन को स्वस्थ बना देने तथा दीर्घजीवन प्रदान करने की अपूर्व क्षमता है। जिस संस्कार-पद्धति का उद्देश्य मानव का नव-निर्माण करना है, उसमें अगर शरीर की एक-एक 'कोशिका' (Cell) को जीवनी-शक्ति से

भर देनेवाले संस्कार को भुला दिया जाता, तो वह पद्धति अधूरी रह जाती। निष्क्रमण-संस्कार का अभिप्राय ही यह है कि बच्चे के मस्तिष्क में जीवन-यात्रा में पग रखते ही यह संस्कार अमिट रूप से डाल दिया जाए कि सौर-शक्ति से अनुभावित प्राण-शक्ति से ही वह स्वस्थ तथा दीर्घजीवी रह सकता है, अन्यथा नहीं।

आज हमारे समाज में नामकरण, मुण्डन, उपनयन तथा विवाह संस्कार ही रह गये हैं, अन्य संस्कारों का लोप हो गया है। निष्क्रमण-संस्कार को तो कोई करता तक नहीं है, इसे एक अनावश्यक संस्कार समझा जाता है। परन्तु अगर इस संस्कार की गहराई को समझा जाए, यह समझा जाए कि इसका उद्देश्य सौर-शक्ति से अनुभावित प्राण-वायु के महत्त्व पर बल देना है, बालक को कृत्रिम-जीवन में से निकालकर प्रकृति-प्रदत्त स्वाभाविक स्वस्थ जीवन के लिये तय्यार करना है, तो 'निष्क्रमण-संस्कार' का महत्त्व अन्य किसी संस्कार से कम नहीं रहता।

२. निष्क्रमण-संस्कार का समय

निष्क्रमण-संस्कार के समय के सम्बन्ध में गोभिल गृह्यसूत्र का मत है कि **'जननात् यः तृतीयः ज्यौत्स्नः तस्य तृतीयायाम्'**—अर्थात्, जन्म के बाद तीसरे शुक्ल-पक्ष की तृतीया को निष्क्रमण-संस्कार करना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि चान्द्रमास की दृष्टि से जन्म के २ मास ३ दिन बाद यह संस्कार होना चाहिये। पारस्कर गृह्यसूत्र का मत यह है कि **'चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका'**—अर्थात्, जन्म के चौथे महीने यह संस्कार होना चाहिये। इन दोनों में कोई मूलगत भेद नहीं है। अभिप्राय यह है कि अगर बच्चा कमजोर हो, तो ३ महीने बाद और हृष्ट-पुष्ट हो, तो २ महीने बाद उसे बाहर की हवा तथा सूरज की धूप में लाना-ले जाना चाहिये। इससे पहले बच्चे को बाहर लाने-ले जाने में उसे ठण्ड या गर्मी लग सकती है। निष्क्रमण-संस्कार को धार्मिक-संस्कार के रूप में १६ संस्कारों में स्थान देने का अभिप्राय यह है कि इस तरफ माता-पिता का बरबस ध्यान जाना चाहिये। जैसे युवा हो जाने पर बालक के स्वास्थ्य के लिये कई नियम बना दिये जाते हैं, प्रातःकाल व्यायाम करे, सायंकाल हॉकी, फुटबाल आदि किसी खेल में भाग ले ताकि उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट हो जाए, इसी तरह जन्मते ही बच्चे के लिये संस्कार के रूप में यह आवश्यक कर दिया गया है कि २ या ३ मास बाद वह घर के क्षुद्र तथा सीमित वातावरण में ही न पड़ा रहे, घर से बाहर शुद्ध हवा तथा मीठी-मीठी धूप का सेवन करे।

शरीर-रचना-विशेषज्ञों का कहना है कि हमारे शरीर के सम-विकास के लिये कैलसियम तथा फॉसफोरस का शरीर में खपना आवश्यक है। जितने अंश में रुधिर में कैलसियम की कमी होगी उतने ही अंश में मनुष्य बेचैन तथा चिड़चिड़ा रहेगा। विटेमिन 'डी' (Vitamin D) के बिना कैलसियम शरीर में जज्ब नहीं होता।

विटेमिन-'डी' न दूध में है, न दही में है। यह सूर्य की धूप से ही मिल सकता है, इसलिये सूर्य की रश्मियों का सेवन आवश्यक है ताकि विटेमिन-'डी' प्राप्त हो सके और बच्चा कैलसियम की कमी के कारण कमजोर न रहे, एवं कैलसियम तथा फॉसफोरस दोनों धूप के प्रभाव से शरीर में खप सकें।

३. त्वं जीव शरदः शतम् वर्धमानः

निष्क्रमण-संस्कार में जितने मन्त्र पढ़े जाते हैं उन सबकी टेक एक है, जिसका उपसंहार '**त्वं जीव शरदः शतम् वर्धमानः**' में आ जाता है। माता-पिता तथा उपस्थित बन्धु-बान्धवों की यह हार्दिक कामना है कि सन्तान सौ बरस तक जीये और लगातार उन्नति करती रहे, वर्धमान रहे। संस्कार के पहले मन्त्रों में आया है—'**मा अहम् पौत्रं अघं निगाम्**'—'**मा अहम् पौत्रं अघम् रिषम्**'—मेरा पुत्र चिरजीवी हो, मुझसे पहले पुत्र मरने का कष्ट मुझे न हो। उसके बाद के मन्त्र में लिखा है—'**आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्**'—तू सौ बरस तक जी। उसके बाद के मन्त्र में भी दोहराया गया है—'**असौ जीव शरदः शतम्**'। सन्तान के कान में कहा गया है—'**अस्मे शतं शरदः जीवसे**' सन्तान को सूर्य का दर्शन कराते हुए कहा गया है। '**जीवेम शरदः शतम्**' और अन्त में संस्कार का उपसंहार करते हुए पढ़ा गया है—'**त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः**'। क्योंकि इस संस्कार में सन्तान घर से निकलकर बाहर के संसार में प्रवेश करने लगता है, इसलिये इस कामना का करना कि जब यह जीवन के क्षेत्र में चल ही पड़ा है, तो इसका जीवन इतना दीर्घ हो ताकि जिस ध्येय को लक्ष्य में रखकर इसने जन्म लिया है उसे पूरा करके ही यह जीवनयात्रा को समाप्त करे, इसकी जीवनयात्रा बीच में ही न समाप्त हो जाए, इसके जीवन का लक्ष्य अधूरा ही न पड़ा रह जाए।

बायबल में जीवन की सीमा सत्तर वर्ष की कही गई है। उसके अनुसार लोग प्रायः—'Three score years and ten'—२०म३+१०=७०—इस प्रकार जीवन की सीमा गिना करते हैं, परन्तु वेदों में सौ वर्ष के स्वस्थ-जीवन की सीमा की बात जगह-जगह कही गई है।

४. सूर्य तथा चाँद का दर्शन

निष्क्रमण-संस्कार में सन्तान को सृष्टि की दो महान् विभूतियों के दर्शन कराये जाते हैं। पहला दर्शन सूर्य का है। संस्कारविधि में लिखा है—''तत्पश्चात्, आनन्दपूर्वक उठकर बालक को सूर्य का दर्शन करावे और '**ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्र-मुच्चरत् पश्येम शरदः शतम्**' आदि मन्त्र बोले।'' संस्कार समाप्त हो जाने तथा सब लोगों के विदा हो जाने के बाद ''रात्रि में जब चन्द्रमा प्रकाशमान हो तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना दाहिनी ओर से आगे आकर पिता के हाथ में बालक को देकर, अञ्जलि भरकर चन्द्रमा के सन्मुख खड़ी रहकर—'**ओं यद-**

दश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयं श्रितम्' आदि मन्त्र बोलकर जल को पृथिवी पर छोड़ देवे। इसी प्रकार बालक का पिता भी इसी मन्त्र को पढ़कर अञ्जलि में जल भरकर उसे पृथिवी पर छोड़ दे। यह क्रिया पत्नी तथा पति दोनों करें।''

उक्त दोनों विधियों का आशय सन्तान को सृष्टि की सूर्य तथा चन्द्र—इन दोनों विभूतियों से परिचित कराना है। अगर चन्द्र का दर्शन सिर्फ बालक की माता या पिता ने करना होता तो रात्रि को जब चन्द्र का प्रकाश सृष्टि में चहुँ ओर छिटक रहा होता है, तब बालक को कभी माता की गोद में और कभी पिता की गोद में लेने-देने का उपक्रम क्यों किया जाता? माता-पिता ने तो सैंकड़ों वार चाँद को देका है। उक्त दोनों विधियाँ बालक के लिये की जाती हैं और इनका आशय बालक को संसार की इन अद्वितीय विभूतियों से परिचय कराने के सिवाय अन्य कुछ नहीं हो सकता।

(१) सूर्य के दर्शन का महत्त्व—विश्व का नियन्त्रण दो ही तत्त्व करते हैं—एक है उष्णता का तत्त्व, दूसरा है शीत का तत्त्व। भौतिक-दृष्टि से शरीर में गर्मी जीवन का चिह्न है, गर्मी का ह्रास, शरीर का ठण्डा पड़ जाना जीवनी-शक्ति में कमी आ जाने का चिह्न है। मानसिक-दृष्टि से मन का गतिशील होना मानसिक-बल का चिह्न है, मन का गतिहीन हो जाना मानसिक-ह्रास का चिह्न है। सामाजिक-दृष्टि से समाज प्रगतिशील हो सकता है, या प्रगतिहीन हो सकता है। उष्णता, गर्मी, गति, प्रगति—ये सब सूर्य की देन हैं, इसलिये जीवन के पथ पर पहला कदम रखते ही बालक को सूर्य के दर्शन कराये जाते हैं—सूर्य की तरह वह प्रगतिशील बने।

(२) चन्द्रके दर्शन का महत्त्व—चनद्रि का काम शीतलता है। अधिक गर्मी भी नुक्सान पहुँचा सकती है, मानसिक-दृष्टि से बहुत तीव्रगति से चिन्तन मनोविकार उत्पन्न कर सकता है, इसीलिये पागल को Moon-struck या Lunatic कहते हैं। अंग्रेजी में Luna का अर्थ चाँद है। चन्द्र केदर्शन कराकर पानी को अञ्जलि में लेकर नीचे फेक दिया जाता है। नीचे फेकने का अर्थ है—चन्द्र-जनित मनोविकारों को नीचे धकेल देना। जल जो-कोई भी शक्ल धारण कर सकता है इसी प्रकार मन भी जो-कोई भी भावना ग्रहण कर सकता है। मन उच्चभावना ग्रहण करे, जैसे सूर्य जल को वाष्प बनाकर ऊपर उठा लेता है, नीचे की भावना का त्याग करे जैसे अञ्जलि में धरे जल को हम नीचे फेंक देते हैं—यह इन सब विधियों का भाव है

५. आयुर्वेद का निष्क्रमण-विषयक कथन

आयुर्वेद का प्रधान ग्रन्थ चरक है। इस ग्रन्थ में निष्क्रमण-संस्कार का उल्लेख तो नहीं है, परन्तु नामकरण-संस्कार के पीछे जो-कुछ करना चाहिये उसका उल्लेख है। चरक में लिखा है—'**कृते च नामकर्मणि कुमारं परीक्षितुं उपक्रमेत् आयुषः प्रमाण-ज्ञानहेतोः**'—अर्थात्, नामकरण के बाद बालक की आयु का ज्ञान करने के

लिये उसकी परीक्षा करे। यह परीक्षा यह देखने के लिये है कि आयु के लिहाज से उससे किस प्रकार का व्यवहार किया जा सकता है। सम्भवतः इसका यह अर्थ है कि नामकरण तथा उपनयन के बीच संस्कारों को नगण्य-सा मानकर चरक सीधा उपनयन तक पहुँच गया है। तो भी इस प्रकरण में चरक ने जो-कुछ कहा है वह बालक के निष्क्रमण-संस्कार के बाद के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इसलिये हम यहाँ नामकरण के बाद जो-कुछ करने के लिये चरक (अध्याय ८ सूत्र ११९) में कहा है उसका उल्लेख कर देना अप्रासांगिक नहीं समझते। आयुर्वेद के ग्रन्थों में नामकरण के बाद कुमारागार, बालकों के वस्त्र, बालकों के खिलौने, बालकों की रक्षा, बालकों का पालन आदि विषयों पर जो प्रकाश डाला गया है वह बालक के विकास की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। वहाँ शारीर-स्थान में लिखा है।

(१) कुमारागार

''अतोऽनन्तरं कुमारागारविधिं अनुव्याख्यास्यामः। वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यतमं निवातं प्रवातैकदेशं दृढ़ं अपगत श्वापद-पशु-दष्ट्रि-मूषक-पतंगं सुसंविभक्तसलिलोलूखलमलमूत्रवर्जः स्थान-स्नान-भूमिमहानसं ऋतुसुख यथर्तुशयनासनास्तरणसम्पन्नं कुर्यात्। तथा सुविहितरक्षाविधानवलिमंगलहोम-प्रायश्चित्तं शुचिवृद्धवैद्यानुरक्तजनसम्पूर्णं इति कुमारागारविधिः।''

अर्थात्, इसके आगे कुमारागार विधि की व्याख्या करेंगे। मकान के निर्माण को समझनेवाला 'वास्तु-कुशल' (एञ्जीनीयर) व्यक्ति प्रशस्त, सुन्दर, जिस स्थान में अधिक हवा न आती हो, परन्तु एक मार्ग से वायु का प्रवेश हो, ऐसा पक्का मकान बनवाये जिसमें कुत्ते, हिंसक जन्तु , चूहे, मच्छर आदि न आ सकें। उस घर में विधिवत् यथास्थान जल, कूटने-पीसने का अमामदस्ता, मूत्र, मल-त्याग, स्नान-गृह, रसोईघर अलग-अलग हों। इसमें ऋतुओं के अनकूल सुख, ऋतुओं के अनुसार सोना, बैठना, बिछौना आदि होना चाहिये। इस कुमारागार में रक्षा के सम्पूर्ण साधन, बलिदान, मंगल-कार्य, होम, प्रायश्चित्त की सामग्री उपस्थित रहनी चाहिये। इसमें पवित्र विचारों के वृद्ध वैद्य और बालक से प्रीति रखनेवाले मनुष्य भी रहें। यह है **'कुमारागार'**—कुमार अर्थात् बालक का घर और उसमें होनेवाला प्रबन्ध जिसमें बालक का लालन-पालन होना चाहिये।

(२) कुमार के वस्त्र

''शयनासनास्तरणप्रावरणानि कुमारस्य मृदु-लघु-शुचि-सुगन्धिनी स्युः। स्वेद मल जन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः। असति संभवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधूपितानि सुशुद्ध सुशुष्काणि उपयोगं गच्छेयुः।''

अर्थात्, बिस्तर, आसन, बिछौने के वस्त्र कोमल, हल्के, पवित्र, सुगन्धित होने चाहियें। पसीना, मल-मूत्र-जूँ आदि से दूषित हुए कपड़े हटा देने चाहिएँ, नये

बरतने चाहिएँ। यदि नये न हों, तो इन्हीं वस्त्रों को अच्छी तरह धोकर गुग्गुल, सरसों, हींग, वच, चोरक आदि का धूआ देकर, साफ करके, सुखाकर काम में ला सकते हैं।

(३) कुमार के खिलौने

''क्रीडकानि खल्वस्य विचित्राणि घोषवन्ति, अभिरामाणि, अगुरूणि, अतीक्ष्णाग्राणि, अनास्यप्रवेशीनि, अप्राणहराणि, अवित्रासनानि स्युः।''

अर्थात्, बच्चों के खिलौने विचित्र प्रकार के, बजनेवाले, देखने में सुन्दर, हल्के, आगे से कुण्ठित (बिना नोक के), मुख में न आनेवाले, प्राण हरण न करनेवाले हों।

खिलौनों के वर्णन से प्रकट होता है कि यह सारा प्रकरण ऐसे बच्चे के लिये है जो निष्क्रमण-संस्कार की आयु का है।

(४) कुमार का मानसिक-विकास

''न ह्यस्य वित्रासनं साधु, तस्मात् तस्मिन् रुदति, अभुंजाने वा अन्यत्र अविधेयताम् आगच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामानि चाह्वयता कुमारस्य वित्रासार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात्।''

अर्थात्, शिशु को डराना ठीक नहीं। किसी भी कारण से वह रोने लगे, खाना न खाये, दूसरी तरफ ध्यान दे, तो उसे डराने के लिये राक्षस, पिशाच, पूतना आदि का नाम नहीं लेना चाहिये।

ऊपर हमने आयुर्वेद के ग्रन्थ के आधार पर शिशु के पालन-पोषण तथा विकास के विषय में जो कुछ लिखा है वह आज के किसी भी उच्चतम बाल-पालन के ग्रन्थ के साथ टक्कर ले सकता है। कुमारागार, कुमार के वस्त्र, कुमार के खिलौने तथा कुमार के मानसिक-विकास के सम्बन्ध में चरक ने जो कुछ लिखा है, वह बच्चे की उस आयु को द्योतित करता है, जिसमें उसका 'निष्क्रमण-संस्कार' होना चाहिये।

निष्क्रमण संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

'निष्क्रमण-संस्कार' उसको कहते हैं जिसमें बालक को घर से बाहर जहाँ का वायु-स्थान शुद्ध हो वहाँ भ्रमण कराना होता है। उसका समय जब अच्छा देखें तभी बालक को बाहर घुमायें, अथवा चौथे मास में तो अवश्य भ्रमण करावें।

जो सामान जुटा कर रखना चाहिये—देखो ६९-७०

[शिशु को स्नान कराकर यज्ञ-स्थान पर लाना]

संस्कार के दिन प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् बालक को शुद्ध जल से स्नान करा, शुद्ध सुन्दर वस्त्र पहिनावे। पश्चात्, बालक को यज्ञशाला में बालक की माता लाकर पति के दक्षिण पार्श्व में होकर, पति के सामने आकर, बालक का मस्तक उत्तर और छाती ऊपर अर्थात् चित्ता रख के पति के हाथ में देवे। पुनः पति के पीछे की ओर घूम के बायें पार्श्व में पूर्वाभिमुख बैठ जावे।*

[निम्न ३ मन्त्रों से परमात्मा की आराधना]

[1]ओं यत्ते सुसीमे हृदयꣳ हितमन्तः प्रजापतौ।
वेदाहं मन्ये तद् ब्रह्म माहं पौत्रमघं निगाम्॥ १॥
ओं यत् पृथिव्या अनामृतं दिवि चन्द्रमसि श्रितम्।
वेदामृतस्याहं नाम माहं पौत्रमघꣳ रिषम्॥ २॥
ओम् इन्द्राग्नी शर्म यच्छतं प्रजायै मे प्रजापती।
यथायं न प्रमीयेत पुत्रो जनित्र्या अधि॥ ३॥

[ऋत्विग्वरण तथा सामान्यप्रकरणोक्ता समस्त-विधि]

उक्त तीन मन्त्रों से परमेश्वर की आराधना करके '**ऋत्विग्वरण**' (पृष्ठ ७१) के बाद '**आचमन-मन्त्र**' (पृष्ठ ७१) पढ़कर आचमन करें, फिर '**अंग-स्पर्श-मन्त्र**' (पृष्ठ ७२) पढ़कर अंगों का स्पर्श करें, फिर '**परमेश्वरोपासना**' (ओ३म् विश्वानि देव सवितः आदि, पृष्ठ ३५) '**स्वस्तिवाचन**' (अग्निमीळे पुरोहितम् आदि, पृष्ठ......) तथा '**शान्तिकरण**' (शं न इन्द्राग्नी आदि, पृष्ठ ५५) का पाठ करें।

इसके अनन्तर यजमान वा पुरोहित यज्ञ-कुण्ड में '**सामान्यप्रकरण**' (पृष्ठ ६८) के मन्त्रों से समिधाचयन कर '**अग्न्याधान**' (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः

---

* मूल संस्कारविधि में 'दक्षिणाभिमुख खड़ी रहे' छपा है, नामकरण में 'पूर्वाभिमुख बैठे' छपा है। 'पूर्वाभिमुख बैठे' ही उचित प्रतीत होता है—युधिष्ठिर मीमांसक।

१. अर्थ जातकर्म (पृष्ठ १७०) में देखें।

स्वर्द्योरिवभूम्ना आदि, पृष्ठ ७२) करें—अर्थात्, यज्ञ की अग्नि कर आधान करें, फिर अग्नि का '**प्रदीपन**' (ओं उद्बुध्यस्वाग्ने, पृष्ठ ७३) करें। इसके अनन्तर जब '**समिदाधान**' (ओम् अयं त इध्म आत्मा+समिधाग्निं दुवस्यत+ सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिः, पृष्ठ ७४-७७) से लेकर '**आघारावाज्यभागाहुति**' (ओम् अग्नये स्वाहा से ओं इन्द्राय स्वाहा, पृष्ठ ७८) तक तथा ४ '**व्याहुति आहुति**' (भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९) पर्यन्त विधि कर चुकें तब निम्नलिखित तीन मन्त्रों से शिशु को देख के उसके शिर का स्पर्श करें।

[१]ओम् अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्॥ १॥
ओं प्रजापतेष्ट्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि।
सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम्॥ २॥
गवां त्वा हिङ्कारेणावजिघ्रामि। सहस्रायुषाऽसौ जीव शरदः शतम्॥ ३॥
—पार०गृ०कां० १, कं० १८,२-४

दूसरे तथा तीसरे मन्त्र में '**असौ**' की जगह शिशु का नाम लेना चाहिये। इस तथा अगले मन्त्र का भावार्थ यह है कि जैसे गौ अपने बछड़े को हिं-हिं करके—हिंकार से—प्रेमवश सूँघती है, वैसे मैं अपनी तथा प्रजापति परमेश्वर की तरफ से तुझे सूँघता हूँ और तेरे सौ वर्ष तक जीने की कामना करता हूँ। बछड़े के प्रति गौ का कितना प्रेम होता है, उसी प्रेम को लक्ष्य में रखकर पिता कहता है कि तू मेरी सन्तान होने के साथ-साथ प्रजाओं के पति परमेश्वर की सन्तान है, मैं तो गाय की तरह तुझे प्रेमवश सूँघता ही हूँ, प्रजापति भी तुझसे प्रेम करते हैं, अतः उनकी तरफ से भी सूँघता हूँ। यह आश्चर्य की बात है कि कई माताएँ प्रेमवश अपने पुत्र को 'आ मेरे बछड़े' कहकर प्रेम दर्शाती हैं।

[इस मन्त्र से शिशु के दक्षिण कान में मन्त्र-जपे]

निम्नलिखित मन्त्र बालक में दक्षिण कान में जपे—

अस्मे प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्निन्द्र रायो विश्ववारस्य भूरेः।
अस्मे शतꣳशरदो जीवसे धा अस्मे वीराञ्छश्वत इन्द्र शिप्रिन्॥ १॥*

[इस मन्त्र से शिशु के वाम कान में मन्त्र-जपे]

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनाꣳस्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥ २॥*

अब पति बालक का उत्तर दिशा में शिर और दक्षिण दिशा में पग करके पत्नी

१. इस मन्त्र के मुख्य भाग का अर्थ जातकर्म-संस्कार (पृष्ठ १८८) में दिया गया है।
* इन मन्त्रों के अर्थ जातकर्म-संस्कार (पृष्ठ १८५) में दिया है।

को दे और मौन करके स्त्री के (कन्या) शिर का स्पर्श करे।[१]

[शिशु को दिन में सूर्य का दर्शन कराना]

तत्पश्चात्, आनन्दपूर्वक उठ के बालक को सूर्य का दर्शन करावे और निम्नलिखित मन्त्र वहाँ बोले—

[२]**ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥** —यजुर्वेद, ३६,२४

इस मन्त्र को बोल के थोड़ा-सा शुद्ध वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में ला, सब लोग निम्न वचन को बोल आशीर्वाद दें—

[आशीर्वाद]

''हे बालक! त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः।''

अगर सन्तान कन्या हो तो—**''हे बालिके! त्वं जीव शरदः शतं वर्धमाना।''**

तत्पश्चात्, बालक के माता और पिता संस्कार में आये हुए स्त्रियों और पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें।

[शिशु को रात्रि में चन्द्र का दर्शन कराना]

तत्पश्चात्, जब रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान हो, तब बालक की माता लड़के को शुद्ध वस्त्र पहिना दाहिनी ओर से आगे आके पिता के हाथ में बालक को उत्तर की ओर शिर और दक्षिण की ओर पग करके देवे, और बालक की माता दाहिनी ओर से लौट कर बाईं ओर आ अञ्जलि भरके चन्द्रमा के सम्मुख खड़ी रह के—

***ओं यददश्चन्द्रमसि कृष्णं पृथिव्या हृदयꣳ श्रितम्।**
तदहं विद्वाꣳस्तत्पश्यन् माहं पौत्रमघꣳ रुदम्॥ —मन्त्र ब्रा० १,५,१३

इस मन्त्र से परमात्मा की स्तुति करके जल को पृथिवी पर छोड़ देवे। तत्पश्चात्, बालक की माता पुनः पति के पृष्ठ की ओर से पति के दाहिने पार्श्व से सम्मुख आके पति से पुत्र को लेके पुनः पति के पीछे होकर बाईं ओर आ बालक का उत्तर की ओर शिर तथा दक्षिण की ओर पग रख के खड़ी रहे, और बालक का पिता जल की अञ्जलि भर **''ओं यददश्चन्द्रमसि''** इसी मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके जल को पृथिवी पर छोड़ के दोनों प्रसन्न होकर घर में आवें।

॥ इति निष्क्रमणसंस्कारविधि-समाप्तः ॥

---

१. 'स्त्री' से तात्पर्य कन्या का है, कन्या के शिर का स्पर्श ही करें, कर्ण में जाप न करें, ऐसा पारस्कर गृह्यसूत्र के टीकाकारों का मत है—श्री युधिष्ठिर मीमांसक।
२. इसका अर्थ शान्तिकरण (पृष्ठ.....) में देखें।
* इसका अर्थ जातकर्म (पृष्ठ......) में देखें।

अन्नप्राशन संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

संस्कारों के सिलसिले में अन्नप्राशन सातवाँ संस्कार है। बालक के गर्भ में आने के बाद ज्यों संस्कारों का तांता बँधता है, एक-के-बाद-एक आते चले जाते हैं। जबतक बालक माँ के पेट में होता है तबतक तीन संस्कार हो चुके होते हैं—गर्भाधान, पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन। बालक के जन्म लेने के तुरन्त बाद से संस्कारों की शृंखला फिर शुरु हो जाती है। जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन—इस प्रकार सात वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते उसके दस संस्कार हो जाते हैं। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक-संस्कृति में इस बात को भली प्रकार समझ लिया गया था कि बालक को आगामी जीवन की स्वस्थ दिशा देने का यही समय है, इसके बाद उसका मस्तिष्क परिपक्व होता जाएगा, और उसे जीवन की दिशा देना कठिन हो जाएगा। बालक की प्रकृति अगर बन सकती है तो इसी समय; इसके बाद अगर उस पर कुसंस्कार पड़ेंगे तो प्रारम्भिक-जीवन में संचित संस्कारों के कारण वे टिक न सकेंगे। जैसे हमने बार-बार कहा है, संस्कार-पद्धति का उद्देश्य मानव के जीवन का नव-निर्माण करना है, उसका सूत्रपात जीवन के इन्हीं दिनों में हो सकता है जब वह प्रत्येक संस्कार को ग्रहण करने के लिये तय्यार होता है। संस्कारों की इस शृंखला में निष्क्रमण के बाद अन्नप्राशन संस्कार किया जाता है।

१. अन्नप्राशन-संस्कार का महत्त्व

अन्नप्राशन का अर्थ है—जीवन में पहले-पहल अन्न का खाना। बच्चे को जन्मते ही माँ का दूध मिलता है, उस समय न तो अन्न चबाने के लिये उसके दाँत होते हैं, न अन्न हज्म करने लायक उसका हाजमा होता है। उस समय जो भोजन उसके लिये सम्भव हो सकता है उसका प्रबन्ध परमात्मा ने उसके लिये कर दिया है। इतना ही नहीं कि उसका उसने प्रबन्ध कर दिया है, परन्तु प्रभु की ऐसी रचना है कि उस भोजन को ढूँढ़ने के लिये उसे कहीं नहीं जाना पड़ता। जहाँ उसने आँखें खोलीं, न भी खोलीं, जहाँ उसने जीवन का साँस लिया वहीं उसे जीवन धारण का साधन माँ के दूध में अनायास मिल गया।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि माँ के तथा बच्चे के स्वास्थ्य की दृष्टि से कबतक उसे दूध पर इस प्रकार निर्भर रहना चाहिये ताकि माँ का स्वास्थ्य भी बना रहे, बच्चे का पोषण भी चलता रहे।

(१) माँ की दृष्टि से—दूध के भीतर मुख्य पोषक-तत्त्व कैलसियम

(Calcium) है। माँ का दूध पिलाने का अर्थ है कि वह अपने शरीर के भीतर का कैलसियम बच्चे को दे रही है। इसका यह अर्थ हुआ कि जितनी देर तक वह बच्चे को दूध पिलाती रहेगी उतनी देर तक कैलसियम की दृष्टि से उसका शरीर क्षीण होता जायेगा। यही कारण है कि जो माताएँ देर तक बच्चे को दूध पिलाती रहती हैं वे कमजोर होती जाती हैं। प्रकृति ने दूध पिलाने का समय स्वयं निश्चित कर दिया है। जब बच्चे के दाँत निकलने लगें तब समझ लेना चाहिये कि अब अन्न चबाने का समय इसका नजदीक आता जा रहा है, ऐसी हालत में माँ को स्वयं दूध पिलाने में कमी करके अन्न की तरफ ध्यान देना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि कई माताएँ इसकी तरफ ध्यान नहीं देतीं, कमजोर होती जाती है, परन्तु बच्चे को दूध पिलाती रहती हैं। अन्नप्राशन-संस्कार को धर्म का अंग इसी दृष्टि से बना दिया गया है कि एक निश्चित अवधि के आने पर माँ को अपना दूध पिलाना बन्द कर देना चाहिये और बच्चे के पोषण के लिये अन्नादि की तरफ ध्यान देना चाहिये ताकि माता का शरीर क्षीण न हो जाए। संस्कार निश्चित कर देने से माता का ध्यान बरबस इस ओर जायेगा, नहीं तो पास-पड़ोस के ही लोग अन्नप्राशन का समय बीत जाने पर भी शिशु को माँ का दूध पीते देखकर पूछेंगे कि अरे, क्या इसका अन्नप्राशन तुमने नहीं किया? माँ की दृष्टि से अन्नप्राशन का महत्त्व उसके शरीर की रक्षा है।

(२) शिशु की दृष्टि से—इनमें सन्देह नहीं कि दूध में सब प्रकार के पोषक तत्त्व हैं, परन्तु प्रकृति ने मनुष्य को सिर्फ दूध पर रहने के लिये नहीं बनाया। दूध पर इने-गिने लोग ही जीवनयापन कर सकते हैं, न दूध इतना मिल सकता है कि सब लोग दूध पर रह सकें। दूध का आधार दूसरे प्राणी ही हो सकते हैं, या माता का दूध मिले या गौ-बकरी आदि का। उन्हें भी अपने बच्चों को पालने के लिये दूध की आवश्यकता है। इसलिये प्रकृति ने मनुष्य को इस कुचक्र में से निकालने के लिये अपना दूसरा इन्तजाम किया हुआ है। जबतक दूध की जरूरत है, पेट अभी नरम है, तबतक तो शिशु केदाँत नहीं होते, परन्तु जब वह पुष्ट होकर अन्न को हज्म करने लायक हो जाता है तब उसके दाँत निकलने लगते हैं ताकि वह अन्न को चबा सके और उसे खाकर अपना भरण-पोषण कर सके। माता का दूध कबतक रह सकता है, रहे तो उसका शरीर क्षीण होने की सम्भावना रहती है, इसलिये जैसे प्रकृति ने दाँत न होने के दिनों में उसके लिये माता के स्तनों में दूध उमड़ आने का प्रबन्ध किया, वैसे माता का शरीर सर्वथा क्षीण न हो जाए, इसलिये प्रकृति ने ही कुछ महीनों के बाद शिशु के मुख में दाँत प्रकट होने का भी प्रबन्ध कर दिया ताकि अब वह दूध छोड़कर अन्न से अपनीक्षुधा की तृप्ति करे। जो बच्चे सिर्फ दूध पर रह जाते हैं उनका शरीर थुलथुला हो जाता है, देह में कड़ाई नहीं आती।

वैसे तो सब माता-पिता कभी-न-कभी तो बच्चे को दूध छुड़ाकर उसे अन्न पर

ले आते हैं, परन्तु इसे नियम में बाँध देने का काम सिर्फ वैदिक-संस्कृति में इसे सोलह संस्कारों का अंग बनाकर किया गया है।

२. शिशु का दूध कब और कैसे छुड़ाया जाए ?

(१) दूध पीना कब छुड़ाया जाए—प्रकृति जैसा चाहती है वैसा तो हमें करना ही पड़ता है, परन्तु प्रकृति तथा हमारा सहयोग हो, ताल-मेल हो, उसे नियम में बाँधा जाए, यही संस्कार-पद्धति का उद्देश्य है। जो बात करनी ही है, उसे नियमपूर्वक, आगा-पीछा देखकर करना ही बुद्धिमानी है। दूध तो बच्चे ने छोड़ना ही है, उम्र भर तो वह दूध पीता नहीं रहेगा, पीने की कोशिश करेगा तो ठोकर खायेगा। इसलिये दूध छोड़ने के समय को नियम में बाँध देना अन्नप्राशन-संस्कार का लक्ष्य है। प्रकृति कब दूध छोड़ देने का संकेत करती है? जब दाँत पैदा होने लगें तब प्रकृति कह देती है कि अब दूध छोड़कर ऐसी वस्तु की तरफ चलो जिसके लिये दाँत उपयोगी है।

जब दाँत निकलने के दिन आने लगें तब यह समझ लेना चाहिये कि शिशु का माता का दूध छुड़ाने का समय आ पहुँचा। बच्चों के दाँत छठे महीने से निकलने लगते हैं, इसलिये अन्नप्राशन-संस्कार का समय भी छठा महीना है। पारस्कर गृह्यसूत्र में लिखा है—**''षष्ठे मासि अन्नप्राशनम्''** (आश्व०गृह्य, १,१६,१)—अर्थात्, छठे महीने अन्नप्राशन-संस्कार होना चाहिये। कई निर्धन माताएँ जिनके स्तनों में दूध नहीं होता या कई सम्पन्न माताएँ लाड़-प्यार में छठे महीने से पहले बच्चे को अन्न देने लगती हैं, इससे उसका हाजमा बिगड़ जाता है, उसे दस्त आने लगते हैं, न वह दूध को पचा सकता है, न अन्न को पचा सकता है। इसी प्रकार कई माताएँ बच्चे के दाँत निकल आने पर भी उसे दूध पर ही रखती हैं। उनका विचार यह होता है कि बच्चा जितनी देर तक दूध पीयेगा उतना ही स्वस्थ होगा। यह बात भी प्रकृति के विरुद्ध है। दूध पर ही रहनेवाला बच्चा थुलथुला हो जाता है, उसके शरीर की गठन ढीली रहती है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर शास्त्रकारों ने दूध छुड़ाने का समय बाँध दिया है, जिससे अनजाने न माता को नुक्सान हो, न शिशु को नुकसान हो।

(२) दूध पीना कैसे छुड़ाया जाए—जो बच्चा छः मास से दूध पर पल रहा है उसे एकदम दूध छुड़ा देना भी उसके स्वास्थ्य के लिये हितकार नहीं है। दूध छुड़ाने में भी कई बातों की तरफ ध्यान देना होगा। माता का दूध गर्मियों में छुड़ाने के स्थान में सर्दियों में छुड़ाना ठीक रहता है, क्योंकि गर्मियों में मक्खियाँ अधिक रहने के कारण खुले दूध पर उनके बैठने की सम्भावना रहती है जिससे शिशु को अतिसार आदि रोग हो सकते हैं। खुले दूध की बात हम इसलिये कह रहे हैं, क्योंकि आजकल की परिस्थितियों में प्रायः माताएँ अपने दूध की अपेक्षा बाहर के दूध पर ही अधिक निर्भर रहती हैं। माता का दूध थोड़ा हो जाता है, जो-कुछ होता है वह

और जो बाहर से पिलाया जाता है उसे धीरे-धीरे छुड़ाना होता है जिसमें ३-४ मास लग जाते हैं। छह मास की आयु से शिशु को अन्न के अतिरिक्त कुछ चटाना भी शुरु कर देना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र (१,१६,५) में लिखा है—**'दधिमधुघृतमिश्रितं अन्नं प्राशयेत्'**—अर्थात्, अन्नप्राशन में शिशु को दही, शहद तथा घी को मिलाकर चटाये।

यह बात ध्यान रखने की है कि दीर्घजीवन (Longivity) पर अनुसन्धान हुए हैं, उनसे पता चला है कि जिन देशों में दही का प्रयोग किया जाता है उन देशों के निवासियों की आयु बहुत लम्बी होती है। प्रो० मेटक्नीकोफ की पुस्तक 'Prolongation of life' में लिखा है कि जिन लोगों के भोजन का मुख्य आधार दूध, दही तथा लस्सी होता है उनकी आयु आशातीत रूप में लम्बी पायी गई है। श्री एम० ग्रिगोरौफ का कथन है कि बलगेरिया में सबसे अधिक ऐसे व्यक्ति पाये गये हैं, जिनकी आयु सौ वर्ष से अधिक है। बलगेरिया के लोगों के भोजन में दही, लस्सी का ही अधिक भाग होता है। वैदिक संस्कृति में सौ वर्ष तक जीने की प्रार्थना की गई है, वह इसीलिए सम्भव है, क्योंकि उन लोगों के खाने में अधिक भाग दूध तथा दही का होता था। दही के अलावा कार्बोहाईड्रेट्स (Carbohydrates) में सर्वोत्तम मीठा शहद को ही माना जाता है। सफेद चीनी लाभ के स्थान में हानि करती है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए सूत्रकारों का अन्नप्राशन संस्कार के समय दही तथा मधु चटाना विज्ञानसम्मत है।

शिशु को दूध छुड़ाने का तरीका यह है कि २४ घण्टे में जितनी बार माता अपना दूध पिलाती है उनमें से कुछ बार वह न पिलाये और उसकी जगह बोतल का दूध पिलायें। इस प्रकार धीरे-धीरे करने से शिशु का पेट बिगड़ता नहीं है, अन्यथा एकदम बाहर का दूध पिलाने से उदर का विकार हो सकता है। इसके अतिरिक्त एकदम अपना दूध बन्द कर देने से माता की छाती में दूध भरे रहने से दर्द भी हो जाता है। इन दोनों दृष्टियों को सामने रखकर क्रमशः दूध छुड़ाना ही माता तथा शिशु दोनों के लिये हितकर है। जब शिशु १५ पौंड का हो जाता है तब दिन भर में वह माता से ३५ औंस के लगभग दूध पी लेता है। इतना दूध हर माता नहीं दे सकती इसलिये भी शिशु को बाहर से दूध देना पड़ा जाता है। बाहर का दूध देने के लिये गाय का दूध सर्वोत्तम है। इस समय सब्जियों तथा फलों का रस भी दिया जाना चाहिए। चम्मच से शिशु कम दूध पीता है इसलिये बोतल से पिलाना उत्तम है, परन्तु हर बार बोतल और रबर को गर्म, उबलते पानी से खूब अच्छी तरह धो डालना चाहिये। माता का दूध छुड़ाने का प्रोग्राम सब अपने ढंग से बना सकते हैं। हम यहाँ एक साधारण-सा दिग्दर्शन कर देते हैं।

६ से ९ मास की आयु में शिशु को ५ बार दूध दिया जा रहा होता है—प्रायः

६ बजे, १० बजे, २ बजे, ४ बजे और रात के १० बजे—अर्थात् चार-चार घण्टे के बाद एक-एक बार दूध दिया जाता है। पहले-पहले जब माता का दूध बन्द करना हो और उसे बाहर के दूध तथा अन्न पर लाना हो, तो २ बजे माता के दूध की जगह गाय का दूध दो क्योंकि माता तथा गाय के दूध में फैट आदि की समानता है। इस दूध को बनाने के लिये ५ औंस गाय का दूध, २ औंस उबला पानी, १ चम्मच मीठा डालकर शिशु को पिला दो। यह क्रम एक सप्ताह तक चलाओ। उसके बाद दूसरे सप्ताह में एक बार की जगह दो बार बाहर का दूध दो। ६ बजे माता का, १० बजे गाय का, २ बजे माता का, ६ बजे गाय का, १० बजे माता का—इस प्रकार एक सप्ताह तक यह क्रम रखो। तीसरे सप्ताह दो बार की जगह तीन बार बाहर का और दो बार माता का दूध दो। प्रातः ६ बजे माता का, १०,२,६ बजे गाय का, रात को १० बजे फिर माता का—इस प्रकार तीसरे सप्ताह का क्रम जारी रखो। चौथे सप्ताह दोपहर के २ बजे के भोजन में दूध के स्थान पर सब्जी का रसा, थोड़ा दही, थोड़ा शहद, थोड़ा चावल दो, बाकी क्रम वही जारी रखो। पाँचवें सप्ताह दो समय के दूध के स्थान में रसा, सब्जी, दही, शहद आदि बढ़ा दो। इस प्रकार ३-४ मास में बालक को धीरे-धीरे माता का दूध छोड़कर अन्न के भोजन पर ले आओ। एकदम माता का या बाहर का दूध छुड़ाकर उसे अन्न पर ले आने से बच्चे को पेट के अनेक रोग हो सकते हैं, इसलिये बालक के जीवन के साथ कहीं उसके संसार में पग धरते ही खिलवाड़ न हो जाए, और जन्मभर के लिये उसके साथ कोई बीमारी न चिपट जाए, '**अन्नप्राशन**'—इस नाम से एक संस्कार का निर्माण कर दिया गया है ताकि द्रव भोजन से स्थूल भोजन पर उसका आना एक वैज्ञानिक ढंग से हो, अटपटे ढंग से नहीं।

बच्चे को दूध से एकदम अन्न पर नहीं लाना चाहिये। शिशु शुरु में 'क्षीराद' (दूध ही खाने वाला) होता है, छठे महीने के बाद से जब उसका अन्नप्राशन-संस्कार हो जाता है तब वह 'क्षीरान्नाद' (दूध और अन्न खाने वाला) हो जाता है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, अन्नप्राशन-संस्कार तथा दाँत निकलने के समय का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्नप्राशन तभी किया जाता है जब दाँत निकलने लगते हैं। दाँत निकलते समय बच्चे के शरीर में उथल-पुथल मच जाती है, इसलिये उस समय चेचक का टीका नहीं लगवाना चाहिये। दाँत निकलने तथा चेचक के टीके—इन दोनों में शरीर में हलचल मचती है, इसलिये बालक के शरीर में हलचलों की बाढ़ ला देना अनुचित है। जब बच्चा दाँत के उपद्रवों में से निकल चुके या उससे पहले चेचक का टीका लगवाना ठीक रहता है। इसलिये टीका सदा तीसरे महीने से पहले या नवें महीने के बाद लगवाना चाहिये—ऐसे समय में जब शरीर के भीतर परिवर्तन न हो रहे हों या परिवर्तन होकर समाप्त हो चुके हों, शरीर समावस्था में आ चुका हो।

अन्नप्राशन संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

नामकरण-संस्कार जन्म के ११वें दिन अथवा १०१वें दिन, अथवा जन्म के एक वर्ष बाद किया जाता है, निष्क्रमण-संस्कार जन्म के तीसरे या चौथे महीने किया जाता है; अन्नप्राशन-संस्कार जन्म के छठे महीने या जिस दिन बालक का जन्म हुआ हो छठे महीने के उसी दिन किया जाता है। इसकी विधि निम्न प्रकार है—

(१) जो सामान जुटाकर रखना चाहिये—देखो पृष्ठ ६९-७०

(२) इस संस्कार के लिये विशेष सामान—दही, शहद, घृत (थोड़ा-थोड़ा चाटने के लिये) अथवा घृतयुक्त भात आहुतियाँ देने के लिये तैयार रखें।

[ऋत्विग्वरण आदि तथा प्रारम्भिक मन्त्र-पाठ]

अन्नप्राशन संस्कार का प्रारम्भ करते हुए संस्कारविधि में लिखा है कि सम्पूर्ण विधि (ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण से लेकर अन्त तक) को करके संस्कार करे। यहाँ सम्पूर्ण-विधि से तात्पर्य '**ऋत्विग्वरण**' (पृष्ठ ७१), '**आचमन**' (पृष्ठ ७१), '**अंगस्पर्श**' (पृष्ठ ७२), **स्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण** पर्यन्त ही समझना चाहिये क्योंकि 'अग्न्याधान' आदि का उल्लेख आगे किया है। इसलिये अन्नप्राशन संस्कार में '**ऋत्विग्वरण**' से प्रारम्भ करके '**ईश्वरोपासना**' (पृष्ठ ३५), '**स्वस्तिवाचन**' (पृष्ठ ३९) तथा '**शान्तिकरण**' (पृष्ठ ५५)—यहीं तक करें।

[भात तैयार करना—भात सिद्ध करने की विधि]

तत्पश्चात्, जिसको तेजस्वी बालक करना हो, वह 'घृतयुक्त भात' अथवा 'दही, शहद, घृत'—इन तीनों को भात के साथ मिलाकर निम्न प्रकार पांच मन्त्रों से सिद्ध करे, अर्थात् चावलों को धोकर, शुद्ध करके अच्छे प्रकार बनाये और पकते हुए भात में यथायोग्य घृत भी डाले। जिन मन्त्रों से भात को सिद्ध करे, वे निम्न हैं—

ओम् प्राणाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ १॥
ओम् अपानाय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ २॥
ओम् चक्षुषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ ३॥
ओम् श्रोत्राय त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ ४॥
ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ ५॥

इन ५ मंत्रों का यह अर्थ है कि हे अन्न! 'प्राण' की प्रीति तथा उसके सेवन के लिये तुझे साफ करता हूँ, 'अपान' की प्रीति और उसके सेवन के लिये तुझे साफ करता हूँ 'चक्षू' की प्रीति तथा उसके सेवन के लिये तुझे साफ करता हूँ, 'श्रोत्र' की

प्रीति तथा उसके सेवन के लिये तुझे साफ करता हूँ, 'अग्नि' की प्रीति तथा उसके द्वारा अच्छी तरह से इस भात का परिपाक हो—इसके लिये तुझे साफ करता हूँ।

जब चावल अच्छी प्रकार पक जाए, तब थोड़ा ठण्डे हुए पश्चात् होम-स्थली में निम्न पाँच मन्त्रों से कार्यकर्त्ता यजमान और पुरोहित तथा ऋत्विजों को पृथक्-पृथक् पात्र में देकर रख दे। वे पाँच मन्त्र निम्न हैं—

ओम् प्राणाय त्वा जुष्टं निर्वपामि॥ १ ॥
ओम् अपानाय त्वा जुष्टं निर्वपामि॥ २ ॥
ओम् चक्षुषे त्वा जुष्टं निर्वपामि॥ ३ ॥
ओम् श्रोत्राय त्वा जुष्टं निर्वपामि॥ ४ ॥
ओम् अग्नये स्विष्टकृते त्वा जुष्टं निर्वपामि॥ ५ ॥

इन वाक्यों का यह अर्थ है कि जब अन्न को धोकर साफ कर लिया तब कहा जाता है कि हे अन्न! अब तू सेवन करने के योग्य हो गया है, इसलिये 'प्राण'-'चक्षु'-'श्रौत्र' तथा 'अग्नि' के लिये तुझे साफ करके रखता हूँ।

अन्न को साफ करना और उसे सँभालकर रखना ताकि बालक को उसका सेवन कराया जा सके—इसे यहाँ मन्त्रोच्चारण द्वारा एक धार्मिक-कृत्य बना दिया गया है। अंत में साफ तो सभी करते हैं, परन्तु उसका साफ करना भी एक धार्मिक-कृत्य के समान है—यह भावना वैदिक-संस्कृति में ही पायी जाती है। अन्न-दोष से कितने रोगी होते और मरते हैं यह सभी जानते हैं, इसलिये अन्न को शुद्ध रखना—Non-adulteration—'**जीवेम शरदः शतम्**'—सौ बरस तक जीने के लिये आवश्यक है।

['अग्न्याधान', 'समिदाधान' आदि से यज्ञारम्भ]

भात पकाकर रख लेने के बाद यज्ञारम्भ करें। समिधाचयन कर '**अग्न्याधान**' (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिवभूम्ना आदि, पृष्ठ.....) करें—अर्थात्, यज्ञ की अग्नि का आधान करें, फिर अग्नि का '**प्रदीपन**' (ओं उद्बुध्यस्वाग्ने, पृष्ठ....) करें। इसके अनंतर '**समिदाधानादि**' (ओम् अयं त इध्म आत्मा+समिधाग्निं दुवस्यत+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिः आदि, पृष्ठ.... से ....) करके प्रथम ४ '**आघारा-वाज्यभागाहुतियों**' (ओम् अग्नये स्वाहा से ओं इन्द्राय स्वाहा तक, पृष्ठ....) तथा ४ '**व्याहृति आहुतियों**' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ.........) से घृत की—ये कुल ८ आहुतियाँ देकर नीचे लिखे मन्त्रों से पकाये हुए भात की आहुतियाँ दें—

अन्नप्राशन-संस्कार की विशेष-आहुतियाँ

[भात की २ आहुतियाँ]

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु स्वाहा॥ इदं वाचे—इदन्न मम॥ १ ॥

—ऋ० ८।१००।११; पार०गृ० १।१९।२

शब्दार्थ—(**देवाः**) विद्वान् लोगों ने (**देवीं वाचं**) दिव्य वाणी को (**अजनयन्त**) प्रादुर्भूत किया (**विश्वरूपाः**) नाना प्रकार के (**पशवः**) साधारण जन (**तां वदन्ति**) उसे बोलते हैं (**सा नः वाक्**) वह हमारी वाणी (**इषं ऊर्जं**) अन्न और बल को (**दुहाना धेनुः**) दूध देनेवाली गौ की तरह (**अस्मान्**) हमें (**मन्द्रा**) मधुर (**सुष्टुता**) आसानी से बोलने योग्य (**उप एतु**) प्राप्त हो। यह वाणी के प्रति मेरी (**स्वाहा**) शुभ स्तुति है।

भावार्थ—अन्नप्राशन का समय बालक का वाणी के उच्चारण का समय है, इसलिये कहा है कि इस समय बालक जिस वाणी का प्रयोग करे वह मीठी हो, मधुर हो, साथ-साथ आसानी से बोली जा सकने वाली हो।

***वाजो नोऽअद्य प्र सुवाति दानं वाजो देवाँऽ ऋतुभिः कल्पयाति। वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वाऽआशा वाजपतिर्जयेयꣳस्वाहा॥ इदं वाचे वाजाय—इदन्न मम॥ २॥** —यजु० १८।३३; पा०गृ० १।१९।३१

शब्दार्थ—(**वाजः**) अन्न (**अद्य**) आज (**नः**) हमारी (**दानं**) दान देने के सामर्थ्य को (**प्रसुवाति**) पैदा करता है (**वाजः**) अन्न (**विद्वान्**) विद्वानों को (**ऋतुभिः**) ऋतुओं के साथ (**कल्पयाति**) समर्थ बनाता है (**वाजः**) अन्न ने (**हि**) निश्चय से (**मा**) मुझे (**सर्ववीरं**) सब तरह से वीर (**जजान**) बना दिया (**वाजपतिः**) अन्न का स्वामी होकर मैं (**विश्वा आशाः जयेयम्**) दिग्दिगन्त को जीत लूँ। (**स्वाहा**) यह अन्न के प्रति मेरी शुभ कामना है।

भावार्थ—अन्नप्राशन संस्कार के समय गृहस्थ ऐसी कामना करता है कि उसके पास अन्न का इतना भण्डार हो कि वह दूसरों को भी दे सके, अन्न का स्वामी होकर वह दिग्दिगन्त को जीत सके।

[उसी भात में घी डालकर ये आहुतियाँ दें]

ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा॥ इदं प्राणाय—इदन्न मम॥ १॥
ओमपानेन गन्धानशीय स्वाहा॥ इदमपानाय—इदन्न मम॥ २॥
ओं चक्षुषा रूपाण्यशीय स्वाहा॥ इदं चक्षुषे—इदन्न मम॥ ३॥
ओं श्रोत्रेण यशोऽशीय स्वाहा॥ इदं श्रोत्राय—इदन्न मम॥ ४॥

—पार०गृ०कां० १।१९।४

भात में घृत डालकर उसकी आहुतियाँ देता हुआ यजमान कहता है कि मेरा

* पहले मन्त्र में 'देवीं वाचम्' तथा दूसरे मन्त्र में 'वाजो नो' पाठ है। अगर ये दोनों मन्त्र अलग-अलग पढ़े जायें, तो दूसरे मन्त्र में 'इदं वाजाय'—इतना ही होना चाहिये। अगर दूसरे मन्त्र में 'इदं वाचे वाजाय' पढ़ा जाये, तो द्वितीय मन्त्र की आहुति में 'देवीं वाचम्' वाला मन्त्र दूसरी बार पढ़ना चाहिये—यह मत पारस्कर के हरिहरादि टीकाकारों के कथन के आधार पर श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने व्यक्त किया है।

प्राण इतना पुष्ट हो कि उसके कारण मैं अन्न का उपभोग करूँ, अपान वायु इतना पुष्ट हो कि पेट में उत्पन्न होनेवाले गन्धों—बदबू आदि—को खा जाऊँ, अर्थात् पेट में बदबू न आये, अन्न से आँख इतनी पुष्ट हो कि नेत्र संसार के रूपों का उपभोग करें, अन्न से श्रोत्र—कान—इतने पुष्ट हों कि मुझे अपना यश-ही-यश सुनाई दे।

[स्विष्टकृत्, व्याहृति, अष्टाज्याहुति—ये आहुतियाँ दें]

तत्पश्चात्, एक '**स्विष्टकृत्**' (ओं यदस्य कर्मणो०, पृष्ठ ८०) की आहुति दे। इसके पश्चात् ४ '**व्याहृति आहुतियाँ**' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९) और ८ '**अष्टाज्याहुतियाँ**' (ओं त्वं नो अग्ने से ओं भवतन्नः समनसौ० तक, पृष्ठ ८२-८६)—ये १२ आहुतियाँ दें।

[यज्ञ समाप्ति]

पुनः निम्नलिखित मन्त्र से यज्ञ की तीन बार पूर्णाहुति करें—

ओं सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा॥

उसके पीछे आहुति से बचे हुए भात में दही, मधु और उसमें घी यथायोग्य कचित्-किंचित् मिलाके और सुगन्धियुक्त और भी चावल बनाये हुए थोड़े-से मिलाके बालक की रुचि प्रमाणे निम्न मन्त्र को पढ़के उसे खाने को दें—

ओम् अन्न॑पते॒ऽन्न॑स्य नो देह्यनमी॒वस्य॑ शु॒ष्मिण॑ः।
प्रप्र॑ दा॒तारं॑ तारिष॒ऽ ऊर्जं॑ नो धेहि द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे॥ —यजुः० ११।८३

शब्दार्थ—हे **(अन्नपते)** अन्न के पति भगवन्! **(नः)** हमें **(अनमीवस्य)** कीटादिरहित **(शुष्मिणः)** बलकारक **(अन्नस्य)** अन्न के भण्डार **(देहि)** दीजिये, **(प्रदातारम्)** खूब अन्नदान देनेवाले को **(प्रतारिष)** दुःखों से पार लगाइये **(नः)** हमारे **(द्विपदे चतुष्पदे)** दोपायों और चौपायों को **(ऊर्जं)** बल **(धेहि)** दीजिये।

उक्त मन्त्र को पढ़के थोड़ा-थोड़ा पूर्वोक्त भात बालक के मुख में देवे। यथारुचि खिला, बालक का मुख धो और अपने हाथ धोके पृष्ठ ८६-८८ में लिखे '**महावानदेव्यगान**' करके, जो बालक के माता-पिता और अन्य वृद्ध स्त्री-पुरुष आये हों, वे परमात्मा की प्रार्थना करके—

"त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः।
त्वन्नपती अन्नादा वर्धमाना भूयाः॥"

पहले वाक्य से बालक को तथा दूसरे वाक्य से बालिका को आशीर्वाद देके, पश्चात् संस्कार में आये हुए पुरुषों का सत्कार बालक/बालिका का पिता और स्त्रियों का सत्कार उनकी माता करके सबको प्रसन्नतापूर्वक विदा करें।

॥ इत्यन्नप्राशनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

चूड़ाकर्म या मुण्डन संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

बचपन में जो संस्कार किये जाते हैं उनमें नामकरण तथा चूड़ाकर्म संस्कार मुख्य हैं। बच्चों के संस्कारों के सम्बन्ध में जो निमन्त्रण छपते हैं, वे अधिकतर इन दो संस्कारों के लिये होते हैं, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन संस्कार कोई ही करता होगा, यद्यपि बच्चे के विकास को सीमा में बाँधने तथा उसके निर्माण पर ध्यान केन्द्रित करने के लिये ये उपेक्षित संस्कार अन्य किसी संस्कार के कम महत्त्व के नहीं हैं।

चूड़ाकर्म संस्कार संस्कारों की शृंखला में आठवाँ संस्कार है। इसके लिये अन्य शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, इसे मुण्डन-संस्कार, चूड़ाकरण, केश-वपन, क्षौर आदि भी कहते हैं। संस्कृत में 'चूड़ा'-शब्द शिखर या चोटी के लिये प्रयुक्त होता है। 'अस्ताचलचूड़ावलम्बिनी कुमुदनी' में 'चूड़ा'-शब्द का अस्ताचल के शिखर से अभिप्राय है। इस दृष्टि से चूड़ाकर्म का अर्थ है—सिर के बालों के सम्बन्ध में कर्म। हिन्दी का 'जूड़ा'-शब्द 'चूड़ा' का अपभ्रंश है।

आश्वलायन गृह्यसूत्र अ० १, कं० १७, सू० १ में लिखा है—'**तृतीये वर्षे चौलम्**'—तीसरे वर्ष में चूड़ाकर्म-संस्कार करना चाहिये। पारस्कर गृह्यसूत्र का० २, कं० १ सू० १ में लिखा है—'**सांवत्सरिकस्य चूड़ाकरणम्**'—एक वर्ष का बालक हो जाए, तो उसका चूड़ा-संस्कार कर दे। इसका अभिप्राय यह है कि मुण्डन-संस्कार जन्म से तीसरे वर्ष या एक वर्ष के भीतर कर देना चाहिये। वैज्ञानिक-दृष्टि से तीसरे साल करना अधिक युक्तियुक्त है, जिसका कारण हम आगे लिखेंगे।

१. चूड़ाकर्म का दाँतों के निकलने से सम्बन्ध है

चूड़ाकर्म के लिये सूत्र-ग्रन्थों ने दो समय दिये हैं—या तो जन्म के प्रथम वर्ष, या तीसरे वर्ष। प्रथम तथा तृतीय वर्ष का कारण यह है कि बच्चे के ६-७ मास की आयु से दाँत निकलने शुरु हो जाते हैं जो अढ़ाई-तीन वर्ष की आयु तक निकलते रहते हैं। बच्चे के दाँत दो बार निकलते हैं—पहले दूध के दाँत कहलाते हैं, इनके टूटने के बाद स्थिर, पक्के दाँत निकलते हैं। दूध के दाँत २० होते हैं, इनके बाद पक्के दाँत ३२ होते हैं। एक वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते आठ दाँत निकल आते हैं—चार ऊपर के, चार नीचे के। डेढ़ वर्ष की आयु में १२ दाँत, डेढ़ से दो वर्ष की आयु में १६ दाँत और दो से अढ़ाई-तीन वर्ष की आयु तक पहुँचते-पहुँचते २०

दाँत निकल आते हैं। दाँत अन्तर देकर निकलते हैं, पहले नीचे के दाँत निकलते हैं, इनके निकलने के बाद प्रकृति ने आराम देने के लिये अगले दाँत निकलने में व्यवधान डाल दिया है ताकि शिशु को लगातार कष्ट न उठाना पड़े।

दाँत निकलते समय सिर भारी हो जाता है, गर्म रहता है, सिर में दर्द होता है, मसूड़े सूज जाते हैं, लार बहा करती है, दस्त लग जाते हैं, हरे-पीले पनीले भारी-भारी दस्त आते हैं, आँखें आ जाती हैं, बच्चा चिड़चिड़ा हो जाता है। दाँतों का भारी प्रभाव सिर पर पड़ता है, इसलिये सिर को हल्का तथा ठण्डा रखने के लिये सिर पर से बालों का बोझ उतार डालना ही चूड़ाकर्म-संस्कार का उद्देश्य है।

दाँत निकलते समय बच्चे को जो कष्ट होते हैं—हरे-पीले दस्त, आँख आ जाना, चिड़चिड़ापन आदि—इनके लिये होम्योपैथी की औषधि कैमोमिला ३० शक्ति बहुत उपयोगी है। जब हरे-पीले दस्त आने लगें तब इस औषधि की छोटी-छोटी ३-४ गोलियाँ उसके मुख में डाल देने से दस्तों को लाभ होता है, चिड़चिड़ापन जाता रहता है, नींद भी आ जाती है, बच्चा परेशान नहीं करता।

२. चूड़ाकर्म-संस्कार का मस्तिष्क के साथ सम्बन्ध

शरीर में वैसे तो सब अंग अपने-अपने काम की दृष्टि से मुख्य हैं, पगरन्तु मस्तिष्क का सबसे मुख्य स्थान है। मस्तिष्क दो भागों में बँटा हुआ है—'बृहत्-मस्तिष्क' (Cerebrum) तथा 'लघुमस्तिष्क' (Cerebellum)। मस्तिष्क के ये दोनों भाग ज्ञान और क्रिया के केन्द्र हैं। इसी से पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँचों कर्मेन्द्रियों का सञ्चालन होता है। यह सारी मशीनरी खोपड़ी के भीतर रहती है। मस्तिष्क को ढकनोली खोपड़ी के कई भाग हैं जो बचपन में ठीक प्रकार से जुड़े नहीं होते। इन भागों के जुड़ने को अस्थि-सन्धि कहते हैं। खोपड़ी की अस्थियों की सन्धियाँ तीन साल से पहले नहीं जुड़तीं, इसलिये गर्भावस्था में ही शिशु के सिर पर बाल होते हैं ताकि शिशु की खोपड़ी की वे रक्षा करते रहें, और खोपड़ी के भीतर का मस्तिष्क सुरक्षित रहे।

तीन साल के बाद खोपड़ी की अस्थियाँ जुड़ जाती हैं, इसलिये गर्भावस्था के बालों को निकाल देने का समय आ जाता है। गर्भावस्था के बालों को, जो अब तक खोपड़ी की, और खोपड़ी की रक्षा द्वारा मस्तिष्क की रक्षा कर रहे थे उस्तरे से निकाल देने के निम्न कारण हैं—

(१) मलिन बालों को निकाल देना—शिशु जब गर्भ में होता है तभी उसके बाल आ जाते हैं और वे मलिन जल में रहते हैं। इन मलिन केशों को उस्तरे से साफ कर देना आवश्यक है—इसी कारण मुण्डन किया जाता है। इन केशों को तभी तक रखना उचित है जब तक खोपड़ी की सन्धि-अस्थियाँ आपस में न जुड़ें। क्योंकि तीसरे साल तक ये जुड़ जाती हैं, इसलिए इसके बाद इन मलिन केशों को रखने से

कोई लाभ नहीं।

(२) सिर की खुजली, दाद आदि से रक्षा—सिर पर बाल बने रहने से बच्चे के सिर में खुजली, दाद, जूएँ आदि अनेक रोग हो जाते हैं। इन रोगों से बच्चे को बचाये रखने के लिये भी बाल निकाल देना उचित है। इन बालों के निकल जाने से बच्चे के सिर की सफाई अच्छी तरह से हो सकती है।

(३) सिर के भारी होने आदि से रक्षा—बालों के कारण सिर भारी रहता है जिससे बच्चे को सिर में गर्मी, दर्द आदि सताते हैं। इस कारण भी सिर के बाल उतार देना उचित है।

(४) नये बाल आने में सहायक है—बाल जितने कटते हैं उतने ही नये पुष्ट बाल आते हैं। सिर पर उस्तरा दो-तीन बार फिर जाए तो बालों की जड़ें मजबूत हो जाती हैं और नये बाल लम्बे तथा दृढ़ होने में सहायता मिलती है।

३. आयुर्वेद तथा मुण्डन

आयुर्वेद की दृष्टि से भी सिर के बाल मुंडवा देना स्वास्थ्य के लिये उत्तम है। आयुर्वेद के अनुसार तालु की रक्षा करना आवश्यक है। तालु की रक्षा तो तभी हो सकती है जब सिर मुण्डा हो और तालु स्पष्ट दीखता हो। सुश्रुत में लिखा है—

मस्तलुंग क्षयात् यस्य वायुः ताल्वस्थि नामयेत्
तस्य तृड्दैन्य युक्तस्य सर्पिः मधुरकैः शृतम्।

अर्थात्, मस्तलुंग—मस्तिष्क के भाग—के क्षीण—दुर्बल—होने के कारण कुपित वायु तालु की अस्थि को नमा देती—झुका देती है। देहाती भाषा में इसे तालु का गिरना कहते हैं। जिस बच्चे का तालु गिर जाता है उसे प्यास बहुत लगती है, चेहरा दीन बन जाता है, बच्चा दूध नहीं पीता। उसके तालु पर जीवक-बिदारी आदि मधुर गुणों की औषधियों से सिद्ध किये हुए घी का पिंचु—फाया—रखना चाहिये।

सुश्रुत (चिकित्सा स्थान, अ० २४, सू० ७२) में केश तथा नख आदि का कटवाना उत्तम कहा है—

पापोपशमनं केशनखरोमापमार्जनम्
हर्ष लाघव सौभाग्यकरं उत्साहवर्धनम्।

अर्थात्, केश, नख तथा रोम (बालों) को दूर करने से मनुष्य को हर्ष होता है, वह हल्का अनुभव करता है, उसे सौभाग्य अनुभव होता है, इससे उत्साह बढ़ता है।

चरक (सूत्रस्थान, अ० ५, सू० ९३) में भी मुण्डन का लाभ वर्णन करते हुए कहा है—

पौष्टिकं वृष्यम् आयुष्यम् शुचिरूपं विराजनम्
केश श्मश्रु नखादीनां कर्तनं संप्रसाधनम्।

अर्थात्, केश, दाढ़ी-मूँछ, नख आदि को कटवाने तथा बालों को तरतीब में रखने से पुष्टि, वृष्यता, आयु, सफाई तथा सौन्दर्य प्राप्त होता है।

वेद में मुण्डन के अनेक गुणों का वर्णन है। अथर्व, ६,६८,२ में क्षौर के लिये कहा है—''दीर्घायुत्वाय''—दीर्घायु होने के लिये क्षौर-कर्म करने चाहिये; अथर्व०, ८, २, १७ में कहा—'मा न आयुः प्रमोषीः'—क्षौर-कर्म के कारण हमारी आयु न घटे; पारस्कर गृह्यसूत्र में कहा है—'**तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय**'—ब्रह्म के साथ जीवन बनाये रखने के लिये तेरा सिर साफ करता हूँ—'**तेन ते आयुषे वपामि**'—दीर्घ आयु के लिये तेरा मुण्डन करता हूँ।

ऊपर हम देख चुके हैं कि सिर पर लम्बे-लम्बे तथा घने बाल रहने से मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है, सिर में गर्मी चढ़ जाती है। यही कारण है कि विचारशील लोग प्राचीन-काल में सिर मुँडाकर रखते थे, यहाँ तक कि एक उपनिषद् का नाम ही मुण्डकोपनिषद् है। मुण्डकोपनिषद् में सिर के बाल कटवा लेने वाले को 'शिरोव्रत' (तृतीय मुण्डक, १०) कहा है—उसीको ब्रह्मविद्या का उपदेश दे। मुण्डन का उद्देश्य अलंकार की दृष्टि से मस्तिष्क को मल से साफ कर देना है, ऐसे व्यक्ति को शिरोव्रती कहा गया है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करने पर भी ब्रह्मचारी को मुण्डन कराना होता था, इसी प्रकार वानप्रस्थ के बाद संन्यास में प्रवेश करते समय भी सिर का मुण्डन होता था।

इसका अर्थ यही है कि केशों का मुण्डन एक तरह से अविद्या के मुण्डन का प्रतीक था।

मुण्डन-संस्कार केश काटना प्रारम्भ करने का भी प्रतीक है। केश तो जन्म भर कटते ही रहेंगे। जब भी बाल बड़े हो जायें, उस समय सिर के भार को उतारना ही पड़ता है, केश कटवाने पड़ते हैं, परन्तु केश-कर्तन प्रारम्भ हो गया—इसे सूचित करने के लिये यह क्रिया संस्कारों की श्रेणी में रख दी गई। कई माता-पिता इस प्रकार का संकल्प कर लेते हैं कि अगर लड़का हुआ, तो उसका अमुक स्थान पर मुण्डन करायेंगे। कई लोग इस कार्य के लिये किसी तीर्थ-स्नान पर बालक के मुण्डन-संस्कार का व्रत ले लेते हैं। पं० गंगाप्रसाद लिखते हैं कि जब गुरुकुल कांगड़ी स्थापित हुआ, तब कुछ आर्य देवियाँ भी मुण्डन के लिये अपनी सन्तान को गुरुकुल लाने लगीं। गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक श्री महात्मा मुंशीराम जी (स्व० श्रद्धानन्द जी) महाराज ने इस बात को सर्वथा अनुचित बतलाया क्योंकि गुरुकुल की स्थापना मुण्डन के हेतु नहीं, विद्यादान के लिये हुई थी। इस सबका इतना अर्थ तो है कि हिन्दु-जाति में अन्य सब संस्कारों की अपेक्षा मुण्डन का विशेष महत्त्व है। इस महत्त्व का कारण यही है कि इस संस्कार द्वारा माता-पिता का ध्यान बालक के मानसिक-विकास की तरफ खींचा जाता था।

४. मुण्डन के समय नापित को आदेश

इस संस्कार में नाई को मन्त्रों द्वारा जो आदेश दिये गये हैं उनसे ऐसा लगता है मानो सर्जरी के औजारों का विशुद्धीकरण (Disinfection) किया जा रहा है, मानो किसी डॉक्टर को आदेश दिया जा रहा है कि संभलकर शस्त्र का प्रयोग करना। नाई को अथर्व के एक मन्त्र द्वारा कहा गया है—**'उष्णेन उदकेन एहि'**—गरम जल को लेकरआओ। जैसे खौलते पानी में डॉक्टर अपने औजारों को डालकर उन्हें कीटाणुरहित कर लेता है वैसे नाई को चाहिये कि घरवालों के सामने खौलते गर्म पानी में उस्तरे को डालकर उसे शुद्ध कर ले, उसमें किसी प्रकार का रोग का कीटाणु न रहे। प्रायः सिर के अनेक रोग नाई के उस्तरे से हो जाते हैं। वे लोग भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की हजामत करते हैं, किसी को कोई एक रोग तो किसी को कोई दूसरा रोग हो सकता है। इस प्रकार नाइयों की असावधानी से त्वचा के अनेक प्रकार के रोग दूसरों को संक्रान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार के एक रोग का नाम 'बार्बर्स इच' (Barber's itch) है। बच्चे के सिर पर पहली बार उस्तरा फिरने लगा है, इसलिये मन्त्र द्वारा नाई को आदेश दिया गया है कि उबलते गर्म पानी में अपने उस्तरे को रखकर उसे कीटाणुरहित कर ले। अथर्व के एक दूसरे मन्त्र से फिर कहा है—**'सवित्रा प्रसूता दैध्या आप उन्दन्तु'**—सूर्य की गर्मी से उत्पन्न हुए दिव्य-जल से बच्चे के सिर को मुण्डन करते हुए भिगोया जाय। उस्तरे को सम्बोधित करते हुए यजुर्वेद के मन्त्र से कहा है—**'स्वधिते मैनं हिंसीः'**—हे कठोर लोहमय उस्तरे, बालक को पीड़ा मत पहुँचाना। इस संस्कार में जितने मन्त्र पढ़े जाते हैं उन सबका आशय यह है कि नापित को अपना उस्तरा ठीक तरह से सबके सामने उबालना चाहिये ताकि उसमें रोग के कोई कीटाणु न रहें, और बड़ी होशियारी से बालक का मुण्डन करना चाहिये ताकि उसे कहीं क्षत न पहुँचे।

५. केश काटने की विधि

क्योंकि मुण्डन का बालक के मस्तिष्क के विकास के साथ सम्बन्ध है इसलिये इस संस्कार को धार्मिक-संस्कार का रूप दिया गया है ताकि माता-पिता इसे महत्त्व दें। इसी कारण धार्मिक-कृत्यों में जिस रूप-रेखा का अनुकरण किया जाता है, वही रूपरेखा चूड़ाकर्म संस्कार के लिए निश्चित की गई है। उदाहरणार्थ—बाल काटते हुए कुश-सहित केशों को काटे, काटे हुए केशों को दर्भ, शमी के पत्र सहित एक सकोरे में डालता जाए, और जो बाल उड़े उसे गोबर से उठाकर सकोरे में डाल दे। गोबर से बाल एकदम उठ आता है, इसलिये गोबर से उठाने का विधान है। वैसे तो बालक का मुण्डन करना है, उसमें शमी के पत्र और गोबर आदि की क्या जरूरत है, परन्तु यह सब-कुछ संस्कार को धार्मिक रूप देने तथा उसका महत्त्व बढ़ाने के लिये करना आवश्यक है।

पहले दक्षिण बाजू के केश कुश-सहित काटे। दक्षिण बाजू के केश-समूहों को कैंची से चार जगह से काटे। दक्षिण बाजू के केश काटने की विधि पूर्ण हुए पश्चात् कैंची से बाईं ओर के केश काटने की विधि करे, बाईं ओर के केश-समूहों को भी चार जगह से काटे। उसके बाद आगे के और पीछे के केश-समूहों को चार जगह से कैंची से काटे। इस प्रकार कैंची से बड़े-बड़े बाल कट जाने पर उस्तरे से सारा सिर मूँड दे। केशों को काटते हुए बाल के साथ कुशा का सहारा लेना केश काटने में सहायता लेने के लिये है। केश के साथ जब कुशा का सहारा लगा दिया जायेगा तब बाल पकड़ में आ जाने के कारण आसानी से कट सकेगा। इसके साथ इस सारी प्रक्रिया को विधि-विधान के साथ बाँध देने से संस्कार एक धार्मिक-कृत्य का रूप धारण कर लेगा। जो वस्तु धार्मिक रूप धारण कर लेती है उसका महत्त्व बढ़ जाता है।

श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने केश काटने की विधि को इस प्रकार स्पष्ट किया है—केश क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पीछे और आगे काटने हैं। उनमें प्रत्येक ओर के केश चार-चार बार काटने हैं। प्रथम वार में **'येनावपत्'** मन्त्र से, दूसरी वार में **'येन धाता'** मन्त्र से, तीसरी वार **'येन भूयश्च'** मन्त्र से, चौथी वार **'येनावपत्'**+**'येन धाता'**+**'येन भूयश्च'**+**'येन पूषा'** मन्त्र—अर्थात् चारों मन्त्रों से केश काटे। इस प्रकार दक्षिण भाग के चार जगह से केश-कर्तन की विधि पूरी हुई। इसी तरह उत्तर और पीछे के बाल चार वार उक्त मन्त्रों के उच्चारण के साथ, उक्त क्रम के अनुसार काटने चाहियें। आगे के बाल काटते समय चौथी वार में चौथा मन्त्र **'येन पूषा'** के स्थान में **'येन भूरिश्च'** होगा। यह प्रक्रिया ध्यान में रखने से कोई कठिनाई न होगी।

६. नाई को अन्नादि देना

संस्कारविधि में लिखा है कि चूड़ाकर्म करने के समय यजमान चार सकोरे ले—एक में चावल, दूसरे में जौ, तीसरे में उर्द और चौथे में तिल भरकर वेदी के उत्तर में धरे। जब मुण्डन संस्कार हो चुके तब इन सकोरों में भरा अन्न नापित को देवे। यह विधि आश्वलायन गृह्यसूत्र १,१७,२ के अनुसार लिखी गई है। इस सूत्र में लिखा है—**'उत्तरतोऽग्नेः ब्रीहि, यव, माष, तिलानां पृथक् पूर्ण शरावाणि निदधाति'**—अर्थात्, वेदी के उत्तर में चावल, जौ, उड़द तथा तिल सकोरों में भर कर रखे। जिस समय यह गृह्यसूत्र लिखा गया था उस समय अधिकतर सिक्के के स्थान में उपभोग्य सामग्री के देने की प्रथा थी। आखिरकार, सिक्के से भी तो अन्नादि का क्रय ही किया जाता था, इसलिये रुपया-पैसा देने के स्थान में वह वस्तु दे दी जाती थी जिसका घर में उपयोग था। उस समय वस्तुओं का आदान-प्रदान, विनिमय की प्रक्रिया (Barter system) की अपेक्षा अधिक प्रचलित था। नापित को भिन्न-भिन्न उपयोगी अन्न देने की प्रथा इसी तथ्य को प्रकट करती है। उस समय अन्न सस्ता

था, सुलभ था, आज अन्न मँहगा हो गया है, दुर्लभ है, कभी-कभी मिलता भी नहीं। इस दृष्टि से नापित को रुपया-पैसा देने के स्थान में आज की विषम आर्थिक परिस्थितियों में चावल, जौ, उड़द तथा तिल देना अधिक उपयोगी है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसी रूप में नापित को उसका मेहनताना चुकाना चाहिये, रुपये-पैसे के रूप में भी उसे धन दिया जा सकता है।

७. मुसलमानों में मुण्डन-संस्कार (हकीका)

गर्भावस्था के बालों को निकाल देना केवल वैदिक-संस्कृति में ही नहीं, मुसलमानों में भी पाया जाता है। जैसे हिन्दुओं में इस संस्कार का महत्त्व है वैसे मुसलमानों में भी इस संस्कार को '**हकीका**'—इस नाम से बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। 'हकीका' मनाते हुए बच्चे के बाल मुँडवाये जाते हैं, खुशियाँ मनाई जाती हैं, बिरादरी को दावत दी जाती है।

मुण्डन-संस्कार को इतना महत्त्व सिर्फ इसलिये नहीं दिया गया, क्योंकि इससे सिर में खुजली, दाद आदि बीमारियाँ नहीं होतीं, इस संस्कार का महत्त्व इसलिये भी है क्योंकि सिर मनुष्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, सिर में ही मस्तिष्क है जिसके कारण मनुष्य विचारशील प्राणी होने के कारण अन्य प्राणियों से उच्चकोटि का जीव है। जब हम किसी से बात करते हैं तब हाँ या न में सिर ही हिलाते हैं, सिर की हाँ या न से ही हमारा समाज से सम्बन्ध स्थापित होता है। इसलिये मनुष्य का जो अंग उसे मनुष्य बनाता है, जिस अंग से वह समाज से जुड़ता है, उसकी रक्षा करना, उसे स्वस्थ रखना—यह हमारा मुख्य धर्म है। इसी तरफ माता-पिता का ध्यान केन्द्रित करने के लिये वैदिक-संस्कृति में मुण्डन-संस्कार और इस्लामी-संस्कृति में हकीका का चलन रखा गया है।

चूड़ाकर्म संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

संस्कारों की शृंखला में यह आठवाँ संस्कार है। यह कर्म बालक के जन्म होने के बाद के पहले या तीसरे वर्ष में करना चाहिये। शास्त्रकारों के सिद्धान्त के अनुसार तीसरे वर्ष तक तो इसे अवश्य करवा देना चाहिये।

१. जो सामान जुटाकर रखना चाहिये। (देखो, पृ० ६९-७०)

२. इस संस्कार के लिये विशेष सामान—चावल, यव, माष (उड़द), तिल तथा इनके रखने के लिये ४ सकोरे या इनके लिये ४ बड़े लिफाफे, कोसा-जल, मक्खन तथा दही की मलाई सिर पर मलने के लिये या दही, कंघा तथा कैंची नाई लाये जिन्हें उबलते पानी में विशुद्ध करें, कुश (मुलायम दूब), शमी-वृक्ष के पत्ते, थोड़ा-सा गोबर या उसकी जगह आटे का पेड़ा बाल उठाने के लिये, शिशु के स्नान के लिये गरम पानी, शिशु के वस्त्र, शिशु के लिये खिलौना।

यज्ञ-वेदी पर पत्नी पति के दायीं तरफ बैठे और सन्तान माता की गोदी में या माता-पिता के मध्य-भाग में बैठे।

आरम्भ में चार सकोरे लेकर एक में चावल, दूसरे में जौं, तीसरे में उड़द, चौथे में तिल भर कर वेदी के उत्तर में पृथक् रख दें। इसके बाद निम्न प्रकार यज्ञारम्भ करें—

(ऋत्विग्वरण तथा यज्ञारम्भ)

'ऋत्विग्वरण' (पृ० ७१), 'तीन आचमन' (पृ० ७१), 'अङ्ग-स्पर्श' (पृ० ७२), 'ईश्वरस्तुति' (पृ० ३५), 'स्वस्तिवाचन' (पृ० ३९), 'शान्तिकरण' (पृ० ५५), 'अग्न्याधान' (ओं भूर्भुवः स्वः. ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिवभूम्ना आदि, पृ० ७२-७३), 'अग्निप्रदीपन' (ओं उद्बुध्यस्वाग्ने पृ० ७३), 'त्रि-समिदाधान' (ओम् अयन्त इध्म आत्मा०+ओं समिधाग्निं दुवस्यात०+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिरंगिरो० आदि, पृ० ७४-७७), 'पंच आज्याहुतियाँ' (ओम् अयन्त इध्म आत्मा आदि पाँच वार, पृ० ७७), वेदी के चारों ओर 'जल-प्रसेचन' (पृ० ७७), चार 'आघारावाज्याहुतियाँ' (ओम् अग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७८), चार 'व्याहृति आहुतियाँ' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७९), आठ 'अष्टाज्याहुतियाँ' (ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य आदि, पृ० ८२-८६)—ये सब मिलाकर १६ आहुतियाँ, प्रधान-होम की चार 'आज्याहुतियाँ' (ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आदि, पृ० ८१), चार 'व्याहृति आहुतियाँ' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७९), एक 'स्विष्टकृत आहुति' (ओं यदस्य कर्मणो आदि,

पृ० ८०)—व्याहृति तथा स्विष्टकृत् मिलाकर घृत की ५ आहुतियाँ देवें।*

(चूड़ाकर्म-संस्कार की विशेष-विधि)

इतनी क्रिया करके कर्मकर्त्ता परमात्मा का ध्यान करके नाई की ओर प्रथम देख के निम्न मन्त्र का जप करे।

ओम् आयमगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः॥
—अथर्व०कां० ६, सू० ६८, मं० १, गो० २,९,१०

शब्दार्थ—(**अयं सविता**) यह पुरानों की जगह नये बालों को उगानेवाला नाई (**क्षुरेण**) उस्तरा लेकर (**आगन्**) आया है (**वायो**) वायु के समान जल लाने वाले नापित! (**उष्णेन उदकेन एहि**) गर्म जल के साथ आओ (**सचेतसः**) ज्ञानी, चैतन्य (**आदित्याः रुद्राः वसवः**) आदित्य, रुद्र तथा वसु ब्रह्मचारी अपने आशीर्वादों की (**उन्दन्तु**) इस बालक पर वर्षा करें (**राज्ञः सोमस्य**) इस दीप्तिमान शान्त बालक का (**प्रचेतसः**) ज्ञानी लोग (**वपत**) मुण्डन संस्कार करें।

भावार्थ—बालक के मुण्डन संस्कार को इतना महत्त्व दिया गया है कि आदित्य, रुद्र तथा वसु ब्रह्मचारी उसके संस्कार में सम्मिलित होकर उसे आशीर्वाद दे रहे हैं ताकि वह भी उन सरीखा विद्वान् बने।

इस मन्त्र को जप करके, पिता बालक के पृष्ठभाग में बैठ के किञ्चित् उष्ण और किञ्चित् ठण्डा जल दोनों पात्रों में लेके—

ओम् उष्णेन वाय उदकेनैधि॥ —आश्व० १,१७,६, मन्त्र ब्रा० १,६,२
तु०—पार० २,१,६, गोभिल गृ० २,९,११

---

* संस्कारविधि में इस संस्कार का प्रारम्भ करते हुए जो लिखा है, उसका अभिप्राय यह निकलता है कि प्रारम्भ में ईश्वरोपरान्त (पृष्ठ ३५) से लेकर सामान्यप्रकरण के अन्त (पृष्ठ ८८) तक की विधि करें। इस विधि में ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, ऋत्विग्वरण, आचमन, अंगस्पर्श, अग्न्याधानादि सब आ जाता है। तत्पश्चात्, अन्न के ४ शरावों को धरने का उल्लेख है। शरावे धर कर फिर अग्न्याधान, समिदाधान, जल-प्रसेचन आदि विधि का संस्कारविधि में जिक्र किया गया है, जिसमें ईश्वरोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण आदि का उल्लेख नहीं है। इस सबका समाधान यही हो सकता है कि ऐसी विधि करें, जिसमें उक्त सब विधियाँ एक बार में समा जायें—इस दृष्टि से ही हमने ऊपर की विधि का समन्वयात्मक क्रम दिया है।

सामान्यप्रकरण की विधि और इस चूड़ाकर्म की विधि में भेद यह है कि सामान्यप्रकरण में 'ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि' के ४ मन्त्र पहले दिये हैं, 'ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य' के ८ अष्टाज्याहुति के मन्त्र पीछे दिये हैं, चूड़ाकर्म में यह क्रम उलट गया है। इसके अतिरिक्त चूड़ाकर्म-संस्कार में व्याहृति आहुतियाँ दो बार दी गई हैं, प्राजापत्याहुति का चूड़ाकर्म में उल्लेख नहीं है।

इस मन्त्र को बोल के दोनों पात्रों का जल एक पात्र में मिला देवे। पश्चात् थोड़ा जल, थोड़ा माखन अथवा दही की मलाई लेके—

(निम्न २ मन्त्रों द्वारा बालक के सिर पर दही-मलाई मलना)

ओम् अदितिः श्मश्रु वपत्वाप उन्दन्तु वर्चसा।
चिकित्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय चक्षसे॥ १॥

—अथर्व०कां० ६, सू० ६८, मं० २, आ०गृ० १,१७,७

शब्दार्थ—(**अदितिः**) छुरे की ऐसी धार जो क्षत नहीं करती (**श्मश्रुः**) केशों को (**वपतु**) काटे (**वर्चसा**) अपने वर्चस्व से (**आपः**) जल (**उन्दन्तु**) केशों की गीला करें (**प्रजापतिः**) प्रजाओं का स्वामी (**दीर्घायुत्वाय**) दीर्घ आयु तथा (**चक्षसे**) उत्तम दर्शन-शक्ति से (**चिकित्सतु**) बालक की चिकित्सा करें।

ओं सवित्रा प्रसूता दैव्या आप उन्दन्तु ते तनूं दीर्घायुत्वाय वर्चसे॥ २॥

—पार०गृ० २,१,९

शब्दार्थ—हे बालक! (**सवित्रा**) सविता—सूर्य द्वारा (**प्रसूता**) उत्पन्न किये हुए (**दैव्याः**) दिव्य (**आपः**) जल (**दीर्घायुत्वाय**) दीर्घ आयु देने के लिये (**वर्चसे**) शरीर में वर्चस्व—तेज—देने के लिये (**ते**) तेरे (**तनूं**) तन को (**उन्दन्तु**) अभिषिक्त करें।

उक्त दो मन्त्रों को बोल के बालक के सिर के बालों में तीन बार हाथ फेर के केशों को भिगोवे। तत्पश्चात्, कंघा लेके केशों को सुधार के, इकट्ठा करे, अर्थात् बिखरे न रहें। तत्पश्चात्—

ओम् ओषधे त्रायस्वैनम्॥ —मन्त्र ब्रा० १,६,५; गोभि० २,९,१४

शब्दार्थ—(**ओषधे**) हे दर्भरूपी ओषधि! (**एनम्**) इस बालक की (**त्रायस्व**) रक्षा करो।

इस मन्त्र को बोल के तीन दर्भ लेके दाहिनी बाजू के केशों के समूह को हाथ से दवा के—

ओं विष्णोर्दꣳष्ट्रोऽसि॥ —मन्त्र ब्रा० १,६,४, गोभि०गृ० २,९,१३

शब्दार्थ—हे उस्तरे (**विष्णोः**) काटनेवालों में से तू उनकी मानो (**दंष्ट्रा**) दाढ़ (**असि**) है।

इस मन्त्र से छुरे की ओर देख के—

ओं शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः॥

शब्दार्थ—हे उस्तरे! (**शिवः नामा असि**) कल्याणकारी नाम का तू है (**ते पिता स्वधितिः**) तेरा उत्पादन करनेवाला वज्रमय कठोर लोहा है (**ते नमः**) तुझे नमस्कार करते हैं, ठीक-से काटना (**मा**) मुझे (**मा हिंसीः**) हानि मत पहुँचाना।

(यहाँ उस्तरे को सम्बोधन किया गया है—यह भाषाशैली है, उस्तरे के साथ

बातचीत नहीं है। व्याकरण में इसका उदाहरण दिया जाता है—'मंचाः क्रोशन्ति'—मंच चिल्ला रहा है, इसका अर्थ है—'मंचंस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति'—मंच पर बैठे आदमी शोर मचा रहे हैं। इसी प्रकार यहाँ उस्तरे को सम्बोधन उस्तरे का प्रयोग करनेवाले नाई का सम्बोधन है। भाषा में इस प्रकार के प्रयोग सर्वत्र पाये जाते हैं।)

इस मन्त्र को बोल के छुरे को दाहिने हाथ में लेवे। तत्पश्चात्—

ओं स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः॥ १॥

—यजु० ४,१, आ०गृ० १,१७,९, मन्त्र ब्रा० १,६,६

ओं निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्या प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥ २॥ —यजु० ३।६३, पार०गृ० २,११

शब्दार्थ—नापित की तरफ से पिता कहता है, मैं (**आयुषे**) आयु बढ़ने के लिये (**अन्नाद्याय**) अन्न को ठीक तरह से पचाने के लिए (**प्रजननाय**) प्रजनन-शक्ति के लिये (**रायस्पोषाय**) धन तथा पोषण के लिये (**सुप्रजास्त्वाय**) उत्तम पुत्रों की प्राप्ति के लिये (**सुवीर्याय**) बल-पराक्रम के लिये (**निवर्त्तयामि**) सिर पर से बालों को निवृत्त करता हूँ, मुण्डन करता हूँ।

उक्त २ मंत्रों को बोलके उस छुरे और कुशाओं को केशों के समीप ले जाके—

(हर पार्श्व के कर्तन में प्रथम वार यह मन्त्र पढ़े)

ओं येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान्॥

—अथर्व० ६।६८।३, आ०गृ० १।१७।१०, पा०गृ० २।१।११

शब्दार्थ—(**येन क्षुरेण**) जिस प्रकार के उस्तरे से (**विद्वान्**) समझदार (**सविता**) बाल साफ करनेवाले नाई ने (**सोमस्य**) सौम्यगुणयुक्त (**वरुणस्य**) वरने योग्य (**राज्ञः**) राजा-बेटे के बाल (**अवपत्**) काटे, उसी प्रकार की विधि से (**ब्रह्माणः**) ज्ञानी लोग (**अस्य**) इस बालक के (**इदम्**) अज्ञान रूप केशों को (**वपत**) काट डालें (**अयम्**) यह बालक (**गोमान्, अश्ववान्, प्रजावान्**) गौओं वाला, घोड़ों वाला, सन्तान वाला (**अस्तु**) हो।

भावार्थ—पिता समाज के ज्ञानी लोगों से कामना करता है कि जैसे नापित ने बालक के काले-काले, मैंने बाल उस्तरे से साफ कर दिये, वैसे ही वे इस बालक के अज्ञानमय काले अन्धकार को दूर कर दें।

उक्त मन्त्र को बोल के कुश-सहित उन केशों को काटे।* और वे काटे हुए

---

* केशछेदन की रीति ऐसी है कि दर्भ और केश दोनों युक्ति से पकड़कर अर्थात् दोनों ओर से पकड़ के बीच में से केशों को छुरे या कैंची से काटे। केश-कर्तन की स्पष्ट-विधि विवेचनात्मक भाग में देखें।

केश और दर्भ शमी-वृक्ष के पत्रसहित (अर्थात् यहाँ शमी-वृक्ष के पत्र भी प्रथम से रखने चाहियें) उन सबको लड़के का पिता और लड़के की माँ एक शरावा में रक्खे और कोई केश छेदन करते समय उड़ा हो, उसको गोबर से उठा के शरावा में अथवा उसके पास रक्खे। तत्पश्चात्, इसी प्रकार—

(हर पार्श्व के कर्तन में द्वितीय वार यह मन्त्र पढ़े)

ओं येन धाता बृहस्पतेरग्नेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत्।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये॥ —आश्व० १।१७।१२

शब्दार्थ—**(येन)** जिस प्रकार **(धाता)** विश्व का धारण करनेवाला परमात्मा **(बृहस्पतेः अग्नेः इन्द्रस्य च)** बृहस्पति, अग्नि और इन्द्र की **(क्षायुषे)** आयु बनाये रखने के लिये **(अवपत्)** उनके मार्ग के कांटों को काट डालता है (तेन) उसी प्रकार (ते) तेरी **(सुश्लोक्याय)** कीर्ति के लिये **(स्वस्तये)** तेरे कल्याण के लिये तथा **(आयुषे)** तेरी दीर्घ आयु के लिये **(वपामि)** तेरा मुण्डन करता हूँ, अर्थात् तेरी उन्नति के लिये तेरे मार्ग की बाधाओं को दूर करता हूँ।

भावार्थ—देवताओं में बृहस्पति, अग्नि तथा इन्द्र का नाम प्रसिद्ध है, यह प्रसिद्धि इसीलिये है क्योंकि उनके मार्ग में कोई बाधाएँ नहीं हैं, बाधाएँ साफ हो गई हैं। मुण्डन संस्कार करते हुए पिता कहता है कि मैं तेरे कल्याण की कामना करता हूँ, तेरी कीर्ति की, तेरी दीर्घ आयु की कामना करता हूँ। तेरा मुण्डन इस बात का प्रतीक है कि जैसे बाल सफाचट हुए जा रहे हैं। वैसे तेरे मार्ग की बाधाएँ भी दूर हों।

उक्त मन्त्र से दूसरी वार केश का समूह दूसरी ओर का काट के उसी प्रकार शरावा में रक्खे। तत्पश्चात्—

(हर वार के कर्तन में तृतीय वार यह मन्त्र पढ़े)

ओं येन भूयश्च रात्र्यां ज्योक् च पश्याति सूर्यम्।
तेन त आयुषे वपामि सुश्लोक्याय स्वस्तये॥ —आश्व० १।१७।१२

शब्दार्थ—**(येन)** जिस विधि से मनुष्य **(रात्र्याम्)** रात्रि में चाँद की ओर दिन में **(सूर्यं च)** सूर्य की **(ज्योक्)** ज्योति **(भूयः पश्याति)** बार-बार देखता है **(तेन)** उसी विधि से मैं तेरी कीर्ति, कल्याण तथा दीर्घ आयु के लिये तेरा मुण्डन संस्कार करता हूँ।

भावार्थ—मनुष्य रात के बाद दिन और दिन के बाद रात को बराबर लगातार देखता है, जिससे आयु का चक्र चल रहा है। पिता अपनी सन्तान का मुण्डन करता हुआ कहता है कि मैं तेरी कीर्ति, कल्याण तथा दीर्घ आयु का चक्र इसी प्रकार लगातार चलता हुआ देखना चाहता हूँ। दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आते रहें, तेरी आयु इस प्रकार आगे-आगे बढ़ती रहे, आयु के साथ कीर्ति और कल्याण भी बढ़ता रहे।

उक्त मन्त्र से तीसरी वार उसी प्रकार केशसमूह को काट के उपरि-उक्त तीन मन्त्रों अर्थात् '**ओं येनावपत्०**', '**ओं येन धाता०**' और '**ओं येन भूयश्च०**' और—

(हर वार के कर्तन में चतुर्थ वार यह मन्त्र पढ़े)

ओं येन पूषा बृहस्पतेर्वायोरिन्द्रस्य चावपत्।
तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय दीर्घायुष्ट्वाय वर्चसे॥

—मन्त्र ब्रा० १,६,७, गोभिल २,९,११-१६

शब्दार्थ—(**येन**) जिस प्रकार (**पूषा**) पोषण करनेवाला (**बृहस्पतेः वायोः इन्द्रस्य च**) बृहस्पति, वायु तथा इन्द्र की आयु बनाये रखने के लिए—यहाँ पूर्व मन्त्र का 'आयुषे' नहीं कहा—(**अवपत्**) उनके मार्ग के काटों को काट डालता है, उसी प्रकार मैं तेरी कीर्ति के लिये, तेरे कल्याण के लिये तथा तेरी दीर्घ आयु के लिए तेरा मुण्डन करता हूँ, अर्थात् तेरी उन्नति के लिये तेरे मार्ग के काँटों को दूर करता हूँ।

इस एक, इन चार मन्त्रों को बोल के चौथी वार इसी प्रकार केशों के समूह को काटे। अर्थात् प्रथम दक्षिण बाजू के केश काटने की विधि पूर्ण हुए पश्चात् बाईं ओर के केश काटने की विधि करे। तत्पश्चात् उसके पीछे आगे के केश काटे। परन्तु चौथी वार काटने में ''येन पूषा०'' इस मन्त्र के बदले—

(आगे के केश-कर्तन में चौथी वार 'येन पूषा' की जगह निम्न मन्त्र पढ़े)

येन भूरिश्चरा दिवं ज्योक् च पश्चाद्धि सूर्यम्। तेन ते वपामि।
ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये॥ —पार० २।१।१६

शब्दार्थ तथा भावार्थ—(**येन**) परमात्मा के जिस नियम से (**दिवं ज्योक्**) द्युलोक की ज्योतियाँ (**पश्चात् च**) और उसके पीछे (**सूर्यं ज्योक्**) सूर्य की ज्योति—ये सब (**भूरिः**) लगातार, बारबार (**चराः**) चलते रहते हैं, उसी नियम से मैं तेरी कीर्ति के लिये, तेरे कल्याण के लिये तथा तेरी दीर्घ आयु के लिये तेरा मुण्डन करता हूँ, अर्थात् जैसे द्युलोक के चन्द्र तथा तारागण एवं सूर्य की ज्योति बराबर चलती रहती है वैसे ही तेरा जीवन कीर्तिमान् बना रहे इन दिव्य विभूतियों की तरह उज्ज्वल रहे—इस भावना से मैं तेरा मुण्डन-संस्कार कर रहा हूँ—तेरे मार्ग की सब बाधाओं, तेरे मार्ग के सब काँटों को मानो उस्तरे से काटे दे रहा हूँ।

उक्त मन्त्र बोल के चौथी वार केश छेदन करे। तत्पश्चात्—

***ओं त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।**
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ —यजु० ३।६२

---

* इस मन्त्र का अर्थ जातकर्म संस्कार (पृष्ठ १८५) में दिया जा चुका है।

उक्त एक मन्त्र को बोल के शिर के पीछे के केश एक बार फिर काट के इसी "ओं त्र्यायुषं०" मन्त्र को बोलते जाना और औंधे हाथ के पृष्ठ से बालक के शिर पर हाथ फेर के मन्त्र पूरा हुए पश्चात् छुरा नाई के हाथ में देके—

ओं यत् क्षुरेण मर्चयता सुपेशसा वप्ता वपसि केशान्।
शुन्धि शिरो मास्यायुः प्रमोषीः॥ —आश्व०गृ० १।१७।१५

शब्दार्थ—हे **(वाता)** केशों को काटने वाले नापित **(यत्)** जो तू **(मर्चयता)** सान पर लगे हुए **(सुपेशसा)** सुन्दर, तेज धार वाले **(क्षुरेण)** उस्तरे से **(केशान्)** केशों को **(वपसि)** काटता है, इससे **(शिरः)** सिर को **(शुन्धि)** शुद्ध कर **(अस्य)** इस बालक की **(आयुः)** आयु को **(मा)** मत **(प्रमोषीः)** न्यून कर— मत न्यून कर।

भावार्थ—मन्त्र में नापित से आशा की गई है कि वह खुण्डे उस्तरे का इस्तेमाल नहीं करेगा, तीक्ष्ण धार का उस्तरा लायेगा, परन्तु कोमल मस्तिष्क के बालक को तेज धार लग भी सकती है, इसलिये नापित को बार-बार सावधान किया गया है कि उस्तरे के प्रयोग से बालक को कोई कष्ट नहीं होना चाहिए।

उक्त मन्त्र को बोल के, नापित से पथरी पर छुरी की धार तेज करा के, नापित से बालक का पिता कहे कि इस शीतोष्ण-जल से बालक का शिर अच्छे प्रकार कोमल हाथ से भिगो, सावधानी और कोमल हाथ से क्षौर कर, कहीं छुरा न लगने पावे। इतना कह के कुण्ड से उत्तर दिशा में नापित को लेजा, उसके सम्मुख बालक को पूर्वाभिमुख बैठा के जितने केश रखने हों उतने ही केश रक्खे। परन्तु पाँचों और थोड़ा-थोड़ा केश रखावे अथवा किसी एक ओर रक्खे, अथवा एक बार सब कटवा देवे, पश्चात् दूसरी वार से केश रखने अच्छे होते हैं।

जब क्षौर हो चुके, तब कुण्ड के पास पड़ा व धरा हुआ देने योग्य पदार्थ वा शरावा आदि कि जिनमें प्रथम अन्न भरा था नापित को देवे। और मुण्डन किये हुए सब केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर नाई को देवे, यथायोग्य उसको धन वा वस्त्र भी देवे। और नाई केश, दर्भ, शमीपत्र और गोबर को जंगल में लेजा गड्ढा खोद के उसमें सब डाल ऊपर से मिट्टी से दाब देवे, अथवा गोशाला, नदी वा तालाब के किनारे पर उसी प्रकार केशादि को गाड़ देवे, ऐसा नापित से कह दे।

(महावामदेव्यगान)

क्षौर हुए पश्चात् मक्खन अथवा दही की मलाई हाथ में लगा बालक के शिर पर लगा के स्नान करा उत्तम वस्त्र पहिना के बालक को पिता अपने पास ले शुभासन पर पूर्वाभिमुख बैठ के, सामवेद का 'महावामदेव्यगान' (पृ०....) करके, बालक की माता स्त्रियों और बालक का पिता पुरुषों का यथायोग्य सत्कार करके विदा करें और जाते समय सब लोग तथा बालक के माता-पिता परमेश्वर का ध्यान करके—

(आशीर्वाद)

*''**ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्धमानः**''॥ (बालक के लिये)

''**ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्धमाना**''॥ (बालिका के लिये)

शब्दार्थ—अन्त में सब आशीर्वाद देते हैं, हे बालक **(त्वं)** तू **(शरदः शतम्)** सौ बरस तक **(वर्धमानः)** दिनोंदिन शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक दिशा में बढ़ते जाकर **(जीव)** जी।

इस मन्त्र को बोल बालक को आशीर्वाद देके अपने-अपने घर को पधारें और बालक के माता-पिता प्रसन्न होकर बालक को प्रसन्न रखें।

इति चूड़ाकर्मसंस्कारविधिः समाप्तः

---

* आशीर्वाद के लिये हमने बालक तथा बालिका के लिये अलग-अलग आशीर्वचन लिखे हैं। जहाँ लिखना रह गया हो वहाँ स्वयं बना लेना चाहिए। संस्कारविधि में बालक का ही उल्लेख है, परन्तु ऋषि दयानन्द की विचारधारा को ध्यान में रखते हुए हमने दोनों का उल्लेख कर दिया है।

कर्णवेध-संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

संस्कारों की शृंखला में कर्णवेद नवाँ संस्कार है। कर्णवेध का अर्थ है—कान को बींध देना, उसमें छेद कर देना। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय भारत में कान बींधने का काफी प्रचलन था, इसीलिये इसे संस्कारों की श्रेणी में रखा गया। आजकल बहुत कम लोग हैं जो अपने बच्चों का यह संस्कार करते हैं। अब इसका संस्कार का रूप नहीं रहा, जिन्होंने कर्णवेध करवाना होता है वे सुनार या किसी दक्ष व्यक्तित्व को बुलाकर कान छिदवा देते हैं। लड़कों की जगह लड़कियों का कान तथा नाक प्रायः ये दोनों छिदवा दिये जाते हैं, क्योंकि कान तथा नाक में आभूषण पहनने की प्रथा लड़कियों तथा स्त्रियों में अधिक प्रचलित है। प्राचीनकाल में तो बड़े-बूढ़े भी कानों में बालियाँ पहना करते थे, परन्तु अब पुरुषों ने इसे त्याग दिया है, कन्याएँ इसे नहीं त्याग सकीं। पं० गंगाप्रसाद जी 'संस्कार-प्रकाश' में लिखते हैं कि ''स्त्रियों से आशा करना व्यर्थ है कि वे आभूषणों के प्रेम को त्याग सकेंगी। कन्याएँ आभूषणों के लिये सब प्रकार की असुविधाएँ सहन कर सकती हैं। मेरी पुत्री जब छोटी थी तब मैं कहा करता था कि तू अपनी नाक न छिदवाना। नाक पशुओं की छेदी जाती है, जिससे उनकी नाक में 'नथ' डाली जा सके, परन्तु मेरे आदेश और मेरी युक्तियाँ का उसपर कोई प्रभाव न पड़ा। उसने चुपके-से अपनी नाक छिदवा ली।''

१. कर्णवेध-संस्कार के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत

संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण में कर्णवेध-संस्कार का प्रमाण देते हुए **'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पंचमे वा'**—इस सूत्र का उद्धरण देते हुए यह लिखा है कि यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का वचन है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक आदि ने इसके मूल की खोज करते हुए यह पाया है कि यह वचन कात्यायन गृह्यसूत्र का है। श्री रामगोपाल शास्त्री अपने '**संस्कारविधिमंडनम्**' में लिखते हैं कि कर्णवेध में जो सूत्रग्रन्थ का प्रमाण दिया गया है, वह अशुद्ध छपा है। गृह्यसूत्र के अनुसार पाठ—**'अथ कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा'** है। संस्कारविधि में पूर्व में '**अथ**' नहीं छपा। पाठकों को चाहिये कि यह पाठ शुद्ध कर लें। दूसरे, इस सूत्र को आश्वलायन का वचन लिखा गया है, यह पाठ कात्यायन परिशिष्ट पार०गृ० सूत्र का है। संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में इसे ठीक पते से लिखा गया है, द्वितीय संस्करण में अशुद्ध छपा है। तीसरी बात यह है कि संस्कारविधि में कर्ण के साथ नासिका का वेध भी छपा हुआ है। यह पाठ भी भूल से छपा है, क्योंकि प्रथम संस्कारविधि में नासिका-छेद

का वर्णन सर्वथा नहीं है। इसके अलावा स्वामीजी ने संस्कारविधि में नासिका-वेध के लिये कोई विधि या मन्त्र नहीं दिया है। किसी प्राचीन-ग्रन्थ में नासिका-वेध का वर्णन भी नहीं पाया जाता। इससे स्पष्ट है कि कर्ण के साथ नासिका का छप जाना भी भूल है। जिन लोगों ने गहराई में उतर कर इन सब बातों की खोज की है उनका वक्तव्य हमने यहाँ दे दिया है। इस सम्बन्ध में हमने अपनी तरफ से प्रश्नवाचक चिह्न (?) दे दिया है।

२. कर्णवेध का महत्त्व—तीसरे या पाँचवें महीने करना

सुश्रुत में लिखा है—'**रक्षाभूषणनिमित्तं बालस्य कर्णौ विध्येते**'—अर्थात्, बालक के कान दो उद्देश्यों से बींधे जाते हैं। एक उद्देश्य है—बालक की रक्षा, दूसरा उद्देश्य है—बालक के कानों में आभूषण डाल देना। चक्रपाणि ने कहा है—'**कर्णव्यधे कृते बालो न ग्रहैरभिभूयते, भूष्यतेऽस्य मुखं तस्मात् कार्यस्तत् कर्णयोर्व्यधः**'—अथर्आत्, कान के बींधने से ग्रहों का आक्रमण नहीं होता, साथ ही मुख शोभायमान हो जाता है, इसलिये कानों को बींधना चाहिये। यहाँ जो ग्रहों की बात कही गई है वह अवैदिक है। ऊपर हम कात्यायन गृह्यसूत्र का उद्धरण देकर लिख आये हैं—'**कर्णवेधो वर्षे तृतीये पञ्चमे वा**'—अर्थात्, तीसरे या पाँचवें वर्ष में कर्णवेध करना चाहिये—यही उपयुक्त है।

यह तो ठीक है कि तीसरे या पाँचवें महीने कर्णवेध करना चाहिये, परन्तु इसका महत्त्व क्या है? सुश्रुत तथा चक्रपाणि ने इसके दो महत्त्व बतलाये हैं—आभूषण के तौर से कानों में बालियाँ डालना तो दोनों के कथन में समान है, परन्तु सुश्रुत का कहना है कि इससे बालक की रक्षा भी होती है, चक्रपाणि कहता है कि इससे ग्रहों का कोप नहीं होता। ग्रहों के कोप से अगर यह अभिप्राय हो जैसा जन्मपत्री पढ़ने वाले ग्रहों के कोप का जिक्र करते हैं, तब तो वैदिक-दृष्टि से यह निरर्थक कारण है, क्योंकि हम ग्रहों के इस प्रकार के कोप को स्वीकार नहीं करते। अगर ग्रह का अर्थ है—कोई रोग जो आकर ग्रहले, पकड़ ले, तब दूसरी बात है। इसी आशय को लेकर सुश्रुत ने कहा है कि कर्ण-वेध से बालक की रक्षा होती है। रक्षा किस प्रकार होती है—यह विचारणीय है। अनेक व्यक्तियों का अनुभव है कि कान में छेद करने से कोई ऐसी नस छिद जाती है, जिसका सम्बन्ध आँतों से है। इस नस के छिद जाने से आंत्रवृद्धि (Hernia) नहीं होती। हर्निया क्या है? आँत का थोड़ा-सा भाग अण्डकोशों की थैली में जा लटकता है, इसीको हर्निया कहते हैं। जब बच्चा पैदा होता है, तब उसके अण्डकोश थैली में नहीं उतरते। वे दोनों आँतों के नीचे पड़े होते हैं। बाद को एक छेद में से होकर वे थैली में नीचे उतर आते हैं। इन्हीं दो छेदों में से आँत का कुछ हिस्सा उतर आये, तो उसी को आँत्र-वृद्धि या हर्निया कहते हैं। सुश्रुत का कथन है कि कान छेदने से यह रोग नहीं होता। सुश्रुत

(चिकित्सा स्थान, अ० १९,२१) में लिखा है—

शंखोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीम्
व्यत्यासात् वा शिरो विध्येत् अंत्रवृद्धिनिवृत्तये॥

अर्थात्, शंख (कनपटी) से ऊपर कान के अन्त में सीवन अर्थात् जोड़ को छोड़ कर व्यत्यय से नस को बींधने से अन्त्रवृद्धि (हर्निया) निवृत्त होती है। व्यत्यय का अर्थ है कि दाहिनी तरफ की अंत्रवृद्धि को रोकने के लिये बायें कान की बींधे, बायीं तरफ की अन्त्रवृद्धि को रोकने के लिये दाँये कान को बींधे।

सुश्रुत के इस कथन से स्पष्ट है कि कान का बींधना अन्त्रवृद्धि को रोकने के लिये किया जाता है। आजकल यह काम सुनार या कोई भी व्यक्ति जो इस काम में निपुण होकर देता है, परन्तु सुश्रुत में लिखा है—**'भिषक् वामहस्तेनाकृष्य कर्ण दैवकृते छिद्रे आदित्यकरावभास्विते शनैः शनैः ऋजु विद्धयेत्'**—अर्थात्, वैद्य अपने बायें हाथ से कान को खींचकर देखे, जहाँ सूर्य की किरणें चमकें वहाँ देवकृत-छिद्र में धीरे-धीरे सीधे बींधे। इससे यह प्रतीत होता है कि कान को बींधने का काम ऐसे-वैसे का न होकर भिषक् का है, क्योंकि कान में किस जगह छिद्र किया जाए जिसका प्रभाव अंत्रवृद्धि को रोकने में पड़ सकता है—यह भिषक् ही जान सकता है। इसे 'दैवकृत'-छिद्र इसलिये कहा गया है, क्योंकि कान के जिस स्थान से सूर्य की किरण चमकें वह—पतला स्थान देव का—भगवान् का—जन्म से ही किया गया है।

सुश्रुत की सबसे बड़ी विशेषता उसका शल्य-तंत्र (Surgery) का ज्ञान था। सुश्रुत-संहिता मुख्य-तौर पर शल्य-चिकित्सा (Surgery) का ग्रन्थ है। इसलिये जब सुश्रुत कहते हैं कि अन्त्रवृद्धि को रोकने के लिये कान को बींधना चाहिये, तब इस कथन को साधारण बात नहीं कहा जा सकता। सुश्रुत के इस कथन में कि कर्णवेध बालक की रोगों से रक्षा के लिये है, और साथ ही यह कह देने में कि अन्त्रवृद्धि के लिये कर्णवेध करना चाहिये—अवश्य कुछ गहरी सचाई होनी चाहिये। वर्त्तमान सर्जरी के लिये यह एक हल करने की समस्या है। अगर सर्जन लोग सुश्रुत के इस कथन पर गम्भीरतापूर्वक गवेषणा करें तो सम्भव है कर्णवेध-संस्कार पर कुछ प्रकाश पड़ सके।

कान बींधने का कुछ रोगों पर विशेष प्रभाव है—यह हम अपनी जानकारी के आधार पर भी कह सकते हैं। १९३९ के आस-पास की बात है, जब हम गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में उपकुलपति थे उस समय हमारे भण्डार में एक व्यक्ति काम करते थे, जिनका नाम हरप्रसाद था। वे पतले-दुबले व्यक्ति थे, उनका पेट हर समय खराब रहता था। बीसियों इलाज किये, ठीक नहीं हुए। एक दिन हम भण्डार की तरफ चक्कर लगा रहे थे, तो हरप्रसाद जी दिखलाई दिये। हमने पूछा—क्या हाल है ? बोले, मैं अब बिल्कुल ठीक हो गया हूँ। हमने पूछा—क्या इलाज करवाया ?

बोले, कान बिंधवाया था। हमने देखा, उनके कान में ऊपर के हिस्से में एक छेद था जिसमें तागा पिरोया हुआ था। यह तागा कान के लटकते हिस्से में नहीं था, कनपटी के साथ के कान के ऊपर के हिस्से में था। उन्होंने बतलाया कि गुरुकुल के पास ही एक गाँव में कोई व्यक्ति रहता है जो पेट के रोगों को कान बींध कर ठीक कर देता है।

कहाँ बींधने से, कहाँ दबाने से क्या रोग ठीक हो जाता है—यह स्वयं मे एक विद्या है। दिल्ली में एक बाबा जी हैं जो कनाट प्लेस में पुंज-सन्स के आफिस के एक कमरे में आते हैं और टांग के निचले हिस्से की नसों को दबाकर पेट तथा दर्द आदि के अनेक रोगों को दूर कर देते हैं। हमने उनके यहाँ रोगियों का जमघट देखा है। चीन में एक्युपंक्चर (Acupuncture) नाम की एक विद्या है जिससे सूई चुभोकर वे लोग शल्य-क्रिया के अनेक काम कर लेते हैं। इन सब बातों को देखकर यह कहना असंगत न होगा कि कर्णवेध-संस्कार को धार्मिक-संस्कार का रूप देने में प्राचीन आचार्यों का कोई अनुभव अवश्य रहा होगा, जिसे आजकल के वैद्य भूल गये हैं, परन्तु जिसकी तरफ सुश्रुत ने इंगित किया है। अगर इस दिशा में अनुसन्धान किया जाए, तो हमें आशा है कि वर्तमान शल्य-चिकित्सा में अवश्य कुछ वृद्धि होने की संभावना है।

कर्णवेध-संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है—यह कश्यप के निम्न २ श्लोकों से भी प्रकट होता है। वहाँ लिखा है—

कदा वेध्यं कथं वेध्यं कुत्र वेध्यं कथं व्यधः हितोऽहितोऽत्ययः कश्च तत्राज्ञः किं प्रपत्स्यते। तस्मात् भिषक् सकुशलः कर्ण विध्येत् विचक्षणः शिशोः हर्ष प्रमत्तस्य धर्मकामार्थ सिद्धये।

अर्थात्, कान को कब, कैसे, कहाँ बींधे, इसका लाभ-अलाभ क्या है—इससे अज्ञ व्यक्ति क्या पा सकता है ? इसलिये कुशल तथा चतुर वैद्य ही कान बींधे। सुश्रुत में कान के बींधने पर बहुत-कुछ लिखा है। इनसे ज्ञात होता है कि कान बींधने के कोई विशेष लाभ थे, जिनको देखकर सुश्रुत, कश्यप आदि ने इसकी प्रशंसा की थी और वैदिक-संस्कृति में इसे सोलह संस्कारों का अंगभूत बनाया था।

बाकी रहा, आभूषण के तौर पर कर्णवेध करना या कराना। श्री अत्रिदेव लिखते हैं—ऐसा प्रतीत होता है कि वात्स्यायन कामसूत्र के समय कानों को लम्बा करने की प्रथा थी। कानों को लम्बा करने के लिये कान में छेद करके उसमें आभूषण या भारी वस्तु पहनाते थे, जिससे कान लम्बा हो जाए। इसे सौन्दर्य का एक चिह्न समझा जाता था। सौन्दर्य का प्रतिमान सब देशों तथा सब कालों में भिन्न-भिन्न रहा है और रहेगा। अब कोई पुरुष सौन्दर्य के लिये कान नहीं छिदवाना चाहता, यद्यपि स्त्रियाँ कान तथा नाक दोनों छिदवाती हैं।

कर्णवेध संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

यह नौवां संस्कार—'कर्णवेध'—तीसरे या पाँचवें वर्ष में करना चाहिये। सब संस्कारों में जो सामान जुटा कर रखना चाहिये वह इसमें भी तय्यार रखें।

(१) जो सामान जुटा कर रखना है—(देखो, पृ० ६९-७०)

(२) इस संस्कार के लिये विशेष सामान—खाने का कुछ पदार्थ तथा बच्चे का दिल बहलाने के लिये कोई खिलौना, तेज नोकवाली तांबे या चाँदी की बाली जो सुनार साथ लाये, कान के छिद्र पर लगाने के लिये वैजलीन या कोई औषधि।

[ऋत्विग्वरण तथा ईश्वर-स्तुति से मंगल-कार्य तक यज्ञ]

जिस दिन कर्ण वा नासिका (?) के वेध को ठहराया गया हो, उसी दिन बालक को प्रातःकाल शुद्ध जल से स्नान और वस्त्रालंकरण धारण करा कर, बालक की माता यज्ञशाला में लावे और निम्न प्रकार यज्ञ की सब विधि करें—

[ऋत्विग्वरण तथा यज्ञारम्भ]

'**ऋत्विग्वरण**' (पृष्ठ ७१); '**तीन आचमन**' (ओम् अमृतोपस्तरणमसि आदि, पृष्ठ ७१); जल द्वारा '**अंग-स्पर्श**' (ओं वाङ्मय आस्येऽस्तु आदि, पृष्ठ ७२); '**ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना**' (ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि आदि, पृष्ठ ३५); '**स्वस्तिवाचन**' (अग्निमीळे पुरोहितम् आदि, पृष्ठ ३९); '**शान्तिकरण**' (शन्न इन्द्राग्नी आदि, पृष्ठ ५५); '**अग्न्याधान**' (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना आदि, पृष्ठ ७२); '**अग्निप्रदीपन**' (ओं उद्बुध्यस्वाग्ने आदि, पृष्ठ ७३); '**समिदाधान**' (ओं अयन्त इध्म आत्मा+ओं समिधाग्निं दुवस्यत+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिरंगिरो आदि, पृष्ठ ७४-७७); '**घृत की ५ आहुतियाँ**' (ओम् अयं त इध्म आत्मा आदि, पृष्ठ ७७); वेदी के चारों ओर जब छिड़कना (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व आदि, पृष्ठ ७७); '**४ आघारावाज्याहुतियाँ**' (ओम् अग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७८); '**४ व्याहृति आहुतियाँ**' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९); '**स्विष्टकृत आहुति**' (ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम् आदि, पृष्ठ ८०) '**एक मौन प्राजापत्याहुति**' (ओं प्रजापतेय स्वाहा, पृष्ठ ८०); '**४ पवमानी आज्याहुतियाँ**' (ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि आदि, पृष्ठ ८१); '**८ अष्टाज्याहुतियाँ**' (ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य से लेकर ओं भवतन्नः आदि, पृष्ठ ८२-८५) यहाँ तक सब विधि करे।

[पूर्णाहुति, मंगलकार्य तथा महावामदेव्यगान से समाप्त करें]

उक्त विधि के बाद '**ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा**' से तीन आहुतियाँ देकर मंगलकार्य तथा महावामदेव्यगान करें।

[कर्णवेध संस्कार की विशेष-विधि]

तत्पश्चात्, बालक के आगे कुछ खाने का पदार्थ या खिलौना घर के—

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ १॥

—यजु० २५,२१

इस मन्त्र को पढ़ के चरक, सुश्रुत, वैद्यक ग्रन्थों के जानने वाले सद्वैद्य के हाथ से कर्ण वा नासिका (?) वेध करावें कि जो नाड़ी आदि को बचा के वेध कर सके। पूर्वोक्त मन्त्र से दक्षिण और निम्न मन्त्र से वाम कर्ण का वेध कर छिद्रों में शलाका रख न पकने की औषधि लगा दें।

ओं वक्ष्यन्तीवेदा गनीगन्ति कर्णं प्रियꣳ सखायं परिषस्वजाना।
योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयꣳ समने पारयन्ती॥ २॥

—यजु० २९,४०; पार० १,१७ पदार्थक्रम

शब्दार्थ—(**इयं ज्या**) यह धनुष की डोरी (**समने**) संग्राम में (**अधिधन्वन्**) धनुष पर (**वितता**) तनी हुई (**पारयन्ती**) युद्ध में पार ले जानेवाली है (**प्रियं**) प्रिय (**सखायं**) सखा (**कर्ण**) कान को (**परिषस्वजाना**) ऐसे आलिंगन करती है (**वक्ष्यन्ती इव इत्**) मानो कान में कुछ कह रही है (**गनीगन्ति इव**) कान में गुनगुना रही है। कैसे? (**योषा इव**) जैसे पत्नी पति के कान में (**शिंक्ते**) पास आकर गुनगुनाती है।

भावार्थ—धनुष की डोरी को संग्राम में जब तान कर कान के पास तक लाकर खींचते हैं तब ऐसा लगता है कि वह कान में ऐसे गुनगुना रही है जैसे पत्नी पति के पास आकर उसके कान में गुनगुनाये। पहले मन्तर में कान द्वारा भद्र बातों को सुनने का जिक्र है, तो इस मन्त्र में संग्राम में विजय की गुनगुनाहट को सुनने का वर्णन है। दोनों मन्त्रों का कान से सम्बन्ध है, इसलिये कर्णवेध में इन दोनों मन्त्रों को दे दिया गया है।

[आशीर्वाद]

तत्पश्चात्, यज्ञ में उपस्थित सब लोग बालक का संस्कार हो तो बालक को, बालिका का संस्कार हो तो बालिका को निम्न प्रकार आशीर्वाद दें—

हे बालक! त्वं जीव शरदः शतम् वर्धमानः—(बालक के लिये)

हे बालिके! त्वं जीव शरदः शतम् वर्धमाना—(बालिका के लिये)

इस मन्त्र को बोल बालक-बालिका को आशीर्वाद देके अपने-अपने घर पधारें और बालक-बालिका के माता-पिता प्रसन्न होकर सन्तान को प्रसन्न रखें।

॥ इति कर्णवेधसंस्कारविधिः समाप्तः॥

उपनयन संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कार आपस में इतने निकट हैं कि इनका एक-दूसरे से भेद न करना ही ठीक है, परन्तु क्योंकि आज के समाज में उपनयन तो प्रायः सभी करते हैं, उपनयन के साथ वेदारम्भ संस्कार सिर्फ गुरुकुलों में किया जाता है, इसलिये हम यहाँ इन दोनों संस्कारों का अलग-अलग वर्णन करेंगे। उपनयन संस्कार इसलिये किया जाता है कि अब इसके बाद बालक या बालिका वेद का अध्ययन प्रारम्भ करेंगे, वेद के अध्ययन का अभिप्राय आजकल की परिभाषा में शिक्षा का प्रारम्भ करना है। उपनयन संस्कार शिक्षा के मन्दिर में प्रवेश करने का द्वार है, इस द्वार में प्रविष्ट होकर विद्या का जो अध्ययन किया जाता है वह वेदारम्भ-संस्कार कहाता है।

१. उपनयन की आयु

उपनयन संस्कार में मुख्य कर्म यज्ञोपवीत का धारण करना है। यज्ञोपवीत का धारण करना गृह्यसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण-बालक का आठवें वर्ष में, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में—**अष्टमे वर्षे ब्राह्मणं उपनयेत्, एकादशे क्षत्रियम्, द्वादशे वैश्यम्**—यह विधान है। जिसका इन वर्षों में उपनयन संस्कार नहीं होता था उसे पतित माना जाता था—**'अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति'।**

इससे यह स्पष्ट है कि जो लोग सन्तान को सुसंस्कृत तथा गुणवान् बनाना चाहते हैं, उनकी सन्तान का उपनयन जल्दी-से-जल्दी हो जाना चाहिये। तभी मनु ने उपनयन का समय गृह्यसूत्रों के निर्दिष्ट समय से भी पहले निश्चित किया है। मनुस्मृति (२,३७) में लिखा है—

ब्रह्मवर्चस्कामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

ऋषि दयानन्द मनुस्मृति का उक्त उद्धरण देकर लिखते हैं कि जिनको शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी बढ़ने में समर्थ हो, तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म या गर्भ से पाँचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म या गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म या गर्भ से आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें।

यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार का इतना महत्त्व है कि जिनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता उनका विवाह से पहले नाममात्र का यज्ञोपवीत संस्कार कर दिया जाता है ताकि यह न कहा जा सके कि इनका यह संस्कार नहीं हुआ। क्योंकि

प्राचीनकाल में वाराणसी वैदिक-संस्कृति तथा वैदिक-ज्ञान का केन्द्र थी और प्राय: बालक वहीं शिक्षा-ग्रहण के लिये जाया करते थे, इसलिये उन यादों को ताजा बनाये रखने के लिये विवाह के समय भी उपनयन-संस्कार करके कुछ कदम वाराणसी की तरफ चलने को कहा जाता है जो वहाँ जाकर वेदारम्भ करने की स्मृति दिलाता है।

२. उपनयन के बाद बालक 'द्विज' कहलाता है— 'द्विज' का अर्थ

'द्विज' का अर्थ है—जिसका दूसरा जन्म हो। माता-पिता से तो पहला जन्म होता है, परन्तु इस जन्म के बाद जब बालक संस्कृति की भट्टी में पड़ कर नवीन-मानव होने की प्रक्रिया में पड़ जाता है, तब उसे बालक का दूसरा जन्म कहा जाता है। मनुस्मृति में कहा है—**'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते'**—जन्म से तो सभी शूद्र पैदा होते हैं, संस्कारों से ही मनुष्य 'द्विज' बनता है। संस्कारों के बिना मनुष्य मनुष्य नहीं बन सकता। क्या हम देखते नहीं कि आयुर्वेद में संखिया जैसे विष को संस्कारों की भावना देकर् मृततुल्य बना दिया जाता है, जंगली खूंखार शेर को संस्कारों द्वारा बकरी के साथ एक घाट पानी पिला दिया जाता है। उपनयन संस्कार का अभिप्राय यह है कि अब तक माता-पिता अपने परिश्रम से बालके के जीवन पर ऐसे संस्कार डाल रहे थे जिनसे वह इस जन्म के संस्कारों के कारण नव-मानव बन सके, अब वे उसे आचार्य के पास लानेका श्रीगणेश करने वाले हैं, जिससे आचार्य, जिसका काम ही बच्चों को नया जीवन देना है, उन्हें नये साँचे में ढालना है, बच्चे के जीवन को उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार एक नई दिशा दे सके।

३. यज्ञोपवीत बाहर कपड़ों पर धारण किया जाता था

बच्चे को जीवन की नई दिशा दी जाए, वह कुछ बन सके—यह किस माता-पिता की इच्छा नहीं होती। वैदिक-संस्कृति में उपनयन संस्कार माता-पिता द्वारा इस बात की घोषणा थी कि अब हमने तो इस बालक को भौतिक-जीवन दे दिया, इस पर बाल्यावस्था में जो सुसंस्कार डालने हमारे बस में थे उन्हें डालने का हमने यत्न किया, परन्तु अब हम इस बालक को समाज के उन विशेषज्ञों के हाथ में दे देना चाहते हैं जो इस विज्ञान के धुरंधर पंडित हैं। यज्ञोपवीत में तीन धागों का एक सूत्र बालक के शरीर पर डाला जाता था—इन्हीं तीन तारों वाले सूत्र को 'यज्ञ-सूत्र' या 'यज्ञोपवीत' कहा जाता था। इसे धारण कर लेने का अभिप्राय यह था कि अब यह बालक पढ़ने-लिखने लगा है। जैसे आजकल स्कूल में भर्ती होते हुए वहाँ दाखिला लेते हैं, उसका नाम रजिस्टर में लिखा जाता है, वैसे ही किसी समय विद्याभ्यास करना शुरु करने का चिह्न यज्ञोपवीत था। जिस देश में यह संस्कार प्रचलित था उस देश में अपठित व्यक्ति कौन रह सकता था। हर व्यक्ति को पाँच, छ:, आठ वर्ष की

आयु में यज्ञोपवीत-संस्कार कराना पड़ता था, जिसका यह संस्कार नहीं होता था उससे आस-पास, पड़ोसी, रिश्तेदार पूछ सकते थे कि तुम्हारे बालक का यह संस्कार क्यों नहीं हुआ? कई लोगों का कहना तो यह है कि पहले-पहल यज्ञोपवीत अंग-वस्त्र के ऊपर पहना जाता था, जहाँ से सबको दीख सके और इसे देखकर हर-कोई यह अन्दाज लगा सके कि यह बालक शिक्षा ग्रहण करने के लिये गुरु के पास जाता है। ऐसा सोचने का यह भी कारण है क्योंकि पहले शरीर पर कुर्ता आदि नहीं पहना जाता था, नीचे धोती तथा ऊपर एक अनसिला अंगवस्त्र डाल लिया जाता था। ऐसी अवस्था में यज्ञोपवीत कपड़े के ऊपर ही डाल लिया जाता था, अगर बदन पर भी डाला जाता था तो भी बदन पर वस्त्र न होने के कारण देखनेवालों को वह बाहर से दीख जाता था और वे समझ सकते थे कि यह व्यक्ति शिक्षा ग्रहण कर रहा है या नहीं।

इस सम्बन्ध में श्री पं० आत्माराम जी 'संस्कार-चन्द्रिका' में लिखते हैं कि यज्ञोपवीत संस्कार में गुरु पहले बालक को वस्त्र पहनाता था, फिर यज्ञोपवीत उसके ऊपर डालता था। यज्ञोपवीत विद्या ग्रहण करने का चिह्न है, इसलिये पुराने समय में ब्रह्मचारी इसे अंगरखा आदि के ऊपर धारण करके रखते होंगे। पारसी लोग वा रोमन कैथोलिक पादरी लोग भी अपना-अपना यज्ञोपवीत (चाहे उसे किसी भी नाम से कहें) वस्त्र के ऊपर ही धारण करते हैं। महाभारत में वृद्ध द्रोणाचार्य का उल्लेख करते हुए एक स्थल पर कहा है—

ततः शुक्लांबरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान्।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुः शुक्लमाल्यानुलेपनः॥

अर्थात्, द्रोणाचार्य जी के श्वेत वस्त्र थे, श्वेत यज्ञोपवीत था, शुक्ल केश थे, शुक्ल दाढ़ी-मूँछ थीं, शुक्ल माला और शुक्ल ही शरीर पर अनुलेपन था। यज्ञोपवीत शुक्ल था—यह तभी कहा जा सकता है जब यज्ञोपवीत बाहर से दीख रहा हो, यह तभी सम्भव है जब इसे वस्त्र के ऊपर धारण किया गया हो। सम्भव है, इतिहास के किसी काल में बाहर से दीखने वाला यज्ञोपवीत परिस्थितिवश ठीक न समझा गया हो, और इसे दिखाने की जगह छिपाया जाने लगा हो। युक्तियुक्त तो यही प्रतीत होता है कि इसे एक बाह्य-चिह्न समझकर बाहर धारण किया जाता होगा जिसका रूप अभी तक पारसियों तथा रोमन पादरियों में मौजूद है। पारसी 'कुस्ती' को बाहर कपड़ों पर लपेट लेते हैं, रोमन कैथोलिक पादरी एक पटा-सा बाहर कोट के चारों तरफ बाँध लेते हैं। यह यज्ञोपवीत का ही भिन्न-भिन्न धर्मों में वर्त्तमान चिह्न है।

४. यह संस्कार सर्वत्र पाया जाता है

यज्ञोपवीत संस्कार को एक सार्वजनिक-संस्कार बनाने का एक मुख्य कारण यह भी था कि हर-किसी बालक को अपनी मान-प्रतिष्ठा रखने के लिये सबके

सामने यह प्रकट करना पड़ता था कि उसका बच्चा अब आचार्य के पास विद्याध्ययन करने के लिये जाने लगा है। जो व्यक्ति अपनी सन्तान का यह संस्कार नहीं करता था वह समाज में पतित समझा जाता था। बालक को विद्याध्ययन से वञ्चित करने वाला समाज में पतित समझा जाए, घृणा की दृष्टि से देखा जाए—यह विचारधारा वैदिक संस्कृति में ही दृष्टिगोचर होती है। इसी विचारधारा का यह परिणाम था कि सब कोई उपनयन करवाते थे और समाज के सब वर्ग शिक्षित थे। जो यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं करवाता था वह '**सावित्री-पतित**' कहाता था।

उपनयन का यह विचार—बालक का एक जन्म माता-पिता के घर हुआ, दूसरा जन्म गुरु के यहाँ होगा—बालक के 'द्विज' होने का यह विचार इतना उत्कृष्ट विचार था कि यह वैदिक-धर्म से अन्य धर्मों में भी पहुँचा। पारसी लोग, जिनका उद्भव आर्यों से ही है, यज्ञोपवीत को 'कुस्ती' कहते हैं। पं० गंगाप्रसाद अपनी पुस्तक 'Fountainhead of Religion' के पृष्ठ ८७ पर इस सन्दर्भ में लिखते हैं—

"It is interesting to note in this connection that like the twice-born (the first three classes) among the followers of Vedic religion, the Parsees are also enjoined to wear the sacred thread, which they call *Kusti.* We quote from the Vendidad :

"Zarathushtra asked Ahura Mazda : O Ahur Mazda! through what is one a criminal worthy of death?" Then said Ahura Mazda : By teaching an evil religion? Spitama Zarathushtra! Whosoever during spring seasons does not put on the sacred thread (Kusti), does not recite the Gathas, does not reverence the good waters, etc."

उक्त उद्धरण का अर्थ यह है कि पारसियों के पैगम्बर स्पितम जरथुश्थ्र को पारसियों के भगवान् अहुरमज्दा ने कहा है कि जो कुस्ती—यज्ञोपवीत—को धारण नहीं करता उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाना चाहिये। पारसियों के यहाँ कुस्ती सात साल में दी जाती है, और इसे बालक कमर के चारों तरफ लपेटता है। यह उनका एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है।

वैदिक-संस्कृति में यज्ञोपवीत धारण का मन्त्र तथा पारसियों में कुस्ती धारण का मन्त्र लगभग एक समान अर्थ के द्योतक हैं। वैदिक-संस्कृति का मन्त्र (पार० गृह्य०, २,२,११) निम्नलिखित है—

"यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।"

अर्थात्, यज्ञोपवीत परम पवित्र है, आदिकाल से यह प्रजापति के साथ रहा है, यह आयु को देनेवाला है, बल देनेवाला है—इत्यादि।

पारसियों का यज्ञोपवीत पहनने का मन्त्र निम्नलिखित है—

''**फ्राते मज्दाओ बरत् पौरवनीम् एयाओं धनिमस्ते हर-पाये संघेम मैन्युतस्तेम् वंधुहिम् दयेनीम् मज्दबास्नाम्।**'' इसका अर्थ यह है कि ऐ डोरा! तू बहुत बड़ा है, उज्ज्वल है (परमं पवित्रम्), आयु तथा बल देनेवाला (**आयुष्यमग्र्यं**) है, तुजे मज्दा ने आरोपित किया है (**प्रजापतेर्यत् सहजम्**), मैं तुझे पहनता हूँ।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि वैदिक-संस्कृति का 'उपनयन-संस्कार' पारसियों में 'कुस्ती' नाम से अभी तक चल रहा है।

मुसलमानों में उपनयन को बिस्मिल्ला पढ़ना कहते हैं। उनके यहाँ ४ साल, ४ महीने, ४ दिन, ४ घड़ी, ४ पल का हो जाने पर बालक को बिस्मिल्ला सुनाकर पढ़ने को बैठाया जाता है। बिस्मिल्ला पढ़ते हुए उसे 'बिस्मिल्ला इर्रहमान इर्रहीम' पढ़ने को कहा जाता है जैसे वैदिक-संस्कृति में 'गायत्री' पढ़ने को कहा जाता है।

ईसाइयों में बच्चे को बप्तिस्मा (Baptism) देते हैं, जो उपनयन का ही एक रूप है। यह बैप्टिज्म एन्साइक्लोपीड़िया ऑफ रिलीजन के अनुसार यूनानी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ 'पुनरुत्पत्ति' (Regeneration) है, यही पुनरुत्पति 'द्विज'-शब्द से अभिव्यक्त होती है। जैसा पहले कहा जा चुका है, 'द्विज' उसी को कहते हैं जिसका उपनयन-संस्कार हो चुका है।

५. उपनयन तथा अन्तेवासी का अर्थ

'उपनयन' का शब्दार्थ है—उप=समीप, 'नयन'=ले जाना। विद्याध्ययन के लिये गुरु या आचार्य के समीप ले जाने को उपनयन कहा जाता है। उपनयन का अर्थ है—गुरु के समीप हो जाना। गुरु शिष्य के प्रति (आश्व०गृह्य, १,२१,७) कहता है—

मम व्रते ते हृद्यं दधामि मम चित्तं अनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचं एकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

गुरु व्रत करके बालक को आश्वासन देता है कि तेरे हृदय को मैं अपने हृदय में लेता हूँ, तेरे चित्त को अपने चित्त में लेता हूँ। गुरु तथा शिष्य एक-दूसरे के इतना निकट आने का यत्न करते हैं कि वे '**एकमना**' हो जायें, एक-दूसरे के प्रति दुविधा में न रहें। कितनी भारी जिम्मेवारी सौंपी गई है गुरु के ऊपर। मनुष्य में चित्त तथा हृदय—ये दो ही तो बहुमूल्य निधियाँ हैं। चित्त में उसके विचार उठते हैं, हृदय में उसकी भावनाएँ उठती हैं। गुरु शिष्य के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि तेरा चित्त और तेरा हृदय (Head and heart) मैं अपने हाथ में लेता हूँ और आगे आने वाले जीवन के लिये तेरे दिमाग और दिल के सही निर्माण की जिम्मेदारी अपने हाथ में लेता हूँ। क्या शिक्षा का उद्देश्य इससे ऊँचा हो सकता है कि गुरु यह व्रत ले, प्रतिज्ञा करे और भरी सभा में सब एकत्रित व्यक्तियों के सामने यह घोषणा करे कि वह अपने शिष्यों

के दिमाग और दिल को—मस्तिष्क तथा हृदय को—इन दोनों को ऐसे रास्ते पर डाल देगा, जिससे वे जीवन के संघर्ष में छाती तान कर खड़े हो सकें? आज की कौन-सी संस्था और आज का कौन-सा गुरु ऐसे व्रत की घोषणा कर सकता है? उपनयन का अर्थ है—विद्याध्ययन के दिन से ही गुरु तथा शिष्य का एक-दूसरे के निकट होना। आज कितने गुरु हैं जो अपने शिष्यों के निकट हैं और कितने शिष्य हैं जो गुरुओं के निकट हैं? यह दोनों ओर की यात्रा है—गुरु शिष्य के निकट आये, शिष्य गुरु के निकट आये। निकट आना तो दूर रहा, आज गुरु तथा शिष्य की दूरी बढ़ती जा रही है, उपनयन की जगह अपनयन हो रहा है।

संस्कृत में शिष्य के लिये एक अत्यन्त सार्थक शब्द प्रयुक्त होता है—'**अन्तेवासी**'। अन्तेवासी का अर्थ है—जो गुरु के अन्दर तक बसा हुआ है। उपनयन-संस्कार करते हुए गुरु शिष्य को कितना अपने अन्तरतम में ले आता है, इस भाव को दर्शाने के लिये अथर्ववेद, काण्ड ११, सूक्त ५ में ३रा मन्त्र है जिसका प्रयोग संस्कारविधि में वेदारम्भ संस्कार में किया गया है, परन्तु वह मन्त्र उपनयन-संस्कार पर प्रकाश डालने में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उस मन्त्र में कहा है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्त्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥

अर्थात्, बालक को शिक्षा देने के लिये स्वीकार करते हुए गुरु उसे इस प्रकार सुरक्षित, सँभालकर रखता है जैसे माता पुत्र को अपने गर्भ में सुरक्षित तथा सँभालकर रखती है। '**अन्तेवासी**'-शब्द की मानो उक्त मन्त्र में मार्मिक व्याख्या कर दी गई है। मातृ-गर्भ में जैसे शिशु सुरक्षित रहता है उसी प्रकार आचार्य-कुल में विद्यार्थी दूषित वातावरण से प्रभावित होने से बचा रहता है। क्या गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का इससे ऊँचा चित्र खींचा जा सकता है? पुत्र माता के पेट में रहता है। माता सांस लेती है, गर्भ सांस नहीं लेता, माता भोजन करती है, गर्भ भोजन नहीं करता, परन्तु माता के सांस में उसका सांस, माता के भोजन में उसका भोजन, माता के जल-पान में उसका जल-पान है। गुरु तथा शिष्य के निकटतम सम्बन्ध—'उप+नयन'—को समझाने के लिये माता तथा गर्भ के सम्बन्ध से अधिक सुन्दर क्या दूसरी कोई उपमा दी जा सकती है?

६. यज्ञोपवीत का महत्त्व

यज्ञोपवीत में तीन सूत्र होते हैं, जो क्रमशः तीन ऋणों के सूचक हैं—(क) ऋषिऋण, (ख) पितृऋण तथा (ग) देवऋण। प्रथम ऋण ब्रह्मचर्य धारण कर वेद-विद्या के अध्ययन से, द्वितीय ऋण धर्मपूर्वक गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर सन्तानोत्पत्ति से तथा तृतीय ऋण गृहस्थ का त्याग कर देश-सेवा के लिये अपने को तय्यार करने

से निवृत्त होते हैं, इसीलिये ये तीनों ऋण ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ—इन तीन आश्रमों के सूचक हैं। यही कारण है कि जब व्यक्ति इन तीनों ऋणों से मुक्त हो जाता है, तीनों आश्रमों को लाँघ जाता है, तब इस सूत्र को विधान के अनुसार यज्ञ की अग्नि में डाल देता है, फिर इसे धारण नहीं करता और संन्यास आश्रम में प्रविष्ट हो जाता है। ये तीनों ऋण जिनसे उर्ऋण होना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है, क्या हैं?

(१) ऋषि-ऋण—समाज में ऋषि लोगों ने ज्ञान-विज्ञान का परिचय प्राप्त कर हमें ज्ञान दिया। अगर उनके पास ज्ञान न होता, तो हम निरे मूर्ख-के-मूर्ख रह जाते। जैसे उन लोगों ने ज्ञान प्राप्त कर उस ज्ञान को हम तक पहुँचाया, वैसे हम भी ज्ञान प्राप्त कर समाज में आगे-आगे ज्ञान गंगा के बहते रहने का प्रबन्ध करें—इस बात को यज्ञोपवीत का एक सूत्र हमें याद दिलाता रहता है। जब हम ज्ञान प्राप्त कर रहे होते हैं तब ऋषियों द्वारा हम पर छोड़े गये ऋण की याद कर रहे होते हैं। यह कार्य ब्रह्मचर्याश्रम में ही होता है इसलिये ब्रह्मचर्याश्रम हमें ऋषि-ऋण से उर्ऋण होने की याद दिलाता है।

(२) पितृ-ऋण—हमारे माता-पिता ने ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया और हमें उत्पन्न किया। अगर वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करते, तब हमारा जन्म कैसे होता। इसी प्रकार हम ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर युवावस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर समाज को उत्तम सन्तति प्रदान करें, जिससे समाज का पिता से पुत्र, पुत्र से प्रपौत्र—इस प्रकार का सिलसिला बँधा रहे। जब हम ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर रहे होते हैं, तब अपने माता-पिता द्वारा हम पर छोड़े गये पितृ-ऋण की याद कर रहे होते हैं। यह कार्य गृहस्थाश्रम में ही होता है, इसलिये यज्ञोपवीत का दूसरा सूत्र हमें गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर पितृ-ऋण से उर्ऋण होने की याद दिलाता है।

(३) देव-ऋण—आश्रम-जीवन का मुख्य उद्देश्य सकामता से निष्कामता की तरफ अग्रसर होना है। हम संसार के काम-धंधों में इतने फँसे रहते हैं कि उनका मोह हमें बाँधे रखता है। अन्त में सब मोह-माया ने छूटना है, हमारे देश तथा समाज के बड़ों ने जीवन में प्रवेश कर उसके बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर उसमें से निकलने तथा अपने को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न किया, उन्होंने गृहस्थ में प्रवेश कर गृहस्थ को छोड़ा, वानप्रस्थ आश्रम में पग धरा। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम को समाप्त कर हम समाज के भले, उसकी सेवा के लिये वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करें, गृहस्थ में ही न धंसे रहें, इस बात को याद दिलाने के लिये यज्ञोपवीत का तीसरा सूत्र हमें समाज के दिव्य पुरुषों द्वारा हम पर छोड़े गये ऋण की तरफ इंगित करता रहता है।

७. कन्याओं को यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकार था

यद्यपि आज के युग में कन्याओं को यज्ञोपवीत का अधिकार है या नहीं—इस बात की चर्चा का कोई महत्त्व नहीं रहा, क्योंकि कन्याओं के शिक्षा ग्रहण में अब कोई बाधा नहीं रही, लड़कों तथा लड़कियों के समान अधिकार को भारतीय-समाज ने स्वीकार कर लिया है, तथापि उपनयन-संस्कार के प्रकरण में ऐतिहासिक-दृष्टि से इस बात पर विचार करना असंगत नहीं है कि वैदिक-संस्कृति का प्राचीन-काल से अब तक क्या दृष्टिकोण रहा है। इस बात पर विचार करना इसलिये भी प्रकरण-संगत है क्योंकि अब भी कई लोग वेदों का नाम लेकर अनेक तरह की दकियानूसी बातें कहने सुने जाते हैं। उपनयन के अधिकार का अर्थ है—विद्या ग्रहण करने का अधिकार, इसलिये इस सम्बन्ध में हम जो कुछ लिखेंगे उसमें दो बातें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायेगा। एक बात तो यह कि वैदिक-संस्कृति में कन्याओं को यज्ञोपवीत ग्रहण करने का वैसा ही अधिकार था जैसा बालकों को, दूसरी बात यह कि वैदिक-काल में स्त्रियाँ वेद-शास्त्र पढ़ा करती थीं, इसमें उनके लिये कोई मनाही नहीं थी, इस क्षेत्र में लड़कों-लड़कियों की समान गति थी।

(१) कन्याओं को यज्ञोपवीत का अधिकार था—गोभिलीय गृह्यसूत्र २,१,१९-२१ में लिखा है—''**प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीम् अभ्युदानयन् जपेत् सोमोऽददत् गन्धर्वाय इति**''—अर्थात्, कन्या को कपड़ा पहने हुए, यज्ञोपवीत धारण किये हुए पति के निकट लाये तथा यह मन्त्र पढ़े—'**सोमोऽददत्**'। इस मन्त्र में स्पष्ट है कि कन्या यज्ञोपवीत धारण किये हुए हो। कन्याओं का उपनयन संस्कार होता था—यह निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

पुराकल्पे हि नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥

अर्थात्, प्राचीन-काल में स्त्रियों का मौञ्जीबन्धन—उपनयन—होता था, वे वेदादि शास्त्रों का अध्ययन भी करती थीं।

हारीत संहिता में स्त्रियों के दो भेद किये गये हैं—'**ब्रह्मवादिन्यः**' तथा '**सद्योवध्वः**'—ब्रह्मवादिनी तथा सद्योवधू। पराशर संहिता के प्रसिद्ध भाष्यकार पंडित प्रवर मध्वाचार्य इनकी टीका में लिखते हैं—

'द्विविधा स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च। तत्र ब्रह्मवादिनीनाम् उपनयनम् अग्निबन्धनम् वेदाध्ययनम् स्वगृहे भिक्षा इति, वधूनाम् तु उपस्थिते विवाहे कथंचित् उपनयनं कृत्वा विवाहः कार्यः।'

अर्थात्, दो प्रकार की स्त्रियाँ होती हैं—एक वे ब्रह्मवादिनी जिनका उपनयन होता है, जो अग्निहोत्र करती हैं, वेदाध्ययन करती हैं, अपने परिवार में ही भिक्षावृत्ति से रहती हैं, और दूसरी वे जिनका शीघ्र ही विवाह होना होता है। इन स्त्रियों का भी

जिनका शीघ्र ही विवाह होना होता है जिस-किसी तरह उपनयन संस्कार कर विवाह कर देना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि मध्वाचार्य भी स्त्रियों के उपनयन संस्कार के पृष्ठ-पोषक थे।

कादम्बरी महाकाव्य में महाकवि बाणभट्ट ने, जो ७वीं शताब्दी के ऐतिहासिक राजा हर्षवर्धन की सभा के रत्न थे, महाश्वेता का वर्णन करते हुए लिखा है—'**ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्**'—अर्थात्, जिसका शरीर ब्रह्मसूत्र के धारण के कारण पवित्र था। ब्रह्मसूत्र यज्ञोपवीत का ही दूसरा नाम है।

ब्रह्मसूत्र का अर्थ सूत्र-ग्रन्थों तथा संस्कृत के कोशों में यज्ञोपवीत किया गया है। इसे ब्रह्मसूत्र, यज्ञसूत्र, यज्ञोपवीत आदि अनेक नामों से स्मरण किया जाता है।

(२) कन्याओं को वेदाध्ययन का अधिकार था—वैदिक-संस्कृति में कन्याओं को बालकों के समान वेदाध्ययन का अधिकार था—यह बात अनेक वैदिक उद्धरणों से पुष्ट होती है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में कन्याओं के वेदाध्ययन की पुष्टि में अथर्ववेद (कां० ११, प्र० २४, अ० ३, मन्त्र १८) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि—'**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**'—इस मन्त्र का इसके सिवा क्या अभिप्राय हो सकता है कि कन्या ब्रह्मचारिणी रहकर युवा पति को प्राप्त होती है? ब्रह्मचारिणी वही कही जा सकती है जो उपनयनपूर्वक ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करती हुई, गुरु के आश्रम में रह चुकी हो। जो ब्रह्मचारिणी रही होगी उसका उपनयन-संस्कार अवश्य हुआ होगा, उसने यज्ञोपवीत अवश्य धारण किया होगा। इसके आगे वे लिखते हैं कि श्रौतसूत्रों में लिखा है—'**इमं मंत्रं पत्नी पठेत्**'—इस मन्त्र को पत्नी पढ़े! पत्नी मन्त्र को तभी पढ़ सकती है जब उसे वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त हो, इसके बिना वह वेद-मन्त्र कैसे पढ़ सकती है?

यजुर्वेद में स्त्री को '**स्तोम-पृष्ठा**' कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि वह वेद-मन्त्रों के विषय में पूछ-ताछ, जिज्ञासा करती रहती है। प्राचीन इतिहास में '**सुलभा**' का नाम प्रसिद्ध है। सुलभा का संकल्प था कि जो कोई उसे शास्त्रार्थ में परास्त कर देगा, वह उसीसे विवाह करेगी। सुलभा का यह निश्चय उसके अगाध पाण्डित्य का द्योतक है। मण्डन मिश्र की स्त्री विद्याधरी का शंकराचार्य-जैसे विद्वान् के सम्मुख मध्यस्थ बनना और फिर उनसे शास्त्रार्थ करना सिद्ध करता है कि स्त्रियों ने वेदाध्ययन के अपने अधिकार को कभी न छोड़ा था। बृहदारण्यकोपनिषद् (२-१) में गार्गी की कथा आती है। वहाँ लिखा है कि राजा जनक ने यह जानने के लिये कि उस समय का सबसे बड़ा विद्वान् कौन है, एक भारी सभा बुलाई। एक हजार गौओं को, जिन के सींग सोने से मढ़े हुए थे, एक जगह खड़ा कर दिया, और यह घोषणा कर दी कि जो सबसे अधिक विद्वान् हो वह इन गौओं को हाँक ले जाए। ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपने एक शिष्य को गौएँ हाँक ले जाने का आदेश दिया। उस

समय गार्गी वाचक्नवी ने भरी सभा में खड़े होकर याज्ञवल्क्य की विद्वत्ता की परीक्षा करने के लिये बहुत-से प्रश्न किये। गार्गी के इस व्यवहार से जहाँ उसकी विद्वत्ता तथा साहस का प्रमाण मिलता है, वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि उस समय वेद का अगाध ज्ञान रखनेवाली स्त्रियाँ समाज में मौजूद थीं। इतना ही नहीं, वेदों का ज्ञान रखने वाले जानते हैं कि वेद-मन्त्रों के अर्थों को स्पष्ट करनेवालों को 'ऋषि' कहा जाता है, '**ऋषयो मन्त्र-द्रष्टारः**'। भिन्न-भिन्न मन्त्रों के अर्थ भिन्न-भिन्न ऋषियों ने खोले हैं। कई वेद-मन्त्रों के अर्थ खोलने-वाली 'स्त्री-ऋषिकाएँ' भी हुई हैं। उदाहरणार्थ, लोपामुद्रा, श्रद्धा, सरमा, रोमशा, विश्ववारा, अपाला, यमी, घोषा आदि स्त्री-ऋषिकाएँ हैं, जिन्होंने वेदों के गूढ़ रहस्यों का साक्षात्कार किया था।

यद्यपि आजकल के युग में, जब कन्याएँ शिक्षा के तथा अन्य क्षेत्रों में बालकों से भी आगे बढ़ती दिखलाई दे रही हैं, यह सब कुछ लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है, तो भी प्राचीन वैदिक-विचारधारा को यथार्थरूप में समझने के लिये यह सब कुछ जान लेना आवश्यक है जो हमने ऊपर लिखा है। इससे स्त्रियों की शिक्षा के प्रति वैदिक-संस्कृति का क्या दृष्टिकोण था—यह स्पष्ट हो जाता है।

८. उपनयन संस्कार के समय की अवान्तर विधियाँ

(१) उपनयन से पहले भोजन—संस्कारविधि में लिखा है कि जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो उससे ३ दिन या १ दिन पूर्व ब्राह्मण का लड़का एक वार या अनेक वार सिर्फ दुग्धपान करे, क्षत्रिय का लड़का जौ का दलिया खाये और वैश्य का लड़का केवल श्रीखण्ड खाये। इसके लिये शतपथ ब्राह्मण का उल्लेख किया गया है जहाँ कहा है—''**पयोव्रतो ब्राह्मणः यवागूव्रतो राजन्यः आमिक्षाव्रतो वैश्यः**''—जब-जब लड़कों को भूख लगे तब-तब तीनों वर्ण के लड़के अपने-अपने नियत इन तीनों पदार्थों का सेवन करें, अन्य कोई पदार्थ न खायें।

ब्राह्मण बनने की इच्छा वाले बालक के लिये गोदुग्ध का सेवन इस बात का सूचक है कि उसने सात्विक-वृत्ति का बनना है। यवागू जौ को कहते हैं, अन्नों में जौ ताकत का सूचक है। इसीलिये घोड़ों को जौ खिलाया जाता है। होम्योपैथी में जौ का अरिष्ट (Avena Sativa) बल देने के लिये काम में लाया जाता है। तभी कहा—क्षत्रिय बनने की इच्छा वाले बालक को जौ के दलिये का सेवन करना चाहिये। वैश्य के लिये श्रीखण्ड का प्रयोग लिखा है क्योंकि श्री खण्ड—'श्री'—लक्ष्मी—के खण्ड का सूचक है। इन तीनों खाद्य-पदार्थों का तीन या एक दिन देना उन द्वारा प्राप्त होने वाले सामर्थ्य का प्रतीक है।

(२) उपनयन के समय बालक का आचार्य का कहना कि मुझे ब्रह्मचर्य धारण कराइये—'ब्रह्मचर्य', 'गुरुकुल', 'आचार्य' आदि शब्दों के तात्विक अर्थों के विषय में हम वेदारम्भ संस्कार पर लिखते हुए इनके अन्तर्हित भावों का स्पष्टीकरण

करेंगे, परन्तु यहाँ यह कह देना उपयुक्त है कि बालक जब आचार्य के पास आता है तब उसका उद्देश्य ब्रह्मचर्यपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करना होता है। उपनयन-संस्कार का प्रयोजन ही यह है कि बालक आचार्य के पास आकर प्रार्थना करता है कि मुझे ब्रह्मचर्य की दीक्षा दीजिये जिससे मैं एक उत्कृष्ट व्यक्ति बन सकूँ। चरित्र का निर्माण करते हुए या तो चरित्र को बाहर से थोपा जा सकता है या भीतर से उभारा जा सकता है। बाहर से थोपना चरित्र का आरोपण है, भीतर से उभारना चरित्र का आरोहण है। जब चरित्र को जबर्दस्ती थोपा जाता है तब वह जीवन का अंग नहीं बनता, जब वह भीतर से उभरता है तब वह जीवन का अंग बन जाता है। इसीलिये उपनयन संस्कार के समय बालक आचार्य के समीप जाकर कहता है—**'ब्रह्मचर्यमागाम् ब्रह्मचार्यसानि'**—मैं ब्रह्मचर्य के जीवन में दीक्षित होने के लिये, ब्रह्मचारी बनने के लिये, हे भगवन्! आपके पास आया हूँ, आप ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं ब्रह्मचारी बन जाऊँ। उपनयन का अभिप्राय यह है कि बालक के अन्तःकरण में, उसके भीतर से ब्रह्मचारी बनने की भावना उदय होती है, उसके अबतक जो संस्कार-पर-संस्कार किये जाते रहे हैं, उनका परिणाम यह होना चाहिये कि अब वह समझने लगे कि मेरा कुछ बनने वाला है, इसीलिये माता-पिता मुझे आचार्य के पास लाये हैं, ऐसा न हो कि वह आचार्य का आश्रम देखकर भाग खड़ा हो। जब बालक आचार्य को कहता है कि मुझे ब्रह्मचारी बनाइये, तब आचार्य उसे वस्त्र-उपवस्त्र धारण कराता है और कहता है कि जिस (आलंकारिक) रूप में देवताओं के आचार्य बृहस्पति ने इन्द्र को ज्ञान रूपी अमृत-वस्त्र पहनाया था **(येनेन्द्राय बृहस्पतिः वासः पर्यदधात् अमृतम्)** उसी अलंकार को दृष्टि में रखते हुए मैं भी तुझे वस्त्र धारण कराता हूँ, तुझे वस्त्र-उपवस्त्र पहनाता हूँ जो वस्त्र ज्ञानरूपी अमृत का प्रतीक है **(तेन त्वा परिदधामि आयुषे, दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे)**—ये वस्त्र उस ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य के जीवन के प्रतीक हैं, जिनसे तुझे दीर्घ आयु प्राप्त होगी, बल मिलेगा, तेज मिलेगा। इन वस्त्रों को वस्त्रमात्र मत समझना, जैसे ये वस्त्र तुझे ढक रहे हैं, वैसे ब्रह्मचर्य की शिक्षा रूपी वस्त्र तुझे ढक कर तेरी रक्षा करेंगे। इस विधि में आचार्य बालक को वस्त्र, उपवस्त्र तथा यज्ञोपवीत धारण करने के लिये देता है जो सब अलंकार के रूप में इस बात को इंगित कहते हैं कि जैसे शरीर की रक्षा उसे ढकनेवाले इन वस्त्रों से होती है, वैसे मन तथा आत्मा की रक्षा गुरुकुलवास से प्राप्त होने वाले ज्ञान से होती है, ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवनयापन से होती है।

(३) अनृत से सत्य पालन का पांच वार व्रत ग्रहण करना—किसी संकल्प को पूरा करने का एक ही तरीका है, और वह है समाज के सामने घोषणापूर्वक व्रत ले लेना। उपनयन-संस्कार के समय बालक आचार्य से ब्रह्मचर्य तथा विद्या ग्रहण करने की प्रार्थना करता है, परन्तु आचार्य उससे पूछ सकता है कि क्या तुम जो कुछ

पाने के लिये आये हो उसके लिये दृढ़ निश्चय कर आये हो ? बालक के मन में कोई दुविधा न रहे इसी कारण वह अग्नि, वायु, सूर्य चन्द्र तथा व्रतों के पति परमात्मा के नाम से शपथ खाता है कि मैं ब्रह्मचर्य-व्रत पालन की प्रतिज्ञा करता हूँ, हे आचार्य! मैं इस व्रत को आपके सम्मुख ग्रहण करता (**तत्ते प्रब्रवीमि**) हूँ, मुझे ऐसा सामर्थ्य दो कि उपनयन-संस्कार के अवसर पर ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करते हुए उसे निभाने में मैं समर्थ होऊँ (**तच्छकेयम्**)। इस प्रकार सभ्य-समाज के सम्मुख उपनयन-संस्कार के अवसर पर ब्रह्मचर्य-व्रत को ग्रहण करने को पाँच वार दोहराना बालक को आत्म-बल देता है, और वह इस व्रत को सफलतापूर्वक निभाने का प्रयत्न करता है। यह मनोविज्ञान का नियम है कि जो व्रत सबके सामने लिया जाता है उसे तोड़ते हुए आत्मा मनुष्य को धिक्कारता है, इसलिये वह उसका भंग करते समय बीस बार सोचता है। तभी ब्रह्मचर्य के इस व्रत को लेते हुए जहाँ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि देवताओं का नाम साक्षी रूप से उच्चारण किया जाता है, वहाँ साथ ही यह कहा जाता है कि मेरा यह व्रत झूठा न सावित हो जाए—'**इदमहं अनृतात् सत्यमुपैमि**'—मैं झूठा न बनूँ, सत्य प्रतिज्ञ सिद्ध होऊँ—यदि कभी व्रत-भंग की कमजोरी सामने आये, उस मय मेरा आत्मा मुझे धिक्कार कर अनृत से सत्य मार्ग पर डाल दे।

(४) आचार्य का संकल्प—विद्यार्थी के व्रत करने के बाद आचार्य पूर्वाभिमुख बैठकर विद्यार्थी को अपने सम्मुख बैठाकर स्वयं भी विद्यार्थी की उन्नति के लिये संकल्प करता है। वह कहता है कि इस मेरे समीप आनेवाले विद्यार्थी के साथ मेरा सदा सम्बन्ध बना रहे (**आगन्त्रा समगन्महि**), यह कभी मेरी आँखों से ओझल न हो, मानव-सुलभ कमजोरियों से यह बालक युद्ध करता रहे (**मर्त्यं सु प्रयुयोतन**), हम दोनों इस प्रेममय, हिंसा-रहित पर्यावरण में साथ-साथ विचरण करें (**अरिष्टाः संचरेमहि**), और यह बालक मेरे पास कल्याण को प्राप्त करे (**स्वस्ति चरतात् अयम्**)—जैसे उपनयन-संस्कार के समय बालक ने अनृतमय-जीवन को त्याग कर सत्य-मार्ग पर आरूढ़ होने का व्रत लिया, वैसे आचार्य ने बालक के जीवन को कल्याणमय बनाने का संकल्प लिया—दोनों ने एक-दूसरे के प्रति अपने को प्रेम-सूत्र में बाँध लिया।

(५) आचार्य द्वारा अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में तीन बार छोड़ना—जब बालक तथा आचार्य व्रत तथा संकल्प के द्वारा एक-दूसरे के साथ पुत्र तथा पिता के भाव से प्रेम-सूत्र में बँध जाते हैं, तब आचार्य अपनी अञ्जलि में जल भर कर शिष्य की जल-भरी अञ्जलि में छोड़ता है और शिष्य की अञ्जलि में जल आ जाने पर उस अञ्जलि को अंगुष्ठ सहित पकड़ कर उसमें भरे जल को पृथिवी पर छोड़ देता है। यह प्रक्रिया तीन बार की जाती है। इस सारी प्रक्रिया का गूढ़ रहस्य है। वह क्या है ?

शिष्य की अञ्जलि में जो जल है वह उसका अपना जन्मगत स्वाभाविक ज्ञान है। उसके ऊपर आचार्य अपनी अञ्जलि में जल भर कर रखता है। आचार्य की अञ्जलि में जो जल है वह आचार्य की अपनी विद्या है। आचार्य अपनी जल-भरी अञ्जलि को शिष्य की जल-भरी अञ्जलि में छोड़ देता है, अर्थात् वह अपनी विद्या को शिष्य तक पहुँच देता है। परन्तु शिष्य उसे अपने पास नहीं रखता, वह भी अपनी तथा आचार्य से प्राप्त सम्पूर्ण विद्या को पृथिवी पर फैला देता है, उसे अपने तक सीमित रखने के स्थान में सम्पूर्ण जगत् में बाँट देता है। यह क्रिया एक बार नहीं, तीन बार की जाती है ताकि बालक के इस व्रत तथा आचार्य के इस संकल्प में सन्देह की तनिक भी गुंजाइशन रहे। संस्कारों का काम, जैसा हमने बार-बार कहा है, भू-मण्डल में नव-मानव का निर्माण करना है। वह निर्माण तभी सम्भव हो सकता है जब वह खेल जो इन मन्त्रों द्वारा उपनयन संस्कार के समय खेला जाता है, घर-घर खेला जाए और देश का बच्चा-बच्चा वह व्रत ले, देश का एक-एक आचार्य वह व्रत ले, जो इन मन्त्रों द्वारा उपनयन-संस्कार के समय प्रत्येक बालक तथा प्रत्येक आचार्य को लेना है।

(६) बालक का सूर्यावलोकन—आचार्य तथा शिष्य द्वारा अपनी अञ्जलियों के जल को भूमि पर बिखेर देने के बाद सूर्यावलोकन की विधि की जाती है। आचार्य शिष्य को बाहर ले जाकर सूर्य के दर्शन कराता है। सूर्य के दर्शन का क्या अभिप्राय है? आचार्य तथा शिष्य ने अपनी अञ्जलियों के जल को बिखेर दिया, परन्तु क्या वह बिखर कर नष्ट हो गया? नहीं, उस जल को सूर्य की किरणें अपने सूक्ष्म हाथों से ऊपर उठा ले गईं, उसी प्रकार भूमि पर जहाँ-जहाँ भी जल बिखरा पड़ा था सूर्य ने नष्ट नहीं होने दिया, उस सबको उठाकर फिर बादल के रूप में उसे बरसा दिया। जल जमा होता है, बिखरता है, फिर सूर्य द्वारा उठाकर जमा कर लिया जाता है, फिर वह बरसता है—यह जल का निरन्तर बहते रहना ज्ञान के अखण्ड, अविरत प्रवाह का प्रतीक है, इसी भाव को व्यक्त करने के लिये गुरु अपनी अञ्जलि के जल को शिष्य की अञ्जलि के जल में डालता है, उसकी अञ्जलि के जल को पृथिवी पर बिखेर देता है, उसे बिखेर कर शिष्य को सूर्य का अवलोकन करने को कहता है, जिससे उसे पता चले कि जल नष्ट नहीं हुआ, सृष्टि के चक्र में वह सूर्य के माध्यम से सृष्टि में निरन्तर चक्कर काटता रहता है, ठीक इसी तरह ज्ञानरूपी जल आचार्य से शिष्य को, शिष्य से भूमि के कोने-कोने में बिखर कर जैसे सूर्य के द्वारा जल वैसे ज्ञानों के स्रोत भगवान् के द्वारा ज्ञान मानव-समाज के कल्याम के लिये निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। सूर्य के दर्शन का यह भी अभिप्राय है कि आचार्य शिष्य से आशा करता है कि वह सूर्य के समान संसार में ज्ञान का प्रकाश फैलायेगा। सूर्य के दर्शन कराने का एक अन्य अभिप्राय यह भी है कि बालक का जीवन सूर्य

की व्यवस्थित गति के समान नियन्त्रित हो—**'सूर्यस्य आवृतम् अन्वावर्तस्व'**—अर्थात्, जैसे सूर्य की गति समय द्वारा निश्चित है, वैसे तेरे जीवन का कार्यक्रम भी समय की डोरी से बँधा हो।

(७) शिष्य द्वारा आचार्य की प्रदक्षिणा—सूर्य-दर्शन के बाद बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके उसके सम्मुख बैठ जाता है। आचार्य की सूर्य से उपमा दी गई है, सूर्य के गिर्द पृथिवी प्रदक्षिणा करती है और सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होती है। शिष्य जब आचार्य को सूर्य के सदृश देखता है, तब अपने को पृथिवी के सदृश मानकर उसके गिर्द प्रदक्षिणा करता है और आचार्य रूपी सूर्य के प्रकाश से अपने को प्रकाशित करने की भावना को हृदय में धारण करता है।

(८) शिष्य का अंग-स्पर्श—जब बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके उसके सम्मुख बैठ जाता है, तब आचार्य उसके दायें कन्धे को स्पर्श करता है, उदर तथा हृदय को स्पर्श करता है, और बालक की मंगल कामना करता है। जब बालक को माता-पिता ने आचार्य के चरणों में सौंप दिया, तब आचार्य संसार की सब शक्तियों को सम्बोधन कर प्रार्थना करता है कि माता-पिता ने तो बालक को मुझे सौंपा है ताकि मैं इसके जीवन को सफल बना सकूँ, परन्तु मैं इकला क्या कर सकता हूँ—इसी भावना को लेकर आचार्य कहता है कि बालक को मुझे क्या सौंपा गया है, उसे मानो विश्व का निर्माण करने वाली सब शक्तियों के प्रति सौंपा गया है—मैं विश्व की सब शक्तियों की सहायता से इसे संसार का उत्तम मानव बनने का संकल्प करता हूँ।

उपनयन संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

कर्णवेध के बाद उपनयन-संस्कार किया जाता है। संस्कारों की शृंखला में यह दसवाँ संस्कार है। इसे किस आयु में किया जाए—इस सम्बन्ध में हम इस संस्कार के 'विवेचनात्मक भाग' में लिख आये हैं।

(१) जो सामान जुटाकर रखना चाहिये—देखो ६९-७०

(२) इस संस्कार के लिए विशेष सामान—तीन दिन या एक दिन व्रत रखने के लिए दूध, जौ का दलिया तथा श्रीखण्ड (आमिक्षा)*, व्रती के वस्त्र, अंगोछा आदि।

[तीन या एक दिन उपवास रखना]

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो, उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन या एक व्रत बालक को करना चाहिए। उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एक बार वा अनेक बार दुग्धपान, क्षत्रिय का लड़का यवागू अर्थात् जौ को मोटा दल के गुड़ के साथ पतली, जैसी कि कढ़ी होती है, वैसी बनाकर पिलावें और आमिक्षा (श्रीखण्ड—दही चौगुना, दूध एक गुना तथा यथायोग्य खाँड, केसर डाल के कपड़े में छानकर बनाया जाता है) को वैश्य का लड़का पीके व्रत करे। अर्थात्, जब-जब लड़कों को भूख लगे तब-तब तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों का ही सेवन करें, अन्य पदार्थ कुछ न खायें।

[क्षौर-कर्म तथा स्नान]

जिस दिन उपनयन करना हो उस दिन प्रात:काल बालक का क्षौर करा, शुद्ध जल से स्नान करावे, उत्तम वस्त्र पहना, यज्ञ-मण्डप में पिता वा आचार्य बालक को मिष्ठान्नादि का भोजन कराके, वेदि के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे। बालक का पिता भी बालक के साथ ही पूर्वाभिमुख बैठे। होता वेदि के पश्चिमासन पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु उत्तरासन दक्षिणमुख, उद्‌गाता पूर्वासन पश्चिममुख और ब्रह्मा दक्षिणासन उत्तरमुख बैठें। तत्पश्चात्, निम्न विधि करें—

[ऋत्विग्वरण, आचमन तथा अंग-स्पर्श]

यजमान ऋत्विज् को बोले—**ओमावसो: सदने सीद** (आसन पर बैठिये)। ऋत्विज् उत्तर दे—**ओं सीदामि** (हाँ बैठता हूँ)।

---

* 'तप्ते पयसि दध्यानयति साऽऽमिक्षा' (ब्राह्मण-वचन)—उबलते दूध में दही डालने पर जो घना भाग इकट्ठा हो जाता है, वह आमिक्षा कहाती है—श्री युधिष्ठिर मीमांसक।

'ऋत्विग्वरण' (पृष्ठ ७१) के बाद **'तीन आचमन'** (ओम् अमृतोपस्तरणमसि आदि, पृष्ठ ७१), **'अंग-स्पर्श'** (पृष्ठ ७२) की क्रिया करें। तत्पश्चात्, कार्यकर्ता बालक के मुख से निम्न वचन बुलवावें—

[आचार्य द्वारा बालक को वस्त्र देना]

बालक—ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि (ब्रह्मचर्य के लिये मैं आया हूँ, ब्रह्मचारी बनें)

आचार्य—ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधात् अमृतम्।
तेन त्वा परिदधामि आयुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे॥

जिस **(आलंकारिक)** रूप में देवताओं के आचार्य बृहस्पति ने **(पुरस्तात्)** पहले कभी ज्ञान रूपी अमृत वस्त्र पहनाया था उसी अलंकार को दृष्टि में रखते हुए मैं भी तुम्हें यज्ञोपवीत के रूप में दीर्घ आयु, बल तथा तेज प्राप्त करने के लिये यह जनेऊ रूपी वस्त्र पहनाता हूँ, अर्थात्—कहने को तो यह तीन तारों का एक वस्त्र-सरीखी वस्तु है, परन्तु यह उस ज्ञान की प्रतीक है जो मैं आचार्य के रूप में तुम्हें दूँगा।

[यज्ञोपवीत धारण कराना]

उक्त पाठ करके आचार्य यज्ञोपवीत हाथ में लेकर निम्न मन्त्र पढ़ कर बालक के गले में उसके बायें कन्धे के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दाहिने हाथ के नीचे बगल में निकाल कटि तक धारण कराये—

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ १॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि॥ २॥

—पार०गृ० २,२,११

शब्दार्थ—(यज्ञोपवीतम्) यह ब्रह्मसूत्र **(परमं)** अत्यन्त **(पवित्रं)** पवित्र है **(यत्)** जो **(पुरस्तात्)** पूर्वकाल से चला आता है **(प्रजापतेः)** प्रजापति के **(सहजं)** साथ ही आदिकाल से वर्तमान है। यह **(आयुष्यम्)** आयु के देनेवाला है **(अग्र्यम्)** जीवन में आगे-ही-आगे ले जानेवाला है, उसे **(प्रतिमुञ्च)** कन्धे पर छोड़। यह **(यज्ञोपवीतं)** यज्ञोपवीत **(शुभ्रं)** निर्मल है **(बलं)** बल को **(तेजः)** तेज को देने वाला **(अस्तु)** हो। हे बालक! तू **(यज्ञोपवीतम्)** यज्ञोपवीत **(असि)** है **(त्वा)** तुझे **(यज्ञोपवीतेन)** यज्ञोपवीत से **(उपनह्यामि)** अपने समीप लाता हूँ।

भावार्थ—यज्ञोपवीत आलंकारिक तौर पर आचार्य तथा शिष्य को एक-दूसरे के साथ बाँधने का प्रतीक है, तभी इसे (उप) निकट (नयन) ले जानेवाला कहा है—इस बाँधनेवाले धागे का महत्त्व यही है कि यह आचार्य तथा शिष्य के बीच

प्रेमसूत्र का स्थूल प्रतिनिधि है, इसीलिये इसे पवित्र कहा है, दोनों का सम्बन्ध जो पवित्र ठहरा।

[यज्ञारम्भ]

तत्पश्चात्, बालक को अपने दाहिने ओर साथ बैठा के **'ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना'** (पृष्ठ ३५), **'स्वस्तिवाचन'** (पृष्ठ ३९), **'शान्तिकरण'** (पृष्ठ ५५), **'अग्न्याधान'** (पृष्ठ ७२-७३), **'समिदाधान'** (पृष्ठ ७४-७७) **'जलप्रसेचन'** (पृष्ठ ७७) के पश्चात् घी की ४ **'आघारावाज्यभागाहुतियाँ'** (ओम अग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७८), ४ **'व्याहृति आहुतियाँ'** (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९), ८ **'अष्टाज्याहुतियाँ'** (ओं त्वन्नो अग्ने आदि, ८२-८५)—ये १६ घृत की आहुतियाँ दें।

[बालक के हाथ से इस संस्कार का प्रधान-होम]

तत्पश्चात्, इस संस्कार का 'प्रधान-होम' प्रारम्भ होता है। इस 'प्रधान-होम' में बालक के हाथ से शाकल्य की १५ आहुतियाँ दिलानी हैं—इन १५ का क्रम निम्न है—

४ **'पवमानी आहुतियाँ'** (ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि० पृष्ठ ८१)
५ **'व्रतपते० आज्याहुतियाँ'** (ये नीचे दी जा रही हैं)
४ **'व्याहृति आहुतियाँ'** (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९)
१ **'स्विष्टकृत् आहुति'** (ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचम्० पृष्ठ ८०)
१ **'प्राजापत्याहुति'**—मौन आहुति (ओं प्रजापतये स्वाहा, पृष्ठ ८०)

[व्रतपते० मन्त्रों की ५ आज्याहुतियाँ निम्न हैं]

ओं अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि तच्छकेयम्।
तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात् सत्यमुपैमि स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥
ओं वायो व्रतपते०.....स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ २॥
ओं सूर्य व्रतपते०....स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ ३॥
ओं चन्द्र व्रतपते०....स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ ४॥
ओं व्रतानां व्रतपते०....स्वाहा॥ इदमिन्द्राय व्रतपतेय स्वाहा॥

इन पाँच मन्त्रों में **'व्रतं चरिष्यामि'** इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र बोलना चाहिये। इन मन्त्रों में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा व्रतों के पति परमात्मा को सम्बोधन करके बालक कहता है कि **(व्रतं चरिष्यामि)** मैं व्रत लेता हूँ जिसे मैं आचरण में घटाऊँगा, **(तत्)** वह व्रत **(ते प्रब्रवीमि)** आपके सामने बोलकर ग्रहण करता हूँ **(तत्)** उसे **(शकेयम्)** पालन करने की मुझ में शक्ति हो **(तेन)** व्रत को पालन करने को मैं **(ऋध्यासम्)** सिद्ध कर सकूँ **(इदम् अहम्)** यह मैं **(अनृतात्)** अनृत से **(सत्यम्)** सत्य को **(उपैमि)** प्राप्त होता हूँ।

यह बात ध्यान देने की है कि उपनयन-संस्कार व्रतों को धारण करने का है, और उन व्रतों में सबसे मुख्य व्रत है—अनृत (झूठ) को छोड़कर सत्य को पाना संसार का विकास ही अनृत से सत्य की तरफ़ हो रहा है—'**सत्यमेव जयते**'।

[आचार्य तथा बालक का पारस्परिक परिचय]

उक्त प्रकार बालक के हाथ से कुल १५ आहुतियाँ दिये जाने के पश्चात् आचार्य यज्ञ-कुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठे और बालक आचार्य के सम्मुख पश्चिम में मुख करके बैठे। तत्पश्चात्, आचार्य बालक की ओर देखकर निम्न मन्त्र का जाप करें।

ओम् आगन्त्रा समगन्महि प्र सुमर्त्यं युयोतन।
अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्ति चरतादयम्॥

—मं०ब्रा० १, ६, १४, गोभिल २, १०, २०-२२

शब्दार्थ तथा भावार्थ—(आगन्त्रा) हम यहाँ आये हुए **(समगन्महि)** आपस में समागम करें, मेल-जोल करें **(सुमर्त्यं)** अच्छे आदमियों के साथ **(प्रयुयोतन)** मिलना-जुलना हो **(अरिष्टाः)** बिना एक-दूसरे के भय से **(संचरेमहि)** हम आश्रम में संचरण करें **(अयम्)** यह बालक जो आज ही आश्रम में प्रविष्ट हुआ है **(स्वस्ति)** सुखपूर्वक **(चरतात्)** विचरण करे।

माणवकवाक्यम्—"ओं ब्रह्मचर्यमागामुप मा नयस्व"॥

—मं०ब्रा० १, ६, १६, गोभिल २, १०, २०-२२

बालक आचार्य से प्रार्थना करता है कि मैं ब्रह्मचर्य धारण करना चाहता हूँ, मेरा उपनयन संस्कार कीजिये ताकि मैं आपके निकट रहकर ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर सकूँ—**(मा)** मुझे **(उप)** अपने निकट **(नयस्व)** लाइये।

आचार्योक्तिः—"को नामासि"॥

—मन्त्र ब्रा० १, १६, १७, गोभिल १, १०, २२

आचार्य पूछता है कि तेरा नाम क्या है?

बालकोक्तिः—"एतन्नामास्मि"॥ —मं० ब्रा० १, ६, १८

बालक अपना नाम लेकर आचार्य को अपना परिचय देता है।

[बालक की अञ्जलि में जल भरना]

आचार्य निम्न तीन मन्त्रों को पढ़कर बटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि को शुद्ध जल से भर दे—

ओम् आपो हिष्ठा मयोभुवस्ता नऽ ऊर्जे दघातन। महे रणाय चक्षसे॥ १॥

शब्दार्थ—(आपः) हे जलो! **(हि)** निश्चय से **(मयोभुवः)** सुख देनेवाले **(ष्ठा=स्थः)** हो **(ता)** वह सुख **(नः)** हमें **(ऊर्जे)** बल प्राप्ति के लिये **(दधातन)** दो ताकि हम **(महे)** महान् बड़े **(रणाय)** रणों को **(चक्षसे)** देख सकें।

भावार्थ—जल यहाँ वीर्य का उपलक्षक है, तभी जल से ओज तथा बल माँगा गया है। हम इतने बलशाली, वीर्यवान् हों कि बड़े-बड़े युद्धों को हम देखें, अर्थात् उनमें विजय प्राप्त करें।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ २॥

शब्दार्थ—(**वः**) हे वीर्य के प्रतीक जलो! तुम्हारा (**यः**) जो (**शिवतमः**) कल्याणप्रद (**रसः**) रस है (**तस्य**) उसका (**इह**) यहाँ (**नः**) हमे (**भाजयत**) सेवन कराओ (**उशतीः**) चाहती हुई (**मातरः**) माताओं की (**इव**) तरह।

भावार्थ—जैसे माता पुत्र के प्रेम में अपना दुग्ध-रस बच्चे को पिलाती है, वैसे हे वीर्य रूप जलो! तुम अपना कल्याणप्रद रस हमें दो ताकि हम वीर्यशाली होकर शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें।

तस्माऽ अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः॥ ३॥ —यजु० ३६, १४-१६

शब्दार्थ—(**यस्य**) जिसके (**क्षयाय**) क्षय या पराजय से (**वः**) आप (**जिन्वथ**) तृप्त होते हो—(**तस्मा**) उसके लिये हम (**अरम्**) पूर्ण रूप से (**गमाम्**) जाते हैं—जिसका पराजय आप चाहते हो हम भी पूर्ण रूप से उसके पराजय के लिये आपके साथ हैं (**च**) और (**आपः**) हे वीर्य के प्रतीक जलो! (**नः**) हमें (**जनयथ**) जीवन दो।

भावार्थ—जो वीर्य का क्षय करता है, वीर्य के प्रतीक जल उसका क्षय ही चाहते हैं, वह उभरता नहीं। आचार्य कहते हैं कि हम भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि वीर्य के क्षय से कोई फलता-फूलता नहीं। आचार्य बालक से कहते हैं कि ऐसा जीवन बनाओ जिससे वीर्य-क्षय न हो और वीर्य की रक्षा करने से तुम्हारे जीवन की रक्षा हो।

[आचार्य अपनी अञ्जलि में जल भर कर बालक की अञ्जलि में छोड़े]

उक्त तीन मन्त्रों से बालक की अञ्जलि में जल भर कर आचार्य अपनी अञ्जलि में जल भरे और निम्न मन्त्र पढ़ते हुए अपनी अञ्जलि का जल बालक की जलभरी अञ्जलि में छोड़े। जिस मन्त्र को पढ़कर जल छोड़े वह मन्त्र निम्न है—

ओं तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि॥ —ऋ० ५।८२।१

शब्दार्थ—(**सवितुः देवस्य**) सविता देव का—सूर्य का (**वयम्**) हम (**श्रेष्ठम्**) श्रेष्ठ (**सर्वधातमम्**) सब गुणों के धारण करने वाले (**भोजनम्**) भोजन का (**वृणीमहे**) वरण करते हैं जो (**भगस्य**) कल्याण को (**तुरम्**) त्वरा से—शीघ्रता से—देता है (**धीमहि**) उसका हम ध्यान करते हैं।

भावार्थ—जल का वर्णन चल रहा है। जल किसका भोजन है? जल सविता—सूर्य—का भोजन है क्योंकि सूर्य अपनी किरणों से जहाँ भी जल हो उसे खींच लेता है। जल सबसे श्रेष्ठ भोजन है, सब गुण इसमें मौजूद हैं, भोजन के बिना मनुष्य रह सकता है, जल के बिना नहीं रह सकता। उपवास के समय भी जल पीना नहीं छोड़ा जाता। यह तुरन्त कल्याण करता है। तभी ब्रह्मचारी को जो उपदेश दिया गया है उसमें कहा है—'अपो अशान'—जल का सेवन करते रहना।

[बालक की अञ्जलि का जल नीचे छोड़ना]

निम्नलिखित मन्त्र पढ़कर बालक की अञ्जलि का पानी उसकी अंगुष्ठ सहित हस्ताञ्जलि को पकड़ कर नीचे रक्खी थाली या परात में छुड़वा देवे।

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ॥ —यजु० ५, २६, आश्व गु० १, २०, ४

'असौ' की जगह बालक का नाम सम्बोधनान्त कहे—उदाहरणार्थ, **''गृह्णामि धर्मदेव!''**

शब्दार्थ—आचार्य कहता है—**(सवितुः देवस्य)** सविता देव के **(त्वा प्रसवे)** तेरे उत्पन्न होने में मैं तुझे **(अश्विनोः)** अश्वियों के **(बाहुभ्याम्)** बाहुओं से तथा **(पूष्णोः)** पोषण करनेवालों के **(हस्ताभ्याम्)** दोनों हाथों से **(त्वा)** तुझे **(गृह्णामि)** ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—जल का वर्णन करते-करते सविता का वर्णन आ गया। आचार्य कहता है कि ए बालक! तू सूर्यदेव का पुत्र है। तेरा सूर्यदेव से प्रसव हो रहा है क्योंकि तेरे जीवन का लक्ष्य सूर्य की तरह प्रकाशमान होकर सूर्य-पुत्र समान बनना है। तेरे इस प्रसव के समय मैं अश्वियों की भुजाओं से तथा पोषा के हाथों से तुझे ग्रहण करता हूँ ताकि जीवन में तुझे कोई रोग न हो, न ही तेरे पोषण में कोई कमी हो।

[दूसरी वार जलाञ्जलि की क्रिया]

जलाञ्जलि की जो क्रिया प्रथम वार की गई है, उसी प्रकार दूसरी वार भी वही क्रिया करे। अर्थात्, पहले 'ओं आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता०' आदि तीनों मन्त्रों से बालक की अञ्जलि भरे, फिर 'ओं तत्सवितुर्वृणीमहे०' मन्त्र पढ़कर अपनी जलभरी अञ्जलि का जल बालक की जलभरी अञ्जलि में छोड़े, फिर बालक की अंगुष्ठ-सहित अञ्जलि पकड़ कर निम्न मन्त्र से पात्र में जल छुड़वा दे। द्वितीय वार जल छुड़वाने का मन्त्र निम्न है—

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत् असौ (**'असौ'** की जगह बालक का सम्बोधनान्त नाम कहे। उदाहरणार्थ—'हे धर्मदेव! आश्वलायन १, २०, ५)'

[तीसरी वार जलाञ्जलि की क्रिया]

जलाञ्जलि की जो क्रिया प्रथम तथा द्वितीय वार की गई है, उसी प्रकार तीसरी वार भी वही क्रिया करे। अर्थात्, पहले '**ओं आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता**' आदि तीनों मन्त्रों से बालक की अञ्जलि में जल भरे, फिर '**ओं तत्सवितुर्वृणीमहे**' मन्त्र पढ़ कर अपनी जलभरी अञ्जलि का जल बालक की जलभरी अञ्जलि में छोड़े, फिर बालक की अङ्गुष्ठसहित अञ्जलि पकड़कर निम्न मन्त्र से पात्र में जल छुड़वा दे। तृतीय वार जल छुड़वाने का मन्त्र निम्न है—

ओम् अग्निराचार्यस्तव असौ ('**असौ**' की जगह बालक का सम्बोधनान्त नाम कहे। उदाहरणार्थ—'हे धर्मदेव')!

—मं० ब्रा० १, ६, १५, आश्व० १, २०, ५

[सूर्य-दर्शन]

आचार्य बालक के साथ सूर्य के सामने खड़ा हो जाय, फिर निम्न दो मन्त्रों को पढ़ कर बालक को सूर्य का दर्शन करावे—

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी तं गोपाय स मामृत॥ १॥

—आश्व० गृ० १, २०, ६

शब्दार्थ—सविता—सूर्य—को सम्बोधित कर यहाँ कहा है—हे (**देव सवितः**) हे देव (**एष ते ब्रह्मचारी**) यह तेरा ब्रह्मचारी है (**तं**) उसकी (**गोपाय**) रक्षा करो (**स**) वह (**मा**) मत (**मृत**) मरे—अर्थात् वह चिरञ्जीवी हो।

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥ २॥*

—यजु० ३६।८

[आचार्य की प्रदक्षिणा]

आचार्य यज्ञ-मण्डप में आकर उत्तर मे बैठ जाये, फिर निम्नलिखित मन्त्र पढ़े—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।

शब्दार्थ—(**युवा**) युवक (**सुवासाः**) शोभन वस्त्रों को धारण कर (**परिवीत**) यजेपवीत पहन कर (**आगात्**) आया है (**स उ**) और वह (**जायमानः**) नवीन जन्म लेता हुआ—उपनयन-संस्कार होने पर बालक 'द्वि-जन्मा'—'द्विज'—कहलाता है, इसलिये यहाँ बालक को 'जायमानः' कहा है (**श्रेयान् भवति**) पहले से उत्तम जन्म ले रहा है।

भावार्थ—संस्कार-पद्धति का काम श्रेष्ठतर मानव का, नव-मानव का निर्माण करना है, वही भाव 'द्विज'—'द्विजन्मा' तथा 'जायमानः' से ध्वनित होता है, उसकी

---

* 'शान्तिकरण' (पृष्ठ ....) में इसका अर्थ दिया है।

तरफ ही इस मन्त्र में इशारा है।

ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व असौ[१]।

—क्रमशः, ऋक् ३, ८, ४ तथा मन्त्र ब्रा० १, ६, २०

शब्दार्थ—हे ब्रह्मचारी **(सूर्यस्य)** सूर्य के **(आवृतम्)** चारों तरफ गोलाई में भ्रमण के मार्ग का **(अनु आ वर्तस्व)** अनुवर्तन, उसके पीछे चलो—सूर्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर उसके तेजस्विता आदि गुणों को अपने भीतर धारण करो। सूर्य तेजोमय है, उसका समय बँधा है, वह लेता नहीं प्रकाश देता है—ये गुण धारण करो।

तत्पश्चात्, बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके उसके सामने बैठे।

[आचार्य द्वारा बालक का अङ्ग-स्पर्श]

आचार्य अपने दाहिने हाथ से बालक का दाहिना कन्धा स्पर्श करे। फिर अपने हाथ को बालक के दुपट्टे से ढक ले और निम्न मन्त्र पढ़ें—

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्त्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम्॥ १॥

यहाँ बालक का द्वितीयांतक **(धर्मदेवम्)** नामोच्चारण करे।

—गो० २, १०, २८

शब्दार्थ—गोभिलीय गृह्यसूत्र के अनुसार 'प्राणानाम् ग्रन्थिरसि'—यह वाक्य नाभि को स्पर्श करते हुए कहा जाता है। इसलिये इसका अर्थ हुआ—हे नाभि! **(प्राणानाम् ग्रन्थिः असि)** तू प्राणों की—जीवन की—गाँठ है, तेरे में प्राण जुड़े हुए हैं, तभी तो नाभि से ही शिशु माता से जीवन ग्रहण करता है। **(मा विस्त्रसः)** इस बालक का प्राण स्त्रवण न हो, इसका प्राण स्थिर रहे (हे अन्तक) मृत्य का अन्त करनेवाले! **(अमुम्)** इस बालक को **(इदम् ते परिददामि)** यह तुझे देता हूँ—तेरी रक्षा के इसे सुपुर्द करता हूँ।

उक्त मन्त्र को बोलने के पश्चात्—

ओम् अहुर इदं ते परिददामि, अमुम्॥ २॥ —मं० ब्रा० १, ६, २२

इस मन्त्र से उदर पर, और बालक का द्वितीयान्तक नामोच्चारण करे,

ओं कृशन इदं ते परिददामि, अमुम्॥ ३॥ —मं०ब्रा० १, ६, २३

इस मन्त्र से हृदय और बालक का द्वितीयान्तक नाम ले,

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि, असौ॥ ४॥ —मं०ब्रा० १, ६, २४

इस मन्त्र को बोल के दक्षिण स्कन्ध और बालक का सम्बोधनात्मक नाम ले,

ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ॥ ५॥ —मं०ब्रा० १, ६, २५

इस मन्त्र को बोल के वाम हाथ से बायें कन्धे पर स्पर्श करे और बालक का

---

१. असौ के स्थान पर बालक का सम्बोधनान्त नाम ले। उदाहरणार्थ—"हे! धर्मदेव!"

सम्बोधनात्मक नाम ले।

शब्दार्थ—उक्त मन्त्रों में कहा गया है कि हे **(अहुर)** सम्भवतः यह 'असुर' का अपभ्रंश है जो पारसी धर्म में पाया जाता है—अहुर अर्थात् असु=प्राण—प्रण देने वाले! मैं इस बालक को तेरे सुपुर्द करता हूँ, **(कृशन)**—कृश करनेवाली शक्ति के सुपुर्द करता हूँ, वह इसकी रक्षा करें, **(प्रजापति)** प्रजाओं के स्वामी के सुपुर्द करता हूँ—**(सविता)** देव के सुपुर्द करता हूँ—सब शक्तियों से याचना करता हूँ कि वे इसकी रक्षा करें।

उक्त मन्त्रों को बोल के वाम हाथ से बाएँ स्कन्ध पर स्पर्श करके, बालक के हृदय पर हाथ धरके निम्न मन्त्र बोलें—

ओं तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥ ६॥

—ऋ० ३।१।८, अथर्व० १।२०।९

शब्दार्थ—**(तं)** उस बालक को **(धीरासः)** धीर लोग **(कवयः)** कवि लोग **(स्वाध्यः)** स्वाध्यायशील लोग **(मनसा देवयन्तः)** मन से उसे दिव्यशक्ति सम्पन्न बनानेवाले **(उन्नयन्ति)** ऊपर-ऊपर उठा कर ले जाते हैं—अर्थात्, यह बालक जिसका उपनयन-संस्कार हुआ है, उसकी उन्नति में समाज के सब श्रेष्ठ-वर्ग योगदान देने के लिये उद्यत हैं।

उक्त मन्त्र को बोल के आचार्य सम्मुख रहकर बालक के दक्षिण हृदय पर अपना हाथ रखके निम्न मन्त्र बोले—

[आचार्य तथा बालक की पारस्परिक प्रतिज्ञा]

ओं मम व्रते ते हृदय दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

—पार०कां० २, कं० २, १६

यह मन्त्र आचार्य तथा शिष्य दोनों की एक-दूसरे के प्रति प्रतिज्ञा है। इस मन्त्र से इस बात पर विशेष प्रकाश पड़ता है कि अनुशासन के लिये जिम्मेदारी का प्रश्न एकतरफा नहीं, दोतरफा है—गुरु तथा शिष्य दोनों की एक-समान जिम्मेदारी है, दोनों को एक-दूसरे के प्रति सहयोग का व्रत लेना है।

आचार्य उक्त प्रतिज्ञा-मन्त्र बोले। पश्चात्, बालक को बोलने की आज्ञा दे। अर्थात्, हे शिष्य बालक! तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूँ, तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्रमन हो प्रीति से सुनकर उसके अर्थ का सेवन किया कर, और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति, परमात्मा तुझको मुझसे युक्त करे।

इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि—हे आचार्य! आपके हृदय को मैं अपने कर्म अर्थात् उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ। मेरे

चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आपको सदा नियुक्त रक्खे।

इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके—

[आचार्य तथा बालक का पारस्परिक परिचय]

आचार्योक्तिः—को नामाऽसि॥ तेरा क्या नाम है?

बालकोक्तिः—(असौ) अहम्भोः॥ जो नाम हो वह बोल कर उत्तर देवे।

आचार्यः—कस्य ब्रह्मचार्यसि॥ तू किसका ब्रह्मचारी है?

बालकः—भवतः॥ आपका ब्रह्मचारी हूँ।

आचार्य बालक की रक्षा के लिये निम्न मन्त्र का उच्चारण करे—

इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव असौ*।

—पार०कां० २२, कं० २२, २१

शब्दार्थ—**(इन्द्रस्य)** तू इन्द्र का **(ब्रह्मचारी असि)** ब्रह्मचारी है, **(अग्निः)** अग्नि **(तव)** तेरा **(आचार्यः)** आचार्य है **(अहम्)** मैं **(तव)** तेरा **(आचार्यः)** आचार्य हूँ।

भावार्थ—आचार्य ने बालक से पूछा था कि तू किसका ब्रह्मचारी है? बालक ने उत्तर दिया—मैं आपका ब्रह्मचारी हूँ। आचार्य कहते हैं—तू मेरा ब्रह्मचारी तो है ही, परन्तु तू समझ ले कि तू इन्द्र का—परमैश्वर्ययुक्त भगवान्—का ब्रह्मचारी है, तू अग्नि—आगे-आगे ही चलने की प्रेरणा देनेवाली शक्ति—का ब्रह्मचारी है। तूने मेरे आचार्यत्व में इन भावनाओं को लेकर अपने जीवन का विकास करना है।

इस मन्त्र को बोल के, बालक की रक्षा के लिये आचार्य निम्न मन्त्रों को बोले—

ओं कस्य ब्रह्मचार्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि॥ १॥ —आश्व० १।२०।७

शब्दार्थ—**(कस्य)** किसका तू **(ब्रह्मचारी असि)** ब्रह्मचारी है? तू **(प्राणस्य)** प्राण का **(ब्रह्मचारी असि)** ब्रह्मचारी है **(कः त्वा उपनयते)** कौन तेरा उपनयन संस्कार करता है? **(कम् त्वा उपनयते)** किसके प्रति तेरा उपनयन करता है? **(काय)** किसके प्रति **(त्वा)** तुझे **(परिददामि)** सुपुर्द करूँ? अगले मन्त्र में उत्तर है—

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि। देवाय त्वा सवित्रे परिददामि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्य परिददामि। द्यावापृथिवीभ्यां त्वा परिददामि। विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि। सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्टयै॥ २॥

—पार०कां० २, कं० २, २१

---

* 'असौ'—इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिये।

शब्दार्थ—(**प्रजापतये त्वा परिददामि**) प्रजाओं के पति भगवान् के प्रति तुझे सुपुर्द करता हूँ, (**सवित्रे देवाय**) दिव्य-गुण-युक्त सविता के प्रति (**त्वा परिददामि**) तुझे सुपुर्द करता हूँ (**अद्भ्यः**) जलों के प्रति (**ओषधीभ्यः**) औषधियों के प्रति (**त्वा परिददामि**) तुझे सुपुर्द करता हूँ (**द्यावा पृथिवीभ्यां**) द्यु और पृथिवी लोक के प्रति (**त्वा परिददामि**) तुझे सुपुर्द करता हूँ (**विश्वेभ्यः देवेभ्यः**) सब देवों के प्रति (**त्वा परिददामि**) तुझे सुपुर्द करता हूँ। (**सर्वेभ्यः भूतेभ्यः**) सब प्राणियों के प्रति (**त्वा**) तुझे (**अरिष्ट्यै**) तेरे भले के लिये (**परिददामि**) तुझे सौंपता हूँ।

भावार्थ—यद्यपि तेरे माता-पिता ने मुझ पर भरोसा रख कर तुझे मुझ आचार्य के प्रति सौंपा है, तेरी रक्षा का, तेरे शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास का काम मेरे सुपुर्द है, तो भी मैं सृष्टि की सब शक्तियों पर भरोसा रखता हूँ कि वे तुझे अपना समझ कर तेरी हर तरह से रक्षा करेंगी। जैसे तेरे माता-पिता ने तुझे मेरे भरोसे पर छोड़ा, वैसे मैं तुझे प्रजाओं के पति भगवान्, दिव्यगुणयुक्त सविता के भरोसे छोड़ता हूँ। सृष्टि की जीवनदात्री शक्तियाँ—जल, वनस्पति, औषधियाँ, द्युलोक, पृथिवी-लोक, सब दिव्य-शक्तियाँ, सब प्राणी तुझे अपना मान कर तेरी रक्षा करें।

उक्त मन्त्रों को बोल बालक को शिक्षा करे कि—'तू प्राण आदि की विद्या के लिये यत्नवान् हो।'

[पूर्णाहुति तथा आशीर्वाद]

तत्पश्चात्, 'सर्वं वै पूर्णं꣡ स्वाहा' से तीन बार पूर्णाहुति करके सब लोग उपनीत अथवा उपनीता को आशीर्वाद दें।

यह उपनयन संस्कार पूरे हुए पश्चात् यदि उसी दिन वेदारम्भ करने का विचार पिता और आचार्य का हो, तो उस दिन करना और जो दूसरे दिन का विचार हो तो आर्चिक और महावामदेव्यगान (पृष्ठ ......) करके, संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता और पुरुषों का बालक का पिता सत्कार करके विदा करे और माता-पिता, आचार्य, सम्बन्धी, इष्ट मित्र सब मिल के निम्न मन्त्र बोल कर आशीर्वाद दें—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः, आयुष्मान् तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः।

(बालक के लिये—यह आशीर्वाद बोलें)

ओं त्वं जीव शरदः शतम् वर्धमाना, आयुष्मती, तेजस्विनी, वर्चस्विनी भूयाः॥ —(बालिका के लिये—यह आशीर्वाद बोलें)

॥ इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

वेदारम्भ संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

जैसा हम उपनयन-संस्कार पर लिखते हुए कह आये हैं, उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कारत एक-दूसरे से इतने जुड़े हुए हैं कि इन दोनों में भेद करना कठिन है। ऋषि दयानन्द संस्कारविधि में लिखते हैं कि जो दिन उपनयन-संस्कार का है, वही दिन वेदारम्भ का है। यदि वेदारम्भ उसी दिन न हो सके तो दूसरे दिन कर ले। यदि दूसरा दिन भी अनुकूल न हो तो एक वर्ष के भीतर किसी दिन करें। अगर उपनयन-संस्कार करने के पश्चात् उसी दिन वेदारम्भ करना हो, तो वेदारम्भ में ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण से लेकर सामान्य प्रकरण के अन्त तक की यज्ञ-सम्बन्धी प्रक्रिया को दोबारा दोहराने की आवश्यकता नहीं। अन्यथा, वेदारम्भ-संस्कार के विधि-भाग में हम जो प्रक्रिया लिख रहे हैं, उसके अनुसार यज्ञ करें।

उपनयन-संस्कार तो घर-घर होता है, वेदारम्भ-संस्कार सिर्फ गुरुकुलों में होता है, फिर भी वेदारम्भ-संस्कार का वैदिक शिक्षा-प्रणाली को समझने में बड़ा महत्त्व है। वेदारम्भ-संस्कार शिक्षा प्रारम्भ करने का संस्कार है। इस संस्कार में 'गुरु', 'कुल', 'आचार्य', 'शिष्य', 'ब्रह्मचारी' आदि शब्दों को समझने की आवश्यकता है। संस्कारों का काम बालक को सब तरह से सुसंस्कृत करना है, और इस प्रक्रिया में शिक्षा का सबसे बड़ा हाथ है। 'शिक्षा' की समस्या के सम्बन्ध में वैदिक दृष्टिकोण क्या है—यह समझना इसलिये आवश्यक है क्योंकि 'शिक्षा' ही तो मनुष्य को मनुष्य बनाती है, नहीं तो वह निरा पशु रह जाता है। वेदारम्भ-संस्कार के रहस्य को समझने के लिये यह समझ लेना आवश्यक है कि वैदिक-शिक्षा-प्रणाली क्या थी, उसका वैज्ञानिक आधार क्या था। इस प्रकरण में हम 'शिक्षा' के सम्बन्ध में अनेक विषयों की चर्चा करेंगे जिनसे वैदिक-शिक्षा-प्रणाली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा।

१. 'बालक' शिक्षा का केन्द्र था

वैदिक-काल के शिक्षा-शास्त्रियों ने 'बालक' को शिक्षा का केन्द्र माना था। आज यह बात कहने को अत्यन्त सरल मालूम पड़ती है, परन्तु जो युरोप में शिक्षा के इतिहास को जानते हैं, उन्हें मालूम है कि एक लम्बे-चौड़े युग में से गुजरने के बाद शिक्षा-जगत् में यह कहा जाने लगा है कि शिक्षा का केन्द्र 'बालक' होना चाहिये, नहीं तो शिक्षक, स्कूल की बिल्डिंग, पढ़ाई-लिखाई के घण्टे, पाठ्यक्रम ही शिक्षा

का मुख्य-विषय माना जाता रहा, बालक के विषय में—उसके विषय में जिसके लिये यह सब कुछ था—शिक्षा-जगत् में कोई चर्चा ही नहीं थी। शिक्षा की वैदिक-विचारधारा में 'बालक' को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है कि उसी के जन्म-सुधार के लिये सोलह संस्कारों की कल्पना की गई है। वैदिक ऋषियों का कथन है कि बालक पर निम्न तीन प्रकार के संस्कार प्रभाव डालते हैं जिन पर नियन्त्रण रखना शिक्षा का काम है—

(१) उसके अपने पिछले जन्म के संस्कार

(२) माता-पिता के संस्कार

(३) पर्यावरण द्वारा पड़ने वाले इस जन्म के संस्कार

बालक की शिक्षा क्या है, मानो 'संस्कारों' का ही एक खेल है, शिक्षा का प्रश्न संस्कारों का ही प्रश्न है। वैदिक शिक्षा-शास्त्री 'कर्म' तथा 'पुनर्जन्म' के सिद्धान्त को भी मानते थे, इसलिये वे संस्कारों को एक गम्भीर प्रश्न समझते थे क्योंकि मानव के निर्माण में सिर्फ पर्यावरण हो एकमात्र घटक-तत्त्व नहीं है, पर्यावरण के साथ-साथ माता-पिता के संस्कार, बालक के अपने पूर्व-जन्म के संस्कार—सभी हिस्सा लेते हैं, इसीलिये अच्छे-से-अच्छे पर्यावरण में व्यक्ति नीचे-से-नीचे भी गिर जाता है, बुरे-से-बुरे पर्यावरण में वह ऊँचे-से-ऊँचे भी उठ जाता है। यही कारण है कि जन्मभर बालक को ऐसे संस्कारों से घेर दिया जाता था, जिनकी चोट से उसके व्यक्तित्व को बनाया जा सके।

संस्कारों से मानव के व्यक्तित्व का निर्माण कैसे हो जाता है—इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भारत की अंग्रेजों के समय से चल रही शिक्षा-प्रणाली है। अंग्रेजों ने अपने शासन-काल में जब भारतीय-शिक्षा पर ध्यान दिया, तब उनके सामने पहला प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि शिक्षा के द्वारा वे कैसे युवक उत्पन्न करना चाहते हैं। इस प्रश्न का समाधान करने के लिये एक कमेटी बनाई गई जिसकी रिपोर्ट १८३५ में लॉर्ड मैकाले (१८००-१८५९) ने लिखी। उन्होंने इस रिपोर्ट में लिखा कि हमें ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने हैं जो शरीर से भारतीय हों, परन्तु रहन-सहन, वेश-भूषा, बोल-चाल, विचारों में अंग्रेज हों। शिक्षा के इस उद्देश्य के साथ १८३५ में जिस प्रकार के संस्कारों के युवकों को उत्पन्न करने की नींव डाली गई वह ईंट-गारे की नींव नहीं थी, लोहे और सीमेंट की नींव थी, जो अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी वैसी-की-वैसी खड़ी है। अंग्रेज चले गए, परन्तु घर-घर अंग्रेज मौजूद हैं, इसलिये मौजूद हैं, क्योंकि सवा सौ साल तक हमारे युवकों के मस्तिष्क पर जिन संस्कारों की चोट लगातार पड़ती रही, उससे भारतीय मस्तिष्क का अंग्रेज-मस्तिष्क बन जाना स्वाभाविक था। अंग्रेजी शिक्षा के संस्कारों ने जिस प्रकार के युवक का निर्माण करना था वह अंग्रेजों के चले जाने के बरसों बाद भी वैसे-का-वैसा यहाँ मौजूद है।

२. प्रसव-पूर्व तथा प्रसवोत्तर काल के संस्कार

बालक की शिक्षा में संस्कारों के इतने महत्त्व को अनुभव करते हुए वैदिक शिक्षा-शास्त्रियों ने संस्कारों को दो भागों में बाँटा था। कुछ संस्कार प्रसव-पूर्व—Prenatal—तथा कुछ प्रसव के बाद—प्रसवोत्तर—Postnatal—संस्कार हैं। प्रसव-पूर्व-संस्कार हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन। क्योंकि माता-पिता के संस्कारों का बालक पर गहरा प्रभाव पड़ता है, इसलिये गर्भाधान को एक महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है, जिस पर वर्तमान समाज का बिल्कुल ध्यान नहीं है। गर्भाधान के समय माता-पिता को यह समझना चाहिए कि किसी ऊँची आत्मा का आह्वान कर रहे हैं, सिर्फ विषय-भोग का परिणाम सन्तान को नहीं समझना चाहिये। विचारों में बड़ा बल है। यू०एन०ओ० की घोषणा है कि संसार के युद्ध मन की भूमि में लड़े जाते हैं। अगर इतने बड़े-बड़े युद्ध मन की भूमि में उपजते हैं, तो क्या सन्तान पर संस्कार उस समय नहीं डाले जा सकते जब उसका बीज वपन किया जाता है। जब जीव माता के गर्भ में प्रवेश कर जाए और उसका शारीरिक-विकास होने लगे, तब 'पुंसवन-संस्कार' किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि माता ऐसा अन्न खाये, ऐसा रहन-सहन रखे जिससे बालक का शारीरिक-विकास ठीक दिशा की तरफ चल सके। पुंसवन के बाद सातवें-आठवें मास 'सीमन्तोन्नयन-संस्कार किया जाता है। सीमन्त में माता अपने सिर में तेल लगाती है, कंघी करती है, मस्तिष्क पर विशेष ध्यान देती है। यह वह समय है जब गर्भस्थ-शिशु के मस्तिष्क का निर्माण होने लगता है। इस संस्कार का उद्देश्य यह है कि माता शिशु के मस्तिष्क के समुचित-विकास का विशेष ध्यान रखेगी। शिशु के उत्पन्न होने के अनन्तर जो संस्कार किए जाते हैं—प्रसवोत्तर-संस्कार—(Postnatal)—वे हैं अन्नप्राशन, निष्क्रमण, कर्णवेध आदि। ये संस्कार स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, और इन सब पर इतना बल वैदिक-संस्कार-पद्धति में इसीलिये दिया जाता है, क्योंकि वैदिक दृष्टिकोण यह है कि बालक के जीवन का निर्माण तभी से प्रारम्भ नहीं होता जब वह छः या सात वर्ष का होने के बाद स्कूल में भर्ती होता है, परन्तु तब से शुरु होता है जिस दिन पहले-पहल उसकी नींव रखी जाती है। उसके बाद माता के गर्भ में जब तक वह रहता है उसके भावी जीवन का निर्माण जारी रहता है, प्रसव के बाद भी वह लगातार जारी रहता है। मनोविश्लेषणवाद के मूर्धन्य फ्रॉयड का कहना है कि जब बच्चा माँ की गोद में अँगूठा चूस रहा होता है, तभी से उस पर वे संस्कार पड़ रहे होते हैं जो उसके भावी-जीवन का निर्माण करते हैं। अगर वैदिक शिक्षा-शास्त्री यह कहते हैं कि जब शिशु माँ के गर्भ में होता है तभी माँ के संस्कार से उसका भावी जीवन बन रहा होता है, तो वे कोई अचम्भे की बात नहीं कहते।

वैदिक संस्कार शास्त्रियों ने बालक के भावी जीवन के निर्माण के सम्बन्ध में निम्न छः पहलुओं पर विचार किया है—

(१) पर्यावरण
(२) शिष्य अथवा ब्रह्मचारी
(३) गुरु अथवा आचार्य
(४) अध्यापन के विषय
(५) पठन-पाठन की विधि
(६) जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति

३. बालक की शिक्षा का पर्यावरण

(१) भौतिक-पर्यावरण (प्रकृति के साथ सम्पर्क)—ऋग्वेद (५.८.१४) में एक मन्त्र आया है—**'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धियो विप्रा अजायत'**—अर्थात्, पर्वत की उपत्यका और नदी के संगम में विप्र बनता है। वैदिक-ऋषियों के शिक्षा-केन्द्र प्रकृति के उन वैभवपूर्ण-स्थलों में होते थे जहाँ एक तरफ पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियाँ, दूसरी तरफ कल-कल रव करती हुई नदी की अजस्रधारा बहती थी। इस प्रकार के भौतिक पर्यावरण में रह कर शिष्य का प्रकृति के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित हो जाता था। आज शहर के विषैले वातावरण में शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण होता है, जहाँ उच्चकोटि के मानव का निर्माण करने के स्थान में लाखों रुपया खर्च करके उच्चकोटि की शिक्षा देने की सिर्फ इमारतों का निर्माण होता है। इसमें सन्देह नहीं कि आज के युग में शिक्षा-संस्थाओं के लिये पहाड़ों और नदियों को ढूँढ़ना कठिन है, परन्तु शहरों के गली-कूचों में शिक्षा-संस्थाओं को चलाने से कोमल-मस्तिष्क बालकों के मस्तिष्क को शहरों के गन्दे संस्कारों के पड़ने से नहीं बचाया जा सकता। वैदिक-दृष्टि यही है कि शिक्षा-संस्थाओं को प्रकृति के शुद्ध वातावरण में रखने से ही बाल-मस्तिष्क को शुद्ध-संस्कारों में विकसित किया जा सकता है।

(२) मानसिक-पर्यावरण (कुल की भावना)—घर में माता-पिता बालक की शिक्षा पर उचित ध्यान नहीं दे सकते, अतः उसे घर के बाहर किसी दूसरे के पास भेजना आवश्यक है, जिसका काम ही बालक के चरित्र का निर्माण करना तथा उसे शिक्षित करना हो, परन्तु घर से बाहर भेज देने पर उसे घर का-सा, माता-पिता का-सा प्रेम न मिलने से उसका समुचित-विकास न हो सकेगा इसलिये उसका घर में रहना भी आवश्यक है—इस विरोध का हल करने के लिये वैदिक शिक्षा-शास्त्रियों ने 'गुरुकुल-पद्धति' का निर्माण किया था। 'गुरुकुल' का अर्थ है—गुरु का 'कुल'। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति पर वर्तमान युग के कुछ शिक्षा-शास्त्रियों की तरफ से सबसे बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि इस पद्धति में बच्चे को परिवार से तोड़ दिया

जाता है, वह अपनी जड़ों को खो देता है। बच्चे को परिवार से तोड़ देने की बात पहले-पहल प्लेटो (४२७-४३७) ने उठाई थी। उसका कहना था कि समाज में एकता की भावना को लाने के लिए बच्चों का अदला-बदला हो जाना चाहिये, परन्तु बात अव्यावहारिक थी इसीलिये चल न सकी। यही आक्षेप गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली पर किया जाता है, परन्तु यह आक्षेप वही लोग करते हैं जो इस पद्धति के मूल-सिद्धान्तों को नहीं समझते। 'गुरुकुल'-शब्द में 'कुल'-शब्द का प्रयोग ही इसलिये किया जाता है क्योंकि शिक्षा का काम बच्चे को एक छोटे-से कुल, छोटे-से परिवार में से निकाल कर एक बड़े परिवार में डाल देना है। आज इस बात की बड़ी दुहाई दी जाती है कि शिक्षा समाज से कटी नहीं होनी चाहिये, शिक्षा इस प्रक्रिया से बढ़नी चाहिए जिससे बच्चा समाज से कटा न रहे। ऐसा समझा जाता है कि शिक्षा के क्षेत्र में यह एक नया आविष्कार है, नई सूझ है, शिक्षा को यह नई देन है। होगी नई देन, क्योंकि चालू शिक्षा में बालक के छोटे, सीमित-क्षेत्र से विस्तृत-क्षेत्र में आगे-आगे बढ़ते जाने का कोई विचार नहीं था, परन्तु वेदों में प्रतिपादित गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति का तो यह मुख्य स्तम्भ था कि बालक ने छोटे कुल से बड़े कुल में, छोटे समाज से बड़े समाज में प्रवेश करना है। कहाँ माता-पिता-सन्तान का छोटा-सा कुल या छोटा-सा समाज, कहाँ गुरु का अनेक शिष्यों से घिरा बड़ा-सा कुल, बड़ा-सा समाज! गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में बालक को परिवार से तोड़ा नहीं जाता, परिवार में ही पाला जाता है, परन्तु वैयक्तिक-परिवार में पालने के स्थान में सामाजिक-परिवार में पाला जाता है। आज के शिक्षा-विज्ञों की खोज यह है कि बच्चे को समाज से तोड़कर नहीं रखना चाहिए, गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली की खोज यह थी कि बच्चों को न परिवार से तोड़कर रखना चाहिये, न समाज से तोड़ कर रखना चाहिये, बच्चे का विकास 'कुल' में होना चाहिये—पहले माता-पिता के 'कुल' में, फिर गुरु के 'कुल' में, फिर समाज के 'कुल' में। मूल-सिद्धान्त 'कुल' का है, 'परिवार' का है। 'कुल' का विचार इतना क्रान्तिकारी विचार है कि अगर शिक्षा के क्षेत्र में यह चरितार्थ हो जाए, तो यह 'शिक्षा' को आमूलचूल बदल सकता है, अगर समाज के क्षेत्र में चरितार्थ हो जाए, तो समाज को एक बिल्कुल नई दिशा दे सकता है। जिन्होंने '**सहनाववतु सह नौ भुनक्तु**' का राग गाया था, उन्होंने 'कुल' के विचार को ही शिक्षा तथा समाज में घटाने का प्रयत्न किया था।

(३) सामाजिक-पर्यावरण (समानता की भावना)—जिन वैदिक शिक्षा-विज्ञों ने शिक्षणालय को 'कुल' या 'परिवार' का नाम दिया था, उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में एक अत्यन्त क्रान्तिकारी विचार को जन्म दिया था, ऐसा क्रान्तिकारी विचार जिसके आधार पर बिना रक्तपात किये समाजवाद का भवन अपने-आप उठ खड़ा

हो। अथर्ववेद (कां० ११, अनुवाक ३, व० ५, मन्त्र ३) में कहा है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे विभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।

अर्थात्, बालक को शिक्षा देने के लिये स्वीकार करते हुए आचार्य उसे इस प्रकार सुरक्षित, संभाल कर रखता है, जैसे माता पुत्र को अपने गर्भ में सुरक्षित, संभाल कर रखती है। क्या गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का इससे ऊँचा चित्र खींचा जा सकता है? गर्भ माता के पेट में रहता है। माता श्वास लेती है, गर्भ श्वास नहीं लेता, माता भोजन करती है, गर्भ भोजन नहीं करता, माता जल पीती है, गर्भ जल नहीं पीता, परन्तु माता के श्वास में उसका श्वास है, माता के भोजन में उसका भोजन है, माता के जल-पान में उसका जल-पान है। गुरु तथा शिष्य के निकटतम सम्बन्ध को समझाने के लिये माता तथा गर्भ के सम्बन्ध से अधिक सुन्दर दूसरी उपमा क्या दी जा सकती है? मैंने अपने पश्चिम के एक मित्र को यह मन्त्र सुनाया, तो वे अचम्भे में पड़ गये। उन्हें समझ ही नहीं आता था कि किसी शिक्षा-विज्ञ की शिक्षा के क्षेत्र में इतनी ऊँची उड़ान भी हो सकती है। मैंने उन्हें समझाया—हो ही नहीं सकती, थी भी। भारत का आचार्य आचार्य ही नहीं था, शिष्य का पिता भी था। बालक अपने जन्म के माता-पिता को छोड़ आता था, परन्तु उनका स्थान आचार्य ले लेता था, आचार्य उसका शिक्षक ही नहीं, पिता भी था, विद्या उसकी माता थी, गुरु के अन्य शिष्य उसके भाई थे। कहाँ समाप्त हुआ उसका परिवार? वह तो एक ऐसे परिवार की प्रक्रिया में पड़ गया, जिसमें चलते-चलते वह अन्त में जाकर समाज के परिवार का अंग हो जायेगा, जहाँ जन्म का कोई भेद-भाव नहीं रहेगा, जहाँ जैसे माता-पिता के परिवार में सब भाई-भाई और भाई-बहन थे, जैसे आचार्य के आश्रम में जन्म के भाई-भाई और भाई-बहन न होते हुए भी सब भाई-भाई और भाई-बहन थे, वैसे समाज के क्षेत्र में पहुंचने पर भी वह उसी जाग को लेकर जायेगा जो उसने गुरु के आश्रम में पाया था, जिस जाग को वह समाज में छिटक कर जन-जन को भाई-भाई और भाई-बहन बना लेगा—तब वहाँ समाजवाद के लिये न नारों की जरूरत होगी, न जुलूसों की, क्योंकि तब समाज का बच्चा-बच्चा 'कुल' या 'परिवार' की भावना को लेकर ही सामाजिक-जीवन में प्रवेश करेगा। कच्चा माल जब गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति की कुलभावनाभावित मशीन में से पक्का माल बनकर बाहर निकलेगा तब उस पर छाप ही समाजवाद की—समानता की भावना की—होगी, वह और किसी तरह सोच ही नहीं सकेगा।

क्या आज तक किसी ने सोचा है कि 'कुल'-शब्द का प्रयोग, उस 'कुल'-शब्द का प्रयोग जिसका सम्बन्ध सिर्फ माता-पिता के परिवार से था, शिक्षणालय के साथ 'गुरुकुल'-रूप में क्यों किया गया? हो सकता है, 'स्कूल'-शब्द भी किसी

समय संस्कृत के 'कुल'-शब्द से ही उपजा हो। 'कुल'-शब्द गुरु-शिष्य के निकटतम सम्बन्ध का सूचक है। आज शिक्षा के क्षेत्र में 'कुल' की भावना नहीं पनप पा रही, क्योंकि स्कूल-कॉलेज-यूनीवर्सिटियाँ वैदिक-दृष्टि के शिक्षणालय न रहकर फैक्टरियाँ हो गई हैं जिनमें कुछ फैक्टरियों के मालिक हैं, कुछ मजदूर हैं। हम 'कुल' में हैं, या फैक्टरी में हैं—यही शिक्षाशास्त्रियों की सबसे बड़ी परेशानी है, जिसका हल न सरकार कर पा रही है, न सब विश्वविद्यालयों के वास-चाइन्सलर ही कर पा रहे हैं।

४. शिष्य अथवा ब्रह्मचारी

शिक्षा प्राप्त करने के लिये जो बालक गुरुकुल में प्रविष्ट होते थे उन्हें तीन प्रक्रियाओं में से गुजरना जरूरी था। वे तीन प्रक्रियाएँ थीं—आश्रमवास, उपनयन संस्कार तथा ब्रह्मचर्य-व्रत धारणा करना। इन तीनों का अभिप्राय क्या है?

(१) आश्रमवास—गुरुकुल में प्रवेश का अभिप्राय है—गुरु के आश्रम में प्रविष्ट होना। 'आश्रम' का अर्थ है—जिसमें श्रम-ही-श्रम है, जिसमें आलस्य को स्थान नहीं, जिसमें हर समय सजग, सचेत रहना पड़ता है, जिसमें लगन-ही-लगन है, परिश्रम-ही-परिश्रम है, वैदिक-परिभाषा में जिसमें 'तपस्या' है। गुरुकुलवास को ब्रह्मचर्याश्रम कहा गया है। आश्रम का मूलभूत भाव 'श्रम' या 'तपस्या' है। ब्रह्मचारी को गुरुकुलाश्रम में प्रविष्ट करते ही माता-पिता तथा आश्रम में उपस्थित जनता के समक्ष जो उपदेश दिये जाते हैं, उनका मूल आधार 'तपस्या' है। बालक को कहा जाता है—'**कर्म कुरु**', '**दिवा मा स्वाप्सीः**', '**क्रोधानृते वर्जय**', '**उपरि शय्यां वर्जय**'—काम करते रहना, श्रम का जीवन बिताना, निठल्ले मत रहना, रात को सोना, दिन सोने के लिये नहीं काम करने के लिए हैं, क्रोध मत करना, झूठ मत बोलना, गदेलों पर मत पड़े रहना, तपस्या का जीवन बिताना। शिक्षा के जिस उद्देश्य को सामने रखकर वैदिक गुरुकुल-प्रणाली की नींव रखी गई थी, उसका आधार 'तपस्या' था। अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड के 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' के २६ मन्त्रों में १५ बार 'तप'-शब्द का प्रयोग हुआ है। '**स आचार्य तपसा पिपर्ति**', '**ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत**'—ब्रह्मचारी तप से जीवन की साधना करता है, तप कर ही कच्चा लोहा पक्का बनता है, भट्टी में तप कर ही सोना कुन्दन बनता है, तपस्या की आग में से गुजरकर ही इन्सान इन्सान बनता है। समाज को हर देश और काल में ऐसे युवकों की आवश्यकता रहती है, जिनका प्रारम्भिक-जीवन तपस्या की आग में से तप कर निकला हो, जो मोम की तरह मुलायम न हों, चट्टान की तरह कठोर हों, जो सर्दी-गर्मी, धूप-छाँह, आराम-बेआरामी—हर बात को बर्दाश्त कर सकते हों। वैदिक-शिक्षा-प्रणाली को इस बात का गौरव है कि इस प्रकार की शिक्षा-प्रणाली का, जिसने यह घोषणा की हो कि उसका उद्देश्य नवयुवकों को तपस्वी

बनाना है, सिर्फ भारत में आविष्कार हुआ। आज हमारे बच्चे आराम का जीवन बिताते हैं, उनके शरीर कोमल हैं, कमजोर हैं, हर-एक को खांसी-जुकाम सताता है, न सर्दी बर्दाश्त कर सकते हैं, न गर्मी। ऐसे युवक जीवन की चुनौतियों का कैसे सामना कर सकते हैं? जो व्यक्ति तख्त पर सो सकता है वह गद्देदार पलंग पर बड़े आराम से सो सकता है, परन्तु जो बचपन से ही गद्दों पर सोने का आदी है उसे तख्त पर नींद नहीं आ सकती।

'तपस्या' के अतिरिक्त आश्रमवास का दूसरा लाभ ऊँच-नीच, अमीर-गरीब के भेद का मिट जाना है। आश्रम में आकर सब एक स्तर पर पहुँच जाते हैं—न कोई अमीर, न गरीब, न ऊँचा, न नीचा, सब बराबर, सब भाई-भाई। जब अमीरी-गरीबी शिक्षा-संस्था में चल रही हो, जब शिक्षा-संस्था में ही कोई गुप्त, कोई शुक्ल हो, तो यही लोग जब समाज में जायेंगे तब अमीरी-गरीबी, जात-बिरादरी को समाज में क्यों न ले जायेंगे? शिक्षा-संस्था में आकर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रह सकता, 'गुरुकुल'-शब्द का आधारभूत तत्त्व ही यह है, अगर शिक्षण-संस्था में किसी प्रकार का भेद-भाव रहता है, तो वह कूड़े में फेंक देने लायक है। हम समाजवाद की बढ़-बढ़ कर चर्चा करते हैं, परन्तु स्मरण रखना होगा कि पत्तों पर जल छिड़कने से वृक्ष हरा नहीं होता, जड़ में जल देने से वृक्ष में छटा आती है, पत्ते हरे होते हैं, उसमें फूल खिलते हैं, फल लगते हैं। बचपन में ही समाजवाद का भाव डालना वृक्ष की जड़ को सींचना है।

(२) उपनयन संस्कार—जैसा हम इस संस्कार के विषय में लिख चुके हैं, गुरुकुल में प्रविष्ट होते समय बालक का 'उपनयन-संस्कार' होता है। 'उपनयन' का अर्थ है—'उप', अर्थात् समीप, 'नयन', अर्थात् ले जाना। गुरु के समीप चले जाने को 'उपनयन' कहते हैं। 'उपनयन'-संस्कार के समय आचार्य शिष्य के प्रति (पार०गृ०, २-२-१६) कहता है—

'मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तं अनुचित्तं ते अस्तु'

आचार्य व्रत करके बालक को आश्वासन देता है कि तेरे हृदय को मैं अपने हृदय में लेता हूँ, तेरे चित्त को अपने चित्त में लेता हूँ। गुरु तथा शिष्य एक-दूसरे के इतना निकट आने का प्रयत्न करते हैं कि वे एकमना हो जाएँ—**'मम वाचं एकमना जुषस्व'**। कितनी भारी जिम्मेदारी डाल दी गई है गुरु के ऊपर। मनुष्य में 'हृदय' तथा 'चित्त'—ये दो ही तो बहुमूल्य तत्त्व हैं। गुरु शिष्य के प्रति प्रतिज्ञा करता है कि तेरा चित्त और तेरा हृदय (Head and Heart) मैं अपने हाथ में लेता हूँ, और आने वाले जीवन के लिये तेरे दिल और दिमाग को सही दिशा देने की जिम्मेदारी लेता हूँ। क्या शिक्षा का उद्देश्य इससे ऊँची उड़ान ले सकता है कि गुरु यह प्रतिज्ञा करे कि वह अपने शिष्य के दिल और दिमाग—हृदय तथा मस्तिष्क—इन दोनों को ऐसे रास्ते

पर डाल देगा जिससे वह जीवन के संघर्ष में छाती तान कर खड़ा हो सके? जिसका 'उपनयन'-संस्कार हो जाता है उसे 'द्विज' कहा जाता है। 'द्विज' का अर्थ है—दूसरी बार पैदा हुआ। पहली बार बालक माता-पिता से जन्म लेता है, यह शरीर का जन्म है, दूसरी बार गुरुकुल में जाकर गुरु को माता बना कर—'**आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः**'—उसके गर्भ से जन्म लेता है, यह मानसिक-जन्म है। वैदिक-साहित्य को पढ़कर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिक्षा के सम्बन्ध में ऋषियों की एक रटी-पिटी नहीं, परन्तु एक निश्चित धारणा थी। गुरु शिष्य को ऐसे धारण करता है जैसे माता अपने भीतर गर्भ को धारण करती है। इतनी गहरी निकटता है गुरु तथा शिष्य में। तभी उनका सम्बन्ध 'उपनयन' का है, निकटतम आने का है, तभी शिष्य को 'अन्तेवासी' कहा गया है, वह मानो गुरु के भीतर बसता है, वह गुरु का शिष्य ही नहीं, उसका पुत्र है—'**अंगादंगात्संभवसि हृदयादधि जायसे आत्मा वै पुत्र नामासि**'—Bone of my bones and Flesh of my flesh—शिष्य के प्रति पुत्रभाव को लेकर आचार्य उसे अपने आश्रम में लेता है—यही भावना गुरु-कुल-शिक्षा-पद्धति की आत्मा है।

(३) ब्रह्मचर्य-व्रत—वैदिक-शिक्षा में जिस तीसरी प्रक्रिया में से शिष्य को गुजरना होता था वह उसका ब्रह्मचर्य-व्रत को धारण करना था। 'ब्रह्मचर्य'-शब्द के यौगिक तथा रूढ़ि—दो अर्थ हैं। यौगिक अर्थ व्यापक होता है, रूढ़ि अर्थ व्याप्य होता है। यौगिक रूढ़ि से बहुत आगे निकल जाता है, उसका अर्थ रढ़ि से बहुत अधिक होता है। 'ब्रह्मचारी'-शब्द का यौगिक अर्थ है—'**ब्रह्मणि चरतीति ब्रह्मचारी**'—जो 'ब्रह्म' में विचरण करे वह ब्रह्मचारी है। 'ब्रह्म'-शब्द के भी यौगिक तथा रूढ़ि—दो अर्थ हैं। 'ब्रह्म'-शब्द बृहि बृद्धौ—इस धातु से बना है। जो महान् हो उसे ब्रह्म कहते हैं। इस दृष्टि से 'ब्रह्मचारी'-शब्द का यौगिक अर्थ यह है कि जो बालक जीवन में महान् होने की अभिलाषा को मस्तिष्क तथा हृदय में लेकर गुरु के आश्रम में आता है वह ब्रह्मचारी है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में प्रत्येक बालक को जो गुरुकुल में प्रविष्ट होता है 'ब्रह्मचारी' कहा जाता है, सिर्फ विद्यार्थी नहीं, क्योंकि प्रत्येक के सामने जीवन में महान् होने का, बड़े होने का संकल्प शिक्षा के प्रारम्भ होने के दिन से ही रख दिया जाता है। इस शब्द का एक रूढ़ि अर्थ भी है, और वही अर्थ अधिक प्रसिद्ध है। रूढ़ि अर्थ में शरीर की भौतिक-शक्ति को—वीर्य को—नष्ट न होने देना, शुद्ध चाल-चलन रखना, सदाचार का जीवन व्यतीत करना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। इस दृष्टि से 'ब्रह्मचारी'-शब्द के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक—ये दो अर्थ हैं। यहाँ की शिक्षा की वैदिक-विचारधारा के अनुसार गुरुकुलों का लक्ष्य बचपन से ही बालक के सामने दो उद्देश्य स्पष्ट रूप में रख देना था। बालक को आध्यात्मिक-संस्कृति के रंग में रंगना होगा—यह वैदिक-शिक्षा का पहला उद्देश्य

था जो 'ब्रह्मचारी'-शब्द के यौगिक-अर्थ में निहित है, बालक को अपने शरीर की भौतिक-शक्ति का सञ्चय करना होगा, वीर्य को नष्ट नहीं होने देना होगा, सदाचार का जीवन बिताना होगा—यह वैदिक-शिक्षा का दूसरा उद्देश्य था, जो 'ब्रह्मचारी'-शब्द के रूढ़ि अर्थ में निहित है। है किसी देश में ऐसी शिक्षा-प्रणाली जो बालक के शिक्षणालय में भर्ती होने के दिन ही यह घोषणा कर दे कि हमारी शिक्षा का लक्ष्य बालक के जीवन को आध्यात्मिक-संस्कृति की दिशा का मोड़ देना है, हमारी शिक्षा का लक्ष्य बालक को किताबी शिक्षा के साथ-साथ उसे सदाचारी बनाना है, ब्रह्मचारी बनाना है, उसके चरित्र का निर्माण करना है। वैदिक-शिक्षा-पद्धति में वीर्य-रक्षा पर बल दिया जाता था, इसे गुरुकुल-शिक्षा का मुख्य ध्येय समझा जाता था—आज शिक्षा के क्षेत्र में इस बात की सिर्फ चर्चा सुनने में आती है कि बालकों को इस विषय का ज्ञान दिया जाए या न दिया जाए, दिया जाए तो कैसे दिया जाए। वैदिक दृष्टिकोण में प्रत्येक आचार्य के लिए हर बालक को इस विषय का सही-सही ज्ञान देना आवश्यक था।

५. गुरु अथवा आचार्य

शिक्षा देनेवाले को वैदिक विचारधारा में 'आचार्य' कहा गया है। इस विचारधारा में जहाँ विद्यार्थी को 'ब्रह्मचारी' कहा गया है, वहाँ शिक्षक को 'गुरु' अथवा 'आचार्य' कहा गया है। 'आचार्य' का अर्थ है—'**आचारं ग्राहयतीति आचार्यः**'—इतना ही नहीं कि ब्रह्मचारी को जबानी तौर पर सदाचार की शिक्षा दे, अपितु—'ग्राहयति'—शिष्य के जीवन में सदाचार को ढाल दे, उसे ऐसी परिस्थिति में रखे कि शिष्य सदाचार को अपने-आप ग्रहण कर ले। वेदों में 'ब्रह्मचारी' और 'आचार्य'—शिक्षा के ये दो बिन्दु हैं, इन दोनों को मिलाने वाली रेखा 'सदाचार' है, अगर आचार नहीं तो आचार्य आचार्य नहीं, ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी नहीं, शिक्षा शिक्षा नहीं। इस दिशा में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली वर्तमान युग के लिए पुरानी होती हुई भी एक क्रान्तिकारी विचारधारा है जिसे अगर ईमानदारी से क्रियात्मक रूप दिया जाए, तो हमारे शिक्षा-जगत् में जो कूड़ा-कर्कट जमा हो गया है वह उसे एकदम साफ कर सकती है। किसी भी समाज की सबसे बड़ी कमजोरी चरित्र का अभाव है। वह शिक्षा क्या जो सिर्फ फीसें जमा करके बालकों को इम्तिहान में पास करने भर का ठेका लेती है, उनके चरित्र-निर्माण का डंके की चोट ठेका नहीं लेती। ऐसी शिक्षण-संस्थाएँ शिक्षण-संस्थाएँ नहीं, अच्छी-खासी दुकाने हैं। आज हमारी सब शिक्षण-संस्थाएँ दुकानदारी बन गई हैं। चरित्र को तो शिक्षा का अंग ही नहीं समझा जाता। एक नई फिलोसफी ने जन्म ले लिया है—प्राइवेट लाइफ अलग है, पब्लिक लाइफ अलग है। शिक्षक भी इस बात का दावेदार है कि घर में वह जूआ खेले, शराब पीये, कुछ भी करे, उसकी प्राइवेट लाइफ में दखल देने का किसी को अधिकार नहीं। जब

शिक्षक के लिए चरित्र का मापदण्ड यह है, तब विद्यार्थी के लिए उसके जीवन का यही मापदण्ड क्यों न होगा?

शिक्षा की वैदिक-विचारधारा में शिष्य से ही अपेक्षा नहीं की जाती, शिक्षक, गुरु, आचार्य से बड़ी भारी अपेक्षा की जाती है। उपनिषदों में जहाँ-जहाँ गुरु की, आचार्य की खोज की गई है, वहाँ-वहाँ शिष्य '**समित्पाणि**' होकर उसके पास पहुँचा है। 'समित्पाणि' का अर्थ है—हाथ में समिधा लेकर जाना। हाथ में समिधा लेकर जाने का अर्थ यह है कि जैसे समिधा सिर्फ लकड़ी है, परन्तु आग के स्पर्श से वह प्रदीप्त हो उठती है, वैसे शिष्य भी समिधा के समान है, आचार्य के स्पर्श से वह भी अग्नि की भाँति प्रदीप्त होने का संकल्प लेकर उपस्थित हुआ है। अगर आचार्य स्वयं एक बुझी हुई लकड़ी है, उसमें स्वयं कोई आग नहीं, वह पब्लिक में अलग है, प्राइवेट में अलग है, तो वह शिष्य को क्या प्रदीप्त करेगा। जलता हुआ दीया ही बुझे हुए दीये को जला सकता है, जो स्वयं बुझा हुआ है वह दूसरे बुझे को क्या जला सकेगा। ऐसे ही गुरुओं के लिए कहा गया है—'**अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः**'—जैसे अन्धे अन्धों को रास्ता दिखला रहे हों। एक लेखक ने ठीक कहा है—'Character is not so much taught as caught'—आचार सिखाया नहीं, ग्रहण किया जाता है। आज की शिक्षा-जगत् की समस्याएँ विद्यार्थियों के कारण इतनी विकट नहीं जितनी शिक्षकों के कारण विकट बनी हुई हैं।

६. अध्यापन के विषय

वैदिक-शिक्षा का लक्ष्य सिर्फ किताबें पढ़ा देना नहीं, पुस्तकों के अध्ययन के साथ-साथ जीवन का आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी मानव के सम्मुख रखना है। जीवन में शरीर और पार्थिव-संसार ही नहीं, शरीर के पीछे आत्मा है, पार्थिव-जगत् के पीछे आध्यात्मिक-जगत् है। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय में कहा है—'**हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये**'—संसार की चमचमाहट से आध्यात्मिक-सत्ता आँखों से ओझल हो रही है, इस पर्दे को उठा देने से वह जगत् दीखने लगता है जिससे हम बेखबर रहते हैं। यथार्थ-ज्ञान वह है जिसमें भौतिक तथा अध्यात्म विद्या का सम्मिश्रण हो। वैदिक दृष्टिकोण से भौतिक-विज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान दोनों के ज्ञान को आत्मसात् करने से जीवन का समग्र-रूप सामने आता है। सिर्फ भौतिक-ज्ञान एकांगी है, सिर्फ आध्यात्मिक-ज्ञान भी एकांगी है, जीवन में दोनों का अपना-अपना स्थान है। इस दृष्टि से उपनिषद् के निम्न-स्थल अध्ययन करने योग्य हैं—

(१) मुण्डक उपनिषद् में शौनक का वर्णन—मुण्डक उपनिषद् (१.१.३) में शौनक का वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार वह अंगिरस आचार्य के पास गया और उनसे कहा—मैं चारों वेद, छन्द, कल्प, निरुक्त, शिक्षा—ये सब पढ़ चुका हूँ,

इन सबके पढ़ने के बाद मुझे 'अपरा'-विद्या का ज्ञान हो गया है, 'परा'-विद्या का ज्ञान नहीं हुआ। उपनिषदों के काल में भौतिक-विज्ञान को 'अपरा'-विद्या कहा जाता था, आत्म-विद्या को 'परा'-विद्या कहा जाता था—'अपरा'—जो परले-जगत् की विद्या न हो, 'परा'—जो परले-जगत् की विद्या हो। शौनक आजकल के सायंस के प्रोफेसरों जैसा था, अंगिरस अध्यात्मवादी योगियों जैसा था। शौनक 'अपरा-विद्या' (Scientific-knowledge) को पा चुका था, 'परा-विद्या' (Spiritual-knowledge) को पाने के लिए अंगिरस ऋषि के पास आया था, क्योंकि वैदिक-शिक्षा की यह धारणा थी कि भौतिक-ज्ञान आत्म-ज्ञान के बिना अधूरा है।

(२) छान्दोग्योपनिषद् में नारद का वर्णन—छान्दोग्योपनिषद् (७-१) में नारद का वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार वह आचार्य सनत्कुमार के पास गया और उनसे कहा—मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, पाँचवें वेद इतिहास-पुराण, वेदों के वेद, पित्र्य, राशि, देव-विद्या, निधि-शास्त्र, वाक्योवाक्य, एकायन, देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या, देव-जन-विद्या—इन सब विद्याओं को पढ़ चुका हूँ, परन्तु—'**सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्**'—हे भगवन्! इतना सब पढ़ कर मैं '**मन्त्रवित्**' तो हो गया हूँ, '**आत्मवित्**' नहीं हुआ। नारद भी भौतिक विद्याओं को सीख कर आत्म-ज्ञान के लिए आचार्य सनत्कुमार के पास आया था, क्योंकि वैदिक-शिक्षा की यह धारणा थी कि भौतिक-ज्ञान आत्म-ज्ञान के बिना अधूरा है।

(३) अपरा-विद्या, मन्त्र विद्या, काम-रति, अविद्या एक-समान हैं, एवं पराविद्या, आत्म-विद्या, आत्म-तृप्ति-विद्या—ये एक-समान हैं—उपनिषद् के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अपरा-विद्या तथा मन्त्र-विद्या का अर्थ भौतिक-विज्ञानों से था, परा-विद्या तथा आत्म-विद्या का अर्थ आध्यात्मिक-विज्ञान से था। यही कारण है कि शौनक कहता है कि अपरा-विद्या वह पढ़ चुका है, परा-विद्या पढ़ना चाहता है, इसी प्रकार नारद कहता है कि मन्त्र-विद्या वह पढ़ चुका है, आत्म-विद्या पढ़ना चाहता है। उपनिषदों के अनुसार 'अपरा' तथा 'मन्त्र' को 'अविद्या' का नाम दिया गया है, 'परा' तथा 'आत्म-ज्ञान' को 'विद्या' का नाम दिया गया है। तभी ईशोपनिषद् के ग्यारहवें मन्त्र में कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृत मश्नुते।

अर्थात्, जो 'अविद्या' को जानता है वह 'मृत्यु' को तर जाता है, जो 'विद्या' को जानता है वह 'अमर' हो जाता है। मृत्यु के साथ किससे लड़ा जाता है? औषधियों के ज्ञान से ही तो, भौतिक-विज्ञान से मृत्यु से लड़ते हैं, परन्तु उससे अमृत तो नहीं हाथ आता। अमृत की प्राप्ति होती है—आत्म-ज्ञान से। इसीलिये उपनिषद् ने

अपरा को, मन्त्र-ज्ञान को जिससे अमरत्व प्राप्त नहीं होता 'अविद्या' कहा है, परा को, आत्म-ज्ञान को जिससे अपने अमरत्व का बोध होता है 'विद्या' कहा है। हमारे शास्त्रों की ये उल्टी प्रतीत होने वाली परिभाषाएँ स्थिति का यथार्थ-बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। उपनिषदों के इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए गीता ने 'आत्मरत', 'आत्म-तृप्त' तथा 'आप्त-काम' शब्द प्रयुक्त किये हैं। गीता (३-१७) में कहा है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।

अर्थात्, जो व्यक्ति 'आत्मरत' है, 'आत्मतृप्त' है, वही पहुँचा हुआ मानव है। 'आत्म-रत' तथा 'आत्म-तृप्त' के विरोधी शब्दों का प्रयोग करते हुए गीता ने 'काम-कामी'-शब्द का (२-७०) प्रयोग किया है, जिसका उल्टा शब्द बनता है—'आप्तकाम'।

हमारा यह सब-कुछ लिखने का इतना ही अभिप्राय है कि वैदिक विचारधारा के अनुसार शिक्षा का कार्य भौतिक-विज्ञानों के अध्ययन तक ही समाप्त नहीं हो जाता, इनका अध्ययन तो जरूरी है ही क्योंकि इनके बिना संसार का व्यवहार नहीं चल सकता, परन्तु इस सब ज्ञान को शास्त्रों में अपरा कहा है, मन्त्र-ज्ञान कहा है, कामकामी-ज्ञान कहा है, अविद्या कहा है। क्योंकि वैदिक दृष्टिकोण समन्वयात्मक दृष्टिकोण है, इसलिए अपरा के साथ परा का, मन्त्र-ज्ञान के साथ आत्म-ज्ञान का, अविद्या के साथ विद्या का जानना आवश्यक है—इन दोनों के समन्वित होने से ही जीवन पूर्ण होता है, नहीं तो मनुष्य या निरा भौतिकवादी रह जाता है या निरा अध्यात्मवादी रह जाता है, और इस प्रकार 'निरा' रहने के कारण वह अपूर्ण रह जाता है।

७. पठन-पाठन की विधि

पठन-पाठन के विषय में संस्कारविधि में अष्टाध्यायी, धातुपाठ, महाभाष्य निघण्टु, निरुक्त, कोश, पिंगलसूत्र, छन्दोग्रन्थ, मनुस्मृति, विदुरनीति, सूर्यसिद्धान्त, पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य, बौधायन-मुनिकृत वेदान्तसूत्र भाष्य, ईश, केन, कठादि दस उपनिषद्, वेदान्तशास्त्र, ब्राह्मणग्रन्थ, गृह्यसूत्र, वेद, उपवेद, सुश्रुत, निघण्टु, चरक आदि के अध्ययन की रूप-रेखा दी गई है।

अध्यापन की विधियों को मुख्य तौर पर सब जगह दो भागों में बाँटा गया है। एक है—'आगमन-पद्धति' (Inductivemethod) दूसरी है—'निगमन-पद्धति' (Deductive method)। अनेक दृष्टान्त देकर किसी तथ्य का निरूपण करना आगमन-पद्धति कहलाता है, शुरु में ही तथ्य का प्रतिपादन कर उसे भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों में घटा कर दिखलाना निगमन-पद्धति कहलाता है। भारतीय शास्त्रों में अध्यात्म-विद्या

के रहस्यों को समझाने के लिए आगमन तथा निगमन—इन दोनों पद्धतियों का आश्रय लिया गया है। शिक्षा को उपयोगी बनाने के लिए किसी उपयोगी कौशल (Craft) से उसे जोड़ देना भी शिक्षा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अध्यात्म-विद्या को हृदयंगम कराने के लिए गुरुकुल शिक्षा-पद्धति में जहाँ आगमन तथा निगमन पद्धतियों का सहारा लिया जाता था वहाँ इसी उद्देश्य को सम्मुख रख कर गो-पालन को शिक्षा के साथ एक 'कौशल' (Craft) के तौर पर जोड़ दिया गया था।

(क) आगमन-पद्धति के दृष्टान्त—प्राचीन शिक्षा-शास्त्री 'ज्ञान' तक पहुँचने के लिए पांच क्रम बतलाते थे—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन तथा निगमन। इसे 'पंचावयव' कहा जाता था। पंचावयव की इसी पद्धति को आजकल प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हर्बार्ट (१७७६-१८४१) के शिक्षा देने के पंच-सोपान (Five Steps of Herbart) कहा जाता है। इसी पद्धति को आधार बना कर (छान्दोग्य, ६-१२) श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने '**सदेवेदमग्र आसीत्**'—संसार प्रारम्भ में सत् ही था—'**तत्त्वमसि**'—तू वही है—इन तथ्यों का आगमन-पद्धति से उपदेश देते हुए कहा—देखो, सामने वट-वृक्ष है, उसका फल ले आओ। वह फल ले आया। कहा—इसे तोड़ डालो। तोड़ दिया। पूछा—इसमें क्या देखते हो? कहा—भगवन्! छोटे-छोटे बीज। कहा—इनमें से एक दाने को तोड़ दो। तोड़ दिया। इसमें क्या देखते हो? उत्तर मिला—कुछ भी नहीं। गुरु ने कहा—हे सोम्य! जिसे तू 'कुछ नहीं' कह रहा है, जिसे अणु-रूप में तू कुछ नहीं देख पा रहा है, उसी से यह महान् वट-वृक्ष खड़ा हो जाता है। फिर गुरु ने नमक की डली श्वेतकेतु के हाथ में देकर कहा—इसे पानी के घड़े में डाल दो। अगले दिन पूछा—वह डली दीखती है? उत्तर मिला—नहीं दीखती। फिर कहा—पानी पीयो। शिष्य ने पानी पिया। दायें से पीओ, बायें से पीओ, बीच में से पीओ। सब जगह नमक-ही-नमक मिला, वह नमक जो दीख नहीं रहा था। इन दृष्टान्तों से उद्दालक ने श्वेतकेतु को समझाया कि ब्रह्म जो दीख नहीं रहा वह विश्व के कण-कण में मौजूद है।

(ख) निगमन-पद्धति के दृष्टान्त—निगमन-पद्धति का अर्थ है, तथ्य को पहले से ही बतला देना। जब उद्दालक ने श्वेतकेतु को शास्त्र का हवाला देकर कहा—'**सदेव सोम्य अग्र आसीत्**'—तब शुरु में उसने निगमन का ही आश्रय लिया।

(ग) शिक्षा में कौशल को जोड़ देना—अमरीका के शिक्षा-शास्त्री जॉन ड्यू ई (१८५९-१९५२) का नाम शिक्षा के प्रगतिशील विचारों के साथ जुड़ा हुआ है। उनकी शिक्षा-पद्धति को 'योजना-पद्धति' (Project method) कहा जाता है। इस पद्धति में बालकों को कोई योजना दी जाती है, जिसको उन्हें पूर्ण करना होता है। इसके विवरण में तो हम नहीं जाना चाहते, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा के

साथ किसी उपयोगी, महत्त्वपूर्ण योजना को जोड़ देने की पद्धति उपनिषद्काल में भी पायी जाती थी। विद्याभ्यास करते हुए गौ की सेवा करना शिष्य का मुख्य कार्य था। छान्दोग्य (४-४-५) में सत्यकाम जाबाल की कथा आती है। वहाँ लिखा है कि गुरु ने कुछ गौएँ उसके सुपुर्द कर दीं। जब तक वे दुगुनी हो गईं तब तक वह सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर चुका था। 'योजना-पद्धति' को आधार बना कर ही महात्मा गाँधी (१८६९-१९४८) ने बुनियादी तालीम की नींव डाली थी और उसमें मुख्यतया कृषि को योजना का आधार बनाया था। आचार्य के आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी गो-पालन को योजना का केन्द्र बनाते थे। गो-सेवा का इतना महत्त्व है कि यदि आज भी इसे शिक्षा के साथ जोड़ दिया जाए, तो विद्यार्थियों को लाभ ही हो सकता है।

८. शिक्षा द्वारा जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति

अब तक हमने शिक्षा-प्रणाली के साधनों पर प्रकाश डाला—कैसी शिक्षा हो, कैसा शिष्य हो, कैसा गुरु हो, परन्तु इन सब साधनों को जुटा कर हम वैदिक शिक्षा-पद्धति से शिक्षा पाये हुए युवक से क्या आशा करते हैं ? जैसे गुरुकुल में भर्ती करते समय आचार्य ब्रह्मचारी के सम्मुख एक पुरोगम रखते हुए कहता है—**'कर्म कुरु', 'दिवा मा स्वाप्सीः', 'क्रोधानृते वर्जय', 'उपरि शय्यां वर्जय'** आदि, वैसे शिक्षा समाप्त कर चुकने के बाद युवक से जो आशा की जाती है उसका उल्लेख करते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् (प्रपा० ७, अनु० ११, कं० १, २, ३, ४) में लिखा है—

'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।....सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम्। ... मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। ...एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषद्, एतदनुशासनम्।'

शिक्षा-संस्था में अध्ययन समाप्त करने के बाद जब ब्रह्मचारी घर को लौटता है, तब आचार्य उसे उपदेश देते हुए—जिसे आजकल 'दीक्षान्त-भाषण' कहा जाता है—कहता है कि गुरु के पास तुमने जो-कुछ सीखा उससे तुमसे यह आशा की जाती है कि तुम जीवन में सत्य का आचरण करोगे, धार्मिक-जीवन बिताओगे, माता-पिता की सेवा करोगे, अपने बड़ों का सम्मान करोगे। अब विश्वविद्यालयों ने भी दीक्षान्त-भाषण देते हुए तैत्तिरीयोपनिषद् के इन्हीं वाक्यों का उच्चारण करना शुरु कर दिया है। परन्तु क्या हमारी शिक्षा सचमुच ऐसे युवक तैयार कर रही है ? बार-बार सिर्फ यही रटा जा रहा है कि शिक्षा का उद्देश्य युवक-युवतियों को रोटी कमाने लायक बनाना है। रोटी कमाने लायक बनाना है—यह तो ठीक है, परन्तु शिक्षा का उद्देश्य इन्सान को इन्सान बनाना पहले है। चौदह-सोलह साल जबतक विद्यार्थी शिक्षणालय में रहता है, हम उसे नहीं बतलाते कि जीवन क्या है, सत्य क्या है, धर्म क्या है, जीवन का लक्ष्य क्या है, इम्तिहान पास करा लेने के बाद दीक्षान्त-भाषण के

समय तैत्तिरीयोपनिषद् के वाक्य उसे सुना देते हैं। यह शिक्षा नहीं, शिक्षा की विडम्बना है। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति में आचार्य ब्रह्मचारी को गुरुकुल में प्रविष्ट करते हुए उसके सामने एक निश्चित प्रोग्राम रखता था और शिक्षा समाप्त कर गुरुकुल से लौटते हुए उसे उस चुनौति का सामना करने के लिये होशियार करता था जो जीवन में उसके सामने आने वाली थी। आचार्य का कहना था कि रोटी तो तुम कमाोगे ही, पेट तो तुम भरोगे ही, परन्तु याद रखना—जो कुछ करना इन्सान बने रहना, इस संस्था में इन्सानियत के जो गुण सीखे हैं उन्हें मत भूलना।

९. ब्रह्मचारी को पिता की ओर से उपदेश

समावर्त्तन-संस्कार में हम देखेंगे कि गुरुकुल या शिक्षा की संस्था में विद्याभ्यास कर चुकने के बाद आचार्य अपने शिष्य को उपदेश देता है, जो उसे जीवन-क्षेत्र में पदार्पण करने के बाद काम आयेगा, वेदारम्भ-संस्कार के समय पिता अपने पुत्र को उपदेश देता है जो उसे गुरुकुल या शिक्षा-संस्था में अध्ययन करते हुए काम आयेगा। यह उपदेश २२ खण्डों में बँटा हुआ है, जिसका अर्थ संस्कार-विधि में ऋषि दयानन्द की भाषा में दिया हुआ है। उस पर थोड़ा-सा प्रकाश डालने की आवश्यकता है।

(१) तू ब्रह्मचारी है—पिता की तरफ से इस उपदेश का सबसे पहला वाक्य है—ऐ पुत्र! तू ब्रह्मचारी है। है कोई शिक्षा-संस्था जहाँ बालक के प्रवेश करते ही उसे पिता द्वारा कहा जाए—तू ब्रह्मचारी है, तुझे वीर्य-रक्षा-पूर्वक रहना होगा, अपने आचार पर सबसे पहला ध्यान देना होगा? यही तो लड़कों के बिगड़ जाने की आयु होती है, इस समय अगर उन्हें न चेता दिया जाए, तो वे सब प्रकार की गंदी आदतों के शिकार हो जाते हैं। जब बालक को शिक्षा-संस्था में रखा ही इस शर्त पर जाए कि उसे ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना होगा, बुरी आदतें सीखेगा तो संस्था में उसे कोई स्थान न होगा, पिता भी उसे घर में वापस लेने के लिये तैयार नहीं होगा, तब बालक का सावधान हो जाना अवश्यम्भावी है। यह चेतावनी उसे आचार्य नहीं दे रहा, उसका पिता दे रहा है। पिता अपने पुत्र को आचार्य के सुपुर्द करता हुआ उसे सम्बोधन करके कहता है—बेटा, इसी शर्त पर आचार्य तुम्हें यहाँ रखेंगे, और यह शर्त पूरी न करोगे तो मैं भी तुम्हें घर वापस नहीं लूँगा।

(२) जल का प्रचुर प्रयोग करना—मनुष्य जहाँ रहे वहाँ बाहर की और भीतर की शुद्धि रखना उसका कर्त्तव्य है। बाहर तथा भीतर की शुद्धि के लिये जल का प्रयोग सर्वोत्तम है। जहाँ रहो वहाँ पानी से जगह धोकर उसे साफ रखो, कपड़ों को धोकर उन्हें साफ रखो, मैले मत रहो, स्नान करो, बदन को जल से नहा-धोकर साफ रखो, पानी भी खूब पीओ, क्योंकि इससे आँतें धुलती रहती हैं, पेट साफ रहता

है, पानी पीने से गुर्दे ठीक से काम करते हैं, त्वचा पर पसीना आकर त्वचा भी साफ रहती है। ये सब बातें साधारण प्रतीत होती हैं, परन्तु बालक के लिये ये सब असाधारण हैं। अब तक बालक पिता के पास रहा है, अब पिता उसे आचार्य के पास छोड़ता हुआ कुछ नसीहतें दे रहा है, ऐसी नसीहतें जो आवश्यक हैं।

(३) काम में लगे रहना, निठल्ला मत बैठना—ब्रह्मचर्य का सबसे बड़ा सहायक साधन काम में लगे रहना है। बुरी आदतों के वे ही शिकार होते हैं जो आलस्य में पड़े रहते हैं। ब्रह्मचारी तो एक सिपाही की तरह है—उसे हर समय किसी काम में लगे रहना चाहिये, चुस्त-मुस्तैद। आगामी जीवन में उसके सामने दो रास्ते होंगे—या तो वह हाथ-पर-हाथ रखकर भाग्य की ताक में बैठेगा, या कमर कसकर पुरुषार्थ करके भाग्य को भी पलट देगा। पिता कहता है कि घर में तुम खेल-ही-खेल में रहा करते थे, अब जहाँ तुम जा रहे हो वहां काम करना होगा। इस विद्यार्थी-जीवन में काम करना सीख जाओगे तो जीवन-क्षेत्र में जब कदम रखोगे तो भाग्य को पछाड़ कर पुरुषार्थ से जीओगे।

(४) दिन को काम, रात को सोना, दिन को मत सोना—पिता पुत्र को उपदेश दे रहे हैं कि बेटा, जब तक तुम घर पर रहे तुम्हें खेलने-कूदने के सिवाय कुछ काम न था, अब तुम विद्या ग्रहण करने के लिये आचार्य-कुल में रहोगे। जिन लोगों को कुछ काम नहीं होता वे ही दिन को सोया करते हैं। तुमने जीवन-संग्राम की तैयारी करनी है, इसलिये दिन में पढ़ने-लिखने में जुट रहना, रात को आराम से सोना। दिन को काम में लगे रहोगे, तो रात को नींद भी अच्छी आयेगी, दिन को सोओगे तो काम तो करोगे ही नहीं, रात को नींद भी मजे की नहीं आयेगी।

(५) आचार्य की आज्ञा का पालन करना—अब तक तुम माता-पिता की आज्ञा पर चलते थे, कभी बिगड़ भी जाते थे, परन्तु अब आचार्य-कुल में रहकर बेढंगापन काम नहीं देगा। जैसी वे आज्ञा दें उसका पालन करना और विद्या का अध्ययन करना। तुम्हें यहाँ विद्या पढ़ कर मनुष्य बनाने के लिये भेजा जा रहा है, विद्या न पढ़ी तो निरे पशु-समान रहोगे।

(६) एक वेद का बारह वर्ष अभ्यास करना—वेद साधारण ग्रन्थ नहीं हैं। इनमें असीम ज्ञान भरा पड़ा है। एक वेद को सांगोपांग पढ़ने में १५ वर्ष लग जाते हैं, चारों वेदों को पढ़ने में ४८ वर्ष लगते हैं। संकल्प कर लो कि वेदों का जहाँ तक अध्ययन हो सकेगा उसे पूरा करोगे। यह काम बिना ब्रह्मचर्य का पालन किये पूरा नहीं हो सकता, इसलिये ब्रह्मचर्य तुम्हारे जीवन का परम-लक्ष्य होना चाहिये।

(७) आचार्य की बुरी आज्ञा मत मानना—आचार्य के अधीन धर्माचरण का कार्य करना, अधर्म की बात आचार्य भी क्यों न कहे मत करना। पिता पुत्र को

उपदेश देते हुए कहता है कि आचार्य के प्रति श्रद्धा रखना, परन्तु अन्धश्रद्धा नहीं—आचार्य बुरी बात कहे तो न कह देना। पिता यह उपदेश आचार्य की मौजूदगी में दे रहा है, आचार्य सुन रहा है—ऐसी बात तभी हो सकती है जब आचार्य जीवन के इतने ऊँचे स्तर पर हो जहाँ बैठकर ऐसी बात कही और सुनी जा सके।

(८) क्रोध न करना, झूठ मत बोलना—क्रोध मत करना, झूठ मत बोलना। क्रोध क्यों आता है? हममें से हर-कोई किसी-न-किसी कामना को, इच्छा को लेकर बैठा है। कामना पूरी हो जाए तो क्रोध नहीं आता, कामना पूरी न हो, उसमें रुकावट आ जाए, तो क्रोध आता है। कामना का एक नियम है। एक कामना पूरी हो, तो दूसरी उठ खड़ी होती है, वह पूरी हो तो तीसरे उठ खड़ी होती है—यह चक्र चलता ही जाता है। कामना के जीवन का अन्त यह है कि किसी एक स्थान पर जाकर पूरी नहीं होती—इसलिये कामना का अन्त उसके उसके पूरे होने में रुकावट, और रुकावट के बाद क्रोध आना स्वाभाविक है। तभी गीता में कहा है—'**कामात् क्रोधोऽभिजायते**'—कामना का अन्त क्रोध है। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि क्रोध आता है तो आने दो, क्रोध को मत करना—ऐसा क्यों कहा? क्रोध का अन्त '**संमोह**' है—'**क्रोधात् भवति संमोहः**'—'संमोह' का अर्थ है 'मोह' का धनीभूत हो जाना। जब 'मोह' पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, तब '**संमोहात् स्मृति विभ्रमः**'—मनुष्य पागल हो जाता है। तभी पिता ब्रह्मचारी को कहता है—बेटा, क्रोध मत करना क्योंकि यह मानव के लिये एक प्रकार का 'स्मृति-विभ्रम' या पागलपन है।

जैसे क्रोध मत करना, वैसे झूठ भी मत बोलना। संसार में सत्य टिकता है, झूठ टिकता नहीं, झूठ तभी तक टिकता है जब तक झूठ सच का दामन ओढ़कर चलता है। अस्ल में, झूठ तभी तक चलता है जब तक लोग झूठ को सच समझते रहते हैं। ज्यों ही पता चले कि जिसबात को हम सच समझे बैठे थे वह झूठ थी, तत्काल उसे फेंक दिया जाता है। सत्य का यह स्वभाव है कि अन्त में वह झूठ की हजार परतों को काटकर भी प्रकट हो जाता है। तभी कहा है—'**सत्यमेव जयते नानृतम**'—सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं।

(९) मैथुन से दूर रहना—मैथुन का अर्थ है—स्त्री का ध्यान, स्त्री के सम्बन्ध में चर्चा, उसका स्पर्श, स्त्री के साथ हँसना-खेलना, स्त्री के दर्शन, उसका आलिंगन, उसके साथ एकान्तवास तथा समागम। मैथुन का शास्त्रकारों ने व्यापक अर्थ बतलाया है। जिन बातों में ब्रह्मचर्य में भंग हो वही मैथुन है। ऐ बालक! तू यहाँ आचार्य के पास विद्याध्ययन के लिये आया है, विद्याध्ययन में ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक शर्त है, इसलिये ऐसा-कुछ मत करना जिससे तेरे ब्रह्मचर्य-पालन में बाधा पड़े और उस बाधा के पड़ने से तेरे मुख्य-धेयय—विद्याध्ययन में रुकावट आये।

(१०) नर्म गदेलों पर सोने के स्थान में भूमि पर सोना—शिक्षा-संस्था में

बालक को छोड़ते समय उसके माता-पिता का ध्यान इस बात पर केन्द्रित रहता है कि उनका बच्चा संस्था से कुछ सीख कर आये। किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन 'तपस्या' है। शरीर के कष्ट को भूलकर जो अपने ध्येय को सिद्ध करने में जुट जाता है वही सफल हो सकता है। इसीलिये पिता बालक को उपदेश देते हुए कहता है—विलासी-जीवन का त्याग करके तपस्यामय जीवन बिताना, तभी तुम विद्या प्राप्त करने के अपने लक्ष्य में कृतकार्य होगे। इसी शृंखला में पिता बालक को उपदेश देता है कि नर्म-नर्म गदेलों पर सोने के स्थान में भूमि पर सोना या काष्ठ के तख्त पर सोना ताकि गदेलों के आनन्द में आलस्य तुम्हें न घेरे रहे।

(११) गाना-बजाना, इतर-फुलेल लगाना, सुरमा लगाना छोड़ देना—विलासी लोग जिस प्रकार गाते-बजाते, इतर-फुलेल तथा सुरमा लगाते हैं उसका ब्रह्मचारी को निषेध हैं। मन्त्र या श्लोक पाठ अथवा मानसिक एवं आध्यात्मिक गाने या आँख के रोगों को दूर करने के लिये अञ्जन इस्तेमाल करने का निषेध नहीं है। बालक को जो भी उपदेश दिया जा रहा है उसका आधारभूत तत्त्व उसे ब्रह्मचर्य केपालन में प्रेरित करना है। इस आश्रम में रहकर उसने एक उत्कृष्ट नागरिक बनना है—इसी में जो कुछ सहायक हो वह करना है, जो बाधक हो उसे त्यागना है।

(१२) हर प्रकार की अति को छोड़ देना—बालकों का स्वभाव हर बात में अति करना है। स्नान करेंगे तो नहाते ही जायेंगे, भोजन करेंगे तो खाते ही जायेंगे, सोयेंगे तो सोते ही जायेंगे, नहीं सोयेंगे तो जागते ही रहेंगे। किसी प्रकार की भी अति स्वास्थ्य के लिये हानिकर है, इसलिये पिता पुत्र को समझाता है कि हर बात में मर्यादा में रहना—लोभ, मोह, भय, शोक आदि उद्वेगों के वशीभूत मत होना। भावी जीवन में हर व्यक्ति को ऐसे अवसरों का सामना करना पड़ता है, जिनमें मनुष्य लोभ का शिकार हो सकता है, मोह में फँस सकता है, विपत्तियों में भय खा सकता है, निकट के सम्बन्धियों के वियोग से शोकाकुल हो सकता है। ये मनोभावनाएँ ही तो जीवन को कष्टमय बना देती हैं। अपने में इस प्रकार की परिस्थितियों के साथ मुकाबिला करने की शक्ति का सञ्चय करने का यही तो अवसर है, तभी पिता उपदेश देता है कि गुरुकुल-वास में अपने मन को हर प्रकार की परिस्थिति के लिये दृढ़ बना लेना।

(१३) प्रातःकाल उठकर नित्य-कर्म से निवृत्त हो जाना—घर में तो बालक जबतक चाहता था सोता था, परन्तु अब क्योंकि वह एक नया जीवन प्रारम्भ करने वाला है इसलिये पिता उसे उपदेश देता है कि यहाँ आश्रम में तूने ब्राह्म-मुहूर्त में उठ जाना, शौचादि से निवृत्त होकर दन्त-धावन करना, स्नान, सन्ध्योपासन, ईश्वरस्तुति, प्रार्थना, उपासना तथा योगाभ्यास करना। इन सब नित्य-कर्मों में सबसे पहले ब्राह्ममुहूर्त में उठने को कहा गया है। यह समय रात्रि के चौथे पहर का है। इस समय प्रकृति

शान्त होती है, चारों ओर का वातावरण स्वयं प्रभु का स्मरण कराता है। शौच जाने के लिये हिन्दी में 'जंगल जाना' तथा फारसी में 'जाय जरूर' या 'पायखाना' जाना शब्दों का प्रयोग होता है, जिससे उस समय की सांस्कृतिक अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। जंगल जाने का अर्थ है—उस समय घरों में टट्टियाँ नहीं होती थीं, लोग जंगल में जाते थे, क्योंकि आबादी कम होने के कारण जंगल जाने में सुविधा थी, मेहतर नाम का कोई व्यक्ति न था। जंगल में शौच कर उस पर मट्टी डाल देने से कोई नुकसान नहीं होता। अगर खेतों में ट्रैंचें खोदकर उनमें टट्टी फिरी जाय और उसके बाद उसे मट्टी से पूर दिया जाए, तो वह खाद का काम करता है। मुसलमानों के समय जब पर्दे की प्रथा के कारण स्त्रियाँ जंगल नहीं जा सकती थीं, तब घरों में 'जाय जरूर' (आवश्यक स्थान) तथा '**पायखाना**' (घर का निचला भाग)—इन शब्दों का चलन हुआ और मेहतरों की एक जमात बन गई, अन्यथा वैदिक-संस्कृति में टट्टी उठाने वाले कहीं नहीं थे। शौच से निवृत्त होकर ब्रह्मचारी दन्त-धावन करता था। दाँतों को ठीक रखना कितना आवश्यक है—यह सभी लोग जानते हैं। दाँत की तरफ ध्यान न देने के कारण दाँतों के रोग इतने बढ़ गये हैं कि हर शहर में दन्त-चिकित्सकों (ष्ठद्गठ्ठह्लद्बह्यह्लह्य) की भरमार है। आज सब ब्रश करते हैं, परन्तु साथ ही यह भी कहते जाते हैं कि ब्रश में दाँतों के कीटाणु भरे रहते हैं। दातुन तो ऐसा ब्रश है जो एक बार किया और फेंक दिया, उसमें कीटाणुओं के भरे रहने की कोई गुंजाइश ही नहीं। इसके बाद स्नानादि करके सन्ध्योपासना तथा योग का अभ्यास किया जाता है। वह भी समय था जब गुरुकुल में प्रवेश करते ही ब्रह्मचारी को प्राणायाम तथा योग-विद्या में दीक्षा दी जाती थी। आज योग के लिये जो सब जगह प्यास बढ़ती जा रही है उसका यही कारण है कि योग तथा आसन शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति के अपूर्व साधन हैं। यह साधन वेदारम्भ-संस्कार के समय पहले दिन से ही ब्रह्मचारी केहाथों दे दिया जाता था।

(१४) उस्तरे का इस्तेमाल नहीं करना—सादे, कठोर, तपस्यामय जीवन का आदर्श सामने रखते हुए पिता की तरफ से बालक को यह भी आदेश है कि अपनी सजावट की तरफ विशेष ध्यान नहीं देना। अस्ली शोभा पवित्र, शान्त तथा तृप्त मन की है, शरीर की टीप-टाप की नहीं—इस आशय को ध्यान में रखना।

(१५) मांस-मदिरा का सेवन मत करना, सूका अन्न मत खाना—मांस-मदिरा का सेवन ब्रह्मचर्य के लिये घातक है, इसलिये इनका सेवन कभी मत करना, साथ ही अन्न के साथ दूध, दही, घी, मक्खन का सेवन करना ताकि आँतों में खुश्की न हो और शरीर को बल मिले।

(१६) बैल, घोड़े, ऊँट की सवारी मत करना—ब्रह्मचारी तपस्या का जीवन बिताने आया है, भोग-विलास का नहीं। जितना ही वह चलेगा उतना ही उसकी

टाँगों में बल आयेगा, इसलिये सवारी की जगह पैदल चलने का ब्रह्मचारी को उपदेश दिया गया है। यह तो पहले ही कहा चुका है कि किसी बात की अति नहीं करना। ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं है कि सवारी करना पाप है। जहाँ सवारी के बिना काम नहीं चल सकता वहाँ सवारी करने में कोई दोष नहीं, परन्त जहाँ पैदल जाया जा सकता है वहाँ भी सवारी की इच्छा करना तपस्या के जीवन के विरुद्ध जाता है।

(१७) गाँव में न रहना, जूता तथा छाता मत धारण करना—ब्रह्मचारी को गाँव में भिक्षा करने जाना होता था, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं था कि वह गाँव में जाकर रहने लगे। गाँव तथा शहर का जीवन आश्रम के जीवन से मेल नहीं खाता। जबतक ब्रह्मचारी स्नातक नहीं हो जाता तबतक उसे शहरी-जीवन से पृथक् आश्रम में ही अपना समय बिताना है। तपस्या की दृष्टि से जूते तथा छाते का इस्तेमाल भी नहीं करना। वर्षा में भीग गए तो क्या आफत आ गई, भीज कर भीजने का आनन्द उठाया जा सकता है, पथरीली तथा ऊबड़-खाबड़ जमीन पर नंगे पाँव चलने का मजा लिया जा सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि ब्रह्मचारी काँटों से अपने पाँव छिदवा ले, अभिप्राय सिर्फ इतना है कि जहां तक हो सके उसे तपस्या का जीवन बिताना है, भोग-विलास का नहीं। इसी आशय को सामने रखकर वेदारम्भ संस्कार के इन आदेशों को समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

(१८) अकारण उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श नहीं करना, ऊर्ध्वरेता बनना—पिता पुत्र को सीख देता है कि जननेन्द्रिय का स्पर्श तभी करना जब पेशाब जाना हो, इसके बिना वीर्य-स्खलन के लिये इन्द्रय का स्पर्श कभी मत करना। वीर्य को वैदिक-संस्कृति में इतना महत्त्व दिया गया था कि पिता स्वयं अपने पुत्र को उपदेश देता था कि वीर्य जीवन का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, इसको शरीर में खपाने से शरीर पुष्ट होता है, इसके ह्रास से जीवनी-शक्ति का नाश होता है। आचार्य का सबसे प्रधान कर्त्तव्य बालक को वीर्य-रक्षा का पाठ पढ़ाना है, क्योंकि वीर्य-रक्षा से ही मनुष्य का स्वास्थ्य टिका रहता है, भले ही आज के डॉक्टर या हकीम उल्टी बात कहते रहें। वैदिक-संस्कृति का जब से सूत्रपात हुआ है तबसे ऋषियों, महर्षियों का एक ही अनुभव रहा है—वीर्य-रक्षा से जीवन बनता है, वीर्य-नाश मृत्यु की तरफ धकेलता है। यही उपदेश पिता अपने पुत्र को आचार्य के चरणों में सौंपते हुए उसे दे रहा है।

(१९) तेल-ताल की चुपड़ा-चुपड़ी मत करना, मिर्च-मसाले मत खाना—बालों को सजाने के लिये, शरीर की शोभा आकर्षक बनाने के लिये यहाँ मनाही की गई है। इसका यह अर्थ नहीं है कि बालक गन्दा रहे, सफाई रखने के लिये तो ब्रह्मचारी को प्रोत्साहित किया जाता है, परन्तु शृंगार करना ब्रह्मचर्य में घातक है। शृंगार तो दूसरों को आकर्षित करने के लिये किया जाता है, आकर्षित करने का ब्रह्मचारी के लिये प्रयोजन ही क्या है ? इसके अतिरिक्त अति खट्टा—इमली आदि,

अति तीखा—मिर्च-मसाला आदि का सेवन भी स्वास्थ्य के लिये हितकर नहीं है, उसे भी मना किया गया है। पिता यह जानकर कि गुरुकुल में इनका सेवन निषिद्ध होगा—स्वयं अपने पुत्र को उपदेश देता है कि इन पदार्थों का सेवन तुम स्वयं अपनी इच्छा से मत करना।

(२०) आहार-विहार में नियमित रहकर विद्योपार्जन में लगे रहना—आहार-विहार का अर्थ है, खाना-पीना और खेलना-कूदना। ब्रह्मचारी के पास गुरुकुलवास में करने को तीन ही तो बातें होती हैं, खाना-पीना, खेलना-कूदना और पढ़ना-लिखना। इनमें खाने-पीने की कोई मनाई नहीं है, सिर्फ इतना प्रतिबन्ध है कि खाना-पीना नियमित होना चाहिए, अनियमित, अमर्यादित नहीं। इसी प्रकार खूब खेलो-कूदो, परन्तु हर समय खेल में ही मत लगे रहो, खेलने-कूदने के लिये भी समय नियत होना चाहिये। तीसरी बात है—पढ़ना-लिखना। वही ब्रह्मचारी का मुख्य उद्देश्य है। पिता कहता है—बेटे, '**विद्योपार्जने यत्नवान् भव**'—विद्या ग्रहण करने में कोई कोताही न करना।

(२१) सुशील बनना, थोड़ा बोलना, सभ्यता सीखना—इन शब्दों की विशेष व्याख्या की जरूरत नहीं। सभ्यता के लक्षण ही ये हैं—व्यक्ति सुशील हो, जो उसे देखे उसके चाल-चलन की तारीफ करे, उसे सराहे, यूँही अंटसंट न बोला करे, जितना बोलने की जरूरत हो उतना बोले, सबके साथ सभ्यता का व्यवहार करे।

(२२) मेखला, दण्ड-धारण, भिक्षा-चर्या, संध्या तथा यज्ञ, स्नान, आचार्य के प्रति सम्मान, विद्या-संचय, जितेन्द्रियता आदि को धर्म समझना—इस एक वाक्य में पिता ने उपसंहार के तौर पर वे सब मुख्य बातें दोहरा दी हैं जो इस सम्पूर्ण उपदेश का सार है।

पिता द्वारा यह लम्बा-चौड़ा उपदेशक बालक अक्षरशः समझ ही जायेगा—यह नहीं कहा जा सकता, परन्तु ज्यों-ज्यों बालक गुरुकुल-वास में जीवन बिताने लगेगा त्यों-त्यों आचार्य उसे याद कराता रहेगा कि जिन नियमों का बालक को पालन करने के लिये कहा जा रहा है, उनका उपदेश उसके पिता ने उसे गुरुकुल में प्रविष्ट होने के पहले दिन ही दे दिया था।

११. वेदारम्भ संस्कार की अवान्तर विधियाँ

वेदारम्भ-संस्कार के सम्बन्ध की मुख्य बातों पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। इस संस्कार की कुछ अवान्तर विधियाँ भी हैं, उनपर प्रकाश डालकर हम आगे चलेंगे। अवान्तर विधियों में जिन पर हम प्रकाश डालेंगे, वे हैं—दण्ड धारण करना, भिक्षा करना, मेखला तथा कौपीन का धारण करना।

(१) दण्ड धारण करना—वेदारम्भ-संस्कार में आचार्य ब्रह्मचारी के हाथ में दण्डा देता है। इसके प्रत्यक्ष उद्देश्य दो कहे जा सकते हैं। एक तो यह कि दण्डे के

द्वारा वह अपनी रक्षा कर सके। प्राचीन-काल में आचार्यों के आश्रम जंगलों में होते थे। गुरुकुल भी अरण्यों में हुआ करते थे। वेद में कहा है—'**पर्वतानाम् उपस्थे नदीनाम् संगमे धियो विप्राः अजायत**'—पर्वतों की घाटियों में, नदियों के संगम में बने आश्रमों में धीमान् विप्रों का निर्माण होता है। प्राचीन-काल के शिक्षा के केन्द्र आजकल की तरह शहरों की सड़कों और बाजारों में नहीं हुआ करते थे, सड़कों और बाजारों में बने शिक्षणालयों के पर्यावरण में रहकर विद्यार्थी का ध्यान पढ़ने-लिखने पर केन्द्रित होने के बजाय बहिर्मुखी हो जाता है। उस समय आबादी थोड़ी थी, जंगल बहुत थे, प्रायः वानप्रस्थी ही शिक्षा के केन्द्र चलाया करते थे। जंगल में रहने के कारण हिंसक जीवों से आत्म-रक्षा के लिये दण्डे का होना अनिवार्य था। इससे जहाँ अपनी रक्षा होती थी, वहाँ दूसरों पर अगर किसी हिंसक जीव का आक्रमण होता था, तो दूसरों की भी रक्षा हो सकती थी। आत्म-रक्षा के अलावा दूसरों की रक्षा कर सकना दण्ड-धारण का दूसरा उद्देश्य था। अपनी तथा दूसरों की रक्षा के लिये कोई-न-कोई हथियार अपने हाथ में सदा रहना चाहिये—यह बात आज भी उतनी सत्य है जितनी उस काल में सत्य थी जब वेदारम्भ-संस्कार का विधान करते हुए उसमें ब्रह्मचारी के लिये दण्ड धारण करना इस संस्कार का एक अंग बना दिया गया था।

(२) भिक्षा करना—वेदारम्भ-संस्कार में ब्रह्मचारी के लिये भिक्षा करना भी इस संस्कार का एक आवश्यक अंग है। ब्रह्मचारी जो भिक्षा से प्राप्त करता है उसे आचार्य के चरणों में रख देता है। बालक किसी भी घर का हो—अमीर का हो गरीब का हो, राजा का हो रंक का हो—हर ब्रह्मचारी के लिये भिक्षा करना आवश्यक था। भिक्षा करने में हर बालक अपने अहंकार को फेंक देता था। श्रीकृष्ण राजवंश के थे, सुदामा साधारण ब्राह्मण घराने के थे, परन्तु वे दोनों अपने अहंकार को छोड़ कर गुरु के चरणों में बैठे थे। जो बालक भिक्षा करता है वह कितने ही बड़े राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार का पुत्र क्यों न हो, अपने को समाज के हर स्थिति के बालक के स्तर पर ले आता है। जिस समाज में बालपन से ही यह सिखाया जाता हो कि हम सब एक-समान हैं, जन्म के कारण कोई बड़ा नहीं कोई छोटा नहीं, हर किसी के हाथ में भिक्षा की झोली पकड़ा दी जाती हो, उस समाज में समाजवाद नहीं आयेगा तो क्या आयेगा? 'भिक्षा' का अर्थ भीख माँगना नहीं है। राजा का बालक क्या भीख माँगेगा। भिक्षा का अर्थ है—समाज द्वारा खड़ा किये गये अपने ऊँच-नीच के भेद-भाव को तिलाञ्जलि दे देना। इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद के लिये कितना ही प्रयत्न किया जाए, मनुष्यों में भेद रहेगा ही, परन्तु फिर भी वैदिक-संस्कृति में बालपन से ही हर बालक का दूसरे के समान होने का भाव अक्षराभ्यास करने के समय से ही मस्तिष्क में डाल दिया जाता था।

इसके अतिरिक्त भिक्षा-वृत्ति से पढ़ने के दो और लाभ थे। जो व्यक्ति भिक्षावृत्ति से पढ़ेगा वह पढ़ेगा ही, अपना समय व्यर्थ नहीं खोयेगा। उसे शुरु से ही मालूम है कि उसने जीवन भौतिक-सम्पत्ति की दृष्टि से शून्य से प्रारम्भ किया है। जो लोग शून्य से जीवन शुरु करते हैं, वे जीवन में आगे बढ़ते-ही-बढ़ते हैं क्योंकि शून्य के नीचे कोई क्या जा सकता है। भिक्षा-वृत्ति का दूसरा यह लाभ था कि प्राचीनकाल में गुरुकुलों की शिक्षा मुफ्त हो जाती थी। गुरुओं तथा शिष्यों का जीवन-निर्वाह भिक्षा-वृत्ति से चल जाता था, उनकी इससे ज्यादा कोई आवश्यकताएँ नहीं थीं।

यह समझना कि यह प्रथा सिर्फ काल्पनिक है, यथार्थ में हमारे समाज में ऐसी कोई प्रथा नहीं थी—गलत धारणा है। दक्षिण-भारत में आज भी अनेक विद्यार्थी भिक्षा-वृत्ति से अपनी उच्चतम शिक्षा प्राप्त करते हैं, इसे '**मधुकरी-वृत्ति**' कहा जाता है। विद्यार्थी गृहस्थियों के यहाँ—'**भवती भिक्षां देहि**' की आवाज देता है, और गृहणी उसकी झोली में उसके योग्य खाना डाल देती है। बर्मा में भी विद्यार्थी भिक्षा-वृत्ति से अपनी पढ़ाई पूरी करते हैं। बर्मा में तो यह प्रथा अमीर घरानों के बालकों के लिये भी आवश्यक है क्योंकि हर परिवार को अपने बालक को भिक्षु-केन्द्र में कुछ देर के लिये शिक्षण ग्रहण करने के लिये भेजना पड़ता है।

(३) मेखला तथा कौपीन—मेखला के विषय में हम इस संस्कार के विधि-भाग में मेखला के प्रकरण में '**इयं दुरुक्तं परिबाधमाना**' की व्याख्या करते हुए लिखेंगे। कौपीन के विषय में उक्ति प्रसिद्ध है—'**कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः**'। कौपीन का अभिप्राय है—लंगोट। लंगोट का उद्देश्य ब्रह्मचारी की वीर्य-रक्षा में सहायता करना है। जो व्यक्ति आचार को बनाये रखता है उसके लिये कहते हैं—वह लंगोट का धनी है। जब किसी व्यक्ति ने कोई परिश्रम का काम करना होता है तब कहते हैं—लंगोट कस कर अखाड़े में उतर गया। इन सब युक्तियों में मानव-समाज का सदाचार तथा वीर्य-रक्षा का अनुभव निहित है। कौपीन धारण करने से जहाँ मनुष्य चुस्त रहता है वहाँ उसका ध्यान विषय-वासना की तरफ भी नहीं जाता। वैसे तो कौपीन धारण करना अन्य बातों को धारण करने के समान एक साधारण बात होनी चाहिये, परन्तु नहीं, इसे वेदारम्भ संस्कार का अंग बना दिया गया है, और इसे '**युवा सुवासाः परिवीत आगात्**'—इस वेद मन्त्र के साथ जोड़ दिया गया है। इसका यही अभिप्राय है कि कौपीन धारण करना अन्य वस्त्रों को पहनने के समान नहीं है, ब्रह्मचर्य तथा वीर्य-रक्षा में सहायक होने के कारण यह इस संस्कार का अभिन्न अंग है।

वेदारम्भ संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

गायत्री मन्त्र से लेकर सांगोपांग चारों वेदों का अध्ययन करने के लिये नियम धारण करने को वेदारम्भ संस्कार कहते हैं। वर्तमान समाज में गुरुकुलों को छोड़कर वेदारम्भ-संस्कार कोई नहीं करता। आजकल तो उपनयन-संस्कार के बाद ही गायत्री मन्त्र सिखा देना मात्र वेदारम्भ-संस्कार समझ लिया जाता है, परन्तु क्योंकि हम सभी सोलह संस्कारों के सम्बन्ध में लिख रहे हैं, इसलिये इस संस्कार के विधि-भाग का लिखना आवश्यक है।

(१) जो सामान जुटाकर रखें—देखो ६९-७०

(२) इस संस्कार के लिये विशेष सामान—प्रधान आहुति के लिये विशेष भात, पलाश या चन्दन की ६ समिधाएँ, खद्दर का एक उपरना, एक ४-५ फुट लम्बा डंडा, मेखला कटि में बाँधने के लिये, ब्रह्मचारी के लिये दो शुद्ध कौपीन, दो अंगोछे और एक उत्तरीय (ओढ़ने का वस्त्र), दो कटि-वस्त्र (धोती आदि)।

पिता अथवा आचार्य प्रातः बालक को शुद्धोदक से स्नान करा, शुद्ध वस्त्र पहना आसन पर वेदी के पश्चिम में अर्थात् पूर्वाभिमुख बैठे तथा निम्न प्रकार यज्ञ करें—

[ऋत्विग्वरण तथा यज्ञारम्भ]*

'**ऋत्विग्वरण**' (ओमावसोः सदने सीद आदि, पृष्ठ ७१), 'तीन आचमन' (ओम् अमृतोपस्तरणमसि आदि, पृष्ठ ७१), '**अंग-स्पर्श**' (ओं वाङ् मे आस्येऽस्तु आदि, पृष्ठ ७२) '**ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना**' (ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि आदि, पृष्ठ ३५), '**स्वस्तिवाचन**' (अग्निमीळे पुरोहितम् आदि, पृष्ठ ३९), '**शान्तिकरण**' (शन्न इन्द्राग्नी आदि, पृष्ठ ५५), '**अग्न्याधान**' (ओं भूर्भुवः स्वः स्वर्द्यौरिव भूम्ना० आदि, पृष्ठ ७३), '**अग्नि-प्रदीपन**' (ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने आदि, पृष्ठ ७३), ४ मन्त्रों से '**समिदाधान**' (ओम् अयन्त इध्म आत्मा०+ओं समिधाग्निं दुवस्यत+सुसमिद्धाय शोचिषे०+तन्त्वा समिद्भिरंगिरो० आदि, पृष्ठ ७४-७७), ३ मन्त्रों से वेदी के तीनों ओर '**जलप्रसेचन**' (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व आदि, पृष्ठ ७७), वेदी के चारों ओर **जल-प्रसेचन** (ओं देव सवितः प्रसुव आदि, पृष्ठ ७८), ४ '**आघारावाज्यभागाहुतियाँ**' (ओम् अग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७८), ४ '**व्याहृति आहुतियाँ**' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९), ८ '**अष्टाज्याहुतियाँ**' ('ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य' से लेकर 'ओं भवतन्नः समनसौ' तक, पृष्ठ ८२-८५)—ये कुल १६

---

* अगर उपनयन तथा वेदारम्भ एक-साथ किये जायें, तो दोनों में समान विधि-भाग को दोहरा ने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये।

आहुतियाँ देने के पश्चात् बालक से 'प्रधान-होम'* की निम्न ४ आहुतियाँ दिलवायें—

['प्रधान-होम' की ४ पवमानी आहुतियाँ दिलवायें]

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः।
आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥ १॥
ओं भूर्भुवः स्वः। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः।
तमीमहे महागयं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥ २॥
ओं भूर्भुवः स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्।
दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥ ३॥
ओं भूर्भुवः स्वः। प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा॥
इदं प्रजापतये—इदं न मम॥ ४॥

[तत्पश्चात् बालक से ६ आहुतियाँ दिलवायें]

४ व्याहृति आहुतियाँ (ओं भूरग्नये स्वाहा, ओं भुवर्वायवे स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९)

१ स्विष्टकृत् आहुति (ओं यदस्य कर्मणो आदि, पृष्ठ ८०)

१ प्राजापत्य मौन आहुति (ओं प्रजापतये स्वाहा, पृष्ठ ८०)

[बालक द्वारा निम्न मन्त्रों से वेदी की अग्नि को इकट्ठा करना]

ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु।
यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि।
एवं माꣳ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु।
यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि।
एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्॥[1] —पार०, २,४,२

शब्दार्थ—(**अग्ने**) हे अग्निस्वरूप भगवन्! आपकी (**सुश्रवः**) कीर्ति सुनी जाती है (**मा**) मुझे (**सुश्रवसं कुरु**) भी कीर्तिमान् करो। (**सुश्रवः अग्ने**) कीर्तिमान् अग्निस्वरूप भगवन्! (**त्वम्**) तू (**यथा**) जैसे (**सुश्रवा असि**) सुकीर्तिमान् है (**एवम्**) इसी तरह (**मां**) मुझे (**सुश्रवः**) सुकीर्तिमान् तथा (**सौश्रवसम्**) सुकीर्तिमान् सन्तान वाला (**कुरु**) कर। (**अग्ने**) अग्निस्वरूप भगवन्! (**यथा**

---

* 'प्रधान-होम' के सम्बन्ध में हम सामान्य-प्रकरण (पृष्ठ ६८) में एक फुटनोट लिख आये हैं। प्रधान-होम उसको कहते हैं जो संस्कार में मुख्य करके किया जाता है।

१. 'ओं अग्ने सुश्रवः' से 'निधिपो भूयासम्' तक को कई आचार्य तीन, कई पाँच मन्त्र मानते हैं, ऋषि दयानन्द ने इन्हें एक ही मन्त्र माना है।

त्वम्) जैसे तू (**देवानाम् यज्ञस्य**) दिव्य गुणों को धारण करने वाले व्यक्तियों के यज्ञ अर्थात् कारोबार से उत्पन्न (**निधिपा**) निधि—खजाने—का रक्षक (**असि**) है (**एवम्**) वैसे ही (**अहम्**) मैं (**मनुष्याणां**) मनुष्यों के (**वेदस्य**) ज्ञान रूपी (**निधिपः**) खजाने का रक्षक (**भूयासम्**) होऊँ।

भावार्थ—बालक भगवान् से प्रार्थना करता है कि जैसे अग्निरूप भगवान् की विश्व में कीर्ति प्रसिद्ध है वैसे मैं भी ब्रह्मचर्य-व्रत पालन कर तथा वेदों का ज्ञान प्राप्त कर कीर्तिमान् होऊँ और ज्ञान की रक्षा कर संसार में ज्ञान का प्रकाश सब जगह फैलाऊँ।

[बालक द्वारा कुण्ड की निम्न ४ मन्त्रों से प्रदक्षिणा तथा सब ओर जल-प्रसेचन]

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व॥ १॥
ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥ २॥
ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व॥ ३॥
ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥ ४॥

[निम्न मन्त्र को ३ बार बोलकर हर-वार एक-एक समिधा डाले]

तत्पश्चात्, उत्तराभिमुख खड़ा होकर निम्न मन्त्र को तीन वार बोलकर तीन वार घृत में भिगो कर बालक समिधा छोड़े—

ओम् अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽ एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्म वर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णु-र्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहा॥
—पार०गृह्य०, कां० २, कं ४,३

शब्दार्थ—मैं ब्रह्मचारी (**बृहते**) महान् (**जातवेदसे**) जाते-जाते विद्यते—जो हर वस्तु में विद्यमान है उस (**अग्नये**) अग्नि के लिये (**समिधम्**) समिधा को (**आहार्षम्**) लाया हूँ। (**अग्ने**) हे अग्नि (**यथा**) जैसे (**त्वम्** तू (**समिधा**) समिधा से (**समिध्यसे**) प्रज्वलित होती है (**एवम्**) इसी तरह (**अहम्**) मैं (**आयुषा, मेधया, वर्चसा, प्रजया, पशुभिः, ब्रह्मवर्चसेन**) आयु, मेधा, वर्चस्, प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज से (**समिन्धे**) प्रदीप्त होऊँ (**मम आचार्यः**) मेरा आचार्य (**जीवपुत्रः**) गुरु-शिष्य परम्परा में जीवपुत्र हो (**अहम् मेधावी असानि**) मैं मेधावी होऊँ (**अनिराकरिष्णुः**) आचार्य की आज्ञा का निराकरण—उल्लंघन करनेवाला न होऊँ (**यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी**) यशवाला, शारीरिक तेजवाला, ब्रह्मतेजवाला (**भूयासम्**) होऊँ और (**अन्नादः**) अन्न खानेवाला (**भूयासम्**) होऊँ।

भावार्थ—अग्नि में समिधा डालने पर ब्रह्मचारी देखता है कि जिस समिधा में

कोई दीप्ति, चमक, ज्वाला नहीं थी, उसमें दीप्ति, चमक, ज्वाला आ गई। वह अग्नि में समिधा छोड़ता हुआ आचार्य से प्रार्थना करता है कि मैं इस समिधा की तरह हूँ जिसमें ज्योति नहीं है, मैं आपके सम्पर्क में आकर आप जैसा दीप्तिमान् हो जाऊँ। आप ज्ञान की अग्नि से उज्ज्वल हो रहे हैं, आपके संग से मैं भी वैसा ही उज्ज्वल हो जाऊँ जैसे समिधा आग में पड़ने से चमक उठती है। आप दीर्घायु हैं, मेधावान् हैं, वर्चस्वी हैं, ब्रह्मवर्चस्वी हैं, आपके सान्निध्य से मुझे भी ये गुण प्राप्त हों। मैं आपके चरणों में '**अनिराकरिष्णु**' रूप से अपने को सौंपता हूँ—आप जो आज्ञा देंगे उसका कभी निराकरण—उल्लंघन—नहीं करूँगा, सदा आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करूँगा।

इस मन्त्र में जहाँ कहागया है कि मैं '**तेजस्वी**', '**ब्रह्मवर्चस्वी**' बनूँ, वहाँ यह भी कहा गया है कि मैं '**अन्नाद**' भी बनूँ। तेजस्वी, ब्रह्मवर्चस्वी का यह अर्थ नहीं है कि बालक ब्रह्म-ध्यान में ही अपने को खो दे, संसार को भूल जाये। '**अन्नाद**' का अर्थ है—अन्न खानेवाला। मैं अध्यात्म की तरफ आता हूँ, परन्तु आधिभौतिक को भुलाकर नहीं आता—भरपेट खाऊँगा और परमात्मा का भजन करूँगा—यह '**ब्रह्मवर्चस्वी**' के साथ '**अन्नाद**' को जोड़ देने का अभिप्राय है।

[बालक द्वारा ७ मन्त्रों से हस्त-ताप तथा मुख-स्पर्श]

पुनः पहले लिखे अनुसार "**ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं०**"—इस मन्त्र से वेदिस्थ अग्नि को इकट्ठा करके, "**ओम् अदितेऽनुमन्यस्व०**" (पृष्ठ.....) इत्यादि चार मन्त्रों से कुण्ड के सब ओर जल सेचन करके, बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठ के, वेदी के अग्नि पर दोनों हाथों को थोड़ा-सा तपा के हाथ में जल लगा निम्न ७ मन्त्रों से सात बार मुख-स्पर्श करे—

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि॥ १ ॥
ओम् आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि॥ २ ॥
ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि॥ ३ ॥
ओम् अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्म आपृण॥ ४॥
ओं मेधां मे देवः सविता आदधातु॥ ५ ॥
ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु॥ ६ ॥
ओं मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ॥ ७॥ —पार० २,४,७-८

शब्दार्थ—(**अग्ने**) हे अग्ने! (**तनूपा असि**) तू शरीर का रक्षक है (**मे तन्वम्**) मेरे शरीर की (**पाहि**) रक्षा कर॥ १ ॥ (**अग्ने**) हे अग्ने (**आयुर्दा असि**) तू आयु को देनेवाला है (**मे**) मुझे (**आयुः**) दीर्घजीवन (**देहि**) दे॥ २ ॥ (**अग्ने**) हे अग्ने! (**वर्चोदा असि**) तू वर्चस्—तेज—देनेवाला है (**मे वर्चः देहि**) मुझे तेज दे॥ ३ ॥ (**अग्ने**) हे अग्ने! (**मे तन्वा**) मेरे तन में (**यत् ऊनं**) जो न्यूनता हो (**तत्**

मे) उस मेरी न्यूनता को **(आपृण)** पूरा कर दो ॥ ४ ॥ **(सविता देवः)** सब कुछ प्रसव करने वाला दिव्य-गुण-युक्त भगवान् **(मे)** मुझ में **(मेधाम्)** बुद्धि का **(आदधातु)** आधान करे ॥ ५ ॥ **(सरस्वती देवी)** ज्ञान देनेवाली भगवान् की दिव्य-शक्ति **(मे मेधाम्)** मुझ में बुद्धि का **(आदधातु)** आधार करे ॥ ६ ॥ **(पुष्कर-स्रजौ)** सुन्दर माला धारण किये हुए **(अश्विनौ देवौ)** गुरुकुल के आचार्य तथा अधिष्ठाता **(मे मेधाम्)** मुझ में बुद्धि का **(आधत्ताम्)** आधान करें ॥ ७ ॥

[निम्न ५ मन्त्रों से बालक द्वारा अंग-स्पर्श]

हस्त-ताप तथा मुख-स्पर्श के बाद निम्न ५ मन्त्रों से बालक हथेली को किञ्चित् उष्ण कर हाथ में जल लगा नीचे लिखे मन्त्रों द्वारा निम्न अंगों का स्पर्श करे—

ओं वाक् च म आप्यायताम् ॥ १ ॥ —इस मन्त्र से मुख
ओं प्राणश्च म आप्यायताम् ॥ २ ॥ —इस मन्त्र से नासिका-द्वार
ओं चक्षुश्च म आप्यायताम् ॥ ३ ॥ —इस मन्त्र से दोनों नेत्र
ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम् ॥ ४ ॥ —इस मन्त्र से दोनों कान
ओं यशो बलञ्च म आप्यायताम् ॥ ५ ॥
—इस मन्त्र से दोनों बाहुओं को स्पर्श करे

शब्दार्थ—(मे) मेरी **(वाक्)** वाणी की शक्ति **(आप्यायताम्)** भरपूर हो ॥ १ ॥ **(मे)** मेरी **(प्राणः)** प्राण-शक्ति **(आप्यायताम्)** भरपूर हो ॥ २ ॥ **(मे)** मेरी **(चक्षुः)** देखने की शक्ति **(आप्यायताम्)** भरपूर हो ॥ ३ ॥ **(मे)** मेरी **(श्रोत्रम्)** सुनने की शक्ति **(आप्यायताम्)** भरपूर हो ॥ ४ ॥ **(मे)** मेरा **(यशः बलम्)** यश तथा आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक बल **(आप्यायताम्)** भरपूर हो ॥ ५ ॥

[बालक द्वारा निम्न ६ मन्त्रों से परमेश्वर का उपस्थान]

ओं मयि मेधां मयि प्रजां मय्यग्निस्तेजो दधातु ॥ १ ॥
मयि मेधां मयि प्रजां मयीन्द्र इन्द्रियं दधातु ॥ २ ॥
मयि मेधां मयि प्रजां मयि सूर्यो भ्राजो दधातु ॥ ३ ॥
यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहं तेजस्वी भूयासम् ॥ ४ ॥
यत्ते अग्ने वर्चस्तेनाहं वर्चस्वी भूयासम् ॥ ५ ॥
यत्ते अग्ने हरस्तेनाहं हरस्वी भूयासम् ॥ ६ ॥ —आश्व० १,२१,४

शब्दार्थ—(अग्निः) अग्निस्वरूप परमेश्वर **(मयि मेधां)** मुझ में मेधा-शक्ति को **(मयि प्रजाम्)** मुझ में प्रजनन की शक्ति को **(तेजः दधातु)** ऐसा बनाये कि उसका तेज बन जाये—ब्रह्मचर्य पालन का तेज तभी बनता है जब वीर्य नष्ट होने के स्थान में उसको शरीर में खपाया जाता है ॥ १ ॥ **(इन्द्रः)** परमैश्वर्यस्वरूप परमेश्वर

(मयि मेधां) मुझमें मेधा शक्ति को **(मयि प्रजाम्)** मुझमें प्रजनन की शक्ति को **(इन्द्रियम् दधातु)** ऐसा बनाये कि ये दोनों मेरी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को बलवान् बनायें—ब्रह्मचर्य-पालन से इन्द्रियाँ कमजोर होने के स्थान में बलवती हो जाती हैं॥ २ ॥ **(सूर्यः)** सूर्य के समान दीप्तिमान् परमेश्वर **(मयि मेधां)** मुझ में मेघा शक्ति को **(मयि प्रजाम्)** मुझमें प्रजनन की शक्ति को **(भ्राजः दधातु)** ऐसा बनायें कि ये परिपक्व हो जाएँ—सूर्य का काम हर वस्तु को '**भ्राज**'—भ्रस्ज पाके—परिपाक-क्रिया द्वारा परिपक्व करना है॥ ३ ॥ **(अग्ने)** हे अग्ने! **(यत् ते)** जो तेरा **(तेजः)** तेजस्वी स्वरूप है, **(तेन)** उससे **(अहम्)** मैं **(तेजस्वी भूयासम्)** तेजस्वी बनूँ॥ ४ ॥ **(अग्ने)** हे अग्ने! **(यत् ते)** जो तेरा **(वर्चः)** वर्चस-तेज है **(तेन)** उससे **(अहम्)** मैं **(वर्चस्वी)** वर्चसवाला **(भूयासम्)** बनूँ॥ ५ ॥ **(अग्ने)** हे अग्ने! **(यत् ते)** जो तेरा **(हरः)** हरण करनेवाला—दुर्गुणों का हरण करनेवाला स्वभाव है **(तेन)** उससे **(अहम्)** मैं **(हरस्वी)** दुर्गुणों का हरण करनेवाला **(भूयासम्)** बनूँ॥ ६ ॥

भावार्थ—'मेधा' और 'प्रजा'—ये दो शक्तियाँ प्रत्येक बालक में होती हैं। 'मेधा' है आध्यात्मिक तथा मानसिक शक्ति, 'प्रजा' है वीर्य की शक्ति, भौतिक शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ बालक में तेज को, इन्द्रियों के बल को, शरीर, मन, बुद्धि की परिपक्वता को, तेजस्विता को, दुर्गुणों के परिहरण को बढ़ायें—ऐसी उक्त मन्त्रों से बालक ने प्रार्थना की है। बालक को बोले—

[आचार्य द्वारा बालक को गायत्री का उपदेश]

उक्त मन्त्रों से बालक परमेश्वर का उपस्थान करके कुण्ड की उत्तर बाजू की ओर जाके, जानू को भूमि में टेक के पूर्वाभिमुख बैठे और आचार्य बालक के सम्मुख पश्चिमाभिमुख बैठे। बालक बोले—

बालकोक्तिः—अधीहि भूः सावित्रीं भो अनुब्रूहि॥ —आश्व० १,२१,४

अर्थात्, आचार्य से बालक कहे कि—हे आचार्य! प्रथम एक ओंकार पश्चात् तीन महाव्याहृति, तत्पश्चात् सावित्री—ये त्रिक अर्थात् तीनों मिल के परमात्मा के वाचक मन्त्र का मुझे उपदेश कीजिये।

तत्पश्चात्, आचार्य एक वस्त्र अपने और बालक के कन्धे पर रख के अपने हाथ से बालक के दोनों हाथों की अङ्गुलियों को पकड़ के आगे लिखे प्रमाणे बालक को तीन वार गायत्री का मन्त्रोपदेश करे—

प्रथम वार—ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्।

इतना टुकड़ा एक-एक पद का शुद्ध उच्चारण बालक से कराके,

दूसरी वार—ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

एक-एक पद से यथावत् धीरे-धीरे उच्चारण करवा के,

तीसरी वार—ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ —यजु० ३६,३

धीरे-धीरे इस मन्त्र को बुलवा के, संक्षेप से इसका अर्थ भी नीचे लिखे प्रमाणे आचार्य सुनावे—

शब्दार्थ—(**ओ३म्**) यह परमेश्वर का नाम मुख्य है, जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं, (**भूः**) जो प्राण का भी प्राण, (**भुवः**) सब दुःखों से छुड़ानेहारा, (**स्वः**) स्वयं सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुखों की प्राप्ति करानेहारा है, उस (**सवितुः**) सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (**देवस्य**) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय करानेहारे परमात्मा का, जो (**वरेण्यम्**) अतिश्रेष्ठ, ग्रहण और ध्यान करने योग्य, (**भर्गः**) सब क्लेशों को भस्म करनेहारा, पवित्र, शुद्धस्वरूप है, (**तत्**) उसको हम लोग (**धीमहि**) धारण करें, (**यः**) यह जो परमात्मा (**नः**) हमारी (**धियः**) बुद्धियों को उत्तम गुण-कर्म-स्वभावों में (**प्र, चोदयात्**) प्रेरणा करे। इसी प्रयोजन के लिये इस जगदीश्वर की स्तुतिप्रार्थनोपासना करना और इससे भिन्न और किसी को उपास्य इष्टदेव, उसके तुल्य वा उससे अधिक नहीं मानना चाहिये।

[हृदयस्पर्शपूर्वक आचार्य द्वारा प्रतिज्ञा]

इस प्रकार अर्थ सुनाये पश्चात् निम्न मन्त्र से बालक और आचार्य पूर्ववत् दृढ़ प्रतिज्ञा करें—

ओं मम व्रते हृदयं ते दधामि मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकव्रतो जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥*

—आश्व० गृह्य० १,२१,७

[आचार्य द्वारा मेखला धारण कराना]

निम्न मन्त्र से आचार्य सुन्दर, चिकनी, प्रथम बना के रक्खी हुई मेखला को बालक के कटि में बाँधे—

ओम् इयं दुरुक्तं परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात्।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम्॥

—ऋक् ३,८,४; पार०कां० २, कं० २,८

शब्दार्थ—(**इयम्**) यह मेखला (**दुरुक्तं**) कठिनाई से बोलने को

---

* इस मन्त्र का अर्थ उपनयन (पृष्ठ २७३) में देखो। वहाँ 'एकव्रतो' की जगह 'एकमना' है।

(परिवाधमाना) परिबाधित अर्थात् हटाती हुई **(वर्णं)** बोलने के शब्दों को **(पवित्रं पुनती)** छान-छानकर—पुनकर—पवित्र करती हुई **(म)** मुझे **(आगात्)** प्राप्त हुई है। **(इयं मेखला)** यह मेखला—तगड़ी—**(स्वसा, सुभगा, देवी)** बहन की तरह सौभाग्य देनेवाली देवी तुल्य है। यह **(प्राणापानाभ्यां)** प्राण और अपान से **(बलम्)** बल का **(आदधाना)** आधान करती है, देती है।

भावार्थ—मेखला उस धागे को कहते हैं जिसे बच्चे की कमर में बाँध दिया जाता है। इसे पंजाबी में तगड़ी कहते हैं। मेखला के धारण से बालक की बाणी में अस्पष्टता नहीं रहती, वह स्पष्ट बोलने लगता है, उसकी बाणी मानो कठिन शब्द उच्चारण के लिये छन-सी जाती है—यह इस कथन का अभिप्राय है। इस बात को आजमा कर देखना चाहिये कि तगड़ी का यह प्रभाव होता है या नहीं। जिन लोगों ने यह वाक्य लिखा था उनका ऐसा अनुभव होगा—ऐसा मानना पड़ता है। अगर अनुभव से पता चले कि यह बात ठीक है, तो उन माता-पिता के लिये यह बड़े पते की बात है जिनके बालक देर तक बोल नहीं सकते। **'पवित्रं वर्णं पुनती आगात्'** का यही अर्थ बनता है कि मेखला वर्णोच्चारण को पवित्र कर देती है, उसे पुन देती है, छान देती है, इसके धारण करने से बच्चा कठिन शब्दों को भी आसानी से बोलने लगता है। इसके अतिरिक्त मेखला का धारण प्राण और अपान को बल देता है—यह दूसरी बात इस वाक्य में कही गई है। प्राण और अपान को बल देने का यह अर्थ है कि मेखला के धारण करने से प्राण-शक्ति प्रबल हो जाती है, अपान-शक्ति भी प्रबल हो जाती है। प्राण-शक्ति के प्रबल होने का यह अर्थ है कि इसके कारण मनुष्य हाँपता नहीं, उसका सांस ठीक से चलता है, अपान-शक्ति के प्रबल होने का यह अर्थ है कि उसके पेट में वायु का दोष नहीं होता। जैसे मेखला के कारण बोलने में सहायता की बात विज्ञान के लिये खोज करने की बात है, वैसे ही मेखला के कारण सांस तथा पेट को लाभ पहुँचने की बात भी खोज करने की बात है।

इसमें सन्देह नहीं कि मेखला जैसी कोई वस्तु सदा, सब देशों में चली आ रही है। कोई पेटी बाँध लेता है, कोई नाड़ा बाँधते हैं, कोई धोती के लपेट कसते हैं—हर तरह से कमर कसी जाती है। अगर कोई कठिन काम करना हो, तो कमर को कस कर लपेट लिया जाता है—यह सबके अनुभव की बात है। मेखला एक तरह से कमर को कसने का ही उपक्रम है क्योंकि मेखला सिर्फ तागा नहीं होता, संस्कार-विधि में लिखा है कि मेखला ब्रह्मण की मुंज या दर्भ की, क्षत्रि की धनुष-संज्ञक तृण या वल्कल की और वैश्य की ऊन या सन की होनी चाहिये।

मेखला बाँधने का यह भी अर्थ हो सकता है कि बालक का हाथ मेखला तक जाये, नीचे न जाये। छोटा बच्चा प्राय: अपने अंगों से खेलने लगता है, मेखला बंधी

होगी तो वह नीचे के अंगों से खेलने के बजाय मेखला से खेलने लगेगा।

[आचार्य द्वारा बालक को कौपीन आदि धारण कराना]

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः॥

—ऋ०मं० ३, सू० ८, मन्त्र ४। पार० २,२,९

पहले मन्त्रार्ध का अर्थ उपनयन संस्कार (पृष्ठ २७१) में दिया जा चुका है। युवक शोभन वस्त्रों को धारण कर, यज्ञोपवीत को पहन कर आया है, वह नवीन जन्म लेता हुआ—उपनयन—संस्कार होने पर बालक 'द्विजन्मा'—'द्विज'—कहलाता है, इसलिये बालक को 'जायमान:' कहा है **(श्रेयान् भवति)** पहले से उत्तम जन्म—विद्या का जन्म ले रहा है। **(तं)** उसे **(धीरासः)** धीर **(कवयः)** ज्ञानी लोग **(देवयन्तः)** उसे दिव्य गुणोंवाला बनने के लिए **(उन्नयत्ति)** ऊर्धगामी जीवन में जाने के लिये सहायता करते हैं। कैसे कवि? **(स्वाध्यः)** स्वाध्यायशील।

उक्त मन्त्र को बोल के, दो शुद्ध कौपीन, दो अङ्गोछे और एक उत्तरीय और दो कटि-वस्त्र ब्रह्मचारी को आचार्य देवे, और उनमें से एक कौपीन, एक कटि-वस्त्र और एक उपन्ना बालक को आचार्य धारण करावे।

[दण्ड-धारण]*

तत्पश्चात्, आचार्य दण्ड हाथ में लेके सामने खड़ा रहे, और बालक भी आचार्य के सामने हाथ जोड़ निम्न मन्त्र को बोलकर आचार्य के हाथ से दण्ड लेले—

ओं यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्याम्।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥ —पार० कां० २, कं० २,१२

शब्दार्थ—**(यः)** जो **(मे)** मेरा **(दंडः)** दंड **(वैहायसः)** आकाश की तरफ ऊँचा **(अधिभूम्याम्)** और भूमि पर **(परापतत्)** टिका खड़ा है **(तं अहम्)** उसे मैं **(पुनः आददे)** फिर से ग्रहण करता हूँ। पहले तो जब उसे जंगल से काट कर लाया था तब ग्रहण किया था, परन्तु अब इसे पुनः ग्रहण करता हूँ—किसलिये? **(आयुषे)** जीवन की रक्षा के लिये **(ब्रह्मणे)** वेद की रक्षा के लिये तथा **(ब्रह्मवर्चसाय)** अपने वर्चस्व प्राप्त करने के लिये। दण्ड-धारण जहाँ अपने लिये आत्म-रक्षा का साधन है, वहाँ दूसरों के लिये भय का कारण है।

---

* ब्राह्मण के बालक को खड़ा रख के भूमि से ललाट के केशों तक पलाश वा बिल्व वृक्ष का, क्षत्रिय को वट वा खदिर का ललाट-भ्रू तक, वैश्य को पीलू अथवा गूलर वृक्ष का नासिका के अग्रभाग तक दण्ड-प्रमाण है। और वे दण्ड चिकने सूधे हों, अग्नि में जले, टेढ़े कीड़ों के खाये हुए न हों। और एक-एक मृग-चर्म उनके बैठने के लिये, एक-एक जलपात्र, एक-एक उपपात्र और एक-एक आचमनीय सब ब्रह्मचारियों को देना चाहिये।

[पिता द्वारा बालक को उपदेश]

तत्पश्चात्, पिता ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्याश्रम का साधारण उपदेश करे—

ब्रह्मचार्यसि असौ*—१; अपो अशान—२; कर्म कुरु—३; दिवा मा स्वाप्सीः—४; आचार्याधीनो वेदमधीष्व—५ (आश्व० १.२२.२); **द्वादश वर्षाणि प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं गृहाण वा ब्रह्मचर्यं चर—६** (आश्व० १.२२.३-४); **आचार्याधीनो भवान्यत्राधर्माचरणात्—७; क्रोधानृते वर्जय—८; मैथुनं वर्जय—९; उपरि शय्यां वर्जय—१०; कौशीलवगन्धाञ्जनानि वर्जय—११** (गोभिल गृह्य ३.११.१३-१७); **अत्यन्तं स्नानं भोजनं निद्रां जागरणं निन्दां लोभमोहभयशोकान् वर्जय—१२** (गोभिल गृह्य ३.१.१४); **प्रतिदिनं रात्रेः पश्चिमे यामे चोत्त्थायावश्यकं कृत्त्वा दन्तधावनस्नानसन्ध्योपासनेश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासनायोगाभ्यासान्नित्यमाचर—१३; क्षुरकृत्यं वर्जय—१४** (गोभिल गृह्य, ३.१.२०); **मांसरुक्षाहारं मद्यादिपानं च वर्जय—१५; गवाश्वहस्त्युष्ट्रा-दियानं वर्जय—१६; अन्तर्ग्रामनिवासोपानच्छत्रधारणं वर्जय—१७** (गोभिल गृह्य ३.२.२१-२४); **अकामतः स्वयमिन्द्रियस्पर्शेन वीर्यस्खलनं विहाय वीर्यं शरीरे संरक्ष्योर्ध्वरेताः सततं भव—१८; तैलाभ्यङ्गमर्दनात्यम्लातितिक्तकषाय-क्षाररेचनद्रव्याणि मा सेवस्व—१९; नित्यं युक्ताहार विहारवान् विद्योपार्जने च यत्नवान् भव—२०; सुशीलो मितभाषी सभ्यो भव—२१; मेखलादण्ड-धारणभैक्ष्यचर्यसमिदाधानोदकस्पर्शप्रियाचरणप्रातः सायमभिवादनविद्या-संचयजितेन्द्रियत्वादीन्येते ते नित्यधर्माः—२२**[१] (गोभिल गृह्य ३.१.२५)।

अर्थ—तू आज से ब्रह्मचारी है—१; नित्य सन्ध्योपासन (और) भोजन के पूर्व शुद्ध जल का आचमन किया कर—२; दुष्ट कर्मों को छोड़ धर्म (युक्त कर्म) किया कर—३; दिन में शयन कभी मत कर—४; आचार्य के आधीन रह के नित्य साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ने में पुरुषार्थ किया कर—५; एक-एक साङ्गोपाङ्ग वेद के लिये बारह-बारह वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य अर्थात् ४८ वर्ष तक वा जबतक साङ्गोपाङ्ग चारों वेद पूरेहोवें, तबतक अखण्डित ब्रह्मचर्य कर—६; आचार्य के आधीन धर्माचरण में रहा कर, परन्तु यदि आचार्य अधर्माचरण वा अधर्म करने का उपदेश करे, उसको तू कभी मत मान और उसका आचरण मत कर—७; क्रोध और मिथ्याभाषण करना छोड़ दे—८; आठ** प्रकार के मैथुन को छोड़ देना—९; भूमि में शयन करना, पलङ्ग आदि पर कभी न सोना—१०; कौशीलव अर्थात् गाना, बजाना तथा नृत्य आदि निन्दित कर्म,

---

* 'असौ' इस पद के स्थान में ब्रह्मचारी का नाम सर्वत्र उच्चारण करे।

१. श्री युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार १३.१९.२०.२१ ग्रन्थकार के अपने वचन हैं।

** स्त्री का ध्यान, कथा, स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, आलिङ्गन, एकान्तवास और समागम—यह आठ प्रकार का मैथुन कहाता है, जो इनको छोड़ देता है वही ब्रह्मचारी होता है।

गन्ध और अञ्जन का सेवन मत कर—११; अति स्नान, अति भोजन, अधिक निद्रा, अधिक जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक का ग्रहण कभी मत कर—१२; रात्रि के चौथे पहर में जाग, आवश्यक शौचादि, दन्तधावन, स्नान, सन्ध्योपासन, ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना, योगाभ्यास का आचरण नित्य किया कर—१३; क्षौर मत करा—१४; मांस, रूखा, शुष्क अन्न मत खावे और मद्यादि मत पीवे—१५; बैल, घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि की सवारी मत कर—१६; गाँव में निवास और जूता और छत्र का धारण मत कर—१७; लघुशंका के बिना उपस्थ इन्द्रिय के स्पर्श से वीर्यस्खलन कभी न करके वीर्य को शरीर में रख के निरन्तर ऊर्ध्वरेता अर्थात् नीचे वीर्य को मत गिरने दे, इस प्रकार यत्न से बर्त्ता करे—१८; तैलादि से अङ्गमर्दन, उबटना, अति खट्टा (इमली आदि), अति तीखा (लालमिर्ची आदि), कसेला (हरेड़ें आदि), क्षार (अधिक लवण आदि) और रेचक (जमालगोटा आदि) द्रव्यों का सेवन मत कर—१९; नित्य युक्ति से आहार-विहार करके विद्याग्रहण में यत्नशील हो—२०; सुशील, थोड़े बोलने वाला, सभा में बैठने योग्य गुण ग्रहण कर—२१; मेखला और दण्ड का धारण, भिक्षाचरण, अग्निहोत्र, स्नान, सन्ध्योपासन, आचार्य का प्रियाचरण, प्रातःसायं आचार्य को नमस्कार करना, ये तेरे नित्य करने के और जो निषेध किये वे नित्य न करने के कर्म हैं—२३।

जब यह उपदेश पिता कर चुके, तब बालक पिता को नमस्कार कर हाथ जोड़ के कहे कि जैसा आपने उपदेश किया वैसा ही करूँगा।

[बालक द्वारा भिक्षा की विधि]

तत्पश्चात्, ब्रह्मचारी यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में खड़ा रह के माता, पिता, बहिन, भाई, मामा, मौसी, चाचा आदि से लेके जो भिक्षा देने में नकार न करें उनसे भिक्षा* माँगे, और जितनी भिक्षा मिले वह आचार्य के आगे धर देनी। तत्पश्चात्, आचार्य उसमें से कुछ थोड़ा-सा अन्न लेके वह सब भिक्षा बालक को दे देवे और वह बालक उस भिक्षा को अपने भोजन के लिये रख छोड़े।

तत्पश्चात्, बालक को शुभासन पर बैठा के वामदेव्यगान (पृष्ठ....) को करना। तत्पश्चात्, बालक पूर्व रक्खी हुई भिक्षा का भोजन करे। पश्चात्, सायंकाल तक विश्राम और सन्ध्योपासन आचार्य बालक के हाथ से करावे।

---

* ब्राह्मण का बालक यदि पुरुष से भिक्षा माँगे तो ''भवान् भिक्षां ददातु'' और जो स्त्री से माँगे तो ''भवती भिक्षां ददातु'', और क्षत्रिय का बालक ''भिक्षां भवान् ददातु'' और स्त्री से ''भिक्षां भवती ददातु'', वैश्य का बालक ''भिक्षां ददातु भवान्'' और ''भिक्षा ददातु भवती'' ऐसा वाक्य बोले।

[अग्नि-प्रदीपन, समिदाधान, ८ आज्याहुतियाँ देना]

तत्पश्चात्, ब्रह्मचारी सहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे और स्थालीपाक (अर्थात् भात, खिचड़ी, खीर, लड्डू, मोहनभोग आदि सब उत्तम पदार्थ) बना, उसमें घी डाल निम्न मन्त्रों से अग्नि प्रदीप्त करे—

[यज्ञाग्नि में ३ समिधायें रखना—समिदाधान]

ओम् अयं त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥ १ ॥ इससे पहली समिधा डाले।

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा। इदमग्नये—इदं नन मम॥
सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा। इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥ २ ॥
उक्त दोनों मन्त्रों से दूसरी समिधा डालें।

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि बृहच्छोचा यविष्ठय स्वाहा।
इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदं न मम॥ ३ ॥ इससे तीसरी समिधा डाले।

[भात तथा घृत की आघारावाज्यभागाहुतियाँ देना]

ओं अग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदं न मम॥ १ ॥
यज्ञकुण्ड के उत्तरभाग में प्रज्वलित अग्नि पर आहुति दे।
ओं सोमाय स्वाहा। इदं सोमाय—इदं न मम॥ २ ॥
इससे दक्षिण भाग में आहुति दे।
ओं प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये—इदं न मम॥ ३ ॥ इस मन्त्र से और
ओं इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय—इदं न मम॥ ४॥ इससे बीच में

[भात तथा घृत की ४ व्याहृति आहुतियाँ देना]

ओं भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदं न मम॥ १ ॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा। इदं वायवे—इदं न मम॥ २ ॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा। इदमादित्याय—इदं न मम॥ ३ ॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम॥ ४॥

[ब्रह्मचारी खड़ा होकर निम्न मन्त्रों से ३ समिधाओं की आहुतियाँ दे]

ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु। यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि। एवं मा॑ꣳ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु। यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि। एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्॥ —पार० कां० २, कं० ४,२*

* इसका अर्थ देखें (पृष्ठ......)

[तदनन्तर बैठकर बालक द्वारा यज्ञाग्नि से हस्त-ताप तथा मुख-स्पर्श]

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि॥ १॥
ओम् आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि॥ २॥
ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि॥ ३॥
ओम् अग्ने यन्मे तन्वाऽ ऊनं तन्म आपृण॥ ४॥
ओं मेधां मे देवः सविता आदधातु॥ ५॥
ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु॥ ६॥
ओं मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥ ७॥

शब्दार्थ तथा भावार्थ—हे **(अग्ने)** अग्निस्वरूप भगवन्! आप **(तनूपा)** सब देहधारियों के शरीर की रक्षा करनेहारे हो, **(आयुर्दा)** सब देहधारियों को आयु देनेहारे हो, **(वर्चोदा)** वर्चस्व देनेहारे हो, आप **(मे तन्वं)** हमारे शरीर की **(पाहि)** रक्षा कीजिये, **(आयुः, वर्चः)** हमें आयु दीजिये, हमें वर्चस्व **(पाहि)** दीजिये। हमारे **(मे तन्वा ऊनं)** शरीर में जो कमी हो उसे **(आपृण)** पूर्ण कीजिये **(सविता देवः)** संसार को प्रकाश देनेवाला सूर्य **(मे मेधां आदधातु)** मेरे मस्तिष्क की मेधा—बुद्धि—द्वारा प्रकाशित करे **(देवी सरस्वती)** दिव्य गुणों वाली विद्या-माता **(मे मेधां आदधातु)** मुझे मेधा दे **(पुष्करस्रजौ अश्विनौ देवौ)** बहुविध सूक्ष्म मेधा रूपी मालाओं से अलंकृत मेरे आचार्य तथा उपदेशक **(मे मेधां आधत्ताम्)** मुझमें बुद्धि का आधान करें।

[भात की ४ स्थालीपाकाहुतियाँ]

तत्पश्चात्, बालक भात या खिचड़ी को आचार्य को भोजन के लिये देवे। पुनः आचार्य उस भात में से आहुति के अनुमान भात को स्थाली में लेकर, उसमें घी मिला निम्न तीन मन्त्रों से तीन और '**ओं यदस्य कर्मणो**' (पृष्ठ ८०)—इस मन्त्र से चौथी आहुति दे—

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥ इदं सदसस्पतये—इदं न मम॥ १॥[१]

—यजु० अ० ३२, मं० १३

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात् स्वाहा॥
इदं सवित्रे—इदं न मम॥ २॥ —यजु० ३.३५

ओम् ऋषिभ्यः स्वाहा॥ इदं ऋषिभ्यः—इदं न मम॥ ३॥

—आश्व० अ० १, कं० २२, सू० १४

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं० आदि॥ ४॥ —(पृष्ठ ८०)

---

१. इस मन्त्र का अर्थ जातकर्म (१८२) में देखें।

[४ व्याहृति तथा ८ अष्टाज्याहुतियाँ]

तत्पश्चात्, ४ '**व्याहृति आहुतियों**' ('ओं भूरग्नये स्वाहा' से '**ओं भूर्भुवः स्वरग्नि**' तक, पृष्ठ ७९) तथा ८ '**अष्टाज्याहुतियों**' ('ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य'० से लेकर 'ओं भवतन्नः समसौ' तक, पृष्ठ ८२-८६) से १२ आहुतियाँ दें।

[पूर्णाहुति तथा वामदेव्यगान]

तत्पश्चात्, आचार्य तथा ब्रह्मचारी सब उपस्थित महानुभावों के साथ '**सर्वं वै पूर्णं स्वाहा**'—इस मन्त्र से तीन वार पूर्णाहुति दें और '**वामदेव्यगान**' (पृष्ठ ८६-८८) करें।

[बालक द्वारा आचार्य को वन्दन तथा आचार्य का आशीर्वाद]

ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी पूर्वाभिमुख बैठकर आचार्य का निम्न प्रकार वन्दन करें और वन्दन करते हुए अपना गोत्र भी साथ ही बोलें—

अमुक गोत्रोत्पन्नोऽहम् भो भवन्तमभिवादये॥ (बालक कहे)

अमुक गोत्रोत्पन्नाऽहम् भो भवन्तमभिवादये॥ (बालिका कहे)

इसके उत्तर में आचार्य कहे—

आयुष्मान् विद्यावान् भव सौम्य! (बालक के लिये)

आयुष्मती विद्यावती भव सौम्ये! (बालिका के लिये)

सब उपस्थित जन-समुदाय भी ब्रह्मचारी को निम्नलिखित आशीर्वाद दे—

हे बालक! त्वम् ईश्वरकृपया विद्वान् शरीरात्मबलयुक्तः कुशली वीर्यवान् अरोगः सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः। (बालक के लिये)*

हे बालिके! त्वम् ईश्वरकृपया विदुषी शरीरात्मबलयुक्ता कुशलिनी वीर्यवती अरोगा सर्वा विद्या अधीत्याऽस्मान् दिदृक्षुः सन्नागम्याः। (बालिका के लिये)

तत्पश्चात्, यजमान संस्कार में निमन्त्रित स्त्री-पुरुषों को सत्कारपूर्वक विदा करे।

इति वेदारम्भसंस्कारविधिः समाप्तः

---

* हे बालक! ईश्वर की कृपा से तू विद्वान्, शरीर तथा आत्मा के बल से युक्त, कार्य-कुशल, वीर्यवान्, रोग-रहित, सब विद्याओं का अध्ययन समाप्त कर हमें मिलने के लिये आना (बालिका के लिये स्त्री-लिंगी भाषा का प्रयोग करें।)

समावर्त्तन संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

वेदारम्भ-संस्कार अगर ८ वर्ष की अवस्था में किया जाता है, तो समावर्त्तन-संस्कार वेदारम्भ से १४ वर्ष बाद किया जाता है। वेदारम्भ करते हुए बालक शिक्षा का प्रारम्भ करता है, समावर्त्तन के समय वह शिक्षा को समाप्त करता है। बालक के उत्पन्न होने के बाद ८ वर्ष की अवस्था तक ११ संस्कार समाप्त कर लिये जाते हैं, इसके बाद १४ वर्ष का व्यवधान पड़ जाता है, तब जाकर समावर्त्तन का समय आता है। समावर्त्तन के बाद विवाह के परिणामस्वरूप गृहस्थ, फिर वानप्रस्थ और फिर संन्यास—इनमें समय का व्यवधान और अधिक बढ़ जाता है। बालक पर संस्कार पड़ने का असली समय, वह समय जब उसका मस्तिष्क संस्कारों को ग्रहण करने में बिल्कुल तय्यार होता है, ८ वर्ष की अवस्था से पहले का समय है, इसलिये इस समय का लाभ उठाकर संस्कार-के-बाद-संस्कार लगातार किये जाते हैं, इसके बाद बालक का मस्तिष्क परिपक्व हो जाता है, उस समय संस्कार पड़ने का समय नहीं रहता। ८ वर्ष की अवस्था के बाद बालक पर जो संस्कार डाले जा सकते हैं, उनकी जिम्मेवारी आचार्य पर छोड़ दी जाती है, क्योंकि युवावस्था में संस्कार को ग्रहण करने के लिये बालक की परिस्थिति का विशेष हाथ है। इस आयु में वह जैसी संगत में रहेगा, जिस प्रकार के गुरु या समाज के व्यक्ति के साथ उसका सम्पर्क होगा उससे वह उसी तरह के संस्कार ग्रहण करेगा। गुरुकुलवास में उसे ऐसे छात्रों के सम्पर्क में रखा जाता है, ऐसे आचार्य की शिक्षा-दीक्षा में रखा जाता है, ऐसे वातावरण में रखा जाता है जिससे उसके चरित्र का निर्माण हो और वह एक उत्तम नागरिक बनकर समाज का अंग बन सके।

शिक्षा-संस्था में जिस प्रकार का चरित्र युवक का बन जाना चाहिये, जिस प्रकार उसे समाज में रहना और बरतना चाहिये, उसका एक-चित्र तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षाध्याय-वल्ली, अनुवाक् ११, कं०, १.२.३.४) में पाया जाता है। जैसे गुरुकुल में प्रविष्ट होते हुए बालक का पिता उसे संस्था के साथ एकात्म होने के लिये उपदेश देता है, वैसे ही संस्था में शिक्षा का काल समाप्त कर चुकने के बाद बालक का आचार्य उसे समाज में कैसे बरतना, संस्था में सीखे आचार-व्यवहार को कैसे क्रिया में परिणत करना—इसका उपदेश देता है। जैसे वेदारम्भ-संस्कार की गहराई को समझने के लिये पिता द्वारा बालक को दिया गया उपदेश महत्वपूर्ण है, वैसे ही समावर्त्तन-संस्कार की गहराई को समझने के लिये गुरुकुल से विदा लेते समय

आचार्य द्वारा स्नातक को दिया गया उपदेश महत्त्वपूर्ण है।

समावर्त्तन-संस्कार का अर्थ है—बालक का शिक्षा समाप्त कर अपने घर को वापस लौटे आना—'**सं+आवर्त्तन**'। जब बालक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में विद्याध्ययन समाप्त कर घर को लौटता था तब आचार्य उसे निम्न उपदेश देकर विदा करता था—'**वेदमनूच्य आचार्यः अन्तेवासिनं अनुशास्ति**'—वेद का अनुचयन करने के बाद आचार्य '**अन्तेवासी**' को—उसे जो इतने बरस उसके हृदय के भीतर बस रहा था—अनुशासन—आदेश—करता था। वह उपदेश निम्न था—

१. आचार्य द्वारा स्नातक को दिया गया उपदेश

(१) सत्यं वद—अब तू आश्रम के इस छोटे-से संसार को छोड़ कर समाज रूपी बड़े संसार में प्रवेश करने के लिये जा रहा है। वहाँ लोग तुझे कहेंगे कि दुनिया का व्यवहार तुम्हारे गुरुकुल के नियमों पर नहीं चलता। वे कहेंगे कि तूने गुरुकुल में हर बात में सच बोलने की सौगन्ध खाई थी, यहाँ झूठ भी चलता है। हर बात में सच पर डटे रहोगे ते मुसीबत में पड़ जाओगे। परन्तु याद रखना, झूठ तभी तक चलता है जबतक लोग झूठ को भी सच समझते हैं। खोटा सिक्का तभी तक चलता है जबतक उसे खरा समझा जाता है। उपरालू तौर पर तुझे दीखेगा कि झूठ चल रहा है, परन्तु गहराई में जाओगे तो पता चलेगा कि झूठ की आयु थोड़ी है, सच की आयु अनन्त है। जैसे आश्रम के भीतर, वैसे आश्रम के बाहर के लौकिक-जगत् में भी सत्य की ही खोज हो रही है। जगह-जगह कचहरियाँ, न्यायालय इसी एक काम में जुटे हैं, सबका उद्देश्य यही है कि किसी भी तरह से झूठ के ढेर में छिपे सत्य को खोज निकाला जाए। इसलिये इस आश्रम पढ़े इस पाठ को मत भुलाना कि सत्य ही अन्तिम तथ्य है। '**सत्यमेव जयते**'—यह परीक्षित तथा अनुभवसिद्ध सिद्धान्त है, इसे पकड़े रहना।

(२) धर्मंचर—आचार्य का दूसरा उपदेश यह है कि धर्म का आचरण करना। वैदिक विचारधारा में धर्म का संकुचित अर्थ नहीं है। मनुस्मृति (२.२) में लिखा है, '**वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः एतत् चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्**'—धर्म का अर्थ मत विशेष नहीं है। **धारणात् धर्ममित्याहुः**—जिन नियमों से समाज का धारण होता है, जिन नियमों के आधार पर समाज टिका हुआ है वह धर्म है। '**वेद**' में उन नियमों का, आचार-व्यवहार का वर्णन है जिनके पालन करने से समाज बना रहता है, जिनका उल्लंघन करने से समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है। '**स्मृति**' में समाज की बदलती अवस्थाओं को देखकर सामाजिक-व्यवस्था का निर्माण किया गया है। समाज के सत्पुरुष समय-समय पर कुछ व्यवस्थाओं का प्रतिपादन करते हैं—इन सत्पुरुषों का आचार—'**सदाचार**' कहा गया है। मनुष्य के

भीतर भी क्या ठीक है, क्या ठीक नहीं है, क्या उचित है, क्या अनुचित है—'अन्तरात्मा की आवाज'—'**स्वस्य च प्रियमात्मनः**' जिसे अंग्रेजी में Conscience कहते हैं—निर्णय करने की शक्ति है। इन सबको वैदिक-परिभाषा में '**धर्म**' कहा गया है। मनु (१-१०८) में कहा है—'**आचारः परमो धर्मः**'—सदाचार—समाज में किस प्रकार बरतना चाहिये, किस प्रकार का व्यवहार अन्ततोगत्वा व्यक्ति, समाज तथा देश के हित में नहीं है—इसे धर्म कहते हैं। इस दृष्टि से अपने जीवन में सदा '**धर्म**' का पालन करना।

(३) स्वाध्यायान्मा प्रमदः—स्वाध्याय के दो अर्थ हैं—एक उत्तम ग्रन्थों का अध्ययन जिससे भौतिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति हो, दूसरा '**स्व**'—अर्थात्, अपने-आप का अध्ययन। प्रायः देखा जाता है कि शिक्षा-संस्था में उत्तम-से-उत्तम ग्रन्थ पढ़कर भी लोग जब जीवन में प्रवेश करते हैं, तब पढ़ने-लिखने को तिलाञ्जलि दे देते हैं, कई लोग पिछला पढ़ा-लिखा भी भूल जाते हैं। मानव-जीवन का लक्ष्य सिर्फ रोटी, कपड़ा कमाना ही नहीं है, मनुष्य जीवन को सार्थक करना है। लोग बुढ़ापे में आकर वेद, उपनिषद्, गीता को ढूँढ़ मचाते हैं, अगर नित्यप्रति आत्मोन्नति के ग्रन्थों का थोड़ा-थोड़ा भी स्वाध्याय किया जाए, तो बुढ़ापे में ग्रन्थ ढूँढ़ने की कठिनाई नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त आत्म-ज्ञान ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे बुढ़ापे के दिनों के लिये रिजर्व रखा जाए। आत्म-ज्ञान तो मनुष्य का परम ध्येय है। हम दुनियाँ में क्यों आये, यहाँ क्या करना है, जीवन को कैसे सार्थक बनाना है—यह सबकुछ उच्चकोटि के ग्रन्थों के स्वाध्याय के बिना पल्ले नहीं पड़ सकता, इसलिये 'स्वाध्याय' में कभी प्रमाद नहीं करना। यह बात तो विद्वानों के लिये ग्रन्थों के विषय में कही, इसके साथ-साथ 'स्वाध्याय' के—अपने अध्ययन के भाव को—भी भुला मत देना। मनुष्य की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वह दुनियाँ भर का पता लगाता फिरता है, अपना पता भूला रहता है, दूसरों की कोठरी में जाँका करता है, अपने भीतर नहीं झाँकता। मैं क्या हूं, मेरा चाल-चलन कैसा है, मैंने दिनभर में क्या किया जो नहीं करना चाहिये था, क्या नहीं किया जो करना चाहिये था—इस सबका पता तो एकान्त में बैठकर अपने साथ बात करने से होगा। आचार्य स्नातक कोउपदेश देता हुआ कहता है कि उत्तमोत्तम ग्रन्थों का स्वाध्याय करना और साथ ही अपने भीतर झाँककर अपने को भी देखना—इससे तू पथभ्रष्ट नहीं होगा।

(४) आचार्याय प्रियं धनं आहत्य प्रजा तंतु मा व्यच्छेत्सीः—आचार्य स्नातक को सम्बोधन करके कहता है कि आचार्य को जो धन प्रिय है वह लाकर उसे देना, इस प्रकार आचार्य की शिष्यों की जो प्रजा है उसका तंतु—सिलसिला—मत तोड़ देना। आचार्य का प्रिय धन रुपया-पैसा नहीं है, आचार्य का धन उसके शिष्य हैं,

यही उसकी प्रजा है, उसकी सन्तान है। जैसे तू शिक्षाध्ययन के लिये आया, इसी प्रकार तेरे अन्य कुटुम्बी, तेरे पुत्र-पौत्र भी आचार्य के पास विद्याध्ययन के लिये आते रहें, इस प्रकार आचार्य का प्रजा-तंतु और हे स्नातक! तेरा प्रजा-तंतु टूटने न पाये, गुरु की शिष्य परम्परा एक बेल की तरह बढ़ती चली जाए। जो आचार्य शिष्य की भिक्षा पर अपना जीवन निर्वाह कर रहा था वह शिष्य से धन की माँग कैसे कर सकता है? आचार्य के लिये प्रिय धन का अर्थ शिष्य-धन से है, तभी आचार्य कहता है कि हे शिष्य! मेरी प्रजा के इस तंतु को छिन्न-भिन्न न होने देना।

(५) सत्यान्न प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्—सत्य और धर्म पर दृढ़ रहने की बात जो पहले कही थी उसे आचार्य फिर दोहराता है, इसलिये दोहराता है क्योंकि यही तो उसने शिष्य को अपने आश्रम में दिया है। सत्य और धर्म पर फिर-से जोर देने के लिये उसे दोहरा देने की आवश्यकता है ताकि शिष्य इन दोनों बातों के गौरव को समझे।

(६) कुशलान्त प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्—सत्य और धर्म के लिये प्रमाद मत करना—इसका यह अभिप्राय लिया जा सकता है कि अपनी चतुराई को छोड़ देना, भौतिक तथा सांसारिक उन्नति की तरफ ध्यान मत देना, माला जपते रहना। इसका प्रतिवाद करते हुए आचार्य कहते हैं कि सत्य और धर्म के प्रति ध्यान देने का यह अर्थ नहीं है कि तुम आध्यात्मिक-जीवन में लगे रहो, आधिभौतिक को भूल जाओ। मनुष्य का सम-विकास होना चाहिये, आध्यात्मिक (सत्य और धर्म) तथा आधिभौतिक (कुशल और भूति) दोनों का एक-समान विकास करना। जैसे आध्यात्मिक-जगत् सत्य है, वैसे आधिभौतिक-जगत् भी उतना ही सत्य है। दोनों को सत्य मान कर चलना।

(७) स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्—पहले कहा था कि स्वाध्याय से प्रमाद मत करना, अब कहते हैं कि स्वाध्याय से जो कुछ पाना उसका प्रवचन भी करना, दूसरों को भी वह ज्ञान देना। ज्ञान देने से बढ़ता है। इसलिये जो स्वाध्याय करो, जिस ज्ञान की उपलब्धि करो उसे दूसरों तक प्रवचन से पहुँचाओ, ज्ञान बढ़ेगा। ज्ञान देने से इसलिये बढ़ता है क्योंकि जब हम ज्ञान की बात दूसरे को समझाते हैं तब पहले उसका तार-तार अपने को समझना पड़ता है, दूसरे को ज्ञान देने से पहले अपने को उसकी अस्पष्टता दूर करनी पड़ती है, जो बात अपने को ही स्पष्ट नहीं, वह दूसरे को कैसे समझा सकते हैं।

(८) देव पितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यम्—अपने से जो ज्ञान में बड़े हैं वे 'देव' कहलाते हैं, जो आयु में बड़े हैं वे 'पितर' कहलाते हैं। ज्ञान से जो बड़े हों, भले ही वे तुम्हारे आचार्य न रहे हों, उनके कहे को मत टालना, इसी प्रकार आयु में जो बड़े हों, भले ही वे तुम्हारे माता-पिता न हों, उनकी बात भी बिना प्रमाद के

सुनना। यह मत समझना कि क्योंकि ये तुम्हारे आचार्य नहीं हैं, या तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं, इसलिये इनकी क्या सुनना। ज्ञान तथा आयु में जो भी बड़ा हो उसकी बात ध्यान से सुनना, इसमें प्रमाद मत करना क्योंकि उनके अनुभव से तुम्हें कुछ-न-कुछ प्राप्त ही होगा।

(९) मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव—ज्ञान तथा आयु में जो बड़े हैं, वे सम्बन्धी न हों, तो उन्हें पहले वाक्य में 'देव' तथा 'पितर' कहा गया है, सम्बन्धी हों तो उन्हें इस वाक्य में माता, पिता, आचार्य तथा अतिथि की श्रेणी में गिना गया है। माता-पिता तो जन्म देने के कारण सम्बन्धी है ही, 'आचार्य' शिक्षा द्वारा दूसरा जन्म के कारण सम्बन्धी की श्रेणी में आ जाता है। 'अतिथि' जब घर आया तब उसे अपने कुटुम्ब का अंग मान कर ही उससे बरतना होता है, कभी-कभी उसका कुटुम्ब के व्यक्तियों से भी ज्यादा आदर किया जाता है। इन चारों के विषय में आचार्य स्नातक को सम्बोधन करके कहते हैं कि इनको देवता मान कर इनका सत्कार करना। माता ने तुम्हें नौ महीने पेट में रखकर पाला, पिता ने तुम्हारा पालन-पोषण किया, आचार्य ने विद्या देकर तुम्हें मनुष्य बनाया, अतिथि को तुम्हारे माता-पिता भी सिर-माथे पर रखते हैं—इसलिये इन सबको देवता समान मानना। तुम भी कभी पिता बनोगे, तुम्हारी सन्तान होगी, तुम्हारी पत्नी उसकी माता होगी, तुम भी कभी किसी के अतिथि होकर उसके घर जाओगे—अगर तुम इस समय इन सबको देवता समान मानोगे, तो तुम्हारी सन्तान भी तुम्हें देवता समान ही मानेगी। गृहस्थ-धर्म का यह सिलसिला वैदिक-संस्कृति का अभिन्न अंग है, इसे तुमने जारी रखना ताकि यह क्रम सन्तान-से-सन्तान तक चलता रहे।

(१०) यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि—आचार्य कहते हैं कि समाज में सब तरह के लोग हैं। यह ठीक है कि हम तुम्हें अपने से बड़ों की बात ध्यान से सुनने तथा उनके मार्ग पर चलने का उपदेश दे रहे हैं—देव हैं, पितर हैं, माता है, पिता है, आचार्य है, अतिथि है—इन सबको बड़ा मानकर चलने को तुम्हें कहा जा रहा है, परन्तु इनकी जो मानने योग्य बात हो, उसीको मानना, इनका जो आचरण अनुकरणीय हो, उसीका अनुकरण करना, जो इनकी न जँचनेवाली, गलत बात हो, उसे मानने से इन्कार कर देना। इतना ही नहीं कि आचार्य दूसरों के विषय में यह उपदेश दे रहे हैं, अपने विषय में भी उनका यही कहना है। उपनिषद् में उक्त वाक्य के बाद दूसरा वाक्य है—

(११) यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि—हमारे भी, अर्थात् आचार्य के भी उन्हीं आचरणों का अनुकरण करना जो सुचरित हों, अच्छे आचरण हों, आचार्य भी अगर बुरा काम करे, तो अंगुली उठा देना और

अगर बुरा काम करने को कहे, तो इन्कार कर देना। ऐसी बात उसीके मुख से निकल सकती है जिसे अपने आचरण पर पूरा भरोसा हो।

(१२) ये के चास्मत् श्रेयांसः ब्राह्मणाः तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्—हम सब—जिनका ऊपर परिगणन किया गया है—उनसे भी जो श्रेष्ठ व्यक्ति हों उनके पास बैठना, ऐसे ही वातावरण में साँस लेना। मनुष्य पर उस वातावरण का जिसमें वह साँस लेता है, जिसमें वह उठता-बैठता है, गहरा प्रभाव पड़ता है। कभी भूलकर भी बुरे वातावरण में मत जाना क्योंकि वहाँ का वातावरण ही गन्दे विचारों से भरा होता है। जहाँ महात्मा लोग रहते हैं वहाँ का वातावरण शुद्ध तथा पवित्र होता है, जहाँ शराबी, दुराचारी रहते हैं, वहां का वातावरण ही मनुष्य में दुर्विचारों को जन्म देता है, इसलिये उत्कृष्ट व्यक्तियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर उनका आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयत्न करना।

(१३) श्रद्धया देयम् अश्रद्धया देयम्—तू जब धन-सम्पत्ति कमाने लगे तब जिस काम में श्रद्धा हो उसमें यथाशक्ति दान देना, श्रद्धा न भी हो तो भी देना क्योंकि हो सकता है कि जिस कार्य में तेरी श्रद्धा न हो वह कार्य भी महान् हो। इसके अतिरिक्त धन-सम्पत्ति क्या है और किसकी है ? धन तभी धन कहला सकता है जब वह किसी काम आ रहा हो, अन्यथा धन और ईंट-पत्थर एक-समान हैं। जबतक धन से कोई काम नहीं लिया जाता तबतक धन धन नहीं कहला सकता। अपने काम आने के बाद जो बचे उसे श्रद्धा से, अश्रद्धा से—जिस किसी तरह भी हो, दो; देने से धन का धनत्व बना रहता है।

(१४) श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्—जो धन मनुष्य के पास उसकी आवश्यकताओं से अधिक है, वह अपने काम नहीं आ रहा तो उसे समाज के काम आना चाहिये, पड़े नहीं रहना चाहिये। अगर तुम श्रीमान् हो गये, अपार धन आ गया, तो समझो कि यह धन समाज से आया है, भले ही तुम्हारे परिश्रम से आया हो, तुम इस धन के ट्रस्टी हो—इसलिये श्री बढ़ गई तो बढ़ जाने के कारण दो—'**श्रिया देयम्**', अगर बढ़ जाने पर देने को जी नहीं करता तो शरम से दो—'**ह्रिया देयम्**'—लोग क्या कहेंगे, इतनी दौलत कमाकर साँप की तरह उस पर जमकर बैठा है, शरम से भी देने को जी नहीं मानता तो भय से दो—'**भिया देयम्**', इसलिये भय से दो क्योंकि समाज में ऐसे लोग हैं जो सम्पत्ति को एक जगह धरना मारकर बैठे देख नहीं सकते, वे लूट लेंगे लेकिन तुम्हें बेकार धन बटोरते नहीं देख सकेंगे, अगर चोर-डाकू नहीं लूटेंगे तो राज्य ही इस बात को बर्दाश्त नहीं करेगा कि एक तरफ लोग भूखे मरें और दूसरी तरफ तुम सारी सम्पत्ति समेटकर बैठे हो। इन सब कारणों से बाधित होकर देने के स्थान में सबसे अच्छा यह है कि मनुष्य जो कुछ कमाये उसका कुछ भाग लोक-कल्याण के

लिये अपने-आप देता रहे—'**संविदा देयम्**'।

(१५) अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः—अगर किसी काम में सन्देह उत्पन्न हो जाए, यह समझ न पड़े कि धर्म की दृष्टि से '**धर्माचार**' क्या है, अथवा किस स्थिति में कैसे बरतदना चाहिये, अर्थात् '**लोकाचार**' क्या है—यह दुविधा खड़ी हो जाय, तो तुम्हारे आस-पास के धर्म-कार्य में स्वतः-प्रवृत्त (**युक्ताः**), प्रेरणावश-प्रवृत्त (**आयुक्ताः**), बिना रूखे अर्थात् मृदु स्वभाववाले (**अलूक्षाः**), सब पहलुओं पर विचार करनेवाले (**सम्मर्शिनः**—Balanced) परामर्श देने में समर्थ ब्राह्मण जैसे बर्तें वैसे बरतना। विवादास्पद विषयों में भी युक्त, आयुक्त, अलूक्ष, धर्मकाम, सम्मर्शी ब्राह्मणों को अपना अगुआ मानना।

(१६) एष आदेशः, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषत्, एतदनुशासनम्, एवमुपसितव्यम्—आचार्य स्नातकों को जो उपदेश देता है, उसका उपसंहार करते हुए कहता है—यही आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद और उपनिषद् का सार है, यही हमारा अनुशासन है, ऐसा ही आचरण करना, ऐसा ही अनुष्ठान करना।

यह उपदेश है जो गुरुकुलवास के बाद घर लौटते समय आचार्य अपने स्नातकों को दिया करते थे। आजकल शिक्षा समाप्त कर 'दीक्षान्त-भाषण' (Convocation Address) देने की परिपाटी है, जिसें कुछ सालों से कुछ विश्वविद्यालयों ने तैत्तिरीयोपनिषद् के इस उपदेश को दीक्षान्त-भाषण का अंग बना लिया है। गुरुकुलों में तो यह प्रथा उपनिषत्काल से चली आ रही है, और जो गुरुकुल भारत में चल रहे हैं उनमें दीक्षान्त के समय आचार्य लोग यही भाषण देते रहे हैं। इस भाषण में शिक्षा का ही नहीं, भावी-जीवन में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये उसका भी सार आ जाता है। अगर वेदारम्भ-संस्कार के समय बालक को पिता द्वारा दिये गये उपदेश को शिक्षा समाप्त कर चुकने पर आचार्य द्वारा स्नातक को दिये गये भाषण के साथ मिलाकर पढ़ा जाए, तो वैदिक-संस्कृति के शिक्षा के सिद्धान्त एकदम उभर आते हैं, जो शिक्षा के वर्तमान सिद्धान्तों या वर्तमान परिपाटी से कहीं ऊँचे हैं।

२. विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक

पारस्कर गृह्यसूत्र (कां० २, कं० ५, सू० ३२-३५) में लिखा है—'**त्रयः स्नातकाः भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति**'—अर्थात्, जो केवल विद्या को समाप्त कर स्नातक बनता है वह '**विद्यास्नातक**' कहलाता है, जो विद्या तो पूरी तरह से नहीं पढ़ पाता परन्तु ब्रह्मचर्य-व्रत निश्चित समय तक पालन कर लेता है, वह '**व्रतस्नातक**' कहलाता है, जो विद्या और व्रत दोनों को

समाप्त कर लेता है वह '**विद्याव्रतस्नातक**' कहलाता है। विद्याव्रतस्नातक की स्थिति शिक्षा की दृष्टि से सर्वोपरि थी। विद्याव्रतस्नातक का क्या अर्थ है—यह एक दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायेगा।

महाभारत में एक कथानक आता है कि जब पाण्डव लोग गुरु के पास विद्याध्ययन कर रहे थे, तब एक दिन गुरु जी ने कहा—'**क्रोध न करो**'—यह आज का पाठ है, इसे याद करके कल सुनाना। अगले दिन जब गुरु जी ने पाठ सुनाने के लिये कहा, तब सबने रटा-रटाया पाठ सुना दिया, परन्तु युधिष्ठिर ने कहा कि मुझे पाठ याद नहीं हुआ। यह सुनकर सब बालक हँसने लगे, परन्तु गुरु जी गम्भीर मुद्रा में पूछा कि यह छोटा-सा पाठ तुम्हें याद क्यों नहीं हुआ। युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि वाक्य तो बहुत छोटा है, परन्तु क्रियात्मक रूप में यह उतना सरल नहीं है क्योंकि मुझे झट छोटी-सी बात में गुस्सा आ जाता है। जबतक मुझे क्रोध आना बन्द न हो जाए, तब तक कैसे कह दूँ कि यह पाठ मुझे याद हो गया?

इस कथानक में विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्यव्रतस्नातक का भेद छिपा है। विद्यास्नातक उसेकहते थे जो ग्रन्थों का अभ्यास कर लेता था, व्रतस्नातक उसे कहते थे जो ग्रन्थों में तो निपुण नहीं था, परन्तु क्रियात्मक-जीवन में आश्रमवास के सिद्धान्तों को अपने में उतार लेता था, विद्याव्रतस्नातक वह था जिसका अध्ययन तथा आचरण दोनों एक स्तर पर आ जाते थे, जिसकी कथनी तथा करनी में ताल-मेल बैठ जाता था।

शिक्षा का उद्देश्य किताबें रटा देना नहीं है, इसका उद्देश्य शिक्षा द्वारा सीखे हुए सिद्धान्तों को जीवन में क्रियात्मक रूप से ढाल लेना है—इसी लक्ष्य को सामने रख कर वैदिक-पद्धति विद्याव्रतस्नातक का निर्माण करती थी।

३. ब्रह्मचर्य की अवधि—वसु, रुद्र, आदित्य

जो लोग वैदिक-संस्कृति से परिचय रखते हैं उन्हें मालूम है कि 'ब्रह्मचर्य' इस संस्कृति का प्राण है। आजकल के भले लोग कुछ ही कहते रहें, ब्रह्मचर्य की भले ही खिल्ली उड़ायें, वीर्य-क्षय को भले ही युवावस्था की अनिवार्य घटना कहें, भले ही कहते रहें कि वीर्य-क्षय से कोई हानि नहीं होती, परन्तु वीर्य-रक्षा वैदिक-संस्कृति का आधारभूत अंग था। आजकल के लोग अनुभव पर अपनी बात कहते हैं, वैदिक-संस्कृति के उन्नायकों का सिद्धान्त भी अनुभव की चट्टान पर खड़ा था। हमें तो आजतक समझ नहीं पड़ा कि वीर्य-क्षय से किसका भला होता है। हमने तो यही देखा कि जो बालक वीर्य-नाश की बुरी कुटेव में पड़ जाते हैं, वे युवावस्था में उन दिनों को रोते हैं जब कि वे इन बुरी आदतों के शिकार हो गये थे। वैदकि-संस्कृति में ब्रह्मचर्य तो शिक्षा आवश्यक अंग था ही, साथ ही २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण कर गृहस्थ में प्रवेश करने वाले को निकृष्ट दर्जे का ब्रह्मचारी कहा गया था।

२४ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहनेवाले को 'वसु'-ब्रह्मचारी कहा जाता था। छान्दोग्य, प्रपाठक ३, खण्ड १६ में लिखा है—**पुरुषोवाव यज्ञः तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि तत्प्रातः सवनं, चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनं, तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणावाव वसव एते हीदं सर्वं वासयन्ति॥**

'वसु'-ब्रह्मचारी २४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचारी रहता था, 'रुद्र'-ब्रह्मचारी ३६ वर्ष तक तथा 'आदित्य'-ब्रह्मचारी ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करता था। अगर कोई आजन्म ब्रह्मचारी रहना चाहता था, तो वह आजन्म ब्रह्मचारी रह सकता था, परन्तु उसके लिये व्यक्ति को पूर्ण विद्यावान्, जितेन्द्रिय, योगी होना जरूरी था क्योंकि ऋषि दयानन्द के शब्दों में 'यह बड़ा कठिन काम है कि जो काम के वेग को थाम के इन्द्रियों को अपने वश में रखना'—(सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)।

आज की विचारधारा उल्टी बह रही है, आज के लोग ब्रह्मचर्य को कोई महत्त्व नहीं देते उनका कहना है कि इन्द्रिय-दमन अप्राकृतिक है। वैदिक-विचारधारा में शरीर के सामर्थ्य, मन के बल तथा आत्मा के ओज के लिये वीर्य-रक्षा आवश्यक शर्त है, और क्योंकि संस्कारों का उद्देश्य नव-मानव का निर्माण करना है, इसलिये वैदिक-विचारधारा में जबतक ब्रह्मचर्य धारण किया जा सके तबतक इसका धारण करना शरीर, मन तथा आत्मा को शारीरिक सामर्थ्य, मानसिक बल तथा आत्मिक तेज प्रदान करने के लिये आवश्यक है। इस बात को युक्ति से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, अनुभव से हर व्यक्ति इस तथ्य को अपने जीवन में अनुभव कर सकता है। वीर्य-क्षय पर व्यक्ति सुस्त हो जाता है, काम करने को जी नहीं चाहता, आराम करना चाहता है, सो जाना चाहता है—हर-किसी का यह वैयक्तिक अनुभव है, फिर ब्रह्मचर्य की वकालत करने की जरूरत ही क्या रह जाती है?

एक वेद के अध्ययन में पारंगत ब्रह्मचारी 'वसु' कहलाता था। 'वसु' की व्याख्या करते हुए कहा है—'सर्वं वासयति'—जो स्वयं बसता और दूसरों को बसाता है, वह वसु है। एक वेद का अध्ययन करने के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर बसने-बसाने के धंधे में पड़ जाने वाला वसु है। वह २४ वर्ष तक का ही ब्रह्मचर्य कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर जाता है। उसके बाद जो १२ वर्ष लगाकर दो वेदों का अध्ययन कर लेता है वह 'रुद्र'-ब्रह्मचारी कहलाता है। रुद्र का अर्थ है—'**इदं सर्वं रोदयति**'—जो प्राणों को—इन्द्रियों को—रुला देता है, उन्हें इतना वश में कर लेता है कि वे मानो रो देती हैं, वह रुद्र कहा जाता है। वह ३६ वर्ष के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। उसके बाद और भी १२ वर्ष लगाकर जो चारों वेदों में पारंगत हो जाता है, वह 'आदित्य'-ब्रह्मचारी कहलाता है। उसे आदित्य इसलिये कहा गया है, क्योंकि उसका ब्रह्मचर्य का तेज सूर्य की तरह उसे प्रकाशमान करता है। वह ४८ वर्ष के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। उसे आदित्य इसलिये कहा गया है, क्योंकि

वह '**इदं सर्वं आददते**'—इस सब ज्ञान का आदान कर लेता है, उसे पा लेता है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिये मनु (३-२) ने कहा है—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥

जो व्यवस्था मनु के समय में सत्य थी वह आज भी सत्य है। जिस व्यक्ति ने विद्या में साधारण गति-विधि करनी हो वह शीघ्र पढ़ना-लिखना समाप्त कर देता है, जिसने अनेक विद्याओं को पढ़ना हो उसे ज्यादा समय विद्याध्ययन में बिताना पड़ता है, जिसने अनेक विद्याओं में पारंगत होना हो उसे जीवन का मुख्य भाग विद्या ग्रहण करने में लगा देना होता है। आजकल बी०ए० के बाद दो साल में एम०ए० और फिर एक-दो साल में पी-एच०डी० बन जाते हैं, परन्तु वैदिक-काल में सर्व-साधारण के विद्या-स्तर से आगे बढ़ने में १२ साल लग जाते थे, उससे भी जो आगे जाता था उसके और १२ साल लगते थे। इतने से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधारण स्नातक अर्थात् 'वसु'-ब्रह्मचारी की अपेक्षा 'रुद्र'-ब्रह्मचारी का ज्ञान कितना अधिक होता था, और 'रुद्र'-ब्रह्मचारी की अपेक्षा 'आदित्य'-ब्रह्मचारी का ज्ञान कितना अधिक था। इसमें सन्देह नहीं कि आदित्य-ब्रह्मचारी इने-गिने थे, रुद्र-ब्रह्मचारी उनसे अधिक थे, और वसु-ब्रह्मचारी तो हर-कोई शिक्षित व्यक्ति होता ही था। ध्यान में रखने की बात यह है कि होते सब ब्रह्मचारी ही थे, संयम उनके जीवन का मुख्य मन्त्र था, शुद्ध-सदाचार का जीवन उनका ध्येय था। आजतक संसार में ऐसी कोई संस्कृति नहीं हुई जिसने अपना धयेय ही आचार, शील, संयम को घोषित कर दिया हो, अगर कोई संस्कृति इस लक्ष्य को लेकर उठी है तो वह केवल वैदिक-संस्कृति है।

४. आचार्य-कुल में छोटे-मोटे कार्य

जैसे उपनयन तथा वेदारम्भ का जोड़ा है, उपनयन के साथ ही वेदारम्भ संस्कार किया जाता है, वैसे ही समावर्त्तन संस्कार तथा विवाह संस्कार का जोड़ा है। समावर्त्तन का अर्थ है—घर लौटाना, परन्तु यह लौटना आचार्य-कुल से पितृ-कुल में होता है और पितृ-कुल में लौटने के बाद स्नातक के विवाह की तय्यारी होती है, इसलिये समावर्त्तन तथा विवाह संस्कार के कार्य कुछ मिले-जुले हैं। तभी संस्कारविधि में लिखा है—'विवाह के स्थान दो हैं—एक आचार्य का घर, दूसरा अपनता घर। दोनों ठिकानों में से किसी एक ठिकाने आकर विवाह में लिखे प्रमाणे सब विधि करें।' इस दृष्टि से समावर्त्तन की विधि या आचार्य-कुल में हो सकती है या पितृ-कुल में हो सकती है, परन्तु क्योंकि आचार्य-कुल में होना ज्यादा शोभाजनक है, स्नातक का विद्या-ग्रहण का कार्य भी आचार्य-कुल में हुआ है, इसलिये यह सारी विधि आचार्य-कुल में ही की जाती है। इस कार्यवाही के अनन्तर स्नातक घर चला

आता है जहाँ माता-पिता, भाई-बहन, चाचा-मामा आदि उसका घर में स्वागत करते हैं। आचार्य के उपदेश के बाद आचार्य-कुल में जो छोटे-मोटे कार्य किये जाते हैं, उनका आचार्य-कुल की अबतक की नियम-मर्यादा पर विशेष प्रकाश पड़ता है। अबतक विद्यार्थी पर अनेक बन्धन थे—जूता मत पहनना, छाता मत लगाना, उस्तरे का इस्तेमाल मत करना, शीशा मत देखना—इस प्रकार के बीसियों बन्धन ब्रह्मचारी पर लगे हुए थे। अब वह तपस्या के इस जीवन को समाप्त कर ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश करने वाला है, इसलिये आचार्य की आज्ञा से सब बन्धन शिथिल किये जाते हैं, जिनका समावर्त्तन-संस्कार में उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

(१) मेखला तथा दण्ड का त्याग—अबतक ब्रह्मचारी कमर में मेखला बाँधा करता था, हाथ में दण्ड रखता था। अब वह गृहस्थियों के वस्त्र पहनेगा, शहर में रहेगा, जहाँ न मेखला की जरूरत होगी, न दण्ड की। दण्डा तो तभी आवश्यक था जब जंगल में हिंस्र पशुओं का सामना करना पड़ सकता था। अब स्नातक घर चलने से पहले '**ओं उदुत्तमं वरुणपाशम्**'-मन्त्र पढ़कर मेखला तथा दण्ड का परित्याग कर देता है।

(२) पुष्पमाला तथा शिरोवस्त्र का पहनना—अबतक ब्रह्मचारी को फूलों की माला आदि से शृंगार करने की मनाही थी, उसे तपस्वियों का-सा कठोर जीवन व्यतीत करना होता था, सिर नंगा रखना पड़ता था, पगड़ी-टोपी नहीं पहनी जाती थी। अब तपस्या का जीवन समाप्त हुआ, गृहस्थाश्रम में प्रवेश का समय है—इसलिये '**परिधास्यै यशोधास्यै**' आदि मन्त्र से वह सुन्दर वस्त्र धारण करता है, 'या आहरत् जमदग्निः' आदि मन्त्र से सुगन्धित पुष्पों की माला धारण करता है; '**यद्यशोऽप्सरसमिन्द्रश्चकार**' आदि मन्त्र से शिरोवेष्टन, पगड़ी, दुपट्टा, टोपी पहनता है। अभिप्राय है कि अब से वह शरीर की साज-सज्जा की तरफ ध्यान देता है।

(३) अलंकार ग्रहण करना—अबतक वह हाथ में अंगूठी आदि अलंकार धारण नहीं करता था, परन्तु अब यह प्रतिबन्ध भी हटा लिया जाता है। आचार्य की आज्ञा से '**अलंकरणमसि भूयोऽलंकरणं भूयात्**'—यह मन्त्र पढ़कर अलंकार भी धारण कर लेता है।

(४) आख में अंजन, मुख के लिये दर्पण, धूप के लिये छाता, पैरों में जूता तथा हाथ में छड़ी—अबतक स्नातक के सामने तपस्या के जीवन के कारण जो प्रतिबन्ध थे, वे सब हटाये जा रहे हैं। पहले कहा था, '**गंधांजनानि वर्जय**'—गंध मत लगाना, अंजन मत लगाना, अब '**वृत्रस्यासि कनीनकः**' आदि से अंजन लगाने का आदेश है, अब '**रोचिष्णुरसि**' कहकर दर्पण में मुख देखने का आदेश है, '**उपानत् छत्रधारणं वर्जय**' की जगह 'बृहस्पतेश्छदिरसि' कहकर छाता और '**प्रतिष्ठे**

स्थो विश्वतो मा पातम्' कहकर जूता पहनने का आदेश है और डण्डे को छोड़कर '**विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः**' कहकर छड़ी हाथ में धारण करने का आदेश है।

कहने का अभिप्राय यह है कि वेदारम्भ संस्कार में ब्रह्मचारी के सम्मुख विद्याभ्यास की सुविधा के लिये जो प्रतिबन्ध लगाये गये थे, वे सब समावर्त्तन संस्कार में हटा लिये जाते हैं, इसलिये वैदिक-संस्कृति पर कोई यह आक्षेप नहीं लगा सकता कि यह संस्कृति सिर्फ दमन (Repressions) की संस्कृति थी, एकांगी संस्कृति थी।

५. पितृ-कुल में स्नातक का स्वागत

अगर समावर्त्तन-संस्कार आचार्य-कुल में हो तो वहाँ, और अगर यह संस्कार पितृ-कुल में हो तो वहाँ, संस्कार की सब विधि हो जाने के बाद स्नातक अपने गुरुओं के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापनके लिये भाषण दे। अगर आचार्य-कुल में समावर्त्तन-संस्कार हुआ हो, जैसा प्रायः होता ही है और होना ही चाहिये, तब आचार्य वहाँ उपस्थित ही होंगे, अगर यह संस्कार पितृ-कुल में हो, तो वहाँ आचार्य को निमन्त्रित करना होगा।

समावर्त्तन संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

आचार्य-कुल में विद्या समाप्त करके विद्यास्नातक, व्रतस्नातक या विद्याव्रतस्नातक बनने के बाद घर लौटने के समय आचार्य-कुल या पितृ-कुल—इन दोनों में से किसी एक जगह जो संस्कार किया जाता है उसे समावर्त्तन, अर्थात् पितृ-कुल में वापस लौट आना कहा जाता है। पुरुष के लिये यह समय २४,३६ या ४८ वर्ष का हो सकता है।

(१) जो समान जुटा कर रखें—देखो ६९-७०

(२) इस संस्कार के लिये विशेष सामान—मीठा भात, खीर, लड्डू या खिचड़ी में से कोई एक पदार्थ—स्थालीपाक; ८ घड़े पानी से भरे वेदी के उत्तर-भाग में रखें, उबटन, स्नान के बाद अनुलेपन के लिये चन्दन घिस कर रखें, दही तथा तिल, पुष्पमाला, धोती तथा पीताम्बर, पगड़ी, सुरमा, जूता, एक सुन्दर छड़ी, आचार्य के सत्कार के लिये मधुपर्क का सामान, पुष्पमाला, उत्तम वस्त्र, गौ आदि। उक्त सब सामान आचार्य के घर में संस्कार के एक दिन पहले जोड़ कर रखें। यज्ञ के समय आचार्य पूर्वाभिमुख बैठे।

[ऋत्विग्वरण तथा यज्ञारम्भ]

'**ऋत्विग्वरण**' (ओमावसोः सदने सीद आदि, पृष्ठ ७१), तीन '**आचमन**' (ओम् अमृतोपस्तरणसि आदि, पृष्ठ ७१), जल से '**अंग-स्पर्श**' (ओं वाङ् म आस्येऽस्तु आदि, पृष्ठ ७२), '**ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना**' (ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि आदि, पृष्ठ ३५), '**स्वस्तिवचान**' (अग्निमीळे पुरोहितं आदि, पृष्ठ ३९), '**शान्तिकरण**' (शं न इन्द्राग्नी आदि, पृष्ठ ५५), '**अग्न्याधान**' तथा '**अग्नि-प्रदीपन**' (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिवभूम्ना+ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने आदि पृष्ठ ७३), चार मन्त्रों से ३ '**समिदाधान**' (ओम् अयन्त इध्म आत्मा+ओं समिधाग्निं+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिरंगिरो आदि, पृष्ठ ७४-७७), वेदी के चारों ओर '**जल-प्रसेचन**' (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व आदि, पृष्ठ ७७), ४ '**आघारावाज्यभागाहुतियाँ**' (ओम् अग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७८), ४ '**व्याहृति आहुतियाँ**' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९), ८ '**अष्टाज्याहुतियाँ**' ('ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य' से लेकर 'ओं भवतन्नः समनसौ' तक, पृष्ठ ८२-८५) '**स्विष्टकृताहुति**' (ओं यदस्य कर्मणो, आदि, पृष्ठ ८०) १ मौन प्राजापत्याहुति (ओं

प्रजापतये स्वाहा, पृष्ठ ८०)—कुल १८ आहुतियाँ दें।*

[१८ आहुतियों के बाद कुण्ड की अग्नि को निम्न मंत्र से इकट्ठा करना]

ओम् अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु। यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा असि। एवं माꣳ सुश्रवः सौश्रवसं कुरु। यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा असि। एवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासम्॥**

[निम्न मन्त्र को तीन बार पढ़कर तीन समिधाहुतियाँ दें]

ओं अग्नये समिधामाहार्षं बृहते जातवेदसे। यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यसऽएवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहा।[1]

[तीन समिधाओं के बाद निम्न ७ मन्त्रों से हस्ताञ्जलि को ताप कर मुख-स्पर्श करें]

ओं तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ॥ १ ॥
ओं आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ॥ २ ॥
ओं वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ॥ ३ ॥
ओं अग्ने यन्मे तन्वा ऊन तन्म आपृण ॥ ४ ॥
ओं मेधां मे देवः सविता आदधातु ॥ ५ ॥
ओं मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु ॥ ६ ॥
ओं मेधां मे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ ॥ ७ ॥

—पार०गृ० २,४,७

[मुख-स्पर्श के बाद जल से अंग-स्पर्श करें]

ओं वाक् च म आप्यायताम्। (इससे मुख का)
ओं प्राणश्च म आप्यायताम्। (इससे नासिकाओं का)
ओं चक्षुश्च म आप्यायताम्। (इससे नेत्रों का)
ओं श्रोत्रञ्च म आप्यायताम्। (इससे कानों का)
ओं यशोबलञ्च म आप्यायताम्। (इससे बाहुओं का स्पर्श करें)।[2]

---

* 'समिदाधान' के बाद 'ओम् अयन्त इध्म आत्मा' की ५ आहुतियों का इस प्रकरण में उल्लेख नहीं है।

** इसका अर्थ वेदारम्भ (पृष्ठ ३०१) में देखें।

१. इसका अर्थ वेदारम्भ (पृष्ठ ३०२) में देखें।

२. मुख स्पर्श तथा अंग-स्पर्श मन्त्रों का अर्थ वेदारम्भ (पृष्ठ ३०३-३०४) में देखें।

[उत्तरभाग में रखे ८ घड़ों में से एक घड़े से जल लेकर स्नान करना]

मुख-स्पर्श तथा अंग-स्पर्श करने के बाद वेदी के उत्तर-भाग में जल से भरे आठ घड़ों में से एक घड़े में से निम्न मन्त्र को पढ़ते हुए जल लेना—

ओं ये अप्स्वन्तरग्नयः प्रविष्टा गोह्य उपगोह्यो मयूषो मनोहास्खलो विरुजस्तनूदुषुरिन्द्रियहा तान् विजहामि यो रोचनस्तमिह गृह्णामि॥

—पार०कां० २, कं० ६, सू० १०

शब्दार्थ तथा भावार्थ—इस मन्त्र में '**कामाग्नि**' का वर्णन है। '**कामाग्नि**' **(अप्सु)** अर्थात् जलों में—शरीर के रुधिर में—विद्यमान है। [वेद में रुधिर को भी '**अपः**' कहा है—यथा, 'को अस्मिन्नापो व्यदधात् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः। तीव्रा अरुणाः लोहिनी स्ताम्रधूम्राः ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः' (अथर्व० १०,२,११)—'सिन्धु'—अर्थात् हृदय में लाल-नीला जल कौन डालता है ?] प्राणी के रुधिर में अपनी-अपनी कामाग्नियाँ हैं। किसी में सात्विक, किसी में राजसिक, किसी में तमोमय अग्नि। इस प्रकार **(अग्नयः)** अग्नियाँ बहुवचनान्त पद मन्त्र में कहा है। ये अग्नियाँ **(गोह्य)** चक्षु-गोचर नहीं हैं, अपितु रुधिर में छिपी रहती हैं। **(उपगोह्य)** हैं क्योंकि समीप होती हुई भी छिपी हुई हैं। ये 'जैविक' (ब्ल्ड्डश्द्यश्द्दब्ष्ड्डद्य) अग्नियाँ हैं। प्राकृतिक अग्नियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, ये अग्नियाँ दृष्टिगोचर नहीं होतीं, इसलिये इन्हें '**गोह्य**' तथा '**उपगोह्य**' कहा है। **(मयूषः)** '**मयूख**' का अर्थ है—सूर्य की रश्मियाँ। ऐसा लगता है कि लिपिकार ने '**ख**' की जगह '**ष**' लिखा दिया है क्योंकि '**ष**' को '**ख**' बोलने की पद्धति है। '**मयूख**'—अर्थात्, सूर्य की रश्मियों के दो काम हैं—गर्मी पहुँचाना तथा प्रकाश देना। '**कामाग्नि**' भी दो प्रकार की होती है—एक जला देनेवाली, दूसरी प्रकाश देनेवाली। इसलिये '**कामाग्नियों**' को 'मयूष' **(मयूख)** के साथ उपमित किया है—सात्विक कामाग्नि प्रकाश देनेवाली है, राजसिक तथा तामसिक कामाग्नि मनुष्य का हनन करनेवाली हैं, तभी इन्हें **(मनोहा)** मन का हनन करनेवाली कहा है, ये मानसिक-शक्तियों का हनन कर देती हैं। इन्हें **(स्खलाः)** वीर्य को स्खलित कर देनेवाली, नष्ट कर देनेवाली **(विरुजः—रुज् भंगे)** शरीर को भग्न कर देनेवाली, **(तनूदुषुः)** तनु को दूषित कर देनेवाली **(इन्द्रियहा)** इन्द्रियों की शक्ति का हनन कर देनेवाली कहा है। स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय **(तान् विजहामि)** इन घातक राजसिक तथा तामसिक कामाग्नियों का त्याग करने का संकल्प करता है और व्रत धारण करता है कि कामाग्नि का जो **(रोचनः)** प्रकाशमय, कान्तिमय, सात्विक रूप है उसे **(इह गृह्णामि)** इस गृहस्थाश्रम में ग्रहण करता हूँ।

उक्त मन्त्र को पढ़कर एक घड़े को ग्रहण करके उस घड़े में से जल लेके निम्न मन्त्र को पढ़ते हुए स्नान करे।

ओं तेन मामभिषिञ्चामि श्रियै यशसे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय।

—पार० कां० २, कं० ६, सू० ११

[दूसरे घड़े से जल लेना तथा स्नान करना]

तत्पश्चात्, उपरिकथित **(ओं ये अप्स्वन्तर०)**—इस मन्त्र को बोल के दूसरे घड़े को ले, उसमें से लोटे में जल ले के निम्न मन्त्र से स्नान करे—

ओं येन श्रियमकृणुतां येनावमृशताꣳ सुराम्।
येनाक्ष्यावभ्यसिञ्चतां यद्वां तदश्विना यशः॥ —पार० २,६,१२

[बचे हुए ६ घड़ों में से ३ घड़ों में से जल लेकर स्नान करना]

तत्पश्चात्, पूर्ववत् ऊपरके **(ओं ये अप्स्वन्तर०)** मन्त्र का पाठ बोलकर वेदी के उत्तर में रखे ६ घड़ों में से ३ घड़ों में से जल लेकर निम्न तीन मन्त्रों को बोलकर उन घड़ों के जल से स्नान करे। ये तीन मन्त्र निम्न हैं—

***ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ १॥**
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ २॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥ ३॥

—ऋ०मं० १०, सू० ९, मं० १-३, पार० २,२,१४

[६ घड़ों में से बचे हुए शेष ३ घड़ों से जल लेकर स्नान करना]

तत्पश्चात्, आठ घड़ों में से बचे शेष ३ घड़ों में से जल लेकर **(ओम आपो हि ष्ठा० आदि)** उक्त तीन मन्त्रों को मन में बोलते हुए स्नान करे। इस प्रकार आठों घड़े स्नान के काम में आ गये।

[निम्न मन्त्र से मेखला तथा दण्ड का त्याग]

[1]ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳ श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसोऽ अदितये स्याम॥ —यजु० १२,१२

उक्त मन्त्र को बोल के ब्रह्मचारी अपनी मेखला और दण्ड को छोड़े।

[स्नातक सूर्य के सम्मुख खड़ा होकर निम्न मन्त्र से ईश्वर-स्तुति करे]

ओम् उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् प्रातर्यावभिरस्थाद् दशसनिरसि दशसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय। उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थाद् दिवा यावभिरस्थाच्छतसनिरसि शतसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय। उद्यन् भ्राजभृष्णुरिन्द्रो मरुद्भिरस्थात् सायं यावभिरस्थात् सहस्रसनिरसि सहस्रसनिं मा कुर्वाविदन् मा गमय॥ —पार० कां० २, कं० ६,१६

शब्दार्थ तथा भावार्थ—(भ्राजभृष्णुः) अपनी दीप्ति से सब प्रकाशमान नक्षत्रों

* उपनयन संस्कार में (पृष्ठ २६८-२६९) इन मन्त्रों का अर्थ दिया जा चुका है।

१. सामान्य प्रकरण (पृष्ठ ८५) के अष्टाज्याहुति के मन्त्रों में इसका अर्थ दिया जा चुका है।

के प्रकाश को दबा देनेवाला **(इन्द्रः)** सूर्य **(उद्यन्)** उदय होता हुआ **(प्रातः यावभिः)** उष:काल में गति करनेवाली **(मरुद्भिः)** अपनी किरणों से **(अस्थात्)** सामने स्थित है **(दशसनिः असि)** हे सूर्य! तुम दशों दिशाओं से सेवनीय हो **(मा)** मुझे **(दशसनिं)** दसों दिशाओं से सेवनीय **(कुरु)** करो **(आविदन्)** यह सब जानते हुए **(मा गमय)** मुझे वही ले जाओ जिस लक्ष्य की मैं प्रार्थना कर रहा हूँ। मन्त्र के अगले भाग में **'दशसनिं'** की जगह **'शतसनिं'** तथा **'सहस्रसनिं'** आया है जिसका अर्थ है कि सूर्य उदय होता हुआ दसों क्या सैकड़ों और हजारों दिशाओं से सेवनीय है। जैसे सूर्य सभी दिशाओं में सेवनीय है वैसे वह हमें ऐसी शक्ति दे कि हम भी दसों, सैंकड़ों, हजारों दिशाओं से प्रातः, दोपहर तथा सायं सेवनीय बनें।

भावार्थ—ये मन्त्र सूर्य को आधार बनाकर परमात्मा की स्तुति के लिये पढ़े जाते हैं। जैसे सूर्य प्रातः, दोपहर तथा सायंकाल अपनी किरणों से दसों, सैंकड़ों, हजारों दिशाओं में प्रकाश का सञ्चार करता है, वैसे परमदेव परमात्मा भी प्रातः, दोपहर तथा सायं—सब कालों में अपनी ज्योति का सञ्चार करता है। हम भी भौतिक में सूर्य के साथ, अध्यात्म में परमात्मा के साथ एकतानता स्थापित करके प्रातः, दोपहर, सायं अपने को प्रकाशमान करके अपनी तेजोमय किरणों का संसार में सर्वत्र सभी दिशाओं में प्रकाश करें।

[ईश्वर-स्तुति के बाद जटा, लोम, नख छेदन तथा निम्न मन्त्र से दन्त-धावन करे]

उक्त मन्त्र से परमात्मा का उपस्थान, स्तुति करके, तत्पश्चात् दही वा तिल प्राशन करके जटा, लोम और नख वपन अर्थात् छेदन कराके निम्न मन्त्र से उदुम्बर की लकड़ी से दन्त-धावन करे—

ओम् अन्नाद्याय व्यूहध्वꣳ सोमो राजायमागमत्।
स मे मुखं प्रमार्क्ष्यते यशसा च भगेन च॥   —पार० २,६,१७

शब्दार्थ—**(अन्नाद्याय)** अन्न के भक्षण के लिये **(व्यूहध्वम्)** दाँतों की व्यूह रचना करो, दाँतों को निर्मल बनाओ **(अयम्)** यह **(सोमः)** जल **(राजा)** राजा **(आगमत्)** मुखकी शुद्धि के लिये आया है **(सः)** वह **(मे मुखम्)** मेरे मुख को **(यशसा)** यश से **(भगेन च)** और ऐश्वर्य से **(प्रमार्क्ष्यते)** मानो माँज देता है।

[नवीन वस्त्र-धारण तथा चन्दनानुलेपन करे]

तत्पश्चात्, सुगन्धि द्रव्य शरीर पर मल के शुद्ध जल से स्नान कर शरीर को पोंछ अधोवस्त्र अर्थात् धोती वा पीताम्बर धारण करके सुगन्धयुक्त चन्दनादि का अनुलेपन करे।

[निम्न मन्त्र से हाथ में जल लेकर नासिका, चक्षु, श्रोत्र का स्पर्श करे]

ओं प्राणापानौ मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय।

—पार० कां० २, कं० ६,१८

शब्दार्थ—हे जल! **(मे)** मेरे **(प्राणापानौ)** प्राण वायु और अपान वायु को **(तर्पय)** तृप्त करो **(मे चक्षुः)** मेरे नेत्रों को **(तर्पय)** तृप्त करो **(श्रोत्रम्)** मेरे कानों को **(तर्पय)** तृप्त करो—जल से शरीर के प्रत्येक अंग को लाभ होता है।

[हाथ में जल ले, अपसव्य और दक्षिण-मुख होकर निम्न मन्त्र से जल भूमि पर छोड़े]

ओम् पितरः शुन्धध्वम्। —पार० कां० २, कं० ६,१९

शब्दार्थ—**(पितरः)** मेरे पूजनीय बुजुर्गो! **(शुन्धध्वम्)** मुझे शुद्ध मार्ग पर ले जाइये—अभी तक मैं गुरु के पास रहता था, उनके दर्शाये मार्ग पर चलता था, अब मैं पितृ-कुल में आ रहा हूँ—आप भी मुझे संसार का शुद्ध मार्ग दिखलाइये।

[तत्पश्चात् निम्न मन्त्र का जप करे]

ओं सुचक्षा अहमक्षीभ्यां भूयासꣳ सुवर्चा मुखेन।
सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्॥ —पार०कां० २, कं० ६,१९

शब्दार्थ—**(अहम्)** मैं **(अक्षीभ्याम्)** आँखों से **(सुचक्षा)** अच्छी आँखोंवाला **(मुखेन)** मुख से **(सुवर्चा)** सुन्दर वर्चस्ववाला **(कर्णाभ्याम्)** कानों से **(सुश्रुत्)** ठीक सुननेवाला **(भूयासम्)** होऊँ। मेरी आँखें, मेरा मुख, मेरे कान ठीक काम करें। जैसा मैं देखूँ-सुनूँ मुख से वैसा ही सत्य-सत्य बोलूँ, ऐसा न हो कि देखूँ सुनूँ कुछ और बोलू कुछ और!

[निम्न मन्त्र से अतिश्रेष्ठ वस्त्र धारण करे]

ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।
शतं च जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये॥

—पार० कां० २, कं० ६,२०

शब्दार्थ—**(परिधास्यै)** वस्त्रादि परिधान करने के लिये **(यशोधास्यै)** जीवन में यश धारण करने के लिये **(दीर्घायुत्वाय)** दीर्घ-जीवन के लिये **(जरदष्टिः अस्मि)** वृद्धावस्था तक कृत-संकल्प हूँ **(पुरूची)** पुरू अंचति गच्छति—आगे बढ़ता हुआ **(शतं शरदः जीवामि)** सौ बरस तक जीनेवाला जो मैं हूँ **(रायः पोषम्)** वह धन और पुष्टि को **(अभि संव्ययिष्ये)** चारों तरफ से समेट लूँगा।

[निम्न मन्त्र से उपवस्त्र धारण करे]

ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च मा विदद् यशो मा प्रतिपद्यताम्॥ —पार० २,६,२१

शब्दार्थ—**(द्यावापृथिवी)** द्युलोक तथा पृथिवीलोक **(मा)** मुझे **(यशसा)**

यश से **(प्रतिपद्यताम्)** प्राप्त हों—अर्थात्, चारों दिशाओं से, दिग्दिगन्त से मुझे यश मिले; **(इन्द्राबृहस्पती)** इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् लोगों से—धनी, मानी, राजनीतिज्ञ—इन सबसे तथा बृहस्पति अर्थात् ज्ञानी लोगों से **(यशसा)** यश से **(प्रतिपद्यताम्)** प्राप्त हों—अर्थात् धनी-मानी-ज्ञानी—इन सबसे मुझे यश प्राप्त हो, **(यशः)** यश अर्थात् प्रसिद्धि **(भगः च)** और ऐश्वर्य—यश-धन-सम्पत्ति **(मा अविन्दन्)** मुझे प्राप्त हों **(यशः)** यश-ही-यश **(मा प्रतिपद्यताम्)** मुझे प्राप्त हो।

[निम्न २ मन्त्रों से पुष्पमाला धारण करे]

ओं या आहरज्जमदग्निः श्रद्धायै [मेधायै] कामायेन्द्रियाय।
ता अहं प्रतिगृह्णामि यशसा च भगेन च॥ १ ॥

शब्दार्थ—**(जमदग्निः)** जमदग्नि ने **(याः)** जिन मालाओं को **(श्रद्धायै)** श्रद्धा के द्वारा **(मेधायै)** मेधा के द्वारा **(कामाय)** कामना-पूर्त्ति के लिये **(इन्द्रियाय)** इन्द्रियों की प्रसन्नता के लिये **(आहरत्)** हरण किया या हाथ में लिया **(ताः)** उन मालाओं को **(अहम्)** मैं **(यशसा)** यश के साथ **(भगेन)** ऐश्वर्य के साथ **(प्रतिगृह्णामि)** ग्रहण करता हूँ। यह वेद वचन नहीं है, गृह्यसूत्र है, इसलिये जमदग्नि का अर्थ हमने सिर्फ जमदग्नि करना उचित समझा है। मूल संस्कारविधि में **'मेधायै'** पाठ नहीं है।

ओं यद्यशोप्सरामिन्द्रश्चकार विपुलं पृथु।
तेन सङ्ग्रथिताः सुमनस आबध्नामि यशो मयि॥ २ ॥

—पार० कां० २, कं० ६,२३,२४

शब्दार्थ—**(इन्द्र)** इन्द्र ने **(यत् विपुलं पृथु यशः)** जो बड़ा तथा विस्तृत यश **(अप्सरसां)** दक्ष व्यक्तियों के बीच—अप्सु कर्मसु सरन्ति व्याप्नुवन्ति इति अप्सरसः—**(चकार)** प्राप्त किया है **(तेन)** उस **(सुमनसः संग्रथिताः)** सद्‌भावना से गुँथे हुये पुष्पों या माला रूप यश को **(आबध्नामि)** गले में बाँधता, अर्थात् धारण करता हूँ। इस माला से **(मयि)** मुझमें **(यशः)** यश की प्राप्ति हो। यशस्वी को माला पहनाई जाती है इसलिये यश प्राप्ति के लिये मन्त्र में माला का उल्लेख है।

[निम्न मन्त्र से पगड़ी अथवा टोपी धारण करे]

ओं युवा सुवासा परिवीत आ गात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।*

—ऋ० ३,८,४

[निम्न मन्त्र से अलङ्कार धारण करे]

ओम् अलङ्करणमसि भूयोऽलङ्करणं भूयात्॥ —पार० कां० २, कं० ६,२६

शब्दार्थ—हे **(अलंकार)** हे आभूषण! तू **(अलंकरणम् असि)** अलंकृत

* इस मन्त्र का अर्थ उपनयन (पृष्ठ २७१) में देखें।

करने वाला है **(भूयः)** बार-बार **(अलंकरणं)** शोभाजनक **(भूयात्)** हो।

[निम्न मन्त्र से अंजन लगाये]

ओं वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि।

—यजु०अ० ४, मं० ३; पार० कां० २, क० ६,२७

शब्दार्थ—हे अंजन! तू **(वृत्रस्य)** वृत्र की **(कनीनकः)** पुतली **(असि)** है **(चक्षुर्दा असि)** आँख को देखने की शक्ति देने वाला है **(मे चक्षुः देहि)** मुझे देखने की शक्ति दे। यह पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन है इसलिये वृत्र का अर्थ हमने सीधा वृत्र ही किया है। धात्वर्थ द्वारा कोई अन्य अर्थ करने की आवश्यकता नहीं।

[निम्न मन्त्र से दर्पण में मुख देखे]

ओं रोचिष्णुरसि॥ —पार० कां० २, कं० ६,२८

शब्दार्थ—हे दर्पण! तू **(रोचिष्मुः)** रोचक **(असि)** है—तुम में देखकर अपने प्रति रुचि—प्रीति—होती है।

[निम्न मन्त्र से छाता धारण करे]

ओं बृहस्पतेश्छदिरसि पाप्मनो मामन्तर्धेहि तेजसो यशसो माऽन्तर्धेहि॥

—पार० कां० २, कं० ६,२९

शब्दार्थ—हे छत्र! तू **(बृहस्पतेः)** बृहस्पति का **(छदिः)** छत्र **(असि)** है **(माम्)** मुझे **(पाप्मनः)** पाप की मार से **(अन्तर्धेहि)** अपने अन्दर रख ले, पाप से बचा ले **(तेजसः यशसः)** तेज और यश से **(मा अन्तर्धेहि**—मा—अर्थात् मत) मत बचा, अर्थात् जैसे छाते के अन्दर आने से धूप और वर्षा से रक्षा होती है वैसे प्रभु-कृपा के अन्दर आने से पापों से हम बच जाते हैं, परन्तु तेज और यश की प्राप्ति में हमारे ऊपर कोई ढकनेवाली वस्तु न हो, वे हमें भरपूर प्राप्त हों।

[निम्न मन्त्र से जूता पहने]

ओं प्रतिष्ठे स्थो विश्वतो मा पातम्॥ —पार० कां० २, कं० ६,३०

शब्दार्थ—हे उपानहो! **(प्रतिष्ठे स्थः)** तुम प्रतिष्ठा हो, तुम्हें आधार बना कर मनुष्य खड़ा होता है, **(विश्वतः)** चारों तरफ से कहीं से भी **(मा पातम्)** मैं पतित न होऊ, न गिरूँ। जूतों का धारण करना क्या है, मानो परमात्मा से प्रार्थना है कि मेरा किसी तरह भी पतन न हो।

[निम्न मन्त्र से सुन्दर छड़ी हाथ में ले]

ओं विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्परिपाहि सर्वतः॥ —पार० २,६,३१

शब्दार्थ—हे यष्टि! **(विश्वाभ्यः नाष्ट्राभ्यः)** नष्ट करनेवाली हर वस्तु से **(सर्वतः मा पाहि)** चारों तरफ से मेरी रक्षा कर। दण्ड का काम रक्षा करना है, दण्ड को उपलक्षण मान कर परमात्मा से प्रार्थना है कि दण्ड को तो मैं छोड़ रहा हूँ, उसकी जगह छड़ी ले रहा हूँ, परन्तु आप दण्ड की जगह छड़ी बनकर सब विनाशकारी

शक्तियों से मेरी रक्षा करना।

[यज्ञ-समाप्ति]

तत्पश्चात्, स्नातक सहित आचार्य यज्ञ-वेदि पर आकर पश्चिम दिशा में पूर्वाभिमुख बैठे* और अग्नि प्रदीप्त करके ४ '**आघारावाज्यभागाहुतियाँ**' (ओम् अग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७८-७९); ४ '**व्याहृति आहुतियाँ**' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९); '**स्विष्टकृताहुति**' (ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं आदि, पृष्ठ ८०); १ '**मौन प्राजापत्याहुति**' (ओं प्रजापतये स्वाहा, पृष्ठ ८०), ४ '**पवमानी आहुतियाँ**' ('ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि' लेकर 'ओं भूर्भुवः स्वः। प्रजापते न त्वदेता' तक, पृष्ठ ८१) तथा ८ '**अष्टाज्याहुतियाँ**' ('ओं त्वं नो अग्ने' से लेकर 'ओं भवतन्नः समनसौ' तक, पृष्ठ ८२-८६)—इस प्रकार २२ आहुतियाँ दें।

ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा।[१]

उक्त मन्त्र से ३ पूर्णाहुतियाँ देकर महावामदेव्यगान करें। तत्पश्चात्, आचार्य

---

* आचार्य, ब्रह्मचारी, स्नातक आदि यज्ञ-वेदी के किस तरफ बैठें—इस सम्बन्ध में संस्कार-विधि में जो मिलता है वह इस प्रकार है—

'उपनयन' के समय लिखा है—'आचार्य बालक को वेदी के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे'; जब बालक आचार्य को कहता है—'ब्रह्मचर्यमागाम् उपमानयस्व'—तब लिखा है, 'आचार्य यज्ञ-कुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठे और बालक आचार्य के पश्चिम मुख करके बैठे'; सूर्यावलोकन के बाद लिखा है—'आचार्य बालक सहित सभा-मण्डप में आ यज्ञ-कुण्ड के उत्तर बाजू की ओर बैठे'।

'वेदारम्भ' में 'ओं अग्ने सुश्रवः' आदि मन्त्र पढ़ने के बाद जलसिंचन करके 'बालक कुण्ड के दक्षिण की ओर उत्तराभिमुख खड़ा रहकर' लिखा है; इसके बाद 'ओं तनूपा अग्नेऽसि' मन्त्रों से जल-स्पर्श करते समय 'बालक वेदी के पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठे' लिखा है, परमेश्वर का उपस्थान करके 'जानू भूमि में टेक के बालक पूर्वाभिमुख तथा आचार्य बालक के सम्मुख पश्चिमाभिमुख बैठे' लिखा है; पिता द्वारा उपदेश दे चुकने के बाद यज्ञारम्भ करते समय 'ब्रह्मचारी सहित आचार्य कुण्ड के पश्चिम भाग में आसन पर पूर्वाभिमुख बैठे' लिखा है।

'समावर्त्तन' में यज्ञारम्भ के समय 'आसन पर आचार्य पूर्वाभिमुख बैठे' लिखा है। यज्ञ में यजमान का आसन पश्चिम में पूर्वाभिमुख या दक्षिण में उत्तराभिमुख कहा गया है।

संगति को देखकर हमने 'स्नातक सहित आचार्य पश्चिम दिशा में पूर्वाभिमुख बैठे'—यह लिख दिया है। संस्कारविधि में इस स्थान पर कुछ नहीं लिखा। हमारे विचार में कार्यकलाप को दृष्टि में रखते हुए जिस प्रकार बैठना सुविधाजनक हो उस प्रकार बैठना चाहिये—यह ऋषि दयानन्द का अभिप्राय है।

१. यज्ञ-समाप्ति को उक्त विधि का संस्कारविधि में उल्लेख नहीं है, परन्तु विधि के समापन के लिये हमने यह विधि दे दी है।

स्नातकों तथा स्नातिकाओं को उपदेश दें।

[आचार्य का उपदेश]

यह उपदेश हम समावर्त्तन-संस्कार के 'विवेचनात्मक भाग' में विस्तार से लिख आये हैं। संस्कारविधि में तो यह उपदेश नहीं दिया हुआ, परन्तु गुरुकुलों तथा अन्य शिक्षा-संस्थाओं में दीक्षान्त-भाषण का आधार तैत्तिरीयोपनिषद् का यह उपदेश ही बना लिया गया है, इसलिये उस उपदेश से प्रत्येक स्नातक तथा शिक्षाविद् को परिचित हो जाना चाहिये। इसीलिये हमने इस उपदेश की विस्तृत व्याख्या समावर्त्तन-संस्कार के विवेचनात्मक-भाग में दे दी है।

[स्नातक का आचार्य के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन]

आचार्य के उपदेश के अनन्तर ब्रह्मचारी के माता-पिता आदि, जब वह आचार्य-कुल से अपना पुत्र घर को लावें, उसको बड़े मान-प्रतिष्ठा, उत्सव, उत्साह से अपने घर पर ले आवें। घर पर लाके उसके माता-पिता, सम्बन्धी, बन्धु आदि ब्रह्मचारी का सत्कार पाद्य-अर्घ्य-मधुपर्क द्वारा करें।

घर पर वह ब्रह्मचारी और उसके माता-पिता आचार्य को उत्तमासन पर बैठा, पूर्वोक्त प्रकार मधुपर्क कर, सुन्दर पुष्पमाला, वस्त्र, गोदान, धन आदि की दक्षिणा यथाशक्ति देके सबके सामने आचार्य के जो उत्तम गुण हों उनकी प्रशंसा कर और विद्यादान की कृतज्ञता सबको सुनावें।

तत्पश्चात्, ऋत्विजों का यथायोग्य सत्कार तथा दक्षिणा देकर तथा कुटुम्बियों एवं मित्रों का यथायोग्य सत्कार कर पुरुषों तथा स्त्रियों को प्रसन्नतापूर्वक विदा करें।

॥ इति समावर्त्तनसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

विवाह संस्कार

[विवेचनात्मक भाग (क)]

[विवाह-संस्कार के सम्बन्ध में आयु का प्रश्न]

१. बाल, किशोर तथा युवा विवाह में भेद

विवाह की आयु को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—'बाल-विवाह', 'किशोर-विवाह' तथा 'युवा-विवाह'। 'बाल-विवाह' का अभिप्राय 'किशोरावस्था' से पहले का विवाह है। 'किशोरावस्था' से हमारा क्या अभिप्राय है? बालक में 'किशोरावस्था' तब शुरु होती है जब उसमें वीर्य बनना शुरु हो जाता है, जब उसके वीर्य से सन्तान उत्पन्न हो सकती है। बालिका में 'किशोरी-अवस्था' तब शुरु होती है जब उसे मासिक-धर्म होने लगता है। इस दृष्टि से 'बाल-विवाह' की अवस्था वह अवस्था है जिसमें 'प्राणि-शास्त्र' की दृष्टि से प्रजनन नहीं हो सकता, 'किशोरावस्था' वह अवस्था है, जिसमें 'प्राणि-शास्त्र' की दृष्टि से प्रजनन हो सकता है। 'किशोरावस्था' एक तरह से 'प्राणि-शास्त्रीय अवस्था' (Biological age) है। 'बाल्यावस्था' प्रजनन की दृष्टि से 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' नहीं है। इस 'किशोरावस्था' के बाद एक तीसरी अवस्था आती है जिसे 'युवावस्था' कहते हैं। किशोरी-किशोर के रज-वीर्य से सन्तान तो उत्पन्न हो सकती है, परन्तु क्या वह हृष्ट-पुष्ट होगी, तन्दुरुस्त होगी? अभी किशोर-किशोरी का केवल शारीरिक विकास हुआ है, वह विकास भी अभी प्रारम्भ ही हुआ है, अभी उनकी परिपक्वावस्था नहीं आयी, मानसिक-विकास होना तो अभी बहुत बाकी है। ऐसी अवस्था में, किशोरावस्था में विवाह करना उचित है या नहीं—यह समस्या है। 'किशोरावस्था' तो 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' (Biological age) है; 'युवावस्था' में शरीर पक जाता है, विचार बन चुके होते हैं, अतः 'युवावस्था' इस दृष्टि से 'सांस्कृतिक-अवस्था' (Cultural age) है। 'किशोरावस्था' में विवाह हो या 'युवावस्था' में विवाह हो—इस प्रश्न का वैज्ञानिक रूप यह है कि 'प्राणि-शास्त्रीय आयु' (Biological age) में विवाह हो, या 'सांस्कृतिक-आयु' (Cultural age) में विवाह हो? विवाह की आयु के विषय में मुख्य प्रश्न यही है।

२. बाल-विवाह

इससे पहले कि हम अपने मुख्य विषय पर आये, 'बाल-विवाह' (Child marriage) पर कुछ लिख देना अप्रासङ्गिक न होगा। अपने देश में बाल-विवाह बहुत देर तक प्रचलित रहा है और अब भी गैर-कानूनी होते हुए भी अनेक स्थानों पर प्रचलित है। दूध पीते बच्चे-बच्चियों के यहाँ विवाह होते रहे हैं। परन्तु यह

समझना कि अपने देश के इतिहास में शुरु से ही यह प्रथा रही है, गलत है। मोटे तौर पर किसी देश का इतिहास तीन भागों में बाँटा जा सकता है—आदि-युग, मध्य-युग तथा वर्त्तमान-युग। भारत का आदि-युग वैदिक-युग था, मध्य-युग मनु आदि स्मृतिकारों का युग था और वर्त्तमान-युग हम सबका—जो आज हैं उनका—युग है। वैदिक-युग में बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी, मध्य-युग में यह प्रथा चली, वर्त्तमान-युग में मौजूद है, परन्तु शिक्षा के विस्तार तथा नवीन कानूनों के कारण इस प्रथा का अब लोप होता जा रहा है, इसके स्थान में 'किशोर-विवाह' तथा 'युवा-विवाह' का प्रचार बढ़ता जा रहा है।

(१) वैदिक-युग में बाल-विवाह नहीं था—वैदिक-युग में बाल-विवाह नहीं था, इसके अनेक प्रमाण हैं। वेद में लिखा है—'**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**'—कन्या ब्रह्मचर्य धारण करने के द्वारा 'युवा' पति को प्राप्त होती है। यहाँ 'युवा'-शब्द का प्रयोग सिद्ध करता है कि वैदिक-युग में 'बाल-विवाह' तथा 'किशोर-विवाह' दोनों न होकर 'युवा-विवाह' होता था। वेद में एक दूसरे स्थल में आता है—'**सोमः प्रथमो विवदे गन्धर्वो विवद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पति स्तुरीयस्ते मनुष्यजाः**'—अर्थात्, कन्या का सबसे पहले 'सोम' से सम्पर्क होता है, फिर 'गन्धर्व' से, फिर 'अग्नि' से, उसके बाद 'पुरुष' से। 'सोम' का अर्थ है—'शारीरिक-विकास'। पहले-पहल कन्या का शारीरिक-विकास होता है। उसके बाद उसका सम्बन्ध 'गन्धर्व' से होता है। 'गन्धर्व' का अर्थ है—सौन्दर्य का स्वामी। इसका अभिप्राय यह है कि शारीरिक-विकास के बाद कन्या का सौन्दर्य निखरने लगता है, उसमें ललित-कलाओं का विकास होने लगता है। इसके बाद कन्या के विकास में तीसरी अवस्था आती है जिसे यहाँ 'अग्नि' कहा है। 'अग्नि' को अंग्रेजी में ।द्दङ्डह्ल कहते हैं। जैसे जीव-जन्तुओं में मासिक-धर्म को गर्म होने का समय कहा जाता है—इसी तृतीय-अवस्था को यहाँ अग्नि-काल कहा है। इसके बाद कन्या 'पुरुष' को दी जाती है, उसका विवाह होता है। इस मन्त्र से भी स्पष्ट है कि वैदिक-काल में कन्या का विवाह बाल्य-काल में न होकर मासिक-धर्म हो चुकने के बाद होता था, जिसे मन्त्र में 'अग्नि'-काल कहा है।

(२) मध्य-युग में बाल-विवाह शुरु हुआ—वैदिक-काल के बाद मध्य-युग आया। यह गृह्य-सूत्रों तथा स्मृतिकारों का युग था। गृह्य-सूत्रों में लिखा है कि 'नग्निका'-कन्या का विवाह करना चाहिए। 'नग्निका' का अर्थ है जब वह नंगी फिरती हो, उसे अपने नग्न होने का भी ज्ञान न हो। बाल-विवाह का यह श्रीगणेश कहा जा सकता है, परन्तु महाभारत में १६ वर्ष की लड़की को 'नग्निका' कहा गया है और उसी के विवाह का विधान है। इसका अर्थ यह हुआ कि गृह्य-सूत्रों के समय तक बाल-विवाह प्रारम्भ नहीं हुआ था, स्मृतिकारों के समय इसका प्रारम्भ हुआ।

स्मृतियों के युग को इस देश का मध्य-युग कहा जा सकता है। 'नग्निका'-शब्द से बाल-विवाह का आभास अवश्य मिलता है।

इस मध्य-युग में भारत की राजनैतिक अवस्था अस्थिर हो गई थी। विदेशी लोग जहाँ-तहाँ से आक्रमण करने लगे थे। परिवार की रचना 'संयुक्त-परिवार' का रूप धारण किये हुए थी। जिस बालिका ने दूसरे घर जाना है, वहाँ जाकर सास-ससुर आदि संयुक्त-परिवार के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के बीच रहकर हर-एक से किस प्रकार बरतना होगा यह सब सीखना है, उसे जितनी जल्दी-से-जल्दी घर से विदा कर दिया जाए जिससे उस घर की बातों को वह जल्दी सीख जाये—यह भावना घर करने लगी और बाल-विवाह का श्रीगणेश हुआ। इन दिनों सती-प्रथा भी प्रचलित थी। पति के मर जाने पर स्त्री चिता पर चढ़कर अपना अन्त कर देती थी। ऐसी सामाजिक-परिस्थिति में, जब पिता के मर जाने और माता के सती हो जाने पर लड़की का कोई अभिभावक न बच रहे, लड़की की जल्दी शादी कर देना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से माता-पिता के बोझ को हल्का करने का साधन था। कई लोग कहते हैं कि बाहर से आक्रान्ताओं के यहाँ आने से बाल-विवाह चला। उनका कहना यह है कि ये आक्रान्ता लोग बाहर से सैनिकों के रूप में यहाँ आये थे, इनके बाल-बच्चे नहीं थे, ये इकले थे, इनको स्त्रियों की जरूरत थी जो विवाहिता न हों। अपनी कन्याओं की रक्षा के लिए मध्य-युग में हिन्दुों ने छोटे-छोटे बालकों-बालिकाओं का विवाह करना शुरु कर दिया। जो कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि बाल-विवाह की प्रथा वैदिक-काल में न होकर मध्य-काल में प्रारम्भ हुई। इस समय भी विवाह के दो भेद रखे गये। एक तो संस्कार, दूसरा द्विरागमन, गौना, डोली आदि। इसका अभिप्राय यह था कि राजनैतिक (Political) अवस्थाओं को देखकर तो बाल-विवाह को प्रचलित किया गया, परन्तु 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) तथा 'सांस्कृतिक' (Cultural) दृष्टिकोण को भी भुलाया नहीं गया। इसीलिए तो असली विवाह द्विरागमन, गौना, डोली आदि के बाद समझा गया। इस समय मन्त्र तो वही पढ़े जाते थे जिनमें युवावस्था के विवाह का विधान था, परन्तु मन्त्रों के अर्थ की तरफ कोई ध्यान नहीं देता था, युवावस्था के मन्त्रों से ही बाल्यावस्था का विवाह कराया जाता था। वैदिक-युग में जो मन्त्र कन्या के युवावस्था में विवाह के लिए समझे गये थे उन्हीं को तोड़-मरोड़ कर कन्या का बाल्यावस्था में विवाह किया जाने लगा। इसमें स्मृतिकारों ने रास्ता साफ कर दिया। पुराणों ने भी इसी प्रकार की रागिनी अलापी। कहाँ तो वेद-मन्त्रों मे सोम-गन्धर्व-अग्नि-मनुष्य का अभिप्राय, जैसा हम अभी दर्शा आये हैं, कन्या के शारीरिक-विकास से था, कहाँ यह कहा जाने लगा—

'रोमकाले तु संप्राप्ते सोमो भुक्ते तु कन्यकाम्।

रजःकाले तु गन्धर्वो वह्निस्तु कुचदर्शने॥
तस्मादुद्वाहयेत् कन्यां यावन्नर्तुमती भवेत्।'

रोम निकलते ही सोम कन्या का भोग करता है, रजोदर्शन होते ही गन्धर्व, स्तन प्रकट होने पर अग्नि—इसलिये ऋतुमती होने से पहले ही उसका विवाह कर दे। वेदमन्त्रों के सोम, गन्धर्व तथा अग्नि का यह विकृत अर्थ किया गया, परन्तु इस प्रकार का विकृत अर्थ करने का उद्देश्य उस समय की सामाजिक-परिस्थिति के अनुसार बाल-विवाह के अनुकूल लोक-मत तैयार करना प्रतीत होता है।

इस समय जो विचार-धारा चल पड़ी उसका नग्न रूप उस श्लोक में दिखलाई देता है, जिसमें कहा गया है—'आठ वर्ष की लड़की गौरी होती है, नौ वर्ष की रोहिणी, दस वर्ष की कन्या कहलाती है, इसके बाद वह रजस्वला हो जाती है। लड़की के दस वर्ष की हो जाने के बाद जो पिता लड़की का विवाह नहीं करता वह हर मास उसका रुधिर पीता है।'[१] मध्य-युग में बाल-विवाह खूब अच्छी तरह प्रचलित था। देल्ला वाल नामक एक यात्री ने दो बालकों के विवाह का वर्णन किया है जिन्हें घोड़े पर सहारा देकर बैठाया गया था और बरात में भी जिन्हें सहारा देकर घोड़े पर ले जाया गया था। अकबर ने बाल-विवाह की प्रथा बन्द करने का प्रयत्न किया परन्तु वह निष्फल रहा।[२]

(३) वर्तमान-युग में बाल-विवाह—मध्य-युग के बाद वर्त्तमान युग आया। इस युग में बाल-विवाह की प्रथा अपने शिखर पर जा पहुँची। माताएँ दुधमुंही बच्चियों के फेरे उन्हें अपनी गोद में उठाये देने लगीं। इस प्रथा के विरुद्ध आर्यसमाज तथा ब्राह्मी-समाज ने आवाज उठाई। अंग्रेज लोग यही कहते रहे कि वे किसी के धर्म में हस्तक्षेप करके किसी धर्म के लोगों को नाराज नहीं करना चाहते। १८९० में बंगाल में फूलमणि नाम की एक लड़की का जो ११ वर्ष की थी, पति के सहवास द्वारा प्राणांत हो गया। उस पर जब अभियोग लगाया गया, तो उसने भारतीय दण्ड-विधान की वह धारा पेश की जिसके अनुसार सहवास के लिए १० वर्ष की आयु मानी गई थी। इस प्रकार की घटनाओं से सरकार ने बालिका के विवाह की आयु १० से १२ वर्ष करने का प्रस्ताव किया परन्तु इसका यहाँ की जनता की तरफ से घोर विरोध हुआ। इस विरोध के बावजूद आयु १० से १२ वर्ष कर दी गई। १८९१ में १०

---

१. **अष्ट-वर्षा भवेद् गौरी नव-वर्षा तु रोहिणी।**
दस-वर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥
प्राप्ते तु दशमे वर्षे यस्तु कन्यां न यच्छति।
मासि-मासि रजस्तत्याः पिता पिबति शोणितभ्। (बृहद्यम स्मृति)

२. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ ५५२—डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार

से १२ वर्ष आयु बढ़ाते हुए इस बिल के प्रस्तावक श्री एण्ड्र्यू स्कोबल ने कहा कि राष्ट्र का अधिकार है कि जहाँ प्रजा के किसी वर्ग की रक्षा का प्रश्न उपस्थित हो वहाँ हस्तक्षेप करे। पहले तो यह समझा गया कि इस प्रस्ताव के पास हो जाने के बाद बाल-विवाह की प्रथा में बहुत-कुछ सुधार हो जायेगा, परन्तु कुछ न हुआ, यह प्रस्ताव कागज पर ही लिखा रह गया, बाल-विवाह उसी तेजी से होते रहे। १९२५ में यह आयु बढ़ाकर १२ से १३ वर्ष कर दी गई, तब भी कुछ इने-गिने वकीलों को छोड़कर इसका किसी को पता न चला, खासकर गाँवों में उसी रफ्तार से बाल-विवाह होते रहे। ब्रिटिश-भारत में तो यह अवस्था रही, परन्तु देशी राज्यों में से बड़ौदा-राज्य ने इस दिशा में विशेष प्रगति दिखलाई। वहाँ १९०१ में एक कानून द्वारा बाल-विवाह का निषेध करके लड़कों की आयु १६ और लड़कियों की १२ वर्ष कर दी गई। बहुत सालों बात १९२९ में श्री हरविलास शारदा के उद्योग से ब्रिटिश-भारत की केन्द्रीय-विधान-सभा में 'बाल-विवाह-निषेधक'-विधेयक पेश हुआ जिसके अनुसार विवाह के लिए लड़के की कम-से-कम आयु १८ वर्ष तथा लड़की की १४ वर्ष निश्चित की गई। १ अप्रैल १९३० से यह कानून सारे भारत में लागू हो गया। जिस समय यह विधेयक स्वीकृत होकर अधिनियम बना उस समय देश में सत्याग्रह-आन्दोलन का भी प्रारम्भ हुआ। सरकार सत्याग्रह-आन्दोलन को दबाने में इतनी लग गई कि उसका शारदा-कानून की तरफ ध्यान ही नहीं जा सका और इसीलिए इस कानून के बावजूद छोटे लड़के-लड़कियों की शादी जारी रही।

३. बाल-विवाह के कारण

बाल-विवाह हिन्दू-समाज में वैदिक-काल में नहीं था, पीछे के युग में यह क्यों शुरु हुआ—यह एक समस्या है। बाल-विवाह के निम्न कारण कहे जा सकते हैं—

(१) न्यून जन-संख्या का हल—वैदिक-काल में जो भी हालत थी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय बाल-विवाह नहीं था। '**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**' का अर्थ है—ब्रह्मचर्य पूरा करके कन्या युवा पति के साथ विवाह करती है। ब्रह्मचर्य पूरा करने के लिए कन्या का पूरी आयु का होना जरूरी है। युवा या युवति होने पर विवाह करने से सन्तान उत्पन्न करने का समय बहुत थोड़ा रह जाता है, इससे सन्तानें कम उत्पन्न हो सकती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब हिन्दुओं ने देखा कि उन्हें अधिक सन्तानों की जरूरत है, देश की जनसंख्या कम है, तब उन्होंने सन्तान उत्पन्न करने का समय बढ़ा देने के लिये बाल-विवाह का प्रारम्भ किया। कृषि-युग में ऐसा करना स्वाभाविक भी है। कृषि के लिए जितने काम करनेवाले हों, उतना अच्छा। अगर लड़के-लड़की की छोटी आयु में शादी हो जाती

है तो उन्हें जीवन-काल में अधिक सन्तान उत्पन्न करने का मौका मिलता है। बड़ी उम्र में शादी करने से अगर पाँच सन्तानें होंगी, तो छोटी उम्र में शादी करने से सात-आठ हो जायेंगी, इसलिए हो जायेंगी क्योंकि सन्तान उत्पन्न करने का समय अधिक रहेगा। सम्भव है, स्मृतिकारों ने अपने समय की अधिक सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता को देखकर बाल-विवाह की व्यवस्था की हो। आज देश की जन-संख्या आशातीत बढ़ जाने के कारण जो समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं उन्हें देखते हुए युवावस्था का विवाह सन्तति-निरोध का एक सर्वोत्तम उपाय है।

(२) संयुक्त-परिवार प्रथा ने बाल-विवाह को प्रोत्साहन दिया—अपने देश में संयुक्त-परिवार की प्रथा रही है। संयुक्त-परिवार में हर व्यक्ति का लालन-पालन परिवार का काम होता है, व्यक्ति का नहीं। अगर वैयक्तिक-परिवार हो, व्यक्ति को अपनी आमदनी से परिवार का—स्त्री का, बच्चों का—पालन करना हो, तब तो व्यक्ति जबतक कमाने लायक न हो जाए, तबतक विवाह न करे, परन्तु संयुक्त-परिवार-प्रथा में तो व्यक्ति पर व्यक्तिरूप से कोई बोझ नहीं होता। हिन्दू-व्यवस्था में विवाह करना आवश्यक है, यह धर्म का अंग है। ऐसी हालत में जब किसी पर वैयक्तिक रूप में कोई बोझ नहीं पड़ता, इस धर्म-काय को जल्दी-से-जल्दी क्यों न कर डाला जाए ? यह मनोवृत्ति बाल-विवाह के लिए अत्यन्त सहायक रही है। घर में अगर जल्दी बहू आ जायेगी, तो वह घर के इतने आदमियों के काम निबटाने में हाथ ही बँटायगी। फिर जितनी जल्दी आयेगी उतना अच्छा, बच्ची को तो जिस किसी काम पर जोता जा सकता है, वह चूँ-चरा नहीं करती, बड़ी तो अकड़ भी सकती है।

(३) अन्तर्जातीय-विवाहों के प्रतिबन्धक के तौर पर इसे अपनाया गया—हिन्दुओं में अन्तर्जातीय-विवाह का निषेध है। ब्राह्मण ब्राह्मणों में शादी कर सकता है, दूसरी जाति में नहीं। दूसरी जाति में विवाह को अन्तर्जातीय-विवाह कहा जाता है, अन्तर्जातीय-विवाह का हिन्दु-प्रथा में निषेध रहा है। अगर विवाह बड़ी उम्र में किया जाए, तो लड़के-लड़की अपनी मर्जी से ब्याह-शादी करने लगेंगे, जहाँ चाहेंगे करेंगे, जाति तोड़कर भी करेंगे, और अगर जाति तोड़कर करने लगेंगे, तो माता-पिता के लिए धर्म-संकट उपस्थित हो जायेगा। इस संकट को काटने के लिए भी बाल-विवाह एक उपयुक्त व्यवस्था जान पड़ी, क्योंकि इस व्यवस्था के अनुसार बच्चों का ऐसी उम्र में विवाह कर दिया जाता था जब वे जानते ही नहीं थे कि यह क्या बला है। अन्तर्जातीय-विवाहों की सम्भावना को रोकने में बाल-विवाह ने सिद्धास्त्र का काम दिया।

(४) स्मृतिकारों की व्यवस्था तथा रूढ़िवाद—स्मृतिकारों के पास अपनी

युक्तियाँ होंगी जिनके कारण उन्होंने बाल-विवाह का समर्थन किया, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि स्मृतियों में बाल-विवाह का विधान है। यह प्रायः सभी स्मृतियाँ कहती हैं कि रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या का विवाह हो जाना चाहिए। हम बृहद्यमस्मृति का उल्लेख कर आये हैं जिसमें लिखा है कि जो पिता दश वर्ष के बाद कन्या का विवाह करता है, वह उसके रजोदर्शन के हर मास के रज का पान करता है। ऐसी प्रबल व्यवस्था देने के उनके अपने कारण होंगे, परन्तु यह निश्चित है कि रजोदर्शन के बाद कन्या का अविवाहिता रहना स्मृतिकारों की दृष्टि में कलंक समझा गया है। गौतम ने यह व्यवस्था दी है कि रजोदर्शन से पहले कन्या का विवाह कर देना चाहिए। उसने लिखा (१८,२२) है—'**प्रदानं प्रागृतोः**'—अर्थात्, ऋतु-काल से पहले ही कन्या का दान कर दे। इसी सिलसिले में गौतम धर्मसूत्र (१८,२४) में लिखा है—'**प्राग्वाससः प्रतिपत्तिरित्येके**'—शरीर को कपड़े से ढाँपकर रखने की बुद्धि पैदा होने से पहले ही कन्या की शादी कर दे। इसी को '**नग्निका**' कहा गया है—जब कन्या नंगी फिरती हो, उसे यह ज्ञान ही न हो कि वह नंगी है, तब उसकी शादी कर दे। वैदिक-काल में तो युवा होने पर शादी होती थी, लड़कियों का उपनयन भी होता था, फिर अगर छोटी उम्र में शादी कर दी गई तो उपनयन का क्या होगा? इसका समाधान भी स्मृतिकारों ने कर दिया था। हारीत ने यह व्यवस्था दी थी कि छोटी उम्र में लड़की का विवाह कर देना चाहिए, परन्तु विवाह से पहले नाममात्र को उसका उपनयन-संस्कार भी कर देना चाहिए। ऐसे विवाहों के लिए स्मृतिकारों ने '**सद्योवधू**'-शब्द की रचना की थी जिसका अर्थ है—उपनयन होते ही वह वधू बन गई। मनु आदि स्मृतिकारों ने कहा कि लड़की के लिए पढ़ना-लिखना क्या, विवाह ही उनके लिए एकमात्र संस्कार है, इस संस्कार में उनके सब संस्कार आ जाते हैं।[१] जैसे उपनयन में ब्रह्मचारी अपने पिता के कुल से गुरु के कुल में चला जाता है, वैसे विवाह के समय कन्या पितृकुल से श्वशुरकुल में चली जाती है, जैसे ब्रह्मचारी गुरु के कुल में अग्निहोत्र के लिए समिधा लाता है, वैसे कन्या श्वशुर-कुल में रसोई-घर में अग्नि पर खाना बनाती है। इसलिए कन्या के लिए विवाह करना ही मानो उपनयन करना या वेदाध्ययन करना है।

स्मृतिकारों की इन व्यवस्थाओं का रूढ़िवादी हिन्दू-समाज पर यह प्रभाव पड़ा कि बाल-विवाह यहाँ की सामाजिक-व्यवस्था का दृढ़ अंग हो गया और हिन्दुओं के मस्तिष्क पर यह अमिट प्रभाव पड़ गया कि उन्हें बचपन में ही लड़के-लड़की का विवाह कर देना चाहिए।

---

१. **वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।**
पति-सेवा गुरौ वासः गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥ —(मनु० २।६७)

(५) दहेज की प्रथा भी बाल-विवाह का एक कारण है—प्रथाओं के विषय में यह बात ध्यान में रखने की है कि एक प्रथा दूसरी प्रथा से बँधी रहती है। दहेज और बाल-विवाह की प्रथा का भी गठबन्धन है। दहेज लड़के या लड़की के मूल्य के तौर दिया जाता है। ज्यों-ज्यों लड़का बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी अपनी हैसियत भी बढ़ती जाती है। हैसियत बढ़ने के साथ-साथ दहेज की मात्रा भी बढ़ती जाती है। दहेज की मात्रा अपनी शक्ति से बाहर न चली जाए—इसलिए भी लड़की के माँ-बाप लड़की की जल्दी ही शादी कर देने की फिक्र में रहते हैं। कहीं ऐसा न हो कि लड़का इतनी हैसियत का शादी से पहले ही हो जाए कि उसकी हैसियत के मुताबिक दाम ही न चुकाया जा सके।

(६) कौमार्य भंग होने की आशंका भी बाल-विवाह का एक कारण था—ऊपर बाल-विवाह के जो कारण कहे गये हैं, उनमें एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि माँ-बाप को लड़की के कौमार्य के विषय में अत्यन्त सतर्क रहना पड़ता है। कौमार्य हिन्दू-विवाह की आधारभूत शर्त्त है। अगर यह पता लग जाए कि अमुक कन्या का कौमार्य भंग हो चुका है, तो उससे कोई विवाह करने को तैयार नहीं होता। ज्यों-ज्यों आयु बड़ी होती जाती है, त्यों-त्यों लड़की पर निगरानी बढ़ती जाती है, और कौमार्य भंग होने की आशंका होने लगती है। स्मृतिकारों के समय कहा जाता था कि स्त्री में पुरुष की अपेक्षा काम कई गुणा होता है। होता या नहीं होता—यह तो स्मृतिकार जानें, परन्तु उनका कथनयही था। सम्भव है इसी कारण वे समझते थे कि काम की अधिकता के कारण कन्याओं के कौमार्य-भंग की आशंका बनी रहती है इसलिये उनका शीघ्र-से-शीघ्र विवाह कर देना चाहिए।

(७) गौने का रिवाज—बाल-विवाह के सम्बन्ध में जितने आक्षेप किये जाते हैं उन सबका प्रतीकार करने के लिए हिन्दुओं में द्विरागमन का रिवाज है, जैसे गौना या मुकलावा कहते हैं। विवाह तो बाल्यावस्था में कर दिया जाता है, परन्तु विवाह के बाद लड़की अपने माता-पिता के घर ही रहती है, पति के घर नहीं जाती, पति के घर तो तभी जाती है जब उसकी उम्र बड़ी हो जाती है। सम्भव है, यह गौने, मुकलावे या द्विरागमनकी प्रथा बाल-विवाह के तथाकथित गुणों का लाभ तथा अवगुणों का प्रतीकार करने के लिए चलाई गई हो। बाल-विवाह का यह लाभ समझा गया था कि दहेज का दाम चढ़ा हुआ नहीं होता था, इसमें हानि यह थी कि छोटी उम्र में ही विषय-भोग से शक्ति का ह्रास होता था। गौने द्वारा इस दोष को दूर कर दिया गया—इसलिए बाल-विवाह के जो लोग विरोधी थे वे भी इसके विरोध में कुछ न रह सके और बाल-विवाह अपने समाज में निर्बाध गति से चलता रहा।

४. बाल-विवाह की हानियाँ

बाल-विवाह तथा किशोर-विवाह की लगभग एक-सी हानियाँ हैं। यह हम स्पष्ट कर आये हैं कि बाल-विवाह से हमारा अभिप्राय अपरिपक्व शरीर वाले व्यक्तियों के विवाह से है, किशोरावस्था के विवाह से हमारा अभिप्राय उस अवस्था के विवाह से है जब रज-वीर्य प्रकट होने लगते हैं, परन्तु मनुष्य अभी मानसिक दृष्टि से अविकसित ही होता है। उस दृष्टि से किशोरावस्था तथा उससे पहले के विवाह—दोनों को बाल-विवाह कहा जा सकता है। इन दोनों की हानियाँ निम्न हैं—

(१) वर-वधू के स्वास्थ्य का नाश—मानव-शरीर को अन्य किसी कार्य से इतनी थकावट नहीं आती जितनी मैथुन से आती है। अधपके लड़के-लड़कियाँ जब अल्पायु में विवाह करके मैथुन में प्रवृत्त होते हैं तब उनके शरीर, जो जीवन की उमंग से भरे रहने चाहियें, बचपन में ही थकावट की मार से मरे-से दिखाई देते हैं। इनके चेहरे युवावस्था में ही बुढ़ापे की झुर्रियों से मुरझा जाते हैं। बाल्यावस्था का विवाह स्वास्थ्य का सर्वथा नाश कर देता है। द्विरागमन के लिए कोई आयु निश्चित नहीं है। विवाह के कभी चार, कभी चार, कभी छह कभी दस साल बाद द्विरागमन हो जाता है, परन्तु अनेक अवस्थाओं में वह बचपन में ही हो जाता है। जिनका गौना बचपन में ही हो जाता है उन पर बाल-विवाह के दुष्परिणाम शीघ्र अपना फल लाने लगते हैं।

(२) निर्बल सन्तान—बाल्यावस्था में लड़के-लड़कियाँ पूर्णतया शारीरिक तौर पर भी विकसित नहीं हो पाते, मानसिक-विकास तो उनका अभी हुआ ही नहीं होता। ऐसे माता-पिता जो स्वयं बच्चे हैं किस तरह के बच्चे उत्पन्न करेंगे? इन अविकसित शरीर तथा अविकसित मन के बच्चों के बच्चे तो उनसे भी निर्बल होंगे, इसलिए बाल-विवाह की सबसे बड़ी हानि यह है कि इससे देश निर्बल व्यक्तियों से भर जाता है। हमारे देश के लोगों के अन्य देशों के मुकाबिले में न कद हैं, न शरीर का भराव है। इसका यही कारण है कि इस देश की सन्तान युवा पुरुषों तथा स्त्रियों की सन्तान न होकर बच्चों की सन्तान है।

(३) स्त्रियों की अल्पायु में मृत्यु—सन्तान उत्पन्न करने का सारा बोझ स्त्री पर होता है। अगर उसके प्रजनन के अवयव, गर्भाशय आदि पूर्णतया विकसित नहीं हुए, तो वह बच्चा कैसे पैदा करेगी? यही कारण है कि अधिकांश बच्चियों के जब बच्चे होते हैं, तब वे सन्तान के प्रसव को सहन नहीं कर सकतीं और छोटी ही आयु में चल बसती हैं। बाल-विवाह इस देश की स्त्रियों की मृत्यु-संख्या बढ़ाने का एक बड़ा कारण है।

(४) बाल-विधवा होना—जैसे बाल-विवाह के परिणामस्वरूप स्त्रियों की मृत्यु हो जाती है, वैसे ही बाल-विवाह के परिणामस्वरूप अति विषय-भोग करने के कारण पुरुष की आयु क्षीण होती है और वह जल्दी ही बुड्ढा हो जाता है, उसे रोग

आ घेरते हैं, और अपनी पूर्ण आयु भोगने के स्थान में कूच का डंका बहुत शीघ्र बोल देता है, जिसका परिणाम विधवाओं की संख्या का अधिक होना है। कुप्रथाओं की एक विशेषता यह है कि वे दूसरी किसी कुप्रथा के साथ कारण-कार्य की शृंखला में बँधी रहती हैं। बाल-विवाह के साथ विधवाओं का होना भी इसी का एक उदाहरण है।

(५) अनमेल जोड़ों का होना—बाल-विवाह में पति-पत्नी को एक-दूसरे को चुनने का मौका तो होता नहीं। माता-पिता ने जो जोड़ी बचपन में मिला दी बड़े होकर इनका विकास किस दिशा में होगा—इसे कोई नहीं जानता। परिणाम यह होता है कि बाल-विवाह के परिणामस्वरूप ऐसे बेमेल जोड़े दिखलाई पड़ते हैं, जिन्हें देख कर आश्चर्य होता है कि इनकी कैसे निभती होगी। हिन्दू-परिवार में ही, जिसमें यह समझा जाता है कि विवाह तो ईश्वराधीन है, इसमें मनुष्य का अपना कोई बस नहीं, इस प्रकार के अनेक जोड़े दिखाई देते हैं, और प्रथा के वशीभूत होकर ही ऐसे जोड़ों के स्त्री-पुरुष एक-दूसरे को बर्दाश्त करते हैं। इस प्रकार के जोड़ों का जीवन या परस्पर कलह में बीतता हैं, या ये लोग प्रथा के रूप में पति-पत्नी का जीवन व्यतीत करते हैं, नहीं तो इनकी प्राइवेट-लाइफ और होती है, पब्लिक-लाइफ और होती है। ये दोनों शब्द ऐसे ही लोगों के लिए घड़े गये प्रतीत होते हैं।

(६) अधिक सन्तानों का होना—बाल-विवाह हो जाने के कारण पुरुष-स्त्री को सन्तान उत्पन्न करने का समय अधिक मिल जाता है। इस देश की समस्या अधिक जन-संख्या पर नियन्त्रण करने की है, बाल-विवाह के कारण तो जन-संख्या के बढ़ने का ही अन्देशा रहता है। अगर यह बढ़ती हुई जन-संख्या स्वस्थ हो, हृष्ट-पुष्ट हो, तब भी यह देश के किसी काम आये, बाल-विवाह से जन-संख्या भी बढ़ती है, साथ ही वह निर्बल तथा निकम्मी भी होती है।

(७) वैयक्तिक-विकास का न हो सकता—जीवन अभी शुरु किया नहीं और बच्चों के सिर पर अपने बच्चों की देख-रेख की जिम्मेवारी आ पड़ी, तो ऐसे माता-पिता का अपना विकास क्या हो सकेगा? बाल-विवाह में अपनी तरफ ध्यान देने का तो समय ही नहीं मिलता। जब तक बच्चे अपने को सँभालने लायक होते हैं, तब तक इनके सामने दूसरों को—अपने बच्चों को—सँभालने की समस्या आ खड़ी होती है।

(८) शिक्षा में बाधा—बाल-विवाह के कारण लड़के-लड़कियों की शिक्षा अधूरी रह जाती है। जब लड़का स्कूल-कॉलेज में पढ़ रहा हो तभी उसकी शादी कर दी जाए तो वह पढ़ना-लिखना एकदम छोड़ बैठता है। शिक्षा चलते-फिरते, खेल-तमाशा करते तो आ नहीं जाती। प्राचीन-काल में विद्या ग्रहण करने के समय

को ब्रह्मचर्य-काल कहा जाता था। इस काल में पूरे संयम से रहना एक शर्त्त होती थी। यही कारण था कि वे लोग २४ वर्ष की आयु तक विद्याभ्यास करते थे। कच्ची उम्र में विवाह कर देने से बच्चे पढ़ना-लिखना छोड़कर घर बैठ जाते हैं। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, यह स्वाभाविक है।

(९) आर्थिक क्षीणता—आर्थिक-दृष्टि से बाल-विवाह मनुष्य को दीन-हीन बना देता है। संयुक्त-परिवार में तो बच्चों के पालन का बोझ माता-पिता पर होता है, परन्तु आज के युग में जब परिवार की दिशा वैयक्तिक-परिवार की तरफ जा रही है, छोटी आयु में विवाह करने पर लड़का अभी अपने पाँवों पर तो खड़ा होने लायक हुआ नहीं होता, बच्चे पैदा कर लेता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि उसका जीवन का स्तर गिरता जाता है, और आर्थिक-दृष्टि से वह दबा रहता है। यही कारण है कि आज के युग में जबकि आर्थिक जद्दोजहद बढ़ती जा रहीहै, बाल-विवाह अपने-आप कम होते जा रहे हैं। बाल-विवाह वहीं होते हैं जहाँ संयुक्त-परिवार हों या जहाँ माता-पिता इतने सम्पन्न हों कि बच्चों को आर्थिक-समस्या का सामना न करना पड़े।

५. बाल-विवाह का प्रतिरोध

बाल-विवाह के दुष्परिणामों को देश में देर से अनुभव किया जाता रहा है। जितने सुधारक हुए सबने इस कुप्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, ऋषि दयानन्द—इन सबने इस कुप्रथा को हटाने के लिए आन्दोलनों द्वारा जन-मत तैयार किया। बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन को दो समयों में बाँटा जा सकता है। एक तो १९२९ का 'बाल-विवाह-निरोधक अधिनियम' है जिसे 'शारदा-एक्ट' भी कहा जाता है—इससे पहले का समय दूसरा 'शारदा-एक्ट' के स्वीकृत हो जाने के बाद का समय।

(१) शारदा-एक्ट से पहले का समय—१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में राजा राममोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने जहाँ सती-प्रथा के विरुद्ध तथा विधवा विवाह के अनुकूल आन्दोलन किया वहाँ बाल-विवाह के विरुद्ध भी इन सुधारकों ने आवाज उठाई। उत्तरी-भारत में ऋषि दयानन्द ने इस दिशा में जन-मत को जागृत किया। इस समय बाल-विवाह अपने जघन्य रूप में चला हुआ था। किसी भी आयु में विवाह हो सकता था और किसी भी आयु में विवाहित पति-पत्नी का यौन-सम्बन्ध हो सकता था। इन सब आन्दोलनों का परिणाम यह हुआ कि १८६० में जो भारतीय-दण्ड-विधान बना उसमें यह कानून बना दिया गया कि १० वर्ष से कम आयु की पत्नी के साथ मैथुन करना बलात्कार समझा जायेगा और वह दण्डनीय होगा।

(क) लड़की की विवाह की आयु १० वर्ष—१० वर्ष की आयु क्यों

निर्धारित की गई ? इसका कारण सम्भवतः स्मृतिकारों के वचन थे, उनके आधार पर ही अंग्रेजी सरकार ने कन्या के विवाह की आयु कम-से-कम १० वर्ष स्वीकार की, परन्तु यह आयु भी बहुत न्यून थी। यह सब देखकर पारसी-सुधारक बहरामजी मलाबारी ने १८८४ में एक प्रार्थना-पत्र सरकार के पास भेज कर अनुरोध किया कि इस आयु में परिवर्तन करना अभीष्ट है, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति के लिए यह आयु अत्यन्त स्वल्प है। मलाबारी का पत्र प्रान्तीय-सरकारों के पास सम्मति के लिए भेजा गया, इस पर काफी बहस हुई, परन्तु अंग्रेजी सरकार ने वाद-विवाद के बाद यह तय किया कि हिन्दुओं के आन्तरिक मामलों में उन्हें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मलाबारी का प्रयत्न एक समाज-सुधारक का प्रयत्न था, परन्तु उसका परिणाम कुछ न निकला।

(ख) लड़की की विवाह की आयु १२ वर्ष—इस बीच १८९० में एक घटना घटी। एक बंगाली लड़की थी फूलमणि दास। उसका ११ वर्ष की आयु में पति के साथ सहवास से देहान्त हो गया। पति पर पत्नी-हत्या का अभियोग चलाया गया। उसने 'भारतीय-दण्ड-विधान' (Indian Penal Code) की वह धारा पेश की जिसमें पति-पत्नी के सहवास की आयु १० वर्ष स्वीकार की गई थी। इस समय मलाबारी आदि के प्रयत्न से इस विषय पर फिर विचार हुआ और पति-पत्नी के सहवास की आयु १० वर्ष से बढ़ा कर १२ वर्ष कर दी गई। इस कानून को 'सहवास-स्वीकृति-कानून' (Consent Act) कहा गया। विवाह के समय पत्नी की आयु कम-से-कम १२ वर्ष होनी चाहिए—यह कानून १८९१ में बना।

(ग) लड़की की विवाह की आयु १४ वर्ष—कन्या के विवाह की आयु १२ वर्ष भी बहुत थोड़ी थी, इसलिए १९२४ में सर हरिसिंह गौड़ ने इस आयु को १४ वर्ष तक करने का केन्द्रीय-विधान-सभा में बिल रखा। यह बिल बहुत आगे नहीं बढ़ सका। फिर १९२७ में सर हरिसिंह गौड़ ने दुबारा इस आशय का बिल पेश किया जिसके अनुसार एक कमेटी बनाई गई जिसका नाम 'एज ऑफ कनसेंट कमेटी' (Age of Consent Committee) था। इस कमेटी ने यह मत दिया कि विवाह के लिए कन्या की १२ वर्ष आयु हानिप्रद है, यह आयु कम-से-कम १४ वर्ष की होनी चाहिए।

(२) शारदा-एक्ट के बाद का समय—उक्त कमेटी की सिफारिशों के बाद श्री हरविलास शारदा का 'बाल-विवाह-निषेधक-कानून' (Child Marriage Restraint Act) केन्द्रीय-विधान-सभा में १९२९ में स्वीकृत हुआ जिसके अनुसार विवाह के समय लड़के की आयु कम-से-कम १८ तथा लड़की की आयु कम-से-कम १४ वर्ष होनी चाहिए। क्योंकि यह बिल हरविलास शारदा ने पेश किया था इसलिए इसे 'शारदा-एक्ट' कहा जाता है। इस कानून की मुख्य बातें निम्न थीं—

[बालविवाह-निषेधक-अधिनियम, १९२९]

(१) विवाह की आयु—इस कानून के अनुसार विवाह के समय लड़के की आयु १८ तथा लड़की की आयु १४ वर्ष* से अधिक होनी चाहिए। इस आयु से कम आयु वालों को बाल समझा जायेगा और उस आयु में जो विवाह होगा उसे बाल-विवाह कहा जायेगा।

(२) बाल-विवाह के लिए दण्ड की व्यवस्था—बाल-विवाह के लिए इस अधिनियम में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को जो बाल-विवाह के अपराधी हैं, भिन्न-भिन्न दण्ड देने की व्यवस्था की गई है, जो निम्न हैं—

(क) १८ वर्ष से ऊपर तथा २१ वर्ष से नीचे की आयु वाले लड़के को बाल-विवाह के लिए दण्ड—अगर कोई लड़का जिसकी आयु १८ वर्ष से ऊँची और २१ से नीची है, अगर वह १४ वर्ष से कम आयु की कन्या से विवाह करेगा तो उसे १५ दिन का साधारण कारावास या एक हजार रु० तक का जुर्माना या दोनों दण्ड एक-साथ दिये जा सकते हैं।

(ख) २१ वर्ष से ऊपर वाले लड़के को बाल-विवाह के लिए दण्ड—अगर कोई व्यक्ति जिसकी आयु २१ वर्ष से ऊँची होगी १४ वर्ष से कम उम्र की कन्या से विवाह करेगा, तो उसे तीन मास तक की साधारण कैद तथा जुर्माना किया जा सकता है।

(ग) बाल-विवाह के कराने में सहायकों को दण्ड—जो व्यक्ति बाल-विवाह कराने, या इसमें सहायक होगा उसे तीन मास तक की साधारण कैद तथा जुर्माना किया जा सकता है।

(घ) बाल-विवाह कराने वाले माता-पिता को दण्ड—जो माता-पिता या संरक्षक ऐसे विवाह होने देंगे उन्हें ऐसा बाल-विवाह होने पर तीन मास तक की साधारण कैद तथा जुर्माना हो सकता है। यह जरूरी नहीं कि इस प्रकार के विवाह के लिए स्वयं उत्तरदायी हों। ऐसे विवाह की स्वीकृति देना, हो जाने देना या उन की असावधानी से ऐसा विवाह हो जाना अपराध कहलाने के लिए पर्याप्त है।

(ङ) स्त्री को दण्ड नहीं मिलेगा—इस नियम के अन्तर्गत किसी स्त्री को कैद का दण्ड नहीं दिया जा सकेगा।

(च) प्रेजीडेंसी मैजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी का मैजिस्ट्रेट जाँच करेगा—इस अधिनियम के अन्तर्गत जो शिकायत होगी उसकी जाँच तथा उसके सम्बन्ध का मुकदमा प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट या प्रथम श्रेणी के मैजिस्ट्रेट की अदालत में ही चल

---

* लड़की के विवाह की आयु Amending Act, ४१ के द्वारा १९४९ में १४ से १५ वर्ष कर दी गई थी, अब १९७६ में १५ से १६ कर दी गई है।

सकेगा, निचली अदालत में नहीं।

(३) बाल-विवाह हो जाने पर वह त्याज्य (1श्द्वस्त्र) नहीं होगा—अगर बाल-विवाह हो गया है तो कानून द्वारा उसे त्याज्य, अर्थात् विवाह सम्पन्न ही नहीं हुआ, ऐसा घोषित नहीं किया जा सकेगा। विवाह तो वह माना जायेगा, परन्तु उस विवाह के लिए दण्ड दिया जायेगा।

(४) बाल-विवाह 'ज्ञापनीय' (अप्रसंज्ञेय Non-cognizable) अपराध है। इस अधिनियम के अन्तर्गत बाल-विवाह ऐसा अपराध है, जो ज्ञातव्य (प्रसंज्ञेय—cognizable) अपराध नहीं, अपितु 'ज्ञापनीय' (Non-cognizable) अपराध है। इसकी सूचना अगर कोई व्यक्ति पुलिस को देगा तभी इस पर कार्यवाही हो सकेगी, पुलिस अपने-आप इस अपराध पर कार्यवाही नहीं करेगी।

(५) एक वर्ष बाद कोई शिकायत नहीं हो सकती—इस कानून के अन्तर्गत जो भी शिकायत हो, वह एक साल के अन्दर-अन्दर ही हो सकती है, एक साल के बाद कोई शिकायत नहीं सुनी जा सकती।

नोट—१९२९ के अधिनियम के बाद इस अधिनियम में संशोधन होते रहे हैं तथा १९४९ के संशोधनों के अनुसार लड़के की विवाह-योग्य आयु तो १८ रही, परन्तु लड़की की विवाह-योग्य आयु १५ कर दी गई। अब १९७६ से लड़के की विवाह-योग्य आयु १८ से २१ तथा लड़की की १५ वर्ष से १८ वर्ष कर दी गई है।

[बाल-विवाह-निषेधक-अधिनियम की आलोचना]

(१) इस अधिनियम के अनुसार बाल-विवाह त्याज्य नहीं है—जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, इस अधिनियम के अनुसार बाल-विवाह को सिर्फ अपराध घोषित किया गया है। यह घोषित नहीं किया गया कि विवाह हो जाने पर उसे विवाह माना ही नहीं जायेगा। अगर कानून में ऐसी व्यवस्था होती कि बाल-विवाह हो जाने पर भी वह विवाह नहीं माना जायेगा, 'त्याज्य' (Void) समझा जायेगा, तब इस विवाह से लोग हट जाते। बाल-विवाह को सर्वथा रोकने के लिए इसे अपराध घोषित करना ही काफी नहीं है, इसे 'त्याज्य' घोषित कर देना भी जरूरी है जिससे यह विवाह विवाह ही न माना जाए।

(२) बाल-विवाह 'ज्ञातव्य' अपराध नहीं है—बाल-विवाह इसलिये भी नहीं रुकता क्योंकि यह 'ज्ञातव्य' (Cognizable) अपराध नहीं है। 'ज्ञातव्य' अर्थात् जिसकी पुलिस अपनी तरफ से जानकारी रखे। अगर यह अपराध पुलिस के दफ्तर में भी होता है और इसकी कोई शिकायत नहीं करता, तो यह अपराध अपराध नहीं है। अब भला किसे पड़ी है जो बाल-विवाहों की खोज करके उनकी शिकायत कर दुश्मनी मोल लेता फिरे। कुछ समाज-सुधारक-संस्थाएँ समाज-सुधार के ख्याल से ऐसा कर सकती हैं, परन्तु उनके पास भी कचहरी भुगतने के लिए समय कहाँ है?

ऐसी हालत में इसको सर्वथा रोकने के लिए इस अपराध को जबतक 'ज्ञातव्य' (Cognizable) अपराध नहीं घोषित कर दिया जाता, तबतक यह अपराध रुकता नहीं दीखता।

(३) एक वर्ष बाद इस पर कोई कार्यवाही नहीं हो सकती—इस कानून में तीसरा दोष यह है कि विवाह हो जाने के एक वर्ष के अन्दर-ही-अन्दर इसके विरुद्ध कार्यवाही हो सकती है, बाद को नहीं। एक वर्ष तक कार्यवाही न होने देना कोई कठिन बात नहीं है, बाद को तो हो ही नहीं सकती।

(४) बाल-विवाह के लिए दण्ड बहुत साधारण है—बाल-विवाह इसलिए भी एकदम नहीं रुकते कि इसके लिए दण्ड-व्यवस्था में कुल १५ दिन का साधारण कारावास दिया जा सकता है। असल में, इतना दण्ड भी कोई नहीं देता, इससे दण्ड का भय किसी को नहीं रहता।

६. किशोरावस्था का विवाह

बाल-विवाह हिन्दू-समाज के शरीर में रोग के समान है, यह किसी आवश्यकता को पूरा करने के स्थान में हिन्दू-समाज का अभिशाप बना हुआ है। विवाह के विषय में सिर्फ दो आयुओं को सम्मुख रखकर सोचा जा सकता है—'किशोरावस्था' जिसे हम 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' (Biological age) कह आये हैं, तथा 'युवावस्था' जिसे हम 'सांस्कृतिक-अवस्था' (Cultural age) कह आये हैं। बाल-विवाह न तो 'प्राणि-शास्त्रीय-आवश्यकता' (Biological need) को पूरा करता है, क्योंकि इस समय सन्तानोत्पत्ति के लिए शरीर का विकास नहीं हुआ होता, न यह 'सांस्कृतिक-आवश्यकता' (Cultural need) को पूरा करता है क्योंकि इस समय मानसिक-विकास भी नहीं हुआ होता। विवाह के सम्बन्ध में विकल्प केवल 'किशोरावस्था' तथा 'युवावस्था' के विवाह में रह जाता है जिनमें से पहली 'प्राणि-शास्त्रीय-अवस्था' है, दूसरी 'सांस्कृतिक-अवस्था' है। इन दोनों अवस्थाओं में किस में विवाह करना उचित है और इन दोनों में से जिसमें भी विवाह करना उचित है, उसमें विवाह के क्या लाभ हैं, क्या हानियाँ हैं ? इसी प्रश्न को दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि विवाह जल्दी करना चाहिये या देर में, 'किशोरावस्था' में या 'युवावस्था' में, 'प्राणि-शास्त्रीय-आयु' में या 'सांस्कृतिक-आयु' में ? इस प्रकरण में पहले हम 'किशोरावस्था' के विवाह पर, फिर 'युवावस्था' के विवाह पर विचार करेंगे।

[किशोरावस्था के विवाह के दोष]

(१) बलिष्ठ सन्तान का न होना—किशोरावस्था में 'प्राणि-शास्त्र' की दृष्टि से सन्तान तो ही सकती है, परन्तु इस आयु में किशोर-किशोरी का शारीरिक-विकास भी उतना नहीं हुआ होता कि इनकी सन्तान हृष्ट-पुष्ट हो। डॉ० कोवन अपनी पुस्तक 'साइन्स ऑफ न्यू लाइफ' में लिखते हैं—''विवाह-योग्य आयु निश्चित

करने में सब से बड़ी गलती यह की जाती है कि किशोरावस्था को विवाह-योग्य अवस्था समझ लिया जाता है। यह गलत धारण है। विवाह उन स्त्री-पुरुषों का होना चाहिए जो शारीरिक-दृष्टि से पूर्ण परिपक्व हों। पूर्ण-परिपक्वता का अभिप्राय यह है कि मानव शरीर के प्रत्येक अंग का पूर्ण विकास हो चुका हो। जब किशोरावस्था आती है, तब शरीर की अस्थियों की परिपक्वता पूर्ण नहीं हो चुकी होती। अस्थियाँ ही तो शरीर के सब संस्थानों की आधार हैं—मांस-पेशियाँ, तन्तु-संस्थान, रुधिर-संस्थान, पाचन-संस्थान—सभी तो अस्थियों के आधार पर खड़े हैं। जब अस्थियों का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ, तो प्रजननांगों का भी पूर्ण परिपाक नहीं हुआ। किशोरावस्था में प्रजनन के अंगों में जो परिपक्वता दृष्टिगोचर होती है वह परिपाक का प्रारम्भ है, और इसके प्रारम्भ होते ही प्रजनन प्रारम्भ कर देना उचित नहीं है। शारीरिक-परिपाक पूर्ण न होने के कारण किशोरावस्था का विवाह उचित नहीं है।''

(२) शिक्षा में रुकावट—आजकल लड़के १८-२० वर्ष तथा लड़कियाँ १५-१६ वर्ष की आयु में शिक्षा ग्रहण कर रही होती हैं, कॉलेज में पढ़ रही होती हैं। इस आयु में विवाह कर देने से उनकी शिक्षा में बाधा पड़ जाती है। आज के आर्थिक-संघर्ष के युग में, और आगे क्या आर्थिक-रचना होने वाली है—पूँजीवादी, समाजवादी या अन्य कोई वादी—ऐसे युग में सम्पन्न-से-सम्पन्न परिवार को अपनी लड़की को इतनी शिक्षा दे ही देनी चाहिए जिससे वह अपने पाँवों पर खड़े होने योग्य हो जाए, ऐसे युग में शिक्षा को बन्द करके विवाह कर देना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। किशोरावस्था में विवाह कर देने से शिक्षा रुक जाती है। ऐसे लोग हैं जो विवाह कर लेने के बाद भी शिक्षा को जारी रखते हैं, परन्तु उनकी संख्या कम है। कम-से-कम विवाह के बाद शिक्षा को जारी रख सकना कई दृष्टियों से कठिन अवश्य हो जाता है।

(३) जन-संख्या की वृद्धि—जैसा हम पहले लिख आये हैं किशोरावस्था में विवाह करने से सन्तान उत्पन्न करने का समय अधिक मिल जाता है, इसका परिणाम जन-संख्या का बढ़ जाना है। आज तो अपने देश में जन-संख्या एक समस्या बनी हुई है, जो लोग मौजूद हैं, उन्हें ही खाने को नहीं मिल रहा और बढ़ेंगे तो क्या हाल होगा? इसी दृष्टि से परिवार-नियोजन आदि के कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। ऐसी हालत में किशोर-विवाह जन-संख्या को बढ़ा कर देश के लिए एक समस्या बन रहा है।

७. युवावस्था का विवाह

'किशोरावस्था' के बाद 'युवावस्था' आती है। पुरुष २५ तथा कन्या १८-२० वर्ष के बाद युवावस्था में प्रवेश करती है। इस अवस्था में विवाह करने के अनेक लाभ है—

[युवावस्था में विवाह के लाभ]

(१) ये विवाह अपनी पूरी जिम्मेदारी को समझ कर होते हैं—२५ या इससे ऊँची आयु के युवक तथा १८-२० वर्ष की युवती के विवाह का यह लाभ है कि ऐसे विवाह खूब देख-भाल कर होते हैं, पुरुष तथा कन्या की रजामन्दी से होते हैं, इसलिए इनकी जिम्मेदारी पति-पत्नी पर आ पड़ती है, माता-पिता पर नहीं आती। अगर इन लोगों की आगे जाकर नहीं बनती, तो वे किसी दूसरे को दोषी नहीं ठहरा सकते।

(२) शारीरिक तथा मानसिक परिपाक की अवस्था—इस अवस्था में पुरुष तथा स्त्री के अपने शरीर की जितनी वृद्धि होनी होती है हो चुकती है, इसलिए इस आयु का विवाह मनुष्य के अपने शारीरिक-विकास में बाधा नहीं पहुँचाता। इस परिपक्व शरीर से जो सन्तान होती है वह हृष्ट-पुष्ट होती है, तन्दुरुस्त होती है। कच्चे शरीर से कच्ची सन्तान और परिपक्व शरीर से परिपक्व सन्तान होना लाजमी है। शारीरिक परिपाक की तरह इस आयु में मानसिक परिपाक भी हो जाता है जो गृहस्थ को भली प्रकार निभाने के लिये आवश्यक है।

(३) जन-संख्या पर नियन्त्रण—इस आयु में सन्तान उत्पन्न करने का समय थोड़ा रह जाता है, इसलिए सन्तान उतनी नहीं हो सकती जितनी बाल-विवाह या किशोर-विवाह में हो जाती है। परिवार-नियोजन के युग में यह लाभ ही है।

८. किस आयु में विवाह करना चाहिये ?

ऊपर हमने जो कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि बाल-विवाह तो हर हालत में अनुचित है, किशोरावस्था के विवाह के भी अनेक दोष हैं, युवावस्था का विवाह ही उपयुक्त विवाह है।

आर्यसमाज अपने जन्म-दिन से ही आन्दोलन कर रहा है कि लड़कों के लिये विवाह की आयु कम-से-कम २५ वर्ष तथा लड़कियों के लिये कम-से-कम १६ वर्ष होनी चाहिये, उससे पहले किसी को विवाह का अधिकार नहीं होना चाहिये। लड़के तथा लड़की दोनों को ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहकर युवावस्था में ही विवाह करना चाहिये। यह प्रसन्नता की बात है कि अब सरकार को भी यह बात ठीक जँचने लगी है और २५ अगस्त १९७६ को तत्कालीन केन्द्रीय-विधि-मन्त्री थी गोखले ने लोक-सभा में यह बिल पेश कर दिया जिसके अनुसार लड़कों की विवाह-योग्य आयु जो अब तक १८ वर्ष को अब २१ वर्ष कर दी गई और लड़कियों की १५ वर्ष से १८ वर्ष कर दी गई है।

विवाह-संस्कार

[विवेचनात्मक भाग (ख)]

[वैदिक-विवाह]

१. भारत में विवाह के आठ प्रकार प्रचलित थे

संस्कारविधि में मनुस्मृति का उद्धरण देते हुए आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। आजकल हमारे समाज में विवाह का जो प्रकार प्रचलित है इसे 'ब्राह्म-विवाह' कहा जा सकता है, परन्तु 'ब्राह्म-विवाह' को समझने के लिये हमारे समाज में किस-किस प्रकार के विवाह प्रचलित रहे हैं—इसे जान लेना 'ब्राह्म-विवाह' के महत्त्व पर प्रकाश डालता है। 'ब्राह्म-विवाह' को ही वैदिक-विवाह कहा जा सकता है।

मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद स्मृति में विवाह के निम्न आठ प्रकार कहे गये हैं। इन आठों का वर्णन करते हुए मनुस्मृति (३-९) में लिखा है—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥

अर्थात्, ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच विवाह के ये ८ प्रकार हैं। इनमें से पहले चार उत्तम विवाह माने जाते हैं, इन्हें धर्म-विवाह कहा गया है, अन्तिम चार अधम तथा निकृष्ट माने जाते हैं, इन्हें अधर्म-विवाह कहा गया है। इन आठों का स्वरूप निम्न प्रकार है—

(१) ब्राह्म-विवाह—मनुस्मृति (३-२७) के अनुसार ब्राह्म-विवाह में कन्या का पिता योग्य, सुशील, विद्वान् युवक को ढूँढ़कर उसे अपने घर पर आमन्त्रित करता है और धार्मिक-संस्कार करके कन्या को उस वर के प्रति अर्पित करता है। इस विवाह के आवश्यक-तत्त्व तीन हैं—माता-पिता की स्वीकृति, यथाविधि विवाह-संस्कार करना तथा दहे का न देना। दहेज का न देना इसलिए क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्म-विवाह में कन्या को केवल एक वस्त्र से अलंकृत करके उसको पति के प्रति अर्पित किया जाता है। केवल एक वस्त्र का अभिप्राय यही हो सकता है कि विवाह के समय आजकल जैसा यह-दे वह-दे का आडम्बर नहीं किया जाता।

(२) दैव-विवाह—दैव-विवाह के विषय में दो विचार हैं। श्री अलतेकर का विचार तो यह है कि प्राचीन-काल में गृहस्थ लोग समय-समय पर बड़े-बड़े यज्ञ करवाया करते थे। उन यज्ञों में देवताओं का पूजन चल रहा होता था। इन अवसरों पर अनेक पुरोहित यज्ञ करवाने के लिए निमन्त्रित किये जाते थे। इन पुरोहितों में कई

नवयुवक भी होते थे। सम्भव है कि यज्ञ करवानेवाले यजमान को इन पुरोहित-बालकों में से कोई बालक पसन्द आ जाता हो और वह अपनी लड़की का उसके साथ विवाह कर देता हो। क्योंकि देवताओं की पूजा के समय ऐसा विवाह सम्पन्न होता था, इसलिए इसे 'दैव' कहा गया। देवताओं की पूजा के समय विवाह जैसी बात मन में नहीं लानी चाहिए, इसलिए इसे ब्राह्म-विवाह जैसा उत्तम विवाह नहीं माना गया, फिर भी इसे निकृष्ट भी नहीं माना गया। श्री अलतेकर का कहना है कि जब देवपूजा का युग न रहा, तब ये 'दैव'-विवाह होने भी स्वाभाविक तौर पर बन्द हो गये। दैव-विवाह यज्ञ करानेवाले किसी पुरोहित से यजमान की कन्या का विवाह था। दैव-विवाह के विषय में दूसरा विचार यह है कि जैसे ब्राह्म-विवाह सादगी का नमूना था, वैसे दैव-विवाह उससे उल्टा टीप-टाप का नमूना था। दैव-विवाह में योग्य सुशील, विद्वान् युवक को और बड़े-बड़े विद्वानों को यज्ञ में निमन्त्रित करके और कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणों से अलंकृत करके उस युवक के हवाले कर देना है। यह विवाह तड़क-भड़क का नमूना है, परन्तु इसमें भी दहेज आदि लेने-देने की कोई बात नहीं थी।

(३) आर्ष-विवाह—इस विवाह में कुछ लेने-देने का मामला होता है। कन्या का पिता वर से एक गाय तथा एक बैल या इनका जोड़ा लेकर कन्या का वर के साथ विवाह कर देता है। कई लोगों का कहना है कि यह विवाह जन-जातियों के क्रय-विवाह से मिलता-जुलता है, परन्तु इस प्रकार के विवाह में लिया इतना थोड़ा जाता है कि इसे क्रय-विवाह कहना भी असंगत-सा है।

(४) प्राजापत्य-विवाह—ब्राह्म-विवाह की तरह इस विवाह में भी कोई टीप-टाप, तड़क-भड़क नहीं की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है प्राजापत्य-विवाह में तो कोई उत्सव भी नहीं रचा जाता था, किसी को निमन्त्रित भी नहीं किया जाता था। वर तथा कन्या को यज्ञशाला में बैठाकर और सत्कारपूर्वक यह उपदेश देकर कि तुम दोनों साथ-साथ धर्म का जीवन व्यतीत करो एक-साथ कर दिया जाता था। इस विवाह में प्रधानता प्रजा अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने को दी जाती थी, और वर-वधू को यह शिक्षा दी जाती थी कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ही विवाह किया जाता है। ब्राह्म तथा प्राजापत्य में इतनी समानता है कि कई विद्वानों के कथनानुसार ये दोनों अलग-अलग न होकर एक ही हैं। मनुस्मृति ने तो इस विवाह का ब्राह्म-विवाह से अलग उल्लेख किया है, परन्तु वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने प्राजापत्य का उल्लेख नहीं किया। जो लोग नियोग की बात करते हैं उसे प्राजापत्य-विवाह कहा जा सकता है।

ब्राह्म, दैव, आर्ष तथा प्राजापत्य विवाहों में ध्यान रखने की बात यह है कि इन सबमें पिता वर को कन्या प्रदान करता है, परन्तु आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच

विवाहों में कन्या का प्रदान नहीं होता, वह मोल ली जाती है, या उसका अपहरण होता है।

(५) आसुर-विवाह—जब वर कन्या के पिता को या कुटुम्बियों को कुछ धन-राशि देकर कन्या प्राप्त करता है, तब इसे आसुर-विवाह कहते हैं। यह एक प्रकार का कन्या-विक्रय है। महाभारत-काल में पांडु का माद्री के साथ विवाह इसी प्रकार का विवाह था। हिन्दू-जाति के निम्न-वर्ग में आज भी इस प्रकार का कन्या-विक्रय होता है। ऊपर जो चार विवाह कहे गये हैं वे उत्तम विवाह हैं, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच ये चारों अधम विवाह माने गये हैं।

(६) गान्धर्व-विवाह—जब वर तथा कन्या बिना विवाह-संस्कार के एक-दूसरे की इच्छापूर्वक काम-भाव से संयोग करने लगतेतथा एक-दूसरे के साथ रहने लगते हैं, तब इसे 'गान्धर्व-विवाह' कहा है। इस विवाह में माता-पिता तथा सम्बन्धियों को नहीं पूछा जाता। आजकल के 'प्रणय-विवाह' (Love Marriages) को गान्धर्व-विवाह कहा जा सकता है। वात्स्यायन ने कामसूत्र में 'गान्धर्व-विवाह' को आदर्श विवाह माना है। प्राचीन-काल में गन्धर्व नाम की एक जाति थी जो अत्यन्त कामुक थी। उनके लिए कहा गया है—**'स्त्रीकामाः वै गन्धर्वाः'**—स्त्री की कामना गन्धर्व लोगों की विशेषता है। यही कारण है कि कामवासना पर आश्रित इस विवाह को प्राचीन स्मृतिकारों ने 'गान्धर्व-विवाह' का नाम दिया है। शकुन्तला तथा दुष्यन्त का विवाह गान्धर्व-विवाह प्रसिद्ध उदाहरण है। आजकल के अनेक युवक-युवतियाँ जो प्रेम-विवाह करते हैं, वह गान्धर्व-विवाह ही है।

(७) राक्षस-विवाह—किसी कन्या को जबर्दस्ती पकड़ लाना, रोती-विलपती-चिल्लाती को उठा लाना या युद्ध आदि में जीतकर ले आना राक्षस-विवाह कहलाता था। यह प्रथा क्षत्रिय-विवाह भी कहलाती थी, क्योंकि क्षत्रिय लोग ही युद्ध में कन्याओं को पकड़ लाया करते थे। यह समझा जाता था कि जैसे युद्ध में लूट-मार से और माल मिला है, वैसे कन्याएँ भी युद्ध में जीतने का पारितोषिक हैं। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का, अर्जुन ने सुभद्रा का अपहरण किया था, जबर्दस्ती उठा लाये थे—ऐसे कथानक प्रचलित हैं, जो सच हों या झूठ हों—ऐसे विवाह राक्षस-विवाह कहे गये हैं।

(८) पैशाच-विवाह—सोती, नशे में उन्मत्त कन्या को एकान्त में पाकर उसे दूषित कर देना सब विवाहों से नीच विवाह गिना जाता था। मनु० (३-३४) ने इस विवाह की निन्दा करते हुए इसे पापिष्ठ विवाह कहा है। वसिष्ठ तथा आपस्तम्ब ने इस प्रकार के विवाह की विवाहों में गिनती ही नहीं की। परन्तु मनु का इस प्रकार के जबर्दस्ती सम्बन्ध को भी विवाह मान लेने का अर्थ यह प्रतीत होता है कि जिस स्त्री के साथ बलात्कार किया गया हो, जिसमें उसका अपना कोई दोष न हो, उसे

समाज में से निर्वासित नहीं किया जाता था—तभी इसे विवाह कहा गया।

२. विवाह एक धार्मिक-संस्कार है

विवाह के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हैं। एक दृष्टि-कोण तो यह है कि विवाह स्त्री-पुरुष का एक ऐसा ठेका (Contract) है जिसमें स्त्री अपने ऊपर बालक की परवरिश की और पुरुष अपने ऊपर इन दोनों की भूख-प्यास-संरक्षा आदि की जिम्मेदारी लेता है। भूख-प्यास-संरक्षा आदि मनुष्य की आधारभूत जरूरियात हैं। एक-दूसरे की इन जरूरियात को पूरा करने के लिए स्त्री-पुरुष मानो एक प्रकार का सौदा करते हैं। ठेके के साथ ठेके के टूटने का भाव भी जुड़ा रहता है। अगर वे एक-दूसरे की जरूरियात को पूरी नहीं कर सकते, तो यह ठेका टूट सकता है, स्त्री-पुरुष विवाह-बन्धन से छूट सकते हैं। दूसरे लोग जो बच्चों की सुरक्षा में जरा-सा भी खतरा मोल लेना नहीं चाहते, उनका दृष्टिकोण यह है कि विवाह कोई ठेका नहीं, यह किन्हीं शर्तों पर नहीं किया जाता, विवाह तो एक 'धार्मिक-संस्कार' (Sacrament) है, यह टूट नहीं सकता, एक बार हो गया तो हो गया, इसे आजन्म निभाना होता है। विवाह के विषय में हमारे समाज में सनातन काल से यही धारणा चली आ रही है। यह जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध है। इसे तो हर हालत में निभाना ही निभाना है। जो लोग विवाह को धार्मिक सम्बन्ध नहीं मानते वे तो 'सिविल मैरेज' कर लेते हैं। रजिस्ट्रार के यहाँ अपना विवाह रजिस्टर्ड करा लेते हैं। उन्हें किसी धार्मिक-संस्कार की जरुरत नहीं पड़ती, जो लोग विवाह को धार्मिक-संस्कार मानते हैं, वे विवाह को रजिस्टर्ड नहीं कराते, वे धार्मिक संस्कार की विधि द्वारा विवाह करते हैं। विवाह एक धार्मिक-संस्कार (Sacrament) है। 'ठेका' (Contract) नहीं—इस बात को मान के वैदिक-संस्कृति के मुख्य कारण निम्न कहे जा सकते हैं।

(१) विवाह का मुख्य उद्देश्य पितृ-ऋण चुकाना है—हमारी सामाजिक-व्यवस्था में विवाह के तीन उद्देश्य माने गये हैं—धर्म, प्रजा तथा रति। आजकल विवाह के उद्देश्य रति, प्रजा तथा धर्म—ये उल्टे उद्देश्य बन गये हैं। पहला उद्देश्य विषय-भोग है, विषय-भोग के साथ सन्तान आ जाती है इसलिए यह दूसरे दर्जे का उद्देश्य है और विवाह हो जाने तथा सन्तान उत्पन्न होने पर सामाजिक-धर्मों का, सामाजिक-व्यवहारों का पालन करना होता है, यह विवाह का तीसरे दर्जे का उद्देश्य हो गया है, परन्तु वैदिक-व्यवस्था के अनुसार विवाह का सबसे प्रथम उद्देश्य धर्म का पालन है, दूसरा उद्देश्य प्रजा अर्थात् सन्तान की प्राप्ति है और तीसरे दर्जे का उद्देश्य विषय-भोग है। यह समझा जाता है कि मनुष्य संसार में तीन ऋणों से दबा हुआ है—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण। हमारे प्राचीन ऋषियों ने ज्ञान-सम्पादन करके उसे हम तक पहुँचाया, उन ऋषियों के प्रति हम ऋणी हैं, समाज के

विद्वान्लोग हमारे लिए सामाजिक-व्यवहार को बनाये रखते हैं, इसलिए इन देवों के हम ऋणी हैं, माता-पिता ने हमें जन्म दिया, इसलिए हम माता-पिता के भी ऋणी हैं। माता-पिता केप्रति हमारा ऋण पितृ-ऋण है। जैसे उन्होंने हमें जन्म दिया वैसे हमें भी विवाह करके सन्तानके क्रम को आगे-आगे चलाना है, वंश-सूत्र को टूटने नहीं देना, इस दृष्टि से विवाह करके सन्तति-प्रवाह को जारी रखना हमारा धर्म है। पितृ-ऋण चुकाना एक धार्मिक-कर्त्तव्य है जो विवाह को ठेका मान कर नहीं, अपितु एक धार्मिक-संस्कार मान कर ही पूरा हो सकता है।

(२) धार्मिक विधि-विधान—वैदिक-ववाह एक धार्मिक-संस्कार है, ठेका नहीं, इसीलिए इसमें संस्कार के तौर पर अनेक ऐसे विधि-विधान किये जाते हैं, जिनसे विवाह की धार्मिकता की नींव दृढ़ हो जाती है। उदाहरणार्थ, संस्कार में वेद-मन्त्र पढ़े जाते हैं, अग्नि को साक्षी रख कर विवाह किया जाता है, विवाह में फेरे, सप्तपदी आदि विधियाँ की जाती हैं, सगे-सम्बन्धियों को बुला कर सबके सामने संस्कार किया जाता है। यह सबकुछ इसलिए किया जाता है, क्योंकि हिन्दू के लिए विवाह इसी जन्म का सम्बन्ध नहीं, यह जन्म-जन्मान्तर का अटूट सम्बन्ध है।

आर्यों में विवाह का जो धार्मिक-संस्कार किया जाता है उसकी रूप-रेखा हम नीचे दे रहे हैं। यह विधि पारस्कर गृह्य-सूत्र कां० १, कं० ३, सू० ४ में दी गई है, जिसके आधार पर ऋषि दयानन्द ने संस्कार विधि में इस संस्कार की रूप-रेखा का निर्माण किया है।

३. वधू द्वारा वर का स्वागत

आर्यों में वर-पक्ष के लोग बारात लेकर वधू-पक्ष के शहर में जाते हैं। जब विवाह-संस्कार का समय होता है तब वर अपने निवास-स्थान पर और कन्या अपने निवास-स्थान पर स्नानकरके संस्कार के लिए तैयार होते हैं। स्नान करके वर जहाँ ठहरा हुआ है वहाँ ईश्वर-स्तुति, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों द्वारा यज्ञ किया जाता है, इसी प्रकार कन्या के घर में ईश्वर-स्तुति, स्वस्तिवाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों द्वारा यज्ञ होता है। इसके बाद संस्कार के लिए निश्चित समय पर वर-पक्ष के लोग जुलूस बनाकर कन्या के घर पर गाजे-बाजे के साथ आते हैं, जहाँ कन्या द्वारा वर का स्वागत किया जाता है। स्वागत के मुख्य-मुख्य अंग निम्न हैं—

(१) आसन देना[१]—कन्या यज्ञ-वेदी के पास आकर वर को कहती है, आइये, हम आपका स्वागत करते हैं और आसन देकर[१] कहती है कि लीजिये, इस आसन को ग्रहण कीजिये, इस पर विराजिये। इसके बाद वर कन्या के हाथ से आसन

---

१. **साधु भवान् आस्ताम्, अर्चयिष्यामो भवन्तम्।**

लेकर उस पर बैठ जाता है।

(२) पैर धोने के लिए जल देना[२]—जब वर आसन पर बैठ जाता है तब कन्या उसे एक पात्र में जल लेकर उसे पैर धोने के लिए जल देती है। पवित्र-कार्यों के लिए जल से पैर धोने की प्रथा हिन्दू-समाज में चिरकाल से चली आती है, वही विधि इस समय की जाती है। इसके बाद वर कन्या से जल-पात्र लेकर पाँव पर छींटे देता है, जिसका अर्थ पाँव धोने से है।

(३) मुख धोने के लिए जल देना[३]—पाँव धोने के बाद कन्या वर को मुख प्रक्षालन के लिए जल का पात्र देती है। इसे अर्घ-जल कहा जाता है। वर कन्या के हाथ से अर्घ-जल का पात्र लेकर मुख पर छींटे देता है, जिसका अर्थ है—मुख धोना।

(४) आचमन के लिए जल देना[४]—हाथ-पाँव तथा मुख धोने के बाद अब कन्या वर को आचमन करने के लिए जल-पात्र देती है और वर उस पात्र को लेकर तीन बार आचमन करता है।

(५) मधु-पर्क से सत्कार[५]—आचमन कर लेने के बाद कन्या वर का मधुपर्क से सत्कार करती है। मधुपर्क बनाने के लिए दही में शहद और घी मिलाया जाता है। यह कांसे के पात्र में दिया जाता है। वर कन्या से मधुपर्क लेकर उसे थोड़ा-सा खा लेता है और मधुपर्क के छींटे चारों दिशाओं में फेंकता है। दही, शहद, घी का अनुपात ३:१:१ का है।

(६) गोदान से सत्कार[६]—वर का इतना सत्कार कर लेने के बाद कन्या की तरफ से वर को गोदान दिया जाता है। आजकल लोग गौ देने के स्थान में या तो गौ के दाम के रुपए दे देते हैं या गोदान का नाम लेकर ५-१० रुपये वर को दे देते हैं। वर भी कहता है कि मैं आपके दिए इस गोदान को ग्रहण करता हूँ।

(७) कन्या-प्रतिग्रहण से सत्कार[७]—इतना सबकुछ कर लेने के बाद कन्या के माता-पिता वर का दायाँ हाथ चत्ता अर्थात् हथेली ऊपर करके उसके साथ में कन्या का दाहिना हाथ चत्ता रख के वर से कहते हैं कि अमुक गोत्र में उत्पन्न अमुक

---

१. **ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम्।**
२. **ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम्।**
३. **ओं अर्घोऽर्घोर्सः प्रतिगृह्यताम्।**
४. **ओं आचमनीयम् आचमनीयम् आचमनीयम् प्रतिगृह्यताम्।**
५. **ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्।**
६. **ओं गौः गौः प्रतिगृह्यताम्।**
७. **ओं अमुकगोत्रोत्पन्नां इमाम् अमुकनाम्नीम् अलंकृतां कन्यां प्रतिगृह्णातु भवान्।**

नाम की इस अलंकृत कन्या को आप ग्रहण कीजिये। इसका उत्तर देते हुए वर कहता है कि मैं ग्रहण करता हूँ।

ऊपर वर के सत्कार की जो विधि लिखी गई है वह कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें आर्यों की सत्कार की प्राचीन-प्रथा का दिग्दर्शन हो जाता है। जब कोई आये, तो उसे सत्कार-पूर्वक बैठना, हाथ-पैर धोने के लिए पानी देना, जलपान में जल अथवा दही देना आदि उस समय की प्रथाएँ विवाह-संस्कार में आज भी सुरक्षित चली आ रही हैं। इसके अतिरिक्त विवाह के समय गोदान देना बहुत महत्त्वपूर्ण है। आज तो हम चाय का सेट देते हैं, प्राचीन-काल के आर्य लोग गाय देते थे, तभी तो दूध-दही खाकर उन लोगों के शरीर हृष्ट-पुष्ट होते थे।

४. वर द्वारा वधू का स्वागत

जब वर का स्वागत हो चुकता है और कन्या-प्रतिग्रहण हो चुकता है, तब वर की ओर से वधू का सत्कार किया जाता है। वर वधू को हाथ का कता और हाथ का बुना कपड़ा पहनने को देता है। वर का दिया हुआ कपड़ा वधू लेकर पहनती है। वर वधू को हाथ का कता और हाथ का बुना हुआ[१] कपड़ा पहनने को देता है—इसका अर्थ यही हो सकता है कि जिस काल में यह प्रथा चली उस समय कपड़े का व्यवसाय एक गृहोद्योग का व्यवसाय था और इस व्यवसाय का प्रधान कार्य स्त्रियाँ करती थीं क्योंकि हाथ का कता-बुना होने के साथ इस मन्त्र में यह भी लिखा है कि इस कपड़े को स्त्रियों ने कता-बुना है। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि स्त्री को इस बात की प्रेरणा दी गई है कि जैसे हम अपने घर की स्त्रियों से कतवा और बुनवा कर कपड़ा लाये हैं वैसे तुम भी कातना-बुनना करती रहना।

५. यज्ञ की तैयारी तथा यज्ञ

इसके बाद विवाह के यज्ञ को तैयारी शुरु हो जाती है। इस तैयारी में भी अनेक प्रक्रियाओं को करना होता है। वे प्रक्रियाएँ क्या हैं?

(१) पुरोहित की नियुक्ति—ऊपर जिस आदर-सत्कार का वर्णन किया गया है वह पुरोहित कराये तो उसे कार्यकर्त्ता कहा जायेगा। वह न कराये तो वर तथा कन्या स्वयं कर सकते हैं। वर तथा कन्या नहीं करते, इसलिये उक्त विधि कार्यकर्त्ता के रूप में पुरोहित ही कराता है। परन्तु अब विवाह का असली संस्कार शुरु होता है। इस संस्कार को कराने के लिए वही कार्यकर्त्ता अब बाकायदा पुरोहित बनकर कार्य कराता है। पुरोहित की बाकायदा नियुक्ति होती है, स्पष्ट शब्दों में कहा जाता है कि मैं इस विवाह-कार्य के लिये आपको पुरोहित नियुक्त करता हूँ। यह पुरोहित जो

---

१. **ओं या अकृन्तन् अवयन् या अतन्वत याश्च देवीः तन्तून् अभितो ततन्थ।**
तास्त्वा देवी जरसे संव्ययस्व आयुष्मती इदं परिधत्स्व वासः॥ —पार० १,४,१३

संस्कार कराता है वह बाकायदा कानूनी-कार्यवाही समझी जाती है।

(२) कलश की स्थापना—यज्ञ प्रारम्भ होने के साथ ही वर-पक्ष का एक पुरुष शुद्ध वस्त्र धारण करके जल से पूर्ण एक कलश को लेकर कुण्ड के दक्षिण भाग में उत्तर की तरफ मुख करके बैठता है। जब तक यज्ञ पूर्ण न हो जाए तब तक यह व्यक्ति जल के कलश के पास ही बैठा रहता है। यह विधि शायद इस आशय से है कि अगर कहीं आग लगे तो एकदम वह पानी से उसे बुझा दे।

(३) यज्ञ का प्रारम्भ—पुरोहित के नियुक्त हो जाने केबाद वह यज्ञ की अग्नि प्रदीप्त करता है और बाकायदा अग्निहोत्र के मन्त्रों को उच्चारण कर अग्नि में घृत तथा सामग्री की आहुतियाँ दी जाती हैं। इस यज्ञ में १६ आज्याहुति, जयाहोम की १३ आज्याहुति, अभ्यातन होम (इस संस्कार के विधि-भाग में देखें) की १८ आज्याहुति, ८ विशेष आज्याहुति, ४ साधारण आज्याहुति—इस प्रकार यज्ञ की अग्नि में घी की आहुतियाँ दी जाती हैं। घी की आहुति का नाम ही 'आज्याहुति' है। घी की प्रत्येक आहुति के लिए अलग-अलग मन्त्र हैं। यह सारा यज्ञ पुरोहित कराता है और वर-वधू इन मन्त्रों को पढ़ते और बोलते जाते हैं। अग्नि में घी की आहुति वर डालता जाता है।

६. पाणि-ग्रहण

वैदिक विवाह-संस्कार का विशेष आरम्भ पाणि-ग्रहण के छः मन्त्रों[१] से होता है। पाणि-ग्रहण में वर वधू का हाथ पकड़ता है। वर द्वारा वधू के हाथ पकड़ने की विधि युरोपियन जातियों में भी किसी-न-किसी रूप में पायी जाती है। वैदिक-संस्कार में पाणि-ग्रहण के समय वर वधू के सामने खड़ा होकर उसका हाथ पकड़ कर छः मन्त्र बोलता है। इस समय वधू अपने आसन पर बैठी रहती है, वर जरा नम कर उसका हाथ पकड़ता है। पाणिग्रहण के मन्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, इनमें जो-कुछ कहा गया है वह गृहस्थाश्रम के लिए एक तरह से आदर्श है। इन मन्त्रों में क्या कहा गया है?

पहले मन्त्र में कहा गया है कि मैं तेरे सौभाग्य के लिए तेरा हाथ ग्रहण करता हूँ। तू मुझ पति के साथ बुढ़ापे तक सुखपूर्वक रहना। भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धिः

---

१. **ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।**
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिः मह्यं त्वादुः गार्हपत्याय देवाः॥ —ऋ० १०.८५.३६
ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणा अहं गृहपतिस्तव॥ —अथर्व० १४.१.५१
अमेयम् अस्तु पोष्या मह्यं त्वा अदाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम्॥ —अथर्व० १४.१.५२

तथा अन्य देवताओं ने गृहस्थाश्रम धर्म निबाहने के लिए तुझे मेरे सुपुर्द किया है।

दूसरे मन्त्र में कहा गया है कि तेरा हाथ मैंने क्या पकड़ा है मानो ऐश्वर्य ने तेरा हाथ पकड़ा है, सविता अर्थात् संसार में उत्पादन का कार्य करने वाली शक्ति ने तेरा हाथ पकड़ा है, तू मेरी धर्म की पत्नी है और मैं तेरे घर का पति हूँ।

तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि तू मेरी पोष्या है, मेरा धर्म तेरा पोषण करना है, बृहस्पति ने तुझे मुझे दिया है। मुझ पति के साथ सन्तान उत्पन्न करती हुई सौ बरस तक जीना।

इसी प्रकार छहों मन्त्रों में पुरुष के स्त्री के प्रति कर्त्तव्यों को बड़े रोचक भावों में प्रकट किया गया है।

७. अग्नि की परिक्रमा

पाणि-ग्रहण के उक्त छः मन्त्रों के बाद वर वधू का हाथ पकड़ कर उसे उठाता है और दोनों प्रदीप्त यज्ञ-कुण्ड की प्रदक्षिणा करते हैं। जब ये दोनों प्रदक्षिणा कर रहे होते हैं उस समय पानी के कलश वाला व्यक्ति इनके पीछे-पीछे पानी का कलश लेकर चलता है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि कहीं असावधानी से किसी के वस्त्र में आग लग गई तो वह एकदम पानी से उसे बुझा सके। अग्नि की इस प्रदक्षिणा को करते हुए अग्नि को साक्षी रखकर वर-वधू एक-दूसरे को कहते हैं।

मैं यह हूँ तू वह है, तू वह है मैं यह हूँ, मैं सामवेद हूँ, तू ऋग्वेद है, मैं द्युलोक हूँ, तू पृथिवी लोक है, हम दोनों विवाह करें, प्रजा को उत्पन्न करें, हमारे अनेक पुत्र हों, वे पुत्र दीर्घ आयु के हों, प्यारे पुत्र हों, तेजवान् पुत्र हों, मनस्वी पुत्र हों। हम और हमारे पुत्र सौ साल तक देखते-सुनते रहें, सौ साल तक हम लोग जीते रहें।[१]

८. शिलारोहण

इसके बाद वधू की माता या भाई उसका दायाँ पैर उठाकर पास रखी शिला पर रखता है और कहता है कि तू इस शिला पर पाँव रख, शिला की तरह स्थिर वृत्ति की होना। लड़ाई-झगड़ा करनेवालों को दबा कर रखना और स्वयं इस शिला की तरह स्थिर बनना।[२]

९. लाजा-होम या चार फेरे

---

१. **ओं अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहं। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रणुयाम शरदः शतम्॥** —अथर्व० १५.२.७१

२. **ओम् आरोह इमम् अश्मानम् अश्मेव त्वं स्थिरा भव।
अभितिष्ठ पृतन्यतः अवबाधस्व पृतनायतः।** —पारस्कर गृह्यसूत्र १.७.१

शिलारोहण के बाद लाजा-होम की विधि है। विवाह के लिए फेरे तथा सप्तपदी दो आवश्यक अंग हैं। लाजा-होम ही फेरे कहलाते हैं। लाजा-होम में वर-वधू दोनों पूर्वकी तरफ मुँह करके खड़े हो जाते हैं। वर की हस्ताञ्जलि पर वधू अपनी दक्षिण हस्ताञ्जलि रखती है, फिर वधू का भाई या माँ सूप में धान की खीलें लेकर खड़े हो जाते हैं और इन खीलों में से कुछ खीलें इन दोनोंकी मिली अञ्जलि में डालते हैं। अब इन खीलोंको वर-वधू यज्ञ-कुण्ड की प्रज्वलित अग्नि में डालते हैं। इन खीलों के द्वारा जो होम किया जाता है उसे लाजा-होम कहते हैं। लाजा-होम करते हुए जो मन्त्र[१] बोले जाते हैं, उनका आशय है—

कन्या अग्निरूप परमात्मा की पूजा करती हुई कहती है कि वह परमात्मदेव मुझे अपने पिता के कुल से छुड़ावे और पति के कुल से न छुड़ावे।

इन खीलों को अग्नि में डालती हुई यह नारी कहती है कि मेरा पति आयुष्मान् होवे और मेरे कुटुम्ब के सगे-सम्बन्धी समृद्ध हों।

हे पति! मैं तेरी समृद्धि के लिए इन खीलों को अग्नि में चोड़ती हूँ। मेरा और तेरा परस्पर अनुराग हो और इस अनुराग में पूजनीय परमात्मा हमारे लिए सहायक हों।

लाजा-होम के बाद अग्नि-कुण्ड के चार फेरे किये जाते हैं, और इन फेरो में आगे-आगे वधू, पीछे वर और इन दोनों के पीछे जल का कलश लिये हुए एक व्यक्ति चलता है। हर फेरे के बाद खीलों को यज्ञ की अग्नि में डाला जाता है[२]।

लाजा का अर्थ है धान की खील। विवाह के समय धान की खील को इतना शुभ क्यों माना गया है? इसके अतिरिक्त चार वार यज्ञ की प्रदक्षिणा करके फेरों का इतना महत्त्व क्यों गिना गया है? फेरे चार वार क्यों किये जाते हैं? इन सब बातों के कुछ-न-कुछ कारण तो अवश्य रहे होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सबकुछ किसी भावना के प्रतीक हैं। धान फूल कर कब खील बन जाती है? जब इसे आग का सेक मिलता है। इसी प्रकार पति-पत्नी को जब एक-दूसरे का प्रेम मिलता है तब वे खील के समान प्रफुल्ल हो उठें—यह खील का अभिप्राय है। धान को विवाह-संस्कार के बीच में लाने का एक दूसरा भी अभिप्राय है। धान के पौधे पहले एक जगह बोये जाते हैं, फिर उखाड़ कर उन्हें दूसरी जगह रोपा जाता है। इसी प्रकार

---

१. **ओम् अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत।**
स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा॥ —पारस्कर गृह्यसूत्र १.६.२

२. **ओम् इयं नारी उपब्रूते लाजानावपन्तिका।**
आयुष्मानस्तु मे पतिः एधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा॥ —पार० १.६.२
ओम् इमान् लाजान् आवपामि अग्नौ समृद्धिकरणं तव।
मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियम् स्वाहा॥ —पार० १.६.२

कन्या पहले माता-पिता के घर पली, अब वह वहाँ से उखड़ कर पति के घर जा बसेगी। वहाँ वह धान की उखड़ी पौध की तरह फले-फूले—यह भी इस विधि का भाव है।

फेरों का अर्थ है यज्ञ वेदी के चारों तरफ बैठे समाज के सम्मुख आना जिससे सब अच्छी तरह से देख सकें कि किन का विवाह हो रहा है, चारों तरफ बैठा समाज इन दोनों को पहचान ले। विवाह जन्मभर का साथ है। इसें कई झगड़े भी उठ सकते हैं। कभी-कभी गवाही की भी जरूरत होती है। आजकल रजिस्ट्री से जो विवाह होते हैं उनमें भी गवाही की जरूरत होती है। वैदकि-विवाह में विवाह की कागज पर रजिस्ट्री तो नहीं होती थी, परन्तु वे विवाह के समय अपने जान-पहचान के एक-दो को नहीं, सब लोगों को बुला कर उनके सामने विवाह करते थे, और चार वार उनको अपना मुँह दिखलाते थे जिससे सब लोग विवाह करने वाले इन दोनों वर-वधू को पहचान जावें। फेरों का यही अभिप्राय है। चार वार फेरों का यह अर्थ प्रतीत होता है कि सब लोग इन दोनों को चार वार देख लेने के कारण अच्छी तरह पहचान जायें। फेरों को मंगल-फेरा भी कहा जाता है। फेरों के समय घर के लोग गीत गाते हैं। जब फेरे हो जायें तब समझा जाता है कि विवाह हो गया। फेरों का हो जाना हिन्दुओं में कानूनी तौर पर विवाह का हो जाना माना जाता है।

१०. सप्तपदी

फेरों के बाद सप्तपदी की विधि की जाती है। फेरों की तरह यह भी हिन्दू विवाह का प्रधान अंग है। सप्तपदी में वर-वधू उठकर खड़े हो जाते हैं। यज्ञकुण्ड के उत्तर-भाग में खड़े होकर वर अपना दाहिना हाथ वधू के दाहिने कन्धे पर रखता है। दोनों का मुख उत्तर की तरफ होता है। तब कुछ मन्त्र[१] बोलकर वर और वधू एक-साथ सात कदम चलते हैं।

पहला कदम वर-वधू एक-साथ रखते समय वर कहता है—'अन्न' के लिए यह पहला कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन मेरे मन के अनुकूल हो, परमात्मा

---

१. **ओम् इषे एकपदी भव सा माम् अनुव्रता भव विष्णु स्त्वानयतु पुत्रान विन्दावहै बहून् ते सन्तु जरदष्टयः।**
ओम् ऊर्जे द्विपदी भव सा माम्—इत्यादि ऊपर का ही भाग आगे चलता है।
ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव सा माम्—इत्यादि ऊपर का ही भाग आगे चलता है।
ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव सा माम्—इत्यादि।
ओं प्रजाभ्यः पंचपदी भव सा माम्—इत्यादि।
ओम् ऋतुभ्यः षट्पदी भव सा माम्—इत्यादि।
ओं सखे सप्तपदी भव सा भाम्—इत्यादि। उक्त मन्त्रों के लिये देखो, आश्व० १.७.१९

तुझे मेरे अनुकूल बनाये, हम दोनों मिलकर पुत्रों को प्राप्त करें और वे वृद्धावस्था तक जीने वाले हों।

दूसरा कदम वर-वधू एक-साथ रखते समय वर कहता है—'**ऊर्ज**' (शारीरिक-बल) के लिए यह दूसरा कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन मेरे मन के अनुकूल हो, परमात्मा तुझे मेरे अनुकूल बनाये, हम दोनों मिलकर पुत्रों को प्राप्त करें और वे वृद्धावस्था तक जी वाले हों।

तीसरा कदम वर-वधू एक-साथ रखते समय वर कहता है—'**रायस्पोष**' (धन) के लिए यह तीसरा कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन मेरे मन के अनुकूल हो—इत्यादि-इत्यादि।

चौथा कदम वर-वधू एक-साथ रखते समय वर कहता है—'मयोभव' (सुख) के लिए यह चौथा कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन—इत्यादि-इत्यादि।

पाँचवाँ कदम वर-वधू एक-साथ रखते हुए वर कहता है—'प्रजा' (सन्तान) के लिए यह पाँचवाँ कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन—इत्यादि-इत्यादि।

छठा कदम वर-वधू एक-साथ रखते समय वर कहता है—'ऋतुओं' (चारों तरफ की प्राकृतिक परिस्थिति) के लिए यह छठा कदम हम एक-साथ रखते हैं, तेरा मन—इत्यादि-इत्यादि।

सातवाँ कदम वर-वधू एक-साथ रखते हुए वर कहता है—'सखापन' (मैत्री-भाव) के लिए यह सातवाँ कदम हम एक-साथ रखते हैं—इत्यादि-इत्यादि।

विवाह के समय वर-वधू का सात कदम एक-साथ चलना भी किसी भाव का ही प्रतीक है। पहले तो एक-साथ चलना, फिर सात कदम चलना—ये दोनों बातें विचारणीय हैं। शास्त्रों में गृहस्थ को एक आश्रम कहा गया है, यह एक मञ्जिल है। मञ्जिल तक पहुँचने के लिए खड़े रहने से तो काम नहीं चलता, मञ्जिल की तरफ चलना पड़ता है। सप्तपदी का अभिप्राय यह है कि वर-वधू दोनों को इस बात की प्रतीति कराई जाती है कि यह आश्रम आराम से बैठे रहने का नहीं है, इस आश्रम के कुछ उद्देश्य हैं, प्रयोजन हैं, उन प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए चलना होगा, दोनों को अलग-अलग नहीं एक-साथ चलना होगा, कदम-से-कदम मिलाकर आगे बढ़ना होगा, तभी वे इस आश्रम के उद्देश्य को पा सकेंगे। किन बातों के लिए एक-साथ चलना होगा? उन बातों का वर्णन इन सात मन्त्रों में कर दिया गया है। वे बातें हैं—अन्न, बल, धन, सुख, सन्तान, प्राकृतिक परिस्थिति तथा सामाजिक परिस्थिति। दोनों को मिलकर अन्न प्राप्त करना होगा, दोनोंको मिलकर शारीरिक बल का सम्पादन करना होगा, दोनों को मिलकर धन का विनियोग और व्यय करना होगा, दोनों को मिलकर एक-दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होना होगा, दोनों को मिलकर

सन्तान का पालन करना होगा, दोनों को मिलकर प्राकृतिक परिस्थिति तथा सामाजिक परिस्थिति का सामना करना होगा। ऋतु अनुकूल भी होती है, प्रतिकूल भी होती है, मित्र अनुकूल होते हैं, प्रतिकूल होते हैं—ये सब एक-दूसरे के लिए बराबर रहेंगे और इन सब परिस्थितियों में दोनों को एक-दूसरे का हाथ बँटाना होगा।

११. सूर्यावलोकन

सप्तपदी के बाद वर-वधू सूर्य के दर्शन करते हैं और दर्शन करते हुए मन्त्र[१] बोलते हैं—यह सूर्य मानो भगवान् का चक्षु है, उसकी आँख है, यह सामने उदय हो रहा है। हमें जीवन-पर्यन्त भगवान् की यह आँख देखती रहे, उसकी आँख से हमारा कोई काम छिप ही कैसे सकता है। भगवान् को इस आँख के सामने हम सौ बरस तक देखते रहें, सौ बरस तक जीते रहें, सौ बरस तक सुनते रहें, सौ बरस तक बोलते-चालते रहें, सौ बरस तक अदीन हों, दीन-दुःखी न हों।

१२. हृदय-स्पर्श

सूर्यावलोकन के बाद वर वधू के हृदय का स्पर्श करता हुआ कहता है[२]—तेरे हृदय की बात को पूरा करना मैं अपना व्रत समझूँगा, मेरा चित्त तेरे चित्त के अनुकूल हो, मेरी वाणी को तू एकमन होकर सुनना, प्रजापति तुझे मेरे साथ सदा बाँधे रखे।

इस प्रकार वर-वधू सोचने-विचारने में, हार्दिक-भावों में एक-दूसरे के निकट आने की प्रतिज्ञा करते हैं। इस मन्त्र को पढ़कर वर फिर कहता[३] है—यह मंगल करनेवाली वधू है। आइये, आप लोग इसके दर्शन कीजिये। आप लोग सौभाग्य का आशीर्वाद देकर अपने घरों को जाइयेगा।

यह मन्त्र ऋग्वेद का है। इसमें स्पष्ट लिखा है कि आप सब इस वधू को आकर देखिये—'**इमां समेत पश्यत**'। सबको आकर वधू के दर्शन करने का निमन्त्रण और इस सारे विवाह-संस्कार का भारी जनता में किया जाना इस बात को सिद्ध करता है कि वैदिक-विवाह-संस्कार में जो पारस्कर गृह्यसूत्र द्वारा किया जाता है पर्दे को कोई स्थान नहीं है।

---

१. **ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतम् अदीनाः स्याम शरदः शतं भुयश्च शरदः शतात्॥** —यजु० ३६.२४

२. **ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।**
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥ —पार० गृह्य० १.८.८

३. **ओं सुमंगलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत।**
सौभाग्ययस्मै दत्त्वा यावास्तं वि परेतन॥ —ऋ० १०.८५.३३

१३. ध्रुव तथा अरुन्धती दर्शन

वैदिक-विवाह की विधि में अन्तिम प्रक्रिया ध्रुव तथा अरुन्धती—इन दो तारों का दर्शन है। ध्रुव तारे और अरुन्धती तारे के दर्शन का क्या अभिप्राय है ? ध्रुव तारा अपने स्थान को नहीं बदलता, वह ध्रुव रहता है, अपने स्थान पर स्थिर रहता है। वर को ध्रुव तारा दिखाकर उसे कहा जाता है कि तुम अपने व्रत में ध्रुव रहना, स्थिर रहना, ध्रुव तारे को अपना आदर्श बनाना। इसी प्रकार वधू को अरुन्धती तारे के दर्शन कराये जाते हैं। अरुन्धती तारा वसिष्ठ तारे के साथ रहता है। अरुन्धती स्त्री-वाची शब्द है। जैसे नक्षत्रों में अरुन्धती सदा वसिष्ठ तारे के साथ रहती है वैसे तुम भी पति के साथ रहना—यह अरुन्धती-दर्शन का अभिप्राय है। इसके अतिरिक्त वसिष्ठ तारा सप्तर्षिमण्डल में एक तारा है। जैसे सप्तर्षियों में वसिष्ठ है, अपने सप्तर्षि परिवार में बना रहता है, उसके साथ अरुन्धती बनी रहती है, वैसे वर अपने परिवार में बना रहे और वधू पति के साथ अरुन्धती की तरह बनी रहे—यही इस सबका अभिप्राय है।

विवाह संस्कार

[विवेचनात्मक भाग (ग)]

[अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह का प्रश्न]

विवाह के सम्बन्ध में अनेक प्रथाएँ हिन्दू-समाज में प्रचलित हैं, जिनमें से 'अन्तर्विवाह' तथा 'बहिर्विवाह' की प्रथाओं पर कुछ लिखना आवश्यक है। 'अन्तर्विवाह' का अर्थ है—हिन्दू को कहाँ विवाह करना चाहिए। 'बहिर्विवाह' का अर्थ है—हिन्दू को कहाँ विवाह नहीं करना चाहिए। पहले हम 'अन्तर्विवाह' पर लिखेंगे, फिर 'बहिर्विवाह' पर।

१. अन्तर्विवाह

(१) अन्तर्विवाह—(Endogamy, Preference or Inter-marriage)—हिन्दुओं में विवाह अपनी जाति के भीतर किया जाता है, जाति से बाहर नहीं। जाति के भीतर विवाह को ही 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं, परन्तु हिन्दुओं में अन्तर्विवाह की इकाई वैदिक-काल की गुण-कर्मानुसार जाति नहीं, आजकल की उपजाति है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण ब्राह्मण मात्र में विवाह करे—ऐसी बात नहीं है, ब्राह्मण ब्राह्मणों की अपनी उप-जाति में विवाह करते हैं। सारस्वत-ब्राह्मण सारस्वतों में, गौड़ गौड़ों में, कान्यकुब्ज कान्यकुब्जों में। इस दृष्टि से इसे उपजाति-विवाह कह सकते हैं। अन्तर्विवाह का समूह जाति न होकर जाति की उप-जाति है, जिसे गलती से हम लोग जाति कहते हैं। हम कहते हैं कि हिन्दू अपनी जाति में विवाह करता है। असल में, यह बात तब ठीक होती अगर हिन्दुओं में ब्राह्मण जिस किसी ब्राह्मण परिवार में शादी कर लेता। ऐसा वह नहीं करता। ब्राह्मणों में वह अपनी उप-जाति के ब्राह्मण को ढूँढ़ता है और जो हर-किसी ब्राह्मण-परिवार में शादी करने को तैयार हो जाता है, उसे सुधारवादी कहा जाता है।

(२) अन्तर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह में भेद—प्रचलित अर्थों में उप-जाति को ही हिन्दू लोग जाति मानते हैं, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि जो असल में जातियाँ हैं, उन्हें बोल-चाल में तो जाति कह देते हैं, परन्तु व्यवहार में इन्हें जाति नहीं मानते। जाति की आधारभूत बात यह है कि जाति के भीतर ही विवाह किया जाता है, जाति से बाहर नहीं। इस दृष्टि से विवाह की इकाई के रूप में जो जाति मानी जाती है—सारस्वत, गौड़, कान्यकुब्ज आदि—उसमें विवाह करने का विधान है, उससे बाहर नहीं। उसके भीतर विवाह करने को 'अन्तर्विवाह' (Inter-marriage)

कहते हैं, उसके बाहर विवाह किया जाए तो उसे 'अन्तर्जातीय-विवाह' (Inter-caste marriage) कहते हैं। ब्राह्मण अगर सारस्वत है और गौड़ या कान्यकुब्ज परिवार में विवाह करता है, तो इसे 'अन्तर्विवाह' (Inter-marriage) न कहकर 'अन्तर्जातीय-विवाह' (Inter-caste marriage) कहा जायेगा। जो लोग इससे भी आगे कदम बढ़ाने को तैयार होते हैं, वे ब्राह्मण होते हुए क्षत्रिय आदि भिन्न वर्णों या जाति-उप-जातियों में विवाह करने लगते हैं। हिन्दुओं में अन्तर्विवाह की आज्ञा है, इसका विधान है, अन्तर्जातीय-विवाह का निषेध है। यह सबकुछ होते हुए भी वर्त्तमान अवस्थाओं में अन्तर्जातीय-विवाह बढ़ते जा रहे हैं।

(३) अन्तर्विवाह की प्रथा क्यों शुरु हुई—हिन्दुओं में अन्तर्विवाह की प्रथा के शुरु होने का मुख्य कारण 'प्रजातिवाद' (Racism) है। 'प्रजापतिवाद' ने ही 'जातिवाद' (Casteism) को जन्म दिया। 'प्रजातिवाद' तथा 'जातिवाद' दोनों का अभिप्राय अपने को दूसरों से ऊँचा मानना है। मनुष्य अपने को शुद्ध-रक्त की दृष्टि से अथवा सामाजिक-दृष्टि से दूसरों से बड़ा समझता है। हिन्दुओं में भी अन्य प्रजातिवादियों या जातिवादियों की तरह अपने को शुद्ध आर्य-रक्त का मानने का विचार घर किये हुए था। इसके साथ सामाजिक-स्थिति के कारण ऊँच-नीच मानने का विचार भी जुड़ गया। इन दोनों कारणों के मिल जाने से 'अन्तर्विवाह' करने की प्रथा का प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मण इतना ही नहीं समझते थे कि उनकी अन्यों से सामाजिक स्थिति ऊँची है। वे यह भी समझते थे कि उनका रक्त अन्यों की अपेक्षा अधिक शुद्ध है। रक्त की शुद्धता को बनाये रखने का विचार प्राय: सबदेशों तथा जातियों में पाया जाता है। सामाजिक-दृष्टि से ऊँच-नीच का भाव तो रक्त-शुद्धता के भाव के लुप्त हो जाने पर भी बना रहने वाला है। इन दो दृष्टियों से हिन्दुओं में अन्तर्विवाह की प्रथा का प्रारम्भ हुआ।

(४) अन्तर्विवाह की प्रथा से हानि—अन्तर्विवाह की प्रथा से रक्त की शुद्धता बनी रहती है, यह विचार प्रजातिवादियों का है, परन्तु प्रजातिवाद ही निराधार सिद्धान्त है। प्रजातिवाद का अगर कुछ अर्थ हो सकता है, तो यही अर्थ हो सकता है कि रक्त के कारण कुछ लोग ऊँचे होते हैं, कुछ नीचे होते हैं। परन्तु रक्त के आधार पर ऊँच-नीच का भेद मानना गलत सिद्धान्त है। परिस्थिति अच्छी हो तो मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक उन्नति होती है, परिस्थिति निकृष्ट हो तो अच्छे शरीर और अच्छे मन वाला व्यक्ति भी भिनक जाता है। अन्तर्विवाह का आधार प्रजातिवाद तथा जातिवाद है जो दोनों स्वयं निराधार सिद्धान्त हैं। अन्तर्विवाह प्रजातिवाद तथा जातिवाद को बढ़ावा देता है, इससे समाज में ऊँच-नीच का भेद मिटने के स्थान में अमिट होने लगता है, इसलिए अन्तर्विवाहों के स्थान में अन्तर्जातीय विवाहों के होने की जरूरत है। प्रजातिवाद से अन्तर्विवाह और अन्तर्विवाह से

प्रजातिवाद—यह एक दुश्चक्र चल पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्तर्विवाह-प्रथा की एक और हानि है। जब मनुष्य अपनी उप-जाति में ही विवाह कर सके, उप-जाति के बाहर न जा सके, तब उसके चुनाव का क्षेत्र अतन्यत सीमित रह जाता है। चुनाव के क्षेत्र के सीमित रह जाने से या तो बेमोल विवाह होने लगते हैं या लड़कों को लड़कियाँ नहीं मिलतीं, लड़कियों को लड़के नहीं मिलते और लड़के-लड़कियाँ कुँवारे रह जाते हैं। इन कारणों से अब कुछ अंश तक स्वयं लोगों का ध्यान अन्तर्जातीय-विवाहों की तरफ जाने लगा है। सुधारवादी हिन्दुओं की परिभाषा में अन्तर्जातीय-विवाह का अर्थ होगा कि ब्राह्मण अपनी उप-जातियों में विवाह करने के स्थान में ब्राह्मणमात्र में विवाह करने लगें। यह तो बहुत छोटा-सा सुधार है। अन्तर्जातीय-विवाह का असली अर्थ है—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि का बिना जाति-उपजाति के भेद को देखे आपस में विवाह करने लगना। अब कुछ समय से अन्तर्जातीय-विवाहों की संख्या बढ़ने लगी है, यह संख्या क्यों बढ़ने लगी है—इसके अनेक कारण हैं। वे कारण क्या हैं?

(५) अन्तर्जातीय-विवाहों के बढ़ने के कारण—वर्तमान-परिस्थितियों में अन्तर्विवाहों की जगह अन्तर्जातीय-विवाहों की प्रवृत्ति बढ़ रही है, इसके निम्न कारण है—

(क) शिक्षा का प्रचार—ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार होता जा रहा है, त्यों-त्यों जन्म के जातिवाद का थोथापन प्रकट होता जा रहा है। शिक्षित नवयुवक तथा नवयुवतियों को समझ नहीं पड़ता कि वे किसी जन्म की तथाकथित जाति-विशेष में ही विवाह क्यों करें। शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ मानसिक-स्तर की एकता मनुष्य-मनुष्य में बढ़ती जा रही है और अबतक जात-पात के कारण जो भिन्नता की भावना थी वह समाप्त होती जा रही है। जन्म की एक ही जाति के पुरुष तथा स्त्री में शिक्षा की भिन्नता के कारण असमानता तथा जन्म की भिन्न-भिन्न जाति के पुरुष तथा स्त्री में शिक्षा की समानता के कारण समानता बढ़ती जा रही है, जिससे अन्तर्विवाहों के स्थान में शिक्षित-समाज में अन्तर्जातीय-विवाह बढ़ते जा रहे हैं। शिक्षित समाज को यह भी समझ आता जा रहा है कि शुद्ध-रक्त का सिद्धान्त निराधार है और क्योंकि अन्तर्जातीय-विवाहों में सबसे बड़ी रुकावट रक्त की शुद्धता ही थी, इसलिए शिक्षा के बढ़ने और रक्त की शुद्धता के सिद्धान्त के थोथेपन को समझ लेने के कारण शिक्षित समाज की अन्तर्जातीय-विवाहों के प्रति रुचि बढ़ती जा रही है।

(ख) सह-शिक्षा—उच्च-शिक्षा के क्षेत्र में लड़के-लड़कियों के एक-साथ पढ़ने से भी इस वर्ग में अन्तर्जातीय-विवाह होने लगे हैं। जब हर जाति के लड़के-लड़कियाँ एक-साथ पढ़ते हैं, एक-साथ रहते हैं, तब उनका एक-दूसरे के प्रति आकर्षण हो जाना स्वाभाविक है। इस आकर्षण का परिणाम जात-पात तोड़कर

शादी करना भी होता है, जिससे अन्तर्जातीय-विवाहों को प्रोत्साहन मिल रहा है।

(ग) उद्योगीकरण तथा नगरीकरण—जबतक लोग गाँवों में रहते हैं, तबतक जन्म की जाति के बन्धनों में बँधे रहते हैं, इसलिए बँधे रहते हैं, क्योंकि उस समय ये बुजुर्ग लोगों के बीच में होते हैं और हर समय हर बात की रोक-टोक होती रहती है, खास करके प्रथा से चली आ रही बातों के विरुद्ध जाने का कोई साहस नहीं करता। वर्त्तमान-युग उद्योगीकरण का युग है, सब जगह कल-कारखाने खुल रहे हैं। इन कल-कारखानों में काम करने के लिए यातायात की भी सुविधा बढ़ती जा रही है। गाँव के लोग यातायात के इन साधनों से उद्योगों के केन्द्र शहरों में चलते चले जा रहे हैं। शहरों में जाकर वे बुजुर्गों की आँखों से दूर चले जाते हैं। वहाँ उन पर रोक-टोक करनेवाला, उन्हें प्रथाओं की शृंखला में बाँधे रखनेवाला कोई नहीं होता। शहरों में होटलों में वे सबके साथ खाते, कारखानों में सबके साथ उठते-बैठते हैं। इससे भी जातीयता की दीवारें टूटती जा रही हैं और अन्तर्जातीयता की भावना बढ़ती जा रही है। इस अन्तर्जातीयता की भावना से अन्तर्जातीय-विवाहों का होना स्वाभाविक है।

(घ) समाज-सुधारकों का प्रभाव—१९वीं तथा २०वीं सदी में हिन्दू-समाज में अनेक समाज-सुधारक हुए जिन्होंने जात-पात पर कुठाराघात किया। राजा राममोहन राय, ऋषि दयानन्द, श्री केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द आदि ने हिन्दू-जाति की चेतना को चुनौती दी और जात-पात के बँधनों को हिन्दू-जाति के अध:पतन का एकमात्र कारण घोषित किया। इनके आन्दोलन का यह परिणाम हुआ कि भारत के अनेक नव-युवक जाति के बन्धनों को तोड़कर विवाह करने लगे। अभी इस दिशा में काफी कार्य नहीं हुआ, परन्तु नव-युवकों में जागृति के चिह्न धीरे-धीरे प्रकट हो रहे हैं और अन्तर्जातीय-विवाहों को उपहास से देखने के स्थान में आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है।

(ङ) कानूनी बाधाएँ समाप्त होती जा रही हैं—अन्तर्जातीय-विवाहों को इस बात से भी प्रोत्साहन मिला है कि पहले तो अन्तर्जातीय-विवाह वैध ही नहीं था, कानून की दृष्टि से इसे विवाह ही नहीं कहा जा सकता था, परन्तु ब्राह्मो-समाज के केशवचन्द्रसेन तथा आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द आदि जो लोग जन्म की जात-पात को नहीं मानते थे, उनके आन्दोलनों से ऐसे कानून बने जिनके आधार पर अन्तर्जातीय-विवाह को कानूनी तौर पर मान्यता प्राप्त हो गई। उदाहरणार्थ, १८७२ में केशवचन्द्रसेन के उद्योग से 'विशेष-विवाह-कानून' (Special Marriage Act, १८७२) बना। इस इस कानून के अनुसार उन सब लोगों को आपस में विवाह करने का अधिकार दे दिया गया जो किसी धर्म को नहीं मानते। इस कानून के अनुसार विवाह करनेवालों को यह घोषित करना पड़ता था कि वे न हिन्दू हैं, न ईसाई हैं, न

मुसलमान हैं, न बौद्ध हैं, न जैन हैं, वे किसी धर्म को नहीं मानते। परन्तु धीरे-धीरे यह अनुभव किया जाने लगा कि अगर हिन्दू हिन्दू रहता हुआ और मुसलमान मुसलमान रहता हुआ किसी दूसरे धर्म के व्यक्ति से विवाह कर ले, तो इसकी आज्ञा क्यों नहीं देनी चाहिए? इस आधार पर १९२३ में, 'विशेष-विवाह-कानून' में, जो हिन्दू १८७२ के कानून के अनुसार विवाह करते थे उनके लिए, संशोधन हुआ जिसके अनुसार यह कहने की जरूरत नहीं रही कि मैं किसी धर्म को नहीं मानता। १९२३ में 'अन्तर्धर्म-विवाहों' को मान्यता प्राप्त हो गई, परन्तु इन विवाहों को रजिस्टर्ड कराना आवश्यक था। १९५४ में इस 'विशेष-विवाह-कानून' में फिर संशोधन हुआ। अब तक तो 'विशेष-विवाह-कानून' के अन्तर्गत जो विवाह किये जाते थे, उन्हीं को इस कानून का लाभ मिलता था, परन्तु अब १९५४ के संशोधित 'विशेष-विवाह-कानून' का लाभ हर-किसी को मिल सकता है—अर्थात्, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि किसी पद्धति से भी कोई विवाह क्यों न हो चुका हो और पहले कभी भी क्यों न हुआ हो, अगर विवाह करनेवाले 'विशेष-विवाह-कानून' के अधीन रजिस्ट्री कराना चाहें तो करा सकते हैं और इस कानून का लाभ उठा सकते हैं। इस कानून में एक-विवाह जरूरी है, परन्तु इसमें 'पारस्परिक-सहमति से तलाक' (Divorce by mutual consent) की व्यवस्था भी की गई है। इस कानून के अन्तर्गत जो शादी करेगा उसके सम्बन्ध में, चाहे वह हिन्दू हो, सिक्ख हो, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध या जैन हो, यह समझा जायेगा कि वह अपने संयुक्त-परिवार का सदस्य नहीं रहा। इस प्रकार हमने देखा कि 'विशेष-विवाह-कानून-१८७२' तथा उसके १९२३ एवं १९५४ के संशोधनों से अन्तर्जातीय-विवाहों को प्रोत्साहन मिला।

इसके अतिरिक्त जो आर्यसमाजी जात-पात को नहीं मानते उनके विवाह को वैध घोषित करने के लिए श्रीयुत् घनश्याम सिंह जी के उद्योग से 'आर्य-विवाह-कानून' (Aryan Marriage Validating Act, १९३७) बना। यह कानून इसलिए बना क्योंकि आर्यसमाजी अपने को हिन्दू भी कहलाना चाहते थे, जात-पात को तोड़ना भी चाहते थे। हर हालत में वे अपने को हिन्दुओं से इतना नहीं काट लेना चाहते थे जितना 'विशेष-विवाह-कानून' वाले अपने को हिन्दुओं से काट लेने के लिए तैयार थे।

'आर्य-विवाह-कानून' का मुख्य रूप यह है—''चाहे हिन्दू कानून प्रथा अथवा रियाज कुछ ही हो, आर्यसमाजी पुरुष और स्त्री का कोई विवाह, जो इस कानून बनने से पूर्व अथवा पीछे आर्यसमाज की विधि से सम्पन्न हुआ हो, फिर ये पुरुष और स्त्री भिन्न-भिन्न जाति के ही क्यों न हों, या विवाह से पूर्व वे किसी अहिन्दू-धर्म के माननेवाले हों, नियम-विरुद्ध नहीं माना जायेगा।''

आर्यसमाजियों के लिए तो १९३७ में 'आर्य-विवाह-कानून' बन गया, परन्तु जो हिन्दू जात-पात तोड़कर विवाह करना चाहते थे और आर्यसमाजी भी नहीं थे, उनके लिए क्या हुआ? उनके लिए पहले-पहल १९४६ में 'हिन्दू-विवाह-निर्योग्यता निवारण-कानून' (Hindu Marriage Disabilities Removal Act, १९४६) बना, इसका लक्ष्य सिर्फ हिन्दुओं की उप-जातियों में जहाँ विवाह नहीं हो सकता था, उस विवाह को वैधानिक रूप देना था, हिन्दू किसी भी जाति में विवाह कर सके—यह नहीं था। सबसे पहले मैसुर में १९४८ में अन्तर्जातीय-विवाहों को वैध करने का कानून बना। इसके बाद १९४९ में भारत के समस्त-हिन्दुओं के लिए हर जाति, उप-जाति में विवाह को वैध करार देने का 'हिन्दू-विवाह-वैधीकरण-कानून—१९४९' (Hindu Marriages Validating Act, १९४९) बना जिसके अनुसार हर धर्म, जाति, उप-जाति में हिन्दुओं में विवाह हो सकते हैं। इन सब कानूनों के बनने से हिन्दुओं के अन्तर्जातीय-विवाहों में कानूनी रुकावट कोई नहीं रही।

१९५५ का 'हिन्दू-विवाह-कानून' (Hindu Marriage Act, १९५५) अधिक व्यापक कानून है। हिन्दू-सामाजिक-सङ्गठन पर इसका बहुत गहरा असर है। इसने अन्तर्विवाह तथा अन्य सभी प्रकार की हिन्दुओं की विवाह-सम्बन्धी समस्याओं को हल कर दिया है।

२. बहिर्विवाह—गोत्र, प्रवर, सपिंड में विवाह का 'निषेध'

हिन्दुओं में जिस प्रकार जाति के अन्दर विवाह का विधान है, उसी प्रकार अपने गोत्र, अपने प्रवर तथा अपने सपिंड में विवाह का निषेध है। जाति के अन्दर विवाह करने को 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं, गोत्र, प्रवर और सपिंड के बाहर विवाह करने को 'बहिर्विवाह' (Exogamy) कहते हैं। गोत्र प्रवर तथा सपिंड का क्या अर्थ है?

(१) गोत्र में विवाह करने का निषेध—भारतीय-साहित्य के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वसिष्ठ और कश्यप ऋषियों की सन्तान गोत्र कही गई है।[१] इन सात में अगस्त्य की सन्तान को भी गोत्र कहा गया है। ये गोत्र पहले तो ७-८ ही थे, परन्तु आगे चलकर इनकी संख्या हजारों-लाखों तक पहुँच गई।[२] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि किसी परिवार का जो आदि-प्रवर्त्तक था,

---

१. **तेषां सप्तर्षीणाम् अगस्त्याष्टमानां यदपत्यं तद्गोत्रमित्युच्यते।**

—सत्याषाढ हिण्यकेशी श्रौतसूत्र

विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽ गोतमः।
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते गोत्रकारकाः.।

२. **चतुर्विंशति गोत्राणि। ऊनपंचाशद् गोत्रभेदाः। गोत्राणि तृ शतानि अनन्तानि**

जिस महापुरुष से परिवार चला था, उसका नाम परिवार का गोत्र था और उस परिवार के जो स्त्री-पुरुष थे, वे आपस में भाई-बहन समझे जाते थे और क्योंकि भाई-बहन की शादी अनुचित प्रतीत होती है,इसलिए एक गोत्र के लड़के-लड़की का विवाह वर्जित था।

गोत्र के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य तथा बौधायन का कथन है कि इनकी संख्या आठ न होकर हजारों है, परन्तु एक वंश-परम्परा में खानदान का जो कोई प्रसिद्ध व्यक्ति हुआ, चाहे वह आदिकाल में हुआ, चाहे बीच केकाल में हुआ, उसके नाम से गोत्र चल पड़ा।[१] इस दृष्टि से भी गोत्र का अभिप्राय अपने खानदान के ही किसी व्यक्ति से प्रतीत होता है।

गोत्र के सम्बन्ध में जो परम्परा चली आती है उससे भी यह प्रतीत होता है कि इसका खानदान के किसी आदिकालीन महापुरुष से सम्बन्ध है। जिन लोगों का आदि-पुरुष एक रहा हो वे आपस में एक-दूसरे के लड़के-लड़की को भाई-बहन समझते थे और इसलिए उनका आपस का विवाह निषिद्ध था। यह किसी प्रकार का रक्त का सम्बन्ध न था, बहुत दूर की किसी पीढ़ी का, इतनी दूर की पीढ़ी का कि इसे 'शारीरिक-सम्बन्ध' (Physical relation) कहने के स्थान में 'भावनात्मक-सम्बन्ध' (Emotional relation) मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। आजकल के युग में ऐसे कल्पनात्मक-सम्बन्ध के आधार पर विवाह का निषेध करना अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि इस आधार पर तो सारा मानव-समाज एक परिवार है, अगर सब लोग आठ ऋषियों की सन्तान हैं तो ये आठ ऋषि भी तो किसी एक ऋषि की ही सन्तान होंगे। इसलिए सगोत्र-विवाह का निषेध पहले कभी सार्थक रहा होगा, आज के युग में जब वंश-परम्परा का सिलसिला बहुत आगे निकल गया है, यह निषेध निरर्थक निषेध रह गया है। वर्त्तमान-अवस्था में सगोत्र-विवाह का निषेध लगभग ऐसा है जैसे कई लोग अपने गाँव कीलड़की से शादी नहीं करते। गाँव के सब लोग सम्बन्धी समझे जाते हैं।

(२) प्रवर में विवाह करने का निषेध—जैसे गोत्र ऋषियों के नाम हैं, वैसे प्रवर भी ऋषियों के ही नाम हैं। 'प्रवर'-शब्द 'वृञ् वरणे' धातु से बना है। इसका अर्थ हुआ—'चुन लेना'। 'प्र' का अर्थ है—'विशेष तौर पर'। जिसे खास तौर पर प्रार्थना के लिए यज्ञ में चुन लिया जाए, उसे 'प्रवर' कहते हैं। श्री पाण्डुरंग वामन काणे का कथन है कि यज्ञ करते समय पुरोहित कुछ प्रसिद्ध, यशस्वी ऋषियों को चुनकर उनके नाम से यज्ञ में आहुति देता था और प्रार्थना करता था कि मैं अग्नि में वैसे ही आहुति देता हूँ जैसे भृगु ने दी थी, जैसे अंगिरा ने दी थी, शुचि ने दी थी, और्व ने दी थी। ये प्राचीन ऋषि अनेक ऋषियों में से चुन लिये जाने के कारण 'प्रवर'

१. **'वंशपरम्परा-प्रसिद्धं गोत्रम्'**—याज्ञवल्क्यः।

कहलाने लगे। पुरोहित ने जिन ऋषियों को चुन लिया वे पुरोहित के 'प्रवर' हुए, और क्योंकि यजमान यज्ञ के लिए पुरोहित को चुनता है इसलिए पुरोहित के 'प्रवर' ही यजमान के भी 'प्रवर' समझे जाने लगे। इस प्रकार पुरोहित के तथा यजमान के 'प्रवर' एक ही हो गये और एक प्रवर के लोगों में विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध समझा गया, इसलिए निषिद्ध समझा गया, क्योंकि एक ही प्रवर के लोग आपस में भाई-बहन के समान हैं। श्री काणे का अर्थ कथन है कि गोत्र तथा प्रवर दोनों प्राचीन ऋषियों के नाम हैं। गोत्र अर्वाचीन आठ ऋषियों के नाम हैं, उन ऋषियों के जिनसे आजकल की वंश-परम्परा चल रही है, प्रवर इन अर्वाचीन आठ ऋषियों के भी प्राचीन वंश-प्रवर्त्तकों के नाम हैं। जिस आधार पर गोत्र में विवाह करना वर्जित है, उसी आधार पर प्रवर में विवाह करना वर्जित है, परन्तु अगर गोत्र के प्रवर्त्तक ऋषियों को हजारों साल बीत गये तो प्रवरों के प्रवर्त्तकों को तो उससे भी ज्यादा समय बीता होगा, इस दृष्टि से अगर गोत्र में विवाह का निषेध निरर्थक है, तो प्रवर में विवाह का निषेध तो उससे भी अधिक निरर्थक है।

हिन्दू-समाज में १९४६ तक सगोत्र-विवाह अवैध समझे जाते थे। १९४६ में 'सगोत्र-विवाह-वैधता-कानून' के पास हो जाने के बाद सगोत्र-विवाह वैध हो गये।

(३) सपिंड में विवाह करने का निषेध—जिस प्रकार अपने गोत्र तथा प्रवर में विवाह करने का हिन्दू-समाज में निषेध है, इसी प्रकार अपने सपिंड में विवाह करने का भी हिन्दू-समाज में निषेध है।[१] सपिंड का क्या अर्थ है? 'सपिंड'-शब्द के तीन अर्थ बताये जाते हैं। हिन्दू-कानून की दो प्रणालियाँ हैं—दायभाग तथा मिताक्षरा। दायभाग-प्रणाली के अनुसार 'पिंड' का अर्थ है श्राद्ध के समय पितरों को अर्पित किया जाने वाला चावलों का गोला। जो लोग एक ही पितर को पिण्ड अर्पण कर सकें वे आपस में 'सपिंड' कहलाते हैं। एक ही पिता, पितामह की सन्तान अपने पितरों को श्राद्ध के समय पिंड अर्पण करते हैं इसलिए वे 'सपिंड' हैं। मिताक्षरा-प्रणाली के अनुसार याज्ञवल्क्य-स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर का कथन है कि 'सपिंड' का अर्थ एक ही पिंड या एक ही शरीर वाला। पिता और पुत्र सपिंड हैं क्योंकि पिता का रक्त ही पुत्र में आता है। दादा-परदादा भी हमारे सपिंड हैं क्योंकि उनके रक्त से ही तो हमारा शरीर बना है। सपिंड का अर्थ है—'एक ही रक्त के लोग' (Consanguineous)। सपिंड का तीसरा अर्थ श्री दफ्तरी ने किया है। उनका कथन है कि सपिंड लोग वे होते हैं, जो साथ-साथ पिंड अर्थात् भोजन करते हैं। उदाहरणार्थ, भाई-बहन तो साथ-साथ भोजन करते ही हैं, भाई-बहन की सन्तानें नहीं, क्योंकि

---

१. **असपिंडा च या मातुः असमोत्रा च या पितुः।**
सा प्रशस्ता द्विजातीनाम् दारकर्मणि मैथुने॥ —मनुस्मृति

ये सन्तान तो बहुत देर बाद पैदा होती हैं।

समान गोत्र तथा समान प्रवर में विवाह न करने का विधान तो 'भावनात्मक' (Emotional) है, परन्तु सपिंड में विवाह न करने का विधान 'भावनात्मक' के साथ-साथ 'प्रजननिक' (Eugenic) भी है। यह तो सब-कोई जानते हैं कि अति परिचय में प्रेम नहीं रहता, इसलिए भावनात्मक-दृष्टि से भाई-बहन की शादी वर्जित है, परन्तु यह भी ठीक है कि एक ही समान रुधिर की सन्तान में उत्कृष्टता नहीं आती, भिन्न रुधिर में उत्कृष्टता आती है। इस दृष्टि से, समान गोत्र तथा प्रवर में विवाह का निषेध 'भावनात्मक-दृष्टि' से असंगत रहा होगा, परन्तु सपिंड-विवाह का निषेध तो इन दोनों दृष्टियों से संगत है और इसीलिए हिन्दू-विवाह-व्यवस्था में इस प्रकार के विवाह का निषेध है।

सपिंड में कौन-कौन आ जाते हैं? मिताक्षरा के अनुसार पीढ़ियों को गिनते हुए 'सामान्य-पूर्व-पुरुष' (Common ancestor) को भी इस गणना में गिनना चाहिए और वर तथा वधू इन दोनों के माता और पिता की पीढ़ियों को देखना चाहिए। पूर्व-पुरुष को छोड़ दिया जाए, तो माता की ओर से पाँच-पीढ़ियों में विवाह नहीं हो सकता, पूर्व-पुरुष को भी इस गणना में ले लिया जाए तो माता की ओर से छः पीढ़ियों में विवाह नहीं हो सकता। यदि गणना पिता की ओर से की जाए तो पिता से सातवीं पीढ़ी के बाद विवाह हो सकता है, आठवीं में, नौवीं में, इससे उरे विवाह नहीं हो सकता, परे हो सकता है। अपने रुधिर वालों में विवाह न करने के इस नियम का तो 'प्रजननिक-दृष्टि' (Eugenic point of view) से कुछ आधार है, गौत्र तथा प्रवर में विवाह न करने का कोई 'प्रजननिक-आधार' नहीं है।

तो क्या हिन्दू-समाज में 'सपिंड-विवाह' (Consanguineous marriages) होते ही नहीं रहे? यह बात नहीं है। हिन्दू-समाज में 'सपिंड-विवाह' होते रहे हैं। उदाहरणार्थ, अर्जुन ने सुभद्रा से विवाह किया। सुभद्रा अर्जुन के मामा की लड़की थी और इससे वीर अभिमन्यु उत्पन्न हुआ। अर्जुन और सुभद्रा का विवाह ममरे भाई-बहन (Maternal Cross Cousins) का विवाह था। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी से विवाह किया, वह भी उनके मामा की लड़की थी। श्रीकृष्ण के लड़के प्रद्युम्न ने अपने मामा की लड़की रुक्मावती से विवाह किया, श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध ने अपने मामा की लड़की रोचना से विवाह किया, परीक्षित ने अपने मामा की लड़की इन्द्रावती से विवाह किया, श्रीकृष्ण ने अपने पिता की बहन की लड़की, अर्थात् फुफेरी बहन (Paternal Cross Cousin) मित्रविन्दा तथा भद्रा से विवाह किया, सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) ने अपने मामा की लड़की यशोधरा से विवाह किया, पृथ्वीराज चौहान ने अपनी माँ की बहन की पोती संयुक्ता से विवाह किया। दक्षिण भारत में मामा की

लड़की से विवाह करने की प्रथा है। कर्नाटक तथा मैसूर के ब्राह्मणों में भी यह प्रथा है। मद्रास की वेलम जाति में अपनी भाँजी से और तेलगू तथा तामिल जिलों मे शूद्रों तथा ब्राह्मणों में अपनी साली की लड़की से विवाह हो जाता है। सम्भव है, दक्षिण में सपिंड-विवाह होने का कारण 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) की प्रथा हो। मुसलमानों में निकट के रिश्तेदारों में विवाह होता है।

यह सबकुछ होते हुए भी एक ही रक्त के सम्बन्धियों में विवाह हितकर नहीं है। ऋषि दयानन्द ने संस्कारविधि में निरुक्त (३.४) का उद्धरण देते हुए लिखा है—'**दुहिता दुर्हिता दूरे हिता भवति**'—अर्थात् कन्या को '**दुहिता**' कहा ही इसलिये जाता है, क्योंकि दूर विवाह में ही उसका हित है। दूर का अर्थ है—दूर देश में, तथा अपने निकट के सम्बन्धियों में न होकर दूर के लोगों में। संस्कार-विधि में लिखा है कि जब तक दूरस्थ कुल के साथ सम्बन्ध नहीं होता तबतक शरीर आदि की पुष्टि भी पूर्ण नहीं होती। यह बात प्रजनन-विज्ञान (Science of Eugenics) द्वारा पुष्ट पायी गई है।

३. अन्तर्विवाही तथा बहिर्विवाही प्रथा के दोष

अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह के सम्बन्ध में हिन्दू-समाज में जो नियम बने हुए हैं उनकी कभी आवश्यकता रही होगी, परन्तु वर्त्तमान-काल में तो ये प्रथाएँ समाज के लिए हितकर सिद्ध नहीं हो रही। इन प्रथाओं के जो दोष हैं, वे निम्न हैं—

(१) विवाह का क्षेत्र सीमित हो जाना—अन्तर्विवाह ही करने के कारण जाति के अन्दर ही विवाह हो सकता है, जाति के बाहर नहीं। इससे विवाह का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है, बहिर्विवाह न करने के कारण जाति के भीतर भी अपने गोत्र में, अपने प्रवर में, अपने सपिंड में विवाह नहीं हो सकता। इससे पहले से संकुचित विवाह का क्षेत्र और अधिक संकुचित और सीमित हो जाता है। श्रीयुत् ब्लंट ने १९११ की उत्तर-प्रदेश की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट में लिखा है कि पिता की सात और माता की पाँच पीढ़ियों में विवाह के निषेध से २,१२१ लड़कियाँ हिन्दू के लिए विवाह में वर्जित हो जाती हैं। हिन्दुओं की तुलना में ईसाइयों में केवल ३० सम्भाव्य सम्बन्धियों का निषेध बनता है। इस सबका परिणाम हिन्दू-समाज के लिए हितकर नहीं हो रहा। विवाह के लिए लड़के-लड़की ढूँढ़ना एक समस्या हो जाती है।

(२) दहेज की प्रथा का चल पड़ना—विवाह के क्षेत्र के इतना अधिक सीमित हो जाने का परिणाम यह होता है कि लड़कियों को वर नहीं मिलते, जो मिलते भी हैं, वे भारी दहेज माँगने लगते हैं। कई जातियों में तो लड़के की पढ़ाई का सारा खर्च लड़की के बाप को देना पड़ता है, लड़की के माँ-बाप कर्जा उठा कर

उसकी शादी करते हैं और उसके लालची सास-ससुर रुपया खींचने के लिए उसे जन्म भर तंग करते रहते हैं। दहेज को नाजायज या गैर-कानूनी करार कर देने पर भी इन प्रथाओं के कारण लुके-छिपे दहेज जारी रह सकता है।

(३) बेमेल-विवाह या आजन्म कुँवारीपन—अन्तर्विवाही तथा बहिर्विवाही प्रथाओं का एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि अपनी जात में योग्य वर न मिलने के कारण लड़की के माता-पिता किसी बूढ़े के गले लड़की को मढ़ देते हैं, या लड़की बिना विवाह के घर बैठी जन्म काट देती है। विवाह न करने से समाज में जो दुष्परिणाम होते हैं वे भी समाज को भुगतने पड़ते हैं।

४. विवाह के सम्बन्ध में नवीन विचारधारा

विवाह के सम्बन्ध में अब हमारे समाज में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं—इसकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं। इन परिवर्तनों का प्रचलित-विवाह के रूप पर विशेष प्रभाव पड़ रहा है। इस प्रभाव को समझने के लिये 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' की जानकारी का हर-किसी को होना आवश्यक है। नीचे हम इसी के सम्बन्ध में चर्चा करेंगे—

[हिन्दू-विवाह-अधिनियम १९५५]

(१) सुधार की माँग—हमने देखा कि हिन्दू-विवाह में क्या-क्या प्रथाएँ रही हैं। हमने यह भी देखा कि इन प्रथाओं से हिन्दू-समाज को किन दुष्परिणामों को भोगना पड़ता है। कहीं गोत्र तथा प्रवर में विवाह नहीं कर सकते, कहीं सपिंड में विवाह का निषेध है, कहीं अनुलोम की रुकावट, कहीं प्रतिलोम की रुकावट कहीं जाति की रुकावट। इन सब बातों के खिलाफ समय-समय पर आन्दोलन होते रहे, भिन्न-भिन्न कानून बनते रहे, परन्तु इन सब कानूनों से शिक्षित तथा प्रगतिगामी हिन्दू-समाज की सब माँगे पूरी नहीं हुईं।

(२) राव कमेटी—इस सबका यह परिणाम हुआ कि १९४१ में स्वर्गीय श्री बेनेगल नरसिंह राव की अध्यक्षता में राव-कमेटी बनायी गई जिसे आदेश दिया गया कि वह हिन्दू-कोड बनाने की वाँछनीयता पर रिपोर्ट करे। राव-कमेटी ने हिन्दू-कानून में सुधार की सिफारिश की और विवाह तथा उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में जो संशोधन होने चाहिएँ, वे तैयार भी किये, और 'ड्राफ्ट-हिन्दू-कोड' (Draft Hindu Code) के कुछ अंश तैयार करके केन्द्रीय-असेम्बली में प्रस्तुत किये। राव-कमेटी का काम तो समाप्त हो गया, परन्तु इन प्रस्तावों के सामने आने पर असेम्बली ने आदेश दिया कि कुछ अंश नहीं, सम्पूर्ण-हिन्दू-कोड तैयार करके उसे पेश किया जाए।

(३) हिन्दू-कोड-बिल—सम्पूर्ण-हिन्दू-कोड को तैयार करने के लिए १९४४ में राव-कमेटी को फिर पुनरुज्जीवित किया गया। इसने राव-कमेटी के 'ड्राफ्ट

हिन्दू-कोड' में कुछ सुधार करके 'हिन्दू-कोड-बिल' को ११ अप्रैल १९४७ को उस समय के विधि-मन्त्री डॉ० अम्बेदकर के द्वारा भारत की राज्य-व्यवस्थापिका-सभा (Constituent Assembly) में रखा। इस विधेयक के राज्य-व्यवस्थापिका-सभा में रखने पर देश भर में एक खलबली मच गई। कोई कहता कि अब रोज-रोज तलाक हुआ करेंगे, कोई कहता कि लड़कियों को लड़कों के बराबर सम्पत्ति का बँटवारा होगा और बाई-बहिन के झगड़े हुआ करेंगे। १९५१ में भारत-सरकार ने यह देख कर कि देश इस प्रस्ताव को ठीक इसी ढंग से लेने को तैयार नहीं दीखता, इसे वापस ले लिया और बाद को इस विधेयक को चार खण्डों में विभाजित कर दिया। अब यह इन चार खण्डों में पास हो चुका है। इस विधेयक की मुख्य-मुख्य बातें हैं—विवाह तथा तलाक, उत्तराधिकार तथा अवयस्क का संरक्षण। तलाक, उत्तराधिकार आदि पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे। विवाह के सम्बन्ध में जो नवीन परिवर्त्तन हुए हैं, उन्हीं को यहाँ लिखना प्रसंगगत होगा।

(४) हिन्दू-विवाह-अधिनियम, १९५५—हिन्दू-कोड-बिल के परिणाम-स्वरूप १९५५ में विवाह का जो कानून बना उसके मुख्य तौर पर दो भाग हैं। एक भाग का सम्बन्ध तलाक से तथा तलाक-जैसी बातों से है। उसकी चर्चा हम यहाँ नहीं करेंगे। दूसरे भाग का सम्बन्ध विवाह से है। उसी की चर्चा हम यहाँ करेंगे। विवाह-सम्बन्धी हिन्दू-विवाह-अधिनियम की मुख्य-मुख्य शर्तें निम्न हैं।

[हिन्दू-विवाह-अधिनियम १९५५ की मुख्य शर्तें]

(क) विवाह के समय किसी भी पक्ष की पत्नी या पति जीवित न होने चाहिएँ।

(ख) दोनों पक्षों में से कोई विकृत-मस्तिष्क या पागल न होना चाहिए।

(ग) वर १८ तथा वधू १५ वर्ष पूरे कर चुके होने चाहिएँ। अब यह आयु बढ़ा कर वर की २१ तथा वधू की १८ कर दी गई है।

(घ) दोनों पक्ष निषेधात्मक-सम्बन्धों की श्रेणी में न आते हों, अगर इन पक्षों की कोई प्रथा जिसके द्वारा ये नियन्त्रित होते हों, इस प्रकार के सम्बन्ध की आज्ञा देती हो तो अपवाद हो सकता है।

(ङ) दोनों पक्ष एक-दूसरे के सपिंड न हों। सपिंड के विषय में स्मृतिकारों में मत-भेद रहा है। मनु पिता की ओर से ७ और माता की ओर से भी ७ पीढ़ियों में विवाह का निषेध करता है, विष्णु तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में पिता की ७ और माता की ५ तथा वशिष्ठ स्मृति में पिता की ओर की ६ तथा माता की ओर की ४ पीढ़ियों को सपिंड कहा गया है और इनमें विवाह वर्जित है। अब जो १९५५ को हिन्दू-विवाह-अधिनियम बना उसमें पिता की ५ तथा माता की ३ पीढ़ियों को सपिंड कहा

गया है और इन्हीं में विवाह वर्जित है, इनके बाहर की पीढ़ियों में नहीं।

(च) विवाह किसी भी पक्ष के रीति-रिवाजों के अनुसार हो सकता है, परन्तु अगर विवाह में सप्तपदी की प्रथा हो तो सप्तपदी का अन्तिम पद उठा चुकने के बाद विवाह पूरा समझा जाएगा।

(छ) अगर कोई अपने विवाह का कानूनी प्रमाण लेना चाहे, तो राज्य-सरकारें अपने-अपने राज्यों में इन विवाहों को रजिस्टर्ड करने की व्यवस्था कर सकती हैं। अगर कोई राज्य-सरकार अपने प्रदेश में इस प्रकार की आवश्यक व्यवस्था करना चाहे तो वह वैसा भी कर सकती है और तब जो व्यक्ति विवाह को रजिस्टर्ड नहीं करायेगा उस पर २५ रुपए तक जुर्माना हो सकता है और कुछ नहीं।

(५) हिन्दू-विवाह-अधिनियम, १९५५ का हिन्दू-समाज पर प्रभाव—अभी हमने हिन्दू-विवाह-अधिनियम की रूप-रेखा दी। इस अधिनियम का यह आधा भाग ही है, अगला आधा भाग तलाक आदि से सम्बन्ध रखता है। इस अधिनियम के परिणामों पर विचार करते हुए हमें तलाक-सम्बन्धी आधे भाग को भी ध्यान में रखना होगा। तलाक की आज्ञा किन्हीं खास अवस्थाओं में ही दी गई है, तलाक इतना आसान नहीं बना दिया गया जितना जानकारी न रखने वाले लोग कहा करते हैं। उदाहरणार्थ, व्यभिचार, धर्म-परिवर्त्तन, पागलपन, कुष्ठ-रोग, यौन-रोग, संन्यास, सात वर्ष तक लापता होना आदि हालतों में तलाक की व्यवस्था है। इस सारे 'हिन्दू-विवाह-अधिनियम' का हिन्दू-समाज पर निम्न प्रभाव है—

[हिन्दू-विवाह-अधिनियम का प्रभाव]

(क) अन्तर्जातीय-विवाह—इस कानून में जाति या धर्म के आधार पर विवाह की व्यवस्था नहीं की गई। 'हिन्दू' की परिभाषा करते हुए बौद्ध, जैन, सिक्ख—सब को हिन्दू कहा गया है। ये सब आपस में विवाह कर सकते हैं। इस दृष्टि से यह कानून अन्तर्जातीय तथा अन्तर्धर्म विवाहों की दिशा में एक कदम है। अन्तर्धर्म में मुसलमान तथा ईसाई आदि नहीं आते, बौद्ध, जैन तथा सिक्ख ही आते हैं।

(ख) बहु-पत्नी-विवाह-निषेध तथा एक-विवाह का विधान—इस कानून के जारी होने बाद से कोई हिन्दू दूसरी पत्नी से विवाह नहीं कर सकता, करेगा तो वह विवाह अवैध समझा जायेगा। इस कानून के अनुसार अब हिन्दुओं में एक-विवाह-प्रथा का सूत्रपात हुआ है। जो बहु-पत्नी-विवाह करेगा वह भारतीय-दण्ड-विधान की धारा ४९४ तथा ४९५ के अनुसार दण्डनीय होगा।

(ग) गोत्र तथा प्रवर में विवाह—हिन्दू-सामाजिक-विधान के अनुसार गोत्र तथा प्रवर में विवाह नहीं होता था। इस कानून के बन जाने के बाद यह प्रतिबन्ध उठ

गया है।

(घ) अनुलोम तथा प्रतिलोम की समाप्ति—इस अधिनियम के अनुसार अब अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाहों का कोई बन्धन नहीं रहा, क्योंकि प्रत्येक हिन्दू हिन्दू-मात्र में बिना किसी रुकावट के विवाह कर सकता है।

(ङ) सपिंड विवाह की सीमा—अभी तक सपिंड-विवाह के निषेध की सीमा पिता से सात तथा माता से पाँच पीढ़ियों तक की थी। इस कानून के अनुसार यह सीमा कर कर दी गई है। इस सीमा को पिता की ओर से पाँच तथा माता की ओर से तीन पीढ़ियों तक कर दिया गया है। इससे एक हिन्दू के विवाह का क्षेत्र कुछ बढ़ा है।

(च) विशेष अवस्थाओं में तलाक—जैसा हम लिख आये हैं इस कानून के दूसरे भाग में विशेष-विशेष अवस्थाओं में तलाक की भी आज्ञा है। अगर दोनों में से कोई व्यभिचारी हो, धर्म-परिवर्तन कर ले, पागल हो, असाध्य कुष्ठ अथवा यौन-रोग से पीड़ित हो, गृहस्थ त्याग कर संन्यास ले ले, सात वर्ष से लापता हो, तो ऐसी हालत में तलाक की आज्ञा दे दी गई है। इस आज्ञा का प्रभाव यह अवश्य है कि जो गृहस्थ इन संकटों में आजन्म फँसे रहने वाले थे, वे इनसे मुक्त हो सकते हैं।

५. क्या हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित हो रही है ?

हमने देखा कि हिन्दुओं के विवाह की जितनी कुप्रथाएँ थीं उन्हें दूर करने के लिए कानूनी-व्यवस्था हो रही है। अब जाति, गोत्र, प्रवर, सपिंड, अनुलोम-प्रतिलोम सब की नींवें हिल गई हैं, तलाक का भी विशेष अवस्थाओं में अधिकार दे दिया गया है। तो क्या इस सबसे हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित हो जायेगी ?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू-विवाह का अब तक का जो रूप था वह अब वैसे-का-वैसा बना नहीं रह सकता। इसमें वर्त्तमान-युग की नवीन विचार-धारा के अनुसार परिवर्त्तन होगा। इस परिवर्त्तन से हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित हो जायेगी—यह कहना तो भ्रमात्मक विचार होगा, हाँ, हिन्दू-विवाह के सम्बन्ध में अब पुराने दकियानूनी विचार नहीं रहेंगे। अबतक हिन्दू-विवाह की निम्न विशेषताएँ थीं।

(क) अब तक विवाह को आवश्यक माना जाता था और यह समझा जाता था कि बिना विवाह के पितरों का उद्धार नहीं हो सकता, पुत्र ही माता-पिता को नरक से तार सकता है।

(ख) विवाह में गोत्र, प्रवर, पिंड, जाति—इन चार का ध्यान रखा जाता था। गोत्र, प्रवर और सपिंड में विवाह नहीं हो सकता था, जाति में ही विवाह हो सकता था।

(ग) एक पुरुष अनेक पत्नियों से विवाह कर सकता था।

(घ) विधवा-विवाह को बुरा समझा जाता था।

इन बातों को हिन्दू-समाज में प्रथा के तौर पर, स्मृति-पुराण-शास्त्र आदि के आदेश के तौर पर, बिना ननु-नच के माना जाता था, परन्तु अब स्त्री-समाज में जो जागृति उत्पन्न हो गई है, पुरुषों में भी इन बातों के विषय में जो चिन्तन प्रारम्भ हो गया है, उसका यह नतीजा स्वाभाविक है कि अब शिक्षित स्त्री-पुरुष इन बातों को मानने के लिए तैयार नहीं है और इसी कारण नये-नये कानून बन गये हैं, वे कानून जिनका हम उल्लेख कर आये हैं।

इस नवीन विचार-धारा के दो परिणाम हिन्दू-समाज पर हो रहे हैं। पहला प्रभाव तो यह है कि विवाह को अब उतना अनिवार्य नहीं माना जा रहा जितना पहले पितरों को नरक से बचाने के लिए माना जाता था, दूसरा प्रभाव यह हो रहा है कि हिन्दू-विवाह का रूप बदलता जा रहा है, बहु-विवाह समाप्त हो रहा है, गोत्र आदि विवाह के बन्धन टूटते जा रहे हैं। इन सबसे हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित नहीं हो रही, अपितु इसका स्वरूप बदलता जा रहा है। ये दोनों बातें हिन्दू-विवाह की संस्था को किस प्रकार प्रभावित कर रही हैं?

(क) विवाह को अब हिन्दुओं में अनिवार्य धार्मिक-कर्त्तव्य नहीं समझा जा रहा—हम पहले लिख आये हैं कि हिन्दुओं में विवाह एक अनिवार्य धार्मिक-कर्त्तव्य माना जाता रहा है। अविवाहित रहने को धर्महीनता समझा जाता रहा है। जरत्कारु को, जो आजन्म ब्रह्मचारी था, अपने पितरों का उद्धार करने के लिए विवाह करना पड़ा। कुणिगर्ग की कन्या के बिना विवाह किये अपने तप के बल पर स्वर्ग जाना चाहा, परन्तु नारद ने उसे कहा कि अविवाहिता कन्या स्वर्ग नहीं जा सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे अपने तप का आधा अंश शृंगवान् को देकर उससे विवाह करना पड़ा, तब जाकर वह स्वर्ग की अधिकारिणी हो सकी। अब सुधारवादी नवीन-विचारों के प्रभाव के कारण कोई युवक पितरों को तर्पण देने की बात मानने को तैयार नहीं होता, न यह मानने को तैयार होता है कि स्वर्ग के लिए विवाह करना जरूरी है। लोग स्वर्ग को ही नहीं मानते, फिर स्वर्ग के लिए विवाह की बात को क्या मानेंगे? कोई समय था जब संयुक्त-परिवार की प्रथा के कारण विवाहित दम्पती को अपना आर्थिक भार नहीं उठाना पड़ता था, परिवार ही उनकी आर्थिक-समस्या को हल करता रहता था। आज युग बदल गया है, सबको अपना-अपना बोझ उठाना पड़ता है। इन परिस्थितियों में कोई विवाह को अनिवार्य मानने को तैयार नहीं। नवयुवक जबतक अपने पैरों पर न खड़े हो जाएँ तबतक वे विवाह का नाम नहीं सुनना चाहते, न माता-पिता उनका विवाह करना चाहते हैं। बदली हुई परिस्थितियों का हिन्दू-विवाह-प्रथा पर यह प्रभाव पड़ा रहा है।

(ख) हिन्दू-विवाह का रूप बदलता जा रहा है परन्तु विगठित नहीं हो रहा—नये युग की नई बातों के कारण हिन्दू-विवाह का रूप भी बदलता जा रहा है। जिन बातों का हम ऊपर जिक्र कर आये हैं, उनके कारण कोई हिन्दू एक से अधिक पत्नी से विवाह नहीं कर सकता, एक-पत्नी-विवाह अब बहु-पत्नी विवाह का स्थान लेता जा रहा है, धीरे-धीरे जात-पात से भी लोग तंग आते जा रहे हैं, जहाँ पहले-कभी विवाह में और किसी बात को नहीं देखा जाता था, सिर्फ जाति को देखा जाता था, वहाँ अब कम-से-कम धनी-सम्पन्न वर्ग में अन्य सब बातें अनुकूल होने पर जाति को विवाह में बाधक मानने की प्रवृत्ति कम होती जा रही है, कानून इसमें सहायक हो रहे हैं। गोत्र आदि के झगड़े को भी समाप्त किया जा रहा है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि हिन्दू-विवाह-प्रथा अब पहले-जैसी रहनेवाली नहीं है, इसमें परिवर्तन आ रहा है, परन्तु इस परिवर्तन को विगठन न कहकर विवाह की प्रथा का संशोधन कहना अधिक उपयुक्त है।

६. हिन्दू-विवाह-संस्था को प्रेम-विवाह विगठित कर सकता है

हिन्दू-विवाह की संस्था पर दो तरफ से आक्रमण हुए हैं। एक आक्रमण तो सुधारकों की तरफ से प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध हुआ है। जाति में ही विवाह करना, जाति से बाहर न करना, गोत्र आदि को विवाह में छोड़ देना, इन सब प्राचीन रूढ़ियों पर सुधारवादियों ने आक्रमण किया और इन प्रथाओं के विरुद्ध कानून बने। इन प्रथाओं के विरुद्ध दूसरा आक्रमण सुधारवादियों ने तो नहीं किया, नव-युवकों ने किया, उन नव-युवकों ने जो विवाह का आधार-भूत तत्त्व प्रेम को मानने लगे। इन लोगों का कहना था कि विवाह का आधार स्मृतिकारों के कानून न होकर प्रेम की आवाज होनी चाहिए। प्रेम किसी प्रकार के बन्धन को नहीं मानता। जाति, धर्म, गोत्र, प्रवर, पिंड—ये सब तिनके प्रेम सम्मुख हवा में उड़ जाते हैं।

जहाँ तक सुधारवादियों का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो हिन्दू-विवाह संस्था में हितकर परिवर्तन ही हुआ है, उससे जड़-रूढ़ियाँ समाप्त हुई हैं, परन्तु जहाँ तक नयी हवा के प्रेम-पंथियों और प्रेम-विवाह करनेवालों का सम्बन्ध है—इसमें सन्देह नहीं कि अगर उनकी बन आयी तो हिन्दू-विवाह की संस्था अवश्य विगठित होकर रहेगी।

प्रेम-विवाह विवाह की संस्था को किस प्रकार विगठित कर रहा है—इसे समझने के लिए प्रेम-विवाह के रूप को समझ लेना पर्याप्त है। प्रेम-विवाह क्या है और यह कैसे विवाह की संस्था को विगठित कर रहा है ?

(क) प्रथम-दृष्टि में प्रेम—प्रेम-विवाह का आधार-भूत तत्त्व है 'प्रथम दृष्टि

में प्रेम' (Love at first sight)। एक युवक है, वह एक षोडश-वर्षीया युवति को देखता है, उससे उसका पहले कोई परिचय नहीं है, परन्तु उस पर आँख पड़ते ही वह अपने को खो बैठता है, उसके लिए आहें भरने लगता है, समझता है कि उसके बिना वह जिंदा नहीं रह सकता। ऐसा युवक और ऐसी युवति माता-पिता की परवाह नहीं करते, परिवार की, एक दूसरे की स्थिति की—किसी बात की परवाह न करके, समाज के सब बन्धनों को तोड़ कर वे विवाह कर लेते हैं। विवाह करने के कुछ देर बाद वे देखने लगते हैं कि जिन आँखों के समुद्र में वे डूबते रहे थे, जिन्हें दैवीय-सौन्दर्य का अथाह सागर समझते थे, वे आँखें दैवीय न होकर मानवीय हैं, उनमें गीद भी आता है, उनमें किसी प्रकार का दैवीयपना नहीं है। कुछ दिनों एक-दूसरे के साथ रह कर उन्हें अनुभव होने लगता है कि जैसे वे एक-दूसरे के बिना नहीं रह सकते थे, वैसे स्वभाव-भेद के कारण वे अब एक-दूसरे के साथ नहीं रह सकते। विवाह के प्रति जितना उनका आकर्षण था उतनी ही विवाह के प्रति उनमें घृणा पैदा हो जाती है। इस प्रकार का प्रेम विवाह की संस्था को विगठित कर रहा है और क्योंकि हिन्दुओं में भी ऐसे प्रेम-विवाह होने लगे हैं इसलिए नवयुवक-हिन्दू भी इसके दुष्परिणामों के शिकार हुए बिना रह नहीं सकते।

(ख) भावना की प्रधानता—प्रेम-विवाह में मनुष्य भावनामय जीवन बिताने लगता है। प्रेम तो है ही एक भावना का नाम। आज के युग में जब सब काम मशीनों के जरिये होने लगे हैं, समय की बचत हो रही है, मनुष्य के पास समय बहुत काफी है। इस समय में हमारे युवक-युवति सिनेमा देखते हैं, उपन्यास-नाटक पढ़ते हैं, भावनामय जीवन बिताते हैं। खाली समय में भावनामय जीवन बिताने का परिणाम यह होता है कि भावना का बीज और अधिक सींचा जाता है और यह भावना का जीवन प्रबलता धारण करता जाता है। परन्तु मनुष्य भावनामय जीवन कब तक बिता सकता है ? रहना तो इस वास्तविक-जगत् में ही है। भावना का जीवन एक नशे का जीवन है, बेहोशी का जीवन है, परन्तु इस नशे, इस बेहोशी में तो संसार के कारोबार नहीं चल सकते। हर समय प्रेम-प्रेम की मुहारनी कब तक जपी जा सकती है। नशा चढ़ता है तो नशा उतरता भी तो है, प्रेम आता है तो जाता भी है। भावना सदा बनी नहीं रह सकती। भावना का स्वरूप ही यह है कि कभी वह उच्च शिखर पर पहुँचती है, तो कभी वह बिल्कुल नीचे आ जाती है। मनुष्य रोता ही रहे, रोता ही रहे—ऐसा तो नहीं होता। इसी प्रकार मनुष्य प्रेम में ही पगा रहे, प्रेम में ही पगा रहे—ऐसा भी नहीं हो सकता। प्रेम का नशा जब उतर जाता है, तब इस नशे में बाँधे हुए सपने भी टूट जाते हैं। इन सपनों के टूटने का परिणाम तलाक है, विवाह विच्छेद है। हिन्दू-विवाह-व्यवस्था में प्रेम-विवाह के कारण जो व्यक्ति प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने लगते हैं वे अपने जीवन में ही कुछ देर बाद अनुभव कर लेते हैं कि इस प्रकार का

प्रेम-विवाह विवाह की संस्था को ही छिन्न-भिन्न कर देता है।

'प्रेम-विवाह' (Love marriage) तथा 'दाम्पत्य-प्रेम' (Conjugal Love) में भेद है।'प्रेम-विवाह' में प्रेम की प्रधानता है, विवाह उसका परिणाम है, 'दाम्पत्य-प्रेम' में विवाह की प्रधानता है, प्रेम उसका परिणाम है।'प्रेम-विवाह' में प्रेम न रहे तो विवाह टूट जाता है, 'दाम्पत्य-विवाह' में एक-साथ रहने से प्रेम धीरे-धीरे बढ़ता है, इसमें विवाह-विच्छेद की सम्भावना कम होती है।'प्रेम-विवाह' भावना पर टिका हुआ है, 'दाम्पत्य-प्रेम' जीवन की यथार्थता पर टिका हुआ है। इस दृष्टि से 'प्रेम-विवाह' का सहज परिणाम तलाक हो जाता है, 'दाम्पत्य-प्रेम' का सहज परिणाम विवाह की संस्था को चिरस्थायी बना देना हो जाता है।

हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि 'प्रेम-विवाह' होना ही नहीं चाहिए या हिन्दू-विवाह-व्यवस्था में प्रेम-विवाह को कोई स्थान नहीं। ऐसी बात नहीं है। हिन्दुओं की विवाह-प्रथाओं में गान्धर्व-विवाह का वर्णन हम पहले कर आये हैं। गान्धर्व-विवाह प्रेम-विवाह के सिवाय क्या है? वात्स्यायन मुनि ने अपने ग्रन्थ काम-शास्त्र में गान्धर्व-विवाह को विवाह का आदर्श स्वरूप माना है। स्वयंवर-विवाह क्या है? स्वयंवर में कन्या को वर चुनने की पूरी स्वतन्त्रता थी। लड़के-लड़की को एक-दूसरे को चुनने की पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए—प्रेम-विवाह की यह भावना हिन्दू-समाज में रूढ़िवादी युग में भी थी, आज भी है।'विशेष-विवाह-कानून' आदि अधिनियम इसी दृष्टि से बनाये गये हैं। हमारा कहना यह नहीं है कि विवाह के पहले लड़के-लड़की को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने देने से, एक-दूसरे को जानने का अवसर देने से हिन्दू-विवाह की संस्था विगठित हो जायेगी। यह सबकुछ तो आज के युग में आवश्यक है, और हिन्दू-विवाह-व्यवस्था में इसका विधान है। यह सबकुछ माता-पिता की देख-रेख में, उनके तत्त्वावधान में भी हो सकता है। हमारा कहना इतना ही है कि विवाह में सिर्फ प्रेम को एक और अखण्ड तत्त्व समझकर, माता-पिता-समाज-रिवाज-प्रथा हर बात की अवहेलना करके विवाह करने की प्रवृत्ति विवाह की संस्था को अवश्य विगठित कर सकती है।

विवाह संस्कार

[विवेचनात्मक भाग (घ)]

[विवाह का वैदिक-आदर्श]

१. मनुष्य-जीवन का महत्त्व

भारत के ग्रामीण लोगों की मजलिस में बैठकर वहाँ की चर्चाओं को सुना जाए, तो उनमें कई रहस्यमय गुर सुनाई पड़ते हैं। वे लोग अक्सर कहा करते हैं कि मनुष्य-जीवन ८४ लाख योनियों के बाद मिलता है। एक अंधे का दृष्टान्त दिया जाता है, जो ८४ लाख दरवाजों वाले मकान के भीतर उसकी दीवार के साथ-साथ रास्ता टटोल रहा है, इनमें से केवल एक कोठरी का दरवाजा खुला है, जिसमें से बाहर निकला जा सकता है, बाकी सब दरवाजे बन्द हैं, परन्तु जब वह अंधा हाथ से टटोलता-टटोलता खुले दरवाजे के समीप पहुँचता है, तो उसे खुजली उठती है और वह आगे निकल जाता है और फिर ८४ लाख दरवाजों को खटखटाने के फेर में पड़ जाता है। जिन लोगों ने हमारे समाज में ऐसे कथानकों को एक-एक झोपड़े तक पहुँचाया था, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उन्होंने जीवन को एक खिलवाड़ नहीं समझा था, इसे एक समस्या समझा था और खास कर मनुष्य-जीवन को तो बड़ी विषम समस्या समझा था। उनका कहना था कि मनुष्य की योनि बड़ी दुर्लभ है, इसे पाकर उसके साथ खिलवाड़ करना मूर्खता की पराकाष्ठा है।

मनुष्य-जीवन को इतना दुर्लभ मानने वालों की दृष्टि उन लोगों की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न होगी, जो जीवन को एक आकस्मिक घटना-मात्र समझते हैं, इसे पाँच तत्त्वों के पुतले के सिवा और कुछ नहीं समझते। मनुष्य-जीवन यदि भिन्न-भिन्न जन्म जन्मान्तरों की शृंखला में केवल एक कड़ी है और यदि इस कड़ी की मजबूती पर सारी जंजीर का मजबूत होना निर्भर है, तो इस जीवन को प्राप्त होते ही एक-एक क्षण अमूल्य हो जाता है। इसमें खाये हुए एक भी पल का परिणाम फिर से ८४ लाख योनियों में भटकना हो सकता है। परन्तु इसके विपरीत, यदि यह जीवन एक आकस्मिक घटना है, तो इसका मूल्य एक अद्‌भुत खिलौने से अधिक नहीं रहता। एक गुड़िया को देखकर हम खुश होते हैं और ऐसे लोगों की नजरों में मनुष्य का शरीर एक चलने-फिरने-बोलने वाली ५-६ फीट की गुड़िया है और कुछ नहीं। इसलिए जीवन पर उथला विचार करने वाला, उसे आकस्मिक घटना-मात्र समझनेवाला व्यक्ति दुःख में पड़कर आत्मघात कर लेना अनुचित नहीं समझता। युरोप में खुदकशी की तादाद दिनों-दिन बढ़ती जा रही है, परन्तु ८४ लाख योनियों के फेर में पड़ने से डरने वाला भारतवासी भूख से तड़पता हुआ, सर्दी से व्याकुल होता हुआ और

बीमारी से छटपटाता हुआ भी आत्मघात करने की नहीं सोच सकता। नहीं तो इस देश की तो ऐसी अवस्था है कि ६० करोड़ में से ३० करोड़ कभी के आत्मघात कर चुके होते। '**असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः**' (यजु० ४०,३)—आत्मघात कर इस जन्म के दुःख से बचने का प्रयत्न करनेवाला अगले जन्म में इससे भी भयङ्कर दुःख भोगता है, यह प्राचीन ऋषियों का मन्तव्य है।

उक्त कथन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि प्राचीन-काल के ऋषि मानव-जीवन को एक विशाल समस्या समझते थे और उनके हल करने में उन्होंने अपने ऊँचे-से-ऊँचे विचारक लगा दिये थे। मानव-जीवन की समस्या का उन्होंने जो हल किया था, उसी को आधार बनाकर यहाँ के समाज की रचना की गई थी। उन्होंने जीवन को सफल बनाने के लिए जीवन का एक आदर्श निर्धारित किया था, जिसके अनुसार इस देश में उत्पन्न हुआ प्रत्येक व्यक्ति आचरण करता था।

२. वह आदर्श क्या था?

यदि जीवन सचमुच एक समस्या है, अचानक या आकस्मिक घटना नहीं, तो इस समस्या का हल अवश्य होना चाहिए, इसे एक खिलवाड़ की चीज नहीं समझना चाहिए। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इस समस्या का हल जीवन को एक निश्चित आदर्श में बाँध कर किया था। वह आदर्श क्या था? यजुर्वेद (४०,६) में कहा है—'**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति**'—जो व्यक्ति सब आत्माओं को अपने अन्दर देखता है और अपने को सब में देखता है, वह संदेहों से ऊपर उठ जाता है, निश्चयात्मक जीवन व्यतीत करता है। अपने को अपने अन्दर देखने वाले तो सब हैं, दूसरे में अपनापन अनुभव करना जीवन का एक विलक्षण, विरला, वैदिक आदर्श है। मनुष्य की अन्तरात्मा का विकास इसी को कहते हैं। आज हमारे शहरों की गलियों में सैकड़ों लोग भूखे, नंगे, कराहते फिरते हैं, परन्तु क्या उनके दुःख को देखकर किसी के हृदय में कराहना उठती है, क्या कोई उनकी तड़पन को अनुभव करता है, क्या कोई यह अनुभव करता है कि वे भी उसी मानव-समाज के अंग हैं जिसके हम अपने को अंग समझते हैं। यदि सचमुच किसी के हृदय में ये भाव उठते हैं तो उसकी आत्मा विकसित है, वह अपने आदर्श की तरफ जा रहा है, नहीं तो धन-धान्य से समृद्ध होने पर भी हम उस पत्थर के समान हैं, जिस पर हजारों प्राणियों का प्रतिदिन वध होता है, परन्तु आत्मा न होने के कारण उसका एक आँसू भी नहीं निकलता! ऋषि दयानन्द की आत्मा विकसित थी, क्योंकि वे अपने को जहर देनेवालों पर रहम की नजर फेंक सकते थे। गाँधी की आत्मा उच्चकोटि की थी क्योंकि वह दूसरों में अपनेपन को भूल सकते थे। जो आत्मा प्राणि-मात्र के हृदय के स्पन्दन को अपने भीतर अनुभव

कर सकता है, वह बड़ा है, महान् है, विकसित है और वह जीवन के वैदिक उच्च आदर्श तक पहुँच चुका है, क्योंकि यजुर्वेद (३६,१८) की घोषणा है—**'मित्रस्य त्वा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्'; 'यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'**—यजु० (४०,७)। जीवन का आदर्श दूसरे के बोझ को अपने हाथों से अपने कंधों पर लेना है, दूसरे के आँसुओं को अपने आँसुओं में बहा देना है, दूसरे के घाव को अपने हृदय के मरहम से चंगा करना है। जीवन को खिलवाड़ समझने वाला व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, परन्तु मनुष्य-जीवन को एक अमूल्य देन समझनेवाला व्यक्ति ऐसा किये बगैर रह नहीं सकता। इसीमें आत्मा की उन्नति है, आत्मा का विकास है और इसी में आत्मा अपने लक्ष्य को, अपने आदर्श को पाता है।

३. आदर्श की क्रियात्मकता

प्रश्न हो सकता है कि इस आदर्श को जीवन में क्रियात्मक रूप देने के लिए भारतीय ऋषियों ने क्या उपाय सोचा था? इसका उत्तर ऋग्वेद (९,१०,१) में इस प्रकार दिया है—**'चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरवर्धत'**—सोम चारों भुवनों या आश्रमों को **'अन्या निर्णिजे'**—'और-ही-कुछ बना देता है'—उनमें जान डाल देता है। अथर्व० (१४,१,६०) में इसी प्रश्न का उत्तर यों दिया है—**'भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्यायुष्पलानि'**—'हर वस्तु को भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त करनेवाले ने जीवन को आयु के चार भागों में विभक्त कर दिया है'। शतपथ (१४कां०) में उन चार भागों का विस्तार करते हुए कहा है—**'ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्।'**—मनुष्य-जीवन के आदर्श को क्रियात्मक बनाने का तरीका यह है कि 'पहले ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करे, ब्रह्मचर्य के उपरान्त गृहस्थ, बाद को वानप्रस्थ और फिर संन्यास-आश्रम में प्रवेश करे'। आत्मा के अपने आदर्श तक पहुँचने का, उसके पूर्ण रूप से विकसित होने का यही उपाय है। ब्रह्मचर्यावस्था 'स्व' से प्रारम्भ होती है। यह 'स्व' या अपना आत्मा ही तो आगामी आनेवाले विकास का आधार है, इसलिए ऋषियों ने इस 'स्व' की आधार-शिला को दृढ़ बनाने के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम का विधान किया है। इस आश्रम में 'स्व' के या 'अपने' सिवा और कुछ नहीं दिखाई पड़ता। ब्रह्मचारी अपने ईर्द-गिर्द घूमता है, वह अपने शरीर की, अपने मन की और अपने आत्मा की उन्नति करता है, अपने से बाहर उसे देखने को नहीं कहा गया। परन्तु जब वह अपने 'स्व' को दृढ़ बना चुका तब उसे अपने आत्मा को अधिक विकसित करने को कहा जाता है और वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्यावस्था में मनुष्य की दृष्टि केवल अपने तक सीमित थी, परन्तु गृहस्थावस्था में वह अपने 'स्व' के अन्दर दूसरों को शामिल करने का पाठ सीखता है। ब्रह्मचर्य-आश्रम में मनुष्य की

दृष्टि अपने ही ऊपर रहती है, परन्तु गृहस्थ-आश्रम में माता-पिता अपनी दृष्टि को अपने ऊपर से उठा कर कम-से-कम अपनी सन्तानों तक तो विस्तृत कर ही देते हैं। वे खुद भूखे रह सकते हैं, परन्तु अपनी सन्तानों को भूखा नहीं देख सकते, खुद काँटों से लहूलुहान हो सकते हैं, परन्तु अपने बच्चे की अँगुली में एक काँटा भी चुभता हुआ नहीं देख सकते। त्याग के जीवन की पराकाष्ठा गृहस्थ में है, परन्तु जीवन का वैदिक-आदर्श गृहस्थ तक रुक नहीं जाता। गृहस्थ तो आत्मा के '**सर्वभूतहिते रतः**' के क्रमिक-विकास में एक सीढ़ी-मात्र है, एक मञ्जिल है, एक स्टेज है। जीवन का असली उद्देश्य तो आत्मा का ऐसा विकास है, जिसमें वह अपने को ही नहीं, अपनी पत्नी को ही नहीं, अपने बाल-बच्चों को ही नहीं, परन्तु प्राणिमात्र को अपना समझने लगता है, विश्वात्मा में अपनी आत्मा को ओत-प्रोत कर देता है, घुला-मिला देता है—'**योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि**'—का अनुभव करने लगता है, दूसरों के आत्मा में अपने आत्मा का प्रत्यक्ष करता है। ऐसे विकास का, ऐसे उदय का, सीमित, छोटा रूप गृहस्थाश्रम में दिखलाई देता है। परन्तु यहीं पर रुक जाना, यहीं पर ठहर जाना और आगे कदम न रखना वैदिक-आदर्श के विपरीत है। तभी गृहस्थ को एक 'आश्रम' कहा गया है। आश्रम का अर्थ है—एक मञ्जिल, एक स्टेज। गृहस्थाश्रम आत्मिक-जीवन के विकास में एक सीढ़ी है, एक मञ्जिल है और यात्री को अभी इससे बहुत आगे चलना है। अभी तो माता-पिता तथा सन्तानों में—'स्व' की, एकता की, ममता की, अहंत्व की अनुभूति हुई है, इस छोटे-से समूह में '**एकत्वमनुपश्यतः**' की भावना का उदय हुआ है, परन्तु जीवन का उद्देश्य प्राणिमात्र में एकता के सूत्र को पिरो देना है। तभी तो वैदिक-आदर्श के अनुसार—'**गृही भूत्वा वनी भवेत्**'—गृहस्थाश्रम में आत्मा का जितना विकास हो सकता है, उतना करके वानप्रस्थी हो जाए—यह कहा है। आज हम पैदा होते ही गृहस्थाश्रम की सोचने लगते हैं और जब तक चार कंधों पर चढ़कर 'राम-नाम-सत्य है' की गूँज में श्मशान नहीं पहुँच जाते, तब तक गृहस्थाश्रम के ही कीड़े बने रहते हैं। इससे ज्यादा गृहस्थाश्रम की दुर्गति क्या हो सकती है! प्राचीन-आदर्श के अनुसार गृहस्थाश्रम तो आत्मा के विकास के लिए एक खास हद तक, एक खास सीमा तक आवश्यक है। उसके बाद गृहस्थाश्रम फँसे रहना आत्मा का सर्वनाश करना है। वानप्रस्थी गृहस्थाश्रम से गुजर चुका है, उसने दूसरों को अपना समझने का पाठ २५ साल तक सीखा है, अब वह अपने बच्चों की तरह दूसरों के बच्चों को भी अपना समझने लगता है। वह जंगल में बैठ जाता है। उसके पास गाँव के, शहर के बालक पढ़ने को आते हैं। वह सबको अपना समझ कर पढ़ाता है और सब में अपने आत्मा को देखता है, सब में अपनापन अनुभव करता है। इस अभ्यास के बाद संन्यास-आश्रम है। संन्यास में वह सबको—प्राणिमात्र को—अपना समझने लगता

है। उसका लगाव सबसे एक-समान हो जाता है। जीवन का सर्वोत्तम आदर्श यही है। इसे प्राचीन-आर्य आश्रम-व्यवस्था कहा करते थे। ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास तक पहुँचते-पहुँचते जहाँ पहले उसकी दृष्टि अपने तक सीमित थी, वहाँ वह अपने से हटकर दूसरों तक फैलती जाती है। यहाँ तक कि चारों आश्रमों में से गुजर कर खुदी मिट जाती है और खुदी ही बाकी रह जाती है। फर्क इतना है कि पहले खुदी खुद तक महदूद थी और अब खुदी खुदा तक पहुँच जाती है। शायद इसी ऊँचे अनुभव को किसी मस्ताने ने—'**अहं ब्रह्मास्मि**'—के उद्गार से प्रकट किया था जिसका अर्थ था—मैं क्षुद्र नहीं, महान् हूँ।

४. गृहस्थाश्रम का वैदिक-आदर्श 'ब्रह्मचर्य' था

हमने विवाह के वैदिक-आदर्श पर कुछ लिखने से पहले 'जीवन के प्राचीन-आदर्श' पर शायद कुछ जरूरत से ज्यादा लिख दिया है, परन्तु गृहस्थी का आदर्श तो जीवन ही के आदर्श की पूर्ति में एक साधन-मात्र है, गृहस्थी का आदर्श जीवन के आदर्श का केवल एक-चौथाई हिस्सा है, इसलिए यह स्पष्ट है कि हमारे सम्मुख जीवन का आदर्श जितना स्पष्ट होगा, गृहस्थी का आदर्श उसी मात्रा में स्वयं स्पष्ट हो जायेगा, इसलिए 'विवाह के आदर्श' पर विचार करते हुए हमने 'जीवन के आदर्श' पर इतना विचार किया है।

गृहस्थाश्रम में अपनेपन का केन्द्र अपने से हिल कर दूसरों में जाना प्रारम्भ करता है, स्वार्थ का अंश पर्दे की ओट में होने लगता है और उसकी जगह परार्थ का भाव सामने आने लगता है, अतः यह बड़ी जिम्मेदारी का आश्रम है। जिसने पहले अपने केन्द्र को अपने अन्दर नहीं पहचाना, उसे अपने अन्दर दृढ़ नहीं बनाया, अपनी ही उन्नति नहीं की, वह दूसरों का क्या ख्याल कर सकता है। इसलिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पहले, 'परार्थ' को 'स्वार्थ' बनाने से पहले, ऋषियों ने ब्रह्मचर्याश्रम का विधान किया है। इस आश्रम में अपनी पूर्ण रूप से उन्नति करना अभीष्ट है। जिस व्यक्ति ने अपने शरीर, मन तथा आत्मा की उन्नति कर ली है, वह इस उन्नति को दूसरों की उन्नति के लिए आधार बना सकता है। यही कारण है कि ऋषियों ने अब्रह्मचारी या अब्रह्मचारिणी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं दिया। मनु० (३,२) ने कहा है—'**अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत**'—'जिसके ब्रह्मचर्य का भंग न हुआ हो, वही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे'। कन्या के विषय में भी अथर्व० (११,५,१८) का वचन है—'**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**'। इसी भाव को (ऋक् १०.८५.४०) में यों कहा है—''**सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविध उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः। सोमोऽददद् गन्धर्वाय गन्धर्वोऽददग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमान्**''। पहले कन्या '**सोम**' के पास रहती है। सोम का अर्थ है '**वीरुधां पतिः**'—'वनस्पतियों का

राजा'। अर्थात्, फल आदि के उत्तम आहार से कन्या का शरीर पुष्ट होता है। तदनन्तर कन्या '**गंधर्व**' को दे दी जाती है। गंधर्व को काम गाना-बजाना है। शरीर पुष्ट होने पर कन्या गाना-बजाना सीखती है, उसका मानसिक-विकास होता है। मानसिक-विकास हो जाने के बाद वह '**अग्नि**' के सुपुर्द होती है, उसके शरीर में उष्णता उत्पन्न होती है। इसके बाद वह '**पुरुष**' से विवाह दी जाती है। कैसा स्वाभाविक तथा स्पष्ट वर्णन है। यह हमारे प्राचीन ऋषियों का शारदा-ऐक्ट है। इस मन्त्र का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि कन्या का विवाह पकी हुई आयु में होना चाहिए, उससे पूर्व नहीं। हमारे देश में जो कच्ची आयु में कन्याओं का विवाह होता रहा है, वह वैदिक-आदर्श के सर्वथा विपरीत है। वैदिक-आदर्श तो यह है कि जो गृहस्थ होना चाहे, वह पहले अपने ब्रह्मचारी होने का प्रमाण-पत्र पेश करे और जो ऐसा प्रमाण-पत्र न दे सके, उसके साथ कोई पिता अपनी पुत्री का विवाह न करे। आज अखबारों में इश्तिहार निकलते हैं—'लड़का चाहिए जो २५०० महीना कमाता हो, विलायत से लौटा हो।' यदि वैदिक-काल में अखबार होते, और उनमें भी इश्तिहार निकलते होते, तो उनमें लिखा होता—'एक ब्रह्मचारी चाहिए' और यदि उस समय भी विलायत ऐसा ही होता, जैसा आज है, तो इश्तिहार में साफ लिखा होता है कि 'विलायत से लौटा हुआ नहीं होना चाहिए।' आज जो लड़का बिगड़ने लगता है, माता-पिता उसका जल्दी विवाह कर देते हैं। परन्तु वैदिक-आदर्श के अनुसार जो लड़का बिगड़ने लगे, उसके विवाह की कोई आशा नहीं रहती, उसे विवाह का कोई अधिकार नहीं रहता। बिगड़े हुए इन्सान को अपने-जैसी बिगड़ी हुई सन्तानें उत्पन्न करके समाज को गंदा करने का कोई अधिकार नहीं है। जिस आदर्श के अनुसार अब्रह्मचारी चाहे २५ वर्ष का भी क्यों न हो शादी भी नहीं कर सकता, उसके अनुसार लठिया टेककर चलने वाला बुड्ढा शादी कैसे कर सकता है? वैदिक-आदर्श के अनुसार केवल ब्रह्मचारी विवाह का अधिकार है, दूसरा नहीं।

५. विवाह में 'प्रेम'—स्वयंवर की प्रथा

विवाह पकी हुई आयु में होना चाहिए, ब्रह्मचारी का ही होना चाहिए, अब्रह्मचारी का नहीं होना चाहिए—यह हमने देख लिया। परन्तु विवाह कैसे हो? क्या विवाह के मामले में लड़के-लड़की की भी कुछ सुनी जानी चाहिए, या यह ऐसा मामूली काम है कि इसे एक अपढ़ नाई के भरोसे ही छोड़ा जा सकता है? वैदिक-साहित्य में इस विषय में दृढ़ तथा निश्चित आदेश पाया जाता है। ऋग्वेद (७ अ०, ७ वर्ग, १७ मं० १२ मन्त्र) में लिखा है—'**कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्**'—'वधू की इच्छा करनेवाले किस पुरुष की स्त्री प्रेम करनेवाली होगी?'—इस प्रश्न को स्वयं

उठाकर ऋग्वेद उत्तर देता है—**(सुपेशाः)** सुन्दर रूप वाली वह वधू अच्छी है जो **(जने चित्)** अनेक जनों में से **(मित्रं स्वयं वनुते)** अपने मित्र को स्वयं चुनती है। इस मन्त्र में स्त्री के लिए अपने पति को स्वयं चुनने का विधान है, इसीको **'स्वयंवर'** कहते हैं। आज हमारे समाज में लड़का अनेक लड़कियों में से एक लड़की को चुनता है, परन्तु प्राचीन वैदिक-आदर्श इससे ठीक उल्टा है। चुनने का अधिकार लड़के को नहीं, लड़की को दिया गया है।

आजकल के ज्यादा-से-ज्यादा सुधरे हुए आदर्श के अनुसार भी चुनने का अधिकार लड़के को ही प्राप्त है और कहीं-कहीं स्वीकृति लड़की से भी ले ली जाती है। परन्तु प्राचीन वैदिक-आदर्श के अनुसार चुनने का अधिकार लड़की को प्राप्त था, स्वीकृति लड़के की भी होती थी। तभी तो लड़की के घर बहुत-से विवाहेच्छु जाते थे और उनमें से किसी एक के गले में वर-माल डाली जाती थी। दमयन्ती के स्वयंवर में दूर-दूर से राजकुमार आए थे, सीता के स्वयंवर में भी रामचन्द्र राजा जनक के यहाँ अपनी परीक्षा देने पहुँचे थे। द्रौपदी का स्वयंवर भी ऐसा ही था। उसीका अवशेष आज भी बचा हुआ है। वर वधू के घर पर चलकर आता है, और वधू के घर पर ही विवाह-संस्कार होता है। यह प्रथा स्वयंवर-प्रथा का ही टूटा-फूटा रूप है, परन्तु आज के स्वयंवर में लड़की नहीं चुनती, लड़का चुनता है। प्राचीन स्वयंवर-प्रथा की यह कैसी विडम्बना है!

प्राचीन वैदिक-आदर्श में विवाह होने से पहले स्त्री के एक बड़े भारी अधिकार को माना गया है। स्त्री को अधिकार है कि वह किसे अपनी भावी सन्तान का पिता बनाए या किसे न बनाए। यह छोटा-मोटा अधिकार नहीं है। इस अधिकार को पाकर ही स्त्री पति की आज्ञाकारिणी हो सकती है, नहीं तो डंडे के जोर पर तो आज्ञा चलती ही है। आज माता-पिता जिस लड़के से चाहते हैं, लड़की को बाँध देते हैं। क्या इस प्रकार बँधकर पति-पत्नी प्रेम के उस एकता के सूत्र का विस्तार कर सकते हैं, जिसके लिए गृहस्थाश्रम एक साधन-मात्र है? गृहस्थाश्रम तो अपने आत्मा को विकसित करने के लिए है, परार्थ को स्वार्थ बनाने के लिए है। परन्तु जहाँ प्रारम्भ में ही ठीक चुनाव नहीं हुआ, वहाँ जीवन की धारा शान्ति से कैसे बह सकती है, उसका विकास कैसे हो सकता है? इसलिए विवाह में चुनाव एक जरूरी चीज है। वेद के आदेश के अनुसार स्त्री अपने पति को चुनती है, वरती है। यह अधिकार पति को न देकर पत्नी को क्यों दिया गया है? क्योंकि गृहस्थाश्रम का वास्तविक बोझ तो पत्नी पर ही है। सन्तानोत्पत्ति का महान् कष्ट पत्नी को उठाना पड़ता है, अपनी स्वतन्त्र-सत्ता को पति में खोकर एक घर का केन्द्र बनकर पत्नी को बैठना है। खूँटे की तरह अविचल रूप से एक जगह उसीको गड़ जाना है। जब उस पर इतनी जिम्मेदारी है और उसके लिए उसको इतना त्याग करना है, तो चुनाव उस पर न

छोड़ा जाए, तो किस पर?

६. स्त्री-पुरुष का मैत्री-भाव

जब पति-पत्नी ने एक-दूसरे को स्वयं चुना है, तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध मित्रता के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कौन-सा हो सकता है? दोनों एक-दूसरे के सुख-दु:ख के 'साथी' हैं। इसलिए मन्त्र में '**मित्रं स्वयं वनुते**' का प्रयोग हुआ है। अर्थात्, स्त्री अपने 'मित्र' को स्वयं चुनती है। आजकल कितने पुरुष हैं, जो अपनी स्त्री को 'मित्र' कह सकें। गृह्यसूत्र में लिखा है—'**यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम, यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव**'—'जो तेरा हृदय है, वह मेरा हृदय हो जाए और जो मेरा हृदय है, वह तेरा हृदय हो जाए।' विवाह-संस्कार में '**सप्तपदी**' के समय—'**सखे सप्तपदी भव**'—यह पढ़ा जाता है, इसमें भी स्त्री को '**सखा**' कहा गया है। जैसा प्रारम्भ में कहा गया था—विवाह का उद्देश्य तो जीवन के आदर्श को पूर्ण करने के लिए एक साधनमात्र है। जीवन का आदर्श संसार के सब प्राणियों में अपनापन अनुभव करना है, मित्रता अनुभव करना है। इसलिए विवाह में भी पति-पत्नी में मित्रता, सखा-भाव जरूरी है, नहीं तो विवाह का एक प्रधान उद्देश्य पूरा ही नहीं हो सकता।

संसार में ज्ञात से अज्ञात की तरफ जाने का प्रयत्न होता है। जो कुछ हमारे पास है, जो कुछ हमें प्राप्त है, उसी के आधार पर जो कुछ हमारे पास नहीं है, हमें अप्राप्त है, उसे पाया जा सकता है। स्त्री-पुरुष में तो प्रेम स्वाभाविक है, उसके लिए कोई स्कूल पढ़ने नहीं जाता। परन्तु प्राणिमात्र के लिए प्रेम का पाठ तो सीखना ही पड़ता है, वह बैठे-बैठे नहीं आ जाता। स्त्री तथा पुरुष के इसी स्वाभाविक प्रेम को प्राणिमात्र तक ले जाने का, एक कठिन काम को आसान बनाने का प्रयत्न गृहस्थाश्रम द्वारा किया जाता है। परन्तु यदि पति-पत्नी में प्रारम्भ में ही सखा-भाव नहीं है, मैत्री नहीं है, नजदीकी नहीं है, तो यह आशा करना कि गृहस्थाश्रम ऐसे दम्पती की आत्मा का विकास करेगा या उसमें प्राणिमात्र के लिए प्रेम उत्पन्न करेगा, मूर्खता है। इसलिए विवाह के प्राचीन वैदिक-आदर्श में स्त्री-पुरुष का आपस में 'मैत्री-भाव' से खिंचे होना जरूरी है। इसी प्रेम का, इसी मैत्री-भाव का तो आगे विस्तार करना है। यह है ही नहीं, तो आगे विस्तार किस चीज का होगा? हम तो समझते हैं कि वैदिक-आदर्श की दृष्टि से वह विवाह विवाह ही नहीं, जिसमें स्त्री-पुरुष का आपस में मैत्री-भाव या सखा-भाव नहीं। विवाह में प्रेम ही तो एक तत्त्व है, जिसे संकुचित-क्षेत्र से निकालकर हम विस्तृत-क्षेत्र में विकसित करना चाहते हैं। जिस क्षेत्र में यह बीज ही नहीं पड़ा, वहाँ संसार के प्रति मैत्री-भाव का अंकुर कैसे फूट सकता है?

७. सन्तानोत्पत्ति

प्राचीन वैदिक-आदर्श दो आत्माओं के परस्पर विवाह-बंधन में जकड़ जाने पर ही समाप्त नहीं हो जाता। दो आत्मा अपने को एक सूत्र में इसलिए बाँधते हैं ताकि अन्य आत्माओं को भी इसी सूत्र में बाँध लिया जाए। इसीलिए विवाह का सबसे ऊँचा आदर्श सन्तानोत्पत्ति है। वेद में जहाँ भी स्त्री और पुरुष का इकट्ठा वर्णन आता है, वहाँ सन्तान का जिक्र अवश्य पाया जाता है। जब पति-पत्नी के सन्तान हो जाती है, तब दोनों सब कष्टों को अपने ऊपर लेकर बच्चे पर किसी तरह की आँच नहीं आने देना चाहते। माता-पिता एक विचित्र पाठशाला में शिक्षा पाने लगते हैं। ऐसी पाठशाला में, जिसमें बच्चा कहीं जाग न जाए, इसलिए माता रात-भर स्वयं जागकर उसे गोदी में लिए बैठी रहती है। बच्चे को कहीं सर्दी न लग जाए, इसलिए माता अपना सूखा बिछौना उसके नीचे करके स्वयं उसके पेशाब से गीले बिस्तर पर रात काट डालती है। वैदिक-आदर्श के अनुसार अपने बच्चों को इस प्रकार पालकर माता-पिता के आत्मा का ऐसा विकास हो सकता है, जिससे वे दुनिया-भर के बच्चों में अपने बच्चों की झलक देख सकें और अपने आत्मा के तंतु को प्राणिमात्र के मनकों में पिरो सकें। गृहस्थाश्रम इस ऊँचे आदर्श का पाठ पढ़ाने के लिए, उसका अनुभव कराने के लिए और इस अनुभव को माता-पिता की रग-रग में रचा देने के लिए पाठशाला है। तभी (ऋ० १०.११७.६) में कहा है—'**केवलाघो भवति केवलादि**'—'जो गृहस्थ दूसरे को खिलाकर नहीं खाता, वह पाप खाता है'। इसी को संस्कारविधि में पाँच महायज्ञों का वर्णन करते हुए '**बलिवैश्वदेव-यज्ञ**' तथा '**अतिथि-यज्ञ**' कहा गया है वैदिक-आदर्श के अनुसार मनुष्य खाने का तभी अधिकारी है, जब खुद खाने के पहिले दूसरे को खिला सके, जीने का तभी अधिकारी है, जब दूसरे के लिए अपने जीवन को खपा सके। यही पाठ गृहस्थ को अनुभव से सीखना है, अपने बच्चों की टोली में इस बात का अभ्यास करना है। आज तो यह पाठ पढ़ाया जाता है कि अपने जीवन के लिए दूसरे को हजम कर जाओ, परन्तु गृहस्थ का वैदिक-आदर्श यह है कि दूसरे के जीवन के लिए अपनी जान देने की जरूरत पड़े, तो उसे उठाकर फेंक दो। गृहस्थ ने इसी आदर्श को सीखने के लिए विवाह किया है, इसलिए हिन्दू-समाज में सन्तान न होने को एक महान् कष्ट समझा जाता है। गृहस्थ का वैदिक-आदर्श अपने से उत्तम सन्तान को जन्म देना है। जिसके सन्तान नहीं, उसे मालूम नहीं कि दूसरे के लिए किस प्रकार जगा करते हैं, दूसरे के लिए किस प्रकार काँटों पर चला करते हैं, दूसरे के लिए किस प्रकार सूखे चने चबाकर और पानी पीकर गुजारा किया करते हैं। हाँ, जो व्यक्ति बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये यह सबकुछ करने के लिए तैयार है, वैदिक-आदर्श के अनुसार उसके लिए विवाह का भी विधान नहीं है। उसके लिए तो

ब्राह्मण-ग्रन्थों में लिखा है—'**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्**'—जिस दिन उसमें ममता का भाव छूट जाए, सीमित-ममता के स्थान पर विशाल-ममता का भाव आ जाय, '**एकत्वमनुपश्यतः**' का साक्षात्कार हो जाए, उसी दिन भगवा रंगवा ले। परन्तु ऐसा सबके लिए सम्भव नहीं है। साधारण लोगों के लिए इस ऊँचे आदर्श को जीवन में सीखने का तरीका गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना ही है। वैदिक-आदर्श के अनुसार विवाह तभी सफल कहा जा सकता है, जब उसका फल सन्तान हो। पत्नी का लक्ष्य माता बनना, और पति का लक्ष्य पिता बनना है। जो पत्नी माता नहीं बनी और जो पति पिता नहीं बना, उसने गृहस्थाश्रम का '**सर्वभूतहिते रतः**' का पाठ नहीं सीखा।

८. सन्तान कैसी हो ?

वैदिक-आदर्श सन्तानोपत्पत्ति पर बल देता है, परन्तु सन्तान कैसी हो ? सन्तति-सुधार के विज्ञान का तो युरोप में अब प्रचार होने लगा है, वैदिक-विचार-परम्परा इस प्रकार के विचारों से भरी पड़ी है। जिनका यहाँ की विचार-धारा से साधारण-सा भी परिचय है, वे यह देखे बगैर तो रह नहीं सकते कि वैदिक-साहित्य में सन्तति-सुधार (Race-betterment) का विचार जगह-जगह भरा पड़ा है। वैदिक-आदर्श के अनुसार टूटी-फूटी सन्तान उत्पन्न करने की सख्त मनाही है। वेद में स्त्री को '**वीरसू**' कहा गया है, अर्थात् वीरों को उत्पन्न करनेवाली, कायरों और बुजदिलों को नहीं, युद्ध में छाती पर वार लेने वाली सन्तान को पैदा करनेवाली, पीठ पर नहीं। वेद का कोई मन्त्र ऐसा नहीं, जिसमें सन्तान का जिक्र तो हो और उसमें यह न कहा गया हो कि वह सौ साल तक जीने वाली हो, हृष्ट-पुष्ट हो, उत्तम विचारों वाली हो, माता-पिता से कहीं आगे बढ़ी हुई हो। एक जगह कहा है—

'तं माता दशमासान् बिभर्तु स जायतां वीरतमः स्वानाम्।'

दश मास के बाद जो पुत्र हो, वह—'**स्वानाम्**' अपने सब सम्बन्धियों में से '**वीरतमः जायताम्**'—वीरतम हो, अर्थात् सबसे अधिक वीर हो। संस्कृत से साधारण-सा परिचय रखनेवाले व्यक्ति ने भी यह सूक्ति सुनी होगी—

एकेनैव सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भया।
सहैव दशभिः पुत्रैः भारं वहति गर्दभी॥

शेरनी एक सुपुत्र ने निडर होकर आराम से सोती है और गधी दस पुत्र होने पर भी भार ढोती है।

सन्तानोत्पत्ति का आदर्श कुत्ते-बिल्लियों की तरह झोल-की-झोल पैदा कर देना नहीं है। वैदिक-आदर्श यह है कि पिछली पीढ़ी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुणों में जिस ऊँचाई पर खड़ी थी, अगली पीढ़ी उससे दस कदम आगे बढ़ी हुई हो और पिछलों से बहुत आगे निकल जाए। इस प्रकार हर-एक पीढ़ी

पिछली पीढ़ी से बहुत आगे निकलती जाए और हर-एक २५ साल के बाद मानव-समाज में एक आश्चर्यजनक उन्नति दिखलाई दे। आज अगली पीढ़ी पिछली से आगे बढ़ने के बजाय उससे दस कदम पीछे हटकर जन्म लेती है और पैदा होकर आगे बढ़ने के बजाय पीछे की तरफ बेतहाशा दौड़ लगाती है। जो हमारे माता-पिता के कद और शरीर थे, वे हमारे नहीं है और जो हमारे दादा-परदादा के शरीर थे, वे हमारे माता-पिता के नहीं हैं। यह दौड़ आगे को नहीं, पीछे को है। वैदिक-आदर्श ठीक इससे उल्टा है। वहाँ तो लिखा है—'**स्वानां वीरतमः जायताम्**'—अर्थात्, आनेवाली सन्तान इतनी वीर हो, जितनी पिछलों में से एक भी नहीं हुई। इसी प्रकार एक और मन्त्र में लिखा है—

'**अनूनः पूर्णो जायताम् अश्लोणोऽपिशाचधीतः**'

सन्तान '**अनून**' हो, उसमें कोई न्यूनता न हो, कमी न हो, और '**पूर्ण**' हो। इतना ही नहीं कि उसमें कोई कमी न हो, प्रत्युत् वह सब बातों में पूर्ण हो। साथ ही वह '**अपिशाचधीतः**' हो, अर्थात् वह पिशाच (बुरे विचारों) की सन्तान न हो। वेद के अनुसार विवाह का आदर्श स्त्री-पुरुषों की ऐसी श्रेणी को जन्म देना है, जो पिछलों की अपेक्षा '**वीरतम**' हो, '**अनून**' हो, '**पूर्ण**' हो, और '**पिशाच**'-विचारों से मुक्त हो, इसके विपरीत आज ऐसी सन्तानें उत्पन्न हो रही हैं, जो 'कायर-तम' हैं, 'न्यून' हैं, 'अपूर्ण' हैं, और 'पिशाच'-विचारों की हैं। आज बेसमझे-बूझे में सन्तानें गले पड़ जाती हैं, ऐसी सन्तानों का भविष्य क्या हो सकता है। संस्कारविधि का मुख्य ध्येय संस्कारों द्वारा इस लक्ष्य को पूर्ण करना है।

९. घर में स्त्री की स्थिति

विवाह के बाद स्त्री की घर में क्या स्थिति होनी चाहिए इस पर भी वैदिक-साहित्य में प्रकाश डाला गया है। बहुत-कुछ होने पर भी आज स्त्री की घर में कोई स्थिति नहीं है। अब भी बहुत घरों में वह घर में रहती हुई भी मानो घर में नहीं है। परन्तु अर्वाचीन इतिहास को छोड़ दिया जाए, तो प्राचीन साहित्य में पर्दे को कोई स्थान नहीं है। जैसे पुरुष अपना मुँह खोलकर चल-फिर सकता है, वैसे स्त्री भी खुले मुँह विचरण करती है। वेद का कथन है—'**सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत**'—'यह मंगल करनेवाली वधू है, इसे आकर देखो।' पर्दे के जमाने में अगर कोई अपने मित्रों से कह बैठे कि मेरी स्त्री को आकर देखो, तो लोग उसका नाक में दम कर दें। हम इतने गंदे हो गए हैं कि वैदिक-साहित्य का यह ऊँचा भाव कि पति अपनी पत्नी का अपने मित्रों से परिचय कराए—हमारे गले के नीचे नहीं उतर सकता। वैदिक-आदर्श के अनुसार पति-पत्नी का तो विवाह से पहिले ही परिचय होना चाहिए। हमारा गंदा समाज यह समझता है कि किसी स्त्री का पति, पिता, पुत्र या भाई के सिवा किसी अन्य पुरुष से परिचय होगा तो जरूर गिरावट की आशंका

रहेगी, परन्तु वैदिक-आदर्श तो एक ऐसा समाज उत्पन्न करना चाहता है, जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों से और पुरुष स्त्रियों से ऐसे ही स्वतन्त्र रूप से मिल-जुल सकें, जैसे पुरुष पुरुषों से मिलते हैं, या स्त्रियाँ स्त्रियों से मिलती हैं। हमारी प्राचीन विचारधारा में स्त्री को घर में लाकर कोठरी में बन्द नहीं कर दिया जाता, वह पर्दे में कैद नहीं रहती। वह ऐसी ही स्वतन्त्र विचरती है जैसे समाज में पुरुष और इसके साथ उसके गिरने की कोई आशंका भी नहीं रहती। हमारी प्राचीन परम्परा में ऐसे ही समाज की कल्पना की गई है जो वर्त्तमान कल्पना के अनुकूल है, भेद इतना ही है कि आज दिनोंदिन स्त्रियों को जो स्वतन्त्रता मिल रही है उससे वे उच्छृंखल होती जा रही हैं, वैदिक-काल में स्त्रियों को जो स्वतन्त्रता थी उससे वे समाज को एक ऊँचे स्तर पर उठा ले जाती थीं।

यूरोप में स्त्री को पुरुष की 'उत्तमार्ध' (Better half) कहते हैं; परन्तु हमारे यहाँ उसे 'अर्धाङ्गिनी' (Equal half) कहा गया है। वहाँ उत्तमार्ध (Better half) होते हुए भी स्त्री की यह स्थिति है कि कन्या के विवाह के समय सारा कार्य लड़की का पिता अकेला करता है। वह न हो, तो लड़की का चाचा इस कार्य को कराने का अधिकारी है, परन्तु वैदिक-विवाह में कन्या के विवाह की विधि तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती, जबतक कन्या के पिता के साथ उसकी माता भी यज्ञ-वेदी पर नहीं बैठती। वैदिक-मर्यादा का कोई यज्ञ पूर्ण नहीं समझा जाता, जब तक यजमान और यजमान-पत्नी दोनों भाग न लें। जिन लोगों की मर्यादा किसी समय इतनी ऊँची रही हो, उनके यहाँ एक समय ऐसा आया जब लड़कियों की शिक्षा तक बन्द कर दी गई, यह समय का ही फेर था। वैदिक-आदर्श में स्त्रियों को स्त्री होने के कारण किसी बात की रुकावट नहीं थी। पुरुष तथा स्त्री, ऊँच तथा नीच, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, सबको राज्य की तरफ से अपनी योग्यता के विकास के लिए समान अवसर मिलना चाहिए, उन्नति का एक-जैसा तथा पूरा-पूरा मौका मिलना चाहिए, यह बात वैदिक विचारधारा की नींव में पड़ी है। यजु० २६.२ में कहा है—

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।'

वैदिक-साहित्य के अनुसार स्त्री को शिक्षा प्राप्त करने का पूरा-पूरा अधिकार है और उतना अधिकार है जितना पुरुष को। इसके सिवा उसे वे सब दूसरे अधिकार भी प्राप्त हैं जो पुरुष को हैं। वेद में स्त्री तथा पुरुष के अधिकारों में कोई भेद नहीं किया गया। ऋग्वेद (१०.१५९) में तो यहाँ तक कहा है—

'अहं केतुरहं मूर्धा अहमुग्रा विवाचनी।'

अर्थात्, मैं समाज को मार्ग दिखानेवाली पताका हूँ, मैं समाज का सिर हूँ, मैं बड़ा अच्छा विवाद करनेवाली वकील हूँ। इसी सूक्त में आगे कहा है—

'यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च।'

अर्थात्, मैं इन वीरों की राज्ञी हूँ, इस सेना की अधिनेत्री हूँ। एक स्त्री, जो विवाहित है, अपने विषय में कहती है (ऋग्वेद १०.१५९.३)—

'मम पुत्राः शत्रुहणः अथो मे दुहिता विराट्।'

अर्थात्, मेरे पुत्र शत्रुओं को मारनेवाले और मेरी लड़की प्रदीप्त ज्योतिवाली है।

इन मन्त्रों में विवाहिता स्त्री के समाज का मूर्धन्य होने, उसके वकील तथा सेनापति होने का वर्णन पाया जाता है। इसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि हमारा प्राचीन-साहित्य स्त्री के अधिकारों को पूरा-पूरा स्वीकार करता है। यह ठीक है कि ये अधिकार उसी स्त्री को प्राप्त होने चाहिएँ, जो अपने बाल-बच्चों के प्रति अपने कर्त्तव्य का भली प्रकार पालन कर रही हो, या जिसने बाल-बच्चों को पालने की कोई जिम्मेदारी अपने ऊपर न लीहो। बाल-बच्चों की देख-रेख खोकर किस स्त्री को इन कामों में हाथ डालने का अधिकार नहीं है। आज युरोप में स्त्रियाँ रोटी का टुकड़ा कमाने के लिए जीवन-संग्राम में जा पड़ी हैं, इससे उनका गृहस्थ-जीवन उजड़ गया है, क्योंकि गृहस्थी का चलाना और रोटी के लिए कश्मकश करना दोनों परस्पर विरोधी बातें हैं। वैदिक-आदर्श में उसी पुरुष को विवाह करने का अधिकार है, जो विवाह से पहले—'**ममेयमस्तु पोष्या**'—अर्थात्, मैं इसका भरण-पोषण करूँगा, इस बात का ऐलान कर सके, वह एक सभा में खड़ा होकर यह घोषणा कर सके कि वह पत्नी का और बाल-बच्चों का पालन-पोषण कर सकेगा। शायद युरोप में स्त्री को पुरुष का 'उत्तमार्ध' (Better half) इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह बाल-बच्चों की देख-रेख भी करती है और पुरुष के मुकाबले में रोटी भी कमा लाती है। वह खुद ही पुरुष से 'उत्तमार्ध' (Better half) हो गई। वैदिक-आदर्श के अनुसार तो वह 'अर्धाङ्गिनी' (Equal half) है। पुरुष रोटी कमा कर लाता है और स्त्री बाल-बच्चों की देख-रेख करती है—उन्होंने अपने काम का इस प्रकार बँटवारा कर रक्खा है। वैदिक-आदर्श के अनुसार स्त्री-पुरुष में एक-दूसरे से अच्छा-बुरा होने का कोई मौका नहीं है। दोनों का क्षेत्र अपना है। दोनों ने श्रम-विभाग के अनुसार रजामंदी से भिन्न-भिन्न क्षेत्र चुन लिए हैं। पुरुष के क्षेत्र में स्त्री दखल नहीं देती और स्त्री के क्षेत्र में पुरुष चुप रहता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में काम करें, तो वे दोनों एक-दूसरे से बढ़कर हैं, और इसलिए एक-दूसरे के बराबर हैं।

१०. पत्नी घर की सम्राज्ञी है

हमने देख लिया कि प्राचीन वैदिक-आदर्श के अनुसार स्त्री को घर में कैद नहीं रखा जाता, वह स्वतन्त्र रहती है। उसे पर्दे में कैद नहीं रक्खा जाता, वह पुरुषों के साथ ही स्वतन्त्रता से मिलती है और समाज को गंदा करने के बजाय उसे गंदा होने से बचाती है। स्त्री इस प्रकार समाज की नैतिक-स्थिति (Moral tone) को ऊँचा बनाए रखती है। हमने यह भी देख लिया कि यदि वह बाल-बच्चों की परवरिश

के कर्त्तव्य को पूरी तरह से निभा रही है, या इस झगड़े में ही नहीं पड़ रही, तो उसे वकालत करने, सेनापति बनने और राज्य के ऊँचे-से-ऊँचे पद तक का भी पुरुष के समान पूरा अधिकार है, परन्तु अधिकतर वह इस कश्मकश में नहीं पड़ती, यह काम पति के सुपुर्द रहता है। पति तथा पत्नी दोनों अपने-अपने क्षेत्र में राज करते हैं। अब हमें यह देखना है कि पत्नी का अपने घर में, किस प्रकार का राज है?

अधिकतर हमारे घरों में स्त्री-जाति की स्थिति दासी से बढ़कर नहीं है। लड़के का विवाह होता है, नई बहू घर आती है, परन्तु उसके साथ उसकी सास का बर्ताव ऐसा होता है जैसा नौकरानी के साथ। विवाह से पहले यदि नौकरानी होती है, तो बहू आने पर यह समझा जाता है कि अब नौकरानी की क्या जरूरत है, बहू जो आ गई, वह सारा काम-काज कर लेगी। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि बहू को काम नहीं करना चाहिए, इस कथन का इतना ही अभिप्राय है कि बहू पर काम का बोझ उसे नौकरानी समझ कर डाला जाता है, घर की जिम्मेदार मालकिन समझकर नहीं। सास के हाथों घी का भरा कनस्तर गिर जाए, तो कुछ नहीं, परन्तु यदि बहू से एक सुई भी टूट जाए, तो सास उसके सिर हो जाती है। तभी आजकल सास और बहुओं की नहीं बनती। वैदिक-आदर्श ऐसा नहीं है। अथर्ववेद (१४.१.४३) में कहा है—

''यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥''

जैसे समुद्र नदियों का राजा है, इसी प्रकार पति के घर में तू सम्राज्ञी अर्थात्, महारानी होकर रह। सम्राज्ञी भी कैसी? फिर, अथर्ववेद (१४.१.४४) में कहा है—

''सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥''

तुझे तेरा श्वशुर घर की महारानी समझे, तेरे देवर तुझे सम्राज्ञी समझें, तेरी ननदें तेरा शासन मानें और तेरी सास तुझे घर की महारानी माने।

वैदिक-आदर्श स्त्री को घर में यह स्थिति देना चाहता है। माता-पिता का कर्त्तव्य है कि जब उनका पुत्र विवाहित हो जाए, तो अपने हाथों से घर का राज अपने पुत्र तथा वधू को दे दें। अपने पुत्र को वे घर का राजा बनाएँ और पुत्र-वधू को घर की महारानी। इसके बाद वे उस घर में न रहें और यदि रहें, तो अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू की प्रजा होकर रहें। सास घर के खजाने की चाबी नई बहू के हाथों में रख कर उसे घर की मालकिन बना दे। इस आदर्श को सुनकर आजकल की सासें शायद चौंक पड़ें और समझें कि इन बातों को सुनकर उनकी बहुएँ बिगड़ जाएँगी। हमें एक बुढ़िया का पता है, जो बेचारी अंधी है, चल-फिर भी ज्यादा नहीं सकती, परन्तु वह हर-एक चीज की चाबी अपने पास रखती है। जब उसके पोते पैसे माँगते हैं, तो

वह अपने सिरहाने के नीचे से चाबियाँ टटोलकर उन्हें पैसे देती है। वह इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकती कि उसकी बहू बच्चों को पैसे दे दे। जब कभी बच्चे लड्डू माँगते हैं, तो वह सन्दूक खोलकर उन्हें लड्डू देने में घण्टा-भर लगा देती है और शरारती लड़के यह देखकर कि दादी देख नहीं सकती, चुपके से एक-एक लड्डू और उड़ा ले जाते हैं। यह बुढ़िया हमारी सासों का नमूना है, जो घर में बहू का राज नहीं देख सकतीं। सभा-सोसाइटियों में भी ऐसी सासों की कमी नहीं है। मन्त्री-प्रधान के पदों को जो लोग जन्म-जन्मान्तरों की बपौती जायदाद समझते हैं और नवयुवकों को आगे नहीं आने देते, वे सोसाइटियों की सासें हैं। प्राचीन वैदिक-आदर्श यह नहीं है। लड़का जब बड़ा हो जाए, तो अपना स्थान उसे दे देना अपने देश की पुरातन मर्यादा है। वैदिक-मर्यादा तो यह है कि पति-पत्नी अपने आत्मा को इतना विकसित करें कि जबतक उनके लड़के की शादी हो, तबतक वे मोह के बन्धन को घर से निकाल कर घर के बाहर फैलाने लगें, परार्थ को स्वार्थ बनाने का पाठ सीखते-सीखते अपने क्षुद्र स्वार्थ से सर्वथा ऊपर उठ जाएँ। जिसने गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके इसमें से निकलना नहीं सीखा, जिसने बन्धनों में पड़कर उन्हें काटना नहीं सीखा, वह गृहस्थाश्रम को एक कीचड़ बना लेता है और स्वयं उसका कीड़ा होकर उसमें रेंगने लगता है। जो पति-पत्नी इस प्रकार गृहस्थाश्रम के कीड़े हैं, वे अपनी बहू के सिर पर अपने ही हाथों से उस साम्राज्य के सेहरे को कैसे बाँध सकते हैं जो अब तक उनके सिर बंधा था। परन्तु नहीं, गृहस्थ का प्राचीन वैदिक-आदर्श यही है। वैदिक घर में नई बहू शृंगार करके प्रवेश करती थी और उस घर में उसके सास, ससुर, ननदें और देवर उसे घर की रानी समझ कर उसे स्वीकार करते थे। यह उस आदर्श के सामने झुकना था जिस आदर्श का जीवन में क्रियात्मक पाठ सीखने के लिए इस नव-दम्पती ने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया है। अबतक इनके माता-पिता ने इस आश्रम में पच्चीस वर्ष तक अपने आत्मा के विकास का पाठ सीखा था, स्वार्थ की जड़ों में परार्थ का पानी सींचकर परार्थ को ही स्वार्थ बना लिया था। अब ये नौसिखिये भी उसी क्रम में से गुजर कर जीवन के लक्ष्य को अपने समीप लाने का प्रयत्न करेंगे।

११. गृहस्थ का आदर्श गृहस्थी को छोड़ना है

हमने देख लिया कि विवाह का वैदिक-आदर्श क्या है। विवाह खिलवाड़ नहीं है, यह विषय-भोग का साधन नहीं है। अथर्ववेद (१४.१.४२) में पत्नी को सम्बोधन करके कहा गया है—**पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्व अमृताय कम्।**

पति के पीछे चलती हुई अमृत पाने की तैयारी कर। विवाह अमृत पाने को तैयारी के लिए हैं। इस अमृत को अथर्ववेद के इसी सूक्त में एक-दूसरे स्थल (६४ मन्त्र) पर समझाया गया है—

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके विराज॥

पत्नी के पीछे ब्रह्म हो, आगे ब्रह्म हो, आखिर तक ब्रह्म हो, बीच में ब्रह्म हो और चारों तरफ ब्रह्म हो। इसी प्रकार ब्रह्म से घिरी हुई पत्नी-लोक में राज्य करे। ब्रह्म का अर्थ है—बड़ापन, महानता। यह महानता क्या है? हम अब्रह्म हैं, छोटे हैं, बहुत छोटे हैं, स्वार्थ में गड़े हुए हैं, अपने सिवा हमें कुछ नहीं दिखलाई देता। विवाह से पति-पत्नी ब्रह्म की तरफ जाते हैं, ब्रह्म का अर्थ परमात्मा नहीं परन्तु बड़ापन है, वे छोटे से बड़े होते हैं, धीरे-धीरे वे बहुत बड़े हो जाते हैं, स्वार्थ के गढ़े से निकलकर परार्थ के समीप पहुँच जाते हैं, उन्हें अपनापन भूल जाता है और अपने सिवा सबकुछ दिखलाई देने लगता है। गृहस्थ-आश्रम मनुष्य को जीवन के इसी आदर्श की तरफ ले जाता है। यदि गृहस्थाश्रम मनुष्य को जीवन के इस आदर्श की तरफ नहीं ले जाता, तो वह गृहस्थ गृहस्थ नहीं है, वह इस आश्रम की खिल्ली उड़ाना है। इसीलिए गृहस्थ के जितने आदर्शों का ऊपर वर्णन किया गया है, उन सबमें ऊँचा आदर्श यह है कि गृहस्थ एक खास समय पर आकर, एक खास मंजिल पर पहुँच कर, ऐसी स्थिति में पहुँच कर कि जब उसने दूसरों के स्वार्थ को अपना स्वार्थ बनाना सीख लिया है, गृहस्थाश्रम से भी ऊपर उठ जाए, इस आश्रम का भी त्याग कर दे। गृहस्थी में प्रवेश गृहस्थी में से निकलने के लिए है, उसी में बैठे रहने के लिए नहीं। यह जीवन के उद्देश्य को सफल बनाने के लिए एक साधन है, स्वयं कोई लक्ष्य नहीं, यह एक सराय है, निज का मकान नहीं, गृहस्थी को किसी ऊँचे टीले पर पहुँचना है, रास्ते में ठहरना नहीं। गृहस्थ का यह आदर्श उसके सब आदर्शों का शिरोमणि आदर्श है, क्योंकि यदि गृहस्थ इस बात को नहीं समझा, तो वह कुछ नहीं समझा।

प्राचीन-काल में गृहस्थ आश्रम का यही आदर्श समझा जाता है। 'उत्तर-रामचरित' में एक दृश्य का वर्णन है। रामत तथा लक्ष्मण मुनियों के कपड़े पहने हुए हैं और दोनों इक्ष्वाकु-वंश के प्राचीन राजाओं के चित्र देख रहे हैं। उन चित्रों में इक्ष्वाकु वंश के सब राजाओं का वानप्रस्थ-आश्रम का चित्र है। इसे देखकर लक्ष्मण कहते हैं—

''पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद् वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम्।
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम्॥''

''इक्ष्वाकु-वंश में यह प्रथा थी कि जब वे वृद्ध हो जाते थे, तो लक्ष्मी को पुत्र के हवाले कर दिया करते थे। हे राम! तुमने तो यह जंगल में विचरने का वानप्रस्थियों का बाना बचपन में ही पहन लिया।'' दिलीप ने जब वृद्धावस्था आने के कारण वानप्रस्थ लिया, तो उसका वर्णन कालिदास ने इस प्रकार किया है—

''अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे;
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये;
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्।''

''विषय से अपने मन को खींचकर दिलीप ने यथाविधि राजा के चिह्न को अपने पुत्र रघु के सुपुर्द किया और स्वयं देवी के साथ जंगलों की छाया में चला गया। बूढ़े इक्ष्वाकुओं का तो यह कुल-व्रत है।'' इसी प्रकार जब रघु बूढ़ा हो गया और उसका लड़का आज विवाह करके घर आया, तो कालिदास कहता है—

''प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः सन्निवृत्तं,
विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम्।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभूत्,
न हि सति कुलधर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥''

''यदि कुल की धुरी, कुल का स्तम्भ—पुत्र—मौजूद हो और माता-पिता वृद्ध हो जाएँ, तो सूर्यवंशी राजाओं में घर में बैठने की प्रथा नहीं है।''

इसी प्रकार अभिज्ञान-शाकुन्तल में दुष्यन्त अपने कुल की परिपाटी का उल्लेख करता हुआ कहता है—

''भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम्।
नियतैकपतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्॥''

''जो लोग बड़े-बड़े भवनों में रहा करते हैं, वृद्धावस्था में जाकर वे वृक्षों की जड़ों में अपना आसन जमा लेते हैं।'' जिस समय शकुंतला का दुष्यन्त से विवाह हुआ है, तब जैसे लड़कियाँ बिदाई के समय अपनी माँ से पूछती हैं, अब मुझे कब बुलाओगी, वैसे शकुंतला ऋषि कण्व से पूछती है, आप मुझे कब बुलाएँगे? कण्व ऋषि उत्तर देते हैं—

''भूत्वा चिराय चतुरन्तमही-सपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं शान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन्॥''

''देर तक तू राज्य करती-करती जब अपने लड़के को गद्दी पर बैठा देगी, तब अपने पति के साथ वानप्रस्थिनी बनकर इस आश्रम में आना।''

प्राचीन-काल के वानप्रस्थियों के ये वर्णन हैं। उस समय गृहस्थी २५ साल के बाद घर छोड़ कर जंगल में धूनी जा रमाता था। राजा-महाराजा भी बड़ी खुशी से रेशमी कपड़े उतार कर सादे कपड़े पहन लेते थे। भारत के बड़े-बड़े शहरों के इर्द-गिर्द वानप्रस्थियों के आश्रम हुआ करते थे। इन आश्रमों से मानव-समाज के लिए आध्यात्मिकता का पवित्र स्रोत बहा करता था। संसार के नाना प्रकार के झंझटों से थके हुए गृहस्थ-समाज के लिए वानप्रस्थियों के ये आश्रम शान्ति का उद्‌भव-स्थान

हुआ करते थे। वे गृहस्थियों को उनका आदर्श चिताते रहते थे। आज वह आदर्श सर्वथा लुप्त हो गया है और इसीलिए हमारा सामाजिक-जीवन अत्यन्त गंदा हो रहा है। जिन लोगों को घर छोड़ वनों में चला जाना चाहिए था, वे सभा-सोसाइटियों के मन्त्री, प्रधान बनने के लिए लड़ रहे हैं, पार्टी-बंदियों के चक्कर में पड़े हुए हैं, एक-दूसरे को नीचा दिखाने में, एक-दूसरे को पछाड़ने में और अपने झूठे गौरव को चार दिन तक और कायम रखने में दिन-रात षड्यन्त्रों में लगे हुए हैं। यदि वैदिक-आदर्शों की कोई स्टेट होती, तो इन सबको घर से निकाल कर बाहर करती और सामाजिक-जीवन को गन्दा होने से बचा लेती। गृहस्थ का आदर्श गृहस्थाश्रम को छोड़ देने में है, इसमें पड़े रहने में नहीं। महाराज 'रघु' अपने पुत्र 'अज' को सिंहासन पर बैठा कर जंगल में जा बैठे थे, मुनि याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति का बँटवारा कर तपोवन में चले गए थे। वे दुनिया से भाग कर नहीं गये थे। वे दुनिया में से गुजर कर गये थे, उसके सुख-दुःख का अनुभव करके गये थे। इसमें से गुजरते हुए उन्होंने जीवन के महान् आदर्श को सीख लिया था, उनका जीवन छोटे क्षेत्र से निकल कर बड़े क्षेत्र में विचरने लगा था; उनकी आत्मा में से स्वार्थ का बीज नष्ट हो चुका था और उसमें परार्थ का बीज जड़ पकड़ रहा था; उन्होंने अपने लिए न मर कर दूसरों के लिए मरना सीख लिया था। ऐसे महात्माओं के सम्मुख जब मृत्यु आती थी, तो उनके चरण चूमने के लिए, न कि उनके सिर पर प्रहार करने के लिए। ऐसा दृश्य फिर-से देखने के लिए आज आँखें तरस रही हैं। आज उन प्राचीन तपोवनों से निकलते हुए सन्देश की तरफ कान लगाकर सुनने की आवश्यकता है।

भारत के प्राचीन वैदिक-आदर्श के अनुसार गृहस्थाश्रम को तभी सफल कहा जा सकता है, जब आयु के एक खास भाग में आकर जैसे साँप कैंचुली को उतार फेंकता है, वैसे इस आश्रम को भी छोड़ दिया जाय और अगले आश्रम में प्रवेश किया जाए। गृहस्थ-आश्रम का आदर्श तो 'जीवन के आदर्श' को पूरा करने की शृंखला में एक कड़ी है। विवाह का वैदिक-आदर्श तभी सफल कहा जा सकता है और वहीं तक सफल कहा जा सकता है, जब तक और जहाँ तक वह जीवन के आदर्श को सफल बनाता है। जब गृहस्थी उस आदर्श तक पहुँच जाता है, तब अनायास उसके मुँह से निकल पड़ता है—**'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'**। इसी आदर्श का दूसरे शब्दों में कठोपनिषद् ने वर्णन किया है—**''मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति''**।

संसार में एकता देखने में जीवन है, भिन्नता देखने में मृत्यु है। गृहस्थ मनुष्य को भिन्नता की तरफ से खींच कर एकता की तरफ, जीवन की तरफ, अमरता की तरफ ले जाता है—बस, यही विवाह का वैदिक भारतीय आदर्श है।

विवाह संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग (क)]

[मण्डप, मधुपर्क, कन्या-प्रतिग्रहण तथा वस्त्र-दान]

जितने भी १६ संस्कार हैं, उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार विवाह संस्कार है। इस संस्कार के सम्बन्ध में जो वैज्ञानिक, दार्शनिक तथा सामाजिक पक्ष है उसका हम गत पृष्ठों में विशद विवेचन कर आये हैं। इस प्रकरण में हम विवाह-संस्कार की विधि का उल्लेख करेंगे। विवाह संस्कार की विधि बहुत लम्बी-चौड़ी है। उसे छः भागों में बाँटा जा सकता है, जो निम्न है—

(१) मण्डप विधि या मण्डका—यह विधि वर-पक्ष के लोग अपने घर और कन्या-पक्ष के लोग अपने घर पृथक्-पृथक् करते हैं।

(२) मधुपर्क विधि—जब बरात कन्या-पक्ष के द्वार पर पहुँच जाती है तब बरात का स्वागत करने के बाद मधुपर्क-विधि की जाती है। इसे 'द्वाराचार' भी कहते हैं। इसमें कन्या-पक्ष की ओर से वर तथा उसके सम्बन्धियों का स्वागत किया जाता है।

(३) कन्या-प्रतिग्रहण तथा वस्त्रदान—इस विधि में कन्या के माता-पिता कन्या को वर के सुपुर्द करते हैं। वर उसे स्वीकार करता है। वर कन्या के लिये जो वस्त्र तथा आभूषण लाता है उन्हें वह इस अवसर पर देता है।

उक्त तीनों विधियों को हम एक ही अध्याय में लिख रहे हैं, क्योंकि ये छोटे में आ जायेंगे। इन तीनों के बाद तीन अन्य विधियाँ हैं जो निम्न है—

(४) पाणिग्रहण तथा सप्तपदी विधि—इस विधि में यज्ञ, शिलारोहण, प्रदक्षिणा, लाजाहोम, सप्तपदी आदि सम्मिलित हैं। सप्तपदी का अन्तिम पद धर लेने के बाद विवाह वैध माना जाता है।

(५) वधू-प्रस्थान—विवाहोपरान्त, वधू जब अपने पिता के घर से विदा होकर पति के घर चल देती है तब यह विधि की जाती है।

(६) वधू का पति के घर स्वागत—जब वधू पति के घर पहुँचती है तब यज्ञ करके उसका स्वागत किया जाता है और घर के सब लोग तथा सम्बन्धी-मित्रगण वर-वधू को आशीर्वाद देते हैं।

इन तीनों को हम एक पृथक् अध्याय में लिख रहे हैं। इस प्रकार ये छहों विधियाँ दो अध्यायों में लिखी जा रही है।

अब हम उक्त छहों का क्रमश: वर्णन करेंगे। सबसे पहले क्योंकि मण्डप-

विधि वर तथा वधू के घर अलग-अलग की जाती है, इसलिये उसका वर्णन निम्न है जो दोनों पक्षों पर अलग-अलग लागू है, अर्थात् यह विधि वर-पक्ष के घर भी होगी, वधू पक्ष के घर भी होगी।

(क) अथ मण्डप विधिः (मण्डवा)

[जो सामान जुटाकर रखें]

(१) यज्ञ कुण्ड, (२) चार छोटी या बड़ी थालियाँ सामग्री रखने के लिये, (३) चार साधारण कटोरियाँ, (४) घी के लिये एक बड़ी कटोरी, (५) चार छोटे चम्मच, (६) एक बड़ा चम्मच या स्रोता, (७) डेढ़ पाव या आधा किलो घी, (८) तीन चार पैकेट सामग्री, (९) पलाश, पीपल, आम आदि की सूखी, कटी हुई समिधाएँ, (१०) मट्टी के चार दीये, (११) थोड़ी-सी रूई बत्ती बनाने के लिये, (१२) कपूर, (१३) दीयासलाई की दो डिब्बी, (१४) हाथ से झलने का एक पंखा, (१५) जलभरा लोटा, (१६) चार यज्ञोपवीत, (१७) यज्ञ-वेदी के सजाने के लिये आटा, पिसी हुई हल्दी, रोली, (१८) चार आसन, (१९) लकड़ी की दो पीढ़ी (२०) कुछ पुष्प मालाएँ, (२१) कुछ मिष्टान्न, (२२) स्थालीपाक—भात जिसका प्रयोग उत्तर-विधि में होगा।

उक्त सामान जुटा लेने के बाद वर तथा वधू अपने-अपने घर में ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण आदि क्रियाएँ निम्न प्रकार करें। इस विधि में वर पश्चिम की ओर बैठे और पूर्व की ओर मुख हो, पुरोहित दक्षिण में बैठे और उत्तर की ओर मुख हो। अन्य हवन करनेवाले पूर्व और उत्तर के आसनों पर बैठें।

[ऋत्विग्वरण तथा यज्ञारम्भ]

ऋत्विग्वरण (ओमावसोः सदने आदि, पृ० ७१), **तीन आचमन** (ओम् अमृतोपस्तरणमसि आदि, पृ० ७१), **जल से अंग-स्पर्श** (अं वाङ् मऽ आस्येऽस्तु आदि, पृ० ७२), **ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना** (ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि आदि, पृ० ३५), **स्वस्तिवाचन** (अग्निमीडे पुरोहितं आदि, पृ० ३९), **शान्तिकरण** (शं न इन्द्राग्नी आदि, पृ० ५५), **अग्न्याधान** (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना, पृ० ७२-७३) **अग्नि-प्रदीपन** (ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने आदि, पृ० ७३), **चार मन्त्रों से ३ समिदाधान** (ओम् अयन्त इध्म आत्मा+ओं समिधाग्निं+सुसमिद्धाय+तन्त्वा समिद्भिरंगिरो आदि, पृ० ७४-७७), **घृत की पाँच आहुतियाँ** (ओम् अय त इध्म आत्मा आदि, पृ० ७७), **वेदी के चारों ओर जल छिड़कना** ('ओम् अदितेऽनुमन्यस्व' आदि से 'ओं देव सवितः' तक, पृ० ७७), **चार आघारावाज्यभागाहुतियाँ** (ओम् अग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७८-७९), **चार व्याहृति आहुतियाँ** (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७९), **एक स्विष्टकृत् आहुति)** ओं यदस्य कर्मणो आदि, पृ० ८०), **एक मौन प्राजापत्याहुति** (ओं प्रजापतये स्वाहा, पृ० ८०), **आठ अष्टाज्याहुतियाँ**

('ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य' से लेकर 'ओं भवतन्नः समनसौ' तक की ८ आहुतियाँ, पृ० ८२-८६)

[पूर्णाहुति]

तीन बार '**ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा**' पढ़कर तीन आहुतियाँ दें। तीसरी आहुति पर सब सामग्री डाल दें।

नोट—संस्कारविधि में ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, अग्न्याधान, समिदाधान तक का ही उल्लेख है, परन्तु परिपाटी उस सम्पूर्ण हवन को करने की चल पड़ी है जिसका हमने यहाँ उल्लेख किया है। कई पुरोहित 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योति' आदि प्रातः सायं के मन्त्र भी पढ़ देते हैं। अगर कोई चाहे तो समिदाधान तक कार्य करने के बाद सीधा आगे की विधि शुरु कर सकता है।

इति मण्डप विधिः

(ख) अथ मधुपर्क विधिः

[जो सामान जुटाकर रखना चाहिए]

मण्डप-विधि में जो सामान लिखागया है उसके अलावा इस विधि के लिये विशेष सामान—(१) दो चौकी, उनपर उत्तम आसन वर तथा कन्या के लिये, (२) एक आसन पुरोहित के लिये, (३) दो लोटे जल से भरे हुए, (४) एक पंच-पात्र में जल तथा आचमनी, (५) एक परात हाथ-पैर धोने तथा जूठे पात्र रखने के लिये, (६) मधुपर्क जिसका अनुपात हो घी १ : शहद ४ : दही १२—अर्थात् १ तोला घी हो तो ४ तोला शहद हो और १२ तोला दही हो अथवा १२ तोले दही में या ४ तोले शहद अथवा ४ तोले घी मिलाना चाहिये, दही, शहद और घी तीनों मिलायें तो शहद और घी सम-भाग न हों। (७) हाथ पोंछने के लिये एक तौलिया, (८) तीन कांसे से कटोरे।

[बरात के स्वागत के बाद वर का स्वागत]

जब वर कन्या के घर में आकर पूर्वाभिमुख खड़ा हो जाए तब कार्यकर्त्ता एवं कन्या वर के समीप उत्तराभिमुख खड़े होकर वर के स्वागत की निम्न विधि करें—

कन्या—**साधु भवान् आस्ताम् अर्चयिष्यामो भवन्तम्—(भवान्)** आप **(साधु)** सुख से तो हैं? **(भवन्तं अर्चयिष्यामः)** आप हमारे पूजनीय हैं।

वर—**ओम् अर्चय—(ओम्)** जी **(अर्चय)** आपका स्वागत स्वीकार है।

[कन्या द्वारा वर को आसन देना]

कन्या—**ओं विष्टरो विष्टरो विष्टरः प्रतिगृह्यताम्**—यह उत्तम आसन है, ग्रहण कीजिये।

वर—**ओं प्रतिगृह्णामि**—धन्यवाद है, ग्रहण करता हूँ। वर इस वाक्य को

बोलकर कन्या के हाथ से आसन लेकर, बिछाकर, उस पर सभा-मण्डप में निम्न मन्त्र को बोलकर पूर्वाभिमुख बैठ जाए। मन्त्र निम्न है—

ओं वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः।
इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति॥

—पार० गृ०, १,३,८

शब्दार्थ—(**समानानाम्**) जो मेरे समकक्ष हैं उनमें (**वर्ष्मोऽस्मि**) मैं तेजस्वी हूँ (**उद्यताम्**) जो जीवन में उदित हो रहे हैं—उठ रहे हैं—उनमें मैं (**सूर्य इव**) सूर्य के समान हूँ (**यः मा**) जो मुझे (**कः च आभिदासति**) कोई भी नीचा दिखाना चाहता है (**इमम् तं**) उसको मैं (**अभितिष्ठामि**) नीचे बैठा देता हूँ, उसपर चढ़ बैठता हूँ।

[कन्या द्वारा वर को पैर धोने के लिये लोटे में जल देना]

तत्पश्चात्, कार्यकर्त्ता एक सुन्दर पात्र में पूर्ण जल भरकर कन्या के हाथ में दे और कन्या निम्न वाक्य बोले—

कन्या—**ओं पाद्यं पाद्यं पाद्यं प्रतिगृह्यताम्**—लीजिये, जल से पाँव धो लीजिये।

वर—**ओं प्रतिगृह्णामि**—लाइये, पाँव धो लेता हूँ। पाँवों को धोते हुए निम्न मन्त्र बोलता जाए—

ओं विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय मयि पाद्यायै विरोजो दोहः।

—पार० गृ० कां०, १, कं० ३,१२

शब्दार्थ—हे जल! तू (**विराजः**) विविध प्रकार से प्रकाशमान पदार्थों का (**दोहः**) दुहा हुआ रस है, ऐसे (**विराजो दोहः**) शोभायमान रस का मैं (**अशीय**) सेवन करूँ। मेरा सौभाग्य है कि (**विराजो दोहः**) शोभायमान पदार्थों का यह सार रूप जल (**मयि पाद्यायै**) मुझे अपने पाँव धोने के लिये मिल रहा है।

[कन्या द्वारा वर को मुँह धोने के लिये लोटे में जल देना]

तत्पश्चात्, फिर कार्यकर्त्ता दूसरा शुद्ध लोटा पवित्र जल से भर कर कन्या के हाथ में दे। पुनः कन्या निम्न वाक्य बोले—

कन्या—**ओम् अर्घोऽर्घोऽर्घः प्रतिगृह्यताम्**—(**अर्घः**) आपके सत्कारार्थ—मुख प्रक्षालानार्थ—यह जल (**प्रतिगृह्यताम्**) ग्रहण कीजिये। इस वाक्य को बोलकर कन्या वर के हाथ में जल का लोटा दे। उत्तर में वर बोले—

वर—**ओम् प्रतिगृह्यामि**—धन्यवाद है, ग्रहण करता हूँ।

उक्त वाक्य को बोल के वर कन्या के हाथ से जल-पात्र ले के उससे मुख प्रक्षालन करे और उसी समय वर मुख धोके निम्न मन्त्र बोले—

ओम् आप स्थ युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानि॥ १॥

ओं समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत।
अरिष्टा अस्माकं वीरा मा परासेचि मत्पयः॥ २॥

—पार० गृ० कां० १, कं० ३,१३-१४

शब्दार्थ—(**आपः स्थ**) आप जल हो (**युष्माभिः सर्वान् कामान्**) आप द्वारा अपनी कामनाओं को (**अवाप्नवानि**) प्राप्त करूँ (**वः**) तुम जलों को (**समुद्रं**) आकाश में (**प्रहिणोमि**) भेजता हूँ (**स्वाम् योनिं अभिगच्छत**) अपने कारणभूत मेघ में परिणत हो जाओ (**अस्माकं वीराः**) हमारी वीर सन्तानें (**अरिष्टाः**) रोग तथा दु:ख रहित हों (**मत्**) मुझसे (**पयः**) जल (**मा**) मत (**परासेचि**) परे हो।

भावार्थ—जल आकाश द्वारा मेघ के बरसने से आते हैं, फिर वही वाष्प बन कर आकाश में चले जाते हैं। जलों में रोगों को नष्ट करने की शक्ति है—यह जल-चिकित्सा करनेवाले लोग जानते हैं। जीवन जल पर निर्भर है, इसलिये प्रार्थना है कि हमें जल का कभी अभाव न हो।

[कन्या द्वारा वर को आचमन के लिये पंचपात्र में जल देना]

तत्पश्चात्, वेदी के पश्चिम बिछाये हुए उसी शुभासन पर वर पूर्वाभिमुख बैठे। तत्पश्चात्, कार्यकर्त्ता एक सुन्दर उपपात्र जल से पूर्ण भर उसमें आचमनी रख कन्या के हाथ में देवे और उस समय कन्या निम्न वाक्य बोले—

कन्या—**ओम् आचमनीयामचनीयमाचमनीयम्प्रतिगृह्यताम्**—मान्यवर! आचमन के योग्य यह शुद्ध जल है—इसे ग्रहण कीजिये।

वर—**ओं प्रतिगृह्णामि**—धन्यवाद है, मैं इसे ग्रहण करता हूँ।

वर उक्त वाक्य को बोल कर कन्या के हाथ में से जलपात्र को ले, सामने घर, उसमें से दाहिने हाथ में जल जितना अंगुलियों के मूल तक पहुँचे उतना ले के वर निम्न मन्त्र से आचमन करे। वर निम्न मन्त्र बोले—

ओम् आ मागन् यशसा सँसृज वर्चसा।
तं मा कुरु प्रियं प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम्॥

—पार० कां० १, कं० ३,१५

हे जलो! (**मा आगन्**) आप मेरे पास आये हो, मेरा (**यशसा वर्चसा**) यश से और तेज से—'**यश**' मानसिक सफलता से तथा '**तेज**' शारीरिक उन्नति से प्राप्त होता है—(**संसृज**) नव-निर्माण करो और (**तं मा**) उस मुझे (**प्रजानां प्रियं**) सन्तानों का प्रिय (**पशूनां अधिपतिं**) गौ-अश्व आदि पशुओं का स्वामी तथा (**तनूनां अरिष्टं**) शरीरों में नीरोग (**कुरु**) करो। इससे जल का महत्त्व सूचित होता है।

वर उक्त मन्त्र से एक आचमन, इसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार इसी मन्त्र को पढ़ के दूसरा और तीसरा आचमन करे।

[कन्या द्वारा वर को मधुपर्क देना]

तत्पश्चात्, कार्यकर्त्ता मधुपर्क* का पात्र कन्या के हाथ में देवे। और, कन्या—
ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्—यह मधुपर्क है, ग्रहण कीजिये।

वर—**ओं प्रतिगृह्णामि**—धन्यवाद, मधुपर्क ग्रहण करता हूँ।

वर उक्त वाक्य को बोल के कन्या के हाथ से मधुपर्क ले और उस समय—

[वर द्वारा मधुपर्क को देखना तथा मिलाना]

ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे॥ —पार० गृ०, कां० १, कं० ३,१६

मधुपर्क को देखकर वह कहे—**(त्वा)** तुझे **(मित्रस्य)** मित्र की **(चक्षुषा)** दृष्टि से **(प्रतीक्षे)** देखता हूँ। मधुपर्क में दही, शहद तथा घी—ये तीन पदार्थ हैं। भोजन-विशेषज्ञों (Dieticians) का कहना है कि दीर्घजीवन के लिये दही से उत्तम दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। जिन देशों के लोग सिर्फ दही पर निर्वाह करते हैं उनकी आयु १०० वर्ष से अधिक पायी गई है, शहद भी कार्बोहाइड्रेट्स (Carbohydrates) में सर्वोत्तम खाद्य पदार्थ है, घी शरीर को पुष्ट करता है। इस दृष्टि से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय गृहस्थी को इन तीनों खाद्य-पदार्थों से परिचित कराया जाता है जो जीवन में उसके मित्र के समान उसका साथ देंगे।

वर उक्त मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के मधुपर्क को अपनी दृष्टि से देखे, और—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति गृह्णामि॥
—यजु० १, मं० १०, पार० गृ०, कां० १,३,१७, आश्व, १,२०,४

शब्दार्थ—(सवितुः देवस्य प्रसवे) सूर्यदेव का जब प्रसव अर्थात् उदय होता है तब जो **(अश्विनः बाहुभ्याम्)** संसार का आशुगमन करनेवाले अश्विदेव की भुजाओं से तथा **(पूष्णोः हस्ताभ्याम्)** संसार का पोषण करनेवाले भगवान् के हाथों से धारण होता है उन्हीं भुजाओं और हाथों के सामर्थ्य का अनुगमन करते हुए मैं तुझे **(प्रतिगृह्णामि)** ग्रहण करता हूँ। इस मन्त्र का प्रयोग उपनयन (पृ० २७०) संस्कार में भी हुआ है।

भावार्थ—मैं मधुपर्क को ऐसे ही ग्रहण कर रहा हूँ जैसे उदीयमान सूर्य को भगवान् की भुजाएँ तथा उसके हाथ थामे रहते हैं। यह केवल अलंकारिक कथन है। इसका भावार्थ यही है कि जैसे सूर्य को थाम कर भगवान् सृष्टि को जीवन देता है, वैसे हो मैं मधुपर्क—दही, शहद, घी—का सेवन करता हुआ अपने को स्वस्थ तथा दीर्घजीवी बनाऊँगा।

उक्त मन्त्र को बोल के मधुपर्क के पात्र को वाम हाथ में लेवे। और—

---

* मधुपर्क उसको कहते हैं जो दही में घी वा शहद मिलाया जाता है। उसका परिमाण १२ (बारह) तोले दही में ४ (चार) तोले हद, अथवा ४ (चार) तोले घी मिलाना चाहिए और यह मधुपर्क कांसे के पात्र में होना उचित है। यहाँ दही में शहद घी का विकल्प है।

ओं भूर्भुवः स्वः।
मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ १॥
ओं भूर्भुवः स्वः।
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥ २॥
ओं भूर्भुवः स्वः।
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ ३॥

—यजु० १३, मत्र २७-२९

शब्दार्थ—हे (**भूर्भुवः स्वः**) सच्चिदानन्दमय भगवन्! (**ऋतायते**) ऋतमय, सत्यमय जीवन बिताने वाले के लिए (**वाता**) वायु (**मधु**) मधुर बहें (**सिन्धवः**) नदियों के जल (**मधुक्षरन्ति**) मीठे बहें (**नः ओषधयः माध्वीः**) हमारे लिये औषधियाँ मधुर रसभरी (**सन्तु**) हों।

(**नक्तं उषसः**) हमारे लिये रात्रियाँ तथा उषाएँ (**मधु**) मीठी हों (**पर्थिवं रजः**) पृथ्वी का प्रत्येक कण (**मधुमत्**) मिठास भरा हो (**द्यौः पिता**) अन्तरिक्ष जो धूप, वर्षा, सर्दी से हमारा पालन करता है वह (**मधु**) हमारे लिये मधुर हो।

(**नः वनस्पतिः मधुमान्**) हमारे लिये वनस्पतियाँ मिठास भरी हों (**सूर्यः नः मधुमान् अस्तु**) सूर्य हमारे लिये सुखद हो (**गावः नः माध्वीः भवन्तु**) गवादि पशु हमारे लिये मधुर हों।

उक्त तीन मन्त्रों से मधुपर्क की ओर अवलोकन करके निम्न मन्त्र से बिलोवे—

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि॥

—पार० गृह्य०, कां० १, कं० ३,१८

शब्दार्थ—(**श्यावास्याम**) श्याव अर्थात् मिश्रित है आस्य अर्थात् मुख जिसका ऐसे मधुपर्क के लिये (**नमः**) मेरा नमस्कार हो (**अन्नशने**) अन्न की तरह अशन अर्थात् भोजन होता है, जिसका ऐसे हे मधुपर्क (**यत्ते आविद्धं**) तेरे में जो आविद्ध अर्थात् मिलावट है उसे (**निष्कृन्तामि**) काटकर फेंक रहा हूँ। भावार्थ यह है कि यह मधुपर्क शुद्ध है, इसमें मिलावट नहीं है।

उक्त मन्त्र को पढ़ दाहिने हाथ की अनामिका और अंगुष्ठ से मधुपर्क को तीन बार बिलोवे और उस मधुपर्क में से वर निम्न प्रकार चारों दिशाओं में छींटे दे—

[वर द्वारा मधुपर्क का चारों दिशाओं में छींटे देना]

ओं वसवस्त्वा गायत्रेण छन्दसा भक्षयन्तु। —इस मन्त्र से पूर्व दिशा में,
ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेन छन्दसा भक्षयन्तु। —इससे दक्षिण दिशा में,
ओं आदित्यास्त्वा जागतेन छन्दसा भक्षयन्तु। —इससे पश्चिम दिशा से,
ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टभेन छन्दसा भक्षयन्तु।

—इससे उत्तर दिशा में थोड़ा-थोड़ा छोड़े अर्थात् छींटे देवे।

ओं भूतेभ्यस्त्वा परिगृह्णामि॥

—आश्वला० ग० अ० १, कं० २४, सू० १४,१५

उक्त मन्त्रस्थ वाक्य को बोल के पात्र के मध्य-भाग में से लेके ऊपर की ओर तीन बार फेंके।

शब्दार्थ—हे मधुपर्क! २४ साल के 'वसु'-ब्रह्मचारी तेरा 'गायत्री' छन्द से, ३६ साल के 'रुद्र'-ब्रह्मचारी तेरा 'त्रिष्टुप्' छन्द से, ४८ साल के 'आदित्य'-ब्रह्मचारी तेरा 'जगती' छन्द से, सब विद्याओं में निष्णात 'देव-गण' तेरा 'अनुष्टुप्' छन्द से (**भक्षयन्तु**) सेवन करें।

शब्दार्थ—हे मधुपर्क (**त्वा**) तुझे (**भूतेभ्यः**) वसु, रुद्र, आदित्य, देव के अतिरिक्त अन्य जो भी प्राणि-जगत् है उसके लिए (**परिगृह्णामि**) ग्रहण करता हूँ—अर्थात्, मधुपर्क के तीनों पदार्थ—दधि, शहद तथा घृत—जो वसु, रुद्र, आदित्य, देव तथा भूतमात्र के लिये हितकर हैं, उन सबकी तरफ से प्रतिनिधि बन कर मैं तेरा ग्रहण करता हूँ। बार-बार मधुपर्क की इस प्रकार प्रशंसा का अभिप्राय यह है कि ये तीनों पदार्थ स्वस्थ तथा दीर्घजीवन के लिये अनिवार्य हैं। इस सम्बन्ध में हमने अपने ग्रन्थ 'बुढ़ापे से जवानी की ओर' में विशेष विवरण दिया है।

[वर द्वारा मधुपर्क का प्राशन]

तत्पश्चात्, उस मधुपर्क के तीन भाग करके तीन कांसे के पात्रों में घर भूमि में अपने सम्मुख तीनों पात्र रक्खे। रखके—

ओं यन्मधुनो मधव्यं परमं रूपमन्नाद्यम्।
तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि॥

—पार० १,३,२०

शब्दार्थ—(**मधुनः यत्**) मधु का जो (**परमं**) श्रेष्ठ (**अन्नाद्यम्**) अन्न की तरह भक्षणीय (**मधव्यं रूपं**) मीठा रूप है (**अहम्**) मैं (**मधुनो**) मधु के (**परमेण**) श्रेष्ठ (**अन्नाद्येन**) अन्न की तरह भक्षणीय (**मधव्येन**) मिठास वाले (**रूपेण**) रूप से (**परमः**) परम (**मधव्यः**) मिठास वाला (**अन्नादः**) मधुपर्क को अन्न के समान भक्षण करनेवाला (**असानि**) होऊँ।

उक्त मन्त्र को एक-एक बार बोल के एक-एक भाग से वर थोड़ा-थोड़ा प्राशन करे वा सब प्राशन करे, जो उन पात्रों में शेष उच्छिष्ट मधुपर्क रहा हो वह किसी अपने सेवक को देवे वा जल में डाल देवे। तत्पश्चात्—

[वर द्वारा दो आचमन]

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा। —आश्व० गृह्य०, १,२४,२१

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम् स्वाहा॥

—आश्व०, गृह्य, १,२४,२२

[वर द्वारा इन्द्रियों का जल-स्पर्श]

ओम् वाङ्‌म आस्येऽस्तु॥ —इस मन्त्र से जल द्वारा मुख स्पर्श करे,
ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु॥ —इससे नासिका के दोनों छिद्रों का,
ओं अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु॥ —इससे दोनों आँखों का,
ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु॥ —इससे दोनों कानों का,
ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु॥ इससे दोनों बाहुओं का,
ओं ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु॥ —इस मन्त्र से दोनों जंघाओं का,
ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु॥
—इस मन्त्र से सारे शरीर पर जल के छींटे दे।

[गो-दान]

कन्या—ओं गौर्गौर्गौः प्रतिगृह्यताम्—गो-दान ग्रहण कीजिये।
वर—ओं प्रतिगृह्णामि—धन्यवाद है, ग्रहण करता हूँ।

इति मधुपर्कविधिः

(ग) अथ कन्या-प्रतिग्रहण तथा वस्त्रदान विधिः

इस प्रकार मधुपर्कविधि यथावत् करके कन्या और कार्यकर्त्ता वर को सभा-मण्डप-स्थान से घर में ले जाकर शुभ आसन पर पूर्वाभिमुख बैठा कर वर के सामने पश्चिमाभिमुख कन्या को बैठाये और कार्यकर्त्ता उत्तराभिमुख बैठ कर वर का दक्षिण हाथ चत्ता, अर्थात् हथेली ऊपर रखे, उसके हाथ में कन्या का दक्षिण हाथ चत्ता ही रखे और निम्न प्रकार बोले—

[कन्या का प्रतिग्रहण]

कन्या का पिता—ओम् अमुक् गोत्रोत्पन्नाम् इमाम् अमुक* नाम्नीम् अलङ्कृतां कन्या प्रतिगृह्णातु भवान्—अमुक गोत्र तथा अमुक नाम की कन्या का आप प्रतिग्रहण कीजिये।

ऋषि दयानन्द ने अपने लेखों में कहीं 'कन्यादान' का विधान नहीं किया, न संस्कारविधि के विधि-भाग में 'कन्यादान'-शब्द का प्रयोग किया है। विवाह के समय पिता 'प्रतिगृह्णातु भवान्'—यह कहता है। 'प्रतिग्रहण' का अर्थ है—हमारी कन्या ने आपको वर के रूप में चुना—आपका 'ग्रहण' किया, अब आप हमारे आतिथ्य तथा कन्या का 'प्रतिग्रहण' कीजिए। 'ग्रहण' की प्रतिक्रिया है 'प्रतिग्रहण'—'प्रतिग्रहण' कीजिये का 'दान लीजिये'—यह अर्थ नहीं हो सकता। बैठने के लिये आसन, पाँव धोने तथा आचमन के लिये जल, चखने के लिये मधुपर्क देते हुए भी 'प्रतिगृह्यताम्'-शब्द का प्रयोग है। इस सबका अर्थ दान देना कैसे बन सकता है?

---

* अमुक के स्थान में गोत्र का नाम तथा कन्या का नाम बोले।

गौ तथा कन्या देते हुए भी 'प्रतिगृह्यताम्'-शब्द का प्रयोग है, इसलिये भ्रमवश इसका अर्थ 'गोदान' तथा 'कन्यादान' कर लिया जाता है। विवाह के समय पिता वर तथा कन्या के स्वास्थ्य को चरम लक्ष्य में रखते हुए अपनी तरफ से भेंट के रूप में गौ साथ कर देता है ताकि दोनों दूध, दही, घी, मक्खन का सेवन करते हुए अपने को हृष्ट-पुष्ट रखें, परन्तु भेंट में देने का यह अर्थ नहीं निकलता कि जैसे गौ भेंट में दी जा रही है वैसे कन्या भी भेंट या दान के रूप में दी जा रही है। विवाह के लिये ऋषि दयानन्द ने सर्वत्र 'स्वयंवर' का विधान किया है, 'कन्यादान' का नहीं। मध्यकालीन-युग में स्त्री की स्थिति गिर गई थी, तब कन्या का भी दान होने लगा था, उसकी झलक तत्कालीन स्मृतियों में पायी जाती है जो अब तक चल रही है, परन्तु यह अपने इतिहास का गिरावट का समय था। विाह के समय पिता द्वारा कन्या का हाथ वर के हाथ में दे देना 'कन्यादान' नहीं है—''पाणि-प्रतिग्रहण'' है—वर तथा कन्या का एक-दूसरे का हाथ ग्रहण करना है, जिसका संक्षिप्त नाम 'पाणि-ग्रहण' है। 'दान' तथा 'प्रतिग्रहण' में भेद है—यह मनु० १,८८ से स्पष्ट है जहाँ लिखा है—**'दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्'**—कन्यादान तथा कन्या-प्रतिग्रहण—ये दोनों भिन्नार्थक-शब्द है, 'दान' में आदान-प्रदानता नहीं है, 'प्रतिग्रहण' में 'आदान-प्रदानता' (Responsiveness on both sides) की भावना है।

स्थूल-बुद्धि से सोचने की बात यह है कि अगर कन्या गौ आदि की तरह दान देने की वस्तु होती, तो बारात लेकर वर कन्या के घर क्यों जाता? अगर कन्या के माता-पिता कन्या से पिंड छुड़ाकर उसे दान में देने पर तुले थे, तो वे ही कन्या को लेकर वर के घर आकर उसका दान कर जाते। वर बारात लेकर कन्या के घर धूम-धाम से क्यों जाता? अब कुछ लोग कन्या को लेकर वर के घर जाने लगे हैं—यह समय की विडम्बना है, परन्तु अशास्त्रीय है।

वर—ओं प्रतिगृह्णामि। —यह कह कर कन्या का प्रतिग्रहण करे।

[वर द्वारा कन्या को वस्त्र-प्रदान करना]

निम्न मन्त्र पढ़ कर वर कन्या को उत्तम वस्त्र दे—

वर—ओं जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभि-शस्तिपावा। शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्यय-स्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

—पार० गृह्य०, १,४,१२

शब्दार्थ—ऐ कन्ये! **(जरां गच्छ)** वृद्धावस्था तक मेरे साथ बनी रहना **(बासः परिधत्स्व)** यह वस्त्र जो मैं तुझे भेंट कर रहा हूँ उसे पहन **(कृष्टीनाम्)** कृषि का व्यवसाय करनेवालों में **(वा=वै)** निश्चय से **(अभिशस्तिपावा)** प्रशंसा पानेवाली **(भव)** होना **(च)** और **(शरदः शतं जीव)** सौ बरस तक जीना **(आयुष्मति)** हे दीर्घ आयुवाली **(सुवर्चाः)** वर्चस्ववाली होकर **(रयिं च पुत्रान् च)** धन तथा पुत्रों

को **(अनुसंव्ययस्व)** मर्यादा में सीमित रखना—अनु+सं+व्यय **(इदम्)** यह **(वासः)** वस्त्र **(परिधत्स्व)** पहन।

वर निम्न मन्त्र पढ़कर कन्या को दुपट्टा दे जिसे कन्या यज्ञोपवीतवत् धारण करे—

वर—ओं या अकृन्तन्नवयन् या अतन्वत याश्च देवीस्तन्तूनभितो ततन्थ।
तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः॥

—पार० गृह्य० १,४,१३

शब्दार्थ—**(याः)** जिन देवियों ने **(अकृन्तन्)** इन सूतों को काता है **(अवयन्)** बुना है **(याः अतन्वत्)** इसे लम्बा-चौड़ा बनाया है **(याः च देवीः)** और जिन देवियों ने **(तन्तून्)** इस वस्त्र के तन्तुओं को **(अभितः)** चारों ओर से **(ततन्थ)** गूँथ दिया है **(ताः त्वा देवीः)** उन अपनी देवियों से **(जरसे)** जरा तक **(संव्ययस्व)** मार्यदा से समय व्यय करना, हे **(आयुष्मति इदं वासः परिधत्स्व)** आयुष्मति! इस वस्त्र को पहन।

[वर का स्वय धोती तथा दुपट्टा धारण करना]

तत्पश्चात्, वर निम्न मन्त्र को पढ़कर स्वयं अधोवस्त्र (धोती) धारण करे—

वर—ओं परिधास्यै यशोधास्यै दीर्घायुत्वाय जरदष्टिरस्मि।
शतं जीवामि शरदः पुरूची रायस्पोषमभिसंव्ययिष्ये॥*

शब्दार्थ—**(परिधास्यै)** वस्त्र के परिधान के लिये **(यशोधास्यै)** यश के आधान के लिये **(दीर्घायुत्वाय)** दीर्घजीवन के लिये **(जरदष्टिः अस्मि)** वृद्धावस्था तक जीने की मेरी इच्छा है **(पुरूची)** आगे-आगे बढ़नेवाली **(शतं शरदः जीवामि)** सौ बरस तक जीवित रहूँ **(रायः)** धन **(पोषम्)** पोषण को **(अभि संव्ययिष्ये)** मर्यादा में रखूँगा। वर निम्न मन्त्र पढ़कर स्वयं दुपट्टा धारण करे।

वर—ओं यशसा मा द्यावापृथिवी यशसेन्द्राबृहस्पती।
यशो भगश्च मा विदद्यशो मा प्रतिपद्यताम्॥*

शब्दार्थ—**(मा)** मुझे **(द्यावापृथिवी)** द्यु और पृथिवी से **(यशसा प्रतिपद्यताम्)** यश प्राप्त हो **(इन्द्रा वृहस्पति)** धन-धान्य ऐश्वर्यवालों तथा ज्ञानवालों से यश प्राप्त हो **(यशः भगः च)** मुझे यश और ऐश्वर्य **(विन्दत्)** प्राप्त हो **(यशः मा प्रतिपद्यताम्)** मुझे सब तरफ से यश-ही-यश प्राप्त हो।

इति कन्या-प्रतिग्रहण तथा वस्त्रदान विधिः

---

* समावर्तन (पृ० ३३१-३३२) में भी इन दोनों मन्त्रों का अर्थ देखें।

विवाह संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग (ख)]

[पाणिग्रहण, सप्तपदी; उत्तर-विधि; वधू-प्रस्थान; वधू-स्वागत]

[जो सामान जुटाकर रखना चाहिये]

मधुपर्क विधि में जो सामान लिखा गया है वह तो यहाँ पहले से मौजूद है, उसके अलावा विशेष सामान—(१) वर का भाई या वर-पक्ष का निकटतम सम्बन्धी पानी का भरा घड़ा लेकर बैठे, (२) वर-पक्ष का कोई निकटतम सम्बन्धी एक डण्डा लेकर बैठे, (३) कन्या का भाई सूप में लावा तथा शमी-वृक्ष के सूके पत्ते लेकर रखे, (४) एक जोड़ा यज्ञोपवीत, (५) हवन के पात्र जो पहले से मौजूद ही हैं, (६) एक किलो घी, २ किलो सामग्री, १ तोला कपूर, सूकी समिधाएँ—ये भी पहले से मौजूद होंगी, (७) पत्थर की सिल, (८) सिंन्दूर, (९) भात या कोई मिष्टान्न, (१०) आशीर्वाद देने के लिये फूल या रंगे चावल।

(घ) अथ पाणिग्रहण तथा सप्तपदी विधिः

[कार्यकर्त्ता बड़े होम की तैयारी करे]

कन्या-प्रतिग्रहण* तथा वस्त्रदान विधि के बाद जब तक कन्या वस्त्र परिधान करके सँभले तब तक कार्यकर्त्ता अथवा दूसरा कोई यज्ञ-मण्डप में जाकर यज्ञ-कुण्ड में ईंधन, कपूर तथा घृत से अग्नि को प्रदीप्त करे और घी को कांसे के पात्र डालकर, स्रुवादि होम के पात्र तथा शुद्ध जलपात्र इत्यादि सामग्री यज्ञकुण्ड के समीप जोड़ कर रखे।

[वर-पक्ष के एक व्यक्ति का कलश लेकर अन्त तक बैठे रहना]

इस समय वर-पक्ष का एक पुरुष शुद्ध-वस्त्र धारण कर शुद्ध-जल से पूर्ण एक कलश को लेकर यज्ञकुण्ड की परिक्रमा कर कुण्ड के दक्षिण भाग में उत्तराभिमुख हो कलश स्थापन करे और जब तक विवाह-कृत्य पूर्ण न हो जाए तब तक उत्तराभिमुख बैठा रहे।

[वर-पक्ष के एक व्यक्ति का दण्ड लेकर अन्त तक बैठे रहना]

इसी प्रकार वर के पक्ष का दूसरा पुरुष हाथ में दण्ड लेकर कुण्ड के दक्षिण

* विवाह में मुख्य विधि 'पाणि-ग्रहण'—हाथ पकड़ने—की है, इसलिये विवाह का दूसरा नाम 'पाणि-ग्रहण' है। पारसियों में भी विवाह के समय वर वधू का हाथ पकड़ता है। इस विधि को वे 'हाथ-वरो' कहते हैं, जिसका अर्थ है—हाथ वर लेना, पकड़ लेना। इसी को पंजाबी में 'हथलेवा' कहते हैं। रोमन लोगों में भी विवाह के समय स्त्री अपने दायें हाथ को वर के दायें हाथ पर रखती थी।

भाग में कार्य-समाप्ति-पर्यन्त उत्तराभिमुख बैठा रहे।

[कन्या का भाई या सम्बन्धी धाणी लेकर बैठे]

इसी प्रकार वधू का भाई अथवा वह न हो तो उसका चचेरा भाई, ममेरा भाई अथवा मौसी का लड़का चावल या ज्वार की धाणी और शमी-वृक्ष के सूखे पत्ते इन दोनों को मिलाकर शमीपत्र युक्त धाणी की ४ अञ्जलि एक शुद्ध—अर्थात् चमड़े या तांत से रहित—सूप में रख कर पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख बैठा रहे।

[वर तथा कन्या का यज्ञ-मण्डप में आना]

तत्पश्चात्, वस्त्र धारण की हुई कन्या को कार्यकर्त्ता अथवा पिता वर के सम्मुख लायें और दोनों निम्न मन्त्र का उच्चारण करें—

कन्या तथा वर—

ओम् समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ १॥

—ऋ० मं० १०, सू० ८५, मं० ४७; पार० १,४,१४

वर और कन्या बोलें कि हे **(विश्वे देवाः)** इस यज्ञशाला में बैठे हुए विद्वान् लोगो! आप हमदोनों को **(समञ्जन्तु)** निश्चय करके जानें कि हम अपनी प्रसन्नता-पूर्वक गृहाश्रम में एकत्र रहने के लिये एक-दूसरे को स्वीकार करते हैं कि **(नौ)** हमारे दोनों के **(हृदयानि)** हृदय **(आपः)** जल के समान **(सम्)** शान्त और मिले हुए रहेंगे। जैसे **(मातरिश्वा)** प्राणवायु हमको प्रिय है वैसे **(सम्)** हम दोनों एक-दूसरे से सदा प्रसन्न रहेंगे। जैसे **(धाता)** धारण करनेहारा परमात्मा सब में **(सम्)** मिला हुआ सब जगत् को धारण करता है, वैसे हम दोनों एक-दूसरे को धारण करेंगे। जैसे **(समुदेष्ट्री)** उपदेश करनेहारा श्रोताओं से प्रीति करता है वैसे **(नौ)** हमारे दोनों की आत्मा एक-दूसरे के साथ दृढ़ प्रेम को **(दधातु)** धारणा करे।

तत्पश्चात्, वर अपने दक्षिण हाथ से कन्या का दक्षिण हाथ पकड़ के घर के बाहर यज्ञ-मण्डप-स्थान में कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुए दोनों आवें और वर निम्न मन्त्र बोले—

कन्या तथा वर—

ओं यदैषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा।
हिरण्यपर्णो वैकर्णः स त्वा मन्मनसां करोतु, असौ*॥ २॥

—पार० कां० १, कं० ४,१५

---

* दूसरे मंत्र के अर्थ में ऋषि दयानन्द ने वरानने तथा वरावन का प्रयोग किया है—इसलिये यह मन्त्र दोनों बोलें। तीसरे में 'अपतिघ्न्या' तथा चौथे में 'सा' का प्रयोग है—इसलिये तीसरा और चौथा मन्त्र पति बोले। 'असौ'—इस पद के स्थान में कन्या का नाम ले।

शब्दार्थ—(**असौ**) इस पद के स्थान में कन्या का नाम उच्चारण करना। हे वरानने वा हे वरानन (**यत्**) जो तू (**मनसा**) अपनी इच्छा से मुझको जैसे (**पवमानः**) पवित्र वायु (**वा**) जैसे (**हिरण्यपर्णो वैकर्णः**) तेजोमय जल आदि को किरणों से ग्रहण करनेवाला सूर्य (**दूरम्**) दूरस्थ पदार्थों और (**दिशोऽनु**) दिशाओं को प्राप्त होता है, वैसे तू प्रेमपूर्वक अपनी अच्छा से मुझको प्राप्त होती वा होता है, उस (**त्वा**) तुझको (**सः**) वह परमेश्वर (**मन्मनसाम्**) मेरे मन के अनुकूल (**करोतु**) करे और हे (**वीर**) वीर-पुरुष! जो आप मन से मुझको (**ऐषि**) प्राप्त होते हो उस आपको जगदीश्वर मेरे मन के अनुकूल सदा रखे।

[प्रदक्षिणा]

उक्त मन्त्र को बोल के कन्या को ले के घर के बाहर यज्ञ-मण्डप-स्थान में कुण्ड के समीप हाथ पकड़े हुए दोनों आवें और वर बोले—

वर—ओं भूर्भुवः स्वः। अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ३॥

—ऋ० १०,८५,४४

शब्दार्थ—हे वरानने (**अपतिघ्नि**) पति से विरोध न करनेहारी तू, जिसके (**ओम्**) अर्थात् रक्षा करनेवाला (**भूः**) प्राणदाता (**भुवः**) सब दुःखों को दूर करनेहारा (**स्वः**) सुखस्वरूप और सब सुखों के दाता आदि नाम हैं, उस परमात्मा की कृपा और अपने उत्तम पुरुषार्थ से है (**अघोरचक्षुः**) प्रियदृष्टि (**एधि**) हो, (**शिवा**) मंगल करनेहारी (**पशुभ्यः**) सब पशुओं को सुखदाता, (**सुमनाः**) पवित्रान्तः करणयुक्त प्रसन्नचित्त, (**सुवर्चाः**) सुन्दर शुभ गुण-कर्म-स्वभाव और विद्या से सुप्रकाशित, (**वीरसूः**) उत्तम वीर पुरुषों को उत्पन्न करनेहारी (**देवृकामा**) देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी (**स्योना**) सुखयुक्त हो के (**नः**) हमारे (**द्विपदे**) मनुष्यादि के लिये (**शम्**) सुख करनेहारी (**भव**) सदा हो और (**चतुष्पदे**) गाय आदि पशुओं की भी (**शम्**) सुख देनेहारी हो, वैसे ही मैं तेरा पति भी वर्त्ता करूँ।

वर—ओं भूर्भुवः स्वः। सा नः पूषा शिवतमामैरय सा न ऊरू उशती विहर। यस्यामुशन्तः प्रहराम शेफं यस्यामु कामा बहवो निविष्ट्यै॥ ४॥

—पार० कां० १,४,१६

उक्त ४ मन्त्रों को वर बोल के, दोनों वर-कन्या यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करके कुण्ड के पश्चिम भाग में प्रथम स्थापन किये हुए आसन पर पूर्वाभिमुख—वर के दक्षिण भाग में वधू और वधू के वाम में वर—बैठ के कन्या बोले—

कन्या—ओं प्र मे पतियानः पन्थाः कल्पताꣳ शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम्॥

—मं० ब्रा० १,१,८

शब्दार्थ—**(मे)** मेरा **(पतियानः)** पति को प्राप्त होने का **(पन्थाः)** मार्ग **(प्रकल्पताम्)** बनाइये, मैं **(शिवा)** कल्याणवाली **(अरिष्टा)** दुःख तथा रोग रहित होती हुई **(पतिलोकम्)** पति के घर को **(गमेयम्)** जाऊँ।

[विवाह-यज्ञ का प्रारम्भ]

तत्पश्चात्, यज्ञकुण्ड के समीप दक्षिण-भाग में उत्तराभिमुख पुरोहित की स्थापना करनी* और यज्ञ का निम्न प्रकार '**ऋत्विग्वरण**' करे—

यजमान—ओमावसोः सदने सीद। (पृ० ७१)

ऋत्विग्—ओं सीदामि।

यजमान—अहमद्योक्तकर्मकरणाय भवन्तं वृणे।

ऋत्विग्—वृतोऽस्मि।

तत्पश्चात्, निम्न विधि करे—वर, कन्या, पुरोहित और कार्यकर्त्ता 'तीन आचमन' (ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा आदि, पृ० ७१), करके, हस्त और मुख प्रक्षालन एक शुद्ध पात्र में करके दूर रखवा दे। हाथ और मुख पोंछ के—

'**अग्न्याधान**' (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव आदि, पृ० ७२-७३), '**अग्नि-प्रदीपन**' (ओं उद्बुध्यस्वाग्ने आदि, पृ० ७३), '**समिदाधान**' (ओम् अयन्त इध्म आत्मा+ओं समिधाग्निं दुवस्यत+ओं सुसमिद्धाय+ओं तंत्वा समिद्भिः आदि, पृ० ७४-७७), घृत की '**पाँच आहुतियाँ**' (ओम् अयं त इध्म आत्मा, पृ० ७७), तीन मन्त्रों से कुण्ड के तीन और '**जल-प्रसेचन**' (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व आदि, पृ०७७), चौथे मन्त्र से कुण्ड के '**चारों ओर जल-प्रसेचन**' (ओं देव सवितः प्रसुव आदि, पृ० ७८) करे।

तत्पश्चात्, कन्या, वर, पुरोहित और कार्यकर्त्ता ४ '**आघारावाज्यभागाहुतियाँ**' (ओम् अग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७८-७९), ४ '**व्याहृति आहुतियाँ**' (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७९), ८ '**अष्टाज्याहुतियाँ**' ('ओं त्वं नो अग्ने' से 'ओं भवतन्नः समनसौ' आदि तक, ८२-८६)—कुल १६ **आज्याहुतियाँ** देके '**प्रधान-होम**' का प्रारम्भ करें।

[प्रधान-होम]

प्रधान-होम के समय कन्या अपने दक्षिण हाथ को वर के दक्षिण स्कन्ध पर स्पर्श करके पहले ४ मन्त्रों से—अर्थात्, एक-एक से एक-एक, मिल के चार '**पवमानी**'** (पृ० ८१) आज्याहुति क्रम से दे और पाँचवीं आहुति '**ओं भूर्भुवः**

---

* पुरोहित की स्थापना के सम्बन्ध में श्री युधिष्ठिर मीमांसक 'संस्कारविधि' के शताब्दी-संस्करण में लिखते हैं—'अर्थात् इस समय अपने परिवार के यज्ञ आदि गृह्य-कर्म कराने के लिये किसी पुरोहित को सदा के लिये नियत करना चाहिये। आगे का कार्य यही पुरोहित करायेगा।'

** पवमानी आहुतियों का अर्थ पृष्ठ ८१ में देखें।

स्वः। त्वमर्यमा भवसि०'—यह मन्त्र जो आगे दिया जा रहा है, उससे दे। इस प्रकार चार पवमानी तथा पाँचवीं अर्यमा की आहुति—ये ५ आहुतियाँ निम्न प्रकार दें—

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा। इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥ १॥

ओं भूर्भुवः स्वः। अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्जजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥ २॥

ओं भूर्भुव स्वः। अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम्। दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय—इदं न मम॥ ३॥

ओं भूर्भुवः स्वः। प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम॥ ४॥

ओं भूर्भुवः स्वः। त्वमर्यमा भवसि यत्कनीनां नाम स्वधावन् गुह्यं बिभर्षि। अंजन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥ ५॥ —ऋक् ५।३।२

शब्दार्थ—हे **(भूः भुवः स्वः)** सत्, चित्, आनन्दस्वरूप भगवन्! **(स्वधावन्)** सुख-सामग्री वाले! **(यत् त्वं)** जो तू **(कनीनां)** कन्याओं का **(अर्यमा)** नियामक **(भवसि)** है, और **(गुह्यं)** उनकी गुप्त रूप से, उनके अनजाने **(बिभर्षि)** उनका भरण करता है और **(दम्पती)** पति-पत्नी को **(समनसा)** समान मनवाला **(कृणोषि)** करता है, ऐसे तुझे **(सुधितं)** बुद्धिमान् **(मित्रं)** मित्र को हम **(गोभिः)** स्तुति रूप वाणी से **(अञ्जन्ति)** प्रसन्न करते हैं।

[राष्ट्रभृत्-यज्ञ, घृत और शाकल्य* की १२ आहुतियाँ]

उक्त ५ मन्त्रों से आहुतियाँ देने के बाद निम्न १२ मन्त्रों से राष्ट्रभृत्-यज्ञ की घृत तथा शाकल्य से १२ आहुतियाँ दें।

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदमृताषाहे ऋतधाम्ने अग्नये गन्धर्वाय—इदं न मम॥ १॥

ओम् ऋताषाड् ऋतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदमोषधिभ्योऽप्सरोभ्यो मुद्भ्यः—इदं न मम॥ २॥

शब्दार्थ—**(अग्नि)** आगे-आगे जो-कुछ भी जाना जा सकता है उस सब में जिस भगवान् की गति है वह **(गन्धर्वः)** सत्यस्वरूप वाणी—ज्ञान—को जो धारण

---

* यज्ञ में सामग्री के रूप मेंपड़ने वाले यथाविधि बनाये हुए विशेष पदार्थ को 'शाकल्य' कहते हैं। उदाहरणार्थ, देखो 'अन्नप्राशन'-संस्कार, पृष्ठ २२६-२२७ तथा संस्कारविधि 'अग्न्याधान' प्रकरण।

करता है वह **(ऋतधामा)** संसार को चलानेवाले नियमों का जो धारण करनेवाला है **(ऋताषाड्)** जो उन नियमों को ही सहन करता है, उनके उल्लंघन को सहन नहीं करता **(सः)** वह अग्नि **(इदं ब्रह्म च क्षत्रं च पातु)** समाज में ब्राह्म-शक्ति तथा क्षात्र-शक्ति की रक्षा करे **(तस्मै)** उस **(ऋतधाम्ने)** ऋतधाम **(अग्नये गन्धर्वाय)** अग्निरूप गन्धर्व के लिये **(स्वाहा)** यह शुभ वाणी है।

अग्निरूप गन्धर्व जो नियमों का निर्माता है **(तस्य)** उसी की नियमानुकूल रची हुई **(ओषधयः)** औषधियाँ **(अप्सरसः)** जल में सिद्ध होकर **(मुदो नाम)** रोग निवारण होने के कारण हर्ष देनेवाली प्रसिद्ध हैं। उन औषधियों के लिये यह शुभ वाणी है।

ओं सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं सꣳहिताय विश्वसाम्ने सूर्याय गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ ३॥

ओं सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदं मरीचिभ्योऽप्सरोभ्यो आयुभ्यः—इदन्न मम॥ ४॥

शब्दार्थ—**(संहितः)** स्वयं ठीक तरह से टिका हुआ **(विश्वसामा)** विश्व को सम-भाव से देखनेवाला **(सूर्यः)** सूर्य **(गन्धर्वः)** पृथ्वी को भी ठीक तरह से धारण कर रहा है—टिकाये हुए है। वह समाज में ब्राह्म-शक्ति तथा क्षात्र-शक्ति की रक्षा करे—उसे ठीक से टिकाये रखे। संहित, विश्वसाम, गन्धर्व सूर्य के लिए यह शुभ वाणी है।

उस सूर्य की **(अप्सरसः)** आकाशस्थ जलों में से सरण करती हुई **(मरीचयः)** किरणें **(आयुवो नाम)** आयु—स्वास्थ्य—देनेवाली प्रसिद्ध हैं, उनके लिये यह शुभ वाणी है।

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं सुषुम्णाय सूर्यरश्मये चन्द्रमसे गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ ५॥

ओं सुषुम्णः सूर्यरश्मिचन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदं नक्षत्रेभ्योऽप्सरोभ्यो भेकुरिभ्यः—इदन्न मम॥ ६॥

शब्दार्थ—**(सुषुम्णः)** अच्छे प्रकार से सुख देनेवाला **(सूर्यरश्मिः)** सूर्य की किरणें जिस पर पड़ती हैं ऐसा **(गन्धर्वः)** रश्मि को धारण करनेवाला **(चन्द्रमा)** चन्द्रमा है। वह समाज में ब्राह्म-शक्ति तथा क्षात्र-शक्ति की रक्षा करे। गन्धर्व रूप चन्द्रमा के लिये यह शुभ वाणी है।

सूर्य रश्मियों को पानेवाले चन्द्रमा के **(नक्षत्राणि)** नक्षत्र **(भेकुरयः)** 'भा' करनेवाली चाँद की किरणें हैं **(अप्सरसः)** वे अन्तरिक्ष के जलों में व्याप्त हैं। चाँद की उन शीतल किरणों के प्रति यह शुभवाणी है।

ओम् इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदमिषिराय विश्वव्यचसे वाताय गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ ७॥

ओम् इषिरो वश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो अप्सरस ऊर्जो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदमद्भ्योऽप्सरोभ्यऽऊर्भ्यः—इदन्न मम॥ ८॥

शब्दार्थ—(**इशिरः**) गमनशील (**विश्वव्यचाः**) विश्व में व्यक्त (**वातः**) वायु (**गन्धर्वः**) इस पृथिवी का धारण करता है, वह समाज में ब्राह्म-शक्ति तथा क्षात्र-शक्ति की रक्षा करे (**तस्य**) उस वायु के (**अप्सरसः**) सर्वत्र व्याप्त जल (**ऊर्जः+नाम**) बलवान् प्रसिद्ध हैं। वायु के साथ जल रहता ही है। गमनशील वायु तथा जलयुक्त बलवान् वायु-रूप गन्धर्व के लिये ये शुभ वाणियाँ हैं।

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्र पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं भुज्यवे सुपर्णाय यज्ञाय गन्धर्वाय—इदन्न मम॥ ९॥

ओं भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरस स्तावा नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदं दक्षिणाभ्योऽप्सरोभ्यः स्तावाभ्यः—इदन्न मम॥ १०॥

शब्दार्थ—(**यज्ञः**) यज्ञ जिससे (**भुज्युः सुपर्णः गन्धर्वः**) सुख-भोग होता है, जो सुपर्ण—अर्थात् मानो पंखों से यजमान को ऊपर उठा लेता है, जो गन्धर्व—अर्थात्, मधुर वाणी का धारण करनेहारा है, वह समाज में ब्राह्म-शक्ति तथा क्षात्र-शक्ति की रक्षा करे, (**तस्य**) उस यज्ञ की (**अप्सरसः**) क्षमता बढ़ानेवाली (**दक्षिणा**) दक्षिणा (**स्तावा नाम**) ईश्वर की स्तुति है—यह प्रसिद्ध है। यज्ञ-गन्धर्व तथा ईश्वर-स्तुति के वाक्यों के प्रति ये शुभ वाणियाँ हैं।

ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः। स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट्॥ इदं प्रजापतये विश्वकर्मणे मनसे गन्धर्वाय—इदन्नमम॥ १॥ ओं प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम। ताभ्यः स्वाहा॥ इदमृक्सामेम्योऽप्सरोम्य एष्टिम्यः—इदन्न मम॥ १२॥

—यजु० १८,३८-४३

शब्दार्थ—(**विश्वकर्मा**) सब कार्यों को करनेवाला (**प्रजापतिः**) प्रजाओं का पति (**गन्धर्वः**) वाणी को धारण करनेवाला (**मनः**) मन है। वह समाज में ब्राह्म-शक्ति तथा क्षात्र-शक्ति की रक्षा करे (**तस्य**) उस मन की (**ऋक् सामानि**) ऋग्वेद की ऋचाएँ और सामवेद के गान (**अप्सरसः एष्टयः**) अन्तरिक्ष में हमारी '**इष्टि**' अर्थात्, कामना बनकर व्याप्त है। मन-गन्धर्व, ऋक्-साम तथा दृष्टियों के लिये ये शुभ वाणियाँ है।

भावार्थ—इन बारह मन्त्रों में अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु, यज्ञ तथा मन को गन्धर्व कहा है, 'गन्धर्व'—अर्थात्, ये संसार का भिन्न-भिन्न रूपों में धारण करते हैं। इनसे याचना की गई है कि ये समाज में ब्राह्म-शक्ति तथा क्षात्र-शक्ति की रक्षा करें।

ब्राह्म-शक्ति मस्तिष्क की शक्ति है, मानसिक तथा आध्यात्मिक-ज्ञान की शक्ति; क्षात्र-शक्ति भुजाओं की शक्ति है, आधिभौतिक-बल की शक्ति। इन्हीं दो शक्तियों से समाज टिका रह सकता है। इन मन्त्रों को 'राष्ट्रभृत्' इसीलिये कहा गया है, क्योंकि इन शक्तियों के बल पर ही राष्ट्र टिका रह सकता है।

[जयाहोम की घृत तथा सामग्री से १३ आहुतियाँ]

उक्त बारह (१२) मन्त्रों से बारह [राष्ट्रभृत्] आज्याहुति देने के पश्चात् निम्न मन्त्रों से 'जयाहोम' करें—

ओं चित्तं च स्वाहा॥ इदं चित्ताय—इदन्न मम॥ १॥
ओं चित्तिश्च स्वाहा॥ इदं चित्त्यै—इदन्न मम॥ २॥
ओम् आकूतं च स्वाहा॥ इदमाकूताय—इदन्न मम॥ ३॥
ओम् आकूतिश्च स्वाहा॥ इदमाकूत्यै—इदन्न मम॥ ४॥
ओं विज्ञातं च स्वाहा॥ इदं विज्ञाताय—इदन्न मम॥ ५॥
ओं विज्ञातिश्च स्वाहा॥ इदं विज्ञात्यै—इदन्न मम॥ ६॥
ओं मनश्च स्वाहा॥ इदं मनसे—इदन्न मम॥ ७॥
ओं शक्वरीश्च स्वाहा॥ इदं शक्वरीभ्यः—इदन्न मम॥ ८॥
ओं दर्शश्च स्वाहा॥ इदं दर्शाय—इदन्न मम॥ ९॥
ओं पौर्णमासं च स्वाहा॥ इदं पौर्णमासाय—इदन्न मम॥ १०॥
ओं बृहच्च स्वाहा॥ इदं बृहते—इदन्न मम॥ ११॥
ओं रथन्तरं च स्वाहा॥ इदं रथन्तराय—इदन्नमम॥ १२॥

शब्दार्थ—जीवन में सफल होने के लिये इन शक्तियों का आह्वान कर 'जया-होम' से आहुतियाँ दी जाती हैं। (**चित्तं**) चित्त और (**चित्तिः**) चिति-शक्ति, (**आकूतं**) संकल्प और (**आकूतिः**) संकल्प-शक्ति, (**विज्ञातं**) विज्ञान और (**विज्ञातिः**) विज्ञान की शक्ति, (**मनः**) मन और (**शक्वरी**) मन की कर सकने की शक्ति, (**दर्शः**) दर्शेष्टि यज्ञ—अमावास्या का यज्ञ और (**पौर्णमासं**) पूर्णिमा का यज्ञ, (**बृहत्**) महत्ता, (**रथन्तरं**) रथन्तर सामगान—इन सबके प्रति (**स्वाहा**) शुभ वाणी बोलता हूँ।

ओं प्रजापतिर्जयानिन्द्राय वृष्णे प्रायच्छदुग्रः पृतनाजयेषु। तस्मै विशः समनमन्त सर्वाः स उग्रः स इ हव्यो बभूव स्वाहा॥ इदं प्रजापतये जयानिन्द्राय—इदन्न मम॥ १३॥ —पार० गृ० १,५,९

शब्दार्थ—(**उग्रः प्रजापतिः**) प्रजाओं के पालक उग्र परमात्मा ने (**वृष्णे**) इष्ट-सिद्धि की वर्षा चाहने वाले (**तस्मै इन्द्राय**) उस ऐश्वर्येच्छु व्यक्ति के लिये (**पृतनाजयेषु**) शत्रुओं की सेनाओं को जीतने में (**जयान्**) जयों को (**प्रायच्छत्**) दिया है (**सर्वाः विशः**) जया-होम से विजय प्राप्त कर लेने पर सब प्रजाएँ

(समनमन्त) उसके आगे नमन करती हैं **(सः उग्रः)** यह ऐश्वर्येच्छु व्यक्ति उग्र स्वभाव का है **(स इ हव्यः बभूव)** वह विजय प्राप्त करने के कारण—**'हव्य'**—सेवा ग्रहण करने के योग्य हो गया है।

उक्त प्रत्येक मन्त्र से एक-एक करके 'जयाहोम' की १३ (तेरह) आज्याहुति देने के पश्चात्, १८ मन्त्रों से 'अभ्यातन' होम करना। इसके १८ मन्त्र ये हैं—

[अभ्यातन-होम की १८ आज्याहुतियाँ]

ओम् अग्निर्भूतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्या स्वाहा॥ इदमग्नये भूतानामधिपतये—इदन्न मम॥ १ ॥

शब्दार्थ—**(अग्निः)** भौतिक अग्नि **(भूतानां)** पञ्च महाभूतों में **(अधिपतिः)** मुख्य है **(सः मा)** वह मेरी **(अवतु)** रक्षा करे **(अस्मिन्, ब्रह्मणि, अस्मिन् क्षत्रे)** इस ब्रह्म-क्षत्र के समूह में—पहले मन्त्रों में भी 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' का वर्णन आया है—**(अस्याँ आशिषि)** आशीर्वाद के इस मंगल कार्य में **(अस्यां पुरोधायां)** इस सामने बैठी कन्या में **(अस्मिन् कर्मणि)** इस यज्ञ-कर्म में **(अस्यां देवहूत्यां)** इस देवों को आहूत की गई सभा में अग्नि हमारी रक्षा करे।

ओम् इन्द्रो ज्येष्ठानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदमिन्द्राय ज्येष्ठानामधिपतये—इदन्न मम॥ २ ॥

शब्दार्थ—**(इन्द्रः)** इन्द्र **(ज्येष्ठानां अधिपतिः)** बड़ों का भी बड़ा, उनका मुख्य है...। (आगे वही अर्थ है)

ओं यमः पृथिव्याऽ अधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं यमाय पृथिव्या अधिपतये—इदन्न मम॥ ३ ॥

शब्दार्थ—**(यमः)** यम **(पृथिव्याः अधिपतिः)** इस पृथिवी में सबसे बड़ा है...। (आगे वही अर्थ है)

ओं वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं वायवे अन्तरिक्षस्याधिपतये—इदन्न मम॥ ४॥

ओं सूर्यो दिवोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं सूर्याय दिवोऽधिपतये—इदन्न मम॥ ५ ॥

ओं चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं चन्द्रमसे नक्षत्राणामधिपतये—इदन्न मम॥ ६ ॥

ओं बृहस्पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदं बृहस्पते ब्रह्मणोऽधिपतये—इदन्न मम॥ ७॥

ओं मित्रः सत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदं मित्राय सत्यानामधिपतये—इदन्न मम॥ ८॥

ओं वरुणोऽपामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदं वरुणायापाम-धिपतये—इदन्न मम॥ ९॥

ओं समुद्रः स्त्रोत्यानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदं समुद्राय स्त्रोत्यानामधिपतये—इदन्न मम॥ १०॥

ओं अन्नꣳसाम्राज्यानामधिपतिः तन्मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदमन्नाय साम्राज्या-नामधिपतये—इदन्न मम॥ ११॥

ओं सोम ओषधीनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदं सोमाय ओषधीनामधिपतये—इदन्न मम॥ १२॥

ओं सविता प्रसवानामधिपतिः समावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ इदं सवित्रे प्रसवानामधिपतये—इदं न मम॥ १३॥

ओं रुद्रः पशूनामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदं रुद्राय पशूनामधिपतये—इदन्न मम॥ १४॥

ओं त्वष्टा रूपाणामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदं त्वष्ट्रे रूपाणामधिपतये—इदन्न मम॥ १५॥

ओं विष्णुः पर्वतानामधिपतिः स मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् श्रत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदं विष्णवे पर्वतानामधिपतये—इदन्न मम॥ १६॥

ओं मरुतो गणानामधिपतयस्ते मावत्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामा-शिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याᳩ स्वाहा॥ इदं मरुद्भ्यो गणानामधिपतिभ्यः—इदन्न मम॥ १७॥

शब्दार्थ—(वायुः) वायु **(अन्तरिक्षस्य)** अन्तरिक्ष का...., **(सूर्यः दिवः)**

सूर्य दिन का; **(चन्द्रमा नक्षत्राणां)** चन्द्र नक्षत्रों का; **(बृहस्पतिः ब्रह्मणः)** बृहस्पति ज्ञानियों का; **(मित्रः सत्यानां)** मित्र सत्यों का; **(वरुणः अपाम्)** वरुण जलों का; **(समुद्रः स्त्रोतानाम्)** समुद्र स्त्रोतों का; **(अन्नं साम्राज्यानाम्)** अन्न चक्रवर्ती साम्राज्यों का; **(ओषधीनाम् सोमः)** सोमलता औषधियों की; **(सविता प्रसवानाम्)** उत्पादक परमात्मा सब प्रसवों का; **(रुद्रः पशूनाम्)** रुद्र-रूप भगवान् हिंसक जीवों को रुलाने के कारण पशुओं का; **(त्वष्टा रूपाणां)** शिल्पी द्रष्टव्य-सुन्दर-पदार्थों का; **(विष्णुः पर्वनानां)** यज्ञ मेघों का; **(मरुतः गणानां)** मरुत् गणों का **(अधिपतिः)** स्वामी है—ये सब **(मा अवत्)** मेरी रक्षा करें। इस **(ब्रह्म-क्षत्र)** ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के समूह में जहाँ आशीर्वाद दिया जा रहा है, जहाँ यज्ञ-कर्म हो रहा है, जहाँ सामने विवाहार्थ कन्या बैठी है, जहाँ देव-गण आमन्त्रित हैं—अग्नि, इन्द्र, वायु, सूर्य, बृहस्पति, मित्र, वरुण, समुद्र, अन्न, सोम, सविता, रुद्र, त्वष्टा, विष्णु, मरुत् मेरी रक्षा करें।

ओं पितरः पितामहाः परेऽवरे ततास्ततामहा इह मावन्त्वस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् क्षत्रेऽस्यामाशिष्यस्यां पुरोधायामस्मिन् कर्मण्यस्यां देवहूत्याꣳ स्वाहा॥ इदं पितृभ्यः पितामहेभ्यः परेभ्योऽवरेभ्यस्त-तेभ्यस्ततामहेभ्यश्च—इदन्न मम॥ १८॥

—पार० कां० १, कं० ५,१०

शब्दार्थ—विश्व में विद्यमान अग्नि, इन्द्र, वायु आदि तथा परिवार में विद्यमान **(पितरः)** माता-पिता **(पितामहाः)** दादा-दादी **(परे-अवरे)** दूर के निकट के **(तताः)** फैले हुए **(ततामहाः)** बहुत दूर-दूर फैले हुए सम्बन्धी मेरी रक्षा करें।

उक्त प्रकार 'अभ्यातन-होम' की १८ (अठारह) आज्याहुति दिये पीछे, पुनः—

[मृत्यु तथा दुःख विमोचन होम की ८ आज्याहुतियाँ दें]

ओम् अग्निरैतु प्रथमो देवतानाꣳ सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्। तदयꣳ राजा वरुणोऽनुमन्यतां यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघं न रोदात् स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ १॥

—आश्व० गृह्य० १,१३,६

शब्दार्थ—**(देवतानाम् प्रथमः अग्निः)** देवताओं में प्रथम—पहले अग्नि को भूतों का अधिपति भी कहा है—अग्नि **(आ एतु)** आये **(सः)** वह **(अस्यै प्रजां)** इस स्त्री की सन्तान को **(मृत्युपाशात्)** मृत्यु के पाश से **(मुञ्चतु)** मुक्त करे, **(तत्)** इस बात का **(अयं वरुणः राजा)** सबके लिये वरण योग्य यह वरुण राजा परमेश्वर **(अनुमन्यताम्)** अनुमोदन करे, इस बात को स्वीकार करे **(यथा)** जिससे **(इयं स्त्री)** यह स्त्री **(पौत्रं अघं)** पुत्र-सम्बन्धी दुःख को **(न रोदात्)** न रोये (पुंसवन-संस्कार में भी यह मन्त्र आया है, देखो पृ० १५१)।

ओम् इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः। अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामिꣳ स्वाहा॥

इदमग्नये—इदन्न मम॥ २॥

शब्दार्थ—(**गार्हपत्यः अग्निः**) गार्हपत्य-अग्नि (**इमाम् त्रायताम्**) इस स्त्री की रक्षा करे (**अस्यै**) और इसको (**प्रजां दीर्घं आयुः नयतु**) सन्तान तथा दीर्घ आयु प्रदान करे और यह स्त्री (**अशून्योपस्था=अ+शून्य+उपस्थवाली—जिसके गर्भाशय में शून्यता नहीं है**) वन्ध्यात्व दोष से रहित (**जीवताम्**) जीवित सन्तानों की (**माता**) माता (**अस्तु**) हो (**इयं**) यह स्त्री (**पौत्रं आनन्दं**) पुत्र-सम्बन्धी आनन्द का (**अभि, वि, बुध्यताम्**) बोध करे, उसे जाने।

ओं स्वस्ति नोऽग्ने दिवा पृथिव्या विश्वानि धेह्ययथा यजत्र। यदस्यां मयि दिवि जातं प्रशस्तं तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ३॥

शब्दार्थ—हे (**यजत्र अग्ने**) यज्ञ द्वारा त्राण करनेवाले अग्निदेव! (**दिवा पृथिव्या**) द्यु-लोक तथा पृथिवी-लोक में (**विश्वानि अयथा**) हमसे जो सब अयथा—अनुचित—कार्य हुए हो (**स्वस्ति**) उनको सुधार (**धेहि**) दो और (**यत् अस्यां मयि**) जो इस स्त्री में और मुझ में (**प्रशस्तं दिवि जातं**) प्रशंसनीय प्रकाश उत्पन्न हुआ है (**तत्**) वह (**अस्मासु**) हममें (**चित्रं द्रविणं**) विचित्र धन की तरह (**धेहि**) स्थापित कर—अर्थात्, हमसे अनेक अयथार्थ काम हुए हैं, हमें सद्बुद्धि दो कि हम उनके सम्बन्ध में सुधरें, और हममें जो प्रशंसनीय बात हो वह हमारा धन समान हो।

ओं सुगन्नु पन्थां प्रदिशन्न एहि ज्योतिष्मध्ये ह्यजरन्नऽ आयुः। अपैतु मृत्युरमृतं म आगाद् वैवस्वतो नो ऽअभयं कृणोतु स्वाहा॥ इदं वैवस्वताय—इदन्न मम॥ ४॥
—पार०, गृ०, कां० १, कं० ५,११

शब्दार्थ—हे परमात्मन्! (**नः**) हमें (**सुगन् पन्थां**) सुगम मार्ग का (**प्रदिशन्**) उपदेश देते हुए (**नु एहि**) निश्चय से प्राप्त हूजिये (**हि**) निश्चय से (**ज्योतिष्मध्ये**) ज्योतिमान् गृहस्थ-जीवन में (**नः**) हमें (**अजरत् आयुः**) जरा-रहित आयु दीजिये। (**मृत्युः**) मृत्यु (**अप एतु**) हमसे दूर हट जाए (**अमृतं**) मोक्ष (**आगात्**) प्राप्त हो (**वैवस्वतः**) सूर्य (**नः**) हमें (**अभयम्**) निर्भय (**कृणोतु**) करे।

ओं परं मृत्योऽ अनु परेहि पन्थां यत्र नोऽ अन्य इतरो देवयानात्। चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाꣳ रीरिषो मोत वीरान्त्स्वाहा॥ इदं मृत्यवे—इदन्न मम॥ ५॥ —पार० कां० १, कं० ५,१२

शब्दार्थ—(**मृत्यो**) हे मृत्यो! (**देवयानात्**) देवयान-मार्ग से अर्थात् निवृत्ति-मार्ग से (**यत्र**) जहाँ (**यः अन्यः इतरः**) जो दूसरा—इतर पन्था—मार्ग—है, उस (**परं पन्थां**) परे के मार्ग को (**अनुपरेहि**) हटकर पीछे चली जा, (**ते चक्षुष्मते**

शृण्वते ब्रवीमि) तुझ आँखों से देखनेवाले और कानों से सुननेवाले को मैं कहता हूँ कि आँखें खोलकर देख ले और कानों से सुन ले कि **(नः प्रजाम्)** हमारे कुटुम्बीजनों को **(उत)** और **(वीरान्)** सन्तानों को **(मा)** मत **(रीरिषः)** नष्ट कर।

भावार्थ—छान्दोग्य ४,१५; ५,१० तथा प्रश्नोपनिषद् १,९-१० में देवयान तथा पितृयाण का उल्लेख है। देवयान का अर्थ है—निवृत्ति-प्रधान मार्ग, पितृयाण का अर्थ है—प्रवृत्ति-प्रधान मार्ग। पितृयाण के मार्ग पर चलनेवाले जन्म-मरण के चक्र में फँसते हैं, देवयान के मार्ग पर चलनेवाले जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं, मोक्ष प्राप्त करते हैं। मृत्यु का सम्बन्ध 'देवयान से इतर' जो पितृयाण-मार्ग है—उससे है, इसीलिये मन्त्र में कहा गया है कि हम देवयान-मार्ग के पथिक है, तू पितृयाण के मार्ग पर चलनेवालों को जाकर पकड़, हमारा पिण्ड छोड़ दे।

ओं द्यौस्ते पृष्ठꣳ रक्षतु वायुरूरू अश्विनौ च। स्तनन्धयस्ते पुत्रान्त्स-विताभिरक्षत्वावाससः परिधानाद् बृहस्पतिर्विश्वे देवा अभिरक्षन्तु पश्चात् स्वाहा॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः—इदन्न मम॥ ६॥

शब्दार्थ—हे वधू! **(ते पृष्ठम्)** तेरे पृष्ठ-भाग की **(द्यौः)** द्यु-लोकस्थ सूर्य **(रक्षतु)** रक्षा करे **(च)** और **(अश्विनौ)** विद्वान् वैद्य **(वायुः)** वात रोगों से **(उरू)** जाँघों, घुटनों, पैर आदि के दर्द से तेरी रक्षा करें **(सविता)** सबका जनक परमेश्वर **(स्तनन्धयः)** दूध पीते **(पुत्रान्)** पुत्रों की **(आवाससः)** वस्त्र पहनने की दशा आने तक **(अभिरक्षतु)** रक्षा करे, और **(बृहस्पतिः)** गुरु अथवा आचार्य **(परिधानात्)** वस्त्र परिधान करने की अवस्था आ जाने पर तेरी रक्षा करे, और **(पश्चात्)** उसके अनन्तर **(विश्वे देवाः)** समाज के सभी महापुरुष—देव, ऋषि, पितर—**(अभिरक्षन्तु)** तेरी रक्षा करें।

ओं मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु। मा त्वꣳ रुदत्युरऽ आवधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजाꣳसुमनस्यमानाꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ७॥

शब्दार्थ—**(निशि)** रात्रि में **(ते गृहेषु)** तेरे घरों में **(घोषः)** आर्तनाद **(मा उत्त्थात्)** न उठे **(रुदत्यः)** रोने-धोनेवाली, कलह-प्रिय स्त्रियां **(त्वत् अन्त्र)** तेरे से अन्यत्र—अलग जगह—**(सं विशन्तु)** जो घुसें **(त्वं)** तू भी **(रुदत्)** रोती हुई **(उरः मा आवधिष्ठाः)** उरः स्थल को मत पीटने लग **(पतिलोके)** पति के घर में **(सुमनस्यमानां)** प्रसन्न चित्त **(प्रजां)** सन्तान को **(पश्यन्ती)** देखती हुई **(विराज)** राज कर।

ओम् अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यपाप्मानमुत वाऽ अघम्। शीर्ष्णस्त्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ८॥

—मं० ब्रा० १; १; १२-१३-१४

शब्दार्थ—वर कहता है कि मैं **(अप्रजस्यं)** सन्तान न उत्पन्न कर सकने **(पौत्रमर्त्यं)** पुत्रों के मर जाने सम्बन्धी **(पाप्मानं)** दोष को **(उत वा)** अथवा **(अघं)** पाप को **(शीर्ष्णस्रजं इव)** सिर में पड़ी पुरानी माला की तरह **(उन्मुच्य)** उतारकर **(द्विषद्भ्यः)** मुझसे द्वेष करनेवालों के **(पाशं इव)** पाश—बन्धन—की तरह **(प्रतिमुञ्चामि)** परे फेंकता हूँ।

भावार्थ—पुत्र न होना, होकर मर जाना एक तरह का दोष या पाप-कर्म का फल है। पति कहता है कि इस पाप को मैं ऐसे उतार फेंकता हूँ जैसे सड़ी-गली माला को या किसी द्वेषी द्वारा गले में डाले पाश को कोई उतार फेंकता है।

उक्त मन्त्रों में से प्रत्येक से एक-एक आहुति करके ८ (आठ) आज्याहुति देने के पश्चात् निम्न ४ आज्याहुतियाँ दें—

[४ आज्याहुतियाँ]

ओं भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम।

ओं भुवर्वायवे स्वाहा। इदं वायवे—इदन्न मम।

ओं स्वरादित्याय स्वाहा। इदमादित्याय—इदन्न मम।

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा। इदमग्नि वायवादित्येभ्यः—इदन्न मम।

उक्त प्रकार होम करके वर आसन से उठ पूर्वाभिमुख बैठी हुई कन्या के सम्मुख पश्चिमाभिमुख खड़ा रहकर, अपने वामहस्त से कन्या का दाहिना हाथ चत्ता धर के ऊपर को उठाये और अपने दक्षिण हाथ से कन्या की उठाई हुई दक्षिण हस्ताञ्जली को अंगुष्ठ-सहित चत्ती ग्रहण करके, बोले—

[पाणिग्रहण—'प्रतिज्ञा-विधि'—के ६ मन्त्र वर बोले]

ओं गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ १॥

—ऋ०मं० १०, सू० ८५, मं० ६

हे वरानने! जैसे मैं **(सौभगत्वाय)** ऐश्वर्य सुसन्तानादि सौभाग्य की बढ़ती के लिये **(ते)** तेरे **(हस्तम्)** हाथ को **(गृभ्णाभि)** ग्रहण करता हूँ, तू **(मया)** मुझ **(पत्या)** पति के साथ **(जरदष्टिः)** जरावस्था को प्राप्त सुखपूर्वक **(आस)** हो, तथा हे वीर! मैं सौभाग्य की वृद्धि के लिये आपके हस्त को ग्रहण करती हूँ। आप मुझ पत्नी के साथ वृद्धावस्था पर्यन्त प्रसन्न और अनुकूल रहिये। आपको मैं और मुझको आप आज से पतिपत्नीभाव करके प्राप्त हुए हैं। **(भगः)** सकल ऐश्वर्ययुक्त **(अर्यमा)** न्यायकारी **(सविता)** सब जगत् की उत्पत्ति का कर्त्ता **(पुरन्धिः)** बहुत प्रकार के जगत् का धर्त्ता परमात्मा और **(देवाः)** ये सब सभा मण्डप में बैठे हुए विद्वान् लोग **(गार्हपत्याय)** गृहाश्रम-कर्म के अनुष्ठान के लिये **(त्वा)** तुझ को **(मह्यम्)** मुझे

(अदुः) देते हैं। आज से मैं आपके हस्ते और आप मेरे हाथ बिक चुके हैं। कभी एक-दूसरे का अप्रियाचरण न करेंगे।

ओं भगस्ते हस्तमग्रभीत् सविता हस्तमग्रभीत्।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥ २॥

हे प्रिये! **(भागः)** ऐश्वर्ययुक्त मैं **(ते)** तेरे **(हस्तम्)** हाथ को **(अग्रभीत्)** ग्रहण करता हूँ तथा **(सविता)** धर्मयुक्त मार्ग में प्रेरक मैं तेरे **(हस्तम्)** हाथ को **(अग्रभीत्)** ग्रहण कर चुका हूँ, **(त्वम्)** तू **(धर्मणा)** धर्म से मेरी **(पत्नी)** भार्या **(असि)** है और **(अहम्)** मैं धर्म से **(तव)** तेरा **(गृहपतिः)** गृहपति हूँ। अपने दोनों मिल के घर के कामों की सिद्धि करें और जो दोनों का अप्रियाचरण व्यभिचार है, उसको कभी न करें, जिससे घर के सब काम सिद्ध, उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य और सुख की बढ़ती सदा होती रहे।

ममेयमस्तु पोष्या मह्य त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम्॥ ३॥

हे अनघे! **(बृहस्पतिः)** सब जगत् को पालन करनेहारे परमात्मा ने जिस **(त्वा)** तुझको **(मह्यम्)** मुझे **(अदात्)** दिया है **(इयम्)** यही तू जगत् भर में मेरी **(पोष्या)** पोषण करने योग्य पत्नी **(अस्तु)** हो, हे **(प्रजावति)** तू **(मया पत्या)** मुझ पति के साथ **(शतम्)** सौ **(शरदः)** शरद्-ऋतु अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त **(शं जीव)** सुखपूर्वक जीवन धारण कर। वैसी ही वधू भी वर से प्रतिज्ञा करावे। हे भद्र वीर! परमेश्वर की कृपा से आप मुझे प्राप्त हुए हो, मेरे लिये आपके बिना इस जगत् में दूसरा पति अर्थात् स्वामी पालन करनेहारा सेव्य इष्ट-देव कोई नहीं है, न मैं आपसे अन्य दूसरे किसी को मानूँगी। जैसे आप मेरे सिवाय दूसरी किसी स्त्री सेप्रीति न करोगे वैसे मैं भी किसी दूसरे पुरुष के साथ प्रीतिभाव से न वर्त्ता करूँगी। आप मेरे साथ सौ वर्षपर्यन्त आनन्द से प्राण धारण कीजिये।

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिपा कवीनाम्।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया॥ ४॥

हे शुभानने! जैसे **(बृहस्पतेः)** इस परमात्मा की सृष्टि में और उसकी तथा **(कवीनाम्)** आप्त विद्वानों की **(प्रशिषा)** शिक्षा से दम्पती होते हैं, **(त्वष्टा)** जैसे बिजुली सबको व्याप्त हो रही है, वैसे तू मेरी प्रसन्नता के लिये **(वासः)** सुन्दर वस्त्र **(शुभे)** और आभूषण तथा **(कम्)** मुझसे सुख को प्राप्त हो, इस मेरी और तेरी इच्छा को परमात्मा **(व्यदधात्)** सिद्ध करे। जैसे **(सविता)** सकल जगत् की उत्पत्ति करनेहारा परमात्मा **(च)** और **(भगः)** पूर्म ऐश्वर्ययुक्त **(प्रजया)** उत्तम प्रजा से **(इमाम्)** इस तुझ **(नारीम्)** मुझ नर की स्त्री को **(परिधत्ताम्)** आच्छादित, शोभायुक्त करे, वैसे मैं **(तेन)** इस सबसे **(सूर्याम् इव)** सूर्य की किरण के समान

तुझको वस्त्र और भूषणादि से सुशोभित सदा रखूँगा, तथा हे प्रिय! आपको मैं इसी प्रकार सूर्य के समान सुशोभित आनन्द अनुकूल प्रियाचरण करके **(प्रजया)** ऐश्वर्य वस्त्राभूषण आदि तथा उत्तम सन्तान से सदा आनन्दित रखूँगी।

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु॥ ५॥

—अथर्व० कां० १४, सू० १, मं० ५१-५४

हे मेरे सम्बन्धी लोगो! जैसे **(इन्द्राग्नी)** बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि **(द्यावापृथिवी)** सूर्य और भूमि **(मातरिश्वा)** अन्तरिक्षस्थ वायु **(मित्रावरुणा)** प्राण और उदान तथा **(भगः)** ऐश्वर्य **(अश्विना)** सद्वैद्य और सत्योपदेशक **(उभा)** दोनों **(बृहस्पतिः)** श्रेष्ठ न्यायकारी, बड़ी प्रजा का पालन करनेहारा राजा **(मरुतः)** सभ्य मनुष्य **(ब्रह्म)** सबसे बड़ा परमात्मा और **(सोमः)** चन्द्रमा तथा सोमलतादि ओषधिगण सब प्रजा की वृद्धि और पालन करते हैं, वैसे **(इमां नारीम्)** इस मेरी स्त्री को **(प्रजया)** प्रजा से बढ़ाया करते हैं, वैसे तुम भी **(वर्धयन्तु)** बढ़ाया करो। जैसे मैं इस स्त्री को प्रजा आदि से सदा बढ़ाया करूँगा वैसे स्त्री भी प्रतिज्ञा करे कि मैं भी इस पति को सदा आनन्द, ऐश्वर्य और प्रजा से बढ़ाया करूँगी। जैसे ये दोनों मिलके प्रजा को बढ़ाया करते हैं वैसे तू और मैं मिल के गृहाश्रम के अभ्युदय को बढ़ाया करें।

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन्मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसो दमुच्यये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्॥ ६॥

—अथर्व० कां० १४, सू० १, मं० ५७

हे कल्याण क्रोडे! जैसे **(मनसः)** मन से **(कुलायम्)** कुल की वृद्धि को **(पश्यन्)** देखता हुआ **(अहम्)** मैं **(अस्याः)** इस तेरे **(रूपम्)** रूप को **(विष्यामि)** प्रीति से प्राप्त और इसमें प्रेम द्वारा व्याप्त होता हूँ, वैसे यहतू मेरी वधू **(मयि)** मुझमें प्रेम से व्याप्त होके अनुकूल व्यवहार को **(वेदत्)** प्राप्त होवे। जैसे मैं **(मनसा)** मन से भी इस तुझ वधू के साथ **(स्तेयम्)** चोरी को **(उदमुच्ये)** छोड़ देता हूँ और किसी उत्तम पदार्थ का चोरी से **(नाद्मि)** भोग नहीं करता हूँ, **(स्वयम्)** आप **(श्रथ्नानः)** पुरुषार्थ से शिथिल होकर भी **(वरुणस्य)** उत्कृष्ट व्यवहार में विघ्नरूप दुर्व्यसनी पुरुष के **(पाशान्)** बन्धनों को दूर करता रहूँ, वैसे **(इत्)** ही यह वधू भी किया करे। इसी प्रकार वधू भी स्वीकार करे कि मैं भी इसी प्रकार आपसे वर्त्ता करूँगी।

इन पाणिग्रहण के ६ (छः) मन्त्रों को बोल के, पश्चात्, वर, वधू की हस्ताञ्जलि पकड़े के उठावे और उसको साथ लेके, जो (कलश) कुण्ड की दक्षिण दिशा में प्रथम स्थापना किया था, उसको वही पुरुष जो कलश के पास बैठा था, वर-वधू के

साथ-साथ उसी कलश को लेकर चले। यज्ञकुण्ड की दोनों प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करें। प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करके निम्न प्रतिज्ञा-मन्त्रों से दोनों प्रतिज्ञा करके, पश्चात् वर वधू के पीछे रह के, वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रह के, वधू की दक्षिणाञ्जली अपनी दक्षिणाञ्जली से पकड़ के दोनों खड़े रहें और वह पुरुष पुनः कुण्ड के दक्षिण में कलश लेके जैसे पहले बैठा था वैसे बैठे।

[प्रतिज्ञा-मन्त्र—दोनों यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करें—पहली परिक्रमा]

ओम् अमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतम्॥ ७॥

—पार०गृह्य०, कां० १, कं० ६,३

शब्दार्थ—हे वधू जैसे **(अहम्)** मैं **(अमः)** ज्ञानवान् ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करनेवाला **(अस्मि)** होता हूँ, वैसे **(सा)** सो **(त्वम्)** तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करनेहारी **(असि)** है। जैसे **(अहम्)** मैं अपने पूर्ण प्रेम से तुझको **(अमः)** ग्रहण करता हूँ, **(सा)** सो मैंने ग्रहण की हुई **(त्वम्)** तू मुझको भी ग्रहण करती है। **(अहम्)** मैं **(साम)** सामवेद के तुल्य प्रशंसित **(अस्मि)** हूँ, हे वधू! तू **(ऋक्)** ऋग्वेद के तुल्य प्रशंसित है, **(त्वम्)** तू **(पृथिवी)** पृथिवी के समान गर्भादि गृहाश्रम के व्यवहारों को धारण करनेहारी है और मैं **(द्यौः)** वर्षा करनेहारे सूर्य के समान हूँ, वह तू और मैं **(तावेव)** दोनों ही **(विवहावहै)** प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें, **(सह)** साथ मिल के **(रेतः)** वीर्य को **(दधावहै)** धारण करें, **(प्रजाम्)** उत्तम प्रजा को **(प्रजनयावहै)** उत्पन्न करें, **(बहून्)** बहुत **(पुत्रान्)** पुत्रों को **(विन्दावहै)** प्राप्त होवें **(ते)** वे पुत्र **(जरदष्टयः)** जरावस्था के अन्त तक जीवनयुक्त **(सन्तु)** रहें, **(संप्रियौ)** अच्छे प्रकार एक-दूसरे से प्रसन्न **(रोचिष्णू)** एक-दूसरे में रुचियुक्त **(सुमनस्यमानौ)** अच्छे प्रकार विचार करते हुए **(शतम्)** सौ **(शरदः)** शरद् ऋतु अर्थात् शत-वर्ष पर्यन्त एक-दूसरे को प्रेम की दृष्टि से **(पश्येम)** देखते रहें **(शतं शरदः)** सौ वर्ष पर्यन्त आनन्द से **(जीवेम)** जीते रहें और **(शतं शरदः)** सौ वर्ष पर्यन्त प्रिय वचन को **(शृणुयाम)** सुनते रहें।

[शिलारोहण-विधि]

तत्पश्चात्, वधू की माता अथवा भाई, जो प्रथम चावल और ज्वार की धाणी सूप में रखी थी, उसको बायें हाथ में लेके दहिने हाथ से वधू का दक्षिण पग उठवाके पत्थर की शिला पर चढ़वावे। और उस समय वर इस मन्त्र को बोले—

वर—ओम् आरोहेममश्मानमश्मेव त्वꣳ स्थिरा भव।

अभितिष्ठ पृतन्यतोऽवबाधस्व पृतनायतः॥ —पार०कां० १, कं० ७,१

[लाजाहोम की आहुतियाँ विवाह का एक मुख्य अंग हैं]

तत्पश्चात्, वधू-वर कुण्ड के समीप आके पूर्वाभिमुख दोनों खड़े रहें, और यहाँ वधू दक्षिण ओर रह के अपनी हस्ताञ्जली को वर की हस्ताञ्जली पर रखे।

तत्पश्चात्, वधू की माँ अथवा भाई जो बायें हाथ में घाणी का सूपड़ा पकड़ के खड़ा रहा हो, वह घाणी का सूपड़ा भूमि पर धर, अथवा किसी के हाथ में देके, जो वधू-वर की एकत्र की हुई अर्थात् नीचे वर की और ऊपर वधू की हस्ताञ्जली है, उसमें प्रथम थोड़ा घृत सिञ्चन करके, पश्चात् प्रथम सूप में से दाहिने हाथ की अञ्जली से दो बार ले के वर-वधू की एकत्र की हुई अञ्जली में घाणी डाले। पश्चात्, उस अञ्जलीस्थ घाणी पर थोड़ा-सा घी सिञ्चन करे। पश्चात्, वधू वर की हस्तांजली सहित अपनी हस्ताञ्जली का आगे से नमा के निम्न तीन मन्त्रों में एक-एक मन्त्र से एक-एक बार थोड़ी-थोड़ी घाणी की आहुति तीन बार प्रज्वलित ईंधन पर डाले—

[लाजा-होम के तीन मन्त्र]

वर बोले—**ओम् अर्यमण देव कन्या अग्निमयक्षत। स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा॥ इदमर्यम्णे अग्नये—इदन्न मम॥ १॥**

इस मन्त्र से एक-तिहाई घाणी अग्नि में डाले।

ओम् इयं नार्युपब्रूते लाजानावपन्तिका। आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ २॥

इस मन्त्र से दूसरी तिहाई घाणी अग्नि में डाले।

ओम् इमाँल्लाजानावपाम्यग्नौ समृद्धिकरण तव। मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यतामियꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥ ३॥

इस मन्त्र से शेष घाणी अग्नि में डाले। —पार० कां० १, कं० ६,२

[दूसरी परिक्रमा]

वर—ओं सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजनीवति। यान्त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रतः। यस्यां भूतꣳ समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्। तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यशः॥ —पार० १,७,२

उक्त मन्त्र को बोल के अपने दक्षिण हाथ की हस्ताञ्जली से वधू की हस्ताञ्जली पकड़ के वर निम्न दो मन्त्रों से दूसरी परिक्रमा करे।

[दूसरी परिक्रमा के दो मन्त्र]

ओं तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥ १॥

—ऋ० मं० १०, सू० ८५, मं० ३८; पार० १,७,३

ओं कन्यला पितृभ्यः पतिलोकं यतीयमप दीक्षामयष्ट। कन्या उत त्वया वयं धारा उदन्या इवातिगाहेमहि द्विषः॥ २॥ —मं०ब्रा० १,२,५

उक्त मन्त्रों को पढ़ यज्ञकुण्ड की दूसरी बार प्रदक्षिणा करके यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर मुख करके थोड़ी देर दोनों खड़े रहें।

[तृतीय-चतुर्थ परिक्रमा—शिलारोहण तथा लाजाहोम सहित]

(**नोट**—परिक्रमा, शिलारोहण तथा लाजाहोम के विषय में संस्कारविधि का स्थल कुछ कठिन-सा है, इसलिये अपनी समझ के अनुसार हम यहाँ उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिससे परिक्रमा के भीतर शिलारोहण तथा लाजाहोम का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाए—

(१) प्रथम परिक्रमा—पाणि-ग्रहण के छः मन्त्रों के बाद वर-कन्या दोनों साथ-साथ '**ओम् अमोऽहमस्मि**' आदि मन्त्र बोलकर यज्ञ-कुण्ड की परिक्रमा करें और वही पुरुष जो कुण्ड की दक्षिण दिशा में कलश लेकर बैठा था इस परिक्रमा में उस कलश को लेकर उनके साथ-साथ चले। यह पहली परिक्रमा है। इसमें शिलारोहण तथा लाजाहोम का संस्कारविधि में उल्लेख नहीं है।

(२) शिलारोहण—उक्त परिक्रमा के बाद अगली तीन परिक्रमाओं के शुरु होने से पहले संस्कारविधि में, इस अन्तराल में, शिलारोहण की विधि का उल्लेख है। शिलारोहण की विधि की तैयारी करते हुए लिखा है कि वर-कन्या के पीछे रह कर कन्या के दायें हाथ को अपने दायें हाथ से पकड़कर उत्तर-दिशा को मुँह करके खड़ा हो जाए, और कलशवाला पुरुष कलश लेकर दक्षिण-दिशा में बैठ जाए।

जब वर-कन्या दोनों उत्तर को मुँह करके इस प्रकार खड़े हो जायें और कलशवाला पुरुष दक्षिण-दिशा में कलश लेकर बैठ जाये, तब शिलारोहण की विधि हो। शिलारोहण के समय कन्या की माता वा भाई कन्या का दायाँ पाँव उठवाकर शिला पर रखवाये और वर '**ओम् आरोहेममश्मानम्**' आदि मन्त्र बोले। संस्कारविधि में इस समय न तो परिक्रमा का उल्लेख है, न यज्ञ-कुण्ड में घाणी डालने का उल्लेख है। शिलारोहण स्वतन्त्र रूप में एक विधि है, इस समय न तो परिक्रमा करनी है, न धाणी डालनी है।

(३) लाजा-होम के साथ तीन परिक्रमाएँ—शिलारोहण के बाद लाजा-होम की विधि आती है। संस्कारविधि में लाजा-होम की ३ परिक्रमाओं का उल्लेख है। लाजा-होम की इन तीन परिक्रमाओं से तथा शिलारोहण से पहले एवं पाणिग्रहण के बाद, कलश-सहित एक परिक्रमा का उल्लेख है—इस प्रकार अगर उस परिक्रमा को मिला लिया जाए, तो ४ परिक्रमाएँ हो जाती हैं, परन्तु स्मरण रखने की बात यह है कि पहली परिक्रमा तथा इन ३ परिक्रमाओं के बीच में शिलारोहण का व्यवधान पड़ जाता है। पहली परिक्रमा में लाजा-होम नहीं है, पहली परिक्रमा के बाद शिलारोहण है, इसके बाद तीन परिक्रमाएँ हैं—और इन तीन परिक्रमाओं के समय ही लाजा-होम है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि इन चारों परिक्रमाओं में शिलारोहण का कहीं उल्लेख नहीं है। शिलारोहण एक स्वतन्त्र विधि है। पहली परिक्रमा में शिलारोहण तथा लाजा-होम का उल्लेख नहीं है, पीछे की ३ परिक्रमाओं में लाजा-होम का उल्लेख है, परन्तु शिलारोहण का उल्लेख नहीं है। कलश-सहित व्यक्ति का चारों परिक्रमाओं में उल्लेख है। अनेक पुरोहित चारों परिक्रमाओं के साथ शिलारोहण तथा लाजा होम को भी करवाते हैं—यह शायद पहली परिक्रमा तथा शिलारोहण के बाद की तीन परिक्रमाओं के बीच व्यवधान के रूप में पड़े शिलारोहण को—चारों परिक्रमाओं को एक-साथ जोड़ देने के लिये करते हैं। संस्कारविधि में ऐसा नहीं है। वहाँ ४ परिक्रमाओं तथा ३ लाजा-होमों का उल्लेख है।

(४) वर तथा कन्या का एक-दूसरे के वाम-दक्षिण भाग में बैठना—संस्कारविधि में शिलारोहण के समय लिखा है—'वर वधू के पीछे रहके वधू के दक्षिण ओर समीप में जा उत्तराभिमुख खड़ा रहके'। वधू के दक्षिण में वधू का होना—इसका यह अर्थ है कि शिलारोहण के समय वधू वर के वामभाग में हो। शिलारोहण के बाद लाजा होम है। लाजा होम के समय लिखा है—'यहाँ वधू दक्षिण ओर रहके'—इसका यह अर्थ है कि शिलारोहण के बाद वधू वर के दक्षिण भाग में आ जाती है। लाजा-होम की तीन परिक्रमाओं के बाद '**ओं भगाय स्वाहा**' से आहुति देकर लिखा है—'पश्चात् वर वधू को दक्षिण भाग में रखकर'—इसका यह अर्थ है कि लाजा-होम में वधू वर के दक्षिण भाग में ही रहती है। संस्कारविधि के इस स्थल का आशय यह प्रतीत होता है कि कन्या वर के वाम भाग में नहीं, दक्षिण भाग में ही रहे। वाम भाग का उल्लेख सिर्फ शिलारोहण के समय है, जो लाजा-होम के समय नहीं रहता।

प्रचलित प्रथा यह है कि लाजा-होम की चारों परिक्रमाओं को करते समय कन्या आगे-आगे चलती है, वर उसके पीछे चलता है और चौथी परिक्रमा पर वर आगे हो जाता है और बैठते समय कन्या वर के वाम भाग में बैठ जाती है। संस्कारविधि में ऐसी बात नहीं दिखलाई देती। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि दयानन्द कन्या को वर के दक्षिण भाग में रखने का समर्थन करते हैं।

संस्कारविधि में कहीं 'कन्या', कहीं 'वधू'-शब्द का प्रयोग है। उचित यह प्रतीत होता है कि सप्तपदी से पहले तक की विधि में 'कन्या' तथा उसके बाद की विधि में 'वधू'-शब्द का प्रयोग किया जाए, क्योंकि सप्तपदी के बाद ही कन्या वधू बन जाती है, परन्तु जैसा लिखा है उसमें आपत्ति की कोई बात नहीं है।

तत्पश्चात्, पुनः दो बार पूर्वोक्त प्रकार से कलश-सहित सब मिलाकर ४ 'परिक्रमा' और ३ बार 'क्रिया' पूर्ण करके यज्ञ-कुण्ड के पश्चिम भाग में वर-वधू पूर्वाभिमुख खड़े रहें और वधू की माँ या भाई उस सूप को तिरछा करके उसमें बाकी रही हुई धाणी को वधू की हस्ताञ्जलि में डाल देवे और वधू निम्न मन्त्र पढ़कर उस

धाणी की आहुति देवे—

वधू—ओं भगाय स्वाहा। इदं भगाय—इदन्न मम। —पार० १,६,५

तत्पश्चात्, वर वधू को दक्षिण भाग में रखकर कुण्ड के पश्चिम अर्थात् पूर्वाभिमुख बैठकर निम्न मन्त्र बोलकर स्रुवा से घृत की आहुति दे—

वर—ओं प्रजापतये स्वाहा। इदं प्रजापतये—इदन्न मम॥ —पार० १,७,६

[वेणीमोचन या केश-विमोचन]

तत्पश्चात्, एकान्त में जाकर वर वधू के केशों को निम्न मन्त्र पढ़कर खोले—

ओं प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि॥ १॥

ओं प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति॥ २॥ —ऋ० मं० १०, सू० ८५, मं० २४,२५

[ग्रन्थि-बन्धन तथा विवाह का प्रधान अंग—सप्तपदी]

तत्पश्चात्, सभामण्डप में आके '**सप्तपदी-विधि**' का आरम्भ करें। इस समय वर के उपवस्त्र के साथ वधू के उत्तरीय वस्त्र की गाँठ देनी, इसे जोड़ा कहते हैं। वधू-वर दोनों जने आसन पर से उठके, वर अपने दक्षिण हाथ से वधू की दक्षिण हस्ताञ्जली पकड़ के यज्ञकुण्ड के उत्तर भाग में जावे। तत्पश्चात्, वर अपना दक्षिण हाथ वधू के दक्षिण स्कन्धे पर रख के दोनों समीप-समीप उत्तराभिमुख खड़े रहें। तत्पश्चात्—

वर बोले—मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम॥ —गा० २,२,१२

ऐसा बोल के वधू को उसका दक्षिण पग उठवा के चलने के लिये आज्ञा देवे। और—

वर बोले—ओम् इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वा नयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः॥ १॥

इस मन्त्र को बोल के वर अपने साथ वधू को लेकर ईशान दिशा में एक पग[१] चले और चलावे।

ओम् ऊर्ज्जे द्विपदी भव०[२]॥ २॥ इस मन्त्र से दूसरा पग

---

१. इस पग धरने की विधि ऐसी है कि वधू प्रथमा अपना जमणा पग उठा के ईशानकोण की ओर बढ़ा के धरे, तत्पश्चात् दूसरे बायें पग को उठाके जमणे पग की पटली तक धरे, अर्थात् जमणे पग के थोड़ा-सा पीछे बायां पग रखे। इसी को एक पगला गिणना। इसी प्रकार अगले छः मन्त्रों से भी क्रिया करनी, अर्थात् एक-एक मन्त्र से एक-एक पग ईशान दिशा की ओर धरना।

२. जो 'भव' के आगे मन्त्र में पाठ है, सो छः मन्त्रों के इस 'भव' पद के आगे पूरा बोल के पग धरने की क्रिया करनी।

ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ ३ ॥ इससे तीसरा
ओं मयोभवाय चतुष्पदी भव० ॥ ४ ॥ इससे चौथा
ओं प्रजाभ्यः पञ्चपदी भव० ॥ ५ ॥ इससे पाँचवाँ
ओम् ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ ६ ॥ इससे छठा और—
ओं सखे सप्तपदी भव० ॥ ७ ॥ इससे सातवाँ पग चले। —आश्व० १,७,१९

उक्त रीति से इन सात मन्त्रों से सात पग ईशान दिशा में चला के, वधू-वर दोनों गाँठ बन्धे हुए शुभासन पर बैठे।

[वधू द्वारा वर के माथे पर ४ मन्त्रों से जल छिड़कना]

तत्पश्चात्, प्रथम से जो जल के कलश को लेके यज्ञकुण्ड की दक्षिण की ओर में बैठाया था, वह पुरुष उस पूर्व-स्थापित जल-कुम्भ को लेके वधू के समीप आवे और उसमें थोड़ा-सा जल लेके वधू-वर के मस्तक पर छिटकावे। और,

वर बोले—ओम् आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽ ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे॥ १ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
तस्माऽ अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥
—यजु० ३६,१४-१६; ऋ०मं० १०, सू० ९, मं० १-३

ओम् आपः शिवाः शिवतमाः शान्ताः शान्ततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥ ४ ॥[1]

[सूर्यावलोकन][2]

तत्पश्चात्, वधू-वर वहाँ से उठके निम्न मन्त्र को पढ़कर सूर्यावलोकन करें—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥*
—यजु० अ० ३६, गं० २४

[हृदय-स्पर्श—हृदयाऽऽलम्भन]

तत्पश्चात्, वर वधू के दक्षिण स्कन्धे पर से अपना दक्षिण हाथ लेके उससे वधू का हृदय स्पर्श करके निम्न मन्त्र बोले—

---

१. इन मन्त्रों का अर्थ उपनयन (पृ० ....) में देखो।
२. इस मन्त्र का अर्थ शान्तिकरण (पृ० ....) में देखें।
* अगर विवाह सूर्यास्त होने से पूर्व समाप्त हो तो सूर्य-दर्शन करा देना चाहिये, ऐसी अवस्था में विवाह दोपहर से शुरु होगा, अगर विवाह रात्रि में शुरु हो तो सूर्य-दर्शन की जगह 'अस्तमितेऽग्निम्' गृह्यसूत्र के इस आदेश के अनुसार सूर्य की जगह अग्नि के दर्शन करा देना चाहिये—यह श्री युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है। सूर्य की जगह सूर्य की मन में कल्पना कर लेना असंगत है।

वर—ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

—पार० गृह्य, कां० १, कं० ८,८

हे वधू! (**ते**) तेरे (**हृदयम्**) अन्तःकरण और आत्मा को (**मम**) मेरे (**व्रते**) कर्म के अनुकूल (**दधामि**) धारण करता हूँ, (**मम**) मेरे (**चित्तम् अनु**) चित्त के अनुकूल (**ते**) तेरा (**चित्तम्**) चित्त सदा (**अस्तु**) रहे, (**मम**) मेरी (**वाचम्**) वाणी को तू (**एकमनाः**) एकाग्रचित्त से (**जुषस्व**) सेवन किया कर। (**प्रजापतिः**) प्रजा का पालन करनेवाला परमात्मा (**त्वा**) तुझको (**मह्यम्**) मेरे लिये (**नियुनक्तु**) नियुक्त करे।

उसी प्रकार वधू भी अपने दक्षिण हाथ से वर के हृदय का स्पर्श करके इसी ऊपर लिखे हुए मन्त्र (**'ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि'** आदि) को बोले।

वैसे ही हे प्रिय वीर स्वामिन्! आपका हृदय आत्मा और अन्तःकरण मेरे प्रियाचरण कर्म में धारण करती हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल आपका चित्त सदा रहे। आप एकाग्र होके मेरी वाणी का जो कुछ मैं आपसे कहूँ उसका सेवन सदा किया कीजिये, क्योंकि आज से प्रजापति परमात्मा ने आपको मेरे आधीन किया है, जैसे मुझको आपके आधीन किया है। अर्थात्, इस प्रतिज्ञा के अनुकूल दोनों वर्ता करें, जिससे सर्वदा आनन्दित और कीर्तिमान् पतिव्रता और स्त्रीव्रत होके सब प्रकार के व्यभिचार अप्रिय भाषणादि को छोड़ के परस्पर प्रीतियुक्त रहें।

[सुमंगली आशंसन—आशीर्वाद]

तत्पश्चात्, वर, वधू के मस्तक पर हाथ धरके—

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं वि परेतन॥

—ऋ०मं० १०, सू० ८५, मं० ३३; पार० १,८,९

उक्त मन्त्र को बोल के कार्यार्थ आये हुए लोगों की ओर अवलोकन करना। और इस समय सब लोग—

ओं सौभाग्य मस्तु। ओं शुभं भवतु॥

उक्त वाक्य से आशीर्वाद देवें और वर-वधू पर फूलों की वर्षा करें।

[घी की स्विष्टकृत् तथा ४ अज्याहुतियाँ]

तत्पश्चात्, वर वधू दोनों—निम्नलिखित मन्त्रों से घृत की आहुतियाँ दें—

वर तथा वधू—ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदन्न मम॥

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदन्न मम॥

ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥

ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय—इदन्न मम॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा॥ इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदन्न मम॥

उक्त प्रकार विवाह की विधि पूरे होने पर वर तथा वधू विश्राम करें और थोड़ा-सा विश्राम करने के बाद विवाह की उत्तर-विधि करें।

[विवाह की उत्तर-विधि—आकाश में नक्षत्र दीखने पर]

यह उत्तर-विधि सब वधू के घर की ईशान दिशा में विशेष करके एक घर प्रथम बना रखा हो वहाँ जाकर करनी।

सूर्य अस्त हुए पीछे जब आकाश में नक्षत्र दीखें, उस समय वधू तथा वर यज्ञकुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख आसन पर बैठें और पृष्ठ ७१ में लिखे अनुसार '**अग्न्याधान**' (ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ) करें। यदि प्रथम ही सभा-मण्डप ईशान दिशा में हुआ और प्रथम 'अग्न्याधान' किया हो, तो 'अग्न्याधान' न करें। ऐसी अवस्था में निम्न ४ मन्त्रों से 'समिदाधान' करके अग्नि प्रदीप्त करें।

(१) ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व० आदि, पृष्ठ ७४

(२) ओं समिधाग्निं दुवस्यत० आदि, पृष्ठ ७५-७७

(३) सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं० आदि, पृष्ठ ७६-७७

(४) तन्त्वा समिद्भिरंगिरो० आदि, पृष्ठ ७६-७७

तत्पश्चात्, ४ 'आघारावाज्यभागाहुति' (पृष्ठ ७८-७९) और ४ मन्त्रों से ४ 'व्याहृति आहुतियाँ' (पृष्ठ ७९)—ये सब मिलाकर ८ आज्याहुतियाँ दें।

[प्रधान-होम की ६ आहुतियाँ]

तत्पश्चात्, निम्नलिखित मन्त्रों से प्रधान-होम की ६ आहुतियाँ दें—

ओं लेखासन्धिषु पक्ष्मस्वारोकेषु च यानि ते। तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा॥ इदं कन्यायै—इदं न मम॥ १॥

ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्। तानि० ॥ २॥

ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि०॥ ३॥

ओम् आरोकेषु च दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि०॥ ४॥

ओम् ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते। तानि०॥ ५॥

ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्। पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा॥ इदं कन्यायै—इदन्न मम॥ ६॥

—मं०ब्रा० १,३,१-६

[ध्रुवदर्शन]

तत्पश्चात् निम्न ४ व्याहृति मन्त्रों से ४ आज्याहुति देकर वधू-वर वहाँ से उठकर सभा मण्डप के बाहर उत्तर दिशा में जावें—

[व्याहृति मन्त्रों की चार आज्याहुतियाँ दें]

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ १ ॥ इदमग्नये—इदं न मम।
ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ २ ॥ इदं वायवे—इदं न मम।
ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ ३ ॥ इदमादित्याय—इदं न मम॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा।
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम॥ ४॥

तत्पश्चात्, वर वधू को उत्तर दिशा में ध्रुव तारा दिखलाकर वधू को बोले—
वर—ध्रुवं पश्य—(ध्रुव तारे को देख), और वधू उत्तर दे—
वधू—पश्यामि—(देख रही हूँ)—तत्पश्चात्, वधू निम्न मन्त्र बोले—
वधू—ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य असौ)॥

—गोभिल गृ०, प्र० २, खं० ३,सू० ९

(अमुष्य) इस पद के स्थान में षष्ठीविभक्त्यन्त पति का नाम बोलना, जैसे—शिवशर्मा पति का नाम हो तो ''शिवशर्मणः'' ऐसा, और **(असौ)** इस पद के स्थान वधू अपने नाम को प्रथमाविक्त्यन्त बोल के इस मन्त्र को पूरा बोले—जैसे ''**भूयास सौभाग्यदाहम् शिवशर्मणस्ते**''। इस प्रकार दोनों पद जोड़ के बोले—''हे स्वामिन् सौभाग्यदा **(अहम्)** मैं **(अमुष्य)** आप शिवशर्मा की अर्द्धाङ्गी **(पतिकुले)** आपके कुल में **(ध्रुवा)** निश्चल जैसे कि आप **(ध्रुवम्)** दृढ़ निश्चय वाले मेरे स्थिर पति **(असि)** हैं, वैसे मैं भी आपकी स्थिर दृढ़ पत्नी **(भूयासम्)** होऊँ।''

[अरुन्धती दर्शन]

तत्पश्चात्, निम्न वाक्य बोलकर वर वधू को अरुन्धती का तारा दिखलाये—
वर—अरुन्धतीं पश्य—(अरुन्धती को देख)
वधू—पश्यामि—(देखती हूँ—ऐसा वधू कहे)—फिर वर कहे—
वर—ओम् अरुन्धत्यसि रुद्धाहमस्मि (अमुष्य असौ)॥

—गोभि० २,३,१०

तू अरुन्धती नक्षत्र के तुल्य है। मैं भी रुकी—'अवरुद्ध'—हूँ। आपका मैं।

उक्त मन्त्र को बोल के, वर वधू की ओर देख के वधू के मस्तक पर हाथ धरके निम्न दोनों मन्त्रों को बोलें—

[ध्रुवीभाव-आशंसन]

वर—ओं ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम्॥ १ ॥ —मं०ब्रा० १,३,७

हे वरानने! जैसे **(द्यौः)** सूर्य की कन्ति वा विद्युत् **(ध्रुवा)** सूर्यलोक वा पृथिव्यादि में निश्चल, जैसे **(पृथिवी)** भूमि अपने स्वरूप में **(ध्रुवा)** स्थिर, जैसे

(इदम्) यह **(विश्वम्)** सब **(जगत्)** संसार प्रवाहस्वरूप में **(ध्रुवम्)** स्थिर है, जैसे **(इमे)** ये प्रत्यक्ष **(पर्वताः)** पहाड़ **(ध्रुवासः)** अपनी स्थिति में स्थिर हैं, वैसे **(इयम्)** यह तू मेरी **(स्त्री)** पत्नी **(पतिकुले)** मेरे कुल में **(ध्रुवा)** सदा स्थिर रहे ॥ १ ॥

ओं ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवैधि पोष्ये मयि।
मह्य त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतम्॥ २ ॥

—पार० का० १,८,१९

हे स्वामिन्! जैसे आप मेरे समीप **(ध्रुवम्)** दृढ़-संकल्प करके स्थिर **(असि)** हैं, जैसे मैं **(त्वा)** आपको **(ध्रुवम्)** स्थिर दृढ़ **(पश्यामि)** देखती हूँ, वैसे ही सदा के लिये मेरे साथ आप दृढ़ रहियेगा, क्योंकि मेरे मन के अनुकूल **(त्वा)** आपको **(बृहस्पतिः)** परमात्मा **(अदात्)** समर्पित कर चुका है, वैसे मुझ पत्नी के साथ उत्तम प्रजायुक्त होके **(शतं शरदः)** सौ वर्ष पर्यन्त **(सम् जीव)** जीविये। तथा हे वरानने पत्नी! **(पोष्ये)** धारण और पालन करने योग्य **(मयि)** मुझ पति के निकट **(ध्रुवा)** स्थिर **(एधि)** रह, **(मह्यम्)** मुझको अपनी मनसा के अनुकूल तुझे परमात्मा ने दिया है, तू **(मया)** मुझ **(पत्या)** पति के साथ **(प्रजावती)** बहुत उत्तम प्रजायुक्त होकर सौ वर्ष पर्यन्त आनन्दपूर्वक जीवन धारण कर। वधू-वर ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि जिससे कभी उल्टे विरोध में न चलें।

[यज्ञाग्नि प्रदीपन तथा आहुतियाँ]

ध्रुव तथा अरुन्धती के दर्शन के पश्चात् वधू और वर दोनों यज्ञ-कुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर कुण्ड के समीप बैठे और निम्न विधि करें—

(१) दोनों तीन 'आचमन' करें—**(ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा** आदि ३ मन्त्रों से, पृष्ठ ७१), फिर अग्न्याधान, अग्नि-दीपन, समिधा-होम आदि करें।

(२) 'अग्न्याधान'—(**ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना** आदि, पृष्ठ ७२-७३) से अग्न्याधान करें।

(३) 'अग्नि-प्रदीपन' (**ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने** आदि, पृष्ठ ७३) से अग्नि-दीपन करें।

(४) चार मन्त्रों से 'समिधा होम'—(**ओम् अयन्त इध्म आत्मा+ओं समिधाग्निं दुवस्यत+ओं सुसमिद्धाय शोचिषे+ओं तन्त्वा समिद्भिः** आदि, पृष्ठ ७४-७७)

(५) चार 'आघारावाज्यभागाहुतियाँ'—(**ओम् अग्नये स्वाहा** आदि, पृष्ठ ७८-७९)

(६) चार 'व्याहृति आहुतियाँ' (**ओं भूरग्नये स्वाहा** आदि, पृष्ठ ७९)

[वर तथा वधू ओदन अर्थात् भात की ४ आहुतियाँ दें]

तत्पश्चात्, जो ऊपर सिद्ध किया हुआ ओदन अर्थात् भात—स्थालीपाक—है, उसको एक पात्र में निकालकर उसके ऊपर स्रुवा से घृत सेचन करके, घृत और भात को अच्छे प्रकार मिलाकर दक्षिण हाथ से थोड़ा-थोड़ा भात दोनों जने लेकर निम्न मन्त्रों में से प्रत्येक मन्त्र से एक-एक करके स्थालीपाक अर्थात् भात की ४ आहुतियाँ दें—

ओम् अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥
ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ इदं विश्वेभ्यो देवेभ्यः—इदं न मम॥
ओम् अनुमतये स्वाहा॥ इदमनुमतये—इदं न मम॥

तत्पश्चात्, एक 'स्विष्टकृत् आहुति' (**ओं यदस्य कर्मणो०** आदि, पृष्ठ ८०) देनी। तत्पश्चात्, ४ 'व्याहृति आहुतियाँ' (**ओं भूरग्नये स्वाहा** आदि, पृष्ठ ७९) और ८ 'अष्टाज्याहुतियाँ' (**ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य०** से लेकर **ओं भवतन्नः समनसौ०** आदि तक, पृष्ठ ८२-८६)—ये दोनों मिलाकर १२ आज्याहुतियाँ दें।

[वर-वधू का ओदन-प्राशन]

तत्पश्चात्, शेष रहा हुआ भात एक पात्र में निकाल के उस पर घृत सेचन कर और उस पर दक्षिण हाथ रख के निम्न ३ मन्त्रों को मन में जपकर ओदन-प्राशन करें—

ओम् अन्नपाशेन मणिना प्राणसूत्रेण पृश्निना।
बध्नामि सत्यग्रन्थिना मनश्च हृदयं च ते॥ १॥

शब्दार्थ—हे वधू वा वर! जैसे अन्न के साथ प्राण, प्राण के साथ अन्न तथा अन्न और प्राण का अन्तरिक्ष के साथ सम्बन्ध है, वैसे (**ते**) तेरे (**हृदयम्**) हृदय (**च**) और (**मनः**) मन (**च**) और चित्त आदि को (**सत्यग्रन्थिना**) सत्यता की गाँठ से (**बध्नामि**) बाँधती वा बाँधता हूँ।

ओं यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।
यदिदꣳ हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव॥ २॥

शब्दार्थ—हे वर! हे स्वामिन् वा हे पत्नी! (**यदेतत्**) जो यह (**तव**) तेरा (**हृदयम्**) आत्मा वा अन्तःकरण है, (**तत्**) वह (**मम**) मेरा (**हृदयम्**) आत्मा अन्तःकरण के तुल्य प्रिय (**अस्तु**) हो, और (**मम**) मेरा (**यदिदम्**) जो यह (**हृदयम्**) आत्मा प्राण और मन है, (**तत्**) सो (**तव**) तेरे (**हृदयम्**) आत्मादि के तुल्य प्रिय (**अस्तु**) सदा रहे।

ओम् अन्नं प्राणस्य षड्विꣳ शस्तेन बध्नामि त्वा असौ॥ ३॥

—मं०ब्रा० १,३,८-१०

शब्दार्थ—**(असौ)** हे यशोदे! यहाँ पत्नी का नाम उच्चारण करे—जो **(प्राणस्य)** प्राण का पोषण करनेहारा **(षड्विंशः)** २६वाँ—छब्बीस तत्त्व **(अन्नम्)** अन्न है **(तेन)** उससे **(त्वा)** तुझको **(बध्नामि)** दृढ़ प्रीति से बाँधता वा बाँधती हूँ।

इन तीन मन्त्रों को मन से जप के, वर उस भात में से प्रथम थोड़ा-सा भक्षण करके जो उच्छिष्ट शेष भात रहे, वह अपनी वधू के लिये खाने को देवे। और जब वधू उसको खा चुके तब वधू-वर यज्ञमण्डप में सजे हुए शुभासन पर नियम प्रमाणे पूर्वाभिमुख बैठें।

[सामवेदोक्त महावामदेव्यगान तथा विवाह की समाप्ति]

तत्पश्चात्, सामवेदोक्त महावामदेव्यगान कर पुरोहितादि सद्धर्मी और कार्यार्थं इकट्ठे हुए लोगों को सम्मानार्थ उत्तम भोजन कराना। तत्पश्चात्, यथायोग्य पुरुषों का पुरुष और स्त्रियों का स्त्री आदर सत्कार करके विदा कर देवें।

इति पाणिग्रहण तथा सप्तपदी विधिः

(घ) अथ वधू-प्रस्थान विधिः

तत्पश्चात्, दूसरे वा तीसरे दिन प्रातःकाल वरपक्ष वाले लोग वधू और वर को वाहन में बैठा के बड़े सम्मान से अपने घर में लावें।

और, जो वधू अपने माता-पिता के घर को छोड़ते समय आँख में अश्रु भर लावे तो उक्त मन्त्र को वर बोले।

जीवं रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे॥

—ऋ० मं० १०, सू० ४०, मं० १०

और, वाहन में बैठते समय वर अपने साथ दक्षिण बाजू वधू को बैठावे, उस समय में वर इन दो मन्त्रों को बोल के रथ को चलावे।

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन। गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥ १॥

सुकिंशुकꣳ शल्मलिं विश्वरूपꣳ हिरण्यवर्णꣳ सुवृतꣳ सुचक्रम्। आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकꣳ स्योनं पत्ये वहतुꣳ कृणुष्व॥ २॥

—ऋ०मं० १०, सू० ८५, मं० २६,२०

इति वधू-प्रस्थान विधिः

[शकुन्तला की विदाई के समय कण्व-ऋषि के उद्गार]

कन्या को विदा देते हुए कालिदास ने 'अभिज्ञान-शाकुन्तल'-नाटक में कण्व-ऋषि के जो हृदयद्रावक उद्गार प्रकट किये हैं उन्हें पढ़कर साहित्यिकों का हृदय तरंगित हो उठता है। कहते हैं—**'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्रापि च शकुन्तला। तत्रापि च चतुर्थोऽकः तत्र श्लोक चतुष्टयम्'**—अर्थात्, काव्यों में नाटक, नाटकों

में शकुन्तला, शकुन्तला-नाटक में चार श्लोक (६.१८.१९.२२) रम्य हैं। इस दृष्टि से साहित्य-प्रेमियों के आत्मप्रसाद के लिये हम यहाँ उन चार श्लोकों को उद्धृत कर रहे हैं, जिन्हें काव्य-प्रेमी बार-बार रस-विभोर होकर पढ़ा करते हैं।

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया कण्ठः स्तम्भितवाष्प-वृत्तिकलुषः चिन्ताजडं दर्शनम्। वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुखैर्नवैः॥ ४-६॥

सुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः। भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी यान्त्येव गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥ ४-१८॥

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला। तनयमचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि॥ ४-१९॥

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य संप्रेष्य परिग्रहीतुः। जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तर्रात्मा॥ ४-२२॥

(ङ) अथ पतिकुले स्वागत विधिः

[प्रथम क्रिया]

जब वर वधू को लेकर अपने घर के द्वार पर पहुँचे तब वृद्धा स्त्रियाँ वर के साथ वधू को सवारी से उतारें और सभा मण्डप या घर में ले जावें। वर सभा मण्डप के द्वार या घर में आते ही सबकी ओर देखकर निम्न मन्त्र बोले—

ओं सुमङ्गलीरियं बधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्वा याथास्तं विपरेतन॥* —ऋ० १०.८५.३३

[आशीर्वाद]

सब नर नारी—'ओं सौभाग्यमस्तु। ओं शुभं भवतु'—कहें। तदनन्तर निम्न विधि करें—

[यज्ञ-मण्डप में जाना]

वर—ओं इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि। एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः॥

इस मन्त्र को बोलकर वधू-वर पूर्व-स्थापित यज्ञ-कुण्ड के पास जावें और उस समय वर निम्न मन्त्र बोलकर यज्ञ-कुण्ड के पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख शुभासन पर बैठकर वधू को अपने दक्षिण भाग में पूर्वाभिमुख बैठावे और वर बोले—

---

* इस मन्त्र का पहले भी विवाह-प्रकरण (पृष्ठ ४३६) में उत्तर-विधि से पूर्व उल्लेख हुआ है।

वर—ओम् इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः।
इहो सहस्त्र दक्षिणोऽपि पूषा नि षीदतु॥ —अथर्व० २०.१२७.१२

[तदनन्तर तीन आचमन करें]

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा। (एक आचमन)
ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा। (दूसरा आचमन)
ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा। (तीसरा आचमन)

[अंग स्पर्श]

तत्पश्चात्, बायें हाथ की अंजली में जल भरें, फिर दाहिने हाथ की अंगुलियों से निम्न प्रकार भिन्न-भिन्न अंगों को जल से स्पर्श करें—

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु। (इससे नाक)
ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु। (इससे दोनों नेत्र)
ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु। (इससे दोनों कान)
ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु। (इससे दोनों बाहें)
ओम् ऊर्वोर्मऽओजोऽस्तु। (इससे दोनों जांघें, और)
ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु। (इससे सब शरीर पर)

[समिधाचयन, अग्न्याधान और अग्नि प्रज्वलित करना]

ओं भूर्भुवः स्वः—चमचे में कपूर रखकर जलते हुए दिये या दियासलाई से अग्नि जलावे और इस मन्त्र का अगला भाग बोले—

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥

खड़े होकर कपूर अग्नि-कुण्ड में रखे। फिर, अगले मन्त्र से अग्नि प्रदीप्त करे—

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳ सृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थेऽ अध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत॥

[समिदाधान के ४ मन्त्रों से ३ समिधायें रखना]

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ १॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥ (इससे पहली समिधा अग्नि में छोड़)

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा॥ २॥ इदमग्नये—इदं न मम॥
ओं सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे स्वाहा॥ ३॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥

(उक्त दोनों मन्त्रों से दूसरी समिधा)

ओं तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य स्वाहा॥ ४॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे—इदं न मम॥
(इस मन्त्र से तीसरी समिधा)

[निम्न मन्त्र पाँच बार पढ़कर घृत की पाँच आहुतियाँ दें]

ओम् अयन्त इध्म आत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्द्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा॥ १॥ इदमग्नये जातवेदसे—इदं न मम॥

[वेदी के चारों ओर जल छिड़कना]

तदनन्तर यज्ञ-कुण्ड के चारों ओर बनी नाली में जल-प्रसेचन करें—

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व॥ (इससे पूर्व में जल-प्रसेचन करें)
ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व॥ (इससे पश्चिम में जल-प्रसेचन करें)
ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व॥ (इससे उत्तर में जल-प्रसेचन करें)

ओं देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु॥ (इससे वेदी के चारों ओर)

[घृत की ४ आघारावाज्यभागाहुतियाँ दें]

ओम् अग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम। (कुण्ड के उत्तर भाग में)
ओं सोमाय स्वाहा॥ इदं सोमाय—इदं न मम। (दक्षिण भाग में)
ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम। (बीच में)
ओम् इन्द्राय स्वाहा॥ इदमिन्द्राय—इदं न मम। (इससे बीच में)

[घृत की ४ व्याहृति आहुतियाँ दें]

ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम।
ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदं न मम।
ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय—इदं न मम।
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा॥
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम।

[घृत की ८ अष्टाज्याहुतियाँ दें]

ओं त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडोऽव यासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा॥ इदमग्नी-वरुणाभ्यां—इदं न मम॥ १॥

ओं स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ। अब यक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृलीकं सुहवो न एधि स्वाहा॥ इदमग्नीवरुणाभ्यां—इदं न मम॥ २॥

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृलय। त्वामवस्युराचके स्वाहा। इदं वरुणाय—इदं न मम॥ ३॥

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेलमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्र मोषीः स्वाहा॥ इदं वरुणाय—इदं न मम॥ ४॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः। तेभिर्नो अद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतः स्वर्काः स्वाहा॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः—इदं न मम॥ ५॥

ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्वमयासि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये अयसे—इदं न मम॥ ६॥

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अंदितये स्याम स्वाहा॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च—इदं न मम॥ ७॥

ओं भवत न्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳहिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदं न मम॥ ८॥

उक्त प्रकार ४ '**आघारावाज्यभागाहुतियाँ**', ४ '**व्याहृति आहुतियाँ**' तथा ८ '**अष्टाज्याहुतियाँ**'—सब मिलाकर १६ आज्याहुतियाँ वर-वधू देकर '**प्रधान-होम**' का प्रारम्भ निम्नलिखित मन्त्रों से करें—

[प्रधान-होम की ८ आहुतियाँ]

ओम् इह धृतिः स्वाहा॥ इदमिह धृत्यै—इदन्न मम॥ १॥
ओम् इह स्यधृतिः स्वाहा॥ इदमिह स्वधृत्यै—इदन्न मम॥ २॥
ओम् इह रन्तिः स्वाहा॥ इदमिह रन्त्यै—इदन्न मम॥ ३॥
ओम् इह रमस्व स्वाहा॥ इदमिह रमाय—इदन्न मम॥ ४॥
ओं मयि धृतिः स्वाहा॥ इदं मयि धृत्यै—इदन्न मम॥ ५॥
ओं मयि स्वधृतिः स्वाहा॥ इदं मयि स्वधृत्यै—इदन्न मम॥ ६॥
ओं मयि रमः स्वाहा॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम॥ ७॥
ओं मयि रमस्व स्वाहा॥ इदं मयि रमाय—इदन्न मम॥ ८॥

—मं० ब्रा० १.३.१३

शब्दार्थ—पति कहता है—हे पत्नी (**इह**) यहाँ पति के घर में (**धृतिः**) टिकी रहना (**इह**) यहाँ (**स्वधृतिः**) अपने व्यक्तित्व को भी बनाये रखना (**इह**) यह तुझे (**रन्तिः**) रमण के साधन सब मिलेंगे (**इह रमस्व**) इस घर में ही रमण करना, आमोद-प्रमोद मनाना (**मयि धृतिः**) मुझमें तुझे धारण की इच्छा है (**मयि स्वधृतिः**) तू भी मुझमें अपनी धारण की इच्छा रखना (**मयि रमः**) मुझमें तुझमें

रमण की इच्छा है **(मयि रमस्व)** तू भी मुझमें ही रमण की इच्छा रखना।

भावार्थ—पति अपनी पत्नी के सामने प्रतिक्षा करके उसे आश्वासन देता है कि मेरे भीतर तेरे प्रति प्रेम है, तू भी मेरे प्रति प्रेम की भावना रखना। पत्नीको जो कुछ चाहिये वह सब पति उसे अपने घर में देने के लिये वचन-बद्ध हो रहा है और पत्नी से आशा करता है कि वह जो कुछ चाहती है अपने पति के घर में ही प्राप्त करे, तभी इन दोनों में पारस्परिक-प्रेम बना रह सकता है।

उक्त मन्त्रों से, प्रत्येक से एक-एक करके ८ (आठ) आज्याहुति देने के पश्चात् वधू-वर निम्न ४ मन्त्रों से एक-एक से एक-एक करके ४ (चार) आज्याहुतियाँ दें—

ओम् आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम॥ १॥

शब्दार्थ—हे वधू! **(अर्यमा)** न्यायकारी, दयालु **(प्रजापतिः)** परमात्मा कृपा करके **(आजरसाय)** जरावस्था पर्यन्त जीने के लिये **(नः)** हमारी **(प्रजाम्)** उत्तम प्रजा को शुभ गुण कर्म और स्वभाव से **(आजनयतु)** प्रसिद्ध करे, **(समनक्तु)** उससे उत्तम सुख को प्राप्त करे और वे शुभगुणयुक्त **(मङ्गलीः)** स्त्री-लोग सब कुटुम्बियों को आनन्द **(अदु)** देवें, उनमें से एक तू हे वरानने! **(पतिलोकम्)** पति के घर वा सुख को **(आविश)** प्रवेश वा प्राप्त हो **(नः)** हमारे **(द्विपदे)** पिता आदि मनुष्यों के लिये **(शम्)** सुखकारिणी और **(चतुष्पदे)** गौ आदि को **(शम्)** सुखकर्त्री **(भव)** हो।

ओम् अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः। वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम॥ २॥*

ओम् इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि स्वाहा॥ इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम॥ ३॥

शब्दार्थ—ईश्वर पुरुष और स्त्री को आज्ञा देता है कि हे **(मीढ्वः)** वीर्यसेचन करनेहारे **(इन्द्र)** परमैश्वर्ययुक्त इस वधू के स्वामिन्! **(त्वम्)** तू **(इमाम्)** इस वधू को **(सुपुत्राम्)** उत्तम पुत्रयुक्त **(सुभगाम्)** सुन्दर सौभाग्य योगवाली **(कृमु)** कर। **(अस्याम्)** इस वधू में **(दश)** दश **(पुत्रान्)** पुत्रों को **(आ धेहि)** उत्पन्न कर, अधिक नहीं और हे स्त्री! तू भी अधिक कामना मत कर किन्तु दश पुत्र और **(एकादशम्)** ग्याहरवें **(पतिम्)** पति को प्राप्त होकर सन्तोष **(कृधि)** कर। यदि

---

* इसका अर्थ विवाह-विधि में (पृष्ठ ४१६)

इससे आगे सन्तानोत्पत्ति का लोभ करोगे तो तुम्हारे दुष्ट, अल्पायु, निर्बुद्धि सन्तान होंगे और तुम भी अल्पायु में रोगग्रस्त हो जाओगे। इसलिये अधिक सन्तानोत्पत्ति न करना।

भावार्थ—तथा (**पतिमेकादशं कृधि**) इस पद का अर्थ नियोग में दूसरा होगा, अर्थात्, जैसे पुरुष को विवाहित स्त्री में दश पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा परमात्मा ने की है, वैसी ही आज्ञा स्त्री को भी है कि दश पुत्र तक चाहे विवाहित पति से अथवा विधवा हुए पश्चात् नियोग से करे, करावे। वैसे ही एक स्त्री के लिये एक पति से एक वार विवाह और पुरुष के लिये भी एक स्त्री से एक ही वार विवाह करने की आज्ञा है। जैसे विधवा हुए पश्चात् स्त्री नियोग से सन्तानोत्पत्ति करके पुत्रवती होवे, वैसे पुरुष भी विगत स्त्री होवे तो नियोग से पुत्रवान् होवे—ऋषि दयानन्द।

ओं सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु स्वाहा॥
इदं सूर्यायै सावित्र्यै—इदन्न मम॥ ४॥

—ऋ०मं० १०, सू० ८५, मं० ४३-४६

शब्दार्थ—हे वरानने! तू (**श्वशुरे**) मेरे पिता जो कि तेरा श्वशुर है, उसमें प्रीति करके (**सम्राज्ञी**) सम्यक् प्रकाशमान चक्रवर्ती राजा की राणी के समान पक्षपात छोड़ के प्रवृत्त (**भव**) हो। (**श्वश्र्वाम्**) मेरी माता जो कि तेरी सासु है, उसमें प्रेमयुक्त होकर उसी की आज्ञा में (**सम्राज्ञी**) सम्यक् प्रकाशमान (**भव**) रहा कर। (**ननान्दरि**) जो मेरी बहिन और तेरी ननन्द है उसमें भी (**सम्राज्ञी**) प्रीतियुक्त और (**देवृषु**) मेरे भाई तेरे देवर और ज्येष्ट अथवा कनिष्ट हैं उनमें भी (**सम्राज्ञी**) प्रीति से प्रकाशमान (**अधि भव**) अधिकारयुक्त हो अर्थात् सबसे अविरोधपूर्वक प्रीति से वर्ता कर।

[तदनन्तर निम्न ६ आहुतियाँ दे]

१. स्विष्टकृत्—ओं यदस्य कर्मणोत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत् स्विष्टकृद्विद्यात् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम॥

४ व्याहृति—ओं भूरग्नये स्वाहा॥ इदमग्नये—इदं न मम॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदं न मम॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा॥ इदमादित्याय—इदं न मम॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा॥
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदं न मम॥

१ प्राजापत्याहुति—ओं प्रजापतये स्वाहा॥ इदं प्रजापतये—इदं न मम॥

[दधि-प्राशन]

तत्पश्चात्, वर-वधू निम्न मन्त्र पढ़कर दही खायें—

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥*

[अभिवादन]

तत्पश्चात् दोनों वधू-वर, वर के माता-पितादि सबको निम्न प्रकार अभिवादन करे। इससे उत्तम 'नमस्ते'—यह वेदोक्त वाक्य अभिवादन के लिए नित्य प्रति स्त्री-पुरुष, पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्य आदि के लिए है। प्रातः सायं अपूर्व समागम में जब-जब मिलें, तब-तब इसी वाक्य से परस्पर वन्दन करें। इस समय जिस वाक्य से अभिवादन करें वह निम्न है—

''अहं भो अभिवादयामि''।

[आशीर्वाद]

स्वागत में उपस्थित नर-नारी, वर-वधू के पिता, आचार्य, पुरोहित आदि निम्न वाक्य बोलकर फूलों की वर्षा करें—

'ओं स्वस्ति, ओं स्वस्ति, ओं स्वस्ति।'

॥ इति पतिकुले स्वागत विधिः ॥

॥ इति विवाहसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

---

* इस मन्त्र का अर्थ विवाह-प्रकरण (पृष्ठ ४१५) में पहले आ चुका है।

गृहाश्रम, वानप्रस्थ, संन्यास तथा अन्त्येष्टि
—क्या ये चारों संस्कार हैं ?

संस्कारविधि में विवाह के बाद गृहाश्रम का विस्तृत वर्णन है। क्या गृहाश्रम विवाह के अतिरिक्त कोई संस्कार है ? इसी प्रकार गृहाश्रम के बाद वानप्रस्थ, संन्यास तथा अन्त्येष्टि का संस्कारों के रूप में वर्णन है। संस्कारों की भित्ति गृह्यसूत्रों पर टिकी हुई है, परन्तु गृह्यसूत्रों में वानप्रस्थ तथा संन्यास का वर्णन नहीं है। अन्त्येष्टि-संस्कार का वर्णन आश्वलायन गृह्यसूत्र तथा कौशिक सूत्र को छोड़ कर अन्य किसी गृह्यसूत्र में नहीं है। कर्णवेध का वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्र को छोड़कर अन्य किसी गृह्यसूत्र में नहीं है। किसी गृह्यसूत्र में १०, किसी में ११, किसी में १२, किसी में १३, किसी में १४ संस्कारों का वर्णन है। ऋषि दयानन्द की संस्कार विधि में १६ संस्कारों का उल्लेख है। क्योंकि हम आगे विवाह के बाद के संस्कारों पर लिखने लगे हैं, इसलिये संस्कार के सम्बन्ध की इस उलझन को यहीं पर सुलझाना आवश्यक है। इस सिलसिले में स्वर्गीय श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री ने १९१९ में '**संस्कारविधि मंडनम्**'-नामक एक लघु-पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसमें इस सम्बन्ध में अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। इस पुस्तिका को श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने 'वेदवाणी' के संस्कारविधि परिशिष्टांक (जून, १९७६) में प्रकाशित किया है। हम यहाँ 'वेदवाणी' में प्रकाशित उस पुस्तिका में से सम्बन्धित विषय का उद्धरण दे रहे हैं, जिससे ऋषि दयानन्द की संस्कारों के विषय में स्थिति स्पष्ट हो जायेगी। हम श्री रामगोपाल जी शास्त्री के शब्द नीचे दे रहे हैं—

स्वामी दयानन्द को 'संस्कारविधि' के निर्माण करने की क्यों आवश्यकता पड़ी ? इसका स्थूलरूप में यही उत्तर है कि आर्य-जाति में वेदादिशास्त्र-विहित संस्कारों का अभाव देख, ऋषि ने करुणामय मन से इस अध:पतित जाति के पुनरुत्थानार्थ इस अलौकिक ग्रन्थ को लिखा। महर्षि दयानन्द से र पूर्व आर्य लोगों में केवल थोड़े-से ही लुप्तप्रायरूप संस्कारों का प्रचार था। 'गर्भाधान' और 'पुंसवन' तो लोगों के लिए स्वप्न हो चुका था। 'सीमन्तोन्नयन'-संस्कार का प्रचार केवल स्त्रियों की विधि द्वारा ही प्रचलित था, जहाँ कि बिना मन्त्रादि बोले स्त्रियाँ स्वयं कुछ-एक फल या मिठाई आदि लेकर गर्भिणी की झोली में डाल देती थीं। 'जातकर्म' का विचार ही न था। स्वजातियों को बुलाकर लोग स्वयं नाम रखकर 'नामकरण'-संस्कार की पूर्ति कर दिया करते थे। 'निष्क्रमण' और 'अन्नप्राशन' तो किसी स्मरण भी न था। 'मुण्डन-संस्कार' अपूर्ण और अवैदिक रीति से प्रचलित था। 'कर्णवेध' स्त्रियाँ स्वयं वा किसी से ही करा लेती थीं। 'उपनयन' भी अपूर्ण रीति से असमय पर

होता था। कई-कई जाति के लोग तो विवाह-कार्य आरम्भ होने पर विवाह-स्नान के समय में यज्ञोपवीत धारण करते थे। कई-एक देवी-मन्दिर में देवी-देवता के चरणों में यज्ञोपवीत का स्पर्श करके, बिना मन्त्र ही अपनी सन्तान का यज्ञोपवीत करते थे।

'उपनयन' का फल ब्रह्मचर्य-धारणपूर्वक 'वेदारम्भ' का तो किसी को पता भी न था, फिर 'समावर्त्तन' के लिये क्या कहा जाय? केवल एक 'विवाह-संस्कार' को ही सब संस्कारों से अधिक प्रधानता दी जाती थी। वहाँ भी बाह्य आडम्बर बहुत और विधि का विचार बहुत थोड़ा था। उसमें भी शास्त्र-विरुद्ध इतनी कुरीतियाँ थीं कि जिनका पूरे रूप से वर्णन किया जाए, तो एक भिन्न ग्रन्थ बन जाता है। उन नाममात्र के संस्कारों में भी नवग्रह-पूजन, गणेश-पूजनादि अनेकविध अवैदिक और अनार्ष विधियाँ चली हुई थीं। वेद में इन ग्रहों की पूजा और गणेशादि की पूजा का वर्णन तो होना ही कहाँ था, पर आश्चर्य तो यह है कि इनका मूल पारस्कर, आश्वलायन, गोभिलादि गृह्यसूत्रों में भी कहीं नहीं मिलता, जो कि संस्कारों के मूल ग्रन्थ हैं और जिनकी सत्ता से ही संस्कारों की सत्ता है। इस प्रकार की बातों को देख महर्षि दयानन्द ने 'संस्कारविधि' को लिखने का विचार किया।

इस 'संस्कारविधि'-ग्रन्थ को पहले महर्षि ने वि०सं० १९३२ में लिखा था। फिर आठ वर्ष के अनन्तर आषाढ़ मास वि०सं० १९४० में इस ग्रन्थ का परिमार्जित रूप से शोधन कर द्वितीय संस्करण छपवाया। इस ग्रन्थ के छपने के अनन्तर अनेक प्रतिपक्षी आशङ्कायें करते हैं कि आर्य लोग वेद को ही स्वत:प्रमाण मानते हैं, अत: स्वामी जी की प्रत्येक बात उन्हें वेद-मन्त्रों से ही दिखानी होगी। इस प्रकार के आक्षेप करनेवाले लोग न जाने यह बात कैसे कह देते हैं जबकि आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द को भी यह पक्ष अभिमत न था। कोई पूछे कि लिखना दायें हाथ से चाहिए वा बायें हाथ से? पगड़ी के पीछे कपड़ा कितना छोड़ना चाहिये? स्नान करते समय पहिले पाँव धोने चाहिएँ वा हाथ? तो, इस प्रकार की बातों को भी जो लोग वेद से ही देखने और दिखाने का यत्न करते हैं, वे शास्त्रीय मर्मों से नितान्त अपरिचित हैं। अत: ऐसे आक्षेप-कर्त्ताओं के सम्मुख पहिले हम ऋषि का पक्ष स्थापन करना चाहते हैं—

महर्षि स्वयं '**ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**' के ब्रह्मविद्या-विषय-वर्णनारम्भ में यह प्रश्न उठाते हैं—

'वेदेषु सर्वा विद्या: सन्त्याहोस्विन्नेति? अत्रोच्यते—सर्वा: सन्ति मूलोद्देशत:।'

भावार्थ—'वेदों में सब विद्याएँ हैं वा नहीं?' इसके उत्तर में ऋषि ने कहा कि—''वेद में सब विद्याएँ तो हैं, परन्तु 'मूलोद्देशत:'=मूल रूप से हैं।''

ऋषि दयानन्द स्पष्टरूप से अपने सिद्धान्त को प्रकट करते हैं कि—''वेद में सब विद्याओं का मूल तो है, परन्तु विस्तार नहीं। उसी वेदरूपी बीज को लक्ष्य में रख कर आगे ऋषि-महर्षियों ने भिन्न-भिन्न विद्याओं का विस्तार करने के लिये ब्राह्मण, उपनिषद्, उपवेद, वेदाङ्ग, उपाङ्ग, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, व्याकरणादि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया था।'' स्वामी दयानन्द जी के इन वाक्यों को देखकर भी जो प्रतिपक्षी निराधार प्रश्न उठाया करेंगे कि—'अमुक संस्कार में अमुक बात जो लिखी है, वह वेद से दिखाओ?'—ऐसे-ऐसे प्रश्न उचित नहीं होंगे। वेद में सब विद्याओं का जैसे मूल है, वैसे ही यज्ञ करने का, तथा गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्य्यन्त सब संस्कारों का मूल है। उन्हीं मूल-मन्त्रों के आशय से दिव्य-दृष्टि द्वारा ऋषियों ने स्मृतियों, श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों में विधियों का विधान किया हुआ है।

अपनी 'संस्कारविधि' के आदि में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि—

वेदादिशास्त्र-सिद्धान्तमाध्याय परमादरात्।
आर्य्यैतिह्यं पुरस्कृत्य शरीरात्मविशुद्धये॥

''वेदादिशास्त्रों का परमादर से चिन्तन करके आर्यों के इतिहासानुकूल शरीर और आत्मा की शुद्धि के लिये यह ग्रन्थ रचा है।''

इस श्लोक में स्वामी जी ने पहले ही लिखा है कि—'वेदादि' अर्थात् वेद आदि सब शास्त्रों को विचार कर। यहाँ पर 'आदि' शब्द यही बात स्पष्ट करता है कि वेदानुकूल अन्य आर्षग्रन्थों के आधार पर भी इस ग्रन्थ का निर्माण किया गया है। इन प्रमाणों के होते हुए भी जो प्रतिपक्षी ऋषि के वास्तविक पक्ष को न समझ कर यही पूछेंगे कि प्रत्येक संस्कार की प्रत्येक क्रिया का विधान भी वेद से दिखाओ, वे महर्षि दयानन्द के पक्ष को न समझने का पूर्ण परिचय देंगे।

स्वामी जी ने कितने संस्कार माने हैं?

यह प्रश्न भी प्रायः कई जगह सुनने में आया कि—''स्वामी दयानन्द जी ने जो षोडश संस्कारविधि लिखी है, उसमें संस्कार अधिक आते हैं सोलह ही नहीं, इससे भी स्वामी जी का यह लेख कि—गर्भाधान से अन्त्येष्टि-पर्य्यन्त सोलह १६ संस्कार हैं, स्वामी जी की अपनी ही विधि से विरुद्ध बैठता है, क्योंकि 'संस्कारविधि' में जहाँ संस्कार-गणना की है, उसमें गृहाश्रम-संस्कार भी पृथक् लिखा है और गृहाश्रम-प्रकरण में शालादिकर्म्म विधि की समाप्ति पर—'**इति शालादि-संस्कारविधिः**'—यह वाक्य लिखा है, जिससे एक शालासंस्कार भी भिन्न सिद्ध होता है। इन प्रमाणों से स्वामी जी का यह वचन परस्पर-विरुद्ध बैठता है।''

इन आक्षेपों तथा अन्य इसी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने से पूर्व हमें यह उचित प्रतीत होता है कि पहले उन षोडश-संस्कारों का नाम लिख दिया जावे, जो स्वामीजी महाराज को अभिमत थे—

१. गर्भाधानम्	२. पुंसवनम्
३. सीमन्तोन्नयनम्	४. जातकर्म-संस्कारः
५. नामकरणम्	६. निष्क्रमण-संस्कारः
७. अन्नप्राशन-संस्कारः	८. चूड़ाकर्म्म-संस्कारः
९. कर्णवेध-संस्कारः	१०. उपनयन-संस्कारः
११. वेदारम्भ-संस्कारः	१२. समावर्त्तन-संस्कारः
१३. विवाह-संस्कारः	१४. वानप्रस्थाश्रम-संस्कारः
१५. संन्यासाश्रम-संस्कारः	१६. अन्त्येष्टिकर्म्म-विधि

यही सोलह १६ संस्कार महर्षि ने मुख्यरूप से 'संस्कारविधि' में लिखे हैं।

अब पूर्वपक्षी का यह पक्ष कि स्वामी जी को गृहाश्रमसंस्कार भिन्न अभिमत था, क्योंकि वहाँ 'गृहाश्रमसंस्कारः' ये शब्द लिखे हैं, ठीक नहीं, क्योंकि लेखक के सारे पूर्वापर लेख को पढ़कर ही उसके हृदयगत भाव का पता लग सकता है, अन्यथा नहीं। गृहाश्रमस्थ पुरुषों को अपने गार्हस्थ्य जीवन में क्या-क्या कर्म करने चाहिएँ, इन बातों का उपदेश बताने के लिए स्वामी जी ने कई-एक वेदमन्त्र और आर्षग्रन्थों के उपदेशमय वाक्य वहाँ भाषार्थसहित लिखेहैं जिससे गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेशोन्मुख पुरुष और स्त्री को स्वकर्त्तव्य पूर्णरूप से पता लग जायें। और, न ही गृहाश्रम-प्रकरण के आरम्भ में कोई विधि स्वामीजी ने लिखी है। यदि और संस्कारों की न्याई इस प्रकरणारम्भ में भी कोई विधि लिखी होती, तो यह संस्कार उन्होंने माना है, ऐसा कहा जा सकता था।

जिस प्रकार गृहाश्रम-संस्कार को स्वामीजी ने विवाह के अन्तर्गत माना है, वैसे ही 'शाला-निर्म्माणादि' लघु-संस्कार और सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञादि गृहस्थ के दैनिक कर्म्मों को भी उसी विवाह के अन्तर्गत माना है। इससे इन संस्कारों को भिन्न गिनना उनके अभिप्राय से विरुद्ध प्रतीत होता है। केवल 'संस्कार'-शब्द के आनेमात्र से इन्हें संस्कार में गिन लेना चाहिये—यह ठीक नहीं हो सकता।

आक्षेपकर्त्ता यह भी कहते हैं कि—"स्वामी दयानन्द जी ने 'अन्त्येष्टि-संस्कार' को संस्कार नहीं माना। उन्होंने पुस्तक में उसे 'अन्त्येष्टि कर्म्मविधिः' यह लिखा है। इससे उसे संस्कार न मानकर 'गृहाश्रम-संस्कार' को ही संस्कार मानकर स्वामीजी ने १६ संस्कारों की गणना पूरी की है।" यह बात भी ठीक नहीं कि स्वामीजी ने संस्कार शब्द अन्त्येष्टि के पीछे न लिखकर केवल 'कर्म्मविधिः' लिखा है, इससे उसे संस्कार में न गिना जाए। इसके उत्तर में हमें यह कहना है कि स्वामी जी स्वयं ही अन्त्येष्टि के आरम्भ में लिखते हैं कि—"अन्त्येष्टि-कर्म्म उसको कहते हैं कि जो शरीर के अन्त का संस्कार है।" यह वाक्य स्पष्ट करता है कि आचार्य ने अन्त्येष्टि को भी संस्कार माना है। इस संस्कार के अन्त में भी वे लिखते हैं कि—"इति मृतक-

संस्कार-विधिः समाप्तः''।

इसके अतिरिक्त, स्वामी जी 'कर्म्म'-शब्द को 'संस्कार' के अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं। देखो, सं० वि०—'अथ शालाकर्म्मविधि वक्ष्यामः'। यहाँ 'शालाकर्म्म'-शब्द लिखा है, और इस 'शालाकर्म्मविधि' के अन्त में 'इति शालादि-संस्कारविधिः' ऐसा लिखा है।

जिस क्रियाकलाप को पूर्व में कर्म लिखा है, उसे ही अन्त में संस्कार के नाम से लिखा है। इन वाक्यों से प्रतीत होता है कि स्वामी जी को 'कर्म'-शब्द से 'संस्कार' ही अभिप्रेत था। इसलिए यह शंका करना कि उन्हें अन्त्येष्टि-संस्कार स्वीकरणीय न था, ठीक नहीं। इन सब स्थलों के अध्ययन से हम अन्त में इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि स्वामीजी को 'गृहाश्रमसंस्कार' विवाह के अंतर्गत ही अभिप्रेत था, भिन्न नहीं।

दो परस्पर विरुद्ध बातों का उत्तर

'उपदेश-मञ्जरी' की व्याख्यान-माला के सातवें व्याख्यान में जो स्वामी जी ने जुलाई १८७५ ई० में पूना नगर में दिया था, 'कर्णवेधसंस्कार' का वर्णन नहीं। वहाँ उन्होंने गृहाश्रम को भिन्न लिख कर संस्कार की गणना षोडश की है। प्रथम 'संस्कार-विधि' जो १९३३ वि०सं० में प्रकाशित हुई थी, उसमें 'कर्णवेध' का वर्णन तो मिलता है, परन्तु वहाँ स्वामीजी ने 'वानप्रस्थाश्रमसंस्कार' को भिन्न न मानकर उसे संन्यास के अन्तर्गत माना है।

इन दो परस्पर विरुद्ध बातों का यह उत्तर है कि पहले १८७५ ई० में स्वामी जी ने कर्णवेध को बहुत उपयोगी न समझा था क्योंकि इसका वर्णन पारस्कर गृह्यसूत्र के कात्यायन परिशिष्ट भाग को छोड़कर अन्य आजतक प्रकाशित किसी गृह्यसूत्र में नहीं मिलता। प्रतीत होता है कि यही बात अनुभव कर उन्होंने इस संस्कार को प्रमुखता नहीं दी। यह भी सम्भव है कि इस संस्कार का वर्णन उन्होंने अपने व्याख्यान में किया हो, और इसे 'चूड़ाकर्म्म-संस्कार' के अन्तर्गत कहा हो, परन्तु नोट लेने वाले महाशय ने यह नोट न लिया हो। यह भी सम्भव है कि नोट लेकर भी 'उपदेश-मञ्जरी' में इसे न प्रकाशित किया हो, क्योंकि उसमें व्याख्यानों को संक्षेप रूप से दिया गया है, विस्ताररूप से नहीं। कैसे भी हो, यह बात तो सिद्ध ही है कि उस समय में स्वामीजी इस संस्कार को मुख्य नहीं मानते थे।

इन पूना व्याख्यानों के तीन मास पीछे अक्तूबर १८७५ ई० में जब स्वामी जी ने संस्कारविधि का प्रथम संस्करण निकाला, तो देश में प्रायः सर्वत्र कर्णवेध का प्रचार देख, शास्त्रानुकूल होने से उन्होंने संस्कार-माला में इसे भी स्वीकार किया।

वानप्रस्थाश्रम का भी संन्यासाश्रम से बहुत भेद न जानकर आचार्य दयानन्द ने प्रथम संस्करण में इसे संन्यास के अन्तर्गत माना और गृहाश्रम को मुख्य समझा। परन्तु १९४० वि०सं० (१८८३ ई०) में जब आठ वर्ष पीछे ऋषि ने 'संस्कारविधि'

का द्वितीय संस्करण निकाला, तो उसमें 'कर्णवेध' और 'वानप्रस्थाश्रम' को गृहाश्रम की अपेक्षा अधिक उपयोगी जान भिन्न-भिन्न लिखा।

गृहाश्रम, वानप्रस्थ, संन्यास तथा अन्त्येष्टि—क्या ये चारों संस्कार हैं ?

संस्कारविधि का द्वितीय संस्करण

संस्कार तो स्वामी जी को छोटे-बड़े सदा ही अभिमत थे, किन्तु उनकी मुख्यता और गौणता वे देशकालानुकूल करते थे। पहले १८७५ ई० के जुलाई मास में 'कर्णवेध' को साधारण जानते थे, परन्तु जब निरन्तर तीन मास भिन्न-भिन्न देशों में भ्रमण किया, तो उन्होंने अनुभव किया कि इस बहु-प्रचलित, प्राचीन-संस्कार को भी संस्कारविधि में लाना चाहिये। इस अनुभव से ही उन्होंने 'संस्कारविधि' में इसे लिखा। अन्त में अनेक देशों में भ्रमण करते-करते आर्य-जाति के प्रत्येक प्रान्तीय द्विजों की रीतियों का पूर्णरूप से अनुभव प्राप्त करके, आठ वर्ष पीछे १९४० वि०सं० (१८८३ ई०) में जब उन्होंने 'संस्कारविधि' का द्वितीय-संस्करण प्रकाशित किया, तो 'कर्णवेध' और 'वानप्रस्थ' को बहूपयोगी जान इन्हें गृहाश्रम की अपेक्षा विशेषता दी। प्रथम संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में पृथक् वर्णित गृहाश्रम को द्वितीय संस्करण में विवाह संस्कार के अन्तर्गत किया और संन्यासान्तर्गत वानप्रस्थ को भिन्न लिखा।

'संस्कारविधि' के द्वितीय संस्करण में जो न्यूनता वा अधिकता हुई है, उसके लिये हम पाठकों के सम्मुख स्वामीजी महाराज के ही लेख को उद्धृत करते हैं, जो उन्होंने द्वितीय संस्करण की भूमिका में दिया है—

''जो विषय प्रथम अधिक लिखा था, उसमें से अत्यन्त उपयोगी न जानकर छोड़ भी दिया है। और अब की बार जो-जो अत्यन्त उपयोगी विषय है, वह-वह अधिक भी लिखा है। इसमें यह न समझा जावे कि प्रथम युक्त न था और युक्त छूट गया था, उसका संशोधन किया है।''

स्वामीजी के इन वाक्यों से साफ प्रतीत होता है कि उन्होंने युक्त-विषय को छोड़ा नहीं, प्रत्युत् द्वितीय संस्करण में संशोधन किया है। ऐसे ही यदि उन्होंने गृहाश्रम की अपेक्षा वानप्रस्थाश्रम की विशेषता अधिक अनुभव कर गृहाश्रम को विवाहान्तर्गत मान और वानप्रस्थ को संन्यासान्तर्गत न मानकर, प्रत्युत् उसे स्वतन्त्र मानकर द्वितीय संस्करण में यह संशोधन किया, तो कोई दोष की बात नहीं।

मनु महाराज ने पुंसवन, सीमन्तोन्नयन और कर्णवेध संस्कारों का वर्णन स्वमनुस्मृति में नहीं किया। और, उधर अन्य गृह्यसूत्रकर्त्ता ऋषि इन्हें सर्वत्र ही स्वसूत्र-ग्रन्थों में विशेषता देते रहे वे वानप्रस्थ और संन्यास-संस्कार का वर्णन नहीं करते। आश्वलायन के बिना गृह्यसूत्रकर्त्ता ऋषियों ने अन्त्येष्टि-संस्कार का वर्णन ही नहीं किया। इससे हम यह नहीं कह सकते कि इसमें गृह्यसूत्र-कर्त्ताओं की त्रुटि है। इसका समन्वय यही है कि उन महापुरुषों ने अपने-अपने समय देशकालानुकूल वेद से मूल

लेकर संस्कारों का विधान किया। जैसे प्राचीन-काल में ऋषियों ने विधियाँ लिखीं, वैसे ही उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े संशोधक वेदतत्त्वज्ञाता स्वामी दयानन्द ने भी देशकालानुकूल जिस-जिस संस्कार की बहुत विशेषता अनुभव की उसे मुख्य और अन्य साधारण संस्कारों को गौण समझ कर उन्हें संस्कारों के अन्तर्गत किया।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि अन्तर्गततत्त्व होने से पदार्थ सत्ता का अभाव नहीं होता, किन्तु प्रधानता वा अप्रधानता मानी जाती है। ऐसे ही गृहाश्रम के अन्य शालाकर्म, पञ्चमहायज्ञादि संस्कारों को भी उसके अन्तर्गत जानना चाहिये। कैसे भी हो, हमें यह लिखने में झिझक नहीं कि स्वामीजी ने मुख्य संस्कार वही सोलह माने हैं, जो उनसे पूर्व आचार्यों को स्वीकृत थे। आचार्य दयानन्द से पूर्व मनु आदि स्मृतिकारों, तथा पारस्कर, आश्वलायन आदि गृह्यसूत्र लेखकों ने जो-जो संस्कार अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं, उनसे पाठकों का परिचय होना अत्यन्त आवश्यक है। पाठकों के परिचय के लिये हम कई-एक ग्रन्थों की संस्कार-माला को उद्धृत करते हैं, जिसके ध्यानपूर्वक विवेचन करने से पाठकों को ज्ञात हो जाएगा कि किस-किस आचार्य को कौन-कौन-से संस्कार अभिमत थे—

आश्वलायन गृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भलम्भन, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. अन्नप्राशन, ८. चौल, ९. उपनयन, १०. जातकर्म, ११. गोदान (केशान्त), १२. समावर्तन, १३. अन्त्येष्टि।

कौषीतकि (शांखायन) गृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. गर्भरक्षण, ५. सीमन्तोन्नयन, ६. जातकर्म, ७. अन्नप्राशन, ८. चूड़ाकर्म, ९. गोदान (केशान्त), १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. समावर्तन।

पारस्कर गृह्यसूत्रम्—(कात्यायन-परिशिष्ट-सहितम्) १. विवाह, २. चतुर्थी-कर्म (गर्भाधान), ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. निष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन, ९. चूड़ाकरण, १०. कर्मवेध, ११. उपनयन, १२. वेदारम्भ, १३. केशान्त, १४. समावर्तन।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. ऋतुगमन, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. अन्नप्राशन, ८. चौल, ९. गोदान, १०. उपनयन, ११. वेदारम्भ, १२. समावर्तन।

हिरण्यकेशि गृह्यसूत्रम्—१. उपनयन, २. वेदारम्भ, ३. समावर्तन, ४. विवाह, ५. चतुर्थीकर्म, ६. सीमन्तोन्नयन, ७. पुंसवन, ८. जातकर्म, ९. चूड़ाकर्म, १०. गोदान।

मानव गृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. पुंसवन, ५. जातकर्म, ६. नामकरण, ७. निष्क्रमण, ८. अन्नप्राशन, ९. चूड़ाकर्म, १०. केशान्त, ११. उपनयन, १२. वेदारम्भ, १३. समावर्तन।

गोभिल गृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तकरण,

५. जातकर्म, ६. निष्क्रमण, ७. नामधेयकरण, ८. चूड़ाकर्म, ९. उपनयन, १०. वेदारम्भ, ११. गोदान, १२. समावर्तन।

जैमिनि गृह्यसूत्रम्—१.विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. जातकर्म, ६. नामकर्म, ७. प्राशनकर्म, ८. चौलकर्म, ९. उपनयन, १०. गोदान, ११. समावर्तन।

खादिर गृह्यसूत्रम्—१. विवाह, २. गर्भाधान, ३. पुंसवन, ४. सीमन्तोन्नयन, ५. सोष्यन्ती होम (जातकर्म), ६. निष्क्रमण, ७. नामकरण, ८. चौल, ९. उपनयन, १०. वेदारम्भ, ११. गोदान।

कौशिक सूत्रम्—१. विवाह, २. चतुर्थीकर्म, ३. नामकरण, ४. अन्नप्राशन, ५. निर्णयन (निष्क्रमण), ६. गोदान, ७. चूड़ाकरण, ८. उपनयन, ९. वेदारम्भ, १०. पितृ (अन्त्येष्टि)।

गोपथ ब्राह्मणम्—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन, ४. जातकर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्नप्राशन, ८. गोदान, ९. चूड़ाकरण, १०. उपनयन, ११. आप्लावन (समावर्तन)।

मनुस्मृति—१. गर्भाधान, २. जातकर्म, ३. नामकरण, ४. निष्क्रमण, ५. अन्नप्राशन, ६. चूड़ाकर्म, ७. उपनयन, ८. केशान्त, ९. वेदारम्भ, १०. समावर्तन, ११. विवाह, १२. वानप्रस्थ, १३. संन्यास, १४. अन्त्येष्टि।

इस ऊपर के उद्धरण में ऋग्वेदीय 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' में १३ संस्कार वर्णित किये हैं। इसमें १. निष्क्रमण, २. कर्णवेध, ३. वानप्रस्थ और ४. संन्यास का उल्लेख नहीं। 'कौषीतकि' में १२ संस्कारों का विधान मिलता है। इसमें भी १. निष्क्रमण, २. कर्णवेध, ३. वानप्रस्थ और ४. संन्यास का वर्णन नहीं आता। इस गृह्यसूत्र में 'गर्भरक्षण' नाम का संस्कार अधिक लिखा है, जिसे 'पुंसवन' के पीछे चतुर्थ मास में करने का विधान है। इस सूत्रग्रन्थ के सिवाय यह संस्कार अन्य किसी गृह्यसूत्र में नहीं देखा। यजुर्वेदीय 'पारस्कर गृ०सू०' में १४ संस्कार हैं, इसमें वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टि का वर्णन नहीं। इसी प्रकार 'आपस्तम्ब-गृह्यसूत्र' में बारह, 'हिरण्यकेशि-गृह्यसूत्र' में दस, मानव-गृह्यसूत्र में तेरह, सामवेदीय 'गोभिल-गृह्यसूत्र' में बारह, 'जैमिनि गृह्यसूत्र' में ग्यारह, 'खादिर-गृह्यसूत्र' में ग्यारह, अथर्ववेदी 'कौशिक-सूत्र' में दस, 'गोपथ ब्राह्मण' में ग्यारह, और 'मनुस्मृति' में चौदह संस्कारों का वर्णन मिलता है।

इस ऊपर की संस्कार-माला के उद्धरण से स्पष्ट होता है कि किसी भी गृह्यसूत्रकार ने वानप्रस्थ और संन्यास का उल्लेख नहीं किया। 'आश्वलायन' और 'कौशिक' के बिना अन्य उपरोक्त सूत्र-ग्रन्थों में अन्त्येष्टि का वर्णन नहीं मिलता। 'पारस्कर' (कात्यायन-परिशिष्ट) में ही 'कर्णवेध' का वर्णन मिलता है, औरों में

नहीं। इस न्यूनता और अधिकता से पाठकों के मन में अवश्य संशय उत्पन्न होता होगा, परन्तु इस बात का मुख्योत्तर तो वही पूर्व का है कि ऋषियों ने भिन्न-भिन्न समय में देशकालानुसार वेदानुकूल विधियों का विधान किया है। पारस्कर आचार्य ने 'कर्णवेध' को मुख्य संस्कार समझ उसे विशेषता दी और 'भद्रं कर्णेभिः' (यजु० २५.२१) मन्त्र को मूल में स्वीकार करके 'कर्णवेध' का विधान किया। सूत्र ग्रन्थों में वानप्रस्थ और संन्यास का वर्णन न आने का यह कारण है कि ये गृह्यसूत्र गृहस्थ-सम्बन्धी कर्त्तव्यों का वर्णन करते हैं, औरों का नहीं। वानप्रस्थ और संन्यास का गृह्यकर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं, अतः इनका विधान गृह्यसूत्रों में नहीं मिलता। इन दोनों संस्कारों का विशेष वर्णन ब्राह्मण और स्मृति ग्रन्थों में आता है और स्वामी जी ने भी ये संस्कार उन्हीं के आश्रय से लिखे हैं।

स्वामी जी ने अपनी 'षोडशसंस्कारविधि' को आश्वलायन-गृह्यसूत्र, पारस्कर-गृह्यसूत्र, गोभिल-गृह्यसूत्र, शौनक* गृह्यसूत्र, शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति के आधार पर ही लिखा है।

आशा है, वैद्य श्री रामगोपाल जी के इस समाधान से कर्णवेध के एक स्वतन्त्र संस्कार होने, गृहाश्रम तथा शालाकर्म के विवाह-संस्कार के अन्तर्गत होने, वानप्रस्थ तथा संन्यास के पृथक्-पृथक् संस्कार होने एवं अन्त्येष्टि का अपने-आप में एक अलग संस्कार होने-न-होने की शंका मिट जायेगी।

[गृहाश्रम तथा संस्कार-चन्द्रिका]

संस्कार-विधि में 'गृहाश्रम'—इस नाम से एक पृथक् प्रकरण दिया गया है, जिसमें परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना, सन्ध्योपासन विधि, प्रातः तथा सायं के दैनिक अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ, अतिथियज्ञ, पक्षेष्टि, नवशस्येष्टि, शाला-कर्म-विधि, ब्राह्मणस्वरूप-लक्षण, क्षत्रियस्वरूप-लक्षण, वैश्यस्वरूप-लक्षण, शूद्रस्वरूप-लक्षण आदि बहुत-कुछ दिया गया है। हमने अपने ग्रन्थ 'संस्कार-चन्द्रिका' में इन सबका समावेश नहीं किया है, सिर्फ शाला-कर्म-विधि का उल्लेख का किया है।

अगर सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र तथा अन्य सभी प्रकार के यज्ञों पर भी लिखा जाता, तो ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता। गृहाश्रम का पृथक् वर्णन न करने का कारण श्री रामगोपाल जी शास्त्री के वक्तव्य से भी स्पष्ट हो जाता है—इसीलिये उनके कथन को विस्तार से दे दिया गया है।

---

* शौनक गृह्यसूत्र के प्राप्त करने में हमने बहुत यत्न किया है, परन्तु हमें यह पुस्तक कहीं से नहीं मिली। किसी विदेशीय स्कॉलर ने भी गृह्यसूत्रों में शौनक का नाम नहीं लिखा। न-जाने स्वामी जी को यह अमूल्य ग्रन्थ कहाँ से मिला था। शौनक का नाम शाङ्खायन गृह्यसूत्र में आता है—वेदवाणी।

वानप्रस्थ संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

१. जीवन-विषयक दो दृष्टियाँ—भोग तथा त्याग

बम्बई का शहर है, सामने लम्बी सड़क है लोगों की भारी भीड़ उमड़ी चली जा रही है, कन्धे-से-कन्धा टकराता है, कुछ आ रहे हैं, कुछ जा रहे हैं, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवा सभी हैं। किसी को खड़ा करके पूछिये, क्यों भाई, क्या हुआ, इस तरह बेतहाशा किधर भागे जा रहे हो, तो वह बिना रुके, चलता-चलता जो कह जाता है उसका मतलब होता है, रोटी का फिक्र, आगे-पीछे का फिक्र नहीं, आज का और अब का फिक्र—इसी फिक्र में, वह क्या और दूसरे क्या, सभी भागे जा रहे हैं। अब हरिद्वार का नजारा देखिये। गंगा का तट है, हर की पैड़ी, सैंकड़ों साधु भगवा रमाये इधर-उधर टहल रहे हैं। कुछ मण्डली लगाये धर्म को चर्चा कर रहे हैं। किसी मण्डली में जाकर पूछिये, महात्मा लोगो! आपको मालूम है, आज संसार की क्या दशा है, रोटी का प्रश्न सबको व्याकुल कर रहा है, इसी समस्या को हल करने में प्रत्येक व्यक्ति जुटा हुआ है, तो वे क्या उत्तर देते हैं? महात्माओं की मण्डली कहती है, हाँ हमें मालूम है, परन्तु हमें इससे क्या, हम तो आत्मा के चिन्तन में लगे हुए हैं, आज की और अब की नहीं, हम आगे और पीछे की समस्या को हल करने में जुटे हैं। संसार अनित्य है, घर-बार, बन्धु-बान्धव, स्त्री-पुत्र सब अनित्य हैं, इन्हें छोड़ हम नित्य आत्मा-परमात्मा की खोज में लगे हुए हैं।

जीवन के विषय में यही मोटे-मोटे दो विचार हैं। एक वर्त्तमान में जीना चाहता है, उसे भविष्यत् का विचार नहीं, दूसरा भविष्यत् के लिए जीना चाहता है, उसे वर्त्तमान का ख्याल नहीं। जीवन के विषय में ये दो दृष्टियाँ, जहाँ भी जीवन पर विचार हुआ, उत्पन्न हो गईं। प्राचीन ग्रीस के विचारकों में वर्त्तमान में जीने वाले 'एपीक्यूरिअन' (Epicureans) कहलाते थे, भविष्यत् के लिए जीनेवाले (Stoics) कहलाते थे। एपीक्यूरिअन लोगों के विषय में कहा जाता है कि वे जीवन का सम्पूर्ण आनन्द, जल्दी-से-जल्दी जितना हो सके उतना, आज और अभी लूट लेना चाहते थे, आगे क्या होता है, क्या नहीं होता—इसका उन्हें कोई भरोसा नहीं था। स्टोइक लोग तपस्वियों का जीवन व्यतीत करते थे, आज का ख्याल न करके, आगे जो होगा उस दृष्टि से जीवन का कार्यक्रम बनाते थे। इनमें से एक भोग-मार्ग था, दूसरा त्याग-मार्ग था। संसार के इतिहास में इन्हीं दो मार्गों में से किसी एक मार्ग पर मानव-समाज चलता आ रहा है। कुछ लोग भोग-मार्ग के उपासक रहे हैं, वर्त्तमान में डूबे रहे हैं, कुछ लोग त्याग-मार्ग के उपासक रहे हैं, भविष्यत् की चिन्ता में वर्त्तमान का

तिरस्कार करते रहे हैं। इन दोनों मार्गों को मिलाने का यत्न बहुत थोड़े लोगों ने किया है। महात्मा बुद्ध ने आध्यात्मिकता के शिखर पर खड़े होकर आवाज दी और सैकड़ों-हजारों घरानों में भिक्षु और भिक्षुणियों को उत्पन्न कर दिया, शंकराचार्य के **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** के जयघोष को सुनकर घरों-के-घर भगवा डालकर खाली हो गये। इसके विपरीत संसार के जंजाल में फँसाने के लिए तो किसी बड़े उद्योग की आवश्यकता ही नहीं, इधर तो मनुष्य की प्रवृत्ति ही उसे घसीटे लिये जाती है, इसलिए जहाँ बुद्ध, शंकराचार्य के पीछे इने-गिनों ने कदम बढ़ाया, वहाँ मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने अधिकांश व्यक्तियों को सदा से संसार में बाँधे रखा।

२. वैदिक-संस्कृति का दृष्टिकोण—
भोग तथा त्याग का समन्वय है

जीवन के इन दो मार्गों पर वैदिक-संस्कृति के विचारकों ने खूब सोचा-समझा था। मनुष्य भोग का जीवन व्यतीत करे या त्याग का, दुनिया में रहे और इसका पूरा-पूरा आनन्द उठाये या इससे भागने की चिन्ता करे, वर्त्तमान में जीवन-रस के घूँट पीने में मस्त रहे या भविष्यत् की सोचे, प्रवृत्ति-मार्ग पर चले या निवृत्ति-मार्ग पर—इस प्रश्न को भारत के प्राचीन ऋषियों ने एक अनोखे तौर पर हल किया था। उन ऋषियों ने गाया था—**'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'**—हे मानव! संसार का सम्पूर्ण भोग्य-पदार्थ तेरे पिता परमात्मा का है। यह वैभव उसका है, उसका समझ कर इसका उपभोग कर, जैसे तुझे मिला है वैसे किसी दिन तुझसे छूट भी जाना है—यह समझ कर, इसे अपना न समझ कर उपभोग कर, त्यागपूर्वक उपभोग कर, निवृत्तिपूर्वक प्रवृत्ति कर, जब छोड़ने की घण्टी बजे तब छोड़ने के लिए तैयार रहकर उपभोग कर।

भोग-त्याग, प्रवृत्ति-निवृत्ति, वर्त्तमान-भविष्यत्—ये दोनों विकट समस्याएँ हैं, वैदिक-संस्कृति ने इन दोनों का समन्वय कर दिया था। भोग ठीक है, परन्तु भोग का अन्त त्याग में है, प्रवृत्ति ठीक है, परन्तु भोग का अन्त त्याग में है, प्रवृत्ति ठीक है, परन्तु प्रवृत्ति का अन्त निवृत्ति में है, वर्त्तमान ठीक है, परन्तु वर्त्तमान का प्रारम्भ भूत और अन्त भविष्यत् में है, भोग और प्रवृत्ति इसलिए करे ताकि त्याग और निवृत्ति की भावना पक्की हो जाए। संसार का अन्त त्याग और निवृत्ति है, यह न हो कि जब मनुष्य त्याग की अवस्था में पहुँचे तब भोग की वासना बनी रहे, और उसे त्याग में से फिर-फिर खींच कर भोग और प्रवृत्ति की तरफ धकेलती रहे। त्याग की अविचल चट्टान पर खड़ा होकर मनुष्य भोग के लुभावने रूप की तरफ आँख उठा कर भी न देखे—यह तभी हो सकता है जब वह भोग में से गुजर आये—उसकी नश्वरता को व्याख्यानों द्वारा नहीं, अनुभव द्वारा परख आये। भोग टिकनेवाला प्रवृत्ति

और निवृत्ति, वर्त्तमान और भविष्यत् के इस समन्वय को लेकर भारत के ऋषियों ने एक वैज्ञानिक ढंग पर जीवन का कार्यक्रम बनाया था।

३. ब्रह्मचर्याश्रम

संसार का प्रारम्भ भोग है, अन्त त्याग है—इस व्यावहारिक सत्य को लेकर हमारे पूर्वज चले थे—प्रारम्भ भोग है, तो क्या जीवन को भोग से ही प्रारम्भ करना होगा? नहीं—भोग भी तो बिना त्याग के नहीं भोगा जाता। जो संसार के ऐश्वर्यों में ही पला है, उसके लिए इन ऐश्वर्यों का मूल्य क्या रह जाता है? जिसने चने चबाकर जीवन का निर्वाह किया हो, उसे मोहनभोग का जो आनन्द मिलता है, वह दिन-रात मोहन-भोग में रहनेवाले को कहाँ मिल सकता है? लकड़ी के तख्ते और कड़ी जमीन पर सोनेवाले के लिए पलंग और गदेलों पर सोने का जो मजा है, वह बचपन से ही गदेलों पर सोनेवाले को कहाँ नसीब होता है? नंगे पाँव और नंगे सिर कड़ी धूप में मेहनत करने वाले को जब जूता पहनने और छतरी ओढ़ने को मिलती है, तो वह उड़ा-उड़ा फिरता है। जिसने बचपन ही जूतों और छतरियों में काटा हो उसे खस की टट्टियों के लगे रहने पर भी गर्मी सताती है। इसीलिए भारत के प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य-जीवन का प्रारम्भ इस व्यावहारिक सत्य को समझ कर ही किया था कि यद्यपि संसार का प्रारम्भ भोग है, परन्तु भोग भी बिना त्याग के नहीं भोगा जा सकता। जीवन की इस प्रथम साधना का नाम उन्होंने 'ब्रह्मचर्य-आश्रम' रखा था।

ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम के लिए तैयारी का आश्रम था। संसार के ऐश्वर्यों का जीवन में पूरी तरह से उपभोग किया जा सके इसीलिए ब्रह्मचर्यावस्था में बालक को संसार के ऐश्वर्यों से दूर रखा जाता था। संसार को भोगने के लिए संसार के लिए भूख पैदा करने की जरूरत है। पैदा हो जाए, तो भूख में ज्यादा न खाया जाय, इस समझ के पैदा करने की और भी ज्यादा जरूरत है। आज उस भूख के पैदा होने से पहले ही हमारे बालक विषयरूपी भोगों को कुतरने लगते हैं। इसी का परिणाम है कि जब वे जवानी में पहुँचते हैं, उस आयु में पहुँचते हैं, जब प्रकृति उन्हें संसार का उपभोग करने की इजाजत देती है, तब उनमें उत्साह नहीं रहता, उन्हें अपना जीवन खोखला नजर आने लगता है। हमारे युवकों में कितने युवक हैं, जो जवानी में आकर जवान रहते हों? भोग-विलास ही जवानी नहीं है। मनुष्य का जीवन के लिए उत्साह होना जवानी का चिह्न है, हमारे युवक बचपन में ही इस प्रकार का विलासी-जीवन व्यतीत करने लगते हैं कि उनमें पच्चीस वर्ष की अवस्था में आकर जीवन के प्रति कोई उत्साह नहीं रहता। प्रकृति ने जीवन में जो उत्साह का समय बनाया है मनुष्य ने उसे निराशा का समय बना दिया है। इस उत्साह द्वारा मनुष्य क्या-क्या नहीं कर सकता? हिमालय के उच्चतम शिखर को मापने का

उत्साह रखनेवाले देश में कितने शेरपा तेनसिंह दिखलाई देते हैं? जब तक आत्मा हिमालय की चोटी के समान न हो तबतक उस चोटी पर चढ़ने का उत्साह कैसे पैदा हो सकता है? हमारा विद्यार्थी-समाज एक ऐसे दूषित वातावरण में पल रहा है कि उसमें संसार के शुद्ध ऐश्वर्य को भोगने का साहस तथा उत्साह नहीं रहता। इन सब बातों की हम आये-दिन चर्चा सुनते हैं, परन्तु चर्चा-मात्र कर देने से तो समस्या हल नहीं हो जाती। आर्य-संस्कृति ने जीवन की इस समस्या को समस्या के तौर पर समझा था, और समझ कर इसका हल निकाला था। ब्रह्मचर्याश्रम इस समस्या का ही हल था। जब संसार के लिए भूख नहीं, तो बिना भूख के खाना कैसा? बिना भूख के खाने से ही तो अपच हो जाता है, ऐसा अपच जिसमें भूख नहीं लगती और मनुष्य हर समय कुछ नोच-नोच कर खाया भी करता है। बिना ब्रह्मचर्य के संसार में पड़ जाना ऐसा ही है। ब्रह्मचारी को संसार की भूख लग गई, तो भूख में वह ज्यादा खा जाय—इससे भी तो बचाने की आवश्यकता है। तभी ब्रह्मचर्याश्रम एक लम्बा, साधना का आश्रम था, ऐसी साधना जिसमें जीवन के लिए आँख खोल दी जाती थी, ऐसी साधना जिसमें जीवन के प्रति एक खास दृष्टिकोण बना दिया जाता था। जिस व्यक्ति ने जीवन के मर्म को समझ लिया, यह समझ लिया कि मनुष्य-देह यों ही गँवा देने के लिए नहीं, किसी प्रयोजन से मिला है, फिर वह संसार के भोगों में तो पड़ेगा, परन्तु इसलिए पड़ेगा कि संसार के भोगों को भोग डाले, इनको भोग कर इनकी वासना तक को मिटा डाले। ब्रह्मचर्य की तपोमय साधना के बिना हमारा आज का जीवन एक लालसा का जीवन है, एक प्यास का जीवन है, एक भूख का जीवन है, परन्तु ऐसी लालसा, ऐसी प्यास और ऐसी भूख जो कभी तृप्त न होगी, कभी शान्त न होगी। हम आज या तो भूख-प्यास से पहले खाना-पीना शुरु कर देते हैं। भूख-प्यास लगने ही नहीं पाती, या भूख-प्यास से ज्यादा खा-पी जाते हैं। भूख मिट जाए, इसलिए हमें खाना है, प्यास बुझ जाए, इसलिए हमें पीना है, खाने पर भी भूखे बने रहना, पीने पर भी प्यासे बने रहना कहाँ की बुद्धिमानी है। इस व्यावहारिक सत्य को क्रियात्मक रूप देने के लिए वैदिक-संस्कृति ने ब्रह्मचर्याश्रम की कल्पना की थी जिसमें बालक का जीवन के प्रति उक्त दृष्टिकोण बन जाता है।

ब्रह्मचारी का जीवन तपस्या का जीवन था। अथर्ववेद के 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' में ब्रह्मचारी का वर्णन आता है। इस सूक्त के २६ मन्त्रों में १५ बार 'तप' शब्द को दोहराया गया है—**'स आचार्यं तपसा पिपर्ति'**—**'रक्षति तपसा ब्रह्मचारी'**—**'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'**—ब्रह्मचारी तप से अपने जीवन की साधना करता है। प्राचीन-प्रथा तो यह थी कि विद्यार्थियों का निवास शहर से दूर जंगल में ऋषि-मुनियों के आश्रमों में होता था जहाँ शहरों का कोई प्रलोभन नहीं था। यह

ठीक है कि प्रलोभनों से परे रहकर उनसे बचे रहना कोई गुण नहीं है। जो सच इसलिए बोलता है, क्योंकि उसे झूठ बोलने का मौका नहीं, सदाचारी इसलिए है, क्योंकि उसके सामने गिरने का कोई अवसर नहीं, वह क्या सच्चा और क्या सदाचारी? परन्तु यह भी ठीक है कि प्रलोभनों से बचने की शक्ति उत्पन्न करने के लिए बालक को बचपन से ही प्रलोभनों में डाल देना उसके नैतिक-बल को बढ़ाने का तरीका नहीं है। नैतिक-बल उत्पन्न करने के लिए बालक को नैतिक वातावरण में रखना जरूरी है। वैदिक-संस्कृति का बालक चारों तरफ से प्रलोभनों से घिर कर जीवन को नहीं प्रारम्भ करता था, जैसा आज के बालक को करना पड़ रहा है। माता-पिता का जीवन संसार को भोगने का जीवन है। उसे माता-पिता से अलग कर दिया जाता था। शहरों में प्रलोभन पग-पग पर फैल रहे होते हैं। उसे शहरों से भी अलग कर दिया जाता था। जंगल में उसका मन विचलित करनेवाली कोई वस्तु नहीं। उसे जंगल में रख दिया जाता था। वानप्रस्थियों के आश्रमों में उच्चतम नैतिक वातावरण सम्भव था। उसे इन्हीं आश्रमों में से किसी एक आश्रम में भर्ती कर दिया जाता था। इन आश्रमों का पारिभाषिक नाम 'गुरुकुल' था। इन आश्रमों में ब्रह्मचारी विद्या पढ़ता था, साथ ही २४ वर्ष की उम्र तक तपस्या का जीवन बिताता था, भोग-ऐश्वर्य से दूर रहता था। वेद में ब्रह्मचारी का वर्णन करते हुए लिखा है—देखो, वह ब्रह्मचारी आ रहा है, उसके सिर और दाढ़ी के बाल लम्बे लटक रहे हैं, वह तप से कृश हो रहा है, उसने सिर पर तेल तक नहीं मला। तपस्यापूर्वक विद्या की साधना के बाद जब वह संसार में पड़ कर संसार में डूबा न रहे, प्रलोभनों के आने पर उनसे डिग न सके, भोगों को भोगता हुआ उनमें लिप्त न रहे—इस बात के लिए तैयार हो जाता था, तब उसका समावर्त्तन संस्कार होता था। वह जंगल छोड़कर शहर चला आता था, वानप्रस्थियों का आश्रम छोड़कर माता-पिता के पास पहुँच जाता था, उस समय उसका गुरु ही उसे शीशा, कंघा, छत्री, जूता देता था, उस्तरे से उसके बाल काट कर कंघी से सँवारे जाते थे, और संसार में पड़ कर आत्म-तत्त्व को विकसित करने के मार्ग पर वह चल देता था। वह संसार में आता था, परन्तु तैयारी के साथ, प्रलोभनों का मुकाबिला करता था, परन्तु उनके साथ टक्कर लेने की पहले साधना कर चुका होता था। इस तैयारी का नाम ही तो 'ब्रह्मचर्याश्रम' था।

४. गृहस्थाश्रम

जैसा हमने पहले कहा, भोग भी त्याग के बिना नहीं भोगा जाता, इसलिए संसार को भोगना सीखने से पहले संसार में त्याग और तपस्या से रहना सीखने की जरूरत है। इसीलिए वैदिक-संस्कृति में गृहस्थाश्रम से पहले ब्रह्मचर्याश्रम को स्थान दिया गया है। गृहस्थाश्रम संसार को भोगने का आश्रम है। जो लोग यह समझते है

कि प्राचीन भारत में त्याग-ही-त्याग की रट लगाई जाती थी, वे उस मय की संस्कृति को नहीं समझते। मनुष्य के विकास में गृहस्थाश्रम एक आवश्यक आश्रम था। मनुष्य में संसार का उपभोग करने की, विषयों की तह तक पहुँचने की, वासना का ओर-छोर देखने की जो गहरी भावना है, उसे वैदिक-संस्कृति की जीवन-व्यवस्था में पूरा स्थान था। आत्म-तत्त्व के उच्चतम विकास के लिए प्रवृत्ति, भोग और विषयों से पूरी तरह निपट लेना, इस तरह निपट लेना कि फिर बार-बार उधर खिंच कर न आना पड़े, आवश्यक समझा जाता था। वैदिक-संस्कृति के अनुयायी संसार से भागने की ही बात नहीं करते थे, संसार को भोगने की बात भी करते थे, उनकी निर्धारित की हुी, जीवन की रूप-रेखा में मन्दिरों को स्थान था, तो महलों को भी स्थान था; अरण्यों को स्थान था, तो बड़े-बड़े जनपदों को भी स्थान था; त्याग और निवृत्ति को स्थान था, तो भोग और प्रवृत्ति को भी पूरा-पूरा स्थान था।

जो लोग भारत के प्राचीन-काल को इसलिए कोसते हैं, क्योंकि यहाँ के ऋषि-मुनि परलोक की बातें करते थे, इस लोक की चिन्ता नहीं करते थे, वे उनकी विचारधारा को नहीं समझते। वैदिक-संस्कृति के विचारक संसार की यथार्थता को पूर्णतः स्वीकार करते थे। प्राचीन-भारत की समृद्धि, यहाँ का वैभव, यहाँ का ऐश्वर्य, यहाँ की भोग-सामग्री आजकल के किसी देश से कम न थी। वैदिक-संस्कृति के विचारों में पले गृहस्थी इस लोक के जीवन का पूरा रस लेते थे, क्योंकि उनमें लालसा के साथ संसार के भोगों को भोगने की शक्ति भी होती थी। हाँ, संसार का रस लेते हुए उनके सम्मुख एक बात अवश्य रहती थी। प्राचीन रोम में जब कभी कोई बड़ी दावत होती थी, नाच-रंग होता था, तो एक अलमारी में मुर्दे की खोपड़ी भी रख दी जाती थी, जिससे अगर उधर नजर पड़ जाए, तो यह स्मरण हो आये कि इन रंग-रलियों का अन्त यही-कुछ होने वाला है। भारत के गृहस्थी जब जीवन का रस लेते थे, तब इस रस की लालसा अन्त तक न बनी रहे, इस दृष्टि से लेते थे, लालसा को नष्ट करने के लिए लालसा में हाथ डालते थे। संसार के विषयों को भोगने की शक्ति का ह्रास तो सबका होना ही है, ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, शक्ति क्षीण होती जाती है, फिर शक्ति-क्षीणता के साथ लालसा को क्षीण क्यों न किया जाए। शक्ति न रहे, लालसा बनी रहे—इससे बढ़कर मनुष्य की दुर्गति क्या हो सकती है। गृहस्थ-जीवन का आदर्श यही है कि मनुष्य विषयों को भोग कर विषयों से ऊपर उठ जाये, फिर उसे विषयों का मुँह न ताकना पड़े। वैदिक-संस्कृति के आदर्श के अनुसार मनुष्य को संसार के विषयों के बीच में से होकर गुजरना है, उनमें अपने को खो नहीं देना। आजकल हम किस प्रकार का जीवन बिता रहे हैं? हम संसार के विषयों में भटकते हैं। भटकते-भटकते हमारे मनों में वासना रह जाती

है, शरीर में शक्ति नहीं रहती। वैदिक-संस्कृति का गृहस्थ-सम्बन्धी जो आदर्श है उसका यह स्वाभाविक परिणाम था कि विषयों में भटकते-भटकते मनुष्य में विषयों का रस लेने की शक्ति भले ही रह जाए, वासना न अटकी रहे।

आज हमारा जीवन वासनामय हो रहा है। विषयों का रस लेने की शक्ति हो, न हो, चारों तरफ विषयों की बाढ़ देख कर मन नहीं मानता। गृहस्थाश्रम वासना का आश्रम बन गया है। पुरुष बूढ़े हो जाते हैं, तो कुश्ते खाने लगते हैं, बाल सफेद पड़ जाते हैं, तो खिजाब मलने लगते हैं, स्त्रियों के झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, तो भी पाउडर मला करती हैं, चालीस की हों तो भी तीस की बताती हैं—शक्ति नहीं रहती, वासना रह जाती है।

५. वानप्रस्थ अलगाव की भावना का नाम है

आज हम गृहस्थ-जीवन में इस प्रकार फँसे हैं कि इसमें से निकलते हुए दुःख होता है। अधिकांश लोग इसी में पड़े-पड़े अपना जीवन समाप्त कर देते हैं। जिस किसी ने 'आश्रम'-शब्द का प्रयोग किया था उसने बड़े मतलब से इस शब्द का प्रयोग किया था। गृहस्थ एक 'आश्रम' है, एक मंजिल है, एक पड़ाव है। वैदिक-काल के ऋषियों ने जीवन को एक यात्रा समझा था और उस यात्रा के चार पड़ाव माने थे। यात्रा के ब्रह्मचर्याश्रम पहला पड़ाव समझा गया था, उसके बाद गृहस्थ की यात्रा थी, परन्तु इसके बाद एक और पड़ाव आता था, गृहस्थी गृहस्थ को छोड़कर आगे चल देता था। आज हम 'आश्रम'-शब्द के इस रहस्य को भूल गये हैं। गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करने के बाद इसमें से निकलने का नाम नहीं लेते। हम इस प्रकार गृहस्थाश्रम में डटते हैं मानो अनन्त काल तक हमें जीना हो। जिन्दगी का बीमा ३०-३५ साल का होता है, परन्तु हम अपने दिल में ऐसा बीमा किये बैठे हैं मानो हमें कभी मरना ही नहीं। गृहस्थ में पड़ कर हम भूल जाते हैं कि हमें इसमें से निकलना भी है। वैसे तो यहाँ जो आया है उसे जाना भी है, परन्तु गृहस्थ एक ऐसा व्यूह है जिसमें अभिमन्यु की तरह मनुष्य प्रवेश तो कर लेता है, इसमें से निकलना भूल जाता है। हम अन्त समय तक संसार की ही चिन्ताएँ करते रहते हैं। वैदिक-संस्कृति को मानने वाले ५० साल की आयु में घर-गृहस्थी का भार बाल-बच्चों पर छोड़कर जीवन-यात्रा में अगली राह पर चल देते थे, आज ऐसा नहीं करते। सराय का नियम होता है कि उसमें ५ या ७ दिन ठहरने की इजाजत होती है। जो सराय में उससे अधिक दिन ठहरता है उसे सराय का मुन्शी पहले तो इशारे में समझाता है, कोई ढीठ इशारे को नहीं समझता तो उसे स्पष्ट कह देता है और इतने पर भी कोई न माने तो उसका सामान उठवा कर बाहर फेंक देता है। जीवन एक यात्रा है, इसमें हमें आगे-आगे जाना है, भले ही हम चाहें या न चाहें। जो भलेमानस गृहस्थ के बाद

स्यवं आगे चल देते हैं, उनकी मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा बनी रहती है, जो ऐसा नहीं करते उन्हें सराय का मालिक धक्के मार कर निकाल देता है। आज जो लोग गृहस्थ में से निकल कर अगले रास्ते पर चलने की उम्र के हो गये हैं, वे अपने भीतर मुँह डाल कर देखें, उनके साथ ऐसा ही वर्त्ताव हो रहा है या नहीं। उन्हीं के अपने लड़के-वाले, उन्हीं की बहुएँ उन्हें कोसती हैं, कहती हैं, बुड्ढा न जीता न मरता है। बहुओं की अपनी सासों से क्यों नहीं बनती? इसलिए, क्योंकि सास घर में इस प्रकार रहना चाहती है मानो वही बहू हो। बुढ़ापे में अपने पिता के साथ लड़के की क्यों नहीं बनती? क्योंकि पिता आखिरी दम तक पड़ा-पड़ा लड़कों को बोझ मालूम पड़ते लगता है। जिस माता-पिता ने हमें पाला, वे अगर बोझा भी हो जाएँ, तो सन्तान का कर्त्तव्य है कि उनकी सेवा करें, आखिर माता-पिता के ऋण को कौन चुका सकता है, परन्तु यह तो सन्तान का कर्त्तव्य हुआ, किसी को कहना कि तुम्हारा कर्त्तव्य हमारी सेवा करना है, किसे अच्छा लगता है? इसलिए प्राचीन ऋषियों ने सन्तान के माता-पिता के प्रति ऋण को, जिसे वे पितृ-ऋण कहते थे, चुकाने के लिए एक दूसरा मार्ग बतलाया था। उन्होंने यह मार्ग नहीं बतलाया कि माता-पिता बूढ़े होकर घर में चौकी पर बैठ जाएँ और पुत्र उनकी पूजा करें। माता-पिता के लिए उन्होंने यही कर्त्तव्य बतलाया कि वे गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ हो जायें उनकी सन्तान पितृ-ऋण को चुकाने के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे और अपने से उत्तम सन्तान संसार में छोड़ने का प्रयत्न करे। मनुष्य का स्वभाव है कि वह स्वतन्त्रता चाहता है। अगर माता-पिता घर में बने रहें, तो उनकी सन्तान को घर में स्वतन्त्रता से अपनी इच्छानुसार काम करने का मौका नहीं मिलता और इसीलिए दुनिया में जिनकी सबसे अधिक बन सकती थी उन्हीं की इतनी बिगड़ जाती है कि आस-पास के लोग तमाशा देखने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं। माता-पिता अपने समय में घर के मालिक रहे, अब उन्हें अपनी सन्तान को मौका देना होगा। लेकिन हुकूमत ऐसी चीज है जिसे अपने हाथ से कोई किसी दूसरे को देने को तैयार नहीं होता। कोई छीन भले ही ले, परन्तु अपने हाथ से कौन दे? इसीलिए आज चारों तरफ बाप-बेटे की, सास-बहू की लड़ाई दिखाई देती है। प्राचीन ऋषियों ने वानप्रस्थ-आश्रम द्वारा इस समस्या का हल कर दिया था। उन्होंने कहा था कि जब अन्त में दुनिया को छोड़ना ही है, तो धक्के खाकर और बेइज्जती से छोड़ने के बजाय खुद क्यों न छोड़ा जाए? वैसे तो संसार को भोगने की इच्छा हर-एक में है, इसीलिए गृहस्थ-आश्रम में उसे भोगने का मौका दिया गया है, परन्तु क्योंकि गृहस्थी अपने अनुभव से देख लेता है कि इन भोगों में कुछ नहीं पड़ा, इसलिए वह स्वयं इनसे मुढ़ता है, उपराम होता है। भोग भोगने के बाद भोग का छूटना अवश्यम्भावी है। मनुष्य के मन की इसी

स्वाभाविक अवस्था को प्राचीन ऋषियों ने वैज्ञानिक रूप दिया था, और इस प्रवृत्ति का नाम वानप्रस्थाश्रम रखा था। 'वानप्रस्थ' एक भावना-विशेष है। संसार के विषयों से गोंद की तरह चिपक बैठने की जगह उनका रस भी लो, और उसके बाद उन्हें छोड़ भी दो। संसार में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों हैं, अपने-अपने स्थान पर दोनों ठीक हैं। प्रवृत्ति को शास्त्रों में 'प्रेय' कहा है, निवृत्ति को 'श्रेय' कहा है। 'प्रेय' के बाद 'श्रेय' आना चाहिए, 'प्रवृत्ति' के बाद 'निवृत्ति' आनी चाहिए, संसार को भोगने के बाद संसार को छोड़ना आना चाहिए। भोगने के बाद छोड़ना, प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति ही 'वानप्रस्थ की भावना' है। आज हमारे समाज को वानप्रस्थ की भावना की जरूरत है, निवृत्ति की भावना की जरूरत है, चिपकने के बजाय छोड़ना सीखने की जरूरत है। हम जरा-जरा-सी बात में चिपक जाते हैं। यह जानते हुए भी कि हम गलत रास्ते पर हैं, हम क्योंकि हम हैं, इसलिए अपनी बात पर डट जाते हैं, और कुछ देर के बाद वह जरा-सी बात आन और शान का सवाल बन जाती है। हम किसी कुर्सी पर बैठते हैं, तो उससे चिपक जाते हैं। प्रधान की कुर्सी पर बैठनेवाला प्रधान-पद के साथ चिपक जाता है, मन्त्री की कुर्सी पर बैठनेवाला मन्त्री-पद के साथ चिपक जाता है। कई लोगों को इन कुर्सियों से उठना ऐसा जान पड़ता है मानो कुर्सी उनके अंग का हिस्सा बन गई हो। लोग कहते हैं कि बीसवीं सदी में कई नयी बीमारियाँ निकली हैं। और बीमारियाँ नयी हों या न हों, यह चिपकने की बीमारी जरूर नयी है। इस बीमारी से समाज को बचाने का केवल एक ही उपाय है, और वह है समाज में वानप्रस्थ की भावना को जागृत करना। वानप्रस्थ केवल जंगल में भाग जाने का नाम नहीं है, वानप्रस्थ 'निवृत्ति'-'त्याग'-'अपरिग्रह' का नाम है। 'परिग्रह'-शब्द 'परि' तथा 'ग्रह' से बना है। 'परि' का अर्थ है, चारों तरफ से, 'ग्रह' का अर्थ है ग्रहण कर लेना, चिपट जाना। संसार को चारों तरफ से चिपट जाना, छुड़ाये भी न छोड़ना 'परिग्रह' है, और उसे समय आने पर खुद छोड़ देना 'अपरिग्रह' है। क्या फल पक जाने पर स्वयं वृक्ष से टपक नहीं पड़ता? 'वानप्रस्थ' की भावना पक जाने पर फल का डाली से अलग हो जाना है। समाज के प्रश्नों पर जितना भी विचार किया जाए एक ही परिणाम निकलता है। आज संसार को किसी सन्देश की आवश्यकता है तो वानप्रस्थ के सन्देश की, तायग और निवृत्ति के सन्देश की। वैसे तो त्याग और निवृत्ति अवश्यम्भावी हैं, हम नहीं छोड़ेंगे तो कुदरत हमसे छुड़ा देगी, हम नहीं हटेंगे तो कुदरत हमें धक्का मारकर परे कर देगी—संसार में ऐसा होता आया है, ऐसा होता रहेगा। किसी सराय को खुद छोड़ देने और कान पकड़ कर निकाले जाने में क्या कोई फर्क नहीं है? बात एक ही है, नतीजा सराय छोड़ना है, लेकिन इस नतीजे को वैदिक-संस्कृति ने वानप्रस्थ-आश्रम द्वारा कितना सहल बना

दिया था।

'वानप्रस्थ'-आश्रम का क्या मतलब है? यह जानते हुए कि जीवन में कूच का डंका बजना ही है हमारे सामने दो रास्ते रह जाते हैं। या तो हम इस सत्तर-अस्सी साल के जीवन में किसी समय खुद बोरिया-बिस्तर बाँध कर चलने की तैयारी करें, या तबतक बैठे रहें जबतक कोई हमें घसीट कर बाहर न फेंक दे। जो आदमी इस इन्तिजार में बैठा रहता है कि कोई आकर उसे बाहर निकाले वह ढीठ होगा, दुराग्रही होगा, परन्तु बुद्धिमान् नहीं होगा। 'वानप्रस्थ'-आश्रम की स्थापना करनेवालों ने इस बात को स्वीकार कर लिया था कि यहाँ से चलना तो है आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों। जब चलना ही है तब यह कहाँ की अक्लमन्दी है कि कोड़ा ही लगे तब चलें, खुद-ब-खुद चलने का नाम न लें। 'वानप्रस्थ'-आश्रम मजबूर होकर दुनिया का छोड़ना नहीं, अपनी मर्जी से दुनिया का छोड़ना है, किसी से डरकर दुनिया से भागना नहीं, अपनी इच्छा से जीवन-यात्रा में आगे चल देना है, पड़ाव को घर बनाकर बैठे रहना नहीं, एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव को चलने के लिए तैयारी करना है। जो चीज होनी ही है, वह अगर हमारी मर्जी से हो, तो इसमें कितना आनन्द है। जब दुनिया छूटनी ही है, तो वह हमारी मर्जी से क्यों न छूटे? अगर कोशिश करने पर कोई इस संसार में सदा बना रह सकता, तब तो दुनिया में चिपके रहना ही ठीक था, परन्तु जब यह नामुमकिन है, तब क्यों न वह काम खुद किया जाए, तो हर हालत में होनेवाला है? मनुष्य मरता है, चिता में जलता है—यह तो सभी का होता है, वैदिक-आदर्श यह है कि जीते-जी अपना मरना देख ले, जीते-जी अपना चिता में जलना देख ले। वानप्रस्थ जीते-जी मरना है, संन्यास जीते-जी चिता में जलना है। गृहस्थ तो सभी करते हैं, परन्तु वैदिक-जीवन की व्यवस्था में गृहस्थ के अलावा दो अन्य आश्रम सबके लिये आवश्यक थे—ब्रह्मचर्य तथा वानप्रस्थ। गृहस्थ से पहले ब्रह्मचर्य आवश्यक था, गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ आवश्यक था, संन्यास सबके लिये नहीं था। वानप्रस्थ का अर्थ सब सम्बन्धों—नातों—को तोड़ देना था। ५० साल की आयु के बाद किसी को कोई पद न दिया जाए, न पार्लियामेंट का मेम्बर हो, न सभा-सोसाइटी में प्रधान या मन्त्री हो—यही वानप्रस्थ है, अगर यह भावना समाज में व्याप्त हो जाए, तो सब झगड़े समाप्त हो जायें। इसी भावना को जाग्रत करने के लिये बार-बार '**इदन्न मम**' पढ़ा जाता था, मेरा कुछ नहीं, मेरा कुछ नहीं—इसकी प्रैक्टिस कराई जाती थी। 'वानप्रस्थ'-आश्रमों का यही लक्ष्य है।

६. प्राचीन-काल के वानप्रस्थ-आश्रम

प्राचीन-काल में ५० साल की आयु के बाद गृहस्थी लोग वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। उस समय के शहर आजकल के शहरों के समान इतने बड़े-बड़े

नहीं होते थे। ठीक समय आने पर गृहस्थी अपने गाँव या शहर के बाहर जंगल में अपनी कुटिया बना लेते थे और घर-गृहस्थी की चिन्ता का भार सन्तान पर छोड़कर अपनी जंगल की कुटिया में जा बसते थे। प्रत्येक गाँव और शहर के इर्द-गिर्द इन वानप्रस्थियों की कुटियाओं का तांता बंधा रहता था, शहरों में बालक और युवा और वनों में वृद्ध लोग रहा करते थे। शहर वानप्रस्थियों की कुटियाओं से इस प्रकार घिरे रहते थे जैसे कोई दोनों हाथ डालकर किसी को समेट ले, घेर ले। वानप्रस्थी दुनिया के अनुभव में से गुजरे हुए, सब तरह से सधे हुए होते थे, युवक लोग जीवन-संग्राम में नया अनुभव प्राप्त कर रहे होते थे। समय-समय पर गृहस्थी-युवक वानप्रस्थियों के आश्रमों में जाते थे और उनसे उपदेश सुनकर फिर अपने कामों में आ जुटते थे। जब कोई विकट समस्या आ उपस्थित होती थी, तो गृहस्थी लोग उसे अपने बुजुर्गों के सामने रखते थे, और उनके परामर्श से लाभ उठाकर अपनी समस्याओं को हल किया करते थे। जब कभी गृहस्थी लोग संसार की चिन्ताओं से उद्विग्न और खिन्न हो जाते थे, तो इन आश्रमों में जाकर आत्मिक-शान्ति प्राप्त करते थे। आज हमारे युवक थके-मांदे सायंकाल सिनेमा और थियेटर देखने जाते हैं, और इसी प्रकार अपनी थकावट दूर करते हैं, क्योंकि उनके पास दूसरा कोई साधन नहीं। प्राचीन-काल में दिनभर की थकावट के बाद उसे दूर करने के लिए युवकों की टोलियों-की-टोलियाँ वानप्रस्थियों के आश्रमों की तरफ सैर करने जाती हुई नजर आती थीं। आश्रम शहर से दूर जंगल में होते थे, वहाँ तक जाने में काफी भ्रमण भी हो जाता था, और वहाँ जाकर जो आध्यात्मिक-प्रसाद मिलता था उससे शारीरिक-थकावट के साथ-साथ मानसिक थकावट भी दूर हो जाती थी। आज कोई युवक जब आत्मिक-अशान्ति के समुद्र में गोते खाने लगता है, तो उसे बचानेवाला कौन है? वह कहाँ जाए और किसके पास जाए? जिधर उसकी नजर दौड़ती है उसे अपने ही जैसे भटकनेवाले नजर आते हैं। अन्धा-अन्धे को क्या रास्ता दिखा सकता है? प्राचीनकाल का इस प्रकार का युवक इकला, शहर से दूर किसी वानप्रस्थी के आश्रम को लक्ष्य में रखकर चल देता था। वहाँ ५०-६० वर्ष का वृद्ध स्वयं उस प्रकार के अनुभवों में से कई बार गुजर चुका होता था। उसे पता होता था कि मनुष्य-जीवन में किस प्रकार की आँधियाँ आती हैं, किस प्रकार के तूफान उठते हैं। वह उस युवक को अपने पास बैठाकर उसे अपने जीवन की कथा सुनाता था, और युवक दिल का रोना सुनाकर अपने बोझ को हल्का अनुभव करता था। आज का युवक किसके पास जाय, किसके पास अपना रोना रोये? आज हमारे युवकों के प्रश्नों को कौन हल करे? उस समय के वानप्रस्थियों के आश्रम आध्यात्मिकता का संचार करने के केन्द्र बने हुए थे, जैसे दीप से ज्योति चारों ओर बिखरती है वैसे उन आश्रमों से श्रेय और

शान्ति की ज्योति चारों तरफ फैलती थी। आज सारा संसार विषयों की तरफ भागा चला जा रहा है, भोगवाद बढ़ रहा है, जीवन उथला होता जा रहा है, आध्यात्मिकता का लोप हो रहा है, इस सबको कौन रोके, कौन थामे? जो खुद भोगवाद में फँसे हुए हैं वे दूसरों को इसमें से कैसे निकालेंगे, जो खुद प्रवृत्ति-मार्ग के शिकार हैं वे दूसरों को निवृत्ति का क्या उपदेश देंगे, जो खुद दलदल में धँसे हुए हैं वे दूसरों का हाथ क्या खींचेंगे? वानप्रस्थी भोग में से निकल कर त्याग के मार्ग पर चलने लगा था, प्रवृत्ति में से निकल कर निवृत्ति के मार्ग का राही था, दलदल में से निकल कर बाहर आ खड़ा हुआ था—इसलिए वह दूसरों को त्याग का उपदेश दे सकता था, निवृत्ति का पाठ पढ़ा सकता था, दलदल में से घसीटने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ा सकता था। इसीलिए वानप्रस्थियों का युग भोग और त्याग से निखरी हुई सच्ची आध्यात्मिकता का युग था। वानप्रस्थियों के आश्रमों का ताँता प्राचीन-काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष में बिछा हुआ था। इसी का परिणाम था कि हमारा देश आध्यात्मिकता के क्षेत्र में संसार के सब देशों का मूर्धन्य था।

७. वानप्रस्थ-आश्रम तथा आर्थिक-समस्या

इस प्रकार वानप्रस्थ-आश्रम की स्थापना द्वारा वैदिक-संस्कृति ने कोरे भोगवाद की जड़ हिला दी थी। वानप्रस्थ-आश्रम एक और भी समस्या का हल था। अगर किसी समाज में काम करने वालों की संख्या बढ़ती जाए और इतनी बढ़ जाए कि पुराने काम करनेवाले कम न हों, और नयों की बाढ़ आती जाए, तो उसका नतीजा इसके सिवाय क्या होगा कि किसी समय सभी भूखे मरने लगें? आज बेकारी इतनी क्यों बढ़ रही है? बेकारी इसलिए बढ़ रही है क्योंकि जिन लोगों की आयु पेंशन पाने लायक हो गई है वे पेंशन पाने के बाद फिर नये सिरे से नौकरी शुरु कर देते हैं, या कोई-न-कोई धंधा किये चलते हैं। वैदिक-संस्कृति में ऐसा नहीं था। उसमें सामाजिक-व्यवस्था ही ऐसी थी कि ५० की आयु से सब लोग अलग छँट जाते थे, नवयुवकों के लिए जगह अपने-आप खाली हो जाती थी। आज जिन लोगों को कामना चाहिए वे बेकार बैठे हैं, जिन्हें कमाई छोड़कर आश्रमों में जा बैठना चाहिए, वे कमा रहे हैं। नवयुवक भी बेकार इसलिए नहीं बैठे क्योंकि वे कमा नहीं सकते। वे कमा सकते हैं, परन्तु अगर उन्हें कमाने का मौका मिले। उनके लिए कठिनाई यह है कि वे जो पेशा सीखते हैं वही भरा हुआ है। पुराने वकीलों की मौजूदगी में नये वकील कैसे काम करें, पुराने डॉक्टरों की मौजूदगी में नये डॉक्टर क्या करें, पुराने दुकानदारों के होते हुए नये दुकानदार कैसे फूले-फलें? आश्रम-व्यवस्था द्वारा प्राचीन ऋषियों ने बेकारी के प्रश्न को हल कर दिया था। उन्होंने मनुष्य-जीवन को चार हिस्सों में बाँट दिया था और उनमें से केवल एक आश्रम में अर्थोपार्जन होता

था। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी कमाई नहीं करते थे। इसका यह मतलब नहीं कि कमाई से बचने के लिए वे लोग वानप्रस्थी या संन्यासी हो जाते थे। गृहस्थ में कमाई किये बगैर किसी को वानप्रस्थ में आने का अधिकार नहीं था, और अधिकतर, वानप्रस्थी ही संन्यासी होता था। हर-एक आदमी कमाता था, परन्तु एक खास आयु में आकर कमाना छोड़ देता था, दूसरों के लिए रास्ता खोल देता था। गृहस्थियों में भी सब नहीं कमाते थे। गृहस्थियों में भी ब्राह्मण और क्षत्रिय का समय कमाने में नहीं, अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार समाज की सेवा करने में बीतता था। केवल वैश्य कमाते थे, और जब इतने थोड़े लोग कमाते थे, तो वे इतना अधिक कमा लेते थे कि सारे समाज को खाने-पीने के लिए काफी दे देते थे। समाज के लिए धन कमाना ही उनकी समाज के प्रति सेवा थी। आज सब कमा रहे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तो कमा ही रहे हैं, इधर विद्यार्थी, गृहस्थी, वानप्रस्थी और संन्यासी भी कमा रहे हैं। धन कमाने के लिए जो यह संग्राम मचा हुआ है उसका परिणाम है कि कुछ लोगों को जरूरत से ज्यादा मिल जाता है, कुछ लोग भूखे मरते हैं। प्राचीन-काल में वानप्रस्थ आश्रम के कारण यह अव्यवस्था नहीं थी। बड़ी-बड़ी वैद्य, व्यवसायी, शिल्पी, अध्यापक संसद्-सदस्य और दुकानदार ५० साल की आयु के बाद अपने-आप सब-कुछ छोड़ देते थे, नये-नये युवक उनकी जगह लेते रहते थे। ये नये लोग पुरानों के साथ अपना सम्पर्क बनाये रखते थे। अगर किसी नवयुवक वैद्य को कोई बात समझ नहीं पड़ती थी, तो वह किसी पुराने धुरन्धर वैद्य की सेवा में आश्रम में जाकर उपस्थित होता था, उसके परामर्श से पूरा लाभ उठाता था। इस प्रकार पुरानों के आशीर्वाद से नये लोग तैयार होते थे और समाज दिनोंदिन उन्नति करता जाता था। कई लोग कह बैठते हैं कि अगर पुराने इस प्रकार क्षेत्र को छोड़कर अलग जा बैठेंगे, तो समाज को नुकसान होगा, पुरानों का अनुभव समाज के लिए निकम्मा हो जायेगा। यह बात गलत है। इस समय भी अगर कोई पुराना अनुभवी शहर में बैठा रहे, तो कोई गारंटी नहीं कर सकता कि वह संसार के अन्त तक बना रहेगा। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों वह भी चल देगा। उसका अनुभव दूसरों के लिए इसी प्रकार उपयोगी हो सकता है कि नये काम करनेवाले आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता लेते रहें। प्राचीनकाल में वानप्रस्थी इस प्रकार की हर समय सहायता दिया करते थे। वे अपने पेशों को नये कार्यकर्त्ताओं के लिए खाली करते रहते थे, अपना बोझ स्वयं उनके कन्धों पर डालते थे, क्योंकि उन्हें जीवन की यात्रा में अगले पड़ाव के लिए चलना होता था, किसी मजबूरी से नहीं, जीवन-यात्रा की यथार्थता को सिद्ध करने के लिए आगे कदम रखे बिना उन्हें आत्म-तत्त्व का विकास नहीं दीखता था।

८. वानप्रस्थ-आश्रम तथा अनिवार्य-शिक्षा

भोगवाद तथा बेकारी के प्रश्न को हल करने के साथ-साथ वानप्रस्थ-आश्रम एक और समस्या को भी हल करता था। जो लोग घर-बार छोड़कर जंगल में जा बसे होते थे, वे वानप्रस्थ लेने से पूर्व दुनिया के सब प्रकार के धन्धे कर चुके होते थे। उनमें से कुछ-एक के अनेक सन्तानें भी हो चुकी होती थीं। उन्हें मालूम था कि छोटे बच्चों का मानसिक-विकास किस प्रकार होता है। वे अपनी उम्र में बच्चों के साथ हँस चुके होते थे, रो चुके होते थे, खेल चुके होते थे। अब इनके वानप्रस्थ में आने के बाद गाँव के छोटे-छोटे बालक इनके पास आकर पढ़ने लगते थे। कभी-कभी किसी वानप्रस्थी के पास बीस बालक एकत्रित हो जाते थे, किसी के पास पचास, किसी के पास इससे अधिक। ये बालक अमीर भी होते थे, गरीब भी, राजाओं के भी होते थे, रंकों के भी, परन्तु वानप्रस्थियों के आश्रम में आकर इनका ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं रहता था। उन आश्रमों में ये सब भाई-भाई थे। ऐसे ही किसी आश्रम में, सदियाँ गुजर गईं, कृष्ण और सुदामा पढ़े थे। बालक गाँव से भिक्षा ले आते थे और आश्रम में आकर सब मिलकर बाँट लेते थे, गुरु भी खाते थे, शिष्य भी खाते थे। कभी कोई अमीर घर का बालक किसी गरीब की झोपड़ी के सामने जा खड़ा होता था, कभी कोई गरीब घर का बालक किसी अमीर के महल के सामने पहुँच जाता था, परन्तु अमीर घर का बालक अपने को अमीर नहीं समझता था, गरीब घर का बालक अपने को गरीब नहीं समझता था। इधर घर की देवियाँ इन बालकों के मधुकरी लेने के लिए आने की बाट जोहा करती थीं, कभी देर हो जाती, तो घर से निकल-निकल कर व्यग्रता से देखती कि आज बालकों की मण्डली क्यों नहीं आई? वानप्रस्थियों के इन आश्रमों को ही 'गुरुकुल' कहा जाता था। इन आश्रमों में न खाने-पीने के लिए कुछ लिया जाता था, न पढ़ाने-लिखाने के लिए। इन आश्रमों में पढ़ानेवालों को कोई वेतन नहीं मिलता था। फिर भी बिना वेतन लिये, बिना पढ़ाने की फीस लिये, बिना बालकों से खाने-पीने का खर्च लिये, बिना राज्य से किसी प्रकार की सहायता लिये बालकों की शिक्षा की पूरी-पूरी व्यवस्था अपने देश में चल रही थी। इसी व्यवस्था का आधार वानप्रस्थ-आश्रम था। आजकल की अवस्थाओं में निःशुल्क तथा अनिवार्य-शिक्षा के इस कार्य को पूरा करने के लिए लाखों नहीं, करोड़ों रुपये की जरूरत है। वैदिक-संस्कृति ने इस समस्या को वानप्रस्थाश्रम द्वारा हल किया था। आज भी बर्मा में जगह-जगह पर वानप्रस्थियों के आश्रम हैं। ये आश्रम प्रत्येक शहर या गाँव के पास हैं। गाँव का प्रत्येक बालक इन आश्रमों में शिक्षा ग्रहण करने के लिए भेजा जाता है, रहता भी वहीं है। वह भिक्षा माँगता है, खुद खाता है, और गुरु को खिलाता है। बर्मा के इन आश्रमों का ही प्रताप

है कि आज जहाँ भारत में कुछ-ही फीसदी पढ़े-लिखे हैं वहाँ बर्मा में ९९ फीसदी पढ़े-लिखे हैं। इसका यह कारण नहीं कि बर्मा में सरकार शिक्षा पर अधिक खर्च कर रही है, इसका यह कारण है कि वहाँ पर वानप्रस्थ-आश्रम अपने टूटे-फूटे रूप में आज भी विद्यमान है और वानप्रस्थ-आश्रमों से घिरे हुए प्राचीन शहरों का जो नक्शा हमने अभी खींचा, वह बर्मा में आज भी खिंचा हुआ है।

वानप्रस्थ संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

वानप्रस्थ-संस्कार उसको कहते हैं जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके, पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र भी विवाह करे और पुत्र का भी एक सन्तान हो जाए, अर्थात् जब पुत्र का भी पुत्र को जाए, तब पुरुष वानप्रस्थ—अर्थात्, बन में जाकर तप और स्वाध्याय का जीवन व्यतीत करे। मनुस्मृति ६,१-३ में लिखा है—

एवं गृहाश्रमे स्थित्व विधिवत् स्नातको द्विजः।
वने वसेत्तु नियतो यथावद् विजितेन्द्रियः॥ १॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥ २॥
सन्त्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वञ्चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा॥ ३॥

अर्थात्, पूर्वोक्त प्रकार विधिपूर्वक ब्रह्मचर्य से सब विद्या पढ़ के समावर्त्तन के समय स्नान-विधि करनेहारा द्विज=ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जितेन्द्रिय और जितात्मा होकर यथावत् गृहाश्रम करके वन में बसे॥ १॥

गृहस्थ लोग जब अपने देह का चमड़ा ढीला और श्वेत केश होते हुए देखें और पुत्र का भी पुत्र हो जाए, तब वन का आश्रय लेवें॥ २॥

जब वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा लेवें, तब ग्रामों में उत्पन्न हुए पदार्थों का आहार और घर के सब पदार्थों को छोड़कर पुत्रों में अपनी पत्नी को छोड़ अथवा संग लेकर बन में जाएँ॥ ३॥

वहाँ जंगल में वेदादि शास्त्रों को पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त, मन और इन्द्रियों को जीतकर यदि स्व-स्त्री समीप हो तथापि उससे सेवा के सिवाय विषय-सेवन अर्थात् प्रसंग कभी न करे। सबसे मित्र-भाव, सावधान, नित्य देनेहारा और किसी से कुछ भी न लेवे, सब प्राणीमात्र पर अनुकम्पा, कृपा रखनेहारा होवे। जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करनेहारे तपस्वी, धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों, जो कि गृहस्थ वा वानप्रस्थ बनवासी हों, उनके घरों में से भिक्षा ग्रहण करे। इस प्रकार वन में बसता हुआ इन और अन्य दीक्षाओं का सेवन करें और आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के लिये नाना प्रकार की उपनिषद् अर्थात् ज्ञान और उपासना विधायक श्रुतियों के अर्थों का विचार किया करें। इसी प्रकार जबतक संन्यास करने की इच्छा न हो तब तक वानप्रस्थ ही रहे।

वानप्रस्थाश्रम करने का समय ५० वर्ष के उपरान्त है। जब पुत्र का भी पुत्र हो जाए, तब अपनी स्त्री, पुत्र, भाई-बन्धु, पुत्र-वधू आदि को सब गृहाश्रम की शिक्षा

करके वन की ओर यात्रा की तैयारी करे। यदि स्त्री चले तो साथ ले जावे, नहीं तो ज्येष्ठ-पुत्र को सौंप जावे कि इसकी सेवा यथावत् करना और अपनी पत्नी को शिक्षा कर जावे कि तू सदा पुत्र आदि को धर्म-मार्ग में चलने के लिये और अधर्म से हटाने के लिये शिक्षा करती रहना।

कई लोग कहते हैं कि वेदों में वानप्रस्थ का वर्णन नहीं है, परन्तु यह शंका इसलिये की जाती है क्योंकि वे वेदमन्त्रों में 'वानप्रस्थ'-शब्द को ढूँढ़ना चाहते हैं। वेदों में वानप्रस्थ के लिये 'मुनि'-शब्द आया है। ऋग्वेद, १०.१३६.५ में '**देवेषितो मुनिः**' में मुनि का अर्थ वानप्रस्थी है। मुण्डकोपनिषद् मं० १, खं० १, मं० ११ में लिखा है—'**स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेत्**'—यहाँ '**वनी**' का अर्थ वन में निवासी करनेवाला वानप्रस्थी है।

[मानसिक-चिन्तन]

जब सब व्यक्ति अपने-अपने आसनों पर यथा-स्थान बैठ जायें, तब वानप्रस्थ ग्रहण करनेवाला विद्वान्-पुरुष निम्न मन्त्रों से मानसिक-चिंतन करे—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ —यजु० १९.३०

शब्दार्थ—जब मनुष्य ब्रह्मचर्यादि तथा सत्यभाषणादि व्रत अर्थात् नियम धारण करता है, तब उस **(व्रतेन)** व्रत से उत्तम प्रतिष्ठारूप **(दीक्षाम्)** दीक्षा को **(आप्नोति)** प्राप्त होता है, **(दीक्षया)** ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियम-पालन से **(दक्षिणाम्)** सत्कारपूर्वक धनादि को **(आप्नोति)** प्राप्त होता है, **(दक्षिणा)** उस सत्कार से **(श्रद्धाम्)** सत्य धारण में प्रीति को **(आप्नोति)** प्राप्त होता है और **(श्रद्धया)** सत्य धार्मिक जनों में प्रीति से **(सत्यम्)** सत्यविज्ञान वा सत्य पदार्थ मनुष्य को **(आप्यते)** प्राप्त होता है। इसलिए श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्य औरगृहाश्रम का अनुष्ठान करके वानप्रस्थ आश्रम अवश्य करना चाहिये।

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतञ्च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम्॥ —यजु० २०.२४

शब्दार्थ—हे **(व्रतपतेऽग्ने)** नियमपालकेश्वर! **(दीक्षितः)** दीक्षा को प्राप्त होता हुआ **(अहम्)** मैं **(त्वयि)** तुझ में स्थिर होके **(व्रतम्)** ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का धारण **(च)** और उसकी सामग्री, **(श्रद्धाम्)** सत्य की धारण को **(च)** और उसके उपायों को **(उपैमि)** प्राप्त होता हूँ, इसीलिये अग्नि में जैसे **(समिधम्)** समिधा को **(अभ्यादधामि)** धारण करता हूँ, वैसे विद्या और व्रत को धारण कर प्रज्वलित करता हूँ, और वैसे ही **(त्वा)** तुझको अपने आत्मा में धारण करता और सदा **(ईन्धे)** प्रकाशित करता हूँ।

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।

तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥

—अथर्व० ९.५.१

शब्दार्थ—हे गृहस्थ! **(प्रजाजन्)** प्रकर्षता से जानता हुआ तू **(एतम्)** इस वानप्रस्थाश्रम का **(आरभस्व)** आरम्भ कर, **(आनय)** अपने मन को गृहाश्रम से इधर की ओर ला, **(सुकृताम्)** पुण्यात्माओं के **(लोकमपि)** देखने योग्य वानप्रस्थाश्रम को भी **(गच्छतु)** प्राप्त हो। **(बहुधा)** बहुत प्रकार के **(महान्ति)** बड़े-बड़े **(तमांसि)** अज्ञान दुःख आदि संसार के मोहों को **(तीर्त्वा)** तरके अर्थात् पृथक् होकर **(अजः)** अपने आत्मा को अजर-अमर जान **(तृतीयम्)** तीसरे **(नाकम्)** दुःखरहित वानप्रस्थाश्रम को **(आक्रमताम्)** आक्रमण अर्थात् रीतिपूर्वक आरूढ़ हो।

भद्रमिच्छन्त ऋषयस्स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषदेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥

—अथर्व० १९.४१.१

शब्दार्थ—हे विद्वान् मनुष्यो! जैसे **(स्वर्विदः)** सुख को प्राप्त होनेवाले **(ऋषयः)** विद्वान् लोग **(अग्रे)** प्रथम **(दीक्षाम्)** ब्रह्मचर्यादि आश्रमों की दीक्षा उपदेश लेके **(तपः)** प्राणायाम और विद्याध्ययन जितेन्द्रियत्वादि शुभ लक्षण को **(उप निषेदुः)** प्राप्त होकर अनुष्ठान करते हैं, वैसे इस **(भद्रम्)** कल्याणकारक वानप्रस्थाश्रम की **(इच्छन्तः)** इच्छा करो। जैसे राजकुमार ब्रह्मचर्याश्रम को करके **(ततः)** तदनन्तर **(ओजः)** पराक्रम **(च)** और **(बलम्)** बल को प्राप्त होके **(जातम्)** प्रसिद्धि प्राप्त हुए **(राष्ट्रम्)** राज्य की इच्छा और रक्षा करते हैं और **(अस्मै)** न्यायकारी धार्मिक विद्वान् राजा को **(देवाः)** विद्वान् लोग नमन करते हैं, **(तत्)** वैसे सब लोग वानप्रस्थाश्रम को किये हुए आपको **(उप सं नमन्तु)** समीप प्राप्त होके नम्र होवें।

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्ट यत्तपः।
शिवा नः सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः॥ —अथर्व० १९.४०.३

शब्दार्थ—सम्बन्धीजन **(नः)** हम वानप्रस्थाश्रमस्थों की **(मेधाम्)** प्रज्ञा को **(मा हिंसिष्ट)** नष्ट मत करें, **(नः)** हमारी **(दीक्षाम्)** दीक्षा को **(मा)** मत, और **(नः)** हमारा **(यत्)** जो **(तपः)** प्राणायामादि उत्तम तप है, उसको भी **(मा)** मत नाश करें। **(नः)** हमारी दीक्षा और **(आयुषे)** जीवन के लिये सब प्रजा **(शिवाः)** कल्याण करनेहारी **(सन्तु)** होवें। जैसे हमारी **(मातरः)** माता, पितामही, प्रपितामही आदि **(शिवाः)** कल्याण करनेहारी होती हैं, वैसे सब लोग प्रसन्न होकर मुझको वानप्रस्थाश्रम की अनुमति देनेहारे **(भवन्तु)** होवें।

तपःश्रद्धे ये ह्यु पवसन्त्यरण्ये शान्त्या विद्वांसो भैक्ष्यचर्याञ्चरन्तः।

सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

—मुण्डकोपनि० १.२.११

शब्दार्थ—हे मनुष्यो! **(ये)** जो **(विद्वांसः)** विद्वान् लोग **(अरण्ये)** जङ्गल में **(शान्त्या)** शान्ति के साथ **(तपः श्रद्धे)** योगाभ्यास और परमात्मा में प्रीति करके **(उपवसन्ति)** वनवासियों के समीप वसते हैं, और **(भैक्ष्यचर्याम्)** भिक्षाचरण को **(चरन्तः)** करते हुए जंगल में निवास करते हैं **(ते)** वे **(हि)** ही **(विरजाः)** निर्दोष, निष्पाप, निर्मम होके **(सूर्यद्वारेण)** प्राण के द्वारा **(यत्र)** जहाँ **(सः)** सो **(अमृतः)** मरण जन्म से पृथक् **(अव्ययात्मा)** नाशरहित **(पुरुषः)** पूर्ण परमात्मा विराजमान है **(हि)** वहीं **(प्रयान्ति)** जाते हैं, इसलिये वानप्रस्थ करना अति उत्तम है।

(१) सामग्री जो जुटा कर रखें—देखो पृष्ठ........

(२) इस संस्कार के लिये विशेष सामग्री—सादे स्वदेशी वस्त्रों का जोड़ा, दण्ड, पीले रंग का उत्तरीय, सादा जूता।

[यज्ञारम्भ]*

'ऋत्विग्वरण' (पृष्ठ ७१); **'आचमन-मन्त्र'** (पृ० ७१); **'अङ्ग-स्पर्श-मन्त्र'** (पृ० ७२); **'अग्न्याधान'** (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिवभूम्ना आदि, पृ० ७३); **'अग्नि-प्रदीपन'** (ओं उद्बुध्यस्वाग्ने आदि, पृ० ७३); **'समिदाधान'** (ओम् अयन्त इध्म आत्मा+समिधाग्निं दुवस्यत+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिः आदि, पृ० ७४-७७)—इत्यादि मन्त्रों से समिदाधान करके पृष्ठ ७७ में लिखे प्रमाणे (ओं अदितेनुमन्यस्व) इत्यादि ४ मन्त्रों से कुण्ड के चारों ओर **'जल-प्रोक्षण'** करके ४ **'आघारावाज्यभागाहुतियाँ'** (ओम् अग्नये स्वाहा से ओं इन्द्राय स्वाहा तक, पृ० ७८); ४ **'व्याहृति आहुतियाँ'** (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७९) करके **'स्वस्तिवाचन'** (अग्निमीडे पुरोहितम् आदि, पृ० ३९); **'शान्तिकरण'** (शं न इन्द्राग्नी आदि, पृ० ५५) करके स्थालीपाक बनाकर और उसपर घृत-सेवन करके निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति दें—

---

* इस यज्ञ में 'यदस्य कर्मणो' से स्विष्टकृत् आहुति, 'प्रजापतये' से प्राजापत्याहुति, चार 'पवमानी आहुतियों' (ओं भूर्भुवः स्वः। अग्न आयूंषि आदि) तथा 'अष्टाज्याहुतियों' (ओं त्वं नो अग्ने आदि) का संस्कारविधि में उल्लेख नहीं है।

संस्कारविधि में क्रम इस प्रकार दिया है—अग्न्याधान, समिदाधान, जल-प्रोक्षण, ४ आघारावाज्यभागाहूतियाँ, ४ व्याहृति आहुतियाँ, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण। इस पर श्री युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी है—'स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ अग्न्याधान से पूर्व होना चाहिए। आगे संन्यास प्रकरण में भी ऐसी ही पाठ की अव्यवस्था है।' इस संस्कार में ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना का उल्लेख नहीं है।

[घृत सिंचित स्थालीपाक से निम्न आहुतियाँ दे]

ओम् काय स्वाहा। कस्मै स्वाहा। कतमस्मै स्वाहा।
आधिमाधीताय स्वाहा। मनः प्रजापतये स्वाहा।
चित्तं विज्ञातायादित्यै स्वाहा। अदित्यै मह्यै स्वाहा।
अदित्यै सुमृडीकायै स्वाहा। सरस्वत्यै स्वाहा।
सरस्वत्यै पावकायै स्वाहा। सरस्वत्यै बृहत्यै स्वाहा।
पूष्णे स्वाहा। पूष्णे प्रपथ्याय स्वाहा। पूष्णे नरन्धिपाय स्वाहा।
त्वष्ट्रे स्वाहा। त्वष्ट्रे तुरीपाय स्वाहा।
त्वष्ट्रे पुरुरूपाय स्वाहा। भुवनस्य पतये स्वाहा।
अधिपतये स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा।
ओम् आयुर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा। प्राणो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा।
अपानो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा। व्यानो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा।
उदानो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा। समानो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा।
चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा। श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा।
वाग्यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा। मनो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा।
आत्मा यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा। ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा।
ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा। स्वर्यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा।
पृष्ठं यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा। यज्ञो यज्ञेन कल्पताᳬस्वाहा।
एकस्मै स्वाहा। द्वाभ्यां स्वाहा। शताय स्वाहा।
एकशताय स्वाहा। व्युष्ट्यै स्वाहा। स्वर्गाय स्वाहा।

—यजुः० अ० २२। मं० २०, ३२, ३३, ३४

शब्दार्थ—वानप्रस्थी वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता हुआ अब तक जिस संसार के साथ बंधा रहा है, उस सबके प्रति 'स्वाहा' के शब्द से सद्भावना प्रकट करता हुआ कहता है—(**काय**) अब तक जो सुख पाया उसके प्रति (**कस्मै**) जिससे सुख पाया उसके प्रति (**कतमस्मै**) जिस किसी से सुख पाया उसके प्रति (**आधिम्**) जो दुःख पाया उसके प्रति (**आधीताय**) जो कुछ अध्ययन किया उसके प्रति (**मनः प्रजापतये**) मन जो प्रजाओं का पति है उसके प्रति (**चित्तं विज्ञाताय**) चित्त जिसे हम जानते हैं उसके प्रति (**अदित्यै**) मन और चित्त द्वारा प्रेरित जो अदिति अर्थात् वाणी है उसके प्रति (**मह्यै अदित्यै**) इस महान् भूमि के प्रति (**सुमृडीकाय अदित्यै**) सुख देनेहारी माता के प्रति (**सरस्वत्यै**) नदियों के प्रति (**पावकायै सरस्वत्यै**) पवित्र करनेवाली विद्या के प्रति (**बृहत्यै सरस्वत्यै**) विशाल विद्या के प्रति (**पूष्णे**) जिन लोगों ने हमारा पोषण किया उनके प्रति (**प्रपथ्याय पूष्णे**) विशेष रूप से पथ्य, जिन्होंने हमें दिया उनके प्रति (**नरन्धिपाय**

पूष्णे) नरों को घी का उपदेश जो देते रहे उनके प्रति **(त्वष्ट्रे)** संसार की वस्तुओं के **'त्वष्टा'** अर्थात् निर्माताओं के प्रति **(तुरीपाय त्वष्ट्रे)** संसार नदी को पार करने की नौकाओं के निर्माताओं के प्रति **(पुरुरूपाय त्वष्ट्रे)** अनेक रूपों वाले जगन्निर्माता परमात्मा के प्रति **(भुवनस्य पतये)** भुवन के प्रति **(अधिपतये)** अधिष्ठाता **(प्रजापतये)** प्रजाओं के पति भगवान् के प्रति **(स्वाहा)** मैं घर-बार छोड़ता हुआ **'सु+आह'**—सद्भावना प्रकट करता हूँ।

(ये उक्तियाँ लगभग वैसी ही है जैसी स्वामी रामतीर्थ जब घर-बार छोड़कर चलने लगे थे, तब उन्होंने गाना गाया था—**'अलविदा लाहौर की गलियो अलविदा अलविदा ए दोस्त दुश्मन अलविदा। अलविदा प्यारी रयाजी अलविदा।'**)

शब्दार्थ—**(यज्ञेन)** मैं अब जिस प्रकार का यज्ञमय, परार्थ का जीवन बिताने चला हूँ उससे मेरी **(आयुः कल्पताम्)** आयु यज्ञमय बन जाय, उस यज्ञमय जीवन से मेरा प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, चक्षु, श्रोत्र, वाक्, मन, आत्मा, भगवान् यज्ञमय **(कल्पताम्)** बन जाय। मेरी **'ज्योति'**—प्रतिष्ठा, **'स्वः'**—सुख, **'पृष्ठं'**—पीछा यज्ञमय बन जाय—यहाँ तक कि मेरा यज्ञ भी यज्ञमय बन जाय।

शब्दार्थ—**(एकस्मै)** एक के प्रति **(द्वाभ्यां)** दो प्रति **(शताय)** सैकड़ों के प्रति **(एकशताय)** सैकड़ों से ज्यादा हों, तो उन सबके प्रति **(व्युष्ट्यै)** एक-एक व्यक्ति—व्यष्टि—के प्रति **(स्वर्गाय)** जिन लोगों से मुझे स्वर्ग-समान सुख प्राप्त हुआ है उनके प्रति **(स्वाहा)** मैं गृहस्थ का त्याग तथा वानप्रस्थ के लिये प्रयाण करता हुआ सद्भावना प्रकट करता हूँ।

उक्त आहुतियाँ देने के बाद ४ व्याहृति आहुतियाँ दें—

[चार व्याहृति आहुतियाँ]

ओं भूरग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम॥ १ ॥
ओं भुवर्वायवे स्वाहा। इदं वायवे—इदन्न मम॥ २ ॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा। इदमादित्याय—इदन्न मम॥ ३ ॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा। इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः—इदन्न मम॥ ४॥

[महावामदेव्यगान]

उक्त चार व्याहृति आहुतियाँ देकर, महावामदेव्यगान करके, सब इष्ट मित्रों से मिल, पुत्रादिकों पर सब घर का भार धरके, अग्निहोत्र की सामग्री सहित जंगल में जाकर एकान्त में निवास कर, योगाभ्यास, शास्त्रों का विचार, महात्माओं का संग करके स्वात्मा और परमात्मा का साक्षात् करने में प्रयत्न किया करे।

॥ इति वानप्रस्थसंस्कारविधिः समाप्तः ॥

संन्यास संस्कार

[विवेचनात्मक भाग]

वैदिक-संस्कृति को जन्म देनेवाले ऋषियों ने जीवन को यात्रा कहा था, और इसे चार पड़ावों में बाँटा था। चौथा पड़ाव संन्यास-आश्रम था। वे खुली हवा में रहने को इतना पसन्द करते थे कि उनकी रूपरेखा के अनुसार जीवन का तीन-चौथाई हिस्सा खुली हवा में बीत जाता था। ब्रह्मचारी जंगल में रहते थे, गृहस्थी शहरों में रहते थे, परन्तु वानप्रस्थ और संन्यास फिर खुली हवा के आश्रम थे। इस प्रकार जीवन के सबसे अधिक भाग को खुले मैदानों और जंगलों में बिताने के कारण उस समय आयु की लम्बाई आजकल से बहुत अधिक थी। सौ बरस जीना—**'जीवेम शरदः शतम्'**—यह प्रत्येक नर-नारी की एक स्वाभाविक आकांक्षा थी।

आज संन्यास-आश्रम का अभिप्राय यह समझा जाता है कि मनुष्य सब काम छोड़कर बैठ जाय। हमारा देश ऐसे संन्यासियों से भरा पड़ा है जो कुछ नहीं करते। वे समझते हैं, अगर वे कुछ करेंगे तो संन्यासी ही नहीं रहेंगे। आज हम कुछ न करने का नाम संन्यास समझते हैं, परन्तु आश्रम-व्यवस्था में जिस संन्यास की कल्पना की गई है वह ऐसा नहीं है। संन्यास चारों आश्रमों की शृंखला में एक कड़ी है, जीवन-यात्रा में आखिरी मंजिल है, अन्तिम पड़ाव है। जिस भाव का विकास पहले आश्रमों में किया जाता है, उसी की चरम सीमा संन्यास में होती है, जिस उद्देश्य को लेकर पहले आश्रम चलते हैं, वह उद्देश्य धीरे-धीरे पूरा होता हुआ संन्यास में पूर्णरूप से सिद्ध हो जाता है। संन्यास स्वतन्त्र आश्रम नहीं है, पहले तीन आश्रमों के साथ जुड़ा हुआ है, और जो भावना पहले तीन आश्रमों में काम करती है वही संन्यास में अपनी पूर्णता पर पहुँच जाती है। हम यह देख चुके हैं कि पहले तीन आश्रमों में क्या विचार काम कर रहे हैं।

पहले हमने देखा था कि ब्रह्मचर्य-आश्रम में त्याग तथा तपस्या का पाठ सिखाया जाता है ताकि जब भोग की आयु आये तब मनुष्य उसके लिए पूरा तैयार हो। संसार के विषयों को भोगे बिना, वे क्या हैं, कैसे हैं, यह जाने बिना मनुष्य अपने को भटकने से रोक नहीं सकता, इसीलिए गृहस्थ-आश्रम की कल्पना की गई है। परन्तु अगर गृहस्थ में पड़कर मनुष्य गृहस्थ का ही हो गया, तब उसने गृहस्थ-आश्रम का उद्देश्य नहीं समझा। गृहस्थ में जाना गृहस्थ में से निकलने के लिए है, विषयों को भोगना विषयों से छुटकारा पाने के लिए है, संसार में लीन होना संसार की असारता को समझने के लिए है, भोगवाद का मार्ग त्यागवाद की तरफ ले जाने के लिए है, प्रवृत्ति निवृत्ति के लिए है। संसार में ऐसा ही होता है, और सदा से ऐसा ही चला आया है। मनुष्य के मन की रचना भी ऐसी ही है। ऋषियों ने तो इस

स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक सचाई को आश्रमों के रूप में केवल एक व्यवस्था में बाँध दिया था। गृहस्थ के बाद वैराग्य आता ही है, आज हम उस वैराग्य का समाज को लाभ नहीं पहुँचाते, ऋषियों ने ऐसी व्यवस्था कर दी थी, जिससे इस वैराग्य का समाज को भी लाभ पहुँचता था। आज भी बाबाजी घर बैठकर अपने पोतों को कन्धे पर चढ़ाकर घूमा करते हैं, कभी उनके लिए घोड़ा बनते हैं, कभी गधा बनते हैं। ऋषियों की व्यवस्था के अनुसार अपने बाल-बच्चों के लिए ही बाबा बनने के स्थान पर अपने सारे गाँव और सारे शहर के बच्चोंके लिए बाबा बनने का विधान है। अब भी तो बाबाजी को सारे गाँव के बच्चे बाबा कहने लगते हैं। भेद इतना है कि अब सबका बाबा होते हुए भी वह अपने पोतों का खास बाबा है, और वानप्रस्थी अपने बच्चों का मोह त्याग देता है, गाँव भर के बालक उसके बालक हो जातेहैं, वह सबका समान बाबा हो जाता है। त्याग की यह भावना, जिसका उदय गृहस्थाश्रम से होता है, वानप्रस्थ-आश्रम में आकर पक जाती है। गृहस्थी संसार को भोगने के बाद उसे एकदम छोड़ देता है। बनी-बनाई गृहस्थी को छोड़ना आसान नहीं है। परन्तु जब एक दिन बरबस यह सब-कुछ छोड़ना पड़ेगा, रोते-धोते छोड़ना पड़ेगा, हाय-हाय की पुकार में छोड़ना पड़ेगा, हम नहीं चाहेंगे, अपने को देखकर आँसू बहायेंगे, उन्हें चिपटेंगे, फिर भी छोड़ना पड़ेगा, तो क्यों न एक बार हंसकर, मुस्कराकर, उछलते हुए, कूदते हुए, झूमते हुए दुनिया को छोड़ने की मस्ती का मजा लूटें। वानप्रस्थी यह मजा लूटता था, परन्तु फिर भी उसमें अभी कुछ कसर बाकी थी। वह अपने शहर से उठकर उसके पास के जंगल में जा बैठा था। कभी-कभी उसके बाल-बच्चे उसे मिलने आते थे और उसके भी उनके पास आने-जाने की सम्भावना बनी रहती थी। वानप्रस्थी के पास जो बालक पढ़ने आते थे, और कुछ नहीं तो उनमें ही उसका मोह हो सकता था, उन्हें ही वह अपने बच्चों की तरह ऐसा प्यार कर सकता था जो उसे बाँध ले। परन्तु वह तो गाँठ बाँधने की जगह गाँठ खोलने के रास्ते पर कदम रख चुका था। इसलिए वानप्रस्थ के बाद एक ऐसा आश्रम आता था, जिसमें अगर कोई गाँठ रह भी गई हो तो वह खोल दी जाती थी, और वानप्रस्थी सच्चे अर्थों में संन्यासी हो जाता था। संन्यासी मोह की, ममता की, तेरे-मेरे की सब गाँठों को काट डालता था, और निर्द्वन्द्व होकर, किसी खास को अपना न बनाकर और किसी का खास न बनकर, सबको अपना बनाकर और स्वयं सबका होकर घूमता था। 'संन्यास' का अर्थ है—'सं'+'न्यास', अर्थात् अब तक जो लगाव का बोझ उसके कन्धों पर लदा रहा है उसे उठाकर अलग धर देना, उसका 'न्यास' कर देना, छोड़ देना—'सं'+'न्यास'—अर्थात् बिल्कुल उतारकर फेंक देना। आज संन्यासियों के बड़े-बड़े मठ हैं, जिनके नहीं हैं, वे मठ बनाने की धुन में हैं। बदन पर कपड़ा न रखने और भीख माँगकर रोटी खा लेने का नाम ही संन्यास नहीं है। संन्यास बाहर का नहीं, भीतर का चिह्न है। संन्यास घर-बार छोड़ने का नाम नहीं, राग-द्वेष, मोह-

ममता छोड़ने का नाम है। संन्यास लेने के बाद घरवालों के लिए मनुष्य मर जाता था। कभी-कभी तो घरवालों को पता भी नहीं होता था कि उनके सूत्र का कर्णधार कहाँ गया। मरना सबको है। संन्यासी मृत्यु के बहुत निकट पहुँच चुका होता था। मरकर तो संसार को छोड़ना ही पड़ता है, संन्यासी जीते-जी मरने कामजा लूट लेता था और पल्ला झाड़कर दुनिया से चलने के लिए हर वक्त तैयार रहता था। उसके तन पर पड़ा भगवा कपड़ा हर समय उसे आग की उन लपटों की याद दिलाता था, जिनमें पड़कर अन्त समय में सबको पाँच तत्त्वों में मिल जाना है। संन्यास जीते-जी चिता में जल जाना था।

संन्यासी का लक्ष्य प्राणिमात्र की सेवा था

परन्तु त्याग की इस उच्च भावना का यह अभिप्राय कभी नहीं था कि संन्यासी समाज के लिए निकम्मा हो जाता था। वैदिक-संस्कृति के आदर्श के अनुसार 'त्याग' का ही दूसरा नाम 'सेवा' था। आखिर, मनुष्य किसी-न-किसी क्षेत्र में सेवा तो करता ही है। पहले वह संकुचित क्षेत्र में सेवा करता है। बाल्यकाल में तो अपनी ही सेवा करता है। छोटा बच्चा क्या करता है? उसे यह ख्याल नहीं होता कि माता-पिता के पास भी खाने को है या नहीं। घर में खाने की जो बढ़िया-से-बढ़िया चीज आये, बच्चा चाहता है, और किसी को मिले या न मिले, उसे अवश्य मिले। बड़े होने के बाद गृहस्थाश्रम में यह भाव नहीं रहता। माता-पिता स्वयं भूखे रह जाते हैं, परन्तु सन्तान को पहले देते हैं। गृहस्थ-जीवन का यह पाठ क्या सिखाता है? रात को जब शिशु बिस्तर पर पेशाब कर देता है तो माता क्या करती है? क्या वह अपने नीचे सूखा कपड़ा, और बच्चे के नीचे गीला कपड़ा सरका देती है? नहीं, वह खुद गीले में पड़ी रहती है, बच्चे के नीचे फौरन सूखा कपड़ा डाल देती है। बालक को जब नींद नहीं आती, तो माँ क्या खुद सोती रहती है और बालक को रोने देती है? नहीं, वह खुद जाग जाती है, आवश्यकता होती है तो रातभर उसे गोद में लिए थपकी देती रहती है, खुद नहीं सोती, उसे सुला देती है। गृहस्थ-जीवन त्याग का पाठ सिखाता है, परन्तु किस चीज का त्याग? अपने सुख का त्याग, अपने आराम का त्याग, अपने ऐश्वर्य तथा उपभोग का त्याग ताकि सन्तान को सुख मिल सके, आराम मिल सके। त्याग के भाव के साथ-साथ सेवा का भाव बढ़ता जाता है, यहाँ तक कि सन्तान की सेवा के लिए माता-पिता अपना सब-कुछ त्याग करने के लिए तैयार हो जाते हैं। गृहस्थ में सेवा का पाठ पढ़कर जब स्त्री-पुरुष वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करते हैं तब समाज-सेवा का भाव और अधिक तीव्र हो जाता है। गृहस्थ-आश्रम में वे लोग अपने बाल-बच्चों की सेवा करते थे, परन्तु वानप्रस्थ में आकर वे अपने बाल-बच्चों को छोड़ देते हैं और समाज के बाल-बच्चों की सेवा करने लगते हैं। यहाँ पर भी त्याग की भावना मनुष्य को सेवा के मार्ग पर ही आगे-आगे बढ़ाती जाती है। वानप्रस्थी त्याग करता है, परन्तु त्याग इसलिए करता है ताकि वह अपने

सेवा के क्षेत्र को विस्तृत कर सके, वह त्याग इसलिए नहीं करता कि जंगल में निकम्मा बैठ सके। प्राचीन-काल के वानप्रस्थियों के सहारे सम्पूर्ण भारतवर्ष में बिना कौड़ी खर्च किये नि:शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रचार था—क्या इससे भी बढ़कर सेवा-भाव का कोई दूसरा दृष्टान्त मिल सकता है ? वानप्रस्थी भी अपने गाँव या अपने शहर की ही सेवा करता था। कुछ देर बाद उसे इस परिमित क्षेत्र का त्याग कर और अधिक विस्तृत क्षेत्र में आना होता था, और अपने ही देश की नहीं, अपनी ही जाति की नहीं, अपने ही लोगों की नहीं, संसार की सेवा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता था। फिर वह किसी एक देश का नागरिक न होकर विश्व का नागरिक हो जाता था, उसका काम किसी एक देश या एक जाति की भलाई सोचना न होकर सम्पूर्ण संसार की भलाई सोचना होता था। जो लोग संन्यास-आश्रम को खाली बैठे रहने का आश्रम समझते हैं वे ऋषियों के विचार की थाह को नहीं पहुँच पाते। वैदिक-संस्कृति की मर्यादा के अनुसार संन्यासी और सब-कुछ कर सकता है, परन्तु खाली, निकम्मा नहीं बैठ सकता। वह तो विश्व का नागरिक है। जिन लोगों पर जिला-बोर्डों की चिन्ता होती है, उनकी अपेक्षा विधान-परिषद् के सदस्यों का दृष्टिकोण विशाल होता है, उनकी अपेक्षा पार्लियामेंट के सदस्यों का दृष्टिकोण तो सबसे अधिक विशाल होता है, परन्तु संयुक्त-राष्ट्र संघ के सदस्यों का दृष्टिकोण तो सबसे अधिक विशाल होना चाहिए। चाहिए इसलिए क्योंकि होता नहीं है। संन्यासी की दृष्टि संयुक्त-राष्ट्र-संघ की दृष्टि है। आज संसार को सच्चे संन्यासियों की आवश्यकता है, ऐसे संन्यासियों की जिन्हें विश्व का नागरिक कहा जा सके। आज विश्व ने संयुक्त राष्ट्र संघ की इमारतें खड़ी कर ली हैं, उन इमारतों में बढ़िया-से-बढ़िया फर्नीचर भी जुटा लिया है, परन्तु वह इन भवनों में बैठने योग्य मानव तैयार नहीं कर सका, ऐसे 'विश्व के नागरिक' नहीं पैदा कर सका जो अपने देश की नहीं, संसार के प्राणिमात्र की सेवा का व्रत ले बैठें। आज यह दरिद्र भारत विश्व को क्या दे सकता है ? परन्तु भारत तो सदियों से देता रहा है, और इस दरिद्रावस्था में भी दे सकता है। आज भारत संसार को 'विश्व के नागरिकों' का सन्देश दे सकता है, संयुक्त-राष्ट्र-संघ में बैठने योग्य इन्सान पैदा करने का सन्देश दे सकता है, और दे सकता है विश्व को एकसूत्र में बाँधने वाले, संसार के हित के लिए सब-कुछ कुर्बान कर देनेवाले, प्राणिमात्र की सेवा में अपने को भूल जानेवाले त्यागी, तपस्वी, संन्यासियों को ढूँढ-ढूँढकर विश्व का मूर्धन्य बनाने का सन्देश।

अक्सर लोग कह बैठते हैं कि भारतीय दृष्टिकोण स्वार्थ का, खुदगर्जी का दृष्टिकोण है। इस देश में लोग अपनी उन्नति के लिए जंगल में निकल जाते थे। यह विचार गलत है। आश्रम-प्रणाली इस बात का प्रमाण है कि इस देश में स्वार्थ को कम करते-करते धीरे-धीरे इतना कम कर दिया जाता था कि स्वार्थ सिफर में

तब्दील हो जाता था, और उसकी जगह परार्थ आ जाता था। ब्रह्मचर्य-आश्रम में बालक की दृष्टि अपने पर होती है, वह अपने सिवा किसी को कुछ नहीं समझता। वह पढ़ता है, लिखता है, खाता है, पीता है, सोता है, वर्जिश करता है और अपने आत्मा, मन, शरीर को बनाता है। उसे किसी की कोई चिन्ता नहीं, संसार के धन्धों से उसे कोई सरोकार नहीं। वह एक दृष्टि से 'स्वार्थ' का नमूना है, परन्तु उसे इसी जगह तो टिकना नहीं होता। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ-आश्रम आता है। अब वही व्यक्ति जिसे किसी का फिक्र नहीं था, चिन्ता नहीं थी, खुद पीछे खाता है, अपने बच्चों को पहले खिलाता है। वह अगर बाजार से अंगूर लाता है तो ताजे अंगूर बच्चे को देता है, दागी दाने खुद खा लेता है। गृहस्थाश्रम में आकर वह स्वार्थ का पाठ भूल रहा है, परार्थ का पाठ सीख रहा है, स्वार्थ से दूर होता जाता जा रहा है, परार्थ के निकट पहुँच रहा है। तीन बच्चों का बाप हो जाने के बाद वह बिल्कुल स्वार्थ-हीन हो जाता है। उसकी अपनी इच्छा कोई नहीं रहती, अपना स्वार्थ नहीं रहता, अपने बच्चों की इच्छाएँ, उनकी जरूरतें ही उसकी इच्छाएँ और उसकी जरूरते बन जाती हैं। गृहस्थाश्रम में वह दूसरों के स्वार्थ को अपना स्वार्थ बनाने का सबक सीख जाता है, परन्तु अब भी वह इसमें दक्ष नहीं हो पाता। इसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए उसे वानप्रस्थी होना पड़ता है। अब उसे भूल जाना होता है कि उसके अपने बच्चे ही उसके बच्चे हैं, उसके अपने सगे-सम्बन्धी ही उसके निकट के हैं। अब उसे गाँव और शहर के सब बच्चों को अपना बच्चा समझने का सबक सीखना है, स्वार्थ या खुदगर्जी को और कम करना है। वानप्रस्थ-आश्रम में वह दूसरों को अपना समझने का पाठ पढ़ता है, और यह पाठ संन्यास-आश्रम में पूर्ण हो जाता है। संन्यासी के लिए खास तौर पर अपना कोई नहीं रहता, क्योंकि सब एक-समान उसके अपने हो जाते हैं। ऋषियों ने आश्रम-व्यवस्था को ऐसा बनाया था कि एक आश्रम के बाद दूसरे आश्रम में प्रवेश करता हुआ व्यक्ति स्वार्थ की एक-एक तह को उतारता जाता था, यहाँ तक कि अन्तिम आश्रम में पहुँचते-पहुँचते उस पर स्वार्थ की एक तह भी बाकी नहीं रह जाती थी, भीतर से शुद्ध निःस्वार्थ-भाव सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश की तरह चमक उठता था। संन्यासी कौन होता था? संन्यासी वह था जो कोढ़ियों और अपाहिजों को देखकर अपने बदन के कपड़े सेउनकी मरहम-पट्टी करता था, संन्यासी वह था जो रोती-कलपती विधवाओं के साथ बैठकर उनके आँसुओं में अपने आँसू बहाता था, संन्यासी वह था जो लूलों और लंगड़ों को देखकर उन्हें अपने हाथ का सहारा देता था। संसार के बोझ को अपना बोझ, संसार के दुःख को अपना दुःख समझकर चिन्ता करनेवाले संन्यासी आज नहीं रहे, तो भी संन्यास-आश्रम का आदर्श यही था, इस आश्रम की मर्यादा यही थी।

संन्यास संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

संन्यास-संस्कार उसको कहते हैं कि जो मोहादि आवरण, पक्षपात छोड़ के विरक्त होकर सब पृथिवी में परोपकारार्थ विचरे। संन्यास के तीन प्रकार हैं—

[प्रथम प्रकार—क्रम-संन्यास]

सम्यङ्न्यस्यन्त्यधर्माचरणानि येन वा सम्यङ्नित्यं सत्कर्मस्वास्त उपविशति स्थिरीभवति येन स संन्यासः, संन्यासी विद्यते यस्य स संन्यासी॥

प्रथम प्रकार—अर्थात् जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे, यह क्रम-संन्यास, अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करते-करते वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है उसी को '**क्रम-संन्यास**' कहते हैं।

[द्वितीय प्रकार—गृहस्थ या वानप्रस्थ से सीधा संन्यास]

यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेद्वनाद्वा गृहाद्वा—यह ब्राह्मण-ग्रन्थ का वाक्य है। द्वितीय प्रकार—अर्थात् जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थ-आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

[तृतीय प्रकार—ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास]

ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्—यह भी ब्राह्मण-ग्रन्थ का वाक्य है। तृतीय प्रकार—अर्थात्, यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे पक्षपात रहित होकर सब के उपकार करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास-धर्म का निर्वाह कर सकूँगा, तो वह न गृहाश्रम करे, न वानप्रस्थाश्रम, किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर ही के संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे।

[संस्कार के लिये सामान]

(१) **सामग्री जो जुटा कर रखें**—देखो पृ० ६९-७०; यज्ञोपवीत को छोड़कर।

(२) **इस संस्कार के लिए विशेष सामग्री**—कमण्डलु या भिक्षा-पात्र, दण्ड, गेरु से रंगे कषाय वस्त्र की कोपीन, कटि-वस्त्र, उपवस्त्र, अंगोछा, कुर्ता, बनियान आदि। सर्दियों के दिनों में भगवे गर्म कपड़े।

[नियम तथा व्रत धारण करना]

जो पुरुष संन्यास लेना चाहे, वह जिस दिन सर्वथा प्रसन्नता हो उसी दिन से नियम और व्रत अर्थात् तीन दिन तक दुग्धपान करके उपवास और भूमि में शयन और प्राणायाम, ध्यान तथा एकान्त देश में ओंकार का जप किया करे, और पृष्ठ ६५-६६ में लिखे अनुसार सभामण्डप, वेदी, समिधा, घृतादि शाकल्य सामग्री एक दिन पूर्व कर रखनी। पश्चात् जिस चौथे दिन संन्यास लेना हो प्रहर रात्रि से उठकर, शौच स्नानादि आवश्यक कर्म करके प्राणायाम, ध्यान और प्रणव का जप करता रहे।

[ऋत्विग्वरण तथा यज्ञारम्भ]

सूर्योदय के समय उत्तम गृहस्थ धार्मिक विद्वानों का वरण कर निम्न प्रकार यज्ञ करें—

'ऋत्विग्वरण' (ओमावसोः सदने सीद आदि, पृ० ७१); **'आचमन'** (ओम् अमृतोपस्तरणमसि आदि, पृ० ७१); **'अङ्ग-स्पर्श-मन्त्र'** (पृ० ७२); **'अग्न्याधान'** (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना, पृ० ७२-७३); **'अग्नि-प्रदीपन'** (ओं उद्बुध्यस्वाग्ने, पृ० ७३); **'समिदाधान'** (ओम् अयन्त इध्म आत्मा+समिधाग्निं दुवस्यत+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिः, पृ० ७४-७७); घृतप्रतपन करके **'स्वस्तिवाचन'** (अग्निमीळे पुरोहितम्, पृ० ३९); **'शान्तिकरण'** (शं न इन्द्राग्नी, पृ० ५५); कर, वेदी के चारों ओर **'जल-प्रोक्षण'** (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व आदि, पृ० ७७); ४ **'आघारावाज्यभागाहुतियाँ'** (ओम् अग्नये स्वाहा से ओं इन्द्राय स्वाहा तक, पृ० ७८); और ४ **'व्याहृति आहुतियाँ'** (ओं भूरग्नये स्वाहा, पृ० ७९) करके निम्न ३ आहुतियाँ दें—इस प्रकार ४ आघारावाज्यभागाहुतियाँ, ४ व्याहृति आहुतियाँ और ३ निम्न आहुतियाँ—इनमें से एक-एक करके ग्यारह आज्याहुतियाँ दें। तीन आहुतियाँ निम्न हैं*—

ओं भुवनपतये स्वाहा॥ १॥
ओं भूतानां पतये स्वाहा॥ २॥
ओं प्रजापतये स्वाहा॥ ३॥

शब्दार्थ—(भुवनपतये) भुवनों के, ब्रह्माण्ड के पति के प्रति, **(भूतानां**

---

* यहाँ पाठ आगे-पीछे हो गया प्रतीत होता है। स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण का पाठ अग्न्याधान से पूर्व होना चाहिए। वानप्रस्थ के विधि-भाग में भी इसी प्रकार पाठ अव्यवस्थित है—युधिष्ठिर मीमांसक।

इस संस्कार में भी वानप्रस्थ-संस्कार की तरह 'ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना' के मन्त्रों का उल्लेख नहीं है।

पतये) पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—इन भौतिक पाँच महाभूतों के पालक के प्रति तथा **(प्रजापतये)** उद्भिज, स्वेदज, अण्डज, पिण्डज—प्राणिमात्र—के स्वामी परमेश्वर के प्रति **(स्वाहा)** मेरे हृदय में से—'स्वाहा'—अहो! कितनी विशाल तथा चमत्कारपूर्ण उसकी यह सृष्टि है—इस प्रकार के स्तुति-वाक्य निकलते हैं।

[विशेष भात की ११ आहुतियाँ]

उक्त ग्यारह (४ आघारावाज्याहुतियाँ, ४ व्याहृति आहुतियाँ तथा ३ अन्य) आहुतियों के बाद जो विधिपूर्वक भात बनाया हो उसमें घृत सेचन करके यजमान जो कि संन्यास का लेनेवाला है, और दो ऋतिज् निम्नलिखित स्वाहान्त ११ मन्त्रों से भात का होम, और शेष दो ऋत्विज् भी साथ-साथ घृताहुति करते जावें।

ओं ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञो ब्रह्मणा स्वरवो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः स्वाहा॥ १॥

—अथर्व १९.४२.१

शब्दार्थ—**(ब्रह्म होता)** ब्रह्म ही होता है **(ब्रह्म यज्ञः)** ब्रह्म ही यज्ञ है **(ब्रह्मणा मिताः स्वरवो)** ब्रह्म के ही नपे-तुले '**स्वः**'=अपने, '**रवः**'=मन्त्रोच्चारण हैं **(अध्वर्युः)** इस यज्ञ का जो संचालक अध्वर्यु है वह **(ब्रह्मणः जातः)** ब्रह्म का ही उत्पन्न किया हुआ है **(हविः)** जो यज्ञ में हवि दी जा रही है वह भी **(ब्रह्मणः)** ब्रह्म के **(अन्तर्हितम्)** भीतर विद्यमान है।

भावार्थ—संन्यास ग्रहण करने से पहले व्यक्ति चारों तरफ संसार-ही-संसार को देखता था, उसे ब्रह्म कहीं दीखता न था, अब ज्यों-ज्यों वह वानप्रस्थ और संन्यास में कदम रख रहा है, त्यों-त्यों उसे संसार के भीतर, उसका प्रेरक, सब जगह ब्रह्म-ही-ब्रह्म दीखने लगा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सब ब्रह्म ही है, संसार नहीं है—इसका यह अर्थ है कि अब तक जो ब्रह्म के दर्शन नहीं होते थे, अब उसे हर वस्तु में ब्रह्म के ही दर्शन होने लगते हैं। संसार की हर वस्तु में उसे 'ब्रह्म'—महान् परमेश्वर की सत्ता के दर्शन होते हैं।

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
ब्रह्म यज्ञश्च सत्रं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा॥ २॥

—अथर्व १९.४२.२

शब्दार्थ—**(घृतवती स्रुचः)** घी डालनेवाले स्रोताओं में **(ब्रह्म)** ईश्वर के दर्शन हैं **(वेदिः)** यज्ञ की वेदी **(ब्रह्मणा उद्धिता)** ब्रह्म से ही उठ खड़ी है **(यज्ञः सत्रं च)** छोटे-बड़े यज्ञ में **(ब्रह्म)** ब्रह्म के ही दर्शन हैं **(ये हविष्कृतः ऋत्विजः)** जो हवि डालनेवाले ऋत्विज् हैं उनमें भी ब्रह्म के ही दर्शन हैं **(शमिताय)** इस प्रकार यज्ञ की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान उसके संचालक पर-ब्रह्म के दर्शन करने से

जो अशान्त मन को शान्त बना देता है उस पर-ब्रह्म के प्रति **(स्वाहा)** बरबस मेरे मुख से स्तुति-वचन निकल रहे हैं।

भावार्थ—जैसा पहले मन्त्र में कहा वही बात इस मन्त्र में कही है। संन्यासी का दृष्टिकोण आध्यात्मिक हो जाता है। वह हर वस्तु को देखकर उसके भीतर वर्तमान, उसके प्रेरणास्त्रोत ब्रह्म को देखता है, उसकी महिमा में मग्न हो जाता है।

अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः।
इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः स्वाहा॥ ३॥

—अथर्व १९.४२.३

शब्दार्थ—(सु, त्राम्णे) संसार-सागर में डूब रहे का ठीक तरह से त्राण करनेवाले ब्रह्म में **(सुमतिं)** मैं अपनी श्रेष्ठ बुद्धि को **(आवृणानः)** वरण करता हुआ **(अंहोमुचे)** पाप से मोचन करानेवाले ब्रह्म में **(प्र, भरे)** भेंट चढ़ाता हूँ **(इन्द्र)** हे परमैश्वर्ययुक्त ब्रह्म **(इमं हव्यं)** मेरी इस भक्ति-भेंट को **(प्रति गृभाय)** ग्रहण कीजिये और आपकी कृपा से **(यजमानस्य)** यजमान की **(कामाः)** कामनाएँ **(सत्याः सन्तु)** पूर्ण हों।

भावार्थ—'मन' और 'मनीषा' में यहाँ भेद किया गया है। बुद्धि के दो रूप हैं—एक 'मन' जो संकल्प-विकल्प में भरमता रहता है, दूसरा 'मनीषा' जो मन पर उसकी स्वामिनी होकर बैठ जाती है, मन को भटकने नहीं देती। संन्यास ग्रहण करता हुआ व्यक्ति कहता है कि मैं आज तक संसार-सागर में डुबकियाँ लगाता था, अब मैं दुनियाँ की क्षणभङ्गुरता को देखकर उससे अलग हो गया हूँ, अब मेरा मन भटकना छोड़कर 'मनीषा' के बस में आ गया है, मैं भक्ति-भाव की भेंट लेकर भगवान् के चरणों में रखता हूँ, मेरी कामना आपके ध्यान में जीवन बिताने की है, यह कामना पूर्ण हो, सत्य हो।

अंहोमुचे वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वरणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धियेन्द्रेण म इन्द्रियं दत्तमोजः स्वाहा॥ ४॥

—अथर्व १९.४२.४

शब्दार्थ—(**अश्विना=अश्विनौ—अशूङ्‌व्याप्तौ+क्वन्=अश्वः=व्याप्तिः**—इति) हे सब जगह व्याप्त अर्थात् छा जानेवालो! सृष्टि में सूर्य और चन्द्र के युगल, मेरे जीवन में माता और पिता के युगल के रूप में अश्विदेवो! मैं **(अंहोमुचं)** दुःखों को दूर करनेवाले **(यज्ञियानाम् वृषभं)** पूजनीयों में श्रेष्ठ **(अध्वराणाम् प्रथमं विराजन्तम्)** यज्ञों में सबसे मुख्य विराजमान **(अपां न पातम्)** कर्मों में कभी पतन न होनेवाले—कर्म में अचल—के प्रति **(धिया)** बुद्धिपूर्वक **(हुवे)** अपनी भक्ति-भाव भरी प्रतिज्ञा की आहुति चढ़ाता हूँ **(इन्द्रेण)** परमैश्वर्ययुक्त भगवान् ने **(मे)** मुझे **(इन्द्रियम् ओजः)** इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का ओज—बल—**(दत्तम्)**

दे दिया है।

भावार्थ—संन्यासी भौतिक-सृष्टि के मुख्य युगल सूर्य-चन्द्र तथा सामाजिक-सृष्टि के मुख्य युगल माता-पिता को सम्बोधित करके कहता है कि परब्रह्म परमात्मा की कृपा से मुझमें इतना आत्मिक बल आ गया है कि मैं इन्द्रियों के पीछे न चलकर उनपर विजय प्राप्त कर लूँ और जिस आध्यात्मिक-पथ को अब मैंने चुन लिया है उस पर लगातार चलता चलूँ।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे।
अग्नये स्वाहा। इदमग्नये—इदन्न मम॥ ५॥

शब्दार्थ—(ब्रह्मविदः) ब्रह्म का संसार के कण-कण में ज्ञानपूर्वक दर्शन करनेवाले संन्यासी (दीक्षया तपसा सह) पहले दीक्षा लेकर और फिर दीक्षा के अनुसार तप का जीवन बिताकर (यत्र यान्ति) जहाँ पहुँचते हैं (अग्निः मा तत्र नयतु) आगे-आगे ले जानेवाले भगवान् मुझे वहाँ ले चले (अग्निः) भगवान् (मे) मुझे (मेधां दधातु) ऐसी सद्‌बुद्धि दे कि मैं सदा उस मार्ग पर चलता चलूँ (अग्नये) अग्निरूप—आगे-आगे कदम बढ़ाने में सहायक रूप भगवान् के प्रति (स्वाहा) यह मेरी स्तुति के साथ प्रार्थना है।

यत्र०। वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे। वायवे स्वाहा॥ इदं वायवे—इदन्न मम॥ ६॥

...वायु मुझे वहाँ ले चले, वायु मेरे प्राणों को ऐसी सद्‌बुद्धि दे।

यत्र०। सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे। सूर्याय स्वाहा॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम॥ ७॥

...सूर्य मुझे वहाँ ले चले, सूर्य मेरे नेत्रों को ऐसी सद्‌बुद्धि दे।

यत्र। चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे। चन्द्राय स्वाहा॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम॥ ८॥

...चन्द्र मुझे वहाँ ले चले, चन्द्र मेरे नेत्रों को ऐसी सद्‌बुद्धि दे।

यत्र०। सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे। सोमाय स्वाहा॥ इदं सोमाय—इदन्न मम॥ ९॥

...सोम (औषधियाँ) मुझे वहाँ ले चले, सोम मुझे ऐसा बल दे।

यत्र०। इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे। इन्द्राय स्वाहा॥ इदमिन्द्राय—इदन्न मम॥ १०॥

...इन्द्र मुझे वहाँ ले चले, इन्द्र मुझे ऐसा बल दे।

यत्र०। आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु। अद्‌भ्यः स्वाहा॥ इदमद्‌भ्यः—इदन्न मम॥ ११॥

...जल मुझे वहाँ ले चले, जल ऐसा अमृत मेरे पास लाये।

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह। ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा। इदं ब्रह्मणे—इदन्न मम॥ १२॥*

शब्दार्थ—ब्रह्म का ज्ञान मुझे वहाँ ले चले **(ब्रह्मा)** महान् ब्रह्म-शक्ति **(मे)** मुझे **(ब्रह्म)** महान् **(दधातु)** बनाये। मैं अब तक तुच्छ सृष्टि में तुच्छ प्राणी बना हुआ था, अब मैं सृष्टि की महान् शक्तियों के सम्पर्क में आकर महान् बनूँ।

भावार्थ—५ से १२ तक जितने मन्त्र हैं, उनमें सृष्टि की अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, सोम, इन्द्र, जल, ब्रह्म—इन महती शक्तियों को सम्बोधन करते हुए प्रार्थना की गई है कि संन्यासी अब अपने तुच्छ जीवन को छोड़कर महान् जीवन में प्रवेश करने लगा है, उसे अब तुच्छता को छोड़कर महत्ता का जीवन बिताने में विश्व की ये शक्तियाँ प्रेरणा दें। जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, जल अपने लिये नहीं विश्व भर में सबके लिये एक-समान बरतते हैं, वैसे संन्यासी भी अब इन शक्तियों के समान एक चेतन-शक्ति के रूप में विश्व के कल्याण में अपना जीवन व्यतीत करे।

[भात की १५ आहुतियाँ]

उक्त १२ आहुतियों के बाद निम्न मन्त्रों से एक-एक करके भात की १५ आहुतियाँ दें—

ओं प्राणापानव्यानोदानसमाना मे शुध्यन्ताम्।
ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ १॥

शब्दार्थ—**(मे)** मेरे **(प्राणापानव्यानोदानसमानाः)** फेफड़ों की प्राणवायु, गुदा प्रदेशवर्ती अपान वायु, सारे शरीर में विचरण करनेवाली व्यान वायु, कण्ठ-प्रदेश से डकार के रूप में निकलनेवाली उदान वायु, नाभि-प्रदेश में आँतों में रहनेवाली समान वायु—ये सब शुद्ध रहें, मुझे कोई कष्ट न दें **(अहम् विरजाः ज्योतिः)** मैं रज-दोष-रहित ज्योतिस्वरूप बन जाऊँ **(विपाप्मा)** पापरहित **(भूयासम्)** हो जाऊँ।

भावार्थ—मनुष्य को वायु के अनेक कष्ट होते हैं। फेफड़ों में दमा, गुदा में बवासीर, शरीर में बाय के दर्द, गले में खट्टे-फीके डकार, नाभिप्रदेश में आँतों में हवा भर जाना आदि प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान के कष्ट हैं। अब संन्यासी घर-बार छोड़कर बाहर निकला है। ये कष्ट रहें तो जीवन कैसे निभेगा, इसलिए वह इन कष्टों से मुक्त होने का प्रबन्ध कर बाहर निकलता है।

वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रजिह्वाघ्राणरेतोबुद्ध्याकूतिसंकल्पा मे शुध्यन्ताम् ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा॥ २॥

---

* पहले ४ मन्त्र सूक्त ४२ के और अगले ५-१२ मन्त्र सूक्त ४३ के हैं।

मेरी वाणी, मन, नेत्र, कर्ण, जिह्वा, नासिका, वीर्य, बुद्धि, संकल्प शुद्ध रहें...

शिरः पाणिपादपार्श्वपृष्ठोरूदरजंघाशिश्नोपस्थपायवो मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ३ ॥

मेरा मस्तक, हाथ, पैर, पीठ, जंघाएँ, पेट, घुटने, पैर, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय शुद्ध रहें...

त्वक्चर्ममाꣳसरुधिरमेदोमज्जास्नायवोऽस्थीनि मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ४ ॥

त्वचा, चर्म, मांस, रुधिर, मेद—चर्बी, मज्जा—हड्डियों का सारभाग, स्नायु, अस्थि मेरे लिए शुद्ध रहें...

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ५ ॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ज्ञानेन्द्रियों के ये पाँच विषय मेरे लिए शुद्ध रहें।

पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशा मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ६ ॥

पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—पंचमहाभूत मेरे लिये शुद्ध रहें।

अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ७ ॥

अन्नमय, प्राणमय आदि पाँचों कोश मेरे लिए शुद्ध रहें। स्मृतियों में इन्हें जीव के कोश (मियान) कहा है।

विविष्ट्यै स्वाहा ॥ ८ ॥ कषोत्काय स्वाहा ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—(**विविष्ट्यै**) विशेष रूप से संसार के अणु-अणु में जो आविष्ट है—भगवान्—उसके लिए (**स्वाहा**) मेरे हृदय में यह स्तुतिपरक उद्‍गार निकल रहा है।

(**कषोत्काय**) नामरूपकर्मात्मक कार्य-प्रपञ्च को सायणाचार्य ने '**कषः**' कहा है। '**उत्काय**' का अर्थ है—उत्सुक, नामरूपकर्मात्मक संसार की रचना में उत्सुक भगवान् के प्रति (**स्वाहा**) मेरा स्तुतिपरक उद्‍गार है।

उत्तिष्ठ पुरुष हरित लोहित पिङ्गलाक्षि देहि देहि ददापयिता मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ १० ॥

शब्दार्थ—हे (**पुरुष**) इस शरीर-रूपी शयनागार में पड़े सो रहे जीव! (**उत्तिष्ठ**) नींद छोड़कर उठ खड़ा हो। हे (**हरित**) सब दुर्गुणों का हरण—त्याग—कर देनेवाले सत्वगुणी पुरुष! (**लोहित**) हे समय-कुसमय में रुकावटों को देखकर लोहित—रक्त—मुख कर लेनेवाले रजोगुणी पुरुष! तथा हे आलस्य में पड़े (**पिङ्गलाक्षि**) अज्ञानान्धकार से आविष्ट तमोगुणी पुरुष! (**देहि देहि**) अपने जीवन में देते ही रहना, देते ही रहना (**ददापयिता**) देनेवाला ही बनना—यह भावना तेरे अन्तःकरण को (**शुध्यन्ताम्**) शुद्ध कर दे। संन्यासी प्रार्थना करता है—मैं (**विरजः**) विरज होकर—धुंधलेपन में से निकलकर, (**ज्योतिः**) ज्योति की तरह स्पष्ट भावना

को लेकर **(विपाप्मा भूयासम्)** पाप रहित हो जाऊँ।

भावार्थ—मनुष्य सब तरह के होते हैं—सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी। इन सबके प्रति वेद का आदेश है—स्वार्थ में मत डूबे रहो, परार्थ को जीवन का लक्ष्य बनाओ, लेते ही न रहो—देते रहो, देते रहो। देने से अन्त:करण शुद्ध होता है, लेते रहने से अन्तरात्मा मलिन हो जाता है। संन्यासी कहता है कि मैं यह प्रार्थना भावना में आकर नहीं कर रहा, शुद्ध अन्त:करण से कर रहा हूँ।

ओं स्वाहा मनोवाक्कायकर्माणि मे शुध्यन्ताम्। ज्योति० ॥ ११ ॥

मेरे मन, वाक्, काया, कर्म शुद्ध हों—जो मन में हो, वह वाणी में हो, जो वाणी में हो, वह कर्म में हो।

अव्यक्तभावैरहङ्कारैर्ज्योति० ॥ १२ ॥

(अव्यक्तभावैः अहङ्कारैः) जो मेरी अहङ्कार की व्यक्त भावनाएँ हैं, उनसे तो मैं शुद्ध—मुक्त—हो ही जाऊँ, अगर मेरे भीतर अहङ्कार की अव्यक्त—छिपी हुई—भावनाएँ हैं, उनसे भी मैं शुद्ध हो जाऊँ—उन्हें छोड़ दूँ।

आत्मा मे शुध्यताम्। ज्योति० ॥ १३ ॥

मेरा **(आत्मा)** शरीर शुद्ध हो जाए।

अन्तरात्मा मे शुध्यताम्। ज्योति० ॥ १४ ॥

मेरा **(अन्तरात्मा)** अन्तरात्मा शुद्ध हो जाए।

परमात्मा मे शुध्यताम्। ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासꣳ स्वाहा ॥ १५ ॥

मेरा **(परमात्मा)** परम आत्मा—अगर मैं जीवन के क्षेत्र में परमकोटि को प्राप्त कर लूँ, बहुत ऊँचे स्थान पर पहुँच जाऊँ, तो वह भी शुद्ध हो जाये, विकाररहित हो जाए, अर्थात् उच्च-स्थान पर होने से सहज में आ जानेवाले विकार मुझे न छाएँ।

द्रष्टव्य—(प्राणापान) इत्यादि से लेके (परमात्मा मे शुध्यताम्) इत्यन्त मन्त्रों में संन्यासी के लिए उपदेश है, अर्थात् जो संन्यासाश्रम ग्रहण करे वह धर्माचरण, सत्योपदेश, योगाभ्यास, शम, दम, शान्ति, सुशीलतादि, विद्याविज्ञानादि शुभ गुण, कर्म, स्वभावों से सहित होकर, परमात्मा को अपना सहायक मानकर, अत्यन्त पुरुषार्थ से शरीर प्राण मन इन्द्रयादि को अशुद्ध व्यवहार से हटा शुद्ध व्यवहार में चला के पक्षपात कपट अधर्म व्यवहारों को छोड़, अन्य के दोष पढ़ाने और उपदेश को छुड़ाकर, स्वयं आनन्दित होके, सब मनुष्यों को आनन्द पहुँचाता रहे (संस्कारविधि)।

[उक्त १५ आहुतियों के बाद घृत की ३५ आहुतियाँ]

उक्त १५ मन्त्रों में से एक-एक करके भात की आहुति देने के पश्चात् निम्नलिखित मन्त्रों से ३५ घृताहुति (१५+३५=कुल ५०) देवें—

ओमग्नये स्वाहा ॥ १६ ॥ **ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥**
ओं ध्रुवाय भूमाय स्वाहा ॥ १८ ॥ **ओं ध्रुवक्षितये स्वाहा ॥ १९ ॥**
ओमच्युतक्षितये स्वाहा ॥ २० ॥ **ओमग्नये स्विष्टकृते स्वाहा ॥ २१ ॥**
ओं धर्माय स्वाहा ॥ २२ ॥ **ओमधर्माय स्वाहा ॥ २३ ॥**
ओमद्भ्यः स्वाहा ॥ २४ ॥ **ओमोषधिवनस्पतिभ्यः स्वाहा ॥ २५ ॥**
ओं रक्षोदेवजनेभ्यः स्वाहा ॥ २६ ॥ **ओं गृह्याभ्यः स्वाहा ॥ २७ ॥**
ओमवसानेभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥ **ओमवसानपतिभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥**
ओं सर्वभूतेभ्यः स्वाहा ॥ ३० ॥ **ओं कामाय स्वाहा ॥ ३१ ॥**
ओमन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३२ ॥ **ओं पृथिव्यै स्वाहा ॥ ३३ ॥**
ओं दिवे स्वाहा ॥ ३४ ॥ **ओं सूर्याय स्वाहा ॥ ३५ ॥**
ओं चन्द्रमसे स्वाहा ॥ ३६ ॥ **ओं नक्षत्रेभ्यः स्वाहा ॥ ३७ ॥**
ओमिन्द्राय स्वाहा ॥ ३८ ॥ **ओं बृहस्पतये स्वाहा ॥ ३९ ॥**
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ४० ॥ **ओं ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ४१ ॥**
ओं देवेभ्यः स्वाहा ॥ ४२ ॥ **ओं परमेष्ठिने स्वाहा ॥ ४३ ॥**
ओं तद् ब्रह्म ॥ ४४ ॥ **ओं तद्वायुः ॥ ४५ ॥**
ओं तदात्मा ॥ ४६ ॥ **ओं तत्सत्यम् ॥ ४७ ॥**
ओं तत्सर्वम् ॥ ४८ ॥ **ओं तत्पुरोर्नमः ॥ ४९ ॥**

अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वमूर्तिषु। त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमिन्द्रस्त्वं रुद्रस्त्वꣳ विष्णुस्त्वं ब्रह्म त्वं प्रजापतिः। त्वं तदाप आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा* ॥ ५० ॥

इन मन्त्रों में अग्नि, विश्वदेव, ध्रुवभूमि, ध्रुवक्षिति, अच्युतक्षिति, स्विष्टकृत् अग्नि, धर्म, अधर्म, जल, ओषधि, वनस्पति, गृह, अवसान अर्थात् मृत्यु, अवसानपति, सर्वभूत, काम, अन्तरिक्ष, पृथिवी, द्यु, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्म, देव, परमेष्ठि—इन सबके लिए '**स्वाहा**'—स्तुति-वचन कहकर संन्यासी संसार की हर शक्ति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता है।

इन सब शक्तियों का परिगणन करके और उनके प्रति स्तुति-वाक्य कहकर संन्यासी घोषणा करता है कि '**तदात्मा**'—ये शक्तियाँ ही संसार का आत्मा हैं, संसार में विद्यमान हैं; '**तत्सत्यम्**'—ये ही सत्य हैं—अर्थात् मौजूद हैं; '**तत्सर्वम्**'—ये ही सब-कुछ हैं; '**तत्पुरोर्नमः**'—इनके आगे सिर झुकाता हूँ। यह ध्यान देने की बात है कि इनमें '**अधर्म**' को भी एक शक्ति माना गया है। इसमें सन्देह नहीं कि 'अधर्म' भी

* ये सब प्राणापानव्यान० आदि मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक, दशम प्रपाठक, अनुवाक् ५१ से ६० तथा ६६ से ६८ के हैं।

एक शक्ति है, संन्यासी को उसे शक्ति मानकर चलना होगा, उसकी सत्ता से इन्कार नहीं करना होगा, भले ही उसके साथ उसे युद्ध करना पड़े। युद्ध शक्तिमान् के साथ ही किया जाता है, शक्तिहीन के साथ नहीं।

वही ब्रह्म **(विश्वमूर्तिषु भूतेषु)** विश्व के मूर्तिमान् सब जड़ तथा चेतन के **(अन्तः गुहायां)** भीतर मानो गुहा में **(चरति)** गति करता है। हे ब्रह्म! **(त्वं)** तू ही **(यज्ञः)** यज्ञ है, **(त्वं)** तू ही **(वषट्कारः)** वषट्कार है **(त्वं)** तू ही **(इन्द्रः)** इन्द्र है **(त्वं)** तू ही **(रुद्रः)** रुद्र है **(त्वं विष्णुः)** तू विष्णु है **(त्वं ब्रह्म)** तू ही ब्रह्म है **(त्वं प्रजापतिः)** तू ही प्रजापति है **(त्वं)** तू ही **(तत्)** वह **(आपः आप)** जलों का जल है, तू ही ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः, स्वः है—यह मुझ संन्यासी की विश्व की महती-शक्ति के प्रति स्तुतियुक्त उक्ति है।

[संन्यासी का क्षौर-कर्म]

उक्त ५० मन्त्रों से भात तथा घी की आहुति देकर तदनन्तर संन्यास लेनेवाला पुरुष पाँच-छह केशों को छोड़कर मुण्डन-संस्कार (पृ० २३७) में लिखी हुई विधि के अनुसार दाढ़ी-मूँछ-केश तथा लोमों का छेदन अर्थात् क्षौर कराकर यथावत् स्नान करे। तदनन्तर, वह अपने सिर पर पुरुष-सूक्त के निम्न मन्त्रों से १०४ बार अभिषेक करे। हम यहाँ ऋग्वेदस्य पुरुष-सूक्त के मन्त्र दे रहे हैं—

[पुरुष-सूक्त के मन्त्रों से अभिषेक]

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥
तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥
तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥
यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥
सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

—ऋग्वेद १०.९०.१-१६

[आचमन और प्राणायाम]

पुनः 'अमृतोपस्तरणमसि' आदि (पृ० ७१) से तीन आचमन करे, और प्राणायामों के निम्न मन्त्रों से विधिवत् योगशास्त्र की रीति से कम-से-कम तीन प्राणायाम करे। वे मन्त्र निम्न हैं—

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्॥*

[मन में मन्त्र-जाप करें]

पश्चात् हाथ जोड़, वेदी के सामने नेत्रोन्मीलन कर मन से निम्न छह मन्त्रों को जपे—

ओं ब्रह्मणे नमः॥ १॥ **ओमिन्द्राय नमः॥ २॥**
ओं सूर्याय नमः॥ ३॥ **ओं सोमाय नमः॥ ४॥**
ओमात्मने नमः॥ ५॥ **ओमन्तरात्मने नमः॥ ६॥**

[चार आज्याहुति]

ओमात्मने स्वाहा॥ १॥ **ओमन्तरात्मने स्वाहा॥ २॥**
ओं परमात्मने स्वाहा॥ ३॥ **ओं प्रजापतये स्वाहा॥ ४॥**

[मधुपर्क]

तत्पश्चात् कार्यकर्त्ता संन्यास ग्रहण करनेवाला पुरुष निम्न प्रकार मधुपर्क की, जैसी पृ० ४००-४०२ में दी गई है, क्रिया करे—

आचार्य या ऋत्विग् मधुपर्क का पात्र निम्न वचन बोलकर संन्यासार्थी को दे—

ऋत्विग्—ओं मधुपर्को मधुपर्को मधुपर्कः प्रतिगृह्यताम्॥

संन्यासार्थी—ओं प्रतिगृह्णामि॥

तदनन्तर, संन्यासार्थी निम्न वाक्य को बोलकर मधुपर्क को देखे—

संन्यासार्थी—ओं मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे।

तदनन्तर, संन्यासार्थी निम्न मन्त्र से मधुपर्क के पात्र को वाम-हस्त में ले—

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रति गृह्णामि॥

फिर, संन्यासार्थी निम्न मन्त्र को पढ़कर दाहिने हाथ की अनामिका और अङ्गुष्ठ से मधुपर्क को तीन बार बिलोवे—

ओं नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि॥

तदनन्तर, उस मधुपर्क में से निम्न मन्त्रों से उसे चारों दिशाओं में छोड़े—

ओं वसवस्त्वा गायत्रेणच्छन्दसा भक्षयन्तु॥ —इससे पूर्व दिशा में,

ओं रुद्रास्त्वा त्रैष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु॥ —दक्षिण दिशा में,

ओं आदित्यास्त्वा जागतेनच्छन्दसा भक्षयन्तु॥ —पश्चिम दिशा में,

ओं विश्वे त्वा देवा आनुष्टुभेनच्छन्दसा भक्षयन्तु॥ —उत्तर दिशा में,

पुनः निम्न वाक्य को बोलकर पात्र के मध्य में से मधुपर्क को लेकर ऊपर की ओर तीन बार फेंके—

ओं भूतेभ्यस्त्वा प्रतिगृह्णामि॥

तत्पश्चात्, उस मधुपर्क के तीन भाग करके कांसे के या अन्य पात्रों में धर, भूमि पर अपने सम्मुख तीनों पात्र रख, निम्न मन्त्र को बोलकर थोड़ा प्राशन करे वा सब प्राशन करे।

संन्यासार्थी—ओं यन्मधुनो मधव्यं परमꣳ रूपमन्नाद्यम्। तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि॥*

यदि उन पात्रों में मधुपर्क शेष रहे, तो जल में डाल दे।

[संन्यासार्थी पुनः प्राणायाम तथा मन में निम्न मन्त्र-जाप करे]

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम्॥

ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि॥

ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात्॥

---

* अर्थ के लिये देखो विवाह-संस्कार (पृष्ठ ४१०)।

ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

शब्दार्थ—(**भूः सावित्रीं**) सावित्री—गायत्री—मन्त्र का जो आदि-पद 'भूः' है, उसमें (**प्रविशामि**) मैं प्रवेश करता हूँ (**सवितुः**) सावित्री—सूर्य का—(**तत् वरेण्यम्**) वह वरणीय भाग है; (**भुवः सावित्रीं**) सावित्री—गायत्री का जो मध्य-पद 'भुवः' है, उसमें (**प्रविशामि**) मैं प्रवेश करता हूँ (**देवस्य**) सूर्य-देव का (**भर्गः धीमहि**) वह तेज रूप है, उसका मैं ध्यान करता हूँ; (**सावित्रीं स्वः**) सावित्री का जो सुखदायक अन्त्य-पद 'स्वः' है (**प्रविशामि**) उसमें मैं प्रवेश करता हूँ (**यः**) जो (**नः**) हमारी (**धियः**) बुद्धियों को (**प्रचोदयात्**) प्रेरणा दे। इसी प्रकार (**भूः भुवः, स्वः**) गायत्री के तीनों पदों में—भूः, भुवः, स्वः में (**प्रविशामि**) मैं प्रवेश करता हूँ (**तत्सवितुः वरेण्यम्**) इनमें प्रवेश पाना ही सूर्य-देव का वरणीय रूप है, (**धियो यो नः प्रचोदयात्**) जो हमारी बुद्धियों को प्रेरणा दे।

भावार्थ—इसमें मन में गायत्री के जाप का विधान है। गायत्री की पहली '**भूः भुवः, स्वः**'—इन तीन व्याहृतियों में से प्रत्येक के साथ गायत्री के तीनों पदों में से एक-एक का सम्बन्ध जोड़कर सम्पूर्ण गायत्री का पाठ कर दिया है—'**भूः**' के साथ '**तत्सवितुर्वरेण्यम्**', '**भुवः**' के साथ '**भर्गोदेवस्य धीमहि**' तथा '**स्वः**' के साथ '**धियो यो नः प्रचोदयात्**'—इस प्रकार अन्त में सम्पूर्ण गायत्री का पाठ कर दिया गया है।

[तत्पश्चात्, निम्न मन्त्रों से यज्ञ-कुण्ड में आज्याहुति दे]

ओम् अग्नये स्वाहा॥ १॥ ओं भूः प्रजापतये स्वाहा॥ २॥ ओम् इन्द्राय स्वाहा॥ ३॥ ओं प्रजापतये स्वाहा॥ ४॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा॥ ५॥ ओं ब्रह्मणे स्वाहा॥ ६॥ ओं प्राणाय स्वाहा॥ ७॥ ओमपानाय स्वाहा॥ ८॥ ओं व्यानाय स्वाहा॥ ९॥ ओमुदानाय स्वाहा॥ १०॥ ओं समानाय स्वाहा॥ ११॥

[यज्ञ की पूर्णाहुति]

तत्पश्चात्, निम्न मन्त्र से पूर्णाहुति करे—

ओं भूः स्वाहा॥

[जलप्रमोचन द्वारा एषणा-त्रय का त्याग]

फिर, निम्न वाक्य को बोल के सबके सामने जल को भूमि में छोड़ दे—

[पुत्र, वित्त, लोक—ये ३ त्याज्य एषणाएँ हैं]

संन्यासार्थी—पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्चोत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥ —श० कां० १४,६,४,१

पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता, मत्तः सर्वभूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा॥

भाषार्थ—पुत्रादि के मोह, वित्तादि पदार्थों के मोह, और लोकस्थ प्रतिष्ठा की इच्छा से मन को हटाकर परमात्मा में आत्मा को दृढ़ करके जो भिक्षाचरण करते हैं, वे ही सबको सत्योपदेश से अभयदान देते हैं। अर्थात्, दाहिने हाथ में जल ले के मैंने आज से पुत्रादि का तथा वित्त का मोह और लोक में प्रतिष्ठा की इच्छा करने का त्याग कर दिया और मुझसे सब भूत प्राणीमात्र को अभय प्राप्त होवे, यह मेरी सत्य वाणी है।

[जल में प्रवेश करके परमात्मा का ध्यान करे]

पीछे, नाभिमात्र जल में पूर्वाभिमुख खड़ा रहकर निम्न मन्त्र का मन से जप करे—

ओं भूः सावित्रीं प्रविशामि तत्सवितुर्वरेण्यम्॥
ओं भुवः सावित्रीं प्रविशामि भर्गो देवस्य धीमहि॥
ओं स्वः सावित्रीं प्रविशामि धियो यो नः प्रचोदयात्॥
ओं भूर्भुवः स्वः सावित्रीं प्रविशामि परो रजसेऽसावदोम्॥*

उक्त मन्त्र का मन से जप करके, प्रणवार्थ परमात्मा का ध्यान करे। तत्पश्चात्, पूर्वोक्त (पुत्रैषणायाश्च०) इस समय कण्डिका को बोले। फिर, निम्न मन्त्र से जप करे—

[त्याग-सम्बन्धी निम्न मन्त्र-जाप करे]

ओं भूः संन्यस्तं मया॥ १॥

आज मैंने **(भूः)** प्राणों के प्राण 'ओम्' का ध्यान, स्मरण करके 'भूलोक-सम्बन्धी' सब मोह-सम्बन्ध छोड़ दिया है।

ओं भुवः संन्यस्तं मया॥ २॥

(भुवः) दुःख विनाशक 'ओम्' का ध्यान, स्मरण करके 'भुवर्लोक-सम्बन्धी' सब मोह-सम्बन्ध छोड़ दिया है, और

ओं स्वः संन्यस्तं मया॥ ३॥

(स्वः) सुखदाता 'ओम्' का ध्यान, स्मरण करके 'स्वर्लोक-सम्बन्धी' सब मोह-सम्बन्ध **(संन्यस्तं)** त्याग दिये हैं।

[अञ्जली के जल का त्याग]

तत्पश्चात्, जल से अञ्जली भर पूर्वाभिमुख खड़ा होकर संन्यास लेनेवाला कार्यकर्त्ता पुरुष निम्न वचन बोले—

ओम् अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहा॥ ४॥

---

* इस मन्त्र का इसी संस्कार में अन्तिम वाक्य के भेद के साथ पहले भी उल्लेख है, वहाँ (पृ० ४९५) अर्थ देखें।

मुझसे सब प्राणियों को अभय प्राप्त हो, इसके लिए शुभ संकल्प करता हूँ। और, निम्न मन्त्र से दोनों हाथों की अञ्जली के जल को पूर्वदिशा में छोड़े—

येना॑ स॒हस्त्रं॒ वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववे॒द॒सम्।
तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ व॒ह स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे॥ ५॥

—अथर्व० कां० ९। सू० ५। मं० १७॥

शब्दार्थ—हे **(अग्ने)** अपने अनुग्रह से सबके उन्नायक तेजस्वी देव! **(येन)** अपने जिस सामर्थ्य व नियम से **(सहस्त्रं)** तू सहस्त्रों को **(आ वहसि)** भली प्रकार उच्च अवस्था तक पहुँचाता है, **(येन)** जिससे **(सर्ववेदसम्)** तू सब पदार्थों को जाननेहारे को भी आगे ले जाता है, **(तेन)** अपने उस सामर्थ्य व नियम से **(देवेषु)** विद्वानों में **(स्वः गन्तवे)** सुख प्राप्त कराने के लिए **(इमं सर्ववेदसं यज्ञं)** मेरे इस मोह-त्यागरूपी यज्ञ को **(नः वह)** मेरे लिए प्राप्त करा, सफल बना।

[शिखा तथा यज्ञोपवीत का त्याग]

इसके पश्चात् मौन (क्षौर) करके शिखा के लिए जो पाँच वा सात केश रक्खे थे, उनको एक-एक उखाड़ और यज्ञोपवीत उतारकर हाथ में ले जल की अञ्जली भरकर निम्न मन्त्रों से शिखा के बाल और यज्ञोपवीत सहित जलाञ्जली को जल में होम कर दे—

ओमापो वै सर्वा देवताः स्वाहा॥ ६॥

ओम् भूः स्वाहा॥ ७॥

शब्दार्थ—**(आपो०)** बाहर जल और अन्दर वीर्य शक्ति हमें प्रसन्नता और प्रकाश दे। **(भूः)** प्राणों से भी प्रिय परमेश्वर के लिए **(स्वाहा)** यह हमारी 'सुष्ठु-उक्ति' है।

[काषायवस्त्र तथा दण्ड का धारण करना]

अब तक की विधि जल में खड़े-खड़े हुई। उसके पश्चात्, आचार्य (ऋत्विज्) शिष्य (संन्यासार्थी) को जल से निकालकर काषाय-वस्त्र की कौपीन, कटिवस्त्र, उपवस्त्र, अङ्गोछा प्रीतिपूर्वक दे—

तत्पश्चात्, आचार्य दण्ड हाथ में लेकर सामने खड़ा रहे, और संन्यास ग्रहण करनेवाला, आचार्य के सामने हाथ जोड़ (देखो, पृ० ३०८) निम्न मन्त्र को बोले—

ओं ये मे दण्डः परापतद्वैहायसो भूम्याम्।
तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय॥*

---

* इस मन्त्र का अर्थ वेदारम्भ (पृ० ३०८) में देखो।

उक्त मन्त्र को पढ़कर शिष्य (संन्यासार्थी) हाथ में दण्ड धारण करके आत्मा में आहवनीयादि अग्नियों का आरोपण करे।

[आचार्य, ऋत्विगादि द्वारा मङ्गल-कामना]*

उसके पश्चात्, आचार्य ऋत्विजादि विद्वान् निम्न मन्त्रों को बोल परमेश्वर का उपस्थान कर, संन्यासी बने पुरुष के लिए मंगल कामना करें।

शर्यणावति सोममिन्द्रः पिबतु वृत्रहा।
बलं दधान आत्मनि करिष्यन्वीर्यं महदिन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ १ ॥

—ऋग्वेद ९.११३.१

शब्दार्थ—यह **(वृत्रहा)** अज्ञान के आवरण का नाश करनेहारा **(इन्द्रः)** सूर्यवत् तेजस्वी संन्यास लेनेवाला पुरुष **(शर्यणावति)** हिंसनीय पदार्थों से युक्त भूमितल में स्थित **(सोमम्)** ज्ञान रस को व उत्तम मूल-फलों के रस को **(पिबतु)** पीवे। **(आत्मनि)** अपने आत्मा में **(महत्)** बड़े **(वीर्यम्)** सामर्थ्य को **(करिष्यन्)** बढ़ाने की इच्छा करता हुआ **(बलं दधानः)** दिव्य बल को धारण करता हुआ **(इन्द्राय)** परमैश्वर्य के लिए हे **(इन्द्रो)** चन्द्रमा के तुल्य सबको आनन्द करनेहारे पूर्ण विद्वान्! तू संन्यास लेके सब पर **(परि स्रव)** सत्योपदेश की वृष्टि कर अथवा **(इन्दो)** आनन्द सुधावर्षक परमेश्वर! **(इन्द्राय)** आत्मैश्वर्ययुक्त इस संन्यासी पर अनुग्रह की वर्षा कर।

आ पवस्व दिशां पत आर्जीकात्सोम मीढ्वः।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ २ ॥

—ऋग्वेद ९.११३.२

शब्दार्थ—हे **(सोम)** सोम्यगुणसम्पन्न **(मीढ्वः)** सत्य से सबके अन्तःकरण को सींचनेहारे, **(दिशां पते)** सब दिशाओं में स्थित मनुष्यों को सच्चा ज्ञान देके पालन करनेहारे, **(इन्दो)** शमादि गुण युक्त संन्यासिन्! तू **(ऋतवाकेन)** यथार्थ बोलने **(सत्येन)** सत्य भाषण करने **(श्रद्धया)** सत्य के धारण में सच्ची प्रीति और **(तपसा)** प्राणायाम योगाभ्यास से **(आर्जीकात्)** सरलता से **(सुतः)** निष्पन्न होता हुआ, तू अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि को **(आ पवस्व)** पवित्र कर और **(इन्द्राय)**

---

* यज्ञ समाप्ति पर संन्यास ग्रहण करनेवाले पुरुष के लिए आशीर्वाद के स्थान पर मंगलकामना की जानी उचित है। ऋषि ने संन्यास-संस्कार के प्रारम्भ में इन अगले ग्यारह मन्त्रों को अर्थ सहित उद्धृत किया है। श्री मदनमोहन विद्यासागर ने अपने 'संस्कार-समुच्चय' ग्रन्थ में समीचीन समझकर इन मन्त्रों का मंगलकामना में विनियोग किया है जो उचित प्रतीत होता है। जो चाहें तो यहीं विधि समाप्त कर दें, और चाहें तो अगले ग्यारह मन्त्रों का पाठ करें।

परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा के लिए **(परि स्त्रव)** सब ओर से गमन कर। अथवा हे आनन्ददातः प्रभो! इस संन्यासी को **(परि स्त्रव)** सब ओर से आप्लावित कर।

ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन्।
श्रद्धां वदन्त्सोम राजन्धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्त्रव॥ ३॥

—ऋग्वेद ९.११३.४

शब्दार्थ—हे **(ऋतद्युम्न)** सत्यघन और सत्य कीर्तिवाले यतिवर **(ऋतं वदन्)** पक्षपात छोड़के यथार्थ बोलता हुआ, हे **(सत्यकर्मन्)** सत्यवेदोक्त कर्म वाले संन्यासिन्! **(सत्यं वदन्)** सत्य बोलता हुआ, **(श्रद्धाम् वदन्)** सत्य धारण में प्रीति करने का उपदेश करता हुआ **(सोम)** सोम्यगुणसम्पन्न, **(राजन्)** सब ओर से प्रकाशयुक्त आत्मावाले, **(सोम)** योगैश्वर्ययुक्त **(इन्दो)** सबको आनन्ददायक संन्यासिन्! तू **(धात्रा)** सकल विश्व के धारण करनेहारे परमात्मा से अपने आत्मा का योग करके **(परिष्कृतः)** शुद्ध होता हुआ तू **(इन्द्राय)** योग से उत्पन्न हुए परमैश्वर्य की सिद्धि के लिए **(परि स्त्रव)** यथार्थ पुरुषार्थ कर।

यत्र ब्रह्मा पवमान च्छन्दस्यां३ वाचं वदन्।
ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्त्रव॥ ४॥

—ऋग्वेद ९.११३.६

शब्दार्थ—हे **(छन्दस्याम्)** स्वतन्त्रतायुक्त निर्दोष **(वाचम्)** वाणी को **(वदन्)** कहते हुए **(सोमेन)** विद्या, योगाभ्यास और परमेश्वर की भक्ति से **(आनन्दम्)** सबके लिए आनन्द को **(जनयन्)** प्रगट करते हुए **(इन्दो)** आनन्दप्रद! **(पवमान)** पवित्रात्मन्! पवित्र करनेहारे संन्यासिन्! **(यत्र)** जिस **(सोमे)** परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा में **(ब्रह्मा)** चारों वेदों को जाननेहारा विद्वान् **(महीयते)** महत्त्व को प्राप्त होकर सत्कार को प्राप्त होता है, जैसे **(ग्राव्णा)** मेघ से सब जगत् को आनन्द होता है, वैसे तू सबको **(इन्द्राय)** परमैश्वर्ययुक्त मोक्ष का आनन्द देने के लिए सब साधनों को **(परि स्त्रव)** सब प्रकार से प्राप्त करा।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्त्रव॥ ५॥

—ऋग्वेद ९.११३.७

शब्दार्थ—हे **(पवमान)** अविद्यादि क्लेशों के नाश करनेहारे, पवित्रस्वरूप! **(इन्दो)** सर्वानन्ददायक परमात्मन्! **(यत्र)** जहाँ तेरे स्वरूप में **(अजस्रम्)** निरन्तर व्यापक तेरा **(ज्योतिः)** तेज है, **(यस्मिन्)** जिस **(लोके)** ज्ञान से देखने योग्य तुझमें **(स्वः)** नित्य सुख **(हितम्)** स्थित है, **(तस्मिन्)** उस **(अमृते)** जन्म-मरण और **(अक्षिते)** नाश से रहित **(लोके)** द्रष्टव्य अपने स्वरूप में आप **(मा)** मुझ संन्यासी को **(इन्द्राय)** परमैश्वर्यप्राप्ति के लिए **(धेहि)** कृपा से धारण कीजिये

और मुझ पर माता के समान कृपा भाव से **(परि स्रव)** आनन्द की वर्षा कीजिए।

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ६॥

—ऋग्वेद ९.११३.८

शब्दार्थ—हे **(इन्दो)** आनन्दप्रद परमात्मन्! **(यत्र)** जिस तुझमें **(वैवस्वतः)** सूर्य का प्रकाश **(राजा)** विराजमान हो रहा है, **(यत्र)** जिस आपमें **(दिवः)** बिजली अथवा बुरी कामना की **(अवरोधनम्)** रुकावट है, **(यत्र)** जिस आपमें **(अमूः)** वे कारणरूप **(यह्वतीः)** बड़े व्यापक आकाशस्थ **(आपः)** प्राणप्रद वायु हैं, **(तत्र)** उस अपने स्वरूप में **(माम्)** मुझको **(अमृतम्)** मोक्ष-प्राप्त **(कृधि)** कराइये। **(इन्द्राय)** परमैश्वर्य के लिए **(परि स्रव)** आर्द्र-भाव से आप मुझको प्राप्त हुजिये।

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ७॥

—ऋग्वेद ९.११३.९

शब्दार्थ—हे **(इन्दो)** परमात्मन्! **(यत्र)** जिस आपमें **(अनुकामम्)** इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्र **(चरणम्)** विहरना है, **(यत्र)** जिस **(त्रिनाके)** त्रिविध अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख से रहित, **(त्रिदिवे)** तीन सूर्य, विद्युत्, और भौम अग्नि से प्रकाशित सुखस्वरूप में **(दिवः)** कामना करने योग्य शुद्ध कामनावाले, **(लोकाः)** यथार्थ ज्ञानयुक्त, **(ज्योतिष्मन्तः)** शुद्ध विज्ञानयुक्त मुक्ति को प्राप्त हुए सिद्ध-पुरुष विचरते हैं, **(तत्र)** उस अपने स्वरूप में **(माम्)** मुझको **(अमृतम्)** मोक्ष प्राप्त **(कृधि)** कराइये और **(इन्द्राय)** उस परम आनन्दैश्वर्य के लिए **(परि स्रव)** कृपा से प्राप्त हुजिये।

यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ८॥

—ऋग्वेद ९.११३.१०

शब्दार्थ—हे **(इन्दो)** निष्कामानन्दप्रद सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! **(यत्र)** जिस आपमें **(कामाः)** सब कामना **(निकामाः)** और अभिलाषा छूट जाती हैं **(च)** और **(यत्र)** जिस आपमें **(ब्रध्नस्य)** सबसे बड़े प्रकाशमान सूर्य का **(विष्टपम्)** विशिष्ट सुख **(च)** और **(यत्र)** जिस आपमें **(स्वधा)** अपना ही धारण, **(च)** और जिस आपमें **(तृप्तिः)** पूर्ण तृप्ति है, **(तत्र)** उस अपने स्वरूप में **(माम्)** मुझको **(अमृतम्)** प्राप्त-मुक्तिवाला **(कृधि)** कीजिए तथा **(इन्द्राय)** सब दुःख-विदारण के लिए आप मुझ पर **(परि स्रव)** करुणावृत्ति कीजिए।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ९॥
—ऋग्वेद ९.११३.११

शब्दार्थ—हे **(इन्दो)** सर्वानन्दयुक्त जगदीश्वर! **(यत्र)** जिस आपमें **(आनन्दाः)** सम्पूर्ण समृद्धि **(च)** और **(मोदाः)** सम्पूर्ण हर्ष **(च)** और **(मुदः)** सम्पूर्ण प्रसन्नता **(च)** और **(प्रमुदः)** प्रकृष्ट प्रसन्नता **(आसते)** स्थित हैं, **(यत्र)** जिस आपमें **(कामस्य)** अभिलाषी पुरुष की **(कामाः)** सब कामनाएँ **(आप्ताः)** प्राप्त होती हैं, **(तत्र)** उसी अपने स्वरूप में **(इन्द्राय)** परमैश्वर्य के लिए **(माम्)** मुझ संन्यासी को **(अमृतम्)** जन्म-मृत्यु के दुःख से रहित मोक्षप्राप्त-युक्त कि जिसके मुक्ति के समय मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता, वैसे **(कृधि)** कीजिए और इसी प्रकार सब जीवों को **(परि स्रव)** सब ओर से प्राप्त हुजिए।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळ्हमा सूर्यमजभर्तन॥ १०॥ —ऋग्वेद १०.७२.७

शब्दार्थ—हे **(देवाः)** पूर्ण विद्वान् **(यतयः)** संन्यासी लोगो! तुम **(यथा)** जैसे **(अत्र)** इस **(समुद्रे)** आकाश में **(गूढम्)** गुप्त **(आ सूर्यम्)** स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्यादि का प्रकाशक परमात्मा है, वैसे उसको **(आ अजभर्त्तन)** चारों ओर से अपने आत्माओं में धारण करो और आनन्दित होओ, वैसे **(यत्)** जो **(भुवनानि)** सब भुवनस्थ गृहस्थादि मनुष्य हैं, उनको सदा **(अपिन्वत)** विद्या और उपदेश से संयुक्त किया करो, यही तुम्हारा परम धर्म है।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ ११॥
—अथर्ववेद १९.४१.१

शब्दार्थ—हे विद्वान् संन्यासी पुरुषो! **(स्वर्विदः)** सुख को प्राप्त होनेवाले **(ऋषयः)** वेदार्थ-विद्या के द्रष्टा आप्त धार्मिक पुरुषों ने **(भद्रं इच्छन्तः)** अभ्युदय तथा निःश्रेयस अर्थात् कल्याण की इच्छा करते हुए **(अग्रे)** प्रथम **(तपः)** प्राणायाम और विद्याध्ययन, जितेन्द्रियत्वादि शुभगुणों के सेवनरूप तप को यथावत् स्थिरता से प्राप्त करके **(दीक्षां)** ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास आश्रम की दीक्षा को **(उपनिषेदुः)** जैसे प्राप्त किया है, वैसे ही तुम भी तपःपूर्वक संन्यास आश्रम की दीक्षा को प्राप्त करो। **(ततः)** तदनन्तर ही **(राष्ट्रं)** राज्य **(बलम्)** बल और **(ओजः)** पराक्रम **(जातम्)** उत्पन्न होता है। **(तत्)** उससे **(अस्मै)** इस संन्यासाश्रम के पालन के लिए **(देवाः)** सब विद्वान् लोग **(उप, सं, नमन्तु)** इस संन्यासार्थी को नमन करें ताकि यह अपने ध्येय में सफल हो।

इति संन्याससंस्कारविधिः समाप्तः॥

अन्त्येष्टि संस्कार

(विवेचनात्मक भाग)

१. क्या अन्त्येष्टि को 'कर्म' करना चाहिए या 'संस्कार'?

संस्कारविधि में 'विवाह-संस्कार' के बाद 'गृहाश्रम-संस्कार' लिखा है, और 'संन्यास-संस्कार' के बाद 'अन्त्येष्टि-कर्म' लिखा है—इससे कई व्यक्तियों के मन में यह उलझन पैदा हो जाती है कि क्या गृहाश्रम अन्य संस्कारों की तरह एक **संस्कार** है, और क्या अन्त्येष्टि अन्य संस्कारों की तरह एक संस्कार न होकर सिर्फ एक कर्म है, इसकी गणना १६ संस्कारों में नहीं होनी चाहिए? इस प्रश्न पर हम श्री रामगोपाल शास्त्री की 'संस्कारविधि मण्डनम्' पुस्तिका का उद्धरण देते हुए पहले विचार कर आये हैं। संस्कारविधि के पूर्वापर लेख को पढ़कर इस शङ्का का निवारण हो जाता है। संस्कारविधि में जो-जो संस्कार दिये गये हैं, उनमें प्रमाण देने के बाद 'विधि'—इस शीर्षक से उस संस्कार की विधि भी दी गई है, गृहाश्रम का वर्णन करते हुए उसके लिये कोई विधि नहीं दी गई, अन्त्येष्टि का वर्णन करते हुए 'विधि' दी गई है—इससे स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द की दृष्टि में गृहाश्रम 'कर्म' है, अन्त्येष्टि 'संस्कार' है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट है कि किसी की भूल से गृहाश्रम के साथ 'संस्कार' और अन्त्येष्टि के साथ 'कर्म' छिप गया है, अन्यथा गृहाश्रम के साथ 'कर्म' तथा अन्त्येष्टि के साथ 'संस्कार' होना चाहिए था। इस दृष्टिकोण की इस बात से भी पुष्टि होती है कि गृहाश्रम में जो प्रकरण दिये गये हैं, उनमें अनेक मन्त्र तथा श्लोक देकर पहले गृहस्थी के कर्तव्यों का अर्थसहित वर्णन है, फिर सन्ध्या तथा हवन का वर्णन है, फिर शालाकर्म का वर्णन है, फिर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लक्षणों का वर्णन है। इसमें शालाकर्म की विधि दी गई है, अन्य किसी प्रकार का संस्कार नहीं दिया गया। कुछ विद्वानों का इस सबके आधार पर यह कहना ठीक है कि संस्कारविधि में जैसे वेदारम्भ-संस्कार के अन्त में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्यों का वर्णन दिया गया है, वैसे भी विवाह संस्कार का भाग होने के कारण विवाह-संस्कार के परिशिष्ट के रूप में गृहस्थी के कर्त्तव्यों का वर्णन दिया गया है और संस्कारों की १६ गणना करते हुए तत्वत: अन्त्येष्टि-संस्कार की ही गणना है, गृहाश्रम की नहीं। शीर्षक में अन्त्येष्टि-कर्म लिखते हुए भी इस प्रकरण से भीतर इसका 'विधि-भाग' लिखा गया है। 'विधि-भाग' लिखने के कारण 'अन्त्येष्टि-कर्म' से असली अभिप्राय 'अन्त्येष्टि-संस्कार' से है। अन्य संस्कारों की तरह इस संस्कार के अन्त में भी 'इति मृतक संस्कारविधि: समाप्त:' लिखा है—जिसका अभिप्राय यही हो सकता है कि

ऋषि दयानन्द की दृष्टि में यह भी एक संस्कार है।

२. यह अन्तिम संस्कार है—इसके बाद कोई कर्म नहीं रहता

संस्कार विधि के निम्न वाक्य मनन करने योग्य हैं—'अन्त्येष्टि-कर्म उसको कहते हैं जो शरीर के अन्त का संस्कार है, जिसके आगे उस शरीर के लिए कोई भी अन्य संस्कार नहीं है। इसी को नरमेध, नरयाग, पुरुषयाग कहते हैं।' यजुर्वेद अध्याय ४०, मन्त्र १५ का उद्धरण देकर लिखा है—'**भस्मान्तꣳशरीरम्**' शरीर की सत्ता भस्म होने तक ही है। मनुस्मृति में कहा है—'निवेकादि श्मशानान्तो मन्त्रैः यस्योदितो विधिः'—शरीर का प्रारम्भ—मिषेक—ऋतुदान और अन्त श्मशान अर्थात् मृतक-कर्म है। संस्कारविधि में लिखा है—'यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट है कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्तव्य नहीं है।' पुराणों के दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डी-कर्म, मासिक, वार्षिक, गया-श्राद्ध आदि क्रियाओं के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—'ये सब मिथ्या हैं, क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है, इसलिए अकर्तव्य है। मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व-सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता और न इन जीते हुए सम्बन्धियों का, वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है।'

श्रद्धापूर्वक कोई अपने पूर्वजों की याद किया करे—इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं, परन्तु श्राद्ध करके, ब्राह्मणों को भोज खिला कर मृत-पूर्वजों तक भोजन का पहुँचना आदि कल्पनाएँ बुद्धिसङ्गत नहीं है।

३. तो फिर मरने के बाद आत्मा का क्या होता है?

यह कल्पना कि मरने के बाद आत्मा 'यमलोक' को जाता है—एक मिथ्या-कल्पना है। इस कल्पना का आधार गरुड़ पुराण आदि में यमलोक का वर्णन है, परन्तु यह बात वेदों के 'यम' शब्द को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है। वेदों में 'यम' शब्द का प्रयोग अनेक पदार्थों के लिए हुआ है, जिसे न समझकर 'यम' का अर्थ 'यमलोक' कर दिया गया है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद, (मं० १, सूक्त १६४, मन्त्र १५) में लिखा है—'**षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति**'; (मं० २, सूक्त ५, मन्त्र १) में लिखा है—'**शकेम वाजिनो यमम्**'; (मं० १०, सूक्त १४, मन्त्र १३) में लिखा है—'**यमाय जुहुता हविः। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः**'; (मं० ८, सूक्त २४, मन्त्र २२) में लिखा है—'**वाजितं यमम्**'; (मं० १, सूक्त १६४, मन्त्र ४६) में लिखा है—'**यमं मातरिश्वानमाहुः**'; (यजुर्वेद, अध्याय ८, मन्त्र ५७) में लिखा है—'**यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः**'—इत्यादि। इन सब मन्त्रों में 'यम' का अर्थ 'यमलोक' नहीं है। इसके अतिरिक्त ऋतुओं, अग्नि, वायु, विद्युत्, सूर्य, परमेश्वर—इन सबके लिये 'यम' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'यम' का अर्थ है—

नियमन करनेवाला, अनुशासन में रखनेवाला।

आत्मा मरने के बाद वाय्वालय, अर्थात् अन्तरिक्ष का जो यह पोल है, उसमें जाता है, और यथासमय अपने कर्मों के अनुसार जन्म को ग्रहण करता है।

अन्त्येष्टि-संस्कार में जो मन्त्र पढ़े जाते हैं, उनमें बार-बार इस बात को दोहराया गया है कि जीव शरीर को छोड़कर अपने कर्मानुसार जन्म को धारण करता है। ऋषि दयानन्द ने इन मन्त्रों का चुनाव बड़ी योग्यता से किया है, उन मन्त्रों का हमने हर जगह अर्थ दिया है। अन्त्येष्टि-संस्कार करते हुए उन मन्त्रों की गहराई को समझने का प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि उनमें बड़े गहरे सत्यों का वर्णन है।

४. मरने के बाद क्या आत्मा सर्वथा शरीर से मुक्त हो जाता है?

मरने के बाद यह स्थूल-शरीर तो छूट जाता है, परन्तु क्या उसका कोई सूक्ष्म-शरीर बना रहता है? जो लोग पुनर्जन्म मानते हैं, उनका पुनर्जन्म मानने का मुख्य-कारण कर्म का सिद्धान्त है। कर्म कहाँ रहते हैं? कर्म का आधार तो शरीर है, शरीर में भी हमारा मस्तिष्क है। मस्तिष्क में कर्म के संस्कार जमा रहते हैं। परन्तु मर जाने पर जब मस्तिष्क ही समाप्त हो जाता है, तब कर्मों के संस्कार किस आधार पर विद्यमान रहेंगे? शरीर के भस्म हो जाने पर मस्तिष्क भी भस्मित हो गया, मस्तिष्क भस्म हो गया, तो कर्मों के संस्कार भी भस्म हो गये, कर्मों के संस्कार ही न रहे, तो पुनर्जन्म का आधार क्या रहा?

इसी शङ्का की निवृत्ति के लिए भारतीय विचारकों ने सूक्ष्म-शरीर की कल्पना की है। सूक्ष्म-शरीर को लिङ्ग-शरीर, कारण-शरीर, आतिवाहिक-शरीर—इन भिन्न-भिन्न नामों से स्मरण किया जाता है। यह शरीर सूक्ष्म भौतिक-तत्त्वों से बना है, इतने सूक्ष्म कि इसे भौतिक होते हुए भी अभौतिक कहा जाता है, और क्योंकि पञ्चेन्द्रियों के भौतिक-शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता, इसलिए हमारे कर्मों के संस्कार इस सूक्ष्म-शरीर में बने रहते हैं, जो अगले जन्म में अपना फल लाते हैं। सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में ऋषि दयानन्द लिखते हैं कि शरीर तीन हैं—एक स्थूल जो दीखता है, दूसरा सूक्ष्म-शरीर जिसके दो भेद हैं—भौतिक तथा अभौतिक। यह अभौतिक-शरीर मुक्ति में भी रहता है, इसी से जीव मुक्ति में सुख भोगता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि शरीर के मर जाने पर भी आत्मा के साथ एक अन्य शरीर बना रहता है जो हमारे कर्मों का आधार है, अन्यथा आत्मा के भीतर तो कोई वस्तु नहीं, जिसमें कर्म संगृहीत रूप में बने रहें। आत्मा के इस सूक्ष्म-शरीर के सम्बन्ध में जो भारतीय दार्शनिक विचार हैं उसकी वर्तमान खोजों से भी पुष्टि हुई है।

५. स्थूल-शरीर छूट जाता है, सूक्ष्म-शरीर बना रहता है ?

श्री रेमौंड ए. मूडी ने पिछले दिनों एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है—Life After Life—'जीवन के बाद जीवन'। इस पुस्तक में से कुछ उद्धरण Illustrated Weekly of India के ५, १२, १९ मार्च १९७७ के अङ्कों में प्रकाशित हुए हैं। लेखक का कहना है कि उन्होंने १५० ऐसे व्यक्तियों से भेंट की जो चिकित्सकों के निर्णय के अनुसार मर चुके थे, परन्तु कुछ समय मरणावस्था में रहकर फिर जी उठे थे। उन्होंने मृत्यु के बाद क्या होता है—इस विषय पर प्रकाश डाला, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि इस शरीर को छोड़ देने के बाद आत्मा अपने को एक ऐसे सूक्ष्म-शरीर में पाता है जो इस शरीर के छूटने पर भी वह शरीर नहीं छूटता।

एक व्यक्ति का जो डूबकर जी उठा उद्धरण देते हुए श्री मूडी लिखते हैं—''मैं १७ वर्ष का था, मेरा भाई एक पार्क में काम करता था। एक दिन हमने तय किया कि हम लोग तैरने चलेंगे। मैं तैरता हुआ मझधार में चला गया। मझधार में जाते ही मैं डूबने लगा, पानी में डूबता चला गया, मुख से बुदबुदे निकलने लगे। मुझे ऐसा लगा कि मैं अपने शरीर से जुदा हो गया, सब सङ्गी-साथियों से अलग, दूर—और मैंने देखा कि मेरा शरीर मुझसे ३-४ फीट की दूरी पर पानी में डूबता चला जा रहा है। इस अवस्था में भी जबकि मैं देख रहा था कि मेरा शरीर मेरे साथ नहीं है, मुझे अनुभव हो रहा था कि मेरा कोई शरीर है।''

उक्त पुस्तक में इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त दिये गये हैं, जिनसे प्रकट होता है कि इस स्थूल-शरीर को छोड़ने के बाद हमारी चेतना किसी सूक्ष्म-शरीर के साथ बंधी रहती है जो भौतिक होता हुआ भी इतना सूक्ष्म है कि उसे अभौतिक कहा जा सकता है। यह अवस्था ऐसी है जब आत्मा का स्थूल-शरीर के साथ सम्बन्ध छूट जाता है, आत्मा अपने सूक्ष्म-शरीर से अपने स्थूल-शरीर को, अपने से अलग पड़ा हुआ देखता है। यह सूक्ष्म-शरीर ही इस जन्म के कर्मों के संस्कारों को अपने में समेटे हुए जन्म-जन्मान्तर का चक्कर लगाता है। यही सूक्ष्म-शरीर पुनर्जन्म का आधार है।

इसी आधार पर वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार मृत्यु सिर्फ चोला बदलने का नाम है जिसे गीता में कहा है—**'न जायते म्रियते वा कदाचित्'।**

६. पुनर्जन्म

पुनर्जन्म का विचार संसार को भारत की देन है। पाश्चात्य-जगत् में जहाँ-जहाँ भी यह विचार फैला वह पाइथोगोरस द्वारा प्रचारित किया गया और पाइथोगोरस को यह विचार भारत से मिला। कई पाश्चात्य-विचारक कहते हैं कि भारत में पुनर्जन्म का विचार बाहर से आया, परन्तु वे इस भ्रान्ति में इसलिए पड़ जाते हैं, क्योंकि उन्हें वेदों का ज्ञान नहीं है। वेद सृष्टि के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं—इसे पाश्चात्य-विद्वान् भी

मानते हैं। ऋग्वेद (१०.५९.६-७) में लिखा है—

असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम्।
ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृळया नः स्वस्ति॥
पुनर्नो असुं पृथिवी ददातु पुनर्द्यौर्देवी पुनरन्तरिक्षम्।
पुनर्नः सोमस्तन्वं ददातु पुनः पूषा पथ्यां३ या स्वस्तिः॥

अर्थात्, असुनीते! हे परमेश्वर—जो जीव को एक देह से दूसरे देह में ले जाता है—हमें अगले जन्म में फिर—पुनः आँख, पुनः प्राण, पुनः अन्य भोग प्राप्त हों। हम पुनः सूर्य की ज्योति को उदय होता हुआ देखें—इत्यादि।

अथर्ववेद (७.६.६७.१) में लिखा है—

पुनर्मा एतु इन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च॥

—अर्थात्, मुझे फिर से इन्द्रियाँ मिलें, फिर से शरीर मिले, फिर से धन-धान्य मिलें, फिर से ब्रह्म-तेज मिले।

भारत में पुनर्जन्म के विचार की जड़ इतनी मजबूत थी कि अलैग्जैण्डर (३५६-३२३ ई.पू.) जब वह इस देश पर आक्रमण करता हुआ आया तब उसने कई हिन्दुओं को इसी विचार की दृढ़ता के कारण अपने शरीर को आग में शान्त-भाव से आहुति देते हुए देखा।

पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं, जिनका उल्लेख हमने अपने ग्रन्थ 'वैदिक-विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' में विस्तार से किया है, परन्तु हम यहाँ दो युक्तियाँ, जिन पर वैज्ञानिकों को पूर्वाग्रह छोड़कर विचार करना चाहिए, दे रहे हैं—

(१) कारण-कार्य का नियम—विज्ञान का सारा-भवन कारण-कार्य के नियम की अखण्डता पर खड़ा है। दार्शनिक परिभाषा में कारण-कार्य के नियम का स्वरूप गीता (अध्याय २, श्लोक १६) में यह कहा है—'नासतो विद्यते भावः नाभावः विद्यते सतः'—जो असत् है उसकी सत्ता नहीं हो सकती, जो सत् है उसका अभाव नहीं हो सकता। इसी अखण्ड नियम पर दृढ़ रहते हुए अन्त्येष्टि-संस्कार में कहा गया है—तेरा पाँच-भौतिक शरीर अपने-अपने तत्त्वों में विलीन हो जाए। इन तत्त्वों के अलावा चेतना भी एक तत्त्व है जो इन महाभूतों से उत्पन्न नहीं होता, जिसकी स्वतन्त्र रूप में अपनी सत्ता है, जिसे आत्मा कहा जाता है। शरीर के मर जाने पर उस चेतन-सत्ता का क्या होता है? अगर वह नष्ट नहीं होती, तो वह बनी रहती होगी, बनी रहती होगी तो उन कर्मों का क्या होता है, जिन्हें उसने किया, परन्तु जिनका फल उसने भोगा नहीं। अभुक्त कर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म को मानना ही एक युक्तियुक्त हल है, अन्यथा कारण के रहते कार्य का न होना एक अखण्ड नियम का टूट जाना होगा। अगर मृत्यु होते ही आत्मा भी मर जाती, तब दूसरी बात थी,

परन्तु विज्ञान के अनुसार तो यह नश्वर कहा जानेवाला शरीर भी नष्ट नहीं होता, इसका भी रूपान्तरण हो जाता है, फिर चेतना—आत्मा—की बात ही दूसरी है। चेतना पार्थिव तत्त्वों से नहीं बनी, चेतना अपने-आप में प्रतिष्ठित है, वह रूपान्तिरित होगा तो चेतना ही रहेगी। उसके साथ उसके अभुक्त कर्म भी रहेंगे। ये अभुक्त-कर्म उसे पुनर्जन्म में बरबस घसीटेंगे।

(२) पुनर्जन्म के अनेक दृष्टान्त पाये जाते हैं—इस जन्म और अगले जन्म के बीच एक ऐसा पर्दा पड़ा है, जिसे लाङ्घ जाना सम्भव नहीं है, हमें पता नहीं चलता कि मरने के बाद आत्मा कहाँ चला जाता है, परन्तु आये दिन ऐसे दृष्टान्त भी पाये जाते हैं, जिनके अनुसार अपवाद रूप में कोई-कोई व्यक्ति पिछले जन्म की बातों को याद कर जाते हैं। पाथोगोरस, सर वाल्टर स्कॉट तथा विलियम होम के लेखों के अनुसार पता चलता है कि उन्हें अपने किसी पूर्वजन्म की स्मृति हो आई थी। भारत में तो पुनर्जन्म के अनेक दृष्टान्त मिले हैं। श्री सन्तराम बी.ए. ने अपनी पुस्तक 'जन्म-मरण की पहेली' में अपनी जानकारी पर एक लड़की का जिक्र किया है जो होशियारपुर जिले के 'नारा' गाँव में मरी थी और इस जन्म में जालन्धर में पैदा हुई थी। इस लड़की ने 'नारा' गाँव में आकर अपने पिछले जन्म के सब सम्बन्धियों तथा अपने मकान को पहचान लिया। यह घटना १३ जुलाई १९७० की है। श्री पण्डित सुरेन्द्र शर्मा काव्यतीर्थ ने भी अपनी जानकारी के आधार पर 'आर्यमित्र' के २८ नवम्बर १९३५ के अङ्क में दिल्ली की शान्तिदेवी के पुनर्जन्म का वर्णन किया है। पण्डित चन्द्रमणि विद्यालङ्कार ने अपने 'दून समाचार' पत्र के २६ जुलाई १९५२ के अङ्क में देहरादून के सेठ रामकिशोर की पुरी के एक अन्य स्थान में जन्म लेने की बात लिखी है। यह लड़की अब बड़ी हो गई है और अब इसका नाम मृदुला शर्मा है, बैंगलौर में रहती है। इन दृष्टान्तों का विस्तृत विवरण हमने अपनी पुस्तक 'वैदिक-विचारधारा का वैज्ञानिक आधार' में दिया है। हम यहाँ पुनर्जन्म के दो और उदाहरण दे रहे हैं—

(क) पिछले दिनों 'नवभारत-टाइम्स' के २५ अगस्त १९७६ के अङ्क में आचार्य बलराम शास्त्री ने अपनी देखी एक घटना प्रकाशित की है, जिसे हम यहाँ दे रहे हैं—

''पुनर्जन्म के अनुसन्धान में मुझे फर्रूखाबाद जनपद और मैनपुरी जनपद में बहुत बार जाना पड़ा। इन गाँवों में फर्रूखाबाद जनपद का गुठना गाँव कायमगंज तहसील में है, यह बौद्धों के प्रसिद्ध तीर्थस्थल संकिसा के पास पड़ता है। जिला मैनपुरी में भोगाँव एक तहसील है, इसी तहसील में भैंसरोली एक गाँव है, इसी गाँव में एक विचित्र घटना घटी। भैंसरोली गाँव के पास से ही काली नदी (कालिंदी) बहती है, बरसात में इस छोटी नदी का रूप बहुत भयानक हो जाता है। भैंसरोली

गाँव में श्री चन्द्रभान नामक एक ब्राह्मण रहते हैं। श्री चन्द्रभान को आज से १२ वर्ष पूर्व एक अपराध में जेल की सजा हो गई थी।

घर में चन्द्रभान की पत्नी रहती थी। उनके बन्दी-जीवनकाल में उनकी पत्नी मर गई। अब चन्द्रभान की माता और एक छोटी कन्या ही उस घर में रह रही थीं। श्री चन्द्रभान सम्पन्न थे, उनके पास एक कलमी आम का बाग है, अच्छी खेती होती रही। चन्द्रभान की कन्या का नाम गायत्री है। गायत्री की अवस्था बढ़ती गई और एक दिन चन्द्रभान जेल से छूटकर घर आये। उनके पास एक भैंस भी थी, जो दूध देती थी। भैंस का दूध पड़ोस का एक युवक दूह देता था। गायत्री गाँव के उस युवक को भैंस के दूध दोहने के कारण यदा-कदा कुछ दूध दे देती थी।

चन्द्रभान जब जेल से छुटकर घर आये तो किसी ने उनसे युवक और गायत्री के परस्पर सम्बन्धों के बारे में कुछ कह दिया। चन्द्रभान कन्या की मजबूरी और असहायावस्था पर भी कुछ विचार न कर सके, उन्होंने वह सब सुनने के आधार पर ही कन्या को बुरी तरह फटकार दिया। अपनी दादी के साथ असहायावस्था में दिन काटनेवाली गायत्री अपने एकमात्र पिता की खरी-खोटी सुनने को तैयार न थी। उसे बहुत दिनों के बाद जेल से छुटकर आनेवाले पिता से वात्सल्य की अपेक्षा थी। उसके स्थान पर फटकार मिली, माता के प्यार से वह पहले ही वञ्चित थी, इससे वह बहुत क्षुब्ध हो उठी। बरसात और कालीरात्रि के अन्धकार को ही अपने माता-पिता के रूप में मानकर गायत्री निस्तब्ध रात्रि में उठी और लपलपाती लहरों में समा गयी। नदी की भयावनी धारा ने उसे अपनी गोदी में समेट लिया और गायत्री की इहलीला समाप्त हो गई। प्रातः गायत्री के डूबकर मर जाने की चर्चा गाँव के लोगों में कानाफूसियों द्वारा पहुँची। भैंसरोली गाँव के लोग आपस में मिल-जुलकर रहते रहे, गाँव की प्रतिष्ठा बचानी थी, गाँव की बात गाँव तक रह गई, पुलिस आई और बिना किसी प्रमाण-साक्ष्य के वापस चली गयी।

दिन-पर-दिन बीतते गये। गायत्री के मरने के बाद चन्द्रभान बहुत दिनों तक शोक-सन्तप्त रहे, एक-मात्र कन्या थी, वह भी नहीं रही। यह घटना १९५७ ई. के लगभग की है।

उसके बाद गुठना गाँव में, सन् १९५८ में एक कन्या का जन्म हुआ। उसका नाम भी संयोग से गायत्री रखा गया है। गायत्री के पिता का नाम श्री प्रेमचन्द्र शुक्ल है। कन्या गायत्री जब ६ साल की हुई तो आषाढ़ मास के प्रथम सप्ताह में एक दिन प्रेमचन्द कुछ आम लेकर घर में आये। प्रेमचन्द ने आम कन्या को खाने के लिए दिये। कन्या आम खाने बैठी, श्री प्रेमचन्द भी आम खाने लगे, आम खाते ही सहसा वह लड़की चौंकी और जोर से बोली—पिताजी! चलो मेर गाँव। मैं आपको बड़े-बड़े आम खिलाऊँ, यह तो छोटे-छोटे आम हैं, मेरे गाँव में बहुत मीठे-मीठे आम

हैं। प्रेमचन्द, बिना किसी बात का विचार किये बोले—'तुम्हारा कौन गाँव है?' कन्या ने उसी भाव-भङ्गिमा में कहा—'भैंसराय'। प्रेमचन्द ने कन्या की उस चर्चा को बचकानी बात माना। प्रेमचन्द का ध्यान उस समय कन्या की बात पर विशेष रूप से आकृष्ट हो गया, जब वह कन्या बार-बार अपने भैंसराय गाँव का नाम लेने लगी। कन्या ने अपनी पूर्व-चर्चा के सन्दर्भ में कहा—'पिताजी! इसके पहले मेरा भैंसराय गाँव था, वहाँ मेरी दादी है, वहाँ मेरे पिता हैं, मेरे पिता एक दिन नाराज हो गये और मैं पानी में डूबकर मर गई। आप मेरे साथ चलो—मैं आपको अपना गाँव और घर दिखा दूँ'। कन्या की बात पर प्रेमचन्द ने कुछ ध्यान अवश्य दिया, किन्तु रहस्य का उद्घाटन न हो सका। बात आई-गई हो गयी, कन्या की बात बचकानी बात मानी गई।

मैनपुरी में चैत्र शुक्ल-पक्ष (नवरात्र) में प्रदर्शनी का आयोजन होता है। प्रदर्शनी को देखने के लिए श्री प्रेमचन्द शुक्ल अपनी कन्या को लेकर सन् १९६६ ई० में पहुँचे थे। प्रदर्शनी देखकर वह वापस आने का विचार कर रहे थे कि श्री प्रेमचन्द की कन्या ने एक चाट की दुकान पर चाट खाने का आग्रह किया। उसे कुछ पैसे देकर प्रेमचन्द बगल में खड़े हो गये, कन्या चाट खाने लगी। सभी सहसा एक आदमी को उसने पान की दुकान पर पान खाते देखा और उसे पहचान लिया। कन्या उसके पास पहुँची। श्री प्रेमचन्द्र भी उसके साथ हो लिये। उस अपरिचित व्यक्ति से जिसे प्रेमचन्द भी नहीं पहचान सके थे, कन्या ने कहा—'सुनो! लाओ पैसा'।

एक अपरिचित कन्या द्वारा इस प्रकार पैसा माँगे जाने पर वह व्यक्ति पहले कुछ हिचकिचाया, फिर उसने बीस पैसे जेब में से निकालकर उसे दे दिये। बीस ही पैसे देखकर कन्या ने मुँह बिचकाकर कहा—'बस! बीस ही पैसे'। वह व्यक्ति और भी चकराया, सभ्य परिवार की कन्या पैसे माँगे और कम पैसे देख मुँह भी बिचकाये, यह सब बात उसे बड़ी अजीब लगी। उसने कन्या की ओर पुनः उत्सुकता से दृष्टिपात किया। एक ओर खड़े होकर श्री प्रेमचन्द सब देखते रहे। कन्या ने उस अपरिचित व्यक्ति से कहा—'तुमसे मैंने पैसे माँगे और तुमने बीस ही पैसे दिये! तुम्हें शर्म नहीं आई! तुम्हारे लिये मुझे अपनी जिन्दगी गँवानी पड़ी और तुमने बीस ही पैसे निकाले!'

कन्या की यह बात सुनकर वह व्यक्ति आश्चर्य में डूब गया। वह कुछ प्रश्न करना चाहता था, तब तक वह कन्या कुछ और आवेश में आकर बोल उठी—'महेश! तुमने मुझे पहचाना नहीं, मैं चन्द्रभान की लड़की गायत्री हूँ, तेरे नाम पर मर गई, और अब मैं गठना में हूँ। देखो, वह मेरे पिताजी हैं।' श्री प्रेमचन्द तब तक कन्या के पास पहुँच चुके थे। कन्या और महेशचन्द्र की बात भी वह ध्यान से ही सुन रहे

थे। श्री प्रेमचन्द को कन्या की गाँव के बाबत कही हुई पुरानी बातें याद आ गयीं, वह यह समझने का प्रयास करने लगे कि यह आदमी कहाँ का है? और, यह लड़की इसे कैसे पहचान रही है? क्या-क्या बातें कर रही है? तभी वहाँ पर चन्द्रभान भी आ पहुँचे। चन्द्रभान भी प्रदर्शनी देखने आये थे, महेशचन्द्र भी प्रदर्शनी देखने आये थे।

स्मरण रहे कि मैनपुरी से भैंसरोली गाँव केवल दस किलोमीटर दूर है। मोटा रेलवे स्टेशन से भैंसरोली गाँव काफी नजदीक है। मैनपुरी से दूसरा स्टेशन मोटा है, और तीसरा स्टेशन परवना है। परवना स्टेशन के पास ही गुठना गाँव है। परवना, मोटा, मैनपुरी स्टेशन शिकोहाबाद, फर्रूखाबाद की शाखा लाइन पर है।

श्री प्रेमचन्द, चन्द्रभान और महेशचन्द्र—तीनों व्यक्ति एक ही स्थान पर एकत्र हो गये। श्री चन्द्रभान को देखकर पहले वह कन्या कुछ हिचकी, परन्तु थोड़ी देर में उनसे चिपट गई और रोने लगी।

गायत्री के व्यवहार और चन्द्रभान से चिपटकर रोने पर तीनों व्यक्ति आश्चर्यचकित थे। तीनों ने गायत्री के कथन का परीक्षण करने का विचार किया। वे भैंसरोली गाँव पहुँचे। स्मरण रहे कि श्री प्रेमचन्द की कन्या गायत्री इस भैंसरोली गाँव को ही भैंसराय गाँव कहती थी।

सर्वश्री प्रेमचन्द, महेशचन्द्र और चन्द्रभान तीनों कन्या को लेकर भैंसरोली पहुँचे। गाँव में प्रवेश करने से पूर्व कन्या सबसे आगे-आगे चलने लगी थी, और बिना किसी हिचक के चन्द्रभान के मकान में घुस गई। वह कन्या जब उस मकान में घुसी तो उसके साथ तीनों आदमी उस मकान में पहुँचे। थोड़ी देर में गाँव की बहुत-सी स्त्रियाँ आ गईं। प्रेमचन्द की कन्या से गाँव की कुछ स्त्रियों के बारे में पूछा गया तो कन्या ने जिन्हें गायत्री जानती थी, पहचान लिया, पूर्व-जन्म की परिचित स्त्रियों को अपना परिचय दिया। सबसे आश्चर्य की बात यह कि वह कन्या एक स्त्री को भाभी कहकर लिपट गई। पता लगाने पर मालूम हुआ कि गायत्री उस पड़ोस की स्त्री से बहुत प्रेम करती थी और वह स्त्री भी गायत्री को बहुत मानती थी। भाभी कहते ही उस स्त्री की आँखों से आँसू बहने लगे और तब चन्द्रभान की दृढ़ता भी समाप्त हो गई, तदनन्तर चन्द्रभान गायत्री के पूर्व जीवन का स्मरण करके फफक-फफक कर रोने लगे।

उपर्युक्त घटना की जाँच करने के लिए मैं कई बार गुठना गया। वह कन्या तीन बार मेरे बुलाने पर मेरे घर आई। पुनर्जन्म की इस घटना में कई विचित्र बातें सामने आईं। इस कन्या का नाम पूर्वजन्म में भी गायत्री था और इस जन्म में भी गायत्री नाम रखा गया; पूर्वजन्म में भी वह ब्राह्मण परिवार में जन्मी थी और इस जन्म में भी उसे ब्राह्मण परिवार मिला; भैंसरोली गाँव और गुठना गाँव में १-२ किलोमीटर का

अन्तर है।''

(ख) ९ जनवरी १९७७ के 'नवभारत-टाइम्स' में श्री व्रजेन्द्र राही ने पूर्व-जन्म की बातें बतानेवाले एक बालक का वर्णन किया है जो इस प्रकार है—

''पूर्व-जन्म की घटनाओं के सम्बन्ध में कई किस्से-कहानियाँ सुनने को मिलते रहते हैं, वस्तुतः वैज्ञनिक अभी भी इस खोज में लगे हैं कि जो मनुष्य कुछ वर्षों की घटनाओं को याद नहीं रख सकता, वह पिछले जन्म की बातों को कैसे याद रख लेता है?

मनुष्य का मस्तिष्क भी कितने विचित्र प्रकार की मशीन है कि पूर्व-जन्म की घटनाएँ कम्प्यूटर की तरह उसमें समाई रह सकती हैं। पूर्व-जन्म की घटनाएँ कितनी सच्ची होती हैं, इसके बारे में सुनना कई बार अटपटा लगता है, लेकिन उस दिन मैं सचमुच चौंक गया जब मेरी मुलाकात साढ़े सात वर्ष के बालक राकेश गौड़ से हुई। यह बालक कांकरौली के पोस्ट मास्टर श्री सत्यनारायण गौड़ का लड़का है, उसने जो कुछ बताया उसकी जाँच उसके पिता ने बालक को उसके पूर्व-जन्म के स्थान पर ले जाकर की। मैंने स्वयं इस बालक से प्रश्न ही नहीं किये, बल्कि उन पत्रों को भी देखा जो उसके पूर्व-जन्म के पुत्रों ने लिखे हैं।

कई दिनों से राकेश ने जाने क्या जिद्द लगा रखी थी कि मुझे टोंक ले चलो, वहाँ मेरे बाल-बच्चे हैं, मेरी पत्नी है, मेरा घर है। बालक की बात सुनकर पहली बार उसके पिता को आश्चर्य हुआ, किन्तु जब वह रोज-रोज इन बातों को दोहराने लगा तो उन्होंने सोचा कि जरूर कोई ऐसी बात होगी, जिसके कारण यह बालक इतना जोर दे रहा है। आमतौर पर साढ़े सात वर्ष का यह बच्चा सभी प्रकार के सामान्य व्यवहार करता है, किन्तु जब उसे पूर्व-जन्म की याद आ जाती है तो न जाने वह किस दुनिया में खो जाता है, उसकी बातचीत का रूख बड़े आदमी की तरह का हो जाता है।

उस दिन मेरे साथ जयपुर से प्रकाशित होनेवाले एक दैनिक 'राजस्थान पत्रिका' के संवाददाता श्री बहादुर सिंह सरुपरिया और भोपाल से प्रकाशित होनेवाले पाक्षिक 'गोरा बादल' की सम्पादिका श्रीमती सरोज ललवानी भी साथ थीं। जब बालक राकेश ने पूर्व-जन्म की घटनाओं के बारे में बताया तो हम रोमांचित हो गये।

पूर्व-जन्म में यह बालक राजस्थान के टोंक कस्बे में रहता था तथा इसके पिता का नाम गणेशलाल और जाति से सुनार था। वह अपने पिता की एकमात्र सन्तान था। वहाँ छीपों के मोहल्ले में चार कमरों वाले एक मकान में रहता था। बालक का पूर्व-जन्म का नाम विट्ठलदास था। विट्ठल आठवीं कक्षा में फेल हो जाने के कारण आगे नहीं पढ़ पाया और उसके पिता ने उसे ४६ रुपये मासिक में बिजली विभाग में लाइनमैन की नौकरी लगा दी। उसकी शादी श्रीमती केसर के साथ हुई,

जो आज भी जीवित है, घर में उसका नाम मल्ला है। श्याम रंग की वह महिला विट्ठल के प्रति असीम प्यार समेटे हुई थी। विट्ठल के पिता की मृत्यु उसके शादी के कुछ वर्ष बाद हो गई, तब उसकी उम्र २८ वर्ष थी। ईश्वर ने घर में खुशहाली के पौधे लगा रखे थे। विट्ठल खुश क्यों न होता। उस घर के आङ्गन में दो बेटे भँवरलाल और बाबूलाल किलकारियाँ भरते रहते थे। ऐसे खुशहाली के माहौल में वह निरन्तर फल-फूल रहा था। विधि का लेखा किसने मिटाया है। उस वक्त विट्ठल की उम्र ३६ वर्ष थी और एक दिन बिजली की लाइन ठीक करते-करते अचानक करंट लग जाने से उसकी मृत्यु हो गई। इसे आश्चर्य ही कहा जायेगा कि विट्ठल के पिता गणेशलाल खाती के ललाट पर दोनों भौहों के बीच जन्म से ही एक लाल बिंदी थी। वही बिंदी स्व० विट्ठल के ललाट पर भी थी, जो अब राकेश के ललाट पर भी देखी जा सकती है।

पोस्ट मास्टर श्री गौड़ १४ अक्तूबर १९७६ को टोंक गये और उन्होंने बालक राकेश द्वारा बताई गई बातों की सत्यता जाननी चाही। उनका वहाँ कोई था नहीं सो वे सीधे पोस्ट आफिस गये। वहीं से उन्होंने सारी बातों की जानकारी की। जब श्री गौड़ ने अपने टोंक आने का उद्देश्य पोस्ट आफिस के अधिकारियों और कर्मचारियों को बताया तो वे भी चौंक गये।

शाम का समय था। यह खबर टोंक में बिजली की तरह फैल गई। कितना विचित्र संयोग कहा जायेगा कि राकेश उर्फ पूर्व-जन्म के विट्ठलदास की पत्नी श्रीमती केसर को इसकी सूचना मिली तो वह भी अपनी बहिनों के साथ पोस्ट आफिस के लिए रवाना हुई। जिस क्षण वह अपने घर से रवाना हुई उसी क्षण श्री गौड़ साहब टोंक के रेडियो इंस्पेक्टर को अपने साथ लेकर विट्ठलदास के घर के लिए निकले। रास्ते में एक गली के मोड़ पर स्व० विट्ठल का बड़ा लड़का भँवरलाल आता हुआ दिखाई दिया जिसे देखकर बालक राकेश ने हाथ उठाकर रोका और मुस्कराया। भँवरलाल सरकारी स्कूल में अध्यापक है। वे अभी कुछ कदम आगे बढ़े ही थे कि सामने से तीन औरतें आती दिखाई दीं। जामुनी रंग की साड़ी और उसी रंग का ब्लाउज पहिने औरत की ओर इशारा करते हुए बालक राकेश ने कहा—'देखो वह आ रही है।' उस वक्त का दृश्य इतना कारुणिक हो आया था कि पोस्ट मास्टर श्री गौड़ मुझे सुनाते हुए द्रवित हो उठे। टोंक में भीड़ उमड़ पड़ी, बालक कुछ घबरा गया था, सो उसी रात्रि कांकरौली के लिए रवाना हो गये।

स्व० विट्ठलदास का बड़ा लड़का मास्टर भँवरलाल हाल ही में कांकरौली में होकर गया है। उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा कि इस बच्चे में उनके पिता की आत्मा है। स्व० विट्ठलदास की पत्नी दिसम्बर में कांकरौली आनेवाली है। कितनी विचित्र बात है। विधि की कैसी माया है। कौन जाने मनुष्य ईश्वर की माया के पर्दे कब उठा

पायेगा?''

७. पुनर्जन्म के विषय में सन्देह पर दार्शनिक-विवेचन

पुनर्जन्म के विषय में अनेक सन्देह की बातें उठ खड़ी होती हैं। सबसे बड़ा सन्देह यह किया जाता है कि पुनर्जन्म के माननेवाले यह नहीं समझा पाते कि जिन लोगों को पिछले जन्म की स्मृति हो आती है वह किस तरह आती है? शरीर के मर जाने के बाद स्मृति का आधार मस्तिष्क तो नष्ट हो जाता है, फिर स्मृति के आधार मस्तिष्क के मिट जाने पर स्मृति कहाँ से उठ खड़ी होती है? इस शङ्का का मूल यह समझना है कि हम जिन स्थूल-इन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे स्थूल-इन्द्रियाँ ही सब प्रकार के ज्ञान का साधन हो सकती हैं, मनुष्य के पास इनके अतिरिक्त ज्ञान का कोई अन्य साधन नहीं है। हमारा यह समझना भ्रममूलात्मक है। 'मनोविश्लेषणवाद' (Psyco-analysis) के प्रवर्तक सिगमण्ड फ्रॉयड थे, परन्तु उनके साथ युंग भी मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्तकों में से थे। एक तरह से फ्रॉयड तथा युंग—इन दोनों को मनोविश्लेषणवाद का पिता कहा जा सकता है। युंग का कहना है कि जिस प्रकार हमारी इन्द्रियों में निहित 'ज्ञात-चेतना' (Conscious mind) हमारे लिये ज्ञान प्राप्त करने का साधन है, उसी प्रकार बिना इन्द्रियों की सहायता से हमारी 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious mond) भी हमारे लिये ज्ञान प्राप्त करने का बड़ा भारी साधन है। 'ज्ञात-चेतना' उस क्षेत्र में काम करती है जो देश तथा काल (Space and time) के बन्धन से बँधा हुआ है, 'अज्ञात-चेतना' उस क्षेत्र में काम करती है जिसमें देश-काल का बन्धन नहीं है, वह देश तथा काल को लाङ्घ कर जहाँ चाहती है, विचरती है। इस प्रकार 'अज्ञात-चेतना' उस क्षेत्र का साक्षात्कार कर सकती है, जो 'ज्ञात-चेतना' के लिए 'भूत तथा भविष्यत्' (Past and Future) काल हैं, और जिन कालों में 'ज्ञात-चेतना' का प्रवेश नहीं हो सकता। 'ज्ञात-चेतना' का क्षेत्र 'वर्तमान-काल' (Present) तथा वस्तु की समीपता है, 'अज्ञात-चेतना' का क्षेत्र 'भूत तथा भविष्यत्' है, दूरी है। युंग का कहना है—''हमें बाधित होकर यह मानना पड़ता है कि 'अज्ञात-चेतना' में 'अतीन्द्रिय-ज्ञान'—A priori knowledge—विद्यमान रहता है, ऐसा ज्ञान जिसमें देश तथा काल का व्यवधान मिट जाता है—भूत तथा भविष्यत् की घटनाओं की सत्ता उसे अपने सामने बिना स्थूल इन्द्रियों के दीखती है, वह दीखना, वह ज्ञान कारण-कार्य के बन्धन से बँधा नहीं होता, वह ज्ञान कारण-कार्य की सीमा—Causal basis—को लाङ्घ जाता है।''

जिन लोगों को पिछले जन्म की स्मृति होती है या जो लोग भविष्य की घटनाओं के लिए भविष्यत्-वाणी कर देते हैं जो कालान्तर में सत्य घटित हो जाती है, या जिनको स्वप्न में ऐसी घटनाएँ दीख जाती हैं जो अभी नहीं घटीं, परन्तु समय

आने पर घट जाती हैं—यह सब ज्ञान 'अज्ञात-चेतना' (Unconscious Mond) द्वारा होता है। हमारी 'ज्ञात-चेतना' साधारण तौर पर वर्तमान पर केन्द्रित रहती है, परन्तु जब 'ज्ञात-चेतना' शिथिल होकर ढीली पड़ जाती है, जब 'ज्ञात-चेतना' को हर समय जकड़े रखनेवाला तथा कारण-कार्य के नियम में उलझे रहनेवाला सजग मन बुद्धिपूर्वक सोचना छोड़ देता है, तब 'अज्ञात-चेतना' को काम करने का अवसर मिल जाता है, और तभी यह चेतना—मन—'**दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकम्**'—'**यज्ज्योतिरन्तरमृतम् प्रजासु**'—'**येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतम्**'—भूत तथा भविष्यत् में भ्रमण करने लगता है, भूत की घटनाओं को मानो प्रत्यक्ष देखता है, भविष्य में होनेवाली घटनाओं के भी पार चला जाता है। युंग ने अपनी 'जीवन-कथा' में अपनी स्वप्निल-अवस्था की भूत तथा भविष्यत् पर प्रकाश डालनेवाली अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है, जिनका उन्होंने अपने जीवन में अनुभव किया।

यह ठीक है कि पिछले जन्म का अनुभव करनेवाले व्यक्तियों के बहुत कम दृष्टान्त मिलते हैं, परन्तु इसके अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें से कुछ निम्न हैं—

(१) इसका यह कारण हो सकता है कि जैसे संगीत की जन्मगत प्रतिभा हर किसी में न होकर किसी-किसी में पाई जाती है, वैसे ही 'अज्ञात-चेतना' की यह असाधारण-शक्ति भी सबमें न होकर किसी-किसी में पाई जाती है। रामानुजम नाम के एक व्यक्ति हुए हैं जो गणित का कितना ही कठिन प्रश्न क्यों न हो, उसे हल करने की लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया में से गुजरे बिना उसके हर हल पर पहुँच जाते थे। किसी प्रश्न को हल करने के लिए मस्तिष्क द्वारा सारी प्रक्रिया का करना लाजमी है, परन्तु उन्हें इस सबकी जरूरत नहीं पड़ती थी। इससे स्पष्ट है कि अतीन्द्रिय रूप में भी ज्ञान प्राप्त होता है—परन्तु इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करना सबके बस की बात नहीं है। जिसे असाधारण-शक्ति प्राप्त हो वही उस ज्ञान का भागीदार हो सकता है।

(२) दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इस शक्ति का हर किसी में न होना प्रकृति का 'जीव-शास्त्रीय-सुरक्षा' (Biological safeguard) का एक साधन है। प्रकृति का यह नियम है कि वह ऐसी व्यवस्था रखती है कि जिससे प्राणी की सुरक्षा बनी रहे। अगर हर किसी को विगत-जन्म की घटनाएँ स्मरण आती रहें, तो यह जीवन अस्त-व्यस्त हो जाए। जीवन को अस्त-व्यस्त न होने देने के लिए प्रकृति की यह एक तरकीब है, जिससे पिछला याद नहीं रहता।

(३) तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि यद्यपि 'अज्ञात-चेतना' द्वारा अतीन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति का बीज हर किसी में विद्यमान है, परन्तु कुछ इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर वह दूसरों में क्षीण हो गया है।

(४) यह भी कहा जा सकता है कि 'ज्ञात-चेतना' का उपयोग करने के हम

इतने आदी हो गये हैं कि 'अज्ञात-चेतना' को काम करने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता।

(५) कई दार्शनिकों का कहना यह भी है कि मानव अभी विकास की उस स्थिति में नहीं पहुँचा, जहाँ पहुँचकर 'अतीन्द्रिय-ज्ञान' उसके लिए स्वाभाविक हो जाए और वह 'अज्ञात-चेतना' द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त करने लगे, जिसे अभी कुछ इने-गिने लोग ही स्वाभाविक रूप से प्राप्त करने की शक्ति रखते हैं। हो सकता है कि मानव का विकास होते-होते 'अज्ञात-चेतना' से ज्ञान प्राप्त कर सकना हर किसी के लिए सम्भव हो जाए।

(६) जिन लोगों को पिछले जन्म की घटनाएँ स्मरण हो आती हैं उसका कारण यह हो सकता है कि उनकी मृत्यु किसी भयङ्कर घटना से हुई होती है, और उस भयङ्करता का उन पर अमिट प्रभाव पड़ा होता है। प्रायः देखा गया है कि जिन व्यक्तियों को गत-जन्म की स्मृति हो आती है वे यह बतलाते हैं कि उनकी मृत्यु किसी दुर्घटना से हुई थी—किसी को कत्ल किया गया था, कोई नदी में डूब मरा था, किसी को अन्य किसी भयङ्कर घटना का शिकार होना पड़ा था। यह समाधान कुछ एक दृष्टान्तों के लिए ही दिया जा सकता है, सब दृष्टान्तों के लिए नहीं।

यह कहा जा सकता है कि विगत-जन्म की घटनाओं को स्मरण करने के उदाहरण पुनर्जन्म को सिद्ध नहीं करते, अपितु ये व्यक्ति में 'पार-दृष्टि' (Clairvoyance) की शक्ति के दृष्टान्त हैं, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। पार-दृष्टि में व्यक्ति की चेतना अतीन्द्रिय वस्तु या घटना को देख भर लेती है, परन्तु उस वस्तु या घटना में देखनेवाले का 'तादात्म्य-भाव' (Identity) नहीं होता, देखनेवाला सिर्फ साक्षीभाव से अपने को घटना से अलग रूप में देखता है। पुनर्जन्म के दृष्टान्तों में साक्षीभाव नहीं होता, तादात्म्य-भाव होता है। व्यक्ति यह कहता है कि मैं पिछले जन्म में जो था इस जन्म में भी मैं वही 'मैं' हूँ। तादात्म्य-भाव की इस अनुभूति का होना तो तभी हो सकता है जब यह माना जाए कि व्यक्ति के मर जाने पर भी कोई ऐसी सत्ता रह जाती है जो इस जन्म के अपने-आपको वही कहती है जो वह पिछले जन्म में थी। शरीर के मर जाने पर जो सत्ता बच रहती है, आगे किसी शरीर को धारण करती है, उसे हम 'ज्ञात-चेतना' से जो देश तथा काल में बँधी है, नहीं जान सकते; उसे उसी चेतना से जान सकते हैं जो देश-काल में नहीं बँधी। यह चेतना 'अज्ञात-चेतना' है जो भूत तथा भविष्यत् का ज्ञान ग्रहण कर सकती है, जिन व्यक्तियों में यह ज्ञान कर लेती है उन्हीं को पुनर्जन्म का दृष्टान्त कहा जाता है। इस 'अज्ञात-चेतना' का भौतिक-आधार क्या है—इस सम्बन्ध में हम 'सूक्ष्म-शरीर'—'अतिवाहिक-शरीर'—'कारण-शरीर'—की पहले ही चर्चा कर आये हैं।

मनोविश्लेषणवाद के मूर्धन्य युग का कहना है कि जीवन के अन्तिम दिनों में

उन्हें ऐसे अनेक स्वप्नों का अनुभव होता रहा जो पुनर्जन्म के सूचक थे। इन अनुभवों के आधार पर उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन तो नहीं किया, परन्तु इतना अवश्य कहा कि इन अनुभवों में पुनर्जन्म की झलक आती है।

पाश्चात्य दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों का कहना है कि अगर पुनर्जन्म का कोई प्रयोजन सिद्ध हो जाए, और इस जन्म तथा गत-जन्म की घटनाओं में कारण-कार्य का कोई सम्बन्ध स्पष्ट हो जाए, तो कर्म के सिद्धान्त पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है और यह बात समझ में आ सकती है कि मनुष्य को एक जन्म के बाद दूसरा जन्म इसलिए लेना पड़ता है ताकि वह अपने मानसिक-विकारों से निस्तार पा सके। असल में, जिन ऋषियों ने कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था उनका आशय ही यह था कि मनुष्य-जन्म आत्मगत विकारों के निरसन करने का एक अवसर है।

८. मरने के बाद शरीर के संबंध में भिन्न-भिन्न धर्मों के विचार

मरने के बाद आत्मा का क्या होता है—इस पर हमने प्रकाश डाला। अब यह देखना है कि मरने के बाद शरीर का क्या होता है? वैसे तो इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है—शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु इसका नाश किस विधि से हो, इस सम्बन्ध में संसार में भिन्न-भिन्न विचार हैं। उन विचारों पर यहाँ कुछ प्रकाश डाला जाएगा।

(१) ईजिप्ट में मुर्दे को मम्मियों की तरह सुरक्षित रखना—मृत-देह का क्या किया जाए, इस सम्बन्ध में संसार में अनेक उपाय प्रचलित हैं। अनेक जातियों में यह समझा जाता रहा है कि जब कोई मर जाता है, तब उसका शरीर से सम्बन्ध सदा के लिए नहीं छूटता, उसका शरीर के साथ सम्बन्ध किसी अदृश्य तौर पर बना रहता है। अगर मृत-आत्मा इस लोक को छोड़कर किसी अन्य लोक में चला भी जाता है, तो भी उसका इस लोक तथा इस देह से नाता बना रहता है। मृत-व्यक्ति से भय तथा उसके प्रति प्रेम—ये दोनों भावनाएँ मनुष्य को नहीं छोड़ती। यही कारण है कि ये जातियाँ मृत-देह को किसी-न-किसी प्रकार सुरक्षित रखने का प्रयत्न करती है। उनकी समझ में यह नहीं आता कि मरने के बाद सब कुछ छूट जाता है। यह शायद इसलिये है, क्योंकि आत्मा की अमरता का विचार मनुष्य के लिए एक प्रिय विचार है, और यदि आत्मा अमर है, तो अविकसित मन के लिए यह सोचना स्वाभाविक है कि वह आत्मा के लिए उसके शरीर की जिस किसी उपाय से भी हो सके रक्षा करे ताकि वह शरीर आत्मा के काम आ सके। अनेक जातियों में मृत-देह को भूमिसात् करते हुए उसके बर्तन, उसके खाने का सामान, उसका फर्नीचर आदि सब उसके साथ रख देने की प्रथा है। कई जातियों में बच्चे के मरने पर स्त्रियाँ अपने स्तनों से दूध निकालकर उसके मुँह में भर देती हैं ताकि बच्चा उस दूख का सेवन कर सके। बलगेरिया में वहाँ का पुरोहित कब्र बनाता हुआ उसमें एक छेद रख देता

था ताकि उसमें से मृत-व्यक्ति को पानी तथा भोजन पहुँचता रहे। कई जातियों में जब उनका मुखिया या राजा मरता था तब उसकी कब्र इतनी बड़ी बनाई जाती थी ताकि उसके गुलाम तथा स्त्रियाँ भी उसमें मारकर वहाँ रखी जा सकें। कभी-कभी मारकर और कभी-कभी मुखिया की जीवित पत्नियों को मृत-व्यक्ति के साथ गाड़ दिया जाता था ताकि वे उसके काम आ सकें।

इन सब प्रथाओं का मूर्तिमान् उदाहरण ईजिप्ट के मम्मी (Mummies) हैं। प्राचीन ईजिप्शियनों को सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की होती थी कि अपने मृत राजा का शरीर किसी प्रकार औषधियों से अनुभावित (Annoint) करें ताकि मृत-व्यक्ति का आत्मा का 'परलोक' (Osiris) से इस लोक के अपने शरीर के साथ आना-जाना बना रहे। यही कारण था कि वे शरीर को जलाते नहीं थे, कब्र में सुरक्षित रखते थे। ईजिप्ट में इन राजाओं की जिन्हें फैरोहा कहा जाता था बड़ी-बड़ी कब्रें बनी हुई हैं, जिन्हें पिरैमिड (Pyramids) कहा जाता है। इन पिरैमिडों में प्राचीन राजाओं के शरीर औषधियों से अनुभावित हुए पड़े हैं, साथ ही उनकी स्त्रियाँ, उनके नौकर-चाकर, उनके फर्नीचर आदि सामान भी उनके मृत-देहों के साथ सुरक्षित हैं। ये पिरैमिड संसार के महान् आश्चर्यों में गिने जाते हैं।

(२) ईसायत में मुर्दे को गाड़ना—ईसाई-धर्म का मूल यहूदी धर्म है। यहूदी लोग मुर्दे को गाड़ते थे। ईसा मसीह भी यहूदी ही थे, इसलिए जब वे मरे तो उन्हें एक पहाड़ी में गाड़ा गया। ईसाई मानते हैं कि तीसरे दिन वे कब्र में से निकल गये और परमात्मा के पास चले गये। इसी की स्मृति में ईसाईयों ने मुर्दों को गाड़ना जारी रखा। उनका विश्वास है कि जो ईसा मसीह में विश्वास ले आते हैं, उनके लिए कब्र एक विश्वास तथा आराम की जगह है, और जब तक कब्रें खुलेंगी नहीं तब तक वे उसमें सुख की नींद सोते रहेंगे। इसके बाद सृष्टि के अन्त का दिन आयेगा, जब सब कब्रें खुलेंगी, सब उठ खड़े होंगे और सब देखेंगे कि परमात्मा के दायें हाथ मसीह बैठे हैं और ईसा में विश्वास लानेवालों तथा अविश्वासियों के भाग्य का निपटारा हो रहा है। इस समय को वे (Resurrection) का दिन कहते हैं। हजरत मसीह में विश्वास लानेवाले स्वर्ग में तथा अविश्वासी नरक में सदा के लिए भेज दिये जाएँगे। आत्मा को कर्मों का इस प्रकार का फल मिल सके—इसलिये ईसाइयों में मृत-व्यक्ति के शरीर को कब्र में सम्भालकर रखा जाता है।

(३) इस्लाम में मुर्दे को गाड़ना—जिस कारण ईसाई मुर्दे को गाड़ते हैं लगभग वही कारण इस्लाम में मुर्दे को गाड़ने का है। उनका कहना है कि सृष्टि का जब अन्त—अर्थात् कयामत का दिन आयेगा, तब 'सुर' नाम की एक तुरही बजेगी, सब कब्रें खुल जाएँगी, और जन्नत और दोजख का फैसला होगा। प्रश्न हो सकता है कि उस समय जो जीवित होंगे, मरे नहीं होंगे इसलिए उनकी कब्रें भी नहीं बनी

होंगी, उनका क्या होगा? इसका उत्तर वे यह देते हैं कि कयामत के दिन की तुरही बजते साथ ही जो भी उस समय जिन्दा होंगे वे सब मर जायेंगे। प्रश्न हो सकता है कि इतने दिन कब्र में पड़े-पड़े जिस्म मट्टी बन जायेगा, फिर मुर्दे कैसे उठ खड़े होंगे? डॉ० सेल ने इस प्रश्न को उठाकर कुरान के अंग्रेजी अनुवाद में लिखा है कि हजरत मुहम्मद ने इस समस्या का हल यह निकाला था कि शरीर ही मट्टी हो जायेगा, परन्तु एक हड्डी बच रहेगी, जिसका नाम 'अल अज्ब' है, जिसे अंग्रेजी में (Os Coccygis) या रीढ़ की अन्तिम हड्डी कहा जाता है। इस्लाम में यह विचार यहूदी धर्म से लिया गया है। वे इस हड्डी को 'लुज' (Luz) कहते हैं। कयामत के दिन से ४० दिन तक बारिश होगी, जिससे जैसे बारिश बड़ने से बीज से पौधे उठ खड़े होते हैं वैसे 'अल अज्ब' से सब मुर्दे उठ खड़े होंगे। यहूदी धर्म में कहा गया है कि कयामत के समय ओस पड़ेगी, जिसके कारण 'लुज'—रीढ़ की हड्डी—के भीग जाने से मुर्दे उठ खड़े होंगे।

इस्लाम के अनुसार मुर्दे को किब्ला—अर्थात् मक्का शरीफ—की रफ मुँह रखके दफनाया जाता है। कब्र इतनी गहरी बनाई जाती है ताकि वक्त पड़ने पर मुर्दा आसानी से उठकर बैठ सके। कब्र में 'मुनकिर' और 'नकीर'—दो फरिश्ते मुर्दे के दायें बायें बैठकर उससे उसके अच्छे-बुरे कर्मों की पड़ताल करेंगे, जिसके अनुसार उसे जन्नत या दोजख में भेजा जाएगा। क्योंकि मुर्दे के साथ यह सब कुछ करना होता है इसलिए इस्लाम में मुर्दे को जलाने के स्थान में गाड़ना जरूरी है ताकि वह बना रहे।

(४) पारसी धर्म में मुर्दे को हवा में खुला छोड़ देना—पारसियों में मुर्दे को न गाड़ा जाता है, न जलाया जाता है। मुर्दा-शरीर को एक बुर्ज पर खुला, नंगा रख दिया जाता है। बुर्ज पर रखने का अर्थ है—जमीन पर, मट्टी पर, ईंटों पर, पत्थरों पर—कहीं भी ऐसे स्थान पर जहाँ अन्तरिक्ष के पक्षी उसे खाकर खत्म कर दें। बम्बई में एक बुर्ज बना हुआ है, जिसे 'Tower of Silence' कहते हैं। मुर्दे को लाकर उस पर के तख्तों पर उसे नंगा रख दिया जाता है। ले जानेवालों को 'नासासालार' कहते हैं। वहाँ सैकड़ों गिद्ध लाश को खाने के लिए मण्डराया करते हैं। लाश के वहाँ रखते ही ये गिद्ध एक-दो घण्टों में ही उसका तिया-पाँचा कर देते हैं, सिर्फ हड्डियाँ रह जाती हैं। ये लोग मुर्दे को न तो प्राचीन इजिप्शियन्स की तरह सुरक्षित रखते हैं, न उसे जमीन में गाड़ते हैं। जिस प्रकार जीवित अवस्था में प्राणी शुभ-कार्य करता था, उसी प्रकार मरने पर वह पक्षियों की क्षुधा-निवृत्ति के शुभ काम आ जाता है। 'टॉवर ऑफ साइलेन्स' पर दिनों-दिन हड्डियों का ढेर बढ़ता जाता है। साल में दो बार नासासालार टॉवर का फट्टा हटाकर उसे साफ कर देते हैं और हड्डियाँ नीचे कुएँ में जा गिरती हैं।

पारसियों के 'टॉवर ऑफ साइलेंस' पर मुर्दों को खुला छोड़ देने की एक

घटना का उल्लेख रुडयार्ड किपलिंग (Rudyard Kipling—१८६५-१९३६) के, जिन्हें १९०७ में साहित्य का नोबल प्राइज मिला था, जीवन के संस्मरणों में मिलता है। वे भारत में उत्पन्न हुए थे, और बरसों यहाँ पत्रकारिता का कार्य करते रहे। बचपन में उनके माता-पिता का निवास-स्थान पारसियों के 'टॉवर आफ साइलेंस' के पास ही था। एक दिन उन्होंने देखा कि उनके पिता के बगीचे में एक बच्चे की गली-सड़ी बाँह कहीं से आ पड़ी। किपलिंग ने अपनी माँ से इसका रहस्य जानना चाहा, परन्तु उन्होंने उसे डाँट दिया। इस बीच किपलिंग की आया ने इसका रहस्य खोल दिया। मुर्दे को इस प्रकार खुला छोड़ देने से इस प्रकार की घटनाओं का हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु ऐसी घटनाओं को देखकर चित्त को क्षोभ अवश्य होता है। इस घटना का उल्लेख श्री बसन्त ए. शाहाने ने १८ सितम्बर १९७६ के 'इलस्ट्रेटेड वीकली' में किया है।

(५) हिन्दुओं में मुर्दे को जला दिया जाता है—हमने देखा कि जो लोग मृतक को सुरक्षित रखते हैं या कब्र आदि में गाड़ देते हैं, वे मर जाने पर भी जीव का शव के साथ किसी-न-किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना बनाये रखते हैं; हिन्दुओं में भी शब के जला दिये जाने पर भी पुराणमतावलम्बी श्राद्धादि के रूप में मृतक के शरीर के साथ तो नहीं, परन्तु आत्मा के साथ सम्बन्ध बनाये रखने का-सा व्यवहार करते हैं। परन्तु शुद्ध वैदिक-धर्म में शरीर के भस्मित हो जाने पर मृतक के शरीर तथा आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहता—'**भस्मान्तꣳशरीरम्**' के अनुसार शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध उसके भस्म हो जाने के बाद समाप्त हो जाता है, सम्बन्धियों का भी शरीर के साथ तो कोई नहीं, परन्तु आत्मा के साथ भी स्मृति-मात्र का सम्बन्ध रह जाता है, अन्य कुछ नहीं। वैज्ञानिक-दृष्टि से विचार किया जाए तो यही बात युक्ति की कसौटी पर ठीक बैठती है।

इसके अतिरिक्त हिन्दू अथवा वैदिक-धर्मी मुर्दे को इसलिए भी निःसंकोच जला देते हैं, क्योंकि उनके अनुसार कर्म-फल के लिये यहुदी, ईसाई या मुसलमानों की तरह कयामत के दिन तक इन्तिजार करना जरूरी नहीं है। कर्म का फल शरीर के साथ बन्धा हुआ नहीं, आत्मा के साथ कर्म के फल का सम्बन्ध है, शरीर के भस्म हो जाने पर भी आत्मा को कर्म का फल मिल जाता है, इसके लिए शरीर को सम्भालकर रखने या जमीन में दबाकर रखने की जरूरत नहीं है।

हिन्दुओं में कई लोग संन्यासियों का अग्नि-दाह करने के स्थान में उनका जल-प्रवाह करते हैं। मनुस्मृति (६.४३) में संन्यासी के लिए लिखा है—

अनग्निः अनिकेतः स्यात् ग्रामं अन्नार्थं आश्रयेत्।
उपेक्षकः असंकुसुकः मुनिर्भाव समाहितः॥

—अर्थात् संन्यासी 'अनग्निः' होता है—आहवनीयादि अग्नियों से रहित होता

है। उसके लिए कहा गया है कि वह कहीं अपना स्वाभिमत घर भी न बाँधे, और अन्न-वस्त्रादि के लिए ग्राम का आश्रय ले, बुरे मनुष्यों की उपेक्षा करता और स्थिर-बुद्धि मननशील होकर परमेश्वर में अपनी भावना का समाधान करता हुआ विचरे।

इस श्लोक के फुटनोट में संस्कार-विधि में लिखा है—'इसी (अनग्नि) पद से भ्रान्ति में पड़कर संन्यासियों का दाह नहीं करते और संन्यासी लोग अग्नि को नहीं छूते—यह पाप संन्यासियों के पीछे लग गया। यहाँ आहवनीयादि-संज्ञक अग्नियों को छोड़ना है, स्पर्श या दाह-कर्म छोड़ना नहीं है।' इसलिए ऋषि दयानन्द के मतानुसार संन्यासियों के मृत-शरीर का भी दाह-संस्कार ही होना उचित है।

९. युरोप तथा अमरीका में शव-दाह

(१) शव-दाह का युरोप में इतिहास—यह शरीर जिन तत्त्वों से बना है वे हैं पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु। विश्व-भर के लोग मरने पर मृतक-शरीर को इन्हीं तत्त्वों में से किसी एक की भेंट कर देते हैं। जो लोग गाड़ते हैं वे पृथिवी की, जो जल-प्रवाह कर देते हैं वे जल की, जो दाह-कर्म कर देते हैं वे अग्नि की और जो शव को खुले में छोड़ देते हैं वे मृतक को वायु की भेंट कर देते हैं। ये चारों तत्त्व मृत-शरीर को आत्मसात् कर सृष्टि-तत्त्वों में अणुकृत् कर देते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि मृत-देह का कुछ नहीं बचता, कुछ का परमाणुओं में विच्छिन्न हो जाता है, कुछ मीन, पशु-पक्षियों के पेट में चले जाते हैं। जिन्हें नदी में बहा देते हैं उन्हें जल के जन्तु और जिन्हें खुला छोड़ देते हैं उन्हें पशु-पक्षी समाप्त कर देते हैं। सोचने की बात यह है कि इन सबमें से वैज्ञानिक-विधि कौन-सी है।

कोई समय था जब युरोप में सर्वत्र रोम का आधिपत्य था। उस समय रोमन राज्य में उच्च-वर्ग के लोग मुर्दों को जलाते थे, गाड़ते नहीं थे। रोमन लोगों की देखा-देखी युरोप में भी मुर्दों को जलाया जाता था। रोमन लोगों ने मुर्दों को जलाने की रीति ग्रीक लोगों से ली थी, और ग्रीस पर किसी समय भारत की विचारधारा का प्रभाव था। पाइथोगोरस, जो ग्रीक दार्शनिक था, भारत आया था। प्लेटो की विचारधारा में भारत का प्रभाव तो स्पष्ट दीखता ही है। भारत से ग्रीस, ग्रीस से रोम, रोम से युरोप में मुर्दों के जलाने की रीति सर्वत्र फैली। इसके बाद जब ईसाइयत का प्रचार हुआ, और सृष्टि की समाप्ति के दिन हर व्यक्ति के सशरीर उठ खड़े होने (Resurrection) के विचार ने जन्म लिया, तब मृतक को जला देने का चर्च की तरफ से विरोध हुआ। इसलिये विरोध हुआ कि अगर शव को जला दिया गया, तो आखीरी दिन जब हर व्यक्ति के पुण्य-पाप का लेखा-जोखा होकर स्वर्ग-नरक का बँटवारा होगा, तब शरीर के भस्म हो जाने पर किसे स्वर्ग मिल सकेगा, किसे नरक मिल सकेगा। शरीर ही न रहा तो 'पुनरुत्थान' (Resurrection) किसका होगा, स्वर्ग-नरक किसे मिलेगा। ईसाइयत के फैलने की वजह से पाश्चात्य-जगत् में तो

अग्निदाह पर रोक लग गई, परन्तु पूर्वी देशों में शव-दाह बदस्तूर चलता रहा। भारत, बर्मा, जापान में मुर्दे को जलाया ही जाता रहा। पूर्वी देशों में सिर्फ चीन अपवाद रहा, क्योंकि उनकी विचारधारा यह थी कि चीनी कहीं भी मरे उसे चीन की धरती में ही गड़ना है। अब चीन में भी दाह की विधि चल पड़ी है।

१८७४ ईस्वी तक विश्व में मृतक के शरीर को निपटाने की यह स्थिति थी। इस समय इंगलैण्ड में महारानी विक्टोरिया का सर्जन सर हैनरी थौम्पसन था। १८७३ में वायना में एक प्रदर्शिनी हुई, जिसमें मृत-दाह करने की एक भट्टी दिखलाई गई थी, जो इटली में कहीं-कहीं मुर्दों को जलाने के काम आती थी। सर थौम्पसन इस मृत-दाह की भट्टी को देखकर बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने ब्रिटेन में श्मशानों की जो दुर्गती देखी थी, इस भट्टी को देखकर उनकी वे स्मृतियाँ ताजा हो गईं और वे सोचने लगे कि शवों का निपटारा करने के लिए इस प्रकार की श्मशानें क्यों न बनाई जाएँ, जिनमें शवों को गाड़ने के स्थान में उन्हें जलाया जाए। परिणामस्वरूप उन्होंने शवदाह के विचार को मूर्त रूप देने के लिए एक संस्था बनाई जिसका नाम था—'Cremation Society of England'—'इंगलैण्ड की शव-दाह संस्था'। शव-दाह के विचार को दृढ़ आधार देने के लिए उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी, जिसका नाम था—'Cremation—The Treatment of The Body after Death'। सर थौम्पसन के विचारों के साथ उस समय के वैज्ञानिकों, लेखकों, कलाविदों ने सहमति प्रकट की। इन लोगों ने मिलकर १३ जनवरी १८७४ में जिस 'क्रिमेशन सोसाइटी ऑफ इंगलैण्ड' की स्थापना की, उसके घोषणापत्र में कहा गया था—

"The promoters disapprove of the present system of burying the dead and wish to substitute some method which would rapidly resolve the body into its component elements by a process which could not offend the living and would render the remains perfectly innocuous."

—अर्थात् इस संस्था के अभिभावक मुर्दे गाड़ने का प्रचलित रीति का अनुमोदन नहीं करते और चाहते हैं कि इसकी जगह कोई ऐसी विधि अपनाई जाए, जिससे शरीर शीघ्र-से-शीघ्र अपने घटक-तत्त्वों में विलीन हो जाए और जिस रीति से न तो जीवित व्यक्ति तिरस्कृत हों और साथ ही मृत-शरीर भी सर्वथा दोषरहित हो जाए।

हम पहले लिख आये हैं कि मृत को गाड़ना ईसाइयत की दृष्टि से क्यों धार्मिक-कृत्य था, शरीर को जला दिया जाए तो 'पुनरुत्थान' (Resurrection) किसका हो? इस प्रकार इस संस्था के बन जाने पर भी चर्च के विरोध के कारण संस्था को शव-दाह के लिए कोई भूमि नहीं मिली, परन्तु संस्था के संचालक इस दिशा में लगातार प्रयत्नशील रहे। अन्त में ४ साल बाद उन्हें सर्रे जगह पर वोकिंग

स्थान में जगह मिली, जहाँ इंगलैण्ड में पहला दाह-श्मशान (Crematorium) बना। इसके बन जाने पर भी चर्च के विरोध के कारण कोई व्यक्ति शव को जलाने के लिए तैयार नहीं हुआ। १८८३ में डॉ० विलियम प्राइस ने अपने मृत बच्चे का दाह-कर्म करने का प्रयत्न किया, जिस कारण उस पर मुकदमा चलाया गया। अन्त में अदालत ने यह फैसला दिया कि शव का दाह-कर्म अवैधानिक नहीं है।

(२) युरोप में शव-दाह कानून—१९०२ में इंगलैण्ड में पहले-पहल 'शव-दाह विधेयक' (Cremation Act) पास हुआ। इसके पास होने के बावजूद शव-दाह के लिये इने-गिने व्यक्ति ही तैयार होते थे। इस दिशा में विशेष प्रगति द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में हुई। मरनेवालों की संख्या इतनी अधिक थी कि दफनाने की तंगी अनुभव होने लगी, क्यों इनके लिए भूमि पर्याप्त नहीं थी। इंगलैण्ड में यह अनुभव किया जाने लगा कि मुर्दों को भूमि में गाड़ना भूमि का दुरुपयोग करना था। इससे दाह करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने लगा। २०वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से शव-गृहों में जलाये जानेवाले मृतकों की संख्या ३ लाख प्रतिवर्ष बढ़ने लगी। इसका अर्थ यह है कि इंगलैण्ड में जितने व्यक्ति मरते थे उनमें से आधे जलाये जाने लगे। इस बीच 'दाह-गृहों' (Crematoria) की संख्या १९० तक पहुँच गई।

इंगलैण्ड में मृतकों के दाह-कर्म के देखा-देखी युरोप के अन्य देशों में शव-दाह का अनुकरण होने लगा। स्कैण्डेनेवियन देशों, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड में ३० प्रतिशत मुर्दे जलाये जाने लगे। हर देश में ऐसे कानून बनाये गये, जिनमें शव-दाह को वैधता दी गई। शव-दाह पर एक कानूनी आपत्ति थी। मृतक को जला देने से फिर उसके सम्बन्ध में किये गये किसी अपराध की जाँच नहीं हो सकती थी—क्योंकि उसके जल जाने से किसी भी प्रकार की साक्षी नष्ट हो जाती थी। अगर मृतक की हत्या की गई है या उसने आत्मघात किया है—इस सब की जाँच कब्र में पड़े शव को निकालकर तो हो सकती थी, उसके जला दिये जाने पर नहीं। इसलिये युरोप में शव-दाह के सम्बन्ध में जो कानून बने, उनमें ऐसे प्रतिबन्ध लगा दिये गये, जिससे इस बात की रोक-थाम हो सकती थी। मुर्दा जलाने के लिए डाक्टरी सर्टिफिकेट लेना तथा अन्य इसी प्रकार के रोक लगा दिये गये।

अमेरिका में शव-दाह का सूत्रपात १८७६ से हुआ। अमरीका की 'शव-दाह संस्था' (Cremation Association of America) के आंकड़ों के अनुसार बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अमेरिका में २३० 'शव-दाह-गृह' बन चुके थे, और १९७० में एक वर्ष में ८८००० (अठासी हजार) मृतकों का दाह-संस्कार हुआ था।

युरोप तथा अमेरिका में १९३७ से प्रत्येक देश में अपनी-अपनी 'राष्ट्रीय शव-दाह संस्थाएँ' बन गईं और वे आपस में विचार-विनिमय कर सकें—इस आशय से

एक 'अन्तर्राष्ट्रीय शव-दाह संगठन' (International Cremation Federation) की भी स्थापना हो गई, जिसका मुख्य कार्यालय लन्दन में है। यह संगठन त्रिवार्षिक कांग्रेसें करता रहता है, जिनमें शव-दाह को प्रोत्साहन देने के कार्यक्रमों पर विचार होता है।

हमने देखा कि जहाँ-जहाँ मुर्दे गाड़े जाते थे, वहाँ-वहाँ यह चेतना जागृत होती जाती है कि गाड़ने की अपेक्षा जलाना ज्यादा युक्तिसंगत है। इस चेतना के बढ़ते जाने के निम्न कारण हैं—

१०. मुर्दे को गाड़ने तथा जलाने की तुलना

(१) मृत-शरीर को जलाने से भूमि बहुत कम खर्च होती है। कब्रों से स्थान-स्थान पर बहुत-सी भूमि घिर जाती है।

(२) कब्रिस्तान के कारण बहुत-से रोग वायुमण्डल को दूषित कर देते हैं, वायु के दूषित होने से वे फैलकर समाज में रोग फैलाने के कारण बनते हैं। मुर्दों के जला देने से यह नहीं होता।

(३) जो जल कब्रिस्तान के पास होकर जाता है वह रोग का कारण बन जाता है, जलाने से ऐसा नहीं होता।

(४) कुछ पशु मृत-शरीर को उखाड़कर खा जाते हैं और रोगी-शरीर को खाने से वे रोगी बनकर मनुष्यों में भी रोग फैलाते हैं। जलाने से यह बुराई नहीं होती।

(५) कुछ कफन-चोर कब्र खोदकर शरीर का कफन उतार लेते हैं। इस प्रकार मृतक के सम्बन्धियों के मनोभावों को ठेस पहुँचती है। मृतक को जला देने से ऐसा नहीं हो सकता।

(६) लाखों बीघा जमीन संसार में कब्रिस्तानों के कारण रुकी पड़ी है। जलाना शुरु करने से यह खेती तथा मकान बनाने के काम आयेगी। जिन्दों के लिए ही जमीन थोड़ी पड़ रही है, उसे मुर्दों ने घेर रखा है।

(७) दरगाहों की समाधि-पूजा, कब्रों की पूजा, पीरों की पूजा, मुर्दों की पूजा—अनेक प्रकार के पाखण्ड मुर्दों को जला देने से खत्म हो जायेंगे।

(८) बहुत से पुजारी जिनका पेशा यही है कि कब्रों, दरगाहों का चढ़ावा खायें, वे लाभदायक काम पर लगकर समाज के लिए उपयोगी व्यक्ति बनेंगे।

(९) इन मजारों की पूजा करने, चढ़ावा चढ़ाने और आने-जाने में जो करोड़ों रुपया व्यर्थ का व्यय होता है वह बच जाएगा।

(१०) सैकड़ों दरगाहें और मकबरे ऐसे हैं जो हजारों नहीं लाखों रुपये की लागत से बने हैं। इस प्रकार जो करोड़ों रुपया अनावश्यक खर्च होता है वह बचकर

शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा आदि उपयोगी कार्यों पर व्यय हो सकेगा।

(११) अनेक पतित लोग मुर्दों को उखाड़कर उनके साथ कुकर्म करते पकड़े गये हैं—इन मुर्दों की ऐसी दुर्गति नहीं होगी। कुछ तकियों और हिन्दू समाधियों पर चरस, गाँजा, अफीम और शराब पी जाती है—ये दुराचार तथा भ्रष्टाचार भी नहीं होंगे।

इसलिए स्वास्थ्य-रक्षा के विचार से, भूमि की कमी के विचार से, रुपये की बचत के विचार से और सदाचार के विचार से भी मुर्दों को गाड़ने की अपेक्षा जलाना ही उचित है।

बाकी रहा मुर्दे को खुला फेंक देना जैसा पारसी करते हैं। वे मुर्दे को न तो जलाते हैं, न गाड़ते हैं, अपितु ऊँचे मचान पर रख देते हैं, जहाँ लाश को गिद्ध आदि खा जाते हैं। इस मचान के नीचे कुआँ होता है, जिसमें हड्डियाँ गिर जाती हैं।

ऋषि दयानन्द ने इन सब विधियों पर विचार करते हुए सत्यार्थप्रकाश में प्रश्नोत्तर के रूप में जो कुछ लिखा है, वह इन सब रीतियों पर थोड़े-से गिने-चुने शब्दों पर प्रकाश डालता है। वे लिखते हैं—

प्रश्न—जलाना, गाड़ना, जल-प्रवाह करना और जंगल में फेंक देना—इन चारों में से कौन-सी बात अच्छी है?

उत्तर—सबसे बुरा गाड़ना है, उससे कुछ थोड़ा बुरा जल में डालना है, क्योंकि उसको जल-जन्तु उसी समय चीर-फाड़ कर खा जाते हैं, परन्तु जो कुछ हाड़ वा मल जल में रहेगा वह सड़कर जगत् को दुःखदायक होगा। उससे कुछ एक थोड़ा बुरा जंगल में छोड़ना है, क्योंकि यद्यपि उसको मांसाहारी पशु-पक्षी नोंच खाएँगे तथापि जो उसके हाड़ की मज्जा और मल सड़कर दुर्गन्ध करेगा, उतना जगत् का अनुपकार होगा, और जो जलाना है वह सर्वोत्तम है, क्योंकि उसके सब पदार्थ अणु होकर वायु में उड़ जाएँगे।

संस्कृत में मृत्यु के लिए '**पञ्चत्वं गतः**'—यह शब्द है। शरीर पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—इन पाँच भूतों का बना है, इसलिए मरने के बाद शरीर के इन पाँचों भूतों को जल्दी-से-जल्दी सूक्ष्म करके अपने मूलरूप में पहुँचा देना ही वैदिक-पद्धति है। पृथिवी का अर्थ भूमि या मट्टी नहीं, जल का अर्थ पानी नहीं, वायु का अर्थ यह बहती हुई हवा नहीं। ये तो इनके स्थूल रूप हैं। इन रूपों से भी सूक्ष्म रूप है—इन पाँचों भूतों का। ये स्थूल रूप दृश्य हैं, वह रूप अदृश्य है। मृत-शरीर को अदृश्य, सूक्ष्म पाँचों महाभूतों में जल्दी-से-जल्दी बदल देने का एकमात्र साधन 'अग्नि' है। अन्य सब साधन समय लेते हैं, अग्नि एक ऐसा साधन है जो इस काम को चटपट कर देता है। कब्र में गाड़ने पर मुर्दे को मट्टी बनने में महीनों लगते हैं, जल में प्रवाह कर देने पर मृतक-देह मछलियों के पेट में जाकर सड़ता और अपने

मूल रूप में जाने में पर्याप्त समय लेता है, खुले छोड़ देने पर भी महीनों लगते हैं, क्योंकि हड्डियाँ तो बची ही रहती हैं—अग्नि द्वारा दाह-कर्म ही एक ऐसा साधन है, जिससे घण्टे भर में मृत-देह के सब तत्त्व अपने मूल में पहुँच जाते हैं। श्री अत्रिदेव ने ठीक ही लिखा है—''जब आज मृत्यु-दण्ड के लिये नये-से-नये उपाय हम ढूँढते हैं, जिनसे कि मनुष्य की आत्मा को कम-से-कम कष्ट हो और जल्दी-से-जल्दी प्राण निकल जायें, तो फिर इस मृत-देह को जल्द-से-जल्द नष्ट करने के लिए क्यों न दाह-कर्म-विधि बरती जाए? बिजली की धारा जिस प्रकार एक सेकेण्ड में मनुष्य के प्राण-पखेरू लेकर उसे मुक्त कर देती है, उसी प्रकार अग्नि इस शरीर के परमाणुओं को—स्थूल पंचभूतों को—शीघ्र ही सूक्ष्म रूप में बदलकर शरीर का अस्तित्व ही समाप्त कर देती है, यह शरीर जहाँ से आया था वहीं चला जाता है। जो वस्तु जिससे ली थी, उसे शीघ्र-से-शीघ्र, एकदम वापस कर देने का सरल, सुगम उपाय ऋषियों ने दाह-कर्म के रूप में बताया था।'' अथर्ववेद (काण्ड १८, सूक्त २, मन्त्र ३४) में लिखा है—

ये निखा॑ता ये परो॑प्ता ये द॒ग्धा ये चोद्धि॑ताः।
सर्वां॒स्तान॑ग्न॒ आ व॑ह पि॒तॄन्ह॒विषे॒ अत्त॑वे॥

अर्थात् जो **(निखाता)**—भूमि में गाड़े गये हैं, **(परोप्ता)**—बिना किसी संस्कार के परे फेंक दिये गये हैं, **(दग्धा)**—जलाये गये हैं, **(उद्धिताः)**—उत्+हिताः=किसी स्थान के ऊपर रख दिये गये हैं, **(तान् सर्वान् पितृन्)**—उन सब बुजुर्गों के मृत-देह को **(अन्ने हविषे अत्तवे)**—अग्नि द्वारा हवि रूप में खाये जाने के लिए **(आ वह)**—ले आ।

इस मन्त्र में मृत-शरीर के साथ जो-जो भी व्यवहार हो सकता है, उस सबका परिगणन करके कहा गया है कि अग्नि द्वारा किया गया कर्म ही सर्वोत्तम है। '**निखाताः**' का अर्थ है—जो लोग शव को गड्ढा खोदकर गाड़ देते हैं, जैसे मुसाई, ईसाई, मोहम्मदीय; '**परोप्ताः**' का अर्थ है—जो लोग मरने पर लाश को जल या जंगल में परे फेंक देते हैं, जैसे संन्यासी आदि की असंस्कृत लाशें; '**दग्धाः**' का अर्थ है—जो लोग जला डालते हैं, जैसे हिन्दू, जापानी, बर्मी आदि; '**उद्धिताः**' का अर्थ है—जो किसी ऊँचे स्थान पर जीव-जन्तुओं के भक्षण के लिए शव को रख देते हैं, जैसे पारसी आदि—इन सबको इस मन्त्र में अग्नि-दाह का आह्वान किया गया है। इससे अगले मन्त्र में मानव-समाज को '**अग्निदग्धाः**' तथा '**अनग्निदग्धाः**' कहकर अग्नि-दाह को मृतक का सर्वोत्तम संस्कार कहा गया है।

अन्त्येष्टि संस्कार

[मन्त्रार्थसहित विधि-भाग]

[मृत्यु होने के पश्चात् के कर्त्तव्य-कर्म]

मृत्यु होते ही उसके बन्धु-बान्धवों व परिचितों, मित्रादिकों को तत्काल सूचना देवें। ऐसा यत्न करें कि यथाशीघ्र 'शव' को उठाया जा सके, क्योंकि प्राण निकलने के साथ ही 'देह' बिगड़ने लगती है और उसमें से दुर्गन्ध उठने लगती है।

यदि रात्रि में किसी की मृत्यु हो, अथवा किसी कारण से शव को कुछ या अधिक काल तक रखना पड़े, तो उसके रखने का उचित प्रबन्ध करें।

मृत्यु होते ही शव को शय्या या चारपाई से पृथिवी पर उतार लें। भूमि पर चटाई, दरी या चादर बिछा लें। दो-तीन व्यक्ति मृत-देह को उठाकर उसपर लिटा दें और फिर उस पर चादर डाल दें।

उस समय मृतक ने जो वस्त्र पहने हों, उन्हें उतार लें। उस बिछावन व वस्त्रों को किसी निर्धन को देवें। भूमि पर लिटाते समय, उसके अङ्ग ठीक कर सीधा लिटायें, रस्सी या वस्त्र से दोनों पैरों को बाँध दें। इसी प्रकार हाथ को भी सीधा करके बाँध दें ताकि अङ्ग न सिकुड़ें।

[सामान जिसके जुटाने की व्यवस्था करनी होगी]

(१) शव को स्नान करा कर उस पर लेपन के लिये चन्दनादि का सुगन्ध लेप, (२) नवीन वस्त्र, (३) निल्हाने के लिए साबुन, (४) जितना लम्बा शरीर हो उससे अढ़ाई गुणा—अर्थात् लगभग साढ़े चार मीटर सफेद नया कपड़ा जिससे मृतक को ऊपर-नीचे लपेटा जा सके, (५) सम्पन्न व्यक्ति हो तो शरीर के भार के बराबर शुद्ध घृत, अन्यथा दरिद्र हो तो पञ्च लोग आध मन घृत का प्रबन्ध करें, (६) एक मन (३७ किलो) घी में मिलाने के लिए आधा ग्राम कस्तूरी, ६ ग्राम केसर, एक-एक किलो अगर-तगर तथा पर्याप्त चन्दन का चूरा और पर्याप्त मात्रा में कपूर तथा दीया-सिलाई की ५-६ डब्बियाँ, (७) शरीर के भार जितनी सामग्री और निर्धन हो तो एक मन सामग्री, (८) दस मन, अर्थात् ४ क्विंटल लकड़ी, (९) घृत का दीपक, (१०) मृतक अगर सधवा स्त्री हो तो सिन्दूर, (११) सम्पन्न श्रीमान् हो तो एक रेशमी या ऊनी शाल ऊपर ओढ़ने को, मध्यम परिवार हो तो एक सूती चादर।

देश की परिवर्तित अवस्था को देखकर दाह-कर्म के लिए ऋषि दयानन्द द्वारा लिखित सामान लाना कठिन है, इसलिए कम-से-कम दो किलो शुद्ध घी, १० किलो सामग्री, चन्दन की समिधाएँ कम-से-कम एक किलो, आध किलो अगर, पाव

तगर, सौ ग्राम कपूर का प्रबन्ध कर लें। सादा, सफेद कपड़ा चार मीटर पर्याप्त है।

शव को 'शव-पालकी' में ले जाने की व्यवस्था न हो तो मजबूत दो लम्बे बाँस मँगवाकर उन पर आड़ी खप्पचें बाँधकर मृतक को श्मशान में ले जाने की व्यवस्था कर लें।

यदि मृतक पुरुष हो तो पुरुष, अगर स्त्री हो तो स्त्रियाँ उसे स्नान करायें। चन्दनादि का सुगन्ध लेप कर उसे नवीन वस्त्र पहना दें। अर्थी पर केले के पत्ते या कुश का आसन बिछा कर उस पर शव को लिटा कर उस पर वस्त्र ढक दें और रस्सी से शव को अर्थी के साथ बाँध दें ताकि कन्धों पर ले जाते हुए वह गिर न सके।

[श्मशान तक शव-यात्रा]

इसके बाद अर्थी को मृतक के निकटतम सम्बन्धी पहले कन्धा लगायें, और फिर अन्य तथा इष्ट-मित्र उठाकर धीरे-धीरे ले चलें। कन्धे लगानेवाले बीच-बीच में बदलते रहें। श्मशान दूर हो, तो अर्थी को 'शव-पालकी' में ले जाने की सुविधा रहती है। यदि हो सके तो शव-यात्रा के समय वेद-मन्त्रों का पाठ करते जायें—**'ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर'** भी बोलते जा सकते हैं।

[श्मशान में दहन की तैयारी]

यदि श्मशान में पुरानी वेदी बनी हुई न हो तो नवीन वेदी भूमि में खोदें। वह श्मशान का स्थान बस्ती से दक्षिण तथा आग्नेय (दक्षिण-पूर्व) अथवा नैर्ऋत्य (दक्षिण-पश्चिम) कोण में हो, वहाँ भूमि को खोदे। मृतक के पग दक्षिण नैर्ऋत्य अथवा (दक्षिण) आग्नेय-कोण में रहें, शिर उत्तर-ईशान वा (उत्तर) वायव्य-कोण में रहे।

मृतक के पग की ओर वेदी के तले में नीचा, और शिर की ओर थोड़ा ऊँचा रहे।

उस वेदी का परिणाम पुरुष खड़ा होकर ऊपर को हाथ उठावे उतनी लम्बी, और दोनों हाथों को लम्बे उत्तर-दक्षिण पार्श्व में करने से जितना परिमाण हो,अर्थात् मृतक के साढ़े तीन हाथ अथवा तीन हाथ ऊपर से चौड़ी हो, छाती के बराबर गहरी हो, और (पैरों की ओर) नीची आध हाथ अर्थात् एक बीता भर रहे।

उस वेदी में थोड़ा-थोड़ा जल छिटकें। यदि गोमय उपस्थित हो तो लेपन भी कर दें। उसमें नीचे से आधी वेदी तक (पहले) लकड़ियाँ चिनें, जैसेकि भित्ती में ईंटें चिनी जाती हैं, अर्थात् बराबर जमाकर लकड़ियाँ धरें, लकड़ियों के बीच में थोड़ा-थोड़ा कपूर थोड़ी-थोड़ी दूर पर रक्खें। इस प्रकार चिता तैयार होने पर अर्थी के रस्सी के बन्धन काट दें। ऊपर की चादर या शाल उतारकर श्मशान-भृत्य को दे दें। उस चिता के ऊपर मध्य में मृतक को रखें, अर्थात् चारों ओर वेदी बराबर खाली

रहे और पश्चात् चारों ओर चन्दन तथा पलाश आदि के काष्ठ बराबर चिनें। वेदी से ऊपर एक बीता भर लकड़ियाँ चिनें।

जब तक यह क्रिया हो, तब तक अलग चूल्हा बना अग्नि जला घृत तपा और छानकर पात्रों में रखें। उसमें कस्तूरी आदि अर्थात् केसर, अगर, तगर, चन्दन, दही सब पदार्थ मिलावें। लम्बी-लम्बी लकड़ियों में चार चमसों को, चाहे वे लकड़ी के हों वा चाँदी-सोने के अथवा लोहे के हों, जिस चमसा में एक छटाँक भर से अधिक और आधी छटाँक भर से न्यून घृत न आवे, खूब दृढ़ बन्धनों से डण्डों के साथ बाँधें।

[अग्नि प्रज्वालन]

तत्पश्चात्, निकटतम सम्बन्धी, ज्येष्ठ पुत्र, पति या कोई मित्र, संन्यासी होने पर प्रधान शिष्य, घृत का दीपक करके, कपूर में लगाकर शिर से आरम्भ कर पाद-पर्यन्त चारों ओर दाएँ हाथ परिक्रमा करते हुए मध्य-मध्य में अग्नि-प्रवेश करावें। अग्नि-प्रवेश कराके निम्न मन्त्रों से आहुतियाँ दें—

ओमग्नये स्वाहा॥ ओं सोमाय स्वाहा॥
ओं लोकाय स्वाहा॥ ओमनुमतये स्वाहा॥
ओं स्वर्गाय लोकाय स्वाहा॥ —आश्व० गृह्य०, ४,३,२५-२६

शब्दार्थ—इन पाँच मन्त्रों में अग्नि, सोम, लोक, अनुमति और स्वर्ग—इन ५ के प्रति 'स्वाहा' की आहुतियाँ दी गई हैं। अग्नि और सोम का वैदिक-साहित्य में घनिष्ट सम्बन्ध है। लिखा है—'**अग्नीषोमात्मकं जगत्**'—अर्थात् जगत् में दो शक्तियाँ हैं—'अग्नि' तथा 'सोम'। 'अग्नि' तीव्रता का प्रतिनिधि है, 'सोम' सौम्यता की। विज्ञान की परिभाषा में इन्हें Positive तथा Negative कह सकते हैं, आग और पानी कह सकते हैं, गर्मी और शीतलता कह सकते हैं। जगत् इन्हीं दो का विस्तार है, तभी तीसरे मन्त्र में कहा—'**लोकाय स्वाहा**'—'लोक', अर्थात् जगत्। अग्नि तथा सोम के गुणों के कारण मनुष्य जिस लोक में विचरता है उसमें वह तभी तक जी सकता है जबतक वह अपने को उसके नियमों के अनुकूल ढालता है—इसी को व्यक्त करने के लिए कहा—'**अनुमतये स्वाहा**'—'अनुमति' अर्थात् अनुकूल बनना। अनुकूल बनने पर ही मनुष्य सुखी रह सकता है—इस सुख का वर्णन करने के लिए कहा—'**स्वर्गाय लोकाय स्वाहा**'। इन पाँच मन्त्रों में जीवन का गुर बतला दिया गया है।

[घृत तथा सामग्री से आहुतियाँ]

तत्पश्चात् चार मनुष्य पृथक्-पृथक् खड़े रहकर वेदों के निम्न १७ मन्त्रों से, मन्त्र के आरम्भ में 'ओम्' और अन्त में 'स्वाहा' बोलकर, आहुति देते जायें। जहाँ 'स्वाहा' आवे वहाँ आहुति छोड़ देवें।

अथ वेदमन्त्राः

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा॥ १॥

—ऋ० १०।१६।३

शब्दार्थ—हे मृतक! **(धर्मणा)** शरीर पार्थिव है, इसलिए पार्थविकता के धर्म के कारण **(चक्षुः)** तेरी आँख की शक्ति **(सूर्य गच्छतु)** सूर्य को चली जाए, **(आत्मा)** शरीर **(वातं, द्यां, पृथिवीं गच्छ)** वायु, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी को चला जाए, **(यदि)** अगर **(तत्र)** वहाँ **(ते हितम्)** तेरा कर्मफल तुझे रखता है, तो **(आपः गच्छ)** जल को चला जा या **(शरीरैः)** अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग रूपी शरीरों से **(ओषधीषु)** ओषधियों में **(प्रतितिष्ठ)** जा ठहर। इस मन्त्र में कहा गया है कि यह पार्थिव शरीर पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश से बना है, अब यह भस्म होकर उन-उन तत्त्वों में चला जा रहा है, जिनसे इसका निर्माण हुआ था।

उपनिषदों में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग शरीर के लिए किया गया है।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकं स्वाहा॥ २॥

—ऋ० १०।१६।४

शब्दार्थ—**(अजः भागः)** हे मृतक! तेरा जो अजन्मा भाग है **(तं तपस्व)** उसे तप द्वारा तेजस्वी बना, **(तं ते शोचिः)** उसे तेरी शोधक शक्ति और **(तं ते अर्चिः)** तेरी तेजस्वी शक्ति **(तपतु)** तप द्वारा तेजस्वी बनाये, **(जातवेदः)** ते उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान अग्नि! **(याः ते शिवाः तन्वः)** जो तेरे कल्याणकारी शरीर हैं **(ताभिः)** उनसे **(एनम्)** इसको **(सुकृताम् उ)** सत्कर्मियों के **(लोकम्)** शरीरों में **(वह)** ले जा।

भावार्थ—मृतक का 'अज'—अजन्मा भाग उसका आत्मा है। वह इस शरीर को छोड़ गया, परन्तु उसे आगे की तैयारी करनी है। उसे कहा जा रहा है कि तू अपने कर्मों को शुद्ध करके तथा तेज की शक्ति से ऐसा बने कि अग्नि-तत्त्व से जिन कल्याणकारी शरीरों का निर्माण होता है, तेरे तेजस्वी कर्म तुझे उन जन्मों में ले जायें।

अव सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातवेदः स्वाहा॥ ३॥

—ऋ० १०।१६।५

शब्दार्थ—हे **(अग्ने)** अग्नि! **(यः)** जो यह मृत **(ते आहुतः)** तुझ यज्ञाग्नि में आहुति की तरह पड़ा हुआ (**स्वधाभिः**='स्व' अर्थात् अपने में; 'धा' अर्थात् धारण करनेवाले, अर्थात्—'कर्म') अपने कर्मों से **(चरति)** विचर रहा है, उसको

(पुनः) फिर **(पितृभ्यः)** माता-पिता के, अर्थात् पुनर्जन्म के लिए **(अवसृज)** पुनः उत्पन्न कर **(जातवेदः)** हे जातवेदस्! वह **(शेषः)** शरीर के मर जाने पर भी जो शेष बच रहा है **(आयुः वसानः)** वह आयु को धारण करता हुआ **(उप वेतु)** हमारे समीप आये और **(तन्वा संगच्छताम्)** शरीर के साथ संगमन करे।

भावार्थ—इस मन्त्र में कहा गया है कि शरीर के मर जाने पर आत्मा 'शेष' रह गया है, उसके साथ उसके 'स्वधा'—अपने में धारण किये हुए कर्म—मौजूद हैं, उन कर्मों के बल से दीर्घ-आयु को लेकर वह फिर माता-पिता द्वारा जन्म को प्राप्त करे। हर-एक व्यक्ति मोक्ष को थोड़े ही पाता है, सर्वसाधारण का तो जन्म-जन्मान्तर ही होता है।

अ॒ग्नेर्वर्म॒ परि॑ गोभि॒र्व्य॑यस्व॒ संप्रोर्णु॑ष्व॒ पीव॑सा॒ मेद॑सा च।
नेत्त्वा॑ धृ॒ष्णुर्हर॑सा॒ जर्हृ॑षाणो द॒धृग्वि॑ध॒क्ष्यन् प॑र्य॒ङ्खया॑ते॒ स्वाहा॑॥ ४॥

—ऋ० १०।१६।७

शब्दार्थ—(अग्नेः) अग्नि के (**वर्म**=वृञ् आच्छादने) आच्छादन, अर्थात् अग्नि-चिता पर रखे हुए काष्ठादि आच्छादन को **(गोभिः)** घृत तथा अग्नि-ज्वालाओं से **(परिव्ययस्व)** चारों तरफ से व्यय कर दे, भस्म कर दे, और **(पीवसा)** मृतक के शरीर की ज्वालाओं को मांसादि से **(मेदसा च)** मेदादि से—मांस-मेद से **(सं, प्र, उर्णुष्व)** ढक दे ताकि सारा शरीर ठीक तरह से भस्म हो जाए **(न इत्)** नहीं तो **(धृष्णुः)** धर दबानेवाला **(दधृक्)** प्रगल्भ एवं **(जर्हृषाणः)** अट्टहास करता हुआ अग्नि **(त्वाम्)** तुझे **(हरसा विधक्ष्यन्)** अपनी हरण करनेवाली ज्वालाओं से दग्ध करता हुआ **(परि अङ्खयाते)** बार-बार तेरे शरीर को जलाने का आख्यान करेगा।

भावार्थ—इस मंत्र में मृतक को मानो संबोधन करते हुए कहा गया है कि तू अपने इस छोड़े हुए शरीर को अग्नि की ज्वालाओं से इस प्रकार भस्म होने दे ताकि शरीर के मांस-मेदादि सब राख हो जाएँ, अन्यथा अगर तू अपने शरीर पर तरस खायेगा, इसे भस्म न होने देना चाहेगा, तो अग्नि की ज्वालायें तो अब इस शरीर को छोड़ने वाली हैं नहीं, वे मानो अट्टहास करती हुई, तेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग का हरण करती हुई घोषणा करेंगी कि यह शरीर टिकनेवाला नहीं, भस्म ही हो जानेवाला है।

यं त्वम॑ग्ने स॒मद॑ह॒स्तमु॒ निर्वा॑पया॒ पुनः॑।
कि॒याम्ब्वत्र॑ रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा॒ स्वाहा॑॥ ५॥ —ऋ० १०।१६।१३

शब्दार्थ—(अग्ने) हे अग्ने! **(त्वं ये समदहः)** तूने जिसका दाह कर दिया **(पुनः)** अब फिर **(तं उ)** उसको ही **(निर्वापय)** शान्त कर दे, अर्थात् शरीर के भस्म हो जाने पर अब अग्नि शान्त हो जाए, और **(अत्र)** इस स्थान पर **(कियाम्बु)**

किञ्चित् जल से **(व्यल्कशा)** विविध शाखाओंवाली **(पाकदूर्वा)** पकी हुई दूब **(रोहतु)** उठ खड़ी हो।

भावार्थ—शब को अग्नि द्वारा भस्म हो जाने पर वह स्थान निकम्मा न हो जाए, थोड़ा-सा जल पड़ने पर वह धरती शस्यश्यामला हो जाए, यह भावार्थ है।

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य स्वाहा॥ ६॥

—ऋ० १०।१४।१

शब्दार्थ—हे जीव! **(महीः)** महान्, अर्थात् नाना **(प्रवतः)** प्रकृष्ट जन्मों को **(अनु परेयिवांसम्)** प्राप्त करानेवाले, **(बहुभ्यः)** अनेक **(पन्थाम्)** मार्गों को **(अनु पस्पशानम्)** दिखानेवाले **(वैवस्वतं संगमनम्)** सूर्यादि को भी ठीक-से गति देनेवाले **(जनानां यमम्)** जो कुछ उत्पन्न हुआ है, उसको नियम में रखनेवाले **(राजानम्)** राजा को **(हविषा)** अपनी भक्तिरूप हवि से **(दुवस्य)** भज—उसका भजन कर।

भावार्थ—इस मन्त्र में कहा गया है कि विश्व में उसका राज है जो जीव को उत्तम-से-उत्तम जन्म देता है। अनेक मार्गों से उसे भ्रमण कराता है, सूर्यादि का नियमन भी वही करता है, हर जात-पदार्थ का वह स्वामी है—उसको भक्ति-भाव से भज।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या३अनु स्वाः स्वाहा॥ ७॥

—ऋ० १०।१४।२

शब्दार्थ—**(प्रथमः यमः)** जो सबसे प्रथम विद्यमान् है—वह सृष्टि को नियम में बाँधनेवाला 'यम' नाम से स्मरण किये जानेवाला भगवान् **(नः)** हमारी **(गातुम्)** गति को—अच्छे कर्म किये हैं या बुरे—इसको **(विवेद)** जानता है **(एषा)** इस **(गव्यूतिः)** गमन के मार्ग का **(न उ अप भर्तवा)** अपभरण नहीं हो सकता, इसे टाला नहीं जा सकता **(यत्र)** जहाँ, अर्थात् जिस शुभ मार्ग से **(नः पूर्वे पितरः)** हमारे पूर्वज **(परेयुः)** चलते रहे **(एना)** उस मार्ग को **(जज्ञानाः)** जाननेवाले **(पथ्याः)** मार्गदर्शक लोग **(अनुस्वाः)** हमें उस मार्ग के 'अनु'—पीछे 'स्वाः'—सुखपूर्वक चलने की प्रेरणा दें।

भावार्थ—सृष्टि को नियम में बाँधनेवाला होने के कारण परमेश्वर को 'यम' कहा है; वह हमारे अच्छे-बुरे कर्मों को जानता है—उनका फल टाला नहीं जा सकता। हमारे समाज के मार्गदर्शक लोग हमें उस शुभमार्ग की दिशा बतलाते रहें, जिस पर हमारे पूर्वज चलते रहे हैं।

मातली कव्यैर्यमा अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
याँश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये मदन्ति स्वाहा॥ ८॥

—ऋ० १०।१४।३

शब्दार्थ—(**मातली**) सम्पन्न व्यक्ति जैसे (**कव्यैः**) कवियों से, (**यमः**) नियमन करनेवाले जैसे (**अङ्गिरोभिः**) प्राणविद्या जाननेवालों से, (**बृहस्पतिः**) ज्ञानी जैसे (**ऋक्वभिः**) वेद की ऋचाओं के स्तुति-वाक्यों से (**वावृधानः**) बढ़ते हैं, उत्साहित होते हैं (**च**) और (**यान्**) जिनको (**देवाः**) दिव्य-लोग (**वावृधुः**) बढ़ाते हैं (**ये च**) और जो (**देवान्**) दिव्य लोगों को बढ़ाते हैं—उनमें से (**अन्ये**) कोई-एक (**स्वाहा**) स्तुति वचन मात्र से और (**अन्ये**) कोई-एक (**स्वधया**) अपने हाथ में कुछ अन्नादि दक्षिणा आ जाने से (**मदन्ति**) प्रसन्न होते हैं।

इमं यम प्रस्तरमा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषा मादयस्व स्वाहा॥ ९॥

—ऋ० १०।१४।४

शब्दार्थ—हे (**यम**) कर्म के नियामक-बन्धन में पड़ जानेवाले जीव! अगर तेरे कर्म पूरी तरह भोगे नहीं गये, तो (**इमं प्रस्तरम्**) इस विस्तीर्ण संसार में (**हि**) निश्चय से (**आसीद**) आ बैठ, और (**अङ्गिरोभिः पितृभिः**) प्राण-विद्या के जाननेवाले वृद्ध-जनों से साथ (**संविदानः**) ज्ञान-चर्चा कर; (**त्वा**) तुझे (**कविशस्ताः**) विद्वानों से प्रशंसित (**मन्त्राः**) मन्त्रणाएँ (**आ वहन्तु**) प्राप्त हों, (**राजन्**) सद्गुणों से प्रकाशित होता हुआ तू (**एना**) इस (**हविषा**) हवि से (**मादयस्व**) स्वयं प्रसन्न हो और दूसरों को प्रसन्न कर।

अङ्गिरोभिरा गहि यज्ञियेभिर्यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्य स्वाहा॥ १०॥

—ऋ० १०।१४।५

शब्दार्थ—हे (**यम**) कर्म के नियमक-बन्धन में पड़ जानेवाले जीव! (**वैरूपैः**) विविध प्रकार के (**यज्ञियेभिः**) यज्ञ-सम्बन्धी (**अङ्गिरोभिः**) अङ्गों से (**आगहि**) आ; और पुनः इस मानुष-जन्म को धारण करके (**मादयस्व**) हम सबको प्रसन्न कर; (**अस्मिन् यज्ञे**) इस जीवनरूपी यज्ञ में (**यः ते पिता**) जो तेरा पिता है वह (**बर्हिषि**) कुशा के आसन पर (**आ, निपद्य**) आ विराजे—ऐसे तेरे (**विवस्वन्तम्**) विवस्वान् सूर्य की तरह तेजस्वी पिता का—(**हुवे**) हम आह्वान करते हैं।

भावार्थ—हे जीव! अगर तेरे कर्म के बन्धन अभी टूटे नहीं हैं, तो जीवन-यज्ञ में फिर इस मानुष-देह को धारण कर यहाँ जन्म ले। हम तेरे लिये ऐसे माता-पिता की कामना करते हैं जो सूर्य की तरह देदीप्यमान हो, और नाना-प्रकार के यज्ञों में कुशासन पर विराजमान हो।

प्रेहिप्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवं स्वाहा॥ ११॥

—ऋ० १०।१४।६

शब्दार्थ—हे जीव! (**यत्र**) जिधर (**नः पूर्वे पितरः**) हमारे पूर्वज (**पूर्व्येभिः**) प्राचीन-काल के (**पथिभिः**) मार्गों से (**परेयुः**) गये हैं, उधर (**प्रेहि, प्रेहि**) चलता चला जा, चलता चला जा (**उभा राजाना**) तुम दोनों दीप्तिमान्—तू और तेरे पूर्वज—(**स्वधया मदन्ता**—'स्व' अर्थात् अपने में, 'धा' अर्थात् धारण करना) अपने में निहित कर्मों से प्रसन्न रहते हुए (**यमं वरुणं देवं च**) यम और वरुण देव को (**पश्यासि**) देखो।

भावार्थ—इस मन्त्र में जीव को सम्बोधित करके कहा गया है कि हमारे पूर्वज कल्याण के जिन मार्गों पर चलते रहे हैं, तू भी उन्हीं मार्गों पर चलता चला जा। तू और पूर्वज—दोनों अपने कर्मों की गठड़ी बाँधे प्रसन्नता से चलते चलो—इस प्रकार सृष्टि के नियामक 'यम' और सत्कर्मियों का वरण करनेवाले 'वरुण' का दर्शन हो जाएगा। दर्शन हो जाएगा—अर्थात् उनका अनुभव करोगे।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः स्वाहा॥ १२॥

—ऋ० १०।१४।७

शब्दार्थ तथा भावार्थ—हे जीव! (**यमेन**) संसार का नियमन करनेवाले के नियमों द्वारा (**पितृभिः संगच्छस्व**) नाना-प्रकार के माता-पिताओं को पुनर्जन्म द्वारा धारण कर (**इष्टापूर्तेन**) और अपना इष्ट-साधन तथा दूसरों के इष्ट की आपूर्ति करता हुआ (**परमे व्योमन् संगच्छस्व**) परम-धाम को प्राप्त कर (**अवद्यम् हित्वाय**) 'अवद्य'—अर्थात् बुराई को छोड़कर (**पुनः अस्तं एहि**) फिर संसाररूपी गृह को आ (**सुवर्चाः तन्वा**) तेजस्वी शरीर के साथ (**संगच्छस्व**) संगमन कर। इस मन्त्र में जीव को पुनर्जन्म धारण करने की बात कही गई है।

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै स्वाहा॥ १३॥

—ऋ० १०।१४।८

शब्दार्थ तथा भावार्थ—हे जीव! (**अतः**) इस जन्म से (**अप इत**) परे हट (**वि इत**) बिल्कुल हट जा (**वि च सर्पत**) इससे आगे के जन्म के लिए सरण कर (**अस्मा**) तेरे इस मृतक देह के लिए (**पितरः**) तेरे माता-पिता ने (**एतम्**) यह (**लोकम्**) लोक (**अक्रन्**) बनाया था, परन्तु अब (**यमः**) सृष्टि का नियामक (**अहोभिः, अक्तुभिः, अद्भिः व्यक्तम्**) दिन-रात-जलादि से तेरे व्यक्त (**अस्मै**) इस शरीर को (**अवसानं ददाति**) अवसान—विश्राम—देता है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः स्वाहा॥ १४॥ —ऋ० १०।१४।९

शब्दार्थ—हे जीवो! (**यमाय**) सृष्टि में नियमन-व्यवस्था बनी रहे इस धारणा को लेकर (**सोमं सुनुत**) सौम्यता का रह बहाया करो (**यमाय**) उसी नियमन-व्यवस्था के बनी रहने के लिए (**हविः जुहुता**) अपने जीवन का हवि के रूप में हवन किया करो (**अरंकृतः अग्निदूतः यज्ञः**) यह अलंकृत-यज्ञ जिसका अग्निदूत है (**यमं गच्छति**) तुम्हारी इस धारणा को लेकर सृष्टि की नियामक-शक्ति तक पहुँचाता है।

भावार्थ—वैसे तो शब्दार्थ की दृष्टि से इस मन्त्र का अर्थ है—यम के लिये सोमरस छानो, उसके लिए सोमरस की हवि दो, अलंकृत अग्निदूतवाला यज्ञ यम को जाता है, परन्तु इसके गूढ़ अर्थ में दो-तीन बातें निहित हैं। इसमें कहा गया है कि सृष्टि में कड़ी नियम-व्यवस्था है, उसके बिना सृष्टि में शासन नहीं रह सकता, परन्तु उस कठोरता को दूर करने के लिए सौम्यता की पुट पड़ना जरूरी है—इसी को '**सोमं-सुनत**' कहा है; दूसरी बात यह कही गई है कि नियम-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कभी-कभी मर मिटना भी पड़ता है—इसीको '**यमाय जुहता हविः**' कहा गया है। अग्नि का काम हर वस्तु को सूक्ष्म करके दूर-दूर तक पहुँचा देना है—इसीलिये अग्नि को यज्ञ का दूत—'**अग्निदूत**' कहा गया है।

यमाय घृतवद्धविर्जुहोत प्र च तिष्ठत।
स नो देवेष्वा यमद्दीर्घमायुः प्र जीवसे स्वाहा॥ १५॥

—ऋ० १०।१४।१०

शब्दार्थ तथा भावार्थ—हे जीवो! यज्ञ करते हुए (**घृतवत् हविः**) घृतमिश्रित हवि (**यमाय जुहोत**) सृष्टि में व्यवस्था—नियम—बनाये रखनेवाले के नाम से डालो (**प्र च तिष्ठ**) इस बात में स्थिर रहो, क्योंकि (**देवेषु**) सृष्टि में जितने नियामक हैं, उनमें (**सः**) वही (**नः**) हमें (**प्रजीवसे**) उत्तम प्रकार से जीवन के लिए (**दीर्घ आयुः**) दीर्घ आयु (**आ यमत्**) नियमित करता है।

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोतन।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः स्वाहा॥ १६॥

—ऋ० १०।१४।११

शब्दार्थ—हे जीवो! (**राज्ञे यमाय**) संसार में नियम-व्यवस्था स्थापन करनेवाले प्रदीप्त यम के लिए (**मधुमत्तमम्**) अत्यन्त मधुर भाव से (**हव्यम्**) भावना की आहुति का (**जुहोतन**) होम करो (**इदम्**) यह (**पथि कृद्भ्यः**) हमारे सामने पथ बनानेवाले (**पूर्वेभ्यः पूर्वजेभ्यः**) पहले हो चुके पूर्वजों (**ऋषिभ्यः**) ऋषियों के प्रति (**नमः**) हमारा नमस्कार है।

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत शोणो यशस्वान्।
हिरण्यरूपं जनिता जजान स्वाहा॥ १७॥ —ऋ० १०।२०।९

शब्दार्थ—हे जीवो! **(अस्य)** संसार के इस नियामक यम का यह संसार मानो एक **(यामः)** रथ है। कैसा रथ? **(कृष्णः)** कृष्ण—अर्थात्, तमोगुणमय, **(श्वेतः)** श्वेत—अर्थात् सतोगुणमय **(शोणः)** रक्त—अर्थात् रजोगुणमय; और, **(ब्रध्नः)** बहुत बड़ा **(ऋज्रः)** परन्तु फिर भी ऋजु अर्थात् सरल **(यशस्वान्)** कीर्तिवाला। ऐसे संसार को **(जनिता)** सृष्टि का जनन करनेवाले ने **(हिरण्यरूपम्)** सुवर्णमय **(जजान)** उत्पन्न किया है। वेद में कहा भी है—'**हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्**'।

[फिर चारों जने घी की निम्न ६३ आहुतियाँ दें]

ऋग्वेद के उक्त १७ मन्त्रों से चारों जने सत्रह-सत्रह आज्याहुति देकर, निम्नलिखित ६३ मन्त्रों से उसी प्रकार आहुति देवें—

प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा॥ १॥

पृथिव्यै	**स्वाहा॥ २॥**	**अग्नये**	**स्वाहा॥ ३॥**
अन्तरिक्षाय	**स्वाहा॥ ४॥**	**वायवे**	**स्वाहा॥ ५॥**
दिवे	**स्वाहा॥ ६॥**	**सूर्याय**	**स्वाहा॥ ७॥**
दिग्भ्यः	**स्वाहा॥ ८॥**	**चन्द्राय**	**स्वाहा॥ ९॥**
नक्षत्रेभ्यः	**स्वाहा॥ १०॥**	**अद्भ्यः**	**स्वाहा॥ ११॥**
वरुणाय	**स्वाहा॥ १२॥**	**नाभ्यै**	**स्वाहा॥ १३॥**
पूताय	**स्वाहा॥ १४॥**	**वाचे**	**स्वाहा॥ १५॥**
प्राणाय	**स्वाहा॥ १६॥**	**प्राणाय**	**स्वाहा॥ १७॥**
चक्षुषे	**स्वाहा॥ १८॥**	**चक्षुषे**	**स्वाहा॥ १९॥**
श्रोत्राय	**स्वाहा॥ २०॥**	**श्रोत्राय**	**स्वाहा॥ २१॥**
लोमभ्यः	**स्वाहा॥ २२॥**	**लोमभ्यः**	**स्वाहा॥ २३॥**
त्वचे	**स्वाहा॥ २४॥**	**त्वचे**	**स्वाहा॥ २५॥**
लोहिताय	**स्वाहा॥ २६॥**	**लोहिताय**	**स्वाहा॥ २७॥**
मेदोभ्यः	**स्वाहा॥ २८॥**	**मेदोभ्यः**	**स्वाहा॥ २९॥**
माꣳसेभ्यः	**स्वाहा॥ ३०॥**	**माꣳसेभ्यः**	**स्वाहा॥ ३१॥**
स्नावभ्यः	**स्वाहा॥ ३२॥**	**स्नावभ्यः**	**स्वाहा॥ ३३॥**
अस्थभ्यः	**स्वाहा॥ ३४॥**	**अस्थभ्यः**	**स्वाहा॥ ३५॥**
मज्जभ्यः	**स्वाहा॥ ३६॥**	**मज्जभ्यः**	**स्वाहा॥ ३७॥**
रेतसे	**स्वाहा॥ ३८॥**	**पायवे**	**स्वाहा॥ ३९॥**
आयासाय	**स्वाहा॥ ४०॥**	**प्रायासाय**	**स्वाहा॥ ४१॥**

संयासाय स्वाहा ॥ ४२ ॥ वियासाय स्वाहा ॥ ४३ ॥
उद्यासाय स्वाहा ॥ ४४ ॥ शुचे स्वाहा ॥ ४५ ॥
शोचते स्वाहा ॥ ४६ ॥ शोचमानाय स्वाहा ॥ ४७ ॥
शोकाय स्वाहा ॥ ४८ ॥ तपसे स्वाहा ॥ ४९ ॥
तप्यते स्वाहा ॥ ५० ॥ तप्यमानाय स्वाहा ॥ ५१ ॥
तप्ताय स्वाहा ॥ ५२ ॥ घर्माय स्वाहा ॥ ५३ ॥
निष्कृत्यै स्वाहा ॥ ५४ ॥ प्रायश्चित्यै स्वाहा ॥ ५५ ॥
भेषजाय स्वाहा ॥ ५६ ॥ यमाय स्वाहा ॥ ५७ ॥
अन्तकाय स्वाहा ॥ ५८ ॥ मृत्यवे स्वाहा ॥ ५९ ॥
ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ६० ॥ ब्रह्महत्यायै स्वाहा ॥ ६१ ॥
विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ६२ ॥ द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा ॥ ६३ ॥

—यजुः० अ० ३९, मन्त्र १-३, १०-१४ ॥

इन मन्त्रों में जीवसहित प्राणों के प्रति, पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, आकाश, सूर्य, दिशाएँ, चन्द्र, नक्षत्र, जल, वरुण, नाभि, पूत, वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, लोम, त्वचा, रुधिर, मेद, मांस, स्नायु, अस्थियाँ, मज्जा, रेतस्, पायु, आयास, प्रायास, संया, वियास, उद्यास, शुचि, शोचत, शोचमान, शोक, तप, तप्यत, तप्यमान, तप्त, धर्म, निष्कृति, प्रायश्चित्य, भेषज, यम, अन्तक, मृत्यु, ब्रह्म, ब्रह्महत्या, विश्वदेव, द्यावापृथिवी—सबके प्रति स्तुति-वचनों द्वारा आहुतियाँ देकर महाप्रयाण करनेवाले जीव की तरफ से अन्तिम विदाई ली जा रही है।

[तदनन्तर चारों जने निम्न मन्त्रों से १० आहुतियाँ दें]

उक्त प्रकार ६३ मन्त्रों से ६३ आहुति पृथक्-पृथक् देके, निम्नलिखित मन्त्रों से आहुति देवें—

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वाहा ॥ १ ॥

—अथर्व० १८।२।१

शब्दार्थ—(आत्मना) अपने मृत-देह के भस्म हो जाने के बाद **(चक्षुः)** तेरी देखने की शक्ति **(सूर्य)** उसके उद्भव-स्थान सूर्य को चली जाए, शरीर के **(धर्म)** तत्त्व वायु, द्यु, पृथिवी, जल, औषधि, वनस्पतियों में जा मिलें। इससे मिलता-जुलता मन्त्र पहले आ चुका है। यहाँ 'आत्मा' का अर्थ देह है।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा ॥ २ ॥

—अथर्व० १८।२।२

शब्दार्थ—(एकेभ्यः) किन्हीं-किन्हीं दिव्य, गुणों के व्यक्तियों के लिए

(सोमः पवते) सोम-रस को पुना जाता है **(एके)** कोई-कोई **(घृतं उपासते)** घृत चाहते हैं **(येभ्यः मधु प्रधावति)** जिनके लिये मधु दौड़कर लाया जाता है **(तान्)** उन **(चित् एव)** जन्मों में ही **(अपि गच्छतात्)** हे जीव! तुम गमन करो, अर्थात् पुनः जब तुम जन्म धारण करो, तब तुम्हें जीवन में मिठास-ही-मिठास मिले।

ये चित्पूर्व ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः।
ऋषींस्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् स्वाहा॥ ३॥

—अथर्व० १८।२।३

शब्दार्थ—**(ये चित्)** जो कोई **(पूर्वे)** अब से पहले **(ऋतसाताः)** ऋत—'सत्य'—का व्यवहार करनेवाले **(ऋतजाता)** ऋत—'सत्य'—में ही मानो जन्मे **(ऋतावृधः)** ऋत—'सत्य'—से ही बढ़े हैं, ऐसे **(तपस्वतः)** तपस्वी **(तपोजान्)** तप में ही जन्म को बितानेवाले **(ऋषीन्)** ऋषियों की गति को हे **(यम)** नियामक भगवान्! यह जीव **(अपि गच्छतात्)** पहुँचे।

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा॥ ४॥

—अथर्व० १८।२।४

शब्दार्थ—**(ये तपसा अनाधृष्याः)** जो तप से हारे नहीं **(ये तपसा स्वः ययुः)** तप से जिन्होंने सुखदायक जीवन को प्राप्त किया **(ये महः तपः चक्रिरे)** जिन्होंने महान् तप किया यह दिव्यगुणों का जीव **(तान् चित् एव)** उन्हीं जन्मों को **(अपि गच्छतात्)** प्राप्त करे।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् स्वाहा॥ ५॥

—अथर्व० १८।२।५

शब्दार्थ—**(ये शूरासः)** जो शूरवीर **(प्रधनेषु)** युद्धों में **(युध्यन्ते)** युद्ध करते हैं **(ये)** जो **(तनूत्यजः)** लड़ते-लड़ते शरीर छोड़ देते हैं **(ये वा)** अथवा जो **(सहस्रदक्षिणाः)** यज्ञादिक शुभ-कार्यों में दक्षिणा में हजारों का दान कर देते हैं **(तान् चित् एव अपि)** उन जन्मों में भी **(गच्छतात्)** हे जीव! तू जा।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः स्वाहा॥ ६॥ —अथर्व० १८।२।६

शब्दार्थ—(पृथिवी) हे पृथिवी! (अस्मै) जीव के इस मृतक शरीर के लिए **(अनृक्षरा)** कण्टक रहित **(निवेशनी)** अपने में निवेश—स्थान—देने वाली **(स्योना)** सुख देनेवाली **(भव)** हो **(सप्रथाः)** विस्तृत तू **(अस्मै)** इसको **(शर्म)** सुख या स्थान **(यच्छ)** दे।

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः।

मृत्युर्यमस्यासीद्दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार स्वाहा॥ ७॥

—अथर्व० १८। २। ७

शब्दार्थ—(**इमम्**) इसको (**जीवाः**) जीवों, अर्थात् जीवनेच्छा ने (**गृहेभ्यः**) घरों में ही पड़े रहने के लिए (**अप अरुधन्**) अवरुद्ध कर रखा था (**तम्**) उसे (**इतः ग्रामान्**) इस ग्राम—निवास स्थान—से (**परि निर्वहत**) परे करके निर्वाह करो—अर्थात् इसके मृत-देह को यहाँ से हटा दो (**मृत्युः प्रचेताः यमस्य दूत आसीत्**) मृत्यु इसको लेने के लिए यम का समझदार दूत बनकर आया था, जिसने इसके (**असून्**) प्राणों को (**पितृभ्यः**) पुरखों के (**गमयाञ्चकार**) मार्ग पर चलता किया।

यमः परोऽवरो विवस्वांस्ततः परं नाति पश्यामि किं चन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान स्वाहा॥ ८॥

—अथर्व० १८। २। ८

शब्दार्थ—हे जीवो! (**विवस्वान यमः**) सूर्यवत् तेजस्वी संसार का नियन्ता (**परः अवरः**) परे-से-परे है और निकट-से-निकट है (**ततः परम्**) उससे बड़ा (**किञ्चन**) कुछ भी (**अति, न, पश्यामि**) अति नहीं देखता हूँ (**मे अध्वरः**) मेरा यज्ञादि कर्म (**यमे**) उस जगन्नियन्ता में (**अधि निविष्टः**) ओत-प्रोत है, यह (**विवस्वान्**) सूर्यवत् तेजस्वी (**ननु भुवः आ ततान**) निश्चय से भुवन में विस्तृत हो रहा है।

भावार्थ—सर्वनियन्ता प्रभु दूर-से-दूर और समीप-से-समीप है। वह सूर्य के समान ज्ञान की किरणोंवाला है, उससे उत्कृष्ट मुझे कोई नहीं दिखलाई देता। मेरा यह जीवन-यज्ञ उसी जगन्नियन्ता प्रभु के आसरे ही चल रहा है।

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः स्वाहा॥ ९॥

—अथर्व० १८। २। ९

शब्दार्थ—(**अमृताम्**) अमृतरूपी वेदवाणी को (**मर्त्येभ्यः**) मरणधर्मा मनुष्यों से (**अपागुहन्**) गुह्य रखकर (**सवर्णां कृत्वा**) फिर उसे आचार्यों द्वारा सवर्ण अर्थात् प्रभु-वर्णन करनेवाली बना करके (**विवस्वते**) ज्ञानी पुरुष के लिए (**अददुः**) दे दिया (**सरण्यूः—सृ सरणे**) इस प्रकार सरण अर्थात् संसार में फैलनेवाली वेद-वाणी को (**अश्विनौ**) शीघ्र ग्रहण करनेवाले विद्वानों ने (**अभरन्**) अपने भीतर भर लिया, धारण कर लिया, फिर (**यत्**) जो (**द्वा मिथुना**) काम तथा क्रोधरूपी दो द्वन्द्व (**आसीत्**) थे (**तत्**) वे (**अजहात्**) दूर हो गये।

भावार्थ—वेद-विद्या अमृतवाणी है, वह मर्त्यों से छिपी रहती है, परन्तु आचार्यों तथा गुरुओं के सम्पर्क से वह सवर्ण—वर्ण सहित—अर्थात् स्पष्ट हो जाती है, गुप्त

नहीं रहती। ज्ञान ग्रहण करनेवाले उसे ग्रहण कर काम-क्रोध, ईर्ष्या-द्वेष आदि द्वन्द्वों को तज देते हैं।

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात् स्वाहा॥ १०॥

—अथर्व० १८।२।१०

शब्दार्थ तथा भावार्थ—अन्त्येष्टि में दो अग्नियों का प्रयोग वैदिक-पद्धति में लिखा है। एक है—'चिताग्नि' और दूसरी है—'गार्हपत्याग्नि'। यह विधि है कि जब स्नातक गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे, तब वह धर्म-कृत्यों को करने के लिए निज 'गार्हपत्याग्नि' का आधान करे, और उस अग्नि द्वारा निज यज्ञादि पुण्य-कर्मों को करता रहे। अन्त्येष्टि-संस्कार के समय मृत-व्यक्ति की 'गार्हपत्याग्नि' को भी चिता में डाल देना होता है, 'चिताग्नि' के साथ मृत-व्यक्ति के लिए कर्मों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह 'चिताग्नि' उसे केवल 'यम के सदन'—अर्थात् अन्तरिक्ष में पहुँचाती है। उसका शरीर सूक्ष्म होकर वायु और राख में मिल जाता है, परन्तु 'गार्हपत्याग्नि' में किये कर्म आत्मा को (असुनीताय—असु=प्राण, नीताय=प्रापणाय) प्राण की पुनः प्राप्ति अर्थात् पुनर्जन्म के लिए और उसे पुनः मातृ-गर्भ तक ले जाने (वोढवे) के लिये कारण बनते हैं। इस प्रकार (इमौ ते वह्नी युनज्मि) तेरी दोनों प्रकार की अग्नियों को अन्त्येष्टि में जोड़ दिया जाता है, फिर (ताभ्याम्) इन दोनों के माध्यम से गुजरकर और पुनर्जन्म को प्राप्त कर अगले जन्म में फिर (समितीश्च गच्छतात्) आत्मा विद्वानों की समितियों में जाकर ज्ञान प्राप्त करता है।

[तदनन्तर चारों जने निम्न मन्त्रों से २६ आहुतियाँ दें]

अग्नये रयिमते स्वाहा॥ १॥

शब्दार्थ—(रयिमते)'रयि'—अर्थात् धन, उससे युक्त अग्नि के लिए स्तुतिवचन है। जितने धातु हैं उन्हें अग्नि में डालकर ढाला जाता है, उन्हीं से धन—सिक्का—ष्टश्चद्वठु—बनता है। मरने के बाद हर वस्तु को अलविदा करता हुआ जीव रयिमान अग्नि को अन्तिम नमस्कार करता है।

पुरुषस्य सयावर्यपेदघानि मृज्महे। यथा नो अत्र नापरः पुरा जरस आयति स्वाहा॥ २॥

—तै० आ०, प्र० ६, अ० १

शब्दार्थ—(पुरुषस्य) पुरुष के **(संयावरि)** साथ रहनेवाले जन्म-जन्मान्तर के संस्कारो! **(अघानि)** पाप के संस्कारों को **(अपेत्)** दूर करो, इनको दूर करने से ही **(मृज्महे)** हम शुद्ध होते हैं, **(यथा)** ताकि **(अत्र)** यहाँ **(नः अपरः)** हमारा 'अपर'—अर्थात् पाप का संस्कार जो जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है **(जरसः पुरा)** वृद्धावस्था से पहले ही अवस्था—यौवन में **(न आयति)** नहीं आता।

भावार्थ—अगर पाप के संस्कार तक मिटकर जीव शुद्ध हो जाए, तो युवावस्था

में पाप का सम्पर्क नहीं होता। इसका यह आशय नहीं है कि वृद्धावस्था आ जाने पर पाप का संस्कार आ पकड़ता है। पाप के संस्कार आते हैं '**पुरा जरसः**'—वृद्धावस्था से पहले—युवावस्था में। यहाँ '**पुरा जरसः**' का अर्थ युवावस्था है।

य एतस्य पथो गोप्तारस्तेभ्यः स्वाहा॥ ३॥

य एतस्य पथो रक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा॥ ४॥

य एतस्य पथोऽभिरक्षितारस्तेभ्यः स्वाहा॥ ५॥

शब्दार्थ—(**ये**) जो (**एतस्य**) इस मृतक के (**पथः**) मार्ग के (**गोप्तारः, रक्षितारः, अभिरक्षितारः**) गोप्ता, रक्षिता, अभिरक्षिता हैं (**तेभ्यः नमः**) उनके प्रति नमस्कार है।

भावार्थ—मृतक का मार्ग क्या है? मनुष्य मर कर किधर और कहाँ जाता है? यह सब गुप्त है—किसी को पता नहीं। परन्तु इस रहस्य के गुप्त होते हुए भी जीव की रक्षा ही नहीं अभिरक्षा—पूर्ण-रक्षा होती है, इसलिए मृतक के मार्ग को गुप्त रखनेवाले, उसकी रक्षा और अभिरक्षा करनेवाले के प्रति नमस्कार है।

ख्यात्रे स्वाहा॥ ६॥ **अपाख्यात्रे स्वाहा॥ ७॥**

शब्दार्थ—(**ख्यात्रे, अपाख्यात्रे**) मृतक की जिन बातों से ख्याति—कीर्ति हुई, और जिन बातों से अपाख्याति—अपख्याति—अकीर्ति हुई, उन सबको विदाई!

अभिलालपते स्वाहा॥ ८॥ **अपलालपते स्वाहा॥ ९॥**

शब्दार्थ—(**अभिलालपते, अप लालपते**) मृतक के सम्बन्ध में जो लपन हुआ और जो अपलपन हुआ—प्रशंसा हुई या निन्दा हुई—उस सबको विदाई!

अग्नये कर्मकृते स्वाहा॥ १०॥

शब्दार्थ—(**कर्मकृते अग्नये**) संसार का सब कर्म—व्यवहार—जिसके द्वारा चल रहा है, उसे अलविदा!

यमत्र नाधीमस्तस्मै स्वाहा॥ ११॥

शब्दार्थ—(**यं अत्र**) इस प्रकरण में (**यम्**) जिसे (**न अधीमः**) नहीं पढ़ रहे, अर्थात् नहीं गिना रहे, (**तस्मै**) उसे भी नमस्कार है—जीव कहता है कि अब मैं महाप्रयाण कर रहा हूँ, सबको अलविदा!

अग्नये वैश्वानराय सुवर्गाय लोकाय स्वाहा॥ १२॥ —तै० आ० ६, अ० २

शब्दार्थ—(**वैश्वानराय अग्नये**) सब नरों के लिए हितकारी अग्नि के प्रति नमस्कार है, मैं (**सुवर्गाय लोकाय**) उत्तम वर्ग—कोटि—के 'लोक'—जन्म—के प्रति प्रयाण कर रहा हूँ।

आयातु देवः सुमनाभिरूतिभिर्यमो ह वेह प्रयताभिरक्ता।

आसीदताꣳ सुप्रयते ह बर्हिष्यूर्जाय जात्यै मम शत्रुहत्यै स्वाहा॥ १३॥

शब्दार्थ—(**यमः देवः**) संसार को नियम में रखनेवाला देव (**सुमनाभिः**)

प्रसन्न मन के साथ (**प्रयताभिः**) पूर्ण प्रयत्न के साथ, (**ऊतिभिः**) स्तुतियों के साथ (**अक्ताः**) सम्बद्ध हुआ (**इह**) यहाँ (**आयातु**) पधारे और (**मम**) मेरे (**सुप्रयते**) प्रयत्न की सिद्धि के लिए (**ऊर्जाय**) मेरे ऊर्जा—तेजस्व—के लिए और (**जात्यै**) मेरे उत्तम जन्म के लिए (**शत्रुहत्यै**) मेरे शत्रुओं से विनाश के लिए (**आसीदताम्**) यहाँ विराजे।

योऽस्य कोष्ठ्य जगतः पार्थिवस्यैक इद्वशी।
यमं भङ्ग्यश्रवो गाय यो राजाऽनपरोध्यः स्वाहा॥ १४॥

शब्दार्थ—(**यः**) जो (**अस्य**) इस (**पार्थिवस्य**) भौतिक (**कोष्ठ्य जगतः**) धन-धान्य से भरे हुए कोठों वाले जगत् का (**एक इत्**) एक ही (**वशी**) वश करनेवाला है, तथा (**यः**) जो (**अनपरोध्यः राजा**) अवरोध रहित राजा है, और (**भङ्ग्यश्रवः**) जिसके सामने तेरा '*श्रव*'—कीर्ति—'*भंग्य*' है, भङ्ग हो जाता है—कुछ नहीं है, वह तू संसार के वशी, वश करनेवाले, बेमुकाबिल, सर्वत्र कीर्तिमान् के गुण (**गाय**) गा।

भावार्थ—यहाँ पुरुष को '**भंग्यश्रव**' कहा गया है, क्योंकि संसार के वशी परमात्मा के सामने मनुष्य की कीर्ति भंग हो जाती है, वह—भगवान्—'**अभंग्यश्रव**' है—जिसकी कीर्ति का भंग नहीं हो सकता। इसी प्रकार भगवान् को '**अनपरोध्यः**' कहा है—'**अपरोध्य**' का अर्थ है जिसके साथ टक्कर ली जा सकती है, '**अनपरोध्य**' का अर्थ हुआ—जिसके साथ कोई टक्कर नहीं ले सकता—बेमिसाल, अद्वितीय।

यमं गाय भङ्ग्यश्रवो यो राजाऽनपरोध्यः।
येनाऽऽपो नद्यो धन्वानि येन द्यौः पृथिवी दृढा स्वाहा॥ १५॥

शब्दार्थ—यम की स्तुति करो, जिसकी कीर्ति के सामने किसी की कीर्ति टिक नहीं सकती, जिसके साथ कोई टक्कर नहीं ले सकता (**येन**) जिसके द्वारा (**नद्यः**) नदियों की (**आपः**) जलधाराएँ (**धन्वानि**) धनु की तरह बनी हुई हैं, जैसे धनुष तीर को छोड़ता है और वह तीव्र-गति से जाता है, वैसे नदियाँ भी तीव्र-गति से बह रही हैं, नदियों की तीव्र गति के होते हुए भी (**येन**) जिसके द्वारा (**द्यौः पृथिवी**) द्युलोक और पृथिवीलोक (**दृढ़ा**) दृढ़ हैं—स्थिर हैं, उसकी कीर्ति-गाथा गाओ।

हिरण्यकक्ष्यान्त्सुधुरान् हिरण्याक्षानयःशफान्।
अश्वाननः शतो दानं यमो राजाभितिष्ठति स्वाहा॥ १६॥

शब्दार्थ—(**हिरण्यकक्ष्यान्**) सुवर्णमय कक्ष्यों—मकानों को, (**सुधुरान्**) सुन्दर धुरीवाले रथों को (**हिरण्याक्षान्**) सुवर्ण के समान चमकीली आँखोंवाले (**अयः शफान्**) लोहे के समान खुरोंवाले (**अश्वान्**) घोड़ों को तथा (**अनः शतः**) सैकड़ों प्रकार के जीवन के भोग्य-पदार्थोंवाला (**दानम्**) उन्हें हमें देने के लिए (**यमः राजा**) संसार का नियामक राजा—दीप्तिमान् यम (**अभितिष्ठति**)

हमारे सामने खड़ा है।

भावार्थ—हम अपने किये दरिद्र बने हुए हैं, भगवान् तो संसार की सारी विभूति हमें देने के लिए सामने खड़े हैं, हम लेनेवाले बनें, हमें विश्व का सम्पूर्ण वैभव मिल सकता है। देनेवाला सब-कुछ देने के लिए तैयार है, लेनेवाले में ही लेने का सामर्थ्य नहीं है। लेने की भी योग्यता होनी चाहिए, बिना योग्यता के दान भी नहीं मिलता।

यमो दाधार पृथिवीं यमो विश्वमिदं जगत्।
यमाय सर्वमित्तस्थे यत् प्राणद्वायुरक्षितं स्वाहा॥ १७॥

शब्दार्थ—(**यमः**) विश्व का नियन्ता परमेश्वर (**दाधार पृथिवीम्**) पृथिवी का धारण करता है (**यमः**) वही नियन्ता (**इदं विश्वं जगत्**) इस सम्पूर्ण जगत् का धारण कर रहा है (**यमाय**) उसी नियन्ता के अनुसार (**सर्वं इत्**) सब ही (**तस्थे**) स्थित है, और (**यत्**) जो कुछ (**वायु रक्षितम्**) प्राण-वायु द्वारा रक्षित (**प्राणत्**) प्राण ले रहा है, उस सबको वही धारण कर रहा है।

यथा पञ्च यथा षड् यथा पञ्चदशर्षयः।
यमं यो विद्यात् स ब्रूयाद्यथैक ऋषिर्विजानते स्वाहा॥ १८॥

शब्दार्थ—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश—ये पाँच महाभूत क्या हैं, वसन्त आदि छह ऋतुएँ क्या हैं, पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ—ये १५ ऋषि क्या हैं, और यम क्या है—इस सबको (**यः ब्रूयात्**) जो कह दे, (**सः**) वही ही (**ब्रूयात्**) ठीक-ठीक बात ऐसे कहेगा, (**यथा**) जैसे (**एकः ऋषिः**) ऋषियों में वही एक (**विजानते**) जानता है। अर्थात् पञ्च महाभूत, षड् ऋतु, महाभूत-ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय तथा यम—इन सबका तत्त्वज्ञान जो ठीक-ठीक कर सकता है, वह ऋषियों में एक समझना चाहिए—ऋषियों में एक, अर्थात् अत्यन्त प्रतिष्ठित।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षडुर्वी रेकमिद् बृहत्।
गायत्री त्रिष्टुप्छन्दाꣳसि सर्वा ता यम आहिता स्वाहा॥ १९॥

शब्दार्थ—(**त्रिकद्रुकेभिः**) जो-जो भी त्रिक हैं, तथा (**षडुर्वीः**) जो बड़े-बड़े—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ध्रुवा, ऊर्ध्वा—ये छह हैं—उन सबका (**बृहत् एकं इत्**) महान् एक में ही (**पतति**) पतन अर्थात् निवेश होता है—अर्थात् संसार को तीन—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ—इस त्रिक में बाँटा जाए, या किन्हीं छह भागों में बाँटा जाए, सब मिलकर एक यम—नियन्ता—में ही समा जाते हैं। गायत्री, त्रिष्टुप्, छन्द—(**ता सर्वा**)—ये सब भी (**यम**) नियामक में (**आहिता**) पिरोये हुए हैं। इसी भाव को प्रकट करने के लिए कहा है—'**यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः**'।

अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं जगत्।
वैवस्वतो न तृप्यति पञ्चभिर्मानवैर्यमः स्वाहा॥ २०॥

शब्दार्थ—(**पञ्चभिः मानवैः**) पञ्च महाभूतरूपी मानवों के द्वारा (**वैवस्वतो**

यमः) सूर्य की तरह प्रकाशमान सृष्टि का नियामक **(अहरहः)** प्रतिदिन **(गाम्, अश्वम्, पुरुषम्, जगत्)** गाय, घोड़ा, पुरुष आदि जगत् को **(नयमानः)** चलाता हुआ **(न तृप्यति)** तृप्त नहीं होता, अर्थात् नहीं थकता।

वैवस्वते विविच्यन्ते यमे राजनि ते जनाः।
ये चेह सत्येनेच्छन्ते य उ चानृतवादिनः स्वाहा॥ २१॥

शब्दार्थ—**(वैवस्वते यमे)** सूर्य जैसे ब्रह्माण्ड का नियमन करता है वैसे जो सूर्यादि का भी नियामक है उसके, **(राजनि)** राज्य में **(ते जनाः)** वे व्यक्ति **(विविच्यन्ते)** विविक्त किये जाते हैं—एक-दूसरे से पृथक् कर दिये जाते हैं **(ये च इह)** जो यहाँ संसार में **(सत्येन इच्छन्ति)** सत्य द्वारा अपनी इच्छाओं की पूर्ति चाहते हैं **(य उ च)** और जो और—दूसरे हैं **(अनृत वादिनः)** वे झूठ बोलनेवाले हैं।

भावार्थ—जैसे सूर्य के राज्य में प्रकाश और अन्धकार एक-दूसरे से जुदा दीख जाते हैं, वैसे परमात्मा के राज्य में झूठे और सच्चे एक-दूसरे से जुदा दीख जाते हैं।

ते राजन्निह विविच्यन्तेऽथा यन्ति त्वामुप।
देवांश्च ये नमस्यन्ति ब्राह्मणांश्चापचित्यति स्वाहा॥ २२॥

शब्दार्थ—हे **(राजन्)** दीप्तिमय यम! **(अथ)** मरणानन्तर जो **(त्वाम्)** तुझ **(उपयन्ति)** प्राप्त होते हैं **(ते)** वे **(इह)** यहाँ **(विविच्यन्ते)** विविक्त किये जाते हैं—एक-दूसरे से पृथक् समझ लिये जाते हैं। कैसे एक-दूसरे से पृथक् समझे जाते हैं? **(देवान् च ये नमस्यन्ति)** एक तो दिव्य गुणवाले हैं, जो तुझे—'यम'—अर्थात् संसार के नियमन करनेवाले तुम्हें नमस्कार करते हैं, दूसरे वे हैं जो **(ब्राह्मणान् च)** ब्रह्म के भक्तों को **(अप चित्यति)** अप=बुरा, चित्यति=जानते हैं। इस मन्त्र का भाव लगभग वही है जो ऊपर के मन्त्र में कहा गया है।

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः।
अत्रा नो विश्पतिः पिता पुराणा अनुवेनति स्वाहा॥ २३॥

शब्दार्थ—**(यस्मिन्, सुपलाशे, वृक्षे)** जिस सुन्दर पलाश जैसे संसार रूपी वृक्ष में **(यमः)** नियन्ता परमेश्वर **(देवैः)** अपने दिव्य गुणों के साथ **(सम् पिबते)** सम्यक्तया सृष्टि-निर्माण-रस का पान करता है **(अत्र)** इसी संसार को **(नः)** हमारा **(विश्पतिः पिता)** प्रजाओं का पालक पितृ-तुल्य भगवान् **(पुराणा)** पहले की-सी सृष्टि को **(अनुवेनति)** चलाता है। इस मन्त्र में **'यथा-पूर्वमकल्पयत्'** की-सी बात कही गई है।

उत्ते तभ्नोमि पृथिवीं त्वत्परीमं लोकं निदधन्मो अहꣳ रिषम्।
एतांꣳस्थूणां पितरो धारयन्तु तेऽत्रा यमः सादनात्ते मिनोतु स्वाहा॥ २४॥

शब्दार्थ—**(ते)** हे जीव! तेरे लिये **(पृथिवीम्)** पृथिवी को **(उत् तभ्नोमि)** ऊपर थमाये हुए हूँ **(त्वम् परि)** तेरे लिये **(इमं लोकम्)** इस लोक को **(निदधत्)**

धारण करते हुए **(अहं मा उ रिषम्)** मैं कोई हिंसा नहीं करता, किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता **(एताम्)** इस **(स्थूणाम्)** सृष्टि-रूपी स्तम्भ को **(ते पितरः धारयन्तु)** तुम्हारे बड़े सम्भालें **(अत्र यमः)** यहाँ सृष्टि का नियामक भगवान् **(सादनात्)** इस सदन या स्थान से **(ते मिनोतु)** तेरे लिये सब-कुछ माप कर दे।

भावार्थ—परमात्मा ने सृष्टि को—पृथिवी और लोक-लोकान्तर को—धारण किया हुआ है, इस विशाल विश्व को धारण करने में किसी दूसरे की सहायता नहीं ली गई, किसी को कष्ट नहीं दिया गया, परन्तु जब सृष्टि बन चुकी, धारण भी की जा चुकी, तब समाज को धारण करने, उसमें व्यवस्था रखने का काम तो पितरों—वृद्ध जनों—का हो जाता है। सृष्टि का नियामक तो सबको गिन-गिन कर, कर्मानुसार नाप-तोल कर ही देता है।

यथाऽहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्त्तव ऋतुभिर्यन्ति क्लृप्ताः।
यथा नःपूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंꣳषि कल्पयैषाꣳस्वाहा॥ २५॥

शब्दार्थ—**(यथा)** जैसे **(अहानि)** दिन-रात **(अनुपूर्व भवन्ति)** एक-दूसरे के बाद होते रहते हैं **(यथा)** जैसे **(ऋतवः)** ऋतुएँ **(ऋतुभिः)** ऋतुओं के साथ **(क्लृप्ताः)** जुड़ी हुई **(यन्ति)** आती-जाती हैं, **(यथा)** जैसे (नः) हमारा **(पूर्व)** पहले आनेवाला **(अपरः जहाति)** पीछे आनेवाले को पीछे छोड़ जाता है **(धातः)** संसार का धारण करनेवाले हे भगवन्! **(एवा)** इसी तरह **(एषाम्)** इनकी **(आयुंषि)** जीवनों को **(कल्पताम्)** बनाओ।

भावार्थ—जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आता-जाता है, एक ऋतु के बाद दूसरी ऋतु आती और चली जाती है, पिता के बाद पुत्र आता और पिता पुत्र को छोड़कर मृत्यु के उपरान्त चला जाता है—हे भगवान्! हम सबको इस जीवन-चक्र में चलने का साहस दो, मृत्यु से हम धैर्य न खो बैठें।

न हि ते अग्ने तनुवै क्रूरं चकार मर्त्यः। कपिर्बभस्ति तेजनं पुनर्जरायुर्गौरिव।
अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघं मृत्यवे स्वाहा॥ २६॥

—तैत्ति० प्रपा० ६। अनु० १।१०॥

शब्दार्थ—**(अग्ने)** हे अग्निस्वरूप भगवन्! **(ते)** तेरी सृष्टि में **(मर्त्यः)** कोई भी मनुष्य **(तनुवै)** अपने तनु—अर्थात् शरीर के प्रति **(क्रूरम्)** क्रूर-कृत्य को—आत्महत्या को—**(न चकार)** न करे, **(पुनः)** विशेष तौर पर **(गौः)** जैसे गौ **(जरायुः इव)** अपनी जेर को सम्भालती है वैसे **(कपिः)** बन्दर **(तेजनम्)** अपने क्रोध को सम्भाले। **(अग्ने)** हे भगवन्! **(नः)** हमारे **(अघम्)** पाप को **(अप शोशुचत्)** हमें शोक उत्पन्न कर हमसे पृथक् कीजिये **(रयिम्)** धन-सम्पत्ति को **(शुशुध्या)** शुद्ध कीजिये—अर्थात् हम अशुद्ध मार्गों से धन का सञ्चय न करें—**(मृत्यवे स्वाहा)** मृत्यु को स्मरण कर हम यह स्तुति वचन बोल रहे हैं।

भावार्थ—इस मन्त्र में कहा गया है कि यद्यपि मनुष्य '**मर्त्य**'—मरणा धर्मा है, तो भी आत्महत्या का-सा कोई क्रूर कर्म न करे—'**अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जनाः**'। अगर क्रोध में आकर कोई बन्दर की-सी तेजी करने लगे, तो उसे शिक्षा दी गई है कि गौ जैसे जेर को सम्भालती है वैसे वह अपने को सम्भाले।

उक्त छब्बीस आहुतियों को करके, ये सब **(ओम् अग्नये स्वाहा)** इस मन्त्र से लेकर **(मृत्यवे स्वाहा)** तक एक सौ इक्कीस—५+१७+६३+१०+२६=१२१ आहुतियाँ हुईं। अर्थात् ४ जनों की मिलके चार सौ चौरासी, और जो दो जने आहुति देवें तो दो सौ बयालीस। यदि घृत विशेष हो तो पुनः इन्हीं एक सौ इक्कीस मन्त्रों से आहुतियाँ देते जाएँ, यावत् शरीर भस्म न हो जाए तावत् देवें।

[गतात्मा की सद्गति के लिये प्रार्थना]

इसके अनन्तर सम्बन्धी, इष्ट-मित्र जहाँ दाह-संस्कार किया हो, कहीं एक स्थान पर बैठकर गतात्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना कर अपने घरों को लौट जाएँ।

[मृत्यु-स्थल पर यज्ञ]

जिसके घर में मृत्यु हुआ हो उसके घर का मार्जन, लेपन, प्रक्षालनादि से शुद्धि करके, ईश्वरोपासना (पृ० ३५) स्वस्तिवाचन (पृ० ३९) और शान्तिकरण के मन्त्रों से जहाँ अङ्क अर्थात् मन्त्र पूरा हो वहाँ 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके (पृ० ५५) सुगन्ध्यादि मिले हुए घृत की आहुति घर में देवें, कि जिससे मृतक का वायु घर से निकल जाए, और शुद्ध वायु घर में प्रवेश करे और सबका चित्त प्रसन्न रहे। यदि उस दिन रात्रि हो जाए, तो थोड़ी-सी (आहुति) देकर, दूसरे दिन प्रातःकाल उसी प्रकार स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण के मन्त्रों से आहुति देवें।

[अस्थिचयन तथा भस्मप्रवाह]

तत्पश्चात्, जब तीसरा दिन हो, तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर, चिता से अस्थि उठा के, उस श्मशानभूमि में कहीं पृथक् रख देवे। बस इसके आगे मृतक के लिए कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि पूर्व '**भस्मान्तः शरीरम्**' यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका है कि दाहकर्म और अस्थिसंचयन से पृथक् मृतक के लिए दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। हाँ, यदि वह सम्पन्न हो तो अपने जीते-जी वा मरे पीछे उसके सम्बन्धी वेदोक्तधर्म का प्रचार, अनाथपालन, वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिए चाहे जितना धन प्रदान करें, बहुत अच्छी बात है।

इति मृतकसंस्कारविधिः समाप्तः॥

शालादिकर्म विधिः

शाला कई प्रकार की हो सकती है। उदाहरणार्थ, रहने के लिए 'घर', विद्याध्ययन के लिए 'विद्यालय', व्यापार करने के लिए 'दुकान', उपचार के लिए 'औषधालय', विद्या-प्रसार के लिए 'पुस्तकालय', खान-पान के लिए 'भोजनालय' या 'होटल' आदि। इन सबके सम्बन्ध में की गई विधि को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—एक विधि वह जब शाला की नींव रखी जाती है—इसे 'शिला-न्यास' कहते हैं; दूसरी विधि वह जब शाला बन जाने पर उसमें प्रवेश किया जाता है—इसे 'शाला-प्रवेश' कहते हैं; तीसरी विधि वह जब व्यापार के निमित्त किसी शाला वा स्थान पर व्यापार प्रारम्भ किया जाता है—इसे 'वाणिज्य-विधि' कहते हैं। इस अध्याय में हम 'शिला-न्यास' तथा 'शाला-प्रवेश' पर लिखेंगे, अगले अध्याय में 'वाणिज्य-विधि' पर लिखेंगे।

१. अथ शिला-न्यास विधिः

जिस दिन उक्त शालाओं में से किसी शाला का शिला-न्यास (Foundation laying) करना हो, उस दिन निश्चित स्थान पर यज्ञ-मण्डप बनाकर पहले गड्ढा खोदकर रखें। निश्चित समय पर '**ऋत्विग्वरण**' (पृ० ७१); '**आचमन**' (पृ० ७१); '**अङ्ग-स्पर्श**' (पृ० ७२); '**ईश्वर-स्तुति**' (पृ० ३५); '**स्वस्तिवाचन**' (पृ० ३९); '**शान्तिकरण**' (पृ० ५५); '**अग्न्याधान**' (पृ० ७२); '**अग्नि-प्रदीपन**' (पृ० ७३); '**त्रि-समिदाधान**' (पृ० ७४-७७); '**पञ्च आज्याहुतियाँ**' (पृ० ७७); '**जल-प्रसेचन**' (पृ० ७७) तथा ४ '**आघारावाज्यभागाहुतियाँ**' (पृ० ७८) डालकर निम्न मन्त्र से एक आहुति दें—

ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा॥ —पार० ३,४,३

तत्पश्चात् जिस स्थान पर शिला-न्यास करना हो वहाँ जल-सिंचन करके शिला-न्यास करें—ईंट, चूना, रेत, सीमेंट से काम लें। अगर उचित समझें तो नींव में वेद-चतुष्टय या परिवार का चित्रादि सहित परिचय ऐसी पेटी में डालकर रख दें जो मट्टी-जल आदि से नष्ट न हो सके। निम्न मन्त्रों को पढ़ते हुए नींव में चिनाई कर दें—

ओं स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे।
तमा तिष्टानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता दधातु॥

—अथर्व० १४.१.४७

शब्दार्थ—हे भूमिसातः! **(ते)** तुझ **(देव्याः)** दिव्य **(पृथिव्याः उपस्थे)** पृथिवी की गोद में **(स्योनम्)** सुख देनेवाली **(ध्रुवं अश्मानम्)** इस अचल शिला

को **(प्रजायै)** वृद्धि के लिए **(धारयामि)** रखता हूँ **(अनुमाद्या सुवर्चाः)** मुझ द्वारा हर्षित या स्तुति करने योग्य वर्चस्विनी तू **(तम् आतिष्ट)** इस शिला को स्थिर ठहराये रख **(सविता)** संसार की हर वस्तु का प्रसव करनेवाला भगवान् **(ते आयुः)** हे शिला! तेरी आयु को **(दीर्घं कृणोतु)** दीर्घ करे—दृढ़ शिला से यह शाला देर तक बनी रहे।

तत्पश्चात् ४ **'व्याहृति आहुतियाँ'** (पृ० ७६); ६ **'अष्टाज्याहुतियाँ'** (पृ० ७९-८२) देकर **'सर्वं वै पूर्णꣳस्वाहा'** से तीन पूर्णाहुतियाँ देकर शान्ति-पाठ या वामदेव्यगान करके सब लोग मिलकर यजमान के लिए मंगलकामना करते हुए कहें—**''सत्याः सन्तु यजमानस्य कामः''॥**

२. अथ शाला-प्रवेश विधिः

जब घर या स्थान बन चुके तब उसकी शुद्धि अच्छे प्रकार करा, चारों दिशाओं के बाहरले द्वारों में चार वेदी और एक वेदी घर के मध्य बनावें, अथवा ताम्बे का वेदी के समान कुण्ड बनवा लेवें कि जिससे सब ठिकाने एक कुण्ड ही में काम हो जावे। सब प्रकार की सामग्री अर्थात् समिधा, घृत, चावल, मिष्ट, सुगन्ध, पुष्टिकारक द्रव्यों को ले के शोधन कर प्रथम दिन रख लेवें, जिस दिन गृहपति का चित्त प्रसन्न होवे, उसी शुभ दिन में गृह-प्रतिष्ठा करें।

वहाँ ऋत्विज्, होता, अध्वर्यु और ब्रह्मा का वरण करें जो कि धर्मात्मा विद्वान् हों। वे सब वेदी से पश्चिम दिशा में बैठें। उनमें से होता का आसन पश्चिम में और उस पर वह पूर्वाभिमुख, अध्वर्यु का आसन उत्तर में, उस पर दक्षिणाभिमुख, उद्गाता का पूर्व दिशा में आसन, उस पर वह पश्चिमाभिमुख, और ब्रह्मा का दक्षिण दिशा में उत्तमासन बिछाकर उत्तराभिमुख—इस प्रकार चारों आसनों पर चारों विद्वानों को बैठावे और गृहपति सर्वत्र पश्चिम में पूर्वाभिमुख बैठा करे। ऐसे ही घर के मध्य वेदी के चारों ओर दूसरे आसन बिछा रक्खे।

[ध्वजा-स्थापन]

पश्चात् निष्क्रम्यद्वार, जिस द्वार से मुख्य करके घर से निकलना और प्रवेश करना होवे, अर्थात् जो मुख्य द्वार हो, उसी द्वार के समीप ब्रह्मा सहित बाहर ठहरकर—

ओम् अच्युताय भौमाय स्वाहा॥ —पार० ३,४,३

इससे एक आहुति देकर, ध्वजा का स्तम्भ, जिसमें ध्वजा लगाई हो, खड़ा करे, और घर के ऊपर चारों कोणों पर चार ध्वजा खड़ी करे, तथा कार्यकर्त्ता गृहपति, स्तम्भ खड़ा करके उसके मूल में जल से सेचन करे, जिससे वह दृढ़ रहे।

[पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर द्वारों पर जल-सेचन]

पुनः द्वार के सामने बाहर जाकर नीचे लिखे चार मन्त्रों से जल सेचन करे—

ओम् इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणी वसूनाम्। इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षयामाणा॥ १॥ —पार० ३,४,४

उक्त मन्त्र से पूर्व द्वार के सामने जल छिटकावे,

अश्वावती गोमती सूनृतावत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय।
आ त्वा शिशुराक्रन्दत्वा गावो धेनवो वाश्यमानाः॥ २॥ —पार ० ३,४,४

उक्त मन्त्र से दक्षिण द्वार के सामने जल छिड़कावे,

आ त्वा कुमारस्तरुण आ वत्सो जगदैः सह। आ त्वा परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरुप। क्षेमस्य पत्नी बृहति सुवासा रयिं नो धेहि सुभगे सुवीर्यम्॥ ३॥
—पार० ३,४,४

उक्त मन्त्र से पश्चिम द्वार के सामने जल छिड़कावे,

अश्वावद् गोमदूर्जस्वत्पर्णं वनस्पतेरिव।
अभि नः पूर्यताꣳरयिरिदमनुश्रेयो वसानः॥ ४॥ —पार० ३,४,४

उक्त मन्त्र से उत्तर द्वार के सामने जल छिटकावे।

[गृह-प्रवेश]

तत्पश्चात् सब द्वारों पर पुष्प और पल्लव तथा कदलीस्तम्भ वा कदली के पत्ते भी द्वारों की शोभा के लिए लगाकर, पश्चात् गृहपति निम्न मन्त्र बोले—

गृहपति बोले—**हे ब्रह्मन्! प्रविशामीति॥** —पार० ३,४,५

ब्रह्मा बोले—**वरं भवान् प्रविशतु॥**

गृहपति बोले—**ओम् ऋचं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये॥** —पार० ३,४,६

उक्त वाक्य को बोलकर भीतर प्रवेश करें। जो घृत गरमकर, छानकर, सुगन्ध मिलाकर रखा हो उसे पात्र में लेकर जिस द्वार से प्रथम प्रवेश करे, उसी द्वार से प्रवेश करके निम्न प्रकार यज्ञारम्भ करे।

[यज्ञारम्भ]

'अग्न्याधान' (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौ० पृष्ठ ७२); **'अग्नि-प्रदीपन'** (ओं उद्बुध्यस्वाग्ने, पृष्ठ ७३); **'समिदाधान'** (ओम् अयन्त इध्म आत्मा+ ओं समिधाग्निं दुवस्यत+ओं सुसमिद्धाय शोचिषे+ओं तन्त्वा समिद्भिः, पृष्ठ ७४-७७); घृत की **'पंच आज्याहुतियाँ'** (ओम् अयन्त इध्म आत्मा, पृष्ठ ७७); **'जल-प्रोक्षण'** (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व आदि, पृष्ठ ७७); ४ **'आघारावाज्यभागाहुतियाँ'** (ओम् अग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७८); ४ **'व्याहृति आहुतियाँ'** (ओं भूरग्नये स्वाहा आदि, पृष्ठ ७९); नवमी **'स्विष्टकृत् आज्याहुति'** एक—यहाँ पर्यन्त विधि करे। पश्चात् द्वारस्थ कुण्ड में भिन्न-भिन्न दिशाओं को दृष्टि में रखकर निम्न आहुतियाँ दें—

[सभी दिशाओं में आहुतियाँ]

ओं प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा॥ १॥
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥ २॥

उक्त मन्त्रों से पूर्वद्वारस्थ वेदी में दो घृताहुति देने के पश्चात् वैसे ही—

ओं दक्षिणाया दिशः शालाया मनो महिम्ने स्वाहा॥ १॥
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥ २॥

उक्त दो मन्त्रों से दक्षिणद्वारस्थ वेदी में एक-एक मन्त्र करके दो आज्याहुति दे। और—

ओं प्रतीच्या दिशः शालाया मनो महिम्ने स्वाहा॥ १॥
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥ २॥

उक्त दो मन्त्रों से दो आज्याहुति पश्चिमदिशाद्वारस्थ कुण्ड में देवे।

ओं उदीच्या दिशः शालाया मनो महिम्ने स्वाहा॥ १॥
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥ २॥

उक्त दो मन्त्रों से उत्तरदिशास्थ वेदी में दो आज्याहुति देवे। तत्पश्चात् मध्य शालास्थ वेदी के समीप जाके स्व-स्व दिशा में बैठ के—

ओं ध्रुवाया दिशः शालाया मनो महिम्ने स्वाहा॥ १॥
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥ २॥

उक्त दो मन्त्रों से मध्यवेदी में दो आज्याहुतियाँ दे।

ओं ऊर्ध्वाया दिशः शालाया मनो महिम्ने स्वाहा॥ १॥
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥ २॥

उक्त दो मन्त्रों से भी दो आज्याहुति मध्यवेदी में दे, और—

ओं दिशो दिशः शालाया मनो महिम्ने स्वाहा॥ १॥
ओं देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः स्वाहा॥ २॥

उक्त दो मन्त्रों से भी दो आज्याहुति मध्यस्थ वेदी में देवे।

[कलश-स्थापन]

पुनः पूर्व दिशास्थ द्वारस्थ-वेदी में अग्नि को प्रज्वलित करके, वेदी से दक्षिण भाग में ब्रह्मासन तथा होता आदि के पूर्वोक्त प्रकार आसन बिछवा, उसी वेदी के उत्तरभाग में एक कलश स्थापन कर, स्थालीपाक को समीप रखे।

[गृह की मध्यशाला में ४ आहुतियों से विशेष यज्ञ]

पुनः 'मुख्य-प्रवेश-द्वार' से पृथक् जो निष्क्रमण द्वार हो उसके समीप सपत्नीक जा, वहाँ ठहरकर ब्रह्मादि सहित गृहपति मध्यशाला में प्रवेश करके, ब्रह्मादि को दक्षिणादि आसन पर बैठा स्वयं पूर्वाभिमुख बैठके, संस्कृत-घी अर्थात् जो गरमकर छान, जिसमें कस्तूरी आदि सुगन्ध मिलाया हो, पात्र में लेके सब ऋत्विजों के सामने

एक-एक पात्र भरके रखे, और चमसा में ले के निम्न चार मन्त्रों से चार आहुतियाँ देवें—

ओं वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे स्वाहा॥ १॥
वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरास्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व स्वाहा॥ २॥
वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः स्वाहा॥ ३॥
—ऋ० मं० ७, सू० ५४, मं० १-३

अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्याविशन्।
सखा सुशेव एधि नः स्वाहा॥ ४॥ —ऋ० मं० ७, सू० ५५, मं० १

[स्थालीपाक की ६ आहुतियाँ]

उक्त मन्त्रों में ४ (चार) आज्याहुति देके जो स्थालीपाक अर्थात् भात बनाया हो उसको दूसरे कांसे के पात्र में लेके, उस पर यथायोग्य घृत सेचन करके अपने-अपने सामने रक्खें। और पृथक्-पृथक् थोड़ा-थोड़ा लेकर निम्न छह मन्त्रों से उसकी छह आहुतियाँ देवें—

ओम् अग्निमिन्द्रं बृहस्पतिं विश्वाँश्च देवानुपह्वये।
सरस्वतीञ्च वाजीञ्च वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥ १॥
सर्पदेवजनान्त्सर्वान् हिमवन्तꣳ सुदर्शनम्।
वसूँश्च रुद्रानादित्यानीशानं जगदैः सह।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥ २॥
पूर्वाह्णमपराह्णं चोभौ मध्यन्दिना सह।
प्रदोषमर्धरात्रं च व्युष्टां देवीं महापथाम्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥ ३॥
ओं कर्तारञ्च विकर्तारं विश्वकर्माणमोषधींश्च वनस्पतीन्।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥ ४॥
धातारं च विधातारं निधीनां च पतिꣳ सह।
एतान्त्सर्वान् प्रपद्येऽहं वास्तु मे दत्त वाजिनः स्वाहा॥ ५॥
स्योनꣳ शिवमिदं वास्तु दत्तं ब्रह्मप्रजापती।
सर्वांश्च देवताश्च स्वाहा॥ ६॥ —पार० ३,४,८

[चतुर्दिक् प्रोक्षण-विधि]

स्थालीपाक अर्थात् घृतयुक्त भात की उक्त छह मन्त्रों से छह आहुतियाँ देकर, कांस्यपात्र में उदुम्बर (गूलर) और पलाश के पत्ते, शाड्वल (तृणविशेष अथवा

दूब), गोमय, दही, मधु, घृत, कुशा और यव को ले के उन सब वस्तुओं को मिलाकर गृहपति वेदी से उठकर बाहर जाकर निम्न प्रकार चारों दिशाओं में जल-प्रोक्षण करे—

ओं श्रीश्च त्वा यशश्च पूर्वे सन्धौ गोपायेताम्॥ १॥

इस मन्त्र से पूर्व द्वार —पार० ३,४,१०

यज्ञश्च त्वा दक्षिणा च दक्षिणे सन्धौ गोपायेताम्॥ २॥

इस मन्त्र से दक्षिण द्वार —पार० ३,४,११

अन्नञ्च त्वा ब्राह्मणश्च पश्चिमे सन्धौ गोपायेताम्॥ ३॥

इस मन्त्र से पश्चिम द्वार —पार० ३,४,१२

ऊर्क् च त्वा सूनृता चोत्तरे सन्धौ गोपायेताम्॥ ४॥ —पार० ३,४,१३

इससे उत्तर द्वार के समीप उनको बखेरे और जल प्रोक्षण भी करे।

[चारों दिशाओं में खड़ा होकर परमात्मा की प्रार्थना करे]

केता च मा सुकेता च पुरस्ताद् गोपायेतामित्यग्निर्वै केताऽऽदित्यः सुकेता तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पुरस्ताद् गोपायेताम्॥ १॥ —पार० ३,४,१४

उक्त मन्त्र से पूर्व दिशा में परमात्मा का उपस्थान करके, दक्षिण द्वार के सामने दक्षिणाभिमुख होके—

दक्षिणतो गोपायमानं च मा रक्षमाणा च दक्षिणतो गोपायेतामित्यहर्वै गोपायमानꣳ रात्री रक्षमाणा ते प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु ते मा दक्षिणतो गोपायेताम्॥ २॥ —पार० ३,४,१५

इस प्रकार जगदीश का उपस्थान करके पश्चिम द्वार के सामने पश्चिमाभिमुख होके निम्न मन्त्र से परमात्मा से प्रार्थना करे—

दीदिविश्च मा जागृविश्च पश्चाद् गोपायेतामित्यन्नं वै दीदिविः प्राणो जागृविस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मा पश्चाद् गोपायेताम्॥ ३॥

—पार० गृह्य० ३,४,१६

इस प्रकार पश्चिम दिशा में सर्वरक्षक परमात्मा का उपस्थान करके, उत्तर दिशा में उत्तर-द्वार के सामने उत्तराभिमुख खड़े रहके निम्न मन्त्र पढ़े—

अस्वप्नश्च माऽनवद्राणश्चोत्तरतो गोपायेतामिति चन्द्रमा वा अस्वप्नो वायुरनवद्राणस्तौ प्रपद्ये ताभ्यां नमोऽस्तु तौ मोत्तरतो गोपायेतामिति॥ ४॥

—पार० गृह्य० ३,४,१६

धर्मस्थूणाराजꣳ श्रीसूर्य्यामहोरात्रे द्वारफलके। इन्द्रस्य गृहा वसुमन्तो वरूथिनस्तानहं प्रपद्ये सह प्रजया पशुभिस्सह। यन्मे किञ्चिदस्त्युपहूतः सर्वगणः सखा यः साधुसम्मतस्तां त्वा शाले अरिष्टवीरा गृहा नः सन्तु सर्वतः॥ ५॥

—पार० गृह्य० ३,४,१६

उक्त प्रकार उत्तर दिशा में सर्वाधिष्ठाता परमात्मा का उपस्थान करके, सुपात्र वेदवित् धार्मिक होता आदि सपत्नीक ब्राह्मण तथा इष्ट मित्र और सम्बन्धियों को उत्तम भोजन कराके यथायोग्य सत्कार करके दक्षिणा दे, पुरुषों को पुरुष और स्त्रियों को स्त्री प्रसन्नतापूर्वक विदा करें और वे जाते समय गृहपति और गृहपत्नी आदि को—

"**सर्वे भवन्तोऽत्राऽऽनन्दिताः सदा भूयासुः ॥**"

इस प्रकार आशीर्वाद दे के अपने-अपने घर को जावें।

इसी प्रकार आराम (बगीचा) आदि की भी प्रतिष्ठा करें। इसमें इतना ही विशेष है कि जिस ओर का वायु बगीचे को जावे उसी ओर होम करे कि जिसकी सुगन्ध वृक्ष आदि को सुगन्धित करे। यदि उसमें घर बना हो तो शाला के समान उसकी भी प्रतिष्ठा करे।

इति शालादिकर्मविधिः समाप्तः ॥

वाणिज्य-विधिः

*जब किसी व्यक्ति ने 'वाणिज्य' के लिए दुकान, कारखाना, शिल्प आदि का व्यापार प्रारम्भ करना हो, तो उस दिन निम्न विधि करें—

[यज्ञारम्भ]

जो दिन व्यापार प्रारम्भ करने का निश्चित किया हो, उस दिन प्रातःकाल यजमान, अपनी पत्नी को दक्षिण भाग में बैठाकर '**ऋत्विग्वरण**' (पृष्ठ ७१); '**आचमन**' (पृष्ठ ७१); '**अङ्ग-स्पर्श-मन्त्र**' (पृष्ठ ७२); '**ईश्वर-स्तुति**' (पृष्ठ ३५); '**स्वस्तिवाचन**' (पृष्ठ ३९); '**शान्तिकरण**' (पृ० ५५); '**अग्न्याधान**' (पृ० ७३); '**अग्नि-प्रदीपन**' (पृ० ७३); '**समिदाधान**' (पृ० ७४-७७); '**जल-प्रोक्षण**' (पृ० ७७) तथा '**आघारावाज्यभागाहुतियाँ**' (पृ० ७८-७९) यहाँ तक यज्ञ-क्रिया करें।

[रयिमान् बनने का सङ्कल्प]

पश्चात् पुरोहित यजमान से निम्न ४ मन्त्र बुलवाये—

ओं नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम्॥ १॥ —अथर्व० १६.४.१

अर्थ—मैं धनों का केन्द्र अर्थात् धनवान् और समान स्थितिवालों=सखाजनों में प्रमुख हो जाऊँ।

ओं मूर्धाऽहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम्॥ २॥ —अथर्व० १६.३.१

अर्थ—मैं धनियों का सिरमौर और समान गुण-कर्म-स्वभाववाले जनों में शिरोमणि बनूँ।

ओं शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥ ३॥ —अथर्व० ३.२४.५

अर्थ—हे वणिक्! तू सौ हाथों से कमा, परन्तु हजार हाथों से दान दे। अपने 'कृत' और 'क्रियमाण' दोनों को फैला—व्यापार का विस्तार कर।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्॥ ४॥ —अथर्व० ८.१.६

अर्थ—हे पुरुष! सदा तेरी उन्नति=व्यापार में वृद्धि होवे, कभी अवनति=व्यापार में हानि न हो।

[ईश्वर का उपस्थान—प्रार्थना]

पश्चात् निम्न तीन मन्त्रों से यजमान सब धनों के दाता परमात्मा की प्रार्थना करे—

---

* यह विधि श्री मदनमोहन विद्यासागर के 'संस्कार समुच्चय' से स्वल्प परिवर्तन के साथ दी गई है।

ओम् ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ १॥ —यजुः० ४०.१
ओं कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ २॥ —यजुः० ५.१९

[प्रधान होम]

पश्चात् निम्न मन्त्रों से घृत और शाकल्य की आहुतियाँ दें—

ओं अन्नानां पतये नमः स्वाहा॥ १॥
ओं क्षेत्राणां पतये नमः स्वाहा॥ २॥
ओं ओषधीनां पतये नमः स्वाहा॥ ३॥
ओं नमो मन्त्रिणे वाणिजाय स्वाहा॥ ४॥
ओं नमऽआयच्छद्भ्यो विसृजद्भ्यः स्वाहा॥ ५॥
ओं नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च स्वाहा॥ ६॥ —यजुर्वेद १६

अर्थ—अन्न की वृद्धि (रक्षा) करनेवाले के लिए, क्षेत्र-पति, औषधियों के पति अर्थात् किसान के लिए, व्यापार में मन्त्रणा (सलाह देनेवाले) व्यापारी के लिए, माल का आयात करनेवाले और निर्यात करनेवाले के लिए, ज्येष्ठ व कनिष्ठ के लिए, इन सबके लिए नमस्कार है।

ओं येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः स्वाहा॥

—अथर्व० ३.१५.६

अर्थ—हे उपस्थित दिव्यसमाज! धन चाहता हुआ जिस व्यापार में लगाई पूँजी से मैं धन कमाना चाहता हूँ, उसमें ऐश्वर्य के स्वामी, प्रजाओं के पति, सबको उत्पन्न करनेहारे, सौम्य तथा अग्नि स्वभाववाले—इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, अग्नि—ये सब देवता मेरी रुचि बढ़ायें।

ओं मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी स्वाहा॥

—ऋक् १०.११७.६

अर्थ—जो केवल अपने स्वार्थ के लिए धन कमाता है—'केवलाद' है, वह मानो केवल पाप को खाता है—'केवलाघ' है। वह न समाज का पोषण करता है, न अपने मित्रों का पोषण करता है। मैं सत्य कहता हूँ कि वह मूर्ख व्यर्थ ही धन कमाता है, उसका अपने ही लिये कमाना अपना बध करने जैसा है।

ओं अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः स्वाहा॥

—ऋक् १०.३४.१०

अर्थ—व्यापार में जूआ मत खेल, किसान जैसे खेती करता हुआ अपना खून-पसीना बहाता है उसी प्रकार मेहनत करता हुआ कमा और इस प्रकार जो आये उसमें रमा रह, उसे ही बहुत मान।

ओं देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा॥ —यजुः० ३.४७

अर्थ—इस मन्त्र में व्यापार के लेन-देन का नियम दर्शाया है। तुम अपना पदार्थ ठीक मूल्य पर मुझे दो; मैं भी अपना पदार्थ ठीक मूल्य पर तुम्हें दूँगा। अगर तुम मेरा माल गिरवी पर रखोगे, तो समय आने पर मैं भी तुम्हारा माल गिरवी पर रखूँगा।

[यज्ञ समाप्त]

पश्चात् '**सर्वं वै पूर्णꣳ स्वाहा**' से तीन पूर्णाहुतियाँ देकर क्रिया समाप्त कर दें।

[मङ्गल कामना]

जाते समय सब उपस्थित सज्जन निम्न मन्त्र से यजमान के लिए मङ्गलकामना करें—

ओम् इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥

अर्थ—हे ऐश्वर्यशाली परमात्मन्! इस यजमान के लिए उत्तम धन, चातुर्य की बुद्धि, सौभाग्य, धनों की वृद्धि, उत्तम आरोग्य, मधुरवाणी और अच्छे दिन अपनी कृपा से प्राप्त कराइये।

इति वाणिज्यविधिः समाप्तः॥

श्रावणी या उपाकर्म पद्धतिः

(ऋषि-तर्पण तथा रक्षा-बन्धन)

श्रावणी का त्यौहार भारतवर्ष में अत्यन्त प्रसिद्ध त्यौहार है। आर्यसमाज में इस त्यौहार के समय यज्ञ किया जाता है, यज्ञोपवीत धारण किया जाता है या पुराना बदला जाता है। इस दृष्टि से इसे उपाकर्म या ऋषि-तर्पण कह सकते हैं। इस त्यौहार के समय बहनें भाईयों को, रक्षार्थी रक्षकों को राखी बाँधते हैं। इस दृष्टि से इसे रक्षा-बन्धन भी कह सकते हैं। इस त्यौहार के इन दो उद्देश्यों के अपने-अपने कारण हैं। वे क्या हैं ?

१. उपाकर्म या ऋषि-तर्पण

अपना देश वर्षा-बहुल तथा कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की अधिकांश जनता आषाढ़ और श्रावण में खेती के काम में लगी रहती है। आषाढ़ से शुरु होकर श्रावण के अन्त तक खेतों की जुताई-बुवाई समाप्त हो जाती है। इसके बाद वर्षा शुरु हो जाती है, जिस समय ग्रामों में किसानों के पास करने को कुछ नहीं रहता था। खेतों से मण्डियों में अनाज न आने के कारण बरसात के महीनों में वैश्य भी आराम से बैठ जाते थे। इन दिनों नदियों में बाढ़ें आ जाती थीं, यातायात बन्द हो जाता था, इसलिये क्षत्रियवर्ग दिग्विजय के लिए नहीं निकलते थे। साधु-संन्यासी भी वर्षा के कारण वनों को छोड़कर शहरों में आ जाते थे। यह समय चौमासा—चातुर्मास्य—कहलाता था।

इस समय को अपने देश में देश की सारी जनता स्वाध्याय में बिताती थी। स्वाध्याय भारत की संस्कृति का प्रधान अङ्ग रहा है। ब्रह्मचारी के लिए आदेश है—**'आचार्याधीनो वेदमधीष्व'**—आचार्य के आधीन रहकर वेदाध्ययन करते रहो; स्नातक हो जाने पर गृहस्थी के लिए आदेश है—**'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'**—**'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'**—विद्याध्ययन कर चुकने के बाद भी स्वाध्याय करते रहना; वानप्रस्थी के लिए मनु (६.८) का आदेश है—**'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'**—सदा स्वाध्याय करते रहना; संन्यासी के लिए आदेश है—**'संन्यसेत् सर्वकर्माणि वेदमेकन्न संन्यसेत्'**—सब-कुछ छोड़ दे, परन्तु वेद का स्वाध्याय न छोड़े। वर्षा के चार वर्ष सारा देश—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—स्वाध्याय में लगा रहता था। जगह-जगह विद्वानों के आध्यात्मिकता के प्रवचन होते थे, जिन्हें देश के सभी नर-नारी—पठित तथा अपठित—सब काम-धन्धों से निबट जाने के कारण ध्यान से सुनते थे। यह समय सारे देश की सामूहिक-शिक्षा का

काम करता था। इसे '**उपाकर्म**' इसलिए कहा जाता था, क्योंकि पारस्कर गृह्यसूत्र (२,१०,१-२) के अनुसार यह '**अध्ययनस्य उपाकर्म उपाकरणं**' था—यह समय स्वाध्याय का उपाकरण था—'उप'=समीप+ आकरण=ले आना, जनता को ऋषि-मुनियों, समाज के विचारकों के समीप ले आता था। दूसरे शब्दों में, यह ऐसा कर्म था जो देश के हर व्यक्ति को देश के मूर्धन्य विचारकों की विचारधारा के साथ बहने के लिए प्रेरणा देता था, इसलिए इसे 'उपाकर्म' कहते थे, और क्योंकि इस कर्म द्वारा ऋषि-मुनियों का तर्पण होता था, उनके वचनों को सुनकर उनका सम्मान होता था, इसलिए इसे ऋषि-तर्पण भी कहते थे।

क्योंकि यज्ञोपवीत ज्ञान ग्रहण करने का बाह्य-चिह्न है, इसलिए इस समय जिन लोगों ने यज्ञोपवीत नहीं धारण किया हुआ था वे यज्ञोपवीत धारण करते थे—अर्थात् इस बात का सङ्कल्प करते थे कि वे अज्ञानान्धकार में से निकलेंगे, और जिन लोगों ने यज्ञोपवीत धारण किया हुआ था, वे पुराने यज्ञोपवीत को उतार कर नया धारण करते थे—अर्थात् इस बात का सङ्कल्प करते थे कि वे अपने जीवन में स्वाध्याय को कभी न छोड़ेंगे।

स्वाध्याय का उद्देश्य क्या है? स्वाध्याय पर वैदिक-संस्कृति में इतना बल दिया है कि तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षा वल्ली, अनुवाक् ९) में 'स्वाध्याय'-शब्द की झड़ी-सी लगा दी है। वहाँ लिखा है—'**ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने च, सत्यं च स्वाध्याय प्रवचने च, तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च**'—इस प्रकरण में १२ बार 'स्वाध्याय'-शब्द का प्रयोग किया गया है। योगदर्शन (२.३२) में नियमों का उल्लेख करते हुए लिखा है—'**शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि नियमाः**'। वैदिक संस्कृति में स्वाध्याय का महत्त्व इसलिये है क्योंकि यह समझा जाता था कि मनुष्य सिर्फ शरीर नहीं है, मनुष्य की रचना में शरीर, मन तथा आत्मा—इन तीन का सम्मिलन है। जैसे शरीर की रक्षा के लिए अन्न की आवश्यकता है, वैसे ही मन तथा आत्मा के स्वास्थ्य के लिए मनन की, आत्म-चिन्तन की आवश्यकता है। मनन तथा आत्म-चिन्तन का उपाय सिवाय स्वाध्याय के दूसरा कुछ नहीं है। जैसे शरीर की उन्नति अन्नाहार से होती है, वैसे मन तथा आत्मा की उन्नति स्वाध्याय से होती है।

श्रावणी का सबसे बड़ा लक्ष्य जन-मानस को स्वाध्याय के लिए प्रेरणा देना था। इसीलिए इसे उपाकर्म अथवा ऋषि-तर्पण कहा गया।

मनुस्मृति में 'उपाकर्म' के साथ 'उत्सर्जन' का भी उल्लेख है। 'उपाकर्म' का अर्थ है—जब सब-कुछ छोड़कर स्वाध्याय-कर्म का प्रारम्भ किया जाए, 'उत्सर्जन' का अर्थ है—स्वाध्याय-कर्म में चौमासा बिताकर फिर-से मौसम अनुकूल होने पर

सांसारिक काम-धन्धों में लगा जाए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन-काल में सारा देश चार मासे ऐसे बिता देता था जबकि देश के एक कोने से दूसरे कोने तक ऋषि-मुनि गाँव-गाँव और शहर-शहर में बैठकर ज्ञान-गङ्गा का प्रवाह बहा देते थे, देश के कोने-कोने में वेदों की ध्वनि गूँजती थी, और सम्पूर्ण वातावरण आध्यात्मिकता के रंग में रंग जाता था। ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जाने पर अगर कैकेय देश के राजा अश्वपति घोषणा कर सकता था (छान्दोग्य ५, प्रपाठक ५)—'**न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः**'—मेरे राज्य में न चोर है, न कायर है, न शराबी है—तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

'उपाकर्म' तथा 'उत्सर्जन' की आवश्यकता हर क्षेत्र में हर-समय बनी रहती है। 'उपाकर्म' का आजकल की परिभाषा में अर्थ है—भरपूर-कार्य (Intensive Work) 'उत्सर्जन' का आजकल की परिभाषा में अर्थ है—छुट्टी, अवकाश (Relaxation or Holiday)—यह सब-कुछ दफ्तरों में, स्कूलों, कालेजों में सब जगह चलता है, परन्तु सारे देश में एक कोने से दूसरे कोने तक आध्यात्मिकता का रसपान करने के लिए सब काम-धन्धों से छुट्टी पा लेने का प्रोग्राम अपने देश में ही था। चार मास तक ऋषि-मुनियों का सन्देश सुनकर फिर इससे भी सबको छुट्टी मिल जाती थी, क्योंकि 'उपाकर्म' के बाद इस सबका 'उत्सर्जन' हो जाता था।

२. श्रावणी तथा रक्षा-बन्धन

उपाकर्म के इस त्यौहार का दूसरा नाम 'रक्षा-बन्धन' भी है। यह नहीं कह सकते कि किस प्रकार, परन्तु राजपूत-काल में अबलाओं द्वारा अपनी रक्षा के लिए वीरों के हाथ में राखी बाँधने की परिपाटी का प्रचार हुआ। श्री भवानीप्रसाद जी 'आर्य-पर्व-पद्धति' में लिखते हैं कि जिस किसी वीर क्षत्रिय को कोई अबला राखी भेज कर अपना राखीबन्द भाई बना लेती थी, जो उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता था। इस सम्बनध में राजपूताने की एक घटना इतिहास प्रसिद्ध है। हुमायूँ तैमूर खानदान का मुगल बादशाह था। उसके पास चित्तौड़ की रानी—राजमाता कर्मदेवी ने राखी भेजी, जिसे पाकर हुमायूँ उसकी रक्षा के लिए अपनी सेना लेकर चित्तौड़ पहुँच गया था। बात यूँ हुई कि चित्तौड़ पर बहादुरशाह ने आक्रमण कर दिया। रानी कर्मदेवी का पुत्र राजकुमार उदयसिंह छोटा ही था, रानी विधवा थी, राजकुमार की रक्षा करनी थी। जब बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया तब राजमाता कर्मदेवी के पास अपनी तथा चित्तौड़ की रक्षा का कोई साधन नहीं था। रानी ने सोच-समझकर यह निश्चय किया कि वह हुमायूँ के पास राखी भेजकर उसे अपना राखीबन्द भाई बनाकर रक्षा की याचना करे। हुमायूँ उस समय शेरशाह के साथ युद्ध में व्यस्त था। राखी पाकर शेरशाह से लड़ने के लिए अपने सेनापति को आज्ञा देकर स्वयं रानी कर्मदेवी की रक्षा के लिये चित्तौड़ की तरफ चल दिया।

समय बहुत थोड़ा था, इसलिए हुमायूँ ठीक समय पर चित्तौड़ नहीं पहुँच सका और रानी कर्मदेवी हजारों नारियों के साथ चिता में सती हो गई, परन्तु बहादुरशाह जो चित्तौड़ पर आक्रमण कर रहा था, यह सुनकर कि हुमायूँ अपनी सेना के साथ कर्मदेवी की रक्षा के लिए आ रहा है भाग गया। राजस्थान की इस प्रथा से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि अपने देश में राखी का कितना महत्त्व रहा है। ध्यान देने की बात यह है कि यह त्यौहार सिर्फ अपने देश में मनाया जाता है, अन्य किसी देश में नहीं। अपना ही ऐसा देश है जिसमें कोई भी अबला किसी पुरुष के हाथ में राखी बाँधकर उसे जीवन भर का अपना भाई बना लेती है, और वह भाई उस बहन को आश्वासन देता है कि वह जन्म भर उसकी सहायता करेगा। इस दृष्टि से यह त्यौहार भारत की संस्कृति के आध्यात्मिक-पथ पर गहरा प्रकाश डालता है।

३. श्रावणी की पद्धति का विधि-भाग

प्रात:काल सब व्यक्ति स्नान से निवृत्त होकर यज्ञ-मण्डप में यथास्थान बैठकर पहले सन्ध्या करें। सन्ध्या करने के बाद '**ऋत्विग्वरण**' (ओमावसोः सदने सीद आदि, पृ० ७१); तीन '**आचमन**' (ओम् अमृतोपस्तरणमसि आदि, पृ० ७१); जल से '**अङ्ग-स्पर्श**' (ओं वाङ्म आस्येऽस्तु आदि, पृ० ७२); '**ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना**' (ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि आदि, पृ० ३५); '**स्वस्तिवाचन**' (अग्निमीळे पुरोहितम् आदि, पृ० ३९); '**शान्तिकरण**' (शं न इन्द्राग्नी आदि, पृ० ५५); '**अग्न्याधान**' तथा '**अग्नि-प्रदीपन**' (ओं भूर्भुवः स्वः। ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिवभूम्ना+ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने आदि, पृ० ७३); चार मन्त्रों से ३ 'समिदाधान' (ओम् अयन्त इध्म आत्मा+ओं समिधाग्निं+सुसमिद्धाय शोचिषे+तन्त्वा समिद्भिरंगिरो आदि, पृ० ७४-७७); वेदी के चारों ओर '**जल-प्रसेचन**' (ओम् अदितेऽनुमन्यस्व आदि, पृ० ७७) तथा ४ '**आघारावाज्यभागाहुतियाँ**' (ओम् अग्नये स्वाहा आदि, पृ० ७८-७९) देकर आचार्य अथवा ऋत्विग् निम्न मन्त्रों से सबको नवीन यज्ञोपवीत धारण करावे—

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ १॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि।
आयुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे॥ २॥

उक्त विधि उन सब लोगों के लिए है, जिन्होंने पहले यज्ञोपवीत धारण किया हो, परन्तु उपाकर्म के समय उसके स्थान पर नवीन यज्ञोपवीत धारण करनेवाले हों। अगर किसी बालक को प्रथम बार यज्ञोपवीत दिलाना हो तो उसका उपनयन-संस्कार में विहित-विधि के अनुसार उपनयन-संस्कार करना चाहिए। अगर कोई

व्यक्ति इस त्यौहार के समय प्रथम वार यज्ञोपवीत धारण करना चाहे, तो उससे 'ऋत्विग्वरण-विधि' (पृ० ७१) करवा कर यज्ञोपवीत धारण करवायें—ऐसा आजकल प्रायः चल रहा है।

यज्ञोपवीत धारण करने के बाद निम्न १२ मन्त्रों से घृत तथा सामग्री की विशेष आहुतियाँ दें—

ओं ब्रह्मणे स्वाहा॥ १॥ **ओं छन्दोभ्यः स्वाहा॥ २॥**
ओं सावित्र्यै स्वाहा॥ ३॥ **ओं ब्रह्मणे स्वाहा॥ ४॥**
ओं श्रद्धायै स्वाहा॥ ५॥ **ओं मेधायै स्वाहा॥ ६॥**
ओं प्रज्ञायै स्वाहा॥ ७॥ **ओं धारणायै स्वाहा॥ ८॥**
ओं सदसस्पतये स्वाहा॥ ९॥ **ओं अनुमतये स्वाहा॥ १०॥**
ओं छन्दोभ्यः स्वाहा॥ ११॥ **ओं ऋषिभ्यः स्वाहा॥ १२॥**

तत्पश्चात् ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचाओं से 'स्वाहान्त' आहुतियाँ दें—

बृह॑स्पते प्रथ॒मं वा॒चो अग्रं॒ यत्प्रैर॑त नाम॒धेयं॒ दधा॑नाः।
यदे॑षां॒ श्रेष्ठं॒ यद॑रि॒प्रमासी॑त्प्रे॒णा तदे॑षां॒ निहि॑तं॒ गुहा॒विः॥ १॥
सक्तु॑मिव॒ तित॑उना पु॒नन्तो॒ यत्र॒ धीरा॒ मन॑सा॒ वाच॒मक्र॑त।
अत्रा॒ सखा॑यः स॒ख्यानि॑ जानते भ॒द्रैषां॑ ल॒क्ष्मीर्नि॑हि॒ताधि॑ वा॒चि॥ २॥
य॒ज्ञेन॑ वा॒चः प॑द॒वीय॑माय॒न्तामन्व॑विन्द॒न्नृषि॑षु॒ प्रवि॑ष्टाम्।
ताम॒भृत्या॒ व्य॑दधुः पुरु॒त्रा तां स॒प्त रे॒भा अ॒भि सं न॑वन्ते॥ ३॥
उ॒त त्व॒ः पश्य॒न्न द॑दर्श॒ वाच॑मु॒त त्व॑ः शृ॒ण्वन्न शृ॑णोत्येनाम्।
उ॒तो त्व॑स्मै त॒न्वं१॒॑ वि स॑स्रे जा॒येव॒ पत्य॑ उश॒ती सु॒वासा॑ः॥ ४॥
उ॒त त्वं॑ स॒ख्ये स्थि॒रपी॑तमाहु॒र्नैनं॑ हिन्व॒न्त्यपि॒ वाजि॑नेषु।
अधे॑न्वा चरति मा॒ययै॒ष वाचं॑ शुश्रु॒वाँ अ॑फ॒लाम॑पु॒ष्पाम्॥ ५॥
यस्ति॒त्याज॑ सचि॒विदं॒ सखा॑यं॒ न तस्य॑ वा॒च्यपि॑ भा॒गो अ॑स्ति।
यदीं॑ शृ॒णोत्यल॑कं शृ॒णोति॒ न॒हि प्र॒वेद॑ सुकृ॒तस्य॒ पन्था॑म्॥ ६॥
अ॒क्ष॒ण्वन्त॒ः कर्ण॑वन्त॒ः सखा॑यो मनोज॒वेष्वस॑मा बभूवुः।
आ॒द॒घ्नास॑ उपक॒क्षास॑ उ त्वे ह्र॒दाइ॑व॒ स्नात्वा॑ उ त्वे ददृश्रे॥ ७॥
ह्र॒दा त॒ष्टेषु॒ मन॑सो ज॒वेषु॒ यद्ब्रा॑ह्म॒णाः सं॒यज॑न्ते॒ सखा॑यः।
अत्राह॑ त्वं॒ वि ज॑हुर्वे॒द्याभि॒रोह॑ब्रह्माणो॒ वि च॑रन्त्यु त्वे॥ ८॥
इ॒मे ये नार्वाङ्न प॒रश्चर॑न्ति॒ न ब्रा॑ह्म॒णासो॒ न सु॒तेक॑रासः।
त ए॒ते वाच॑मभि॒पद्य॑ पा॒पया॑ सि॒रीस्तन्त्रं॑ तन्वते॒ अप्र॑जज्ञयः॥ ९॥
सर्वे॑ नन्दन्ति य॒शसाग॑तेन सभासा॒हेन॒ सख्या॒ सखा॑यः।
कि॒ल्बि॒ष॒स्पृत्पि॑तु॒षणि॒र्ह्ये॑षा॒मरं॑ हि॒तो भव॑ति॒ वाजि॑नाय॥ १०॥

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥ ११ ॥

—ऋक् १०.७१.१-११

इन आहुतियों के पीछे निम्न मन्त्र से यजमान व गृहपति आहुति देवे। मन्त्र सब बोलें।

ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम्।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा॥ —यजुः० ३२.१३

इसके पीछे सब उपस्थित पारिवारिक जन पलाश की तीन-तीन हरी अथवा शुष्क समिधाओं को घी में भिगोकर गायत्री मन्त्र से तीन आहुतियाँ दें। इस प्रकार तीन बार गायत्री मन्त्र से आहुतियाँ दें—

ओं भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचादयात्॥

गायत्री मन्त्र से तीन आहुतियाँ देने के पश्चात् स्विष्टकृत् दें—

ओं यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्ट-कृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे। अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ता-हुतीनां कामानां समर्द्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदमग्नये स्विष्टकृते—इदं न मम॥

स्विष्टकृते आहुति देने के पश्चात् सब लोग प्रातराश करें।

तत्पश्चात्, मुख धोकर, आचमन करके, अपने-अपने आसनों पर बैठकर, जलपात्रों में कुशाओं को रखकर, हाथ जोड़ कर सब लोग पुरोहित के साथ चारों वेदों के निम्न मन्त्र पढ़ें—

ऋग्वेद—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥ १ ॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ २ ॥

यजुर्वेद—

इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा व स्तेन ईशत माघशꣳसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात् बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि॥ ३ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओं खं ब्रह्म॥ ४॥
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ ५ ॥

सामवेद—

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥ ६॥ —साम०, पूर्वा० १, १

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत ओ जगन्था परस्याः।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्म वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व॥ ७॥
—साम० उ०प्र० ९, १

स्वस्ति नऽ इन्द्र वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ८॥
—साम० उ०प्र० ९, ३ (यजुः० २५.१९)

अथर्ववेद—

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयो रभिस्त्रवन्तु नः॥ ९॥

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥ १०॥

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः।
सहस्त्रशंसा ऊतये गविष्टौ सर्वाँ इत् तां उपयाता पिबध्यै॥ ११॥

उक्त मन्त्रों के पाठ के पश्चात्—

सह नोऽस्तु सह नोऽवतु सह न इदं वीर्यवदस्तु।
ब्रह्मा इन्द्रस्तद्वेद येन यथा न विद्विषामहे॥ १२॥

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ १३॥

उक्त वेदमन्त्रों तो पढ़कर '**शंन्नो मित्रः वरुणः**' इस मन्त्र को पढ़ें और '**पूर्णाहुति**' देकर सामवेद का वामदेव्यगान (पृ० ८६-८८) करें।*

इति उपाकर्मविधिः समाप्तः॥

---

* उपाकर्म की यह विधि पारस्करगृह्यसूत्रानुसार है। यह गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय के महोपाध्यायों द्वारा सङ्कलित होकर वहाँ कई वर्षों से प्रचलित है। सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित 'आर्य-पर्व-पद्धति' में यही विधि अपनायी गई है।

ईश्वर भक्ति के गीत

भजन-१

शरण में आए हैं हम तुम्हारी, दया करो हे दयालु भगवन्।
संभालो बिगड़ी दशा हमारी, दया करो हे दयालु भगवन्॥
न हममें बल है न हममें शक्ति, न हममें साधन न हममें भक्ति।
तुम्हारे दर के हैं हम भिखारी, दया करो हे दयालु भगवन्॥
जो तुम हो स्वामी तो हम हैं सेवक, जो तुम पिता हो तो हम हैं बालक।
जो तुम हो ठाकुर तो हम पुजारी, दया करो हे दयालु भगवन्॥
सुना है हमने कि हम तुम्हारे, तुम्हीं हो सच्चे प्रभु हमारे।
तो सुध हमारी है क्यों बिसारी, दया करो हे दयालु भगवन्॥
बुरे हैं जो हम तो हैं तुम्हारे, भले हैं जो हम तो हैं तुम्हारे।
तुम्हारे होकर के हम दुःखारी, दया करो हे दयालु भगवन्॥
प्रदान कर दो महान् शक्ति, भरो हमारे में ज्ञान भक्ति।
तभी कहाओगे ताप-हारी, दया करो हे दयालु भगवन्॥

भजन-२

आज सब मिल गीत गाओ उस प्रभु के धन्यवाद।
जिसका यश नित गाते हैं गन्धर्व मुनिजन धन्यवाद॥
मन्दिरों में कन्दरों में पर्वतों के शिखर पर।
देते हैं लगातार सौ-सौ बार मुनिवर धन्यवाद॥
करते हैं जंगल में मंगल पक्षिगण हर शाख पर।
पाते हैं आनन्द मिल कर गाते हैं स्वर भर धन्यवाद॥
कृप में, तलाब में, सागर की गहरी धार में।
प्रेम रस में तृप्त हो करते हैं जलचर धन्यवाद॥
शादियों में कीर्तनों में यज्ञ और उत्सव के आदि।
मीठे स्वर में चाहिये करें नारि-नर सब धन्यवाद॥
गान कर 'अमीचन्द' भजनानन्द ईश्वर सुस्तुति।
ध्यान धर सुनते हैं श्रोता कान धर-धर धन्यवाद॥

भजन-३

हे दयामय! हम सभों को, शुद्धताई दीजिए।
दूर करके हर बुराई को, भलाई दीजिए॥ १॥

ऐसी किरपा और अनुग्रह, हम पै हो परमात्मा।
हों निवासी इस जगत् के, सबके सब धर्मात्मा॥२॥
हो उजाला सबके मन में, ज्ञान के सुप्रकाश से।
और अंधेरा दूर सारा, हो अविद्या नाश से॥३॥
खोटे कर्मों से बचें, तेरे ही गुण गावे सभी।
छुट जावे दुःख सारे, सुख सदा पावें सभी॥४॥
सारी विद्याओं को सीखें, ज्ञान से भरपूर हों।
शुभ कर्म से होवे तत्पर, दुष्ट गुण सब दूर हों॥५॥
यज्ञ-हवन से हो सुगन्धित, प्यारा भारतवर्ष देश।
वायु जल सुखदायी होवें, जाये मिट सारे कलेश॥६॥
वेद के प्रचार में, होवें सभी पुरुषार्थी।
होवें आपस में प्रीति, और बनें धर्मार्थी॥७॥
लोभी और कामी क्रोधी, कोई भी हममें न हो।
दुष्ट व्यसनों से बचें, और छोड़ देवें मोह को॥८॥
अच्छी संगति में रहें, और वेद मार्ग पर चलें।
तेरे ही होवें उपासक, और कुकर्मों से बचें॥९॥
कीजिये हम सबका हृदय, शुद्ध अपने ज्ञान से।
मान भक्तों में बढ़ाओ, श्रद्धा भक्ति दान से॥१०॥

भजन-४

यज्ञ-रूप प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिये।
छोड़ देवें छल-कपट को मानसिक बल दीजिये॥१॥
वेद की बोलें ऋचायें सत्य को धारण करें।
हर्ष में हो मग्न सारे शोक सागर से तरें॥२॥
अश्वमेधादिक रचायें यज्ञ के उपकार को।
धर्म मर्यादा चला कर लाभ दें संसार को॥३॥
नित्य श्रद्धा भक्ति से यज्ञादि हम करते रहें।
रोग पीड़ित विश्व के सन्ताप सब हरते रहें॥४॥
कामना मिट जाय मन से पाप अत्याचार की।
भावनायें पूर्ण होवें यज्ञ से नर-नार की॥५॥
लाभधारी हो हवन हर जीवधारी के लिये।
वायु जल सर्वत्र हों शुभ गन्ध को धारण किये॥६॥
स्वार्थभाव मिटे हमारा प्रेम-पथ विस्तार हो।
'इदन्न मम' का सार्थक प्रत्येक में व्यवहार हो॥७॥

हाथ जोड़ झुकाय मस्तक वन्दना हम कर रहे।
नाथ करुणारूप करुणा आपकी सब पर रहे॥८॥

भजन-५

अब सौंप दिया इस जीवन का, सब भार तुम्हारे हाथों में।
है जीत तुम्हारे हाथों में, है हार तुम्हारे हाथों में॥
मेरा निश्चय है एक यही, इक बार तुम्हें पा जाऊँ मैं।
अर्पण कर दूँ जगती भर का, सब प्यार तुम्हारे हाथों में॥
या तो मैं जग से दूर रहूँ, और जग में रहूँ तो ऐसे रहूँ।
इस पार तुम्हारे हाथों में, उस पार तुम्हारे हाथों में॥
यदि मानुष ही मुझे जन्म मिले, तव चरणों का पुजारी बनूँ।
मुझ पूजक की इक-इक रग का, हो तार तुम्हारे चरणों में॥
जब-जब संसार का बन्दी बन, दरबार में तेरे आऊँ मैं।
हो मेरे पापों का निर्णय, सरकार तुम्हारे हाथों में॥
मुझमें तुझमें है भेद यही, मैं नर हूँ तु नारायण है।
मैं हूँ संसार के हाथों में, संसार तुम्हारे हाथों में॥

भजन-६

नाम जपन क्यों छोड़ दिया

क्रोध न छोड़ा झूठ न छोड़ा, सत्य वचन क्यों छोड़ दिया।
झूठे जग में दिल ललचाकर, असल वतन क्यों छोड़ दिया॥
कौड़ी को तो खूब सम्भाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया।
जिन सिमरन से अति सुख पावे, तिन सिमरन क्यों छोड़ दिया॥
खालस इस भगवान भरोसे, तन, मन, धन क्यों न छोड़ दिया।

भजन-७

तुम हो प्रभु चाँद मैं हूँ चकोरा।
तुम हो कमल फूल मैं रस का भौंरा॥
ज्योति तुम्हारी का मैं हूँ पतङ्गा,
आनन्द घन तुम हो मैं वन का मोरा॥
जैसे है चुम्बक को लोहे से प्रीति,
आकर्षण करे मोहे लगातार तोरा॥
पानी बिना जैसे हो मीन व्याकुल,
ऐसे ही तड़पाये तुमरा बिछोरा॥
इक बून्द जल का मैं प्यासा हूँ चाकत,
अमृत की करो वर्षा हरो ताप मोरा॥

भजन-८

पितु मातु सहायक स्वामी सखा, तुम ही इक नाथ हमारे हो॥
जिनके कछु और आधार नहीं, तिनके तुम ही रखवारे हो॥
सब भांति सदा सुखदायक हो, दुःख दुर्गुण नाशक हारे हो॥
प्रतिपाल करो सगरे जग को, अतिशय करुणा उर धारे हो॥
भूलि हैं हम ही तुमको तुम तो, हमारी सुधि नाहिं बिसारे हो॥

भजन-९

शरण प्रभु की आओ रे! यही समय है प्यारे।
आओ प्रभु गुण गाओ रे! यही समय है प्यारे॥
उदय हुआ ओ३म् नाम का भानु, आओ दर्शन पाओ रे॥ १ ॥
अमृत झरना झरता इससे, पीकर अमर हो जाओ रे॥ २ ॥
छल कपट और द्वेष को त्यागो, सत्य में चित्त लगाओ रे॥ ३ ॥
हरि की भक्ति बिना नहीं मुक्ति, दृढ़ विश्वास जमाओ रे॥ ४ ॥
कर लो नाम प्रभु का सुमिरन, अन्त को नहीं पछताओ रे॥ ५ ॥
छोटे-बड़े सब मिलके खुशी से, गुण ईश्वर के गाओ रे॥ ६ ॥

भजन-१०

जय जय पिता परम आनन्द दाता। जगदादिकारण मुक्तिप्रदाता॥ १ ॥
अनन्त और अनादि विशेषण हैं तेरे। सृष्टि का स्रष्टा तू धर्ता संहर्ता॥ २ ॥
सूक्षम से सूक्षम तू है स्थूल इतना। कि जिसमें यह ब्रह्माण्ड सारा समाता॥ ३ ॥
मैं लालित व पालित पिता तेरे नेह का। यह प्राकृत सम्बन्ध मेरा तुझसे है ताता॥ ४ ॥
करो शुद्ध निर्मल मेरी आत्मा को। करूँ मैं विनय नित्य सायं व प्रातः॥ ५ ॥
मिटाओ मेरे भय को आगमन के। फिरूँ ना जन्म पाता और बिलबिलाता॥ ६ ॥
बिना तेरे है कौन दीनन का बन्धु। कि जिसको मैं अपनी अवस्था सुनाता॥ ७ ॥
'अमी' रस पिलाओ कृपा करके मुझको। सदा मैं रहूँ तेरी कीर्ति को गाता॥ ८ ॥

भजन-११

भरोसा कर तू ईश्वर पर तुझे धोखा नहीं होगा।
यह जीवन बीत जायेगा तुझे रोना नहीं होगा॥
कभी सुख है कभी दुःख है यह जीवन धूप छाया है।
हंसी में ही बिता डालो बितानी ही यह माया है॥
जो सुख आवे तो हंस देना जो दुःख आवे तो सह लेना।
न कहना कुछ कभी जग से प्रभु से ही तू कह लेना॥
यह कुछ भी तो नहीं जग में तेरे बस, कर्म की माया।
तू खुद ही धूप में बैठा लखे निज रूप की छाया॥

कहाँ ये था कहाँ तू था कभी तो सोच ए बन्दे।
झुका कर सीस को कह दे प्रभु बन्दे प्रभु बन्दे॥

भजन-१२

सत्ता तुम्हारी भगवन् जग में समा रही है।
तेरी दया सुगन्धी हर गुल से आ रही है॥१॥
रवि चन्द्र और तारे तूने बनाये सारे।
इन सबमें ज्योति तेरी इक जगमगा रही है॥२॥
विस्तृत वसुन्धरा पर सागर बहाये तूने।
तह जिनकी मोतियों से अब चमचमा रही है॥३॥
दिन, रात, प्रात, सन्ध्या, मध्याह्न भी बनाया।
हर ऋतु पलट पलटकर करतब दिखा रही है॥४॥
सुन्दर सुगन्धिवाले पुष्पों में रंग है तेरा।
यह ध्यान फूल-पत्ती तेरा दिला रही है॥५॥
हे ब्रह्म विश्व-कर्ता वर्णन हो तेरा कैसे।
जल-थल में तेरी महिमा हे ईश! छा रही है॥६॥

आरती

ओ३म् जय जगदीश हरे, पिता जय जगदीश हरे।
भक्त जनन के सङ्कट, क्षण में दूर करे॥१॥
जो ध्यावे फल पावे, दुख विनशे मन का।
सुख सम्पत्ति घर आवे, कष्ट मिटे तन का॥२॥
मात पिता तुम मेरे, शरण गहूँ किसकी।
तुम बिन और न दूजा, आस करूँ जिसकी॥३॥
तुम पूरण परमात्मा, तुम अन्तरयामी।
पार ब्रह्म परमेश्वर, तुम सबके स्वामी॥४॥
तुम करुणा के सागर, तुम पालन कर्त्ता।
दीन दयाल कृपालु, कृपा करो भर्त्ता॥५॥
तुम हो एक अगोचर, सबके प्राण पति।
किस विध मिलूँ दयामय, तुमको मैं कुमति॥६॥
दीन बन्धु दुःख हर्ता, तुम रक्षक मेरे।
करुणा हस्त बढ़ाओ, शरण पड़ा तेरे॥७॥
विषय विकार मिटाओ, पाप हरो देवा।
श्रद्धा भक्ति बढ़ाओ, सन्तन की सेवा॥८॥